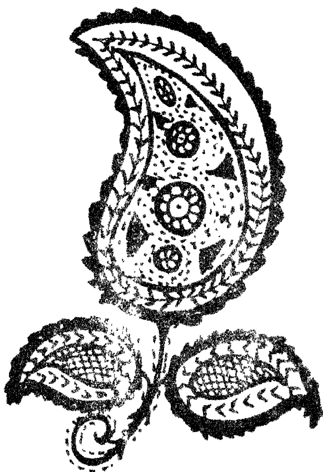
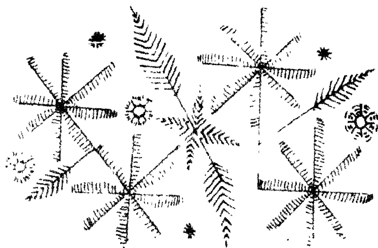
जैन धर्म के प्रभावक आचार्य



जैन विश्व भारती प्रकाशन

जैन-धर्म के प्रभावक आचार्य



साध्वी संघमित्रा

संपादिका

० साध्वी ललितप्रभा

० साध्वी शीलप्रभा

स्वर्गीया मातु:श्री झमकूदेवी, पिताजी स्वर्गीय श्री खींवकरणजी
स्वर्गीया मातु:श्री गणेशीदेवी एवं पिताजी स्वर्गीय श्री जयचंदलालजी
कुचेरिया की स्मृति में मोतीलाल मोहनलाल बच्छराज पृथ्वीराज
आसकरण छतरसिंह केशरीचंद सुरेन्द्रकुमार राकेशकुमार
अरविन्दकुमार कुचेरिया, लाडनूं (राज०)
के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित ।

मूल्य : पचास रुपये / द्वितीय संस्करण : १९८६ / प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनू, नागौर (राजस्थान)/मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१ ३०६ ।

JAIN-DHARAM KE PRABHAVAK ACHARYA

Sadhvi Sanghmitra

Rs. 50.00

वंदना

वंदामि महाभागं,
महामुणिं महायसं महावीरं ।
अमर-नर-रायमहितं,
तित्थकरमिमस्स तित्थस्स ।।

एक्कारस वि गणहरे,
पवायए पवयणस्स वंदामि ।
सव्वं गणहरवंसं,
वायगवंसं पवयणं च ।।

(विशेषावश्यक भाष्य १०५४, १०५६)

समर्पण

इतिहास स्रष्टा आचार्यश्री तुलसी
और युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ को

१. प्रशस्या. पुण्यार्हाः परहितरताः प्राप्तयशसः,
प्रवीणाः प्राचार्याः प्रतिनिधिपदे ये भगवताम ।
प्रणम्याः प्रत्यहं प्रणिहितधिय· प्राज्ञपुरुषाः,
प्रसीदेयुः पूज्या प्रशमरसपीनाः प्रमुदिताः ।।

२. महाभागा मान्या मथितमदना मानरहिता,
विवेकज्ञा विज्ञा विशदमतयो वाचकवराः ।
समीदं स्वल्पार्घ्यं लघुकृतिमयं संघतिलका,
महान्त स्वीकुर्युर्गुणगणयुता विश्वमहिताः ।।

साध्वी संघमित्रा

आशीर्वचन

जैन धर्म अपनी मौलिकता और वैज्ञानिकता के कारण अपने अस्तित्व को एक शाश्वत धर्म के रूप मे अभिव्यक्ति दे रहा है। भगवान् महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके बाद आचार्यों की एक बहुत लम्बी शृंखला कड़ी से कड़ी जोड़ती रही है। सब आचार्य एक समान वर्चस्व वाले नहीं हो सकते। नदी की धारा जैसे क्षीणता और व्यापकता आती है वैसे ही आचार्य परम्परा मे उतार चढ़ाव आता रहा है। फिर भी उस शृंखला की अविच्छिन्नता अपने आप मे एक ऐतिहासिक मूल्य है।

पचीस सौ वर्षों के इतिहास का एक सर्वांगीण विवेचन महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य है पर है असंभव। फिर भी कुछ दूरदर्शी आचार्यों ने अपने ग्रन्थो में मूल्यवान् ऐतिहासिक सामग्री को सरक्षित कर रखा है, अन्यथा जैन धर्म के इतिहास को कोई ठोस आधार नही मिल पाता।

पिछले कुछ वर्षों मे कई स्थानों से आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखे गए। किन्तु उनमें कही पर सांम्प्रदायिकता का रग आ गया, कही पर ऐतिहासिकता अक्षुण्ण नहीं रही और कही तथ्यो का सकलन सही रूप से नही हो सका।

मैं बहुत बार सोचता था कि जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का सिलसिलेवार अध्ययन प्रस्तुत किया जाए तो इतिहास पाठको को अच्छी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भगवान् महावीर को पचीसवी निर्वाण शताब्दी के प्रसग पर मैंने अपने धर्म संघ को साहित्य सृजन की विशेष प्रेरणा दी। उसी क्रम मे साध्वी सघमित्रा ने यह काम अपने हाथ मे लिया।

हमारे धर्म संघ की यह स्पष्ट नीति है कि हमे सांप्रदायिकता से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टिकोण से काम करना है। प्रस्तुत लेखन मे भी इस दृष्टिकोण से काम करना है। प्रस्तुत लेखन मे भी इस दृष्टिकोण को बराबर ध्यान मे रखा गया है। इसके लिए साध्वी सघमित्रा ने अनेक ग्रन्थो का अवलोकन किया और निष्ठा एवं एकाग्रता के साथ अपने काम को आगे बढ़ाया।

दशाब्दियों पूर्व तक इतिहास में साहित्य सृजन के क्षेत्र मे मुनिजन

अग्रणी रहे हैं । साध्वियो द्वारा लिखित साहित्य की कोई उल्लेखनीय धारा नहीं है । इन वर्षों मे हमारे धर्म संघ मे साधुओं की भाति साध्वियां भी इस क्षेत्र में गतिशील हैं ।

साध्वी संघमित्रा द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' इतिहास के जिज्ञासुओं की जानकारी के धरातल को ठोस बनाए तथा सुधी पाठकों की आलोचनात्मक समीक्षा-कषोपल पर चढकर पूर्णता की दिशा मे अग्रसर बने, यह अपेक्षा है ।

सत्संग भवन
चंडीगढ
५ मई, १९७९

आचार्य तुलसी

प्रस्तावना

जैन शासन सामुदायिक साधना की दृष्टि से अपूर्व है। भारतीय साधना की परंपरा में उसकी परपरा को चिरजीवी परम्परा कहा जा सकता है। यद्यपि व्यक्तिगत साधना की व्यवस्था भी सुरक्षित है, फिर भी सामुदायिक साधना की पद्धति ही मुख्य रही है। उस समूची पद्धति का प्रतिनिधित्व करने वाले दो शब्द है, गण और गणी। भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल मे नौ गण और ग्यारह गणधर थे। यह विभाग केवल व्यवस्था की दृष्टि से था। उत्तरवर्ती काल मे गण अनेक हो गए। उनमे मौलिक एकता भी नही रही। सम्प्रदाय भेद बढते गए। बड़े गण छोटे गणो मे विभक्त हो गए। फिर भी गण की परम्परा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न निरतर चलता रहा। फलत आज भी जैन शासन परम्परा के रूप मे सुरक्षित है। गणो के आपसी भेद चलते थे। बौद्ध और वैदिक विद्वानो के आघात भी चलते थे। इस परिस्थिति मे प्रभावक आचार्य ही जैन शासन के अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते थे। इस पचीस सौ वर्षो की लम्बी अवधि मे अनेक प्रभावक आचार्य हुए है। उन्होने अपनी श्रुत शक्ति, चारित्र-शक्ति तथा मत्र-शक्ति के द्वारा अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा की और जैन शासन की प्रभावना बढाई। हजारो वर्षो की लबी अवधि मे अनेक गणो के अनेक प्रभावी आचार्य हुए। उन सबका आकलन करना एक दुर्गम कार्य है। साध्वी सघमित्रा ने उस दुर्गम कार्य को सुगम करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य परम्परा को जानने के मुख्य स्रोत हैं—स्थविरावलिया पट्टावलिया, प्रभावक चरित्र, प्रबध कोश आदि-आदि ग्रन्थ। आगम के व्याख्या ग्रन्थो-निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियो और टीकाओ मे यत्र-तत्र कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। साध्वी सघमित्रा ने श्वेताम्बर और दिगबर परम्परा के उपलब्ध उन सभी स्रोतो का इस प्रस्तुत कृति मे उपयोग किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे सभी परम्परा के आचार्यो का जीवन वृत्त वर्णित है। उनके आधारभूत प्रामाणिक स्रोत भी सदर्भ रूप मे सकलित है। लेखिका ने बड़ी लगन और परिश्रम के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। श्रम और

सूझ-बूझ के साथ लिखा गया यह ग्रन्थ पाठको के लिए रुचिवर्धक, ज्ञानवर्धक और शक्तिवर्धक सिद्ध होगा।

आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में सतत प्रवाहित साहित्य सरिता में अवगाहन कर कोई भी व्यक्ति धन्यता का अनुभव कर सकता है। साध्वी संघमित्राजी को भी अपनी धन्यता के अनुभव का अवसर उपलब्ध होगा। भिक्षु शासन की साहित्यिक गरिमा को बढाने मे जिनकी अंगुलियों का योग है, वे सब साधुवाद के योग्य हैं। उस अर्हता मे साध्वी संघमित्रा ने भी अपना योग दिया है, इसका मैं अनुभव करता हूं।

अणुव्रत विहार,
नई दिल्ली,
२५ मई, १९७९

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अन्तर्ध्वनि

अर्हच्छासन-वाटिका श्रुत-सुमैर्नीता विकासं सदा,
कर्तृत्वेन परम्परा त्रिपथगा यै. प्रोन्नतिं प्रापिता ।
येषां निर्मल-प्रज्ञया वितिमिरा जाता जगच्चेतना,
साध्वीयं गण-धूर्वहान् स्मरति तांस्तान् संघमित्राभिधा ॥

पपुश्चार्हत् सिन्धोः पय इव पयोदाः गणधराः,
ततो जैनाचार्यैर्गिरिरिव गृहीता श्रुत-सुधा ।
जगत्कल्याणार्थं वहति सततं सा त्रिपथगा,
पवित्रास्याः धारा प्रशमयति च तेषां श्रम-कणान् ॥

—साध्वी संघमित्रा

प्रस्तुति

निर्ग्रन्थ शासन

निर्ग्रन्थ सघ संयम, त्याग और अहिंसा की भूमिका पर अधिष्ठित है। अनन्त आलोकपुञ्ज महाबली तीर्थंकर उसके सस्थापक और गणधर संचालक होते हैं। तीर्थंकर की अनुपस्थिति मे इस महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वहण आचार्य करते हैं।

आचार्य विशुद्ध आचार-सम्पदा के स्वामी होते हैं। वे छत्तीस गुणो से अलकृत होते हैं। दीपक की तरह स्वय प्रकाशमान बनकर जन-जन के पथ को आलोकित करते है और तीर्थंकरो की गिरारूपी पतवार को लेकर सहस्रों-सहस्रो जीवन-नौकाओ को भवाब्धि के पार पहुचाते हैं।

जैन शासन और भगवान् महावीर

वर्तमान जैन शासन भगवान् महावीर की अनुपम देन है। सर्वज्ञत्वोपलब्धि के बाद अध्यात्म प्रहरी, मुक्तिदूत, तप पूत तीर्थंकर महावीर ने साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के रूप मे चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना की। अहिंसा, अभय, मैत्री का स्नेह प्रदान कर समता का दीप जलाया। अध्यात्म के अनेक आयाम उद्घाटित किए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पुरुष और नारी आदि सभी जातियो और वर्गों के लिए धर्म की समान भूमिका प्रस्तुत की। अपनी ज्ञान, दर्शन चरित्र और तप की अनन्त सम्पदा से जन-जन को लाभान्वित कर एव समस्त मानव जाति का मार्ग-दर्शन कर भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

आचार्यों की गौरवमयी परम्परा का प्रारम्भ

भगवान् महावीर के पश्चात् उनके विशाल सघ को जैनाचार्यो ने सम्भाला। जैनाचार्य विराट् व्यक्तित्व एव उदात्त कर्तृत्व के धनी थे। वे सूक्ष्म चिन्तन एव सत्यद्रष्टा थे। धैर्य, औदार्य और गाम्भीर्य उनके जीवन के विशेष गुण थे। सहस्रो श्रुत-सम्पन्न मुनियो को अपने क्रोड में समाहित कर लेने वाला विकराल काल का कोई भी क्रूर आघात एव किसी भी वात्याचक्र

का तीव्र प्रहार उनके मनोबल की जलती मशाल ज्योति को मद नहीं कर सका। प्रसन्नचेता जैनाचार्यों की धृति मदराचल की तरह अचल थी।

उदार चेता

जैनाचार्य उदात्त विचारो के धनी थे। उन्होने सदैव मघातीन व्यापक दृष्टिकोण से चितन किया। जन-जन के हित की बात कही। उन्होने शास्त्रार्थ प्रधान युग मे भी समन्वयात्मक भाव-भूमि को परिपुष्ट किया। समग्र धर्मो के प्रति सद्भाव, स्याद्वाद से अनुस्यूत माध्यस्थ दृष्टिकोण एव अनाग्रहपूर्ण प्रतिपादन जैनाचार्यो की सफलता के मूल मत्र थे।

दायित्व का निर्वाह

श्रमण परम्परा के अनेक जैनाचार्य लघुवय मे दीक्षित होकर मघ के शास्ता बने। उन्होने आचार्य पद से अलकृत हो जाने मे ही जीवन और कर्त्तव्य की इति श्री नही मान ली थी। अपने दायित्व का वहन उन्होने प्रतिक्षण जागरूक रहकर किया। "सुत्ता अमुणिणो सया जागरन्ति' भगवान् महावीर का यह आगम वाक्य उनका अभिन्न सहचर था।

जैनाचार्यों की ज्ञानाराधना

सद्धर्म धुरीण जैनाचार्यो की ज्ञानाराधना विलक्षण थी। मदिर और उपाश्रय ही उनके केन्द्ररूप (ज्ञानकेन्द्र) विद्यापीठ थे। श्रुतदेवी के वे कर्मनिष्ठ उपासक बने। 'सज्झाय-सज्झाणरयस्स तायिणो'—इस आगम वाणी को उन्होने जीवन-सूत्र बनाकर ज्ञान-विज्ञान शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। दर्शन शास्त्र के महासागर मे उन्होने गहरी डुबकियां लगाई। फलत. जैनाचार्य दिग्गज विद्वान् बने। ससार का विरल विषय ही होगा जो उनकी प्रतिभा से अछूता रहा हो। ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य, सगीत, इतिहास, गणित, रसायनशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि विभिन्न विषयो के ज्ञाता, अन्वेष्टा एव अनुसधाता जैनाचार्य थे।

भारतीय ग्रथ राशि के जैनाचार्य पाठक ही नही स्वयं रचनाकार भी थे। उनकी लेखनी अविरल गति से चली। विशाल साहित्य का निर्माण कर उन्होने सरस्वती के भडार को भरा। उनका साहित्य स्वनना प्रधान एवं गीत प्रधान ही नही था। उन्होंने काव्यों एव महाकाव्यो का सृजन विशालकाय पुराणों की संरचना, व्याकरण एवं कोश की सृष्टि भी की।

दर्शनशास्त्र क्षेत्र मे जैनाचार्यों ने गम्भीर दार्शनिक दृष्टियां प्रदान

की एवं योग के सम्बन्ध मे नवीन व्याख्याएं भी प्रस्तुत की, न्यायशास्त्र के वे स्वयं सस्थापक बने। जैन शासन का महान् साहित्य जैनाचार्यों की मौलिक सूझ-बूझ एव उनके अनवरत परिश्रम का परिणाम है।

विवेक-दीप

परागम, प्रवीण, बुद्धि उजागर, भवाब्धि पतवार, कर्मनिष्ठ, करुणा कुबेर एव जन-जन हितैषी जैनाचार्यों की असाधारण योग्यता से एवं उनकी दूर-गामी पद यात्राओ से उत्तर तथा दक्षिण के अनेक राजवश प्रभावित हुए। राज्याध्यक्षों ने उनका भारी सम्मान किया। विविध मानद उपाधियों से जैनाचार्य विभूषित किऐ गए पर किसी प्रकार की पद प्रतिष्ठा उन्हे दिग्भ्रान्त न कर सकी। उन्होंने पूर्ण विवेक के साथ महावीर संघ को संरक्षण एव विस्तार दिया। आज भी जैनाचार्यों के समुज्ज्वल एव समुन्नत इतिहास के सामने प्रबुद्धचेता व्यक्ति नतमस्तक हो जाते है। मेरे मानस पर जैनाचार्यों की विरल विशेषताओ का प्रभाव लम्बे समय से अकित था।

भगवान् महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उनकी अर्चना मे साहित्य समर्पित करने का शुभ चिन्तन तेरापथ के अधिनायक युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी के तत्त्वाधान में चला। जैन दर्शन से सम्बन्धित पच्चीस विषय चुने गए थे उनमे किसी एक विषय पर ग्रथ रचना करने का निर्देश मुझे प्राप्त हुआ। मैंने अपनी सहज रुचि के अनुसार "जैन धर्म के प्रभावक आचार्य" इस विषय को चुना और निष्ठापूर्वक अपना कार्य प्रारम्भ किया। मेरी लेखनी जैसे ही आगे बढी मुझे अनुभव हुआ—प्रारम्भ मे यह विषय जितना सरल लग रहा है उतना ही दुरूह है। इस प्रसग पर कवि माघ का भावपूर्ण पद्य स्मृति-पटल पर उभर आया—

'तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेद, सिन्धावगाहता।
अलङ्घनीयता हेतुरुभय तन्मनस्विनि॥

सागर गहरा होता है ऊचा नही, शैल उन्नत होता है गहरा नही, अत. इन्हे मापा जा सकता है पर उभय विशेषताओ से समन्वित होने के कारण महापुरुषो का जीवन अमाप्य होता है।

अभिव्यक्ति की इस विवशता को अनुभूत कर लेने पर भी प्रभावक आचार्यों के जीवन-वृत्त को शब्दो के वलय मे बांधने का प्रयास किया है।

'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' पुस्तक का यह परिवर्तित परिवर्धित,

संशोधित द्वितीय संस्करण है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण जिस त्वरा से संपन्न हुआ वह प्रसन्नता एवं प्रेरणा का विषय है। जैन विश्व भारती के अधिकारियों की और पाठको की पुनः पुनः माग ने द्वितीय संस्करण को तैयार करने के लिए मुझे प्रेरित किया। युग प्रधान आचार्यश्री तुलसी तथा युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के निर्देशानुसार मैं इस कार्य मे उत्साह के साथ प्रवृत्त हुई। शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रारंभ किए कार्य को पूर्ण करने की तीव्र भावना होने पर भी यात्राओ की व्यस्तता के कारण विलम्ब हुआ पर अमृत पुरुष आचार्यश्री तुलसी के पचासवे वर्ष मे मनाये जा रहे अमृत-महोत्सव के पावन अवसर पर यह ग्रंथ सपन्न होने जा रहा है, यह मेरे लिए विशेष उल्लास का विषय है। इस ग्रथ के प्रथम सस्करण में १५३ आचार्यों का जीवन-वृत्त लिखकर मैंने आचार्यश्री तुलसी अमृत-महोत्सव के साथ स्वयं को सपृक्त करने का प्रयत्न किया है।

जैनाचार्यों ने जैन धर्म की प्रभावना मे अनेक महनीय कार्य किए है, उन कार्यों की अधिकाधिक प्रस्तुति पाठको के लिए कर सकू ऐसा मेरा लक्ष्य रहा है। इसके परिणाम-स्वरूप द्वितीय सस्करण की अपेक्षा शताधिक पृष्ठो को अधिक लिखकर भी महामनस्वी प्रभावक आचार्यों के जीवन महासागर से बिंदु मात्र ले पाई हू। देवार्चना की शुभ वेला मे दो-चार अक्षत उपहृत करने मे जैसी तृप्ति भक्ति-भावित मानस को होती है, वैसी ही तृप्ति इस स्वल्प सामग्री के प्रस्तुतीकरण मे मुझे हुई है।

साधना जीवन की मर्यादा के अनुरूप जितना इतिहास एव साहित्य मैं बटोर पाई हूं, उसी के आधार पर यह रचना है। जिसमें सभवत बहुत कुछ अनदेखा-अनजाना रहने के कारण अनकहा भी रह गया है। सुधी पाठक एव इतिहास प्रेमी इस पुस्तक के सबध मे मुझे अपनी प्रतिक्रियाओ से अवगत करा एंगे तो मैं आगामी संस्करण मे यथासम्भव उनका उपयोग करने का प्रयत्न करूगी।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जैन परपरा मे दीक्षित कर मेरा अनल्प उपकार किया है। उन्होंने मेरी ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चारित्र की आराधना को संवर्द्धित करने का सदा प्रयत्न किया है। मैं उनकी प्रभुता और कर्त्तव्य-परायणता के प्रति समर्पित रही हूं। मैंने उनकी दृष्टि की आराधना की है। और उनमे बहुत कुछ पाया है। उनसे प्राप्त के प्रति मैं कृतज्ञ हूं और प्राप्य के प्रति आशान्वित हूं। उन्होंने आशीर्वचन लिख-

कर मुझे अनुग्रहीत किया है । मै उनके इस अनुग्रह के प्रति प्रणत हूं ।

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की प्रज्ञा ने मुझे सदा सचेत रखा है और दर्शन चेतना को जागृत रखने का सदुपाय बताया है । 'कृपाकांक्षी नही आत्मकांक्षी बनो'—इस सूत्र ने मुझे सदा उबारा है। मैं युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की ज्ञानाराधना से और चारित्रिक निष्ठा से बहुत लाभान्वित हुई हूं। उनके प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान ने मुझे अत्याधिक प्रभावित किया है। वे आलोक-पुरुष है। प्रस्तुत ग्रथ के लेखन मे उनका मार्ग-दर्शन मेरे लिए प्रकाश स्तम्भ रहा है। उन्होने भूमिका लिखकर मेरे उत्साह को बढ़ाया है। शत-शत वन्दना ।

युग-प्रधान आचार्यश्री तुलसी एव युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के अध्यात्म से ओत-प्रोत सरक्षण मे तेरापथ का साध्वी समाज त्रिरत्न की आराधना में प्रगति करेगा, मेरा यह दृढ विश्वास है ।

सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति स्वर्गीया साध्वी-प्रमुखाश्री लाडाजी की अनुकपा मेरे पर सदा बनी रही। उनके वात्सल्य और प्रोत्साहन ने मुझे आगे बढने के लिए प्रेरित किया और मेरे मानस मे विकास करने की ललक पैदा की, तन्द्रिल नयनो को खोला, अग-अग मे व्याप्त अलसता का विमोचन कर मुझे गतिशील बनाया। आज निष्कारण उपकारी उस करुणामयी अध्यात्म मा के अनल्प उपकारो की स्मृति मात्र से मै गदगद् हूं, एव उनके प्रति श्रद्धा से नत हू।

महाश्रमणी साध्वी-प्रमुखा श्री कनकप्रभा से प्राप्त स्नेह और सद्भाव के प्रति भी मैं प्रणत हूं और आशा करती हू कि उनकी देख-रेख मे साध्वी समाज विशेष गतिशील बनेगा।

दिल्ली चातुर्मास मे मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी से इस कार्य में यथावश्यक सहयोग प्राप्त हुआ।

मुनि श्री दुलहराज जी ने ग्रंथ के दोनो सस्करणो को देखा है, पढा है। उनके प्रति मैं बहुत आभारी हू।

इस ग्रथ के द्वितीय सस्करण के पुनरावलोकन एव संपादन मे साध्वी श्री ललितप्रभाजी एवं साध्वीश्री शीलप्रभाजी ने अत्यधिक श्रम किया है। वे ग्रथ के लेखन में आदि से अन्त तक निष्ठा से सलग्न रही हैं।

प्रूफ देखने में समणी वृन्द ने बहुत उत्साह से कार्य किया है। समणी स्मितप्रज्ञा और कुसुमप्रज्ञा की मै आभारी हूं।

व्यापारिक कार्यों मे व्यस्त रहते हुए भी श्री मांगीलालजी विनायकिया, श्री जवेरचंदजी डागल्या, फरजन कुमार जैन तथा गृहकार्य मे व्यस्त श्रीमती कंचन भादानी का पुस्तक की सामग्री को उपलब्ध कराने मे एवं तदनुकूल अन्य प्रवृत्ति मे श्रम व समय विसर्जन विशेष रुप से उल्लेखनीय है।

यह संपूर्ण कृति पाठको के हाथ मे है। उनके द्वारा इस कृति का समीक्षात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन मेरी प्रसन्नता मे सहयोगी बनेगा।

जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों के परम पवित्र जीवन-वृत्त से प्रेरित पाठको का अध्यात्म की दिशा मे उठता हुआ पद-विन्यास मेरे आत्मतोष मे वृद्धिकारक होगा।

—**साध्वी संघमित्रा**

श्री वृद्धि भवन,
नया बाजार
देहली
आचार्य श्री तुलसी अमृत-महोत्सव वर्ष
१३ जनवरी, १९८६

अनुक्रम

खंड-२ प्रभावक आचार्य

अध्याय दो : उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य — ३५१—७२४

परिशिष्ठ

खण्ड १

आचार्यों के काल का संक्षिप्त सिंहावलोकन

अध्यात्म प्रधान भारत

भारत अध्यात्म की उर्वर भूमि है। यहां के कण-कण में आत्म निर्भर का मधुर संगीत है, तत्त्वदर्शन का रस है और धर्म का अंकुरण है। यहां की मिट्टी ने ऐसे नवरत्नों को प्रसव दिया है जो अध्यात्म के मूर्त रूप थे। उनके हृदय की हर धड़कन अध्यात्म की धड़कन थी। उनके ऊर्ध्व मुखी चिन्तन ने जीवन को समझाने का विशद दृष्टिकोण दिया। भोग में त्याग की बात कही[1] और कमल की भांति निर्लेप जीवन जीने की कला सिखाई।[2]

वैदिक परम्परा के अनुसार चौबीस अवतारों ने इस अध्यात्म प्रधान धरा पर जन्म लिया है। बौद्ध परपरा के अनुसार गौतम बुद्ध का बोधिसत्वों के रूप मे पुन: पुन: यहीं आगमन हुआ है तथा जैन तीर्थंकरों का सुविस्तृत इतिहास भी इसी आर्यावर्त के साथ जुड़ा है।

जैन परम्परा और तीर्थंकर

जैन परपरा मे तीर्थंकरो का स्थान सर्वोपरि होता है। नमस्कार महा-मत्र में सिद्धों से पहले तीर्थङ्करो को नमस्कार किया गया है। तीर्थङ्कर सूर्य की भांति ज्ञान रश्मियो से प्रकाशमान और अध्यात्म युग के अनन्य प्रतिनिधि होते हैं। चौबीस तीर्थङ्करों की क्रम व्यवस्था से अनुस्यूत होते हुए भी उनका विराट् व्यक्तित्व किसी तीर्थङ्कर विशेष की परपरा के साथ आबद्ध नही होता। मानवता के सद्य: उपकारी तीर्थङ्कर होते हैं।

परम्परा प्रवहमान सरिता का प्रवाह है। उसमे हर वर्तमान क्षण अतीत का आभारी होता है। वह ज्ञान, विज्ञान, कला, सभ्यता, सस्कृति, जीवन-पद्धति आदि गुणो को अतीत से प्राप्त करता है और स्व-स्वीकृत एव सहजात गुण सत्त्व को भविष्य के चरणो में समर्पण कर अतीत मे समाहित हो जाता है।

आचार्य परम्परा के वाहक होते हैं। उनके उत्तरवर्ती क्रम मे शिष्य सम्पदा आदि का पारम्परिक अनुदान होता है पर तीर्थंकरो के क्रम में ऐसा नहीं होता। तीर्थङ्कर स्वय सबुद्ध साक्षात् द्रष्टा, ज्ञाता एवं स्वनिर्भर होते हैं अत: वे उपदेश विधि और व्यवस्था क्रम मे किसी परंपरा के वाहक नहीं, अनुभूत सत्य के उद्घाटक होते हैं एव धर्म तीर्थ के प्रवर्तक होते है।[1]

धर्म तीर्थ के आद्य प्रवर्तक तीर्थङ्कर ऋषभ से अन्तिम तीर्थङ्कर

वीर तक[4] इन चौबीस तीर्थङ्करो में से किसी भी तीर्थङ्कर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थङ्करो की ज्ञान निधि एवं संघ व्यवस्था से न कुछ पाया और न कुछ उत्तरवर्ती तीर्थङ्करो को दिया। सबकी अपनी भिन्न परंपरा और भिन्न शासन था। महावीर के समय मे पार्श्वनाथ की परम्परा अविच्छिन्न थी पर तीर्थंकर महावीर के गण मे उस परम्परा का अनुदान नहीं था। पार्श्वनाथ की परपरा के मुनियो ने महावीर के सघ मे प्रवेश करते समय चतुर्याम साधना पद्धति का परित्याग कर पच महाव्रत साधना प्रणाली को स्वीकार किया। यह प्रसग तीर्थङ्करो की स्वतन्त्र व्यवस्था का द्योतक है।

तीर्थंकर ऋषभ

भारत भूमि पर वर्तमान अवसर्पिणी काल मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ थे। तीर्थंकर ऋषभ अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र थे। वे मानवीय सस्कृति के आद्य सूत्रधार, प्रथम समाज व्यवस्थापक, प्रथम राजा, प्रथम मुनि, प्रथम भिक्षाचर, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम धर्म प्रवर्तक एव प्रथम धर्म चक्रवर्ती थे।[5]

समाज व्यवस्थापक के रूप मे ऋषभ ने असि, मसि, कृषि का विधान दिया। ब्राह्मी और सुन्दरी अपनी इन दोनो पुत्रियों को लिपि विद्या और अंक विद्या मे कुशल बनाया। जैन मान्यता के अनुसार आज की सुप्रसिद्ध ब्राह्मी लिपि का नामकरण ऋषभ पुत्री ब्राह्मी के नाम पर हुआ है। प्रागैतिहासिक काल से अब तक अनेक भाषाए ब्राह्मी लिपि मे लिखी गई हैं।

ऋषभ ने अपने पुत्र भरत को भी राजनीति का प्रशिक्षण देकर राज्य संचालन के योग्य बनाया। भरत प्रथम चक्रवर्ती बने। जैन मान्यतानुसार ऋषभ पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। कई आधुनिक विद्वानो का भी इसमें समर्थन है।[6]

ऋषभ पुत्र भरत से दुष्यन्त पुत्र भरत बाद मे हुए हैं। सुप्राचीनकाल में यहां भारत जाति निवास करती थी। इससे स्पष्ट है—इस भूमि का भारत नाम दुष्यन्त पुत्र भरत से पहले ही हो गया था।

समाज और राज्य की समुचित व्यवस्था करने के पश्चात् ऋषभ मुनि बने। साधना मे प्रवृत्त हुए। सर्वज्ञ बने। उन्होने धर्म तीर्थ प्रवर्तन किया। उत्तराध्ययन सूत्र मे उल्लेख है[7]—"धम्माणं कासवो मुहं" काश्यप (ऋषभ) धर्म के मुख थे अर्थात् ऋषभ धर्म के आद्य प्रवर्तक थे।

तीर्थंकर ऋषभ का तेजोमय व्यक्तित्व त्याग और तप का पूंजीभूत

रूप था। वे महाप्रभावशाली अध्यात्म पुरुष थे।

वेदों और पुराणों में कई स्थलों पर ऋषभ का श्लाघ्य पुरुष के रूप में उल्लेख हुआ है। भागवत पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप में आठवाँ अवतार धारण किया था। उनके पिता का नाम नाभि था और माता का नाम मरुदेवा था।[८] भागवत पुराण का यह उल्लेख जैन मान्यता से कुछ अंशों में साम्य रखता है। अग्नि पुराण, वायु पुराण, स्कन्ध पुराण आदि कई पुराण ग्रंथों में ऋषभ प्रभु के उल्लेख के साथ पिता नाभि, माता मरुदेवा एवं उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत का भी उल्लेख है।[९] ऋग्वेद और अथर्ववेद के मंत्रों में भी ऋषभदेव की स्तुति की गई है।[१०] वेदों मे कई स्थानों पर केशी शब्द का प्रयोग हुआ है।[११] केशी को वातरसना मुनियों में श्रेष्ठ माना है। जैन ग्रन्थ "त्रिषष्टीशलाका पुरुष चरित" मे भी ऋषभ को केशी कहा गया है।[१२] वैदिक परम्परा और जैन परम्परा दोनो मे ऋषभ को उत्तम पुरुष माना है। बौद्ध साहित्य मे भी ऋषभ का उल्लेख है।[१३]

प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के पश्चात् द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ, तृतीय तीर्थङ्कर सम्भव..........रामायण काल में बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमिनाथ हुए हैं। अनन्त काल को इतिहास एवं बुद्धि की परिधि मे नहीं बांधा जा सकता इसलिए ऋषभदेव के अनन्तर बीस तीर्थङ्करों का काल इतिहास के शोध विद्वानो द्वारा प्रागैतिहासिक युग मान लिया गया है। जैन ग्रन्थो मे प्रत्येक तीर्थङ्कर का इतिहास विस्तार से उपलब्ध है।[१४]

तीर्थंकर अरिष्टनेमि

तीर्थङ्करो के क्रम मे बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। जैन इतिहास के अनुसार समुद्र विजय और वसुदेव सहोदर थे। समुद्र विजय के पुत्र अरिष्टनेमि और वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण थे। कृष्ण के लघु भ्राता गजसुकुमाल आदि कई प्रिय पारिवारिक जनों की दीक्षा तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि द्वारा हुई थी।[१५] अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु थे।[१६] उपनिषदो के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु का नाम घोर आङ्गिरस था। श्रीकृष्ण को घोर आङ्गिरस ऋषि द्वारा प्रदत्त शिक्षाएं छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त है।[१७] वे जैन उपदेशों के निकट हैं। कई आधुनिक शोध विद्वानो के मत से तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि और घोर आङ्गिरस ऋषि अभिन्न पुरुष माने गए हैं। जैन-दर्शन के गम्भीर विद्वान् युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ जी ने

घोर आंगिरस के लिए अरिष्टनेमि के शिष्य या उनके विचारो से प्रभावित कोई संन्यासी के होने की सभावना प्रकट की है।[१८] अरिष्टनेमि का काल महाभारत काल था।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तीर्थङ्करो के क्रम मे तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ आधुनिक इतिहास विदो द्वारा ऐतिहासिक पुरुष प्रमाणित हुए हैं। उनका समय तीर्थङ्कर महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व था। चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के अभिभावक पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। उनको धर्म सस्कार पार्श्वनाथ की परम्परा से प्राप्त हुए थे। पार्श्वनाथ की परम्परा के बहुश्रुत आचार्य केशी और तीर्थङ्कर महावीर के प्रथम गणधर इद्रभूति गौतम का पारस्परिक मिलन तथा मधुर सवाद उत्तराध्ययन आगम मे विस्तार से उपलब्ध है।[१९] तीर्थङ्कर पार्श्व की परम्परा के कई मुनि तीर्थङ्कर महावीर के सघ मे सम्मिलित हुए। पार्श्व प्रभु की आयु १०० वर्ष की थी। उनका तीर्थ विशाल था। उनके तीर्थ मे मुनियों की सख्या १६०००, साध्वियो की सख्या ३८०००, श्रावको की सख्या १६४००० एवं श्राविकाओ की सख्या ३३६००० थी। तीर्थङ्कर पार्श्व के बाद तीर्थङ्कर महावीर हुए। तीर्थङ्कर पार्श्व ने चतुर्याम धर्म का और तीर्थङ्कर महावीर ने पच महाव्रत धर्म का प्रतिपादन किया।[२०] पार्श्वनाथ के शिष्य रगीन वस्त्र पहनते थे। महावीर की परम्परा मे ऐसा क्रम नही था।

वर्तमान जैन परम्परा और तीर्थङ्कर महावीर

वर्तमान जैन शासन की परम्परा भगवान् महावीर से सम्बन्धित है। महावीर का निर्वाण वि० पूर्व ४७० वर्ष मे हुआ था। भगवान् महावीर के शासन मे इन्द्रभूति गौतम आदि १४ हजार साधु, चन्दनबाला आदि ३६ हजार साध्विया थी।[२१] आनन्द आदि १ लाख, ५६ हजार श्रावक और जयन्ती आदि ३ लाख, १८ हजार श्राविकाए थी। यह व्रतधारी श्रावक-श्राविकाओं की सख्या थी। उस युग के प्रभावी शासक भी तीर्थङ्कर महावीर के अनुयायी थे। सर्वज्ञ प्रभु के मार्गदर्शन मे धर्मसघ सुसगठित एव व्यवस्थित था।

संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के सघ की सचालन विधि सुनियोजित थी। उनके सघ मे ग्यारह गणधर, नौ गण और सात पद थे।[२२] गण की शिक्षा-दीक्षा मे

सातों पदाधिकारियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता था। आचार्य गण सञ्चालन का कार्य करते। उपाध्याय प्रशिक्षण की व्यवस्था करते और सूत्रार्थ की वाचना देते। स्थविर श्रमणो को सयम मे स्थिर करते। प्रवर्तक आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक प्रवृत्तियो का संघ मे प्रवर्तन करते। गणी श्रमणो के छोटे समूहो का नेतृत्व करते। गणधर दिनचर्या का ध्यान रखते और गणावच्छेदक संघ की अन्तरग व्यवस्था करते तथा धर्मशासन की प्रभावना मे लगे रहते।

समकालीन श्रमण परम्पराएं

भगवान् महावीर के समकालीन श्रमण परम्परा के अन्य पांच विशाल सम्प्रदाय विद्यमान थे। उनमे कुछ सम्प्रदाय महावीर के सघ से भी अधिक विस्तृत थे। उन पाचो सम्प्रदायो का नेतृत्व क्रमशः १ पूरणकाश्यप २. मखलिगोशालक ३ अजितकेश कंबली ४. पकुधकात्यायन ५ सजयवेलट्ठिपुत्र कर रहे थे।[१] परिस्थितियो के वात्याचक्र से वे पाचो सम्प्रदाय काल के गर्भ मे विलीन हो गए। वर्तमान मे उनका साहित्यिक रूप ही उपलब्ध है। साहित्य उपलब्ध नही है।

गोशालक आजीवक श्रमण सम्प्रदाय का प्रमुख था। जैन और बौद्ध ग्रन्थो मे इनके सम्बन्ध की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म की स्थापना की वह भी श्रमण परम्परा की एक विशाल शाखा थी। समय परिवर्तन के साथ बौद्ध धारा विदेशो की ओर प्रवाहित हुई और भारत से विच्छिन्न प्राय. हो गई थी। आज भारत मे बौद्धो की संख्या पुन लाखो पर पहुंच गई है अनेक बौद्ध श्रमण हैं। फिर भी विदेशो की अपेक्षा भारत मे बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार कम है।

वर्तमान मे अध्यात्म प्रधान इस धरा पर तीर्थङ्कर महावीर का सम्प्रदाय ही गौरव के साथ मस्तक ऊंचा किए हुए प्रारम्भ से अब तक सदा गतिमान रहा है।

यह श्रेय जैनाचार्यो की विशिष्ट क्षमताओ और प्रतिभाओ को है। भगवान् महावीर की उत्तरवर्त्ती आचार्य परंपरा मे प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न तेजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी, यशस्वी, अनेक आचार्य हुए।

जैन शासन की श्रीवृद्धि मे उनका अनुदान अनुपम है। वे त्याग-तपस्या के उत्कृष्ट उदाहरण, नव नवोन्मेष प्रज्ञा के धारक एवं सतत यायावर श्रमण थे। अमितज्ञानी तीर्थंकर देव ने भव्यजनो के उद्बोधनार्थ अर्थागम प्रदान किया। गणधरो ने उसे गूंथा, सूत्रागमो की रचना की।[२] आचार्यों ने

उनको संरक्षण दिया। प्राणोत्सर्ग करके भी श्रुत-संपदा को काल के क्रूर दुष्काल मे विनष्ट होने से बचाया। उन्होने दूरगामिनी पद-यात्रा से अध्यात्म को विस्तार दिया और भगवान् महावीर के भव सतापहारी संदेश को जन-जन तक पहुंचाया।

काल विभाजन

भगवान् महावीर से अब तक के आचार्यों का युग महान् गरिमामय है। मैंने इसको तीन भागो मे विभक्त किया है—आगम युग, उत्कर्ष युग, नवीन युग।

१ आगम युग—वीर निर्वाण १००० वर्ष तक
(विक्रम पूर्व ४७० से वि० सं० ५३० तक)
२ उत्कर्ष युग—वीर निर्वाण १००० वर्ष से २००० वर्ष तक
(विक्रम सं० ५३० से १५३० तक)
३. नवीन युग—वीर निर्वाण २००० से २५०० तक
(विक्रम स० १५३० से २०३० तक)

यह विभाजन तत्कालीन प्रवृत्तियो के प्रमुख आधारो को सामने रख-कर किया गया है।

आगम युग

आगम युग वीर निर्वाण से प्रारम्भ होकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय तक संपन्न होता है। एक सहस्र वर्ष की अवधि का यह काल विविध घटना-प्रसंगों को अपने मे सजोए हुए है। इस काल की मुख्य प्रवृत्ति 'आगमिक' थी। वीरवाणी को स्थायित्व प्रदान करने के लिए इस युग मे कई क्रम चले। गणधर रचित द्वादशाङ्गी निधि का आलबन लेकर उपांगो की रचना हुई और पाठ्यक्रम की सुविधा हेतु अनुयोग व्यवस्था के माध्यम से आगम-पठन की नवीन पद्धति स्थापित हुई। इन प्रवृत्तियों का प्रमुख सम्बन्ध आगम से था। आचार्य सुधर्मा आगम-निधि के प्रदाता थे। आगमधर आचार्यों मे वे ही एक ऐसे आचार्य थे जिन्होने भगवान् महावीर की सन्निधि में बैठकर आगमबोध प्राप्त किया था। वर्तमान मे प्राप्त द्वादशाङ्गी के रचनाकार वे स्वय ही थे। आगमपुरुष आचार्य सुधर्मा के बहुमुखी व्यक्तित्व का प्रभाव इस काल मे व्यापक रूप से विद्यमान रहा, अतः मैंने इस सहस्र वर्ष के काल को आगम युग के नाम से संबोधित किया है।

आचार्य सुधर्मा और जम्बू

भगवान् महावीर की परम्परा आचार्य सुधर्मा से प्रारम्भ होती है। दिगम्बर परम्परा मे यह श्रेय गणधर गौतम को है। सुधर्मा की जैन संघ को सबसे महत्त्वपूर्ण देन द्वादशाङ्गी की रचना है। द्वादशाङ्गी का दूसरा नाम गणिपिटक भी है।[15] बौद्ध दर्शन में जो स्थान त्रिपिटक का है और वैदिक दर्शन मे जो स्थान चार वेदो का है, वही स्थान जैन दर्शन मे गणिपिटक का है।

सुधर्मा के इस आगम वैभव को उनके बाद आचार्य जम्बू ने सुरक्षित रखा था। इन दोनो आचार्यों का जैन संघ मे अत्यंत गौरवमय स्थान है। महावीर के बाद ये दो ही आचार्य ऐसे थे। इन्होने ही सर्वज्ञत्वश्री का वरण किया था।[16]

श्रुतकेवली परम्परा

जैन परम्परा मे छह श्रुतकेवली हुए हैं[17]—

१ प्रभव २ शय्यंभव ३ यशोभद्र ४ सम्भूत विजय ५ भद्रबाहु ६ स्थूल भद्र।

इन छह श्रुतकेवलियो मे आचार्य भद्रबाहु का स्थान बहुत ऊंचा है। आचार्य जम्बू के बाद वीर नि० ६४ (वि० पू० ४०६) से श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो की परम्परा भिन्न हो गयी थी। वह परम्परा भद्रबाहु के समय मे एक बिन्दु पर आ गई थी। दिगम्बर परम्परा मे जम्बू स्वामी के बाद श्रुतकेवली विष्णु नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और तदनन्तर भद्रबाहु का नाम आता है।[18] इन आचार्यो का कालमान १६२ वर्ष का है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जम्बू के बाद प्रभव से भद्रबाहु तक का कालमान १७० वर्ष का है। इन दोनो मे ८ वर्ष का अन्तर है। भद्रबाहु के पास सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी सुरक्षित थी, इसे दोनो सम्प्रदाय एक स्वर से स्वीकार करते है।

द्वादशवर्षीय दुष्काल और आगम वाचना

आचार्य जम्बू के बाद दस बातो का विच्छेद हो गया था।[19] श्रुत की धारा आचार्य भद्रबाहु के बाद क्षीण हो गई। इसका प्रमुख कारण उस युग का द्वादशवर्षीय अकाल था। इस समय काल की काली छाया से विक्षुब्ध अनेक श्रुतधर श्रमण स्वर्गवासी बन गए। इससे श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो

गई।

दुष्काल की समाप्ति पर विच्छिन्न श्रुत को संकलित करने के लिए वी० नि० १६० (वि० पु० ३१०) के लगभग श्रमण सघ पाटलिपुत्र (मगध) मे एकत्रित हुआ। आचार्य स्थूलभद्र इस महा सम्मेलन के व्यवस्थापक थे। सभी श्रमणो ने मिलकर प्रामाणिक रूप से ग्यारह अगो का पूर्णत संकलन इस समय किया था। आगम युग की यह सर्वप्रथम वाचना थी। कुछ श्रमणो ने इसे मान्य नही किया। यही से जैन सघ मे श्रुत भेद की धुधली-सी रेखा भी उभर आई।

टूटती श्रुत शृंखला और आर्य स्थूलभद्र

इस समय भद्रबाहु के अतिरिक्त बारहवां अग किसी के पास सुरक्षित नही था। यह श्रुत व्युच्छित्ति का पहला आघात जैन सघ को लगा था। इस क्षतिपूर्ति के लिए प्रतिभा सपन्न आर्य स्थूलभद्र विशाल श्रमण संघ के साथ नेपाल पहुचे और आचार्य भद्रबाहु से बारहवें अग की वाचना ग्रहण कर टूटती हुई श्रुत-शृखला की सयोजक कडी बने। श्रुत केवली की परपरा मे आचार्य स्थूलभद्र अन्तिम थे। आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को अन्तिम चार पूर्वो की अर्थ वाचना नही दी। अत अर्थदृष्टि मे अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे। उनके स्वर्गवास वी० नि० १७० (वि० पू० ३००) के बाद अर्थतः अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हो गया।[१०]

दशपूर्वधर परम्परा और उल्लेखनीय प्रसंग

दशपूर्वधर दस आचार्य हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१ महागिरि २. सुहस्ती ३. गुणसुन्दर ४ कालकाचार्य ५. स्कन्दिलाचार्य ६. रेवतिमित्र ७ धर्म ८ भद्रगुप्त ९ श्रीगुप्त १० आर्य-वज्र[११]।

दशपूर्वधर दस आचार्यो मे आचार्य महागिरि एव सुहस्ती के जीवन-प्रसग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आर्य महागिरि प्रथम दशपूर्वधर आचार्य थे एवं जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। आर्य सुहस्ती द्वितीय दशपूर्वधर आचार्य थे। आर्य महागिरि व आर्य सुहस्ती दोनो गुरुभाई आचार्य थे तथा आर्य स्थूलभद्र के प्रधान शिष्य थे।

आगम मे तीन प्रकार के स्थविर माने गए हैं—(१) जाति स्थविर (२) श्रुत स्थविर (३) पर्याय स्थविर। साठ वर्ष की अवस्था प्राप्त व्यक्ति

'जाति स्थविर'; ठाणं और समवायांग का धारक निर्ग्रन्थ 'श्रुत स्थविर' एव बीस वर्ष साधुत्व पालने वाला 'पर्याय स्थविर' होता है।"

आर्य स्थूलभद्र के संध्या काल मे आर्य महागिरि जाति-स्थविर, श्रुत स्थविर एव पर्याय स्थविर भी बन चुके थे। आर्य सुहस्ती उस समय न जाति-स्थविर थे, न श्रुत-स्थविर थे, न पर्याय-स्थविर ही।

आर्य स्थूलभद्र ने भावी आचार्य पद के लिए गम्भीरता से अध्ययन किया और उन्होंने इस पद पर दोनो की नियुक्ति एक साथ की। निशीथ चूर्णि के अनुसार आर्य स्थूलभद्र ने आचार्य पद का दायित्व आर्य महागिरि को न देकर आर्य सुहस्ती को प्रदान किया था।"

कल्पसूत्र स्थविरावली की परम्परा मे आचार्य सभूतविजय के उत्तराधिकारी आचार्य स्थूलभद्र एव स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी आचार्य सुहस्ती थे।

आर्य महागिरि के बहुल आदि आठ प्रमुख शिष्य थे। उनमे से आर्य महागिरि के उत्तराधिकारी गणाचार्य बलिस्सह थे। आर्य महागिरि के अन्य शिष्य भी जैन धर्म के महान् प्रभावक थे।

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य महागिरि के आठवे शिष्य कौशिक गोत्रीय रोहगुप्त (षडुलूक) से त्रैराशिक मत की स्थापना हुई। षडुलक वैशेपिक सूत्रों के कर्त्ता भी माने गए हैं। त्रैराशिक मत की स्थापना का इतिहास सम्मत समय वी० नि० ५४४ (वि० स० ७४) हैं। इस आधार पर त्रैराशिक मत के सस्थापक आर्य महागिरि के शिष्य रोह गुप्त प्रमाणित नही होते। समवायाग टीका के अनुसार श्री गुप्त के शिष्य रोहगुप्त (षडुलूक) से अन्तरजिका नगर मे त्रैराशिक मत का जन्म हुआ था।

आर्य महागिरि के प्रशिष्य परिवार मे से दो निह्नव हुए हैं।

कोण्डिन्य के शिष्य मुनि अश्वमित्र निह्नव बने। उनके द्वारा वी० नि० २२० (वि० पू० २५०) के पश्चात्, सामुच्छेदिकवाद की स्थापना हुई।

धनाढ्य के शिष्य गंग मुनि भी निह्नव हुए। उनके द्वारा उल्लुका नदी के तीर पर वी० नि० २२८ (वि० पू० २४२) के पश्चात् द्वैक्रियवाद की स्थापना हुई।

कौण्डिन्य और धनाढ्य दोनो आचार्य महागुरु के शिष्य थे। धनाढ्य का दूसरा नाम धनगुप्त भी था।

सामुच्छेदिकवाद के मत से प्रत्येक क्षण नारक आदि सभी जीव

उच्छिन्न भाव को प्राप्त होते रहते हैं। यह एकान्तिक पर्यायवाद का समर्थक है, एव बौद्ध-दर्शन के निकट है।

द्वैक्रियवाद के अभिमत से शीत-उष्ण आदि दो विरोधी धर्मों का एक साथ अनुभव किया जा सकता है।

त्रैराशिकवाद के अभिमत से जीव, अजीव और नो जीव रूप तीन राशि की सिद्धि मानी गई है।

आर्य महागिरि और सुहस्ती के गण भिन्न-भिन्न होते हुए भी प्रीतिवश दोनों आचार्य एक साथ विचरण करते थे।[१४]

आर्य सुहस्ती के स्थविर आर्य रोहण आदि बारह प्रमुख शिष्य थे। इनसे उद्देहगण, उडुपाटित गण आदि गणो का और प्रत्येक गण से कई शाखाओ और कुलो का जन्म हुआ। इन शाखाओ-प्रशाखाओ मे मानव गण मे पनपी एक शाखा का नाम सौराष्ट्रिका है। यह सौराष्ट्रिका शब्द आचार्य सुहस्ती के शिष्य गण का सौराष्ट्र क्षेत्र से सम्बद्ध होने का सकेत है। विद्वानो का अनुमान है श्रमणो द्वारा धर्म प्रचार का कार्य सौराष्ट्र तक विस्तृत हो चुका था।

कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं आचार्य सुहस्ती के जीवन से सम्बद्ध हैं।

आचार्य सुहस्ती के शिष्य वर्ग मे आहार गवेषणा-सबधी शिथिलाचार को पनपते देखकर आचारनिष्ठ आर्य महागिरि द्वारा साम्भोगिक विच्छेद की घटना सर्वप्रथम इस समय घटित हुई। इससे पूर्व आचार्यों का एक ही सभोग था।[१५]

अवन्ती के श्री संपन्न वसुभूति श्रेष्ठी का अध्यात्मबाध देने का श्रेय भी आचार्य सुहस्ती को है।

गणाचार्य, वाचनाचार्य एव युगप्रधानाचार्य की परम्परा आचार्य सुहस्ती के समय से प्रारभ हुई।

श्रुतधर आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ती के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के जीवन-प्रसग भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। दसवें श्रुत-धर वज्रस्वामी का जीवन-प्रसंग विस्तार के साथ वज्रस्वामी जीवन वृत्त में इसी पुस्तक मे प्रस्तुत है।

दिगम्बर परम्परा मे दस पूर्वधरो की सख्या ग्यारह है उनके नाम तथा समयावधि इस प्रकार है—

(१) विशाखाचार्य १० वर्ष

(२)	प्रोष्ठिल	१६ ,,
(३)	क्षत्रिय	१७ ,,
(४)	जयसेन	२१ ,,
(५)	नागसेन	१८ ,,
(६)	सिद्धार्थ	१७ ,,
(७)	धृतिषेण	१८ ,,
(८)	विजय	१३ ,,
(९)	बुद्धिलिंग	२० ,,
(१०)	देव	१४ ,,
(११)	धर्मसेन	१६ ,,
		१८३

श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार दश पूर्वधरों की समयावधि इस प्रकार है—

(१)	महागिरि	३० वर्ष
(२)	सुहस्तिन्	४६ ,,
(३)	गुणसुन्दर	४४ ,,
(४)	कालक (प्रज्ञापना कर्त्ता)	४१ ,,
(५)	स्कन्दिल (पाण्डिलय)	३८ ,,
(६)	रेवतीमित्र	३६ ,,
(७)	आर्यधर्म	४४ ,,
(८)	भद्रगुप्त	३९ ,,
(९)	श्रीगुप्त	१५ ,,
(१०)	वज्र	३६ ,,

श्वेताम्बर परंपरा की मान्यता के अनुसार दशपूर्वधरों की परंपरा अधिक दीर्घकालीन है।

तत्कालीन राजवंश

निर्ग्रन्थ शासन के साथ राजवंशों का भी घनिष्ठ संबंध रहा है। भगवान् महावीर का एक ऐसा व्यक्तित्व था, जो भी उनके सपर्क मे आया वह उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहा। उनकी पीयूषवर्षी वाणी को सुनने के लिए साधारण जन और सम्राट् भी लालायित रहते थे।

सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार)

सम्राट् श्रेणिक भगवान् महावीर के अनुयायी राजाओ मे सर्वाधिक विश्रुत है। आगमो मे अनेक स्थलो पर श्रेणिक सम्राट् का उल्लेख हुआ है। श्रेणिक पुत्र मेघकुमार, नन्दिसेन आदि भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित हुए थे। श्रेणिक पुत्र अमात्य अभयकुमार ने भी निर्ग्रन्थ शासन मे मुनि दीक्षा ग्रहण की थी।

श्रेणिक की कई रानियो को भी इस धर्मसघ मे दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

चपा नरेश दधिवाहन की पुत्री राजकुमारी चदनबाला महावीर के संघ मे प्रथम साध्वी बनी तथा वह प्रवर्तनी पद पर नियुक्त हुई। उन्होने छत्तीस हजार साध्वियो का कुशलतापूर्वक नेतृत्व किया।

गणराज्य अध्यक्ष चेटक

चेटक शक्तिशाली वैशाली गण राज्य का अध्यक्ष था। प्रजातन्त्र का जो रूप आज हम देख रहे हैं उसका वही स्वरूप ढाई हजार वर्ष पूर्व वैशाली गण-राज्य मे देखने को मिलता था। वैशाली राज्य १८ विभागो मे विभक्त था, जिसका प्रतिनिधित्व नौ लिच्छवी तथा नौ मल्ली राज्य करते थे। वे सभी जैन धर्मानुयायी थे। राज्य का सचालन गण परिषद् द्वारा होता था।

चेटक की जैन धर्म मे अगाध आस्था थी। चेटक कोणिक के भीषण युद्ध मे भी चेटक ने स्वीकृत नियमो का पालन किया। भगवान् महावीर की मां त्रिशला चेटक की बहिन थी। महावीर चेटक के भगिनेय थे। उसने अपनी पुत्रियो का सबध सुप्रसिद्ध उच्च राजवशो मे किया था। सिन्धु सौवीर प्रदेश के राजा उदायन के साथ प्रभावती का, अग प्रदेश के राजा दधिवाहन के साथ पद्मावती का, वत्स देश के राजा शतानिक के साथ मृगावती का, उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत के साथ शिवा का, महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन के साथ ज्येष्ठा का, मगध नरेश श्रेणिक के साथ चेलना का विवाह-सबध हुआ था।

सुज्येष्ठा भगवान् महावीर के संघ में साध्वी बनी थी। चेटक के दामादो को जैन बनाने का श्रेय चेटक की पुत्रियों को है।

भवसतापहारिणी तीर्थङ्कर देव की वाणी से इस प्रकार उस समय के राजवशी का समग्र वातावरण ही धार्मिक भावनाओ से ओत-प्रोत था।

पोतनपुर नरेश प्रसन्नचन्द्र, दशार्णपुर नरेश दशार्णभद्र आदि अनेक भूपाल जैन धर्म के अनुयायी थे ।

सम्राट् कोणिक (अजातशत्रु)

भगवान् महावीर के समय मे मगध पर सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) का एव अवन्ति पर चण्डप्रद्योत का शासन था । सम्राट् श्रेणिक का वीर निर्वाण के लगभग १७ वर्ष पूर्व ही देहावसान हो गया था । श्रेणिक के बाद मगध पर कोणिक (अजातशत्रु) का शासन स्थापित हुआ । तीर्थङ्कर महावीर निर्वाण के बाद सुधर्मा के शासनकाल मे मगध पर कोणिक का एव अवन्ति पर पालक का राज्य था ।

नरेश कोणिक वीतराग शासन के प्रति दृढ आस्थाशील था । तीर्थङ्कर महावीर के प्रतिदिन के सुख-सवाद सुनने के लिए वह सदा उत्सुक रहता था। उसके राज्य म एक ऐसे विभाग की व्यवस्था भी थी जिससे नरेश को तीर्थङ्कर महावीर के सुख सवाद निरन्तर प्राप्त हो सके । औपपातिक उपाङ्ग मे इस विषय का विस्तार से वर्णन है । आर्य सुधर्मा की परिषद् मे नरेश कोणिक उपस्थित होता रहता था ।

एक बार तेजस्वी वर्चस्वी मुनि को आर्य सुधर्मा के परिपार्श्व मे बैठे देख नरेश कोणिक ने प्रश्न किया था—

भगवन्नद्भुत रूपमिद सौभाग्यमद्भुतम् ।
तेजोऽप्यद्भुतमेतस्य महर्षे सर्वमद्भुतम् ।।३६।।
महाभाग्यस्य सौभाग्यमप्यस्य न गिरा पथि ।
यदेन बन्धुमिव मे पश्यत प्रीयते मन ।।४४।।
जम्बूप्राग्भववृत्तान्तमथाख्यद्गणभृद्वर ।
श्रेणिकाय यथाऽऽचख्यौ पुरा श्रीज्ञातनन्दन. ।।४८।।

(परि० पर्व सर्ग ४)

आचार्यदेव ! आपकी श्रमण मण्डली मे अपार रूप सम्पदा के स्वामी एव महातेजस्वी ये मुनि कौन है ? इनको देखकर मेरे मन मे प्रीति का भाव जागृत हो रहा है ।

अपने प्रश्न के उत्तर मे आर्य सुधर्मा से जम्बू मुनि के जीवन का पूर्व-भव सहित विस्तार से परिचय पाकर नरेश कोणिक अत्यन्त प्रसन्न हुए ।

दोनो प्रसङ्ग जैन धर्म के प्रति नरेश कोणिक की हार्दिक निष्ठा को

प्रमाणित करते हैं।

जैन ग्रन्थों मे कोणिक देहावसान का समय उपलब्ध नही है। कोणिक पुत्र उदायी का शासनकाल सुधर्मा के समय मे ही प्रारभ हो गया था। इस आधार पर कोणिक का देहावसान समय सुधर्मा निर्वाण से पूर्व प्रमाणित होता है।

सम्राट् चण्डप्रद्योत

भगवान् महावीर के समय में अवन्ति पर चण्डप्रद्योत का शासन था। भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन चण्डप्रद्योत का देहावसान हो गया था।[11] अवन्ति के राज्य सिंहासन पर प्रद्योत पुत्र पालक आरूढ हुआ। पालक भी जैन धर्म मे आस्थाशील था। राज्यकाल के बीसवें वर्ष मे अपने पुत्र "अवन्तिवर्द्धन" को राज्य सौपकर तथा पुत्र राष्ट्रवर्द्धन को युवराज बनाकर आचार्य सुधर्मा के पास पालक ने मुनि दीक्षा ग्रहण की।

सम्राट् उदायी

मगध नरेश उदायी भी जैन धर्म का परम उपासक था। कोणिक की राजधानी चम्पा थी। उदायी ने राजधानी के लिए पाटलिपुत्र की स्थापना की। पाटलिपुत्र की स्थापना का रोचक इतिहास परिशिष्ट पर्व, निर्युक्ति एव चूर्णि ग्रन्थो मे विस्तार से उपलब्ध है। उदायी का ४० वर्ष का शासनकाल अत्यन्त क्षेमंकर था।

अष्टमी और चतुर्दशी को उदायी पौषधोपासना किया करता था। देहावसान के समय मे भी उदायी पौषध क्रिया में (धर्माराधना की विशेष प्रवृत्ति) मे प्रवृत्त था।

नंद वंश

उदायी के बाद मगध पर नंद वंश का राज्य स्थापित हुआ। इस समय वी० नि० के ६० वर्ष व्यतीत हो गए थे। वैदिक ग्रन्थो मे वर्णित शिशुनाग वंशीय राजाओं के शासन का यह समापन काल था। नन्द राज्य का इस समय अभ्युदय हो रहा था। नंद वंश राज्य मे नौ नद हुए हैं। नंद राज्य के प्रारम्भिक समय मे आचार्य जम्बू के धर्मशासन काल का उत्तरार्ध चल रहा था। उनके शासनकाल के चार वर्ष अवशिष्ट थे।

नन्दो के शासनकाल मे जैन अमात्यों का अभ्युदय जैन इतिहास का सुनहला पृष्ठ है।

महामात्य कल्पाक नन्द वंश के महामात्यों में सबसे प्रथम था। कल्पाक के गुणों से प्रभावित होकर नरेश नन्द ने महामात्य पद पर इसकी नियुक्ति की थी। कल्पाक के बुद्धि बल से नन्द साम्राज्य का चतुर्मुखी विकास हुआ। कल्पाक के वंशज नन्दों के शासन काल में अमात्य पद के दायित्व को निभाते रहे। नवमें नन्द के समय महामात्य पद पर बुद्धिमान शकडाल था। शकडाल का पूरा परिवार जैन संस्कारों से ओत-प्रोत था।

शकडाल कुशल राजनीतिज्ञ था। नन्द साम्राज्य की कीर्तिलता महामंत्री के कौशल से दिग्-दिगन्त में प्रसारित थी। वीर निर्वाण के बाद अवन्ति पर ६० वर्ष तक पालक का एवं मगध पर श्रेणिक के वंशजों का राज्य था। इसके बाद मगध पर १५० वर्ष अथवा १५५ वर्ष तक नन्दों का राज्य रहा।[१७] नन्द राज्य में नौ नन्द नरेश हुए। इस काल में आचार्य प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र जैसे श्रुतसम्पन्न प्रभावी आचार्य हुए।[१८] इन आचार्यों के प्रयत्नों से सम्पूर्ण मगध राज्य में तथा अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग तक जैन धर्म के स्वर गूंजायमान थे। महामात्य शकडाल के पारिवारिक सदस्य स्थूलभद्र, श्रीयक एवं सातों भगिनियों का दीक्षा-संस्कार आचार्य सम्भूतविजय के द्वारा हुआ। शोध विद्वानों के मतानुसार सभी नन्द नरेश जैन थे। नन्दों का भारत के उत्तर में हिमालयवर्ती प्रदेशों पर भी शासन था। कश्मीर भी उनके अधिकार में था अतः वहां तक जैन-धर्म के विस्तार की सम्भावना की जा सकती है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त और चाणक्य

सम्राट् चन्द्रगुप्तमौर्य और मंत्रीश्वर चाणक्य का आगमन नन्द साम्राज्य में क्रान्ति के रूप में हुआ। यह क्रान्ति महामात्य शकडाल की मृत्यु और स्थूलभद्र एवं श्रीयक की दीक्षा के बाद हुई थी।

चाणक्य कुशल राजनीतिज्ञ था वह किसी आयोजन में अपमानित होने पर नन्द राज्य का शत्रु बन गया था। चाणक्य को चन्द्रगुप्त का योग मिला। दोनों ने मिलकर सैन्यदल तैयार किया। प्रथम बार चन्द्रगुप्त और चाणक्य को करारी हार मिली परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी।

पर्वत नरेश को साथ में मिलाकर उन्होंने युद्ध लड़ा। संयुक्त सैन्यदल के सामने सुदृढ़ नन्द साम्राज्य की नींव हिल गई। नन्द साम्राज्य का पतन एवं मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। यह समय वी० नि० २१५ है।

इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना यूनानी सम्राट् सिकन्दर का

पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण था परन्तु नन्द साम्राज्य की सुदृढ़ता के कारण वह मगध की ओर नही बढ पाया था। कुशल राजनीतिज्ञ चन्द्रगुप्त और चाणक्य के द्वारा नन्द साम्राज्य का पतन हुआ। जैन इतिहास के अनुसार नन्दो का शासन काल १५५ वर्ष का है।

भारत के राजनैतिक इतिहास का जो प्राचीन युग है उसमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव प्रामाणिक इतिहास चन्द्रगुप्त का है। मौर्य साम्राज्य स्थापना के बाद चन्द्रगुप्त ने राज्य के विस्तार को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया। चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम भारत को राजनैतिक दृष्टि से एक सूत्र मे बाधा। उसका राज्य विध्याचल की सीमा से भी आगे तक विस्तृत था। यूनानी शासन से भारत को मुक्त करने का महत्त्वपूर्ण कार्य चन्द्रगुप्त ने किया था।

चाणक्य का जन्म ई० पू० ३७५ के लगभग का है। गोल्ल उसकी जन्मभूमि थी। माता का नाम चणकेश्वरी एव पिता का नाम चणक था। चणक और चणकेश्वरी दोनो धर्म प्रधान वृत्ति के थे। चाणक्य का जन्म हुआ उस समय जैन सत, ब्राह्मण चाणक्य के मकान मे विराज रहे थे।[१९] बालक के लिए संतो ने बताया था कि यह राजा के समकक्ष प्रभावशाली होगा।[२०] सतो की भविष्यवाणी फलित हुई। चाणक्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का अभिन्न अग था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का २५ वर्ष का शासन काल भारतीय इतिहास मे स्वर्णिमकाल कहलाता है।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार ने राज्य भार सम्भाला। बिन्दुसार मौर्यवश का द्वितीय सम्राट् था एव मगध साम्राज्य का शक्तिशाली अधिपति था। इस समय मे धर्म प्रभावक आचार्य महागिरि और सुहस्ती थे। दुष्काल मे भिखारी को आर्य सुहस्ती के द्वारा दीक्षा देने की घटना बिन्दुसार के युग की बताई गई है। बिन्दुसार के शासनकाल मे महामात्य चाणक्य वृद्धावस्था मे था। उसने बुद्धिमानीपूर्वक बहुत जल्दी ही अमात्य पद से मुक्ति ले ली थी। जैन ग्रन्थों मे चाणक्य के द्वारा अन्तिम समय मे अनशन की स्थिति स्वीकार करने का एव आराधना आदि दिगम्बर ग्रन्थो मे चाणक्य की कठिन तपस्याओ का उल्लेख मिलता है।

प्रजा-वत्सल, धर्मप्रेमी, कुशल राज्य-संचालक बिन्दुसार का देहावसान

ई० पूर्व २०३ में हुआ था। बिन्दुसार का शासन काल सुव्यवस्थित एवं शांतिपूर्ण था।

सम्राट् अशोक

मौर्य राज्य का तृतीय शक्तिशाली नरेश अशोक था। अशोक की गणना विश्व के महान् सम्राटों मे है। अशोक योग्य और प्रतापी नरेश था। इसके पुत्र का नाम कुणाल था।

नन्द नरेश ने ई० पू० ४२४ के लगभग कलिंग देश पर विजय प्राप्त की थी। वहा से वह जैन-मूर्ति लेकर आया था। उस समय से ही कलिङ्ग राज्य मगध के अधीन था। नन्द वंश के पतन के बाद कलिङ्ग पूर्ण स्वतंत्र हो गया। अशोक ने ईस्वी पूर्व २६२ के लगभग अपने राज्य के आठवे वर्ष मे विशाल सेना के साथ पुनः कलिङ्ग राज्य पर आक्रमण किया। भयकर युद्ध हुआ। इसमे कलिङ्ग की करारी हार हुई। इस घटना के बाद विजयी अशोक का मन अध्यात्म की ओर उन्मुख हुआ। उसने पुत्र महेन्द्र और पुत्री सघमित्रा को सुदूर लका मे भेजकर धर्म प्रचार किया। अशोक बौद्ध धर्मानुयायी था। उसने बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए महान् योग दिया।

ब्राह्मण-साहित्य मे अशोक के सम्बन्ध का उल्लेख प्राय नही है। जैन ग्रन्थो मे, बौद्ध ग्रन्थो मे प्राप्त अशोक के इतिवृत्त तथ्यों को पूर्ण समर्थन नही है। अशोक के संबंध मे सबसे बडा ऐतिहासिक आधार अशोक के शिलालेख हैं। ये शिलालेख ही प्रामाणिक रूप से अशोक के जीवन को प्रस्तुत करते हैं। इन शिलालेखो मे कई शिलालेख स्वय अशोक द्वारा लिखे गए हैं। कई शिलालेख उसके पौत्र सम्प्रति द्वारा लिखाए गए हैं। इन शिलालेखों से अशोक के बौद्ध होने की अपेक्षा जैन होने का अधिक समर्थन मिलता है। अशोक का मूल धर्म जैन था। उसके पिता और प्रपितामह जैन थे। अतः वह जीवन के पूर्वार्द्ध मे अवश्य ही जैन था। नीतिपरायण एवं प्रतापी अशोक का देहावसान ई० पू० २३४ या २३२ के लगभग हुआ था।

सम्राट् सम्प्रति

सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल एवं कुणाल का पुत्र सम्प्रति था। राजकुमार कुणाल कौमार्य अवस्था मे ही अपने नयनो को खो चुका था। कुणाल-पुत्र सम्प्रति मौर्य सम्राट् अशोक का उत्तराधिकारी बना। सम्राट् संप्रति भी अपने प्रपितामह की भान्ति धर्म-प्रेमी एवं प्रतापी नरेश था।

मौर्यवंशी राजाओ मे चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल, सम्प्रति, पुण्यरथ एवं वृहद्रथ सम्राट् हुए। इन सात पीढियो के एक सौ साठ वर्ष के राज्य-काल में सम्राट् सम्प्रति के राज्य को जैन ग्रन्थो मे सर्वोत्तम माना है।[१] बौद्ध ग्रन्थो मे धर्म-प्रचार की दृष्टि से जो स्थान सम्राट् अशोक का है, जैन ग्रंथों में वही स्थान सम्राट् संप्रति का है।

जैन शासन की प्रभावना मे आर्य सुहस्ती एव सम्राट् सप्रति का विशिष्ट योगदान है।

जैन शासन की प्रभावना मे आचार्य सुहस्ती और सम्राट् सम्प्रति का महान् योगदान है। मौर्यवंशी कुणाल-पुत्र सम्राट् सम्प्रति आचार्य सुहस्ती से सम्यक्त्व रत्न प्राप्त कर जैन-दर्शन का व्रतधारी श्रावक बना और उसने जैन-दर्शन प्रभावी जो यशस्वी कार्य किए वे इतिहास के पृष्ठो म अकित रहेगे। जैन सम्राट् सप्रति जैन राजाओ मे प्रथम सम्राट् था, जिसने अपने राजपुरुषो को जैन धर्म का प्रशिक्षण देकर श्रमण-परिधान सहित उन्हे अनार्य क्षेत्रो मे प्रेपित किया[२] एव उनसे अधार्मिक लोगो मे जैन-सस्कारो के बीज वपन कर, अनार्य भूमि को आगमधर चरित्रनिष्ठ श्रमणो के लिए विहरण योग्य बना दिया। अरब, ईरान आदि विदेशो मे भी जैन सस्कारो को पल्लवित कर धर्म प्रचार के क्षेत्र मे सप्रति ने कीर्तिमान स्थापित किया था। बिमेन्ट स्मिथ के अनुसार सम्प्रति ने अरब, ईरान आदि देशो मे जैन सस्कृति के केन्द्र स्थापित कर दिए थे।

आधुनिक शोध विद्वानो के अभिमत से अशोक के नाम से सुप्रसिद्ध शिलालेखों मे से अधिकाश शिलालेख सम्राट् सप्रति द्वारा उत्कीर्ण संभव है।

महान् यशस्वी धर्मानुरागी सम्राट् सम्प्रति नरेश का देहावसान ई० पू० १६० के लगभग हुआ था।

जैन धर्म और सम्राट् खारवेल

उड़ीसा प्रान्त का महाप्रतापी शासक खारवेल सुदृढ जैन उपासक था। वह महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय की उत्तरवर्ती राजपरम्परा से सबधित था। उनका दूसरा नाम महामेघवाहन भी था।

जैनाचार्यों की और प्रभावक राजाओ की शृंखला मे आचार्य सुधर्मा के साथ नरेश कोणिक (अजातशत्रु) का, आचार्य सुहस्ती के साथ सम्राट् सम्प्रति का, आचार्य सिद्धसेन के साथ विक्रमादित्य, कुमार नरेश देवपाल आदि

कई राजाओं का, आचार्य समन्तभद्र के साथ शिवकोटि नरेश का, आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के साथ अविनीत कोगुणी एवं दुर्विनीत कोगुणी का, आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र के साथ नरेश अमोघवर्ष और अकाल वर्ष का, आचार्य बप्पभट्टी के साथ आम राजा का, आचार्य हेमचन्द्र के साथ सिद्धराज जयसिंह और चौलुक्य कुमारपाल का, आचार्य जिनप्रभसूरि के साथ बादशाह तुगलक का, आचार्य हीरविजयजी एवं जिनचन्द्रसूरि के साथ बादशाह अकबर का इतिहास गौरवमय शब्दो मे लिखा हुआ है, पर महाराज खारवेल का उल्लेख इस लम्बी शृंखला मे कही और किसी आचार्य के साथ जैन ग्रन्थों मे उपलब्ध नहीं है। इससे इतिहासकारो ने सम्राट् खारवेल को पार्श्वापत्यिक संघ का अनुयायी माना है।

जैन प्रचार-प्रसार का व्यापक रूप मे जो कार्य कलिंगाधिपति खारवेल ने किया वह वास्तव मे अद्वितीय था। अपने समय मे उन्होने एक वृहद् जैन सम्मेलन का आयोजन किया जिसमे आस-पास के अनेक जैन भिक्षु, आचार्य, विद्वान् तथा विशिष्ट उपासक सम्मिलित हुए।

सम्राट् खारवेल को उसके कार्यों की प्रशस्ति के रूप में धम्मराज, भिक्खुराज, खेमराज जैसे शब्दो से सम्बोधित किया गया। हाथीगुफा (उडीसा) के शिलालेख मे इसका विशद वर्णन है।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार महामेघवाहन भिक्षुराज खारवेल सम्राट् ने कुमारी पर्वत पर यह श्रमण सम्मेलन आयोजित किया था। इस सम्मेलन मे महागिरि परंपरा के बलिस्सह, बौद्धिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि २०० जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले श्रमण एवं आर्य सुस्थित, आर्य सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि ३०० स्थविरकल्पी श्रमण थे। आर्या पोइणी आदि ३०० साध्वियां, भिखुराय, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रमणोपासक और पूर्णमित्रा आदि ७०० उपासिकाएं विद्यमान थीं।

श्यामाचार्य ने इस अवसर पर पन्नवणासूत्र की, उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र की और स्थविर आर्य बलिस्सह ने अगविद्या प्रभृति शास्त्रो की रचना की।

बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि स्थविर श्रमणो ने खारवेल सम्राट् की प्रार्थना से सुधर्मा रचित द्वादशाङ्गी का सकलन किया एवं भोजपत्र, ताड़पत्र और वल्कल पर उसे लिपिबद्ध कर आगम वाचना के ऐतिहासिक

पृष्ठों में महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा।

श्रमण-वर्ग ने धर्मोन्नति हेतु मगध, मथुरा, बंग आदि सुदूर प्रदेशो मे विहरण करने की प्रेरणा इसी सम्मेलन मे प्राप्त की। इस सम्मेलन की मुख्य प्रवृत्ति आगम-वाचना के रूप मे निष्पन्न हुई।

सम्राट् खारवेल वी० नि० ३०० (वि० पू० १७०) के आसपास सिंहासन पर आरूढ हुए और वी० नि० ३३० (वि० पू० १४०) के बाद उनका स्वर्गवास हुआ था। अत. वी० नि० ३०० से ३३० के बीच मे इस आगम वाचना का काल सभव है।

जैन-शासन के विशिष्ट विद्या सम्पन्न आचार्य

आचार्य कालक इस युग के विशिष्ट प्रभावोत्पादक विद्वान् तथा धर्म के प्रबल प्रचारक थे।

जैन इतिहास ग्रन्थो मे प्रमुखत. कालक नामक चार आचार्यो का उल्लेख है। प्रथम कालक श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। वे निगोद व्याख्याता, शक्र सस्तुत एव पन्नवणासूत्र के रचनाकार थे। उनका कालमान वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) है।[13]

द्वितीय कालक गर्दभिल्लोच्छेदक विशेषण से विशेषित हैं।[14] वे सरस्वती के बधु थे। उनका समय वी० नि० ४५३ (वि पू० १७) है।[15]

तृतीय कालक वी० नि० ७२० (वि० २५०) मे हुए है।[16] उनके जीवन सबधी वृतान्त विशेष उपलब्ध नही हैं।

चतुर्थ कालक वी० नि० ९९३ (वि० ५२३) मे हुए हैं। वल्लभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण की पट्ट परपरा मे वे सत्ताईसवें आचार्य थे। सभवत देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की आगम-वाचना के समय नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि रूप मे आचार्य कालक (चतुर्थ) उपस्थित थे।

विदेश जाकर विद्याबल से शको को प्रभावित करने वाले द्वितीय कालक थे। प्रतिष्ठानपुर का राजा शातवाहन उनका भक्त था। शातवाहन ने अत मे षड्यंत्र रचकर भृगुकच्छ नरेश पर विजय पाई।

बलमित्र और भानुमित्र के द्वारा पावसकाल मे निष्कासित किए जाने पर अथवा राजपुरोहित द्वारा प्रस्थान करने जैसी परिस्थितिया पैदा कर दिए जाने पर अवन्ति से विहार कर आचार्य कालक प्रतिष्ठानपुर मे आए और राजा शातवाहन की प्रार्थना पर उन्होंने वहां चतुर्थी को सम्वत्सरी पर्व

मनाया। श्रमणो ने संवत्सरी पर्व के प्रवर्तित दिन को एक रूप मे मान्य किया, यह आचार्य कालक के श्रुत-संपन्न व्यक्तित्व का प्रभाव था। चतुर्थी को संवत्सरी मनाने का यह समय वी० नि० ४५७ से ४६५ (वि० पू० १५ से ७) तक अनुमानित किया गया है। पावस-काल मे आचार्य कालक को निष्कासित करने वाले बलमित्र और भानुमित्र के अवन्ति-शासन का लगभग यही समय था।

श्रुताध्यान मे प्रमत्त शिष्यो को छोडकर आचार्य कालक ने एकाकी अवन्ति से स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थान किया। अपने प्रशिष्य सागर को बोध देते हुए उन्होने कहा—'शिष्य ! श्रुत का कभी गर्व मत करना। तीर्थङ्करों के पास जितना ज्ञान था, उतना गणधरों के पास नही था। गणधरो का संपूर्ण ज्ञान आचार्य नही ले सके। हमारे पूर्वाचार्यों के पास जो था वह पूर्णत. हमारे पास नही है। धूलि को मुट्ठी मे भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रक्षेप करते रहने पर वह हमेशा कम होती जाती है।'[४७] आचार्य कालक की ये प्रवृत्तियां श्रुतज्ञान को परिपुष्ट करने वाली हैं। शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य कालक ने किया।[४८]

आचार्य पादलिप्त और आचार्य खपुट भी आचार्य कालक की भांति चामत्कारिक विद्या के धनी थे। आचार्य पादलिप्त ने प्रतिष्ठानपुर के राजा मुरुण्ड को ओंकारपुर के राजा भीम को एव मानखेटपुर के राजा कृष्ण को प्रभावित कर उन्हें जैन शासन के प्रति दृढ आस्थाशील बनाया। आचार्य खपुट ने भी गुडशस्त्रपुर नरेश को विद्याबल से झुका लिया।

अतिशय विद्या के धनी आचार्य कालक, खपुट और पादलिप्त का जीवन-इतिहास भी इस आगम युग मे प्रस्तुत है। इन आचार्यों की मुख्य प्रवृत्ति आगमिक नही थी पर विद्याबल से जैन-धर्म के प्रसार में अनुकूल वातावरण का निर्माण कर प्रकारान्तर से इन्होंने आगम-प्रवृत्ति का निर्बाध पथ प्रशस्त किया था।

पूर्वों की परम्परा का विच्छेद-क्रम

दशपूर्वधारी दश आचार्य हुए हैं। उनमे प्रथम दशपूर्वधर आचार्य महागिरि एव द्वितीय दशपूर्वधर आचार्य सुहस्ती थे। विलक्षण वाग्मी आर्य वज्रस्वामी अन्तिम दशपूर्वधर थे। उनका स्वर्गवास वी० नि० ५८४ (वि० स० ११४) मे हुआ। उन्हीं के साथ दशपूर्वधर की धारा विलुप्त हो गई। दिगम्बर परम्परा के अनुसार दशपूर्व की ज्ञान सम्पदा वी० नि० १८३ (वि०

पू० २८७) वर्ष तक सुरक्षित रही। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वधर थे।

श्रुतधर आचार्य वज्रस्वामी के पास आर्यरक्षित ने नौ पूर्व पूर्ण एवं दशपूर्व का अर्धभाग ग्रहण किया था। दृष्टिवाद को पढने की प्रेरणा आर्यरक्षित को माता रुद्रसोमा से प्राप्त हुई थी। क्षीण होती हुई पूर्वज्ञान की धारा को सुरक्षित रख लेने के प्रयत्नो मे नारी द्वारा पुरुष को दिशाबोध आगम-युग की महत्त्वपूर्ण घटना है। साहित्य-लेखन की निष्पक्ष धारा मे कभी यह पहलू विस्मृत नही किया जा सकता। आर्यरक्षित का स्वर्गवास वी० नि० ५६२ (वि० १२२) के आसपास हुआ था। आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र नौ पूर्वधर थे। दुर्बलिकापुष्यमित्र का स्वर्गवास वि० नि० ६१७ (वि० १४७) है। उनके बाद नौ पूर्व के ज्ञाता भी नही रहे, पर पूर्वज्ञान की परम्परा वी० नि० १००० वर्ष तक सुरक्षित रही है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार अग-आगम के ज्ञाता एव अष्टाग महा-निमित्त शास्त्र के विद्वान् आचार्य धरसेन थे। उनके पास विशाल पूर्वो का आंशिक ज्ञान सुरक्षित था। उन्होने पूर्वाश को सुरक्षित रखने के लिए मेधावी शिष्य पुष्पदन्त एव भूतबलि को वाचना प्रदान की।

आगम विच्छेद-क्रम

भगवान् महावीर की वाणी का प्रत्यक्ष श्रवण कर त्रिपदी के आधार पर गणधरो ने आगम-वाचना का कार्य किया। वीर निर्वाण के बाद उस आगम सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण की सातवी शताब्दी तक अंगागम का ज्ञान प्राप्त रहा। एकादशागी के अन्तिम ज्ञाता आचार्य ध्रुवसेन थे। समुद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य—ये चार आचार्य एक आचारागसूत्र के ज्ञाता थे। आचार्य लोहार्य के बाद आचारागसूत्र का कोई ज्ञाता नही हुआ। लोहार्य का समय वी० नि० ६८३ (वि० २१३) तक का है अतः दिगम्बर मत से वी० नि० ६८३ (वि० २१३) तक आगम की उपलब्धि मानी जाती है। उसके बाद आगम का सर्वथा विच्छेद हो गया।

श्वेताम्बर परम्परा सर्वथा आगम-विच्छेद की परम्परा को स्वीकार नही करती। इस परम्परा के अनुसार आगम-वाचनाकार आचार्यों के सत्प्रयत्नो से आगम-संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और इससे आगमो की सुरक्षा होती रही है। आज भी जैन-समाज के पास एकादशागी आगम निधि के रूप मे भगवान् महावीर की वाणी का प्रसाद उपलब्ध है। दुष्काल

की घडियो मे आगम-निधि क्षत-विक्षत हुई, पर उसका पूर्ण लोप नहीं हुआ था ।

आगमपरक साहित्य

आगम युग मे जैनाचार्यों द्वारा महत्त्वपूर्ण आगमपरक साहित्य का निर्माण भी हुआ । द्वादशागी की देन आचार्य सुधर्मा की है, दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव, छेदसूत्रो के रचयिता आचार्य भद्रबाहु और प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य थे । दशवैकालिक, छेद सूत्र एव प्रज्ञापना को अग बाह्य आगम माना गया है । तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति, षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त, भूतबलि, कषाय प्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, अष्ट प्राभृत साहित्य आदि ग्रन्थो के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द इस युग के महान् साहित्यकार थे ।

आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र जैन तत्त्वो का सग्राहक सूत्र है । जैन तत्त्वो के विवेचन मे यह आधारभूत ग्रन्थ माना गया है ।

षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत और समयसार आदि ग्रन्थो को दिगम्बर परम्परा मे आगमवत् उच्च स्थान प्राप्त है ।

आगमयुग का यह साहित्य आगम परक होने के कारण आगम प्रवृत्ति को परिपुष्ट करता है ।

अनुयोग-व्यवस्था

अनुयोग-व्यवस्था आगम के पठन-पाठन का एक सुव्यस्थित और सुनियोजित क्रम (सूत्र और अर्थ का समुचित सम्बन्ध) है । अनुयोग चार हैं—१ द्रव्यानुयोग २. चरणकरणानुयोग ३ धर्मकथानुयोग ४ गणितानुयोग । पहले इन चारो अनुयोगो की भूमिका पर प्रत्येक आगम सूत्र का पठन-पाठन होता था । यह अत्यन्त दुरूह पाठन प्रणाली थी । आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र जैसे प्रतिभासम्पन्न शिष्य भी इस अध्ययन क्रम मे असफल होते प्रतीत हुए । आर्यरक्षित ने इस कठिनता का अनुभव किया और शिक्षार्थी श्रमणो की सुविधा के लिए आगम पठन पद्धति को चार भागो में विभक्त कर दिया ।[१३] आगम-वाचन की दिशा में यह एक शैक्षणिक क्रान्ति थी कि इस अनुयोग-व्यवस्था को सघ ने निर्विरोध स्वीकार कर लिया ।

परम्परा-भेद का जन्म

वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अविभक्त जैन श्रमण-संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विशाल शाखाओ मे विभक्त हो गया। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी० नि० ६०९ (वि० सं० १३९) मे दिगम्बर मत की स्थापना हुई। दिगम्बर मत के अनुसार वी० नि० ६०६ (वि० १३६) मे श्वेताम्बर मत का अभ्युदय हुआ।

भेद का प्रमुख कारण वस्त्र था। दोनो परम्पराओ का नामकरण भी वस्त्र-सापेक्ष है। एक परम्परा मुनियो के द्वारा वस्त्र ग्रहण को परिग्रह नहीं मानती। दूसरी परम्परा सर्वथा इसके विरोध मे थी। आचार्य जम्बू के बाद जिनकल्पी अवस्था का विच्छेद हो गया। 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'—सयम धारणार्थ वस्त्र ग्रहण परिग्रह नही है इस आगम-वाक्य से आचार्य शय्यभव द्वारा वस्त्र का प्रबल समर्थन अन्तर्विरोध की प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। दोनो परम्पराओ मे प्रथम जन्म किसका हुआ यह अनुसन्धान का विषय है।

जैन सघ मे नाना गणो, कुलो, गच्छो और शाखाओ के निर्माण का सुविस्तृत इतिहास है। महावीर के शासनकाल मे नौ गण थे। आचार्य भद्रबाहु, महागिरि एव सुहस्ती के शिष्यो से नौ गणो का जन्म हुआ। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) गोदास गण (२) उत्तर बलिस्सह गण (३) उद्देहगण (४) चारण गण (५) उडुपाटित गण (६) वेशपाटिक गण (७) कार्मर्द्धि गण (८) मानव गण (९) कोटिक गण।[१०]

इन गणो से कई शाखाओ और कुलो का उद्भव हुआ। कल्पसूत्र स्थविरावली मे उनका उल्लेख इस प्रकार है—

(१) ताम्रलिप्तिका, (२) कोटिवर्पिका, (३) पाण्डुवर्धनिका, (४) दासीखर्वटिका—ये चार शाखाएं गोदासगण की थी।

(१) कोशम्बिका (२) शुक्तिमतिका (३) कोडवाणी (४) चन्द्र-नागरी—ये चार शाखाए उत्तर वलिस्सह गण की थी।

(१) उदुबरिज्जिका (२) मासपूरिका (३) मतिपत्तिका और सुवर्ण-पत्रिका—ये चार शाखाएं तथा (१) वत्थलिज्ज (२) वीचिधम्मक (३) हालिज्ज (४) पुसमित्तेज्ज (५) मालिज्ज (६) अज्जवेडय (७) कण्णसह—ये सात कुल चारण गण के थे।

(१) चंपिज्जिया (२) भद्दिज्जिया (३) काकंदिया (४) मेहलिज्जिया—ये चार शाखाएं तथा (१) भद्दजस्स (२) भद्दगुत्त (३) जस्सभद्द—ये तीन कुल उडुपाटित गण के थे।

(१) सावत्थिया (२) रज्जपालिया (३) अन्तरज्जिया (४) खेमलिज्जिया—ये चार शाखाए तथा (१) गणिक (२) मेहिक (३) कामर्द्धिक (४) इन्द्रपूरक—ये चार कुल वेशपाटिक गण के थे। कामर्द्धिक गण की कोई शाखा नही थी। वेशपाटिक गण का एक कुल था।

(१) कासमिज्जिया (२) गोयमिज्जिया (३) वासिट्ठिया (४) सोरिट्ठिया—ये चार शाखाए तथा (१) इसिगुत्तिय (२) इसिदत्तिय (३) अभिजसत—ये तीन कुल माणव गण के थे।

(१) उच्चानागरी (२) विज्जाहरी (३) वइरी (४) मज्झिमिल्ला—ये चार शाखाए तथा (१) बंभलिज्ज (२) वच्छलिज्ज (३) वाणिज्ज (४) पण्हवाहणय—ये चार कुल कोटिक गण के थे।

आर्य शान्ति श्रेणिक के शिष्य परिवार से अज्जसेणिया अज्जतावसा, अज्जकुबेरा, अज्जइसिपालिया, आर्य समित से ब्रह्मद्वीपिका, आर्यवज्र से वज्रशाखा, आर्यवज्र के शिष्य परिवार से अज्जनाइली, अज्जपोमिला एवं अज्ज जयति शाखा का जन्म हुआ था।

आचार्य वज्रसेन के चार शिष्यों से उन्ही के नाम पर निवृत्ति, नागेंद्र, विद्याधर और चन्द्रकुल का विकास हुआ। आगम युग मे इन शाखाओं और कुलों का अभ्युदय सुव्यवस्था के लिए था।

सिद्धात-भेद और क्रिया-भेद के आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो शाखाओ मे जैन धर्म प्रथम बार विभक्त हुआ। यापनीय संघ की समन्वयात्मक नीति ने इन दोनों के बीच समझौता करने का प्रयत्न भी किया पर जो मतभेद की खाई बन गई थी वह मिट न सकी।

श्वेताम्बर परम्परा का मुनि समुदाय वी० नि० ८८२ (वि० ४१२) मे दो भागो मे विभक्त हो गया। एक पक्ष चैत्यवासी संप्रदाय के नाम से तथा दूसरा पक्ष सुविहितमार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्यवासी मुनि मुक्त भाव से शिथिलाचार को समर्थन देने लगे। शिथिलाचार की धारा सर्वशत्व उच्छिन्न होने के बाद श्रमण वर्ग मे प्रविष्ट हुई। आचार्य महागिरि के द्वारा साभोगिक विच्छेद की घटना का प्रमुख कारण श्रमणो द्वारा शिथिलाचार का सेवन था। दसपूर्वधर आचार्य सुहस्ती की विनम्र प्रार्थना पर आर्य महागिरि ने

सांभोगिक विच्छिन्नता के प्रतिबन्ध को हटा दिया था पर भविष्य मे मनुष्य की माया-बहुल प्रवृत्ति का चिन्तन कर उन्होने सांभोगिक व्यवहार सम्मिलित नही किया था। उसके बाद सुदृढ अनुशासन के अभाव मे श्रमणो द्वारा सुविधावाद को प्रश्रय मिलता गया। संप्रदाय के रूप मे इस वर्ग की स्थापना वी० नि० की नवी (वि० की ५वी) सदी के उत्तरार्द्ध मे हुई। श्वेताम्बर परपरा के भेद बीज का आगमयुग की सहस्राब्दी मे प्रथम बार अंकुरण हुआ था।

आचार्य स्कन्दिल और आचार्य नागार्जुन

जैन परपरा मे आचार्य स्कन्दिल और आचार्य नागार्जुन आगम-वाचनाकार के रूप मे प्रसिद्ध है। नन्दी स्थविरावली के अनुसार आचार्य स्कन्दिल ब्रह्मद्वीपसिंह के शिष्य थे एव प्रभावक चरित्र मे इनको विद्याधर वश के और श्री पादलिप्तसूरि के कुल मे माना है।

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन के समय मे पुन दुष्काल की काली घटाए घिर आई थी। इसमे श्रुतधरो की और श्रुत की महान् क्षति हुई। दुष्काल-सम्पन्नता के बाद आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता मे द्वितीय आगम-वाचना हुई।[१] इनमे उत्तर भारत मे विहार करने वाले श्रमण भी सम्मिलित थे। यह वाचना मथुरा मे होने के कारण माथुरी कहलाई। उस समय आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे भी आगम-वाचना हुई।[२] यह वाचना वल्लभी मे होने के कारण 'वल्लभी-वाचना' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

नन्दीचूर्णि के अनुसार आचार्य स्कन्दिल की वाचना के समय श्रुत का विनाश नही हुआ था। आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा म आगमों का अनुयोग प्रवर्तन किया, अत यह माथुरी आगम-वाचना के नाम से विश्रुत हुई। प्रस्तुत आगम-वाचना का यह समय वी० नि० ८२७ से ८४० (वि० ३५७ से ३७०) तक स्वीकृत हुआ है।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण एक पूर्वधर आचार्य थे। उनके समय पुन दुष्काल का क्रूर आघात जैन सघ को लगा। दुष्काल समाप्त होने पर आचार्य देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता मे संघ एकत्रित हुआ। माथुरी और वल्लभी दोनों आगम-वाचनाएं उनके सामने थी। इस समय नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि आचार्य कालक भी सभवत उपस्थित थे। यह समय वी० नि० ९८० (वि०

५१०) माना गया है ।

आचार्य देवर्द्धिगणी संघ के विशिष्ट आचार्य थे । वे क्षमा-धृति आदि गुणों से संपन्न थे । उनके निर्देशन मे आगम-लेखन का कार्य प्रारंभ हुआ । उन्होंने माथुरी-वाचना को प्रमुखता प्रदान कर और वल्लभी-वाचना को पाठांतर से स्वीकार कर विकीर्ण आगम-राशि को सुरक्षित किया ।

नन्दी स्थविरावली के अनुसार प्रभावक आचार्यों की परम्परा मे आचार्य देवर्द्धिगणी बत्तीसवें या सत्ताईसवें आचार्य थे । कल्प स्थविरावली के अनुसार वे चौतीसवें आचार्य थे । प्रस्तुत स्थविरावली मे आचार्य देवर्द्धिगणी को पाण्डिल्य का शिष्य माना है । स्थविरावली के अन्तिम पद्य में उनकी भावपूर्ण शब्दो मे प्रशंसा है । वह पद्य इस प्रकार है ।

"सुतत्थरयण भरिए, खमदममद्दवगुणेहि सम्पन्ने ।
देविड्ढि खमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ।।१४।।

काश्यप गोत्रीय आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण सूत्रार्थ रत्नो के धारक थे । वे क्षान्त, दान्त, और मार्दव आदि गुणो से संपन्न थे ।

आगम-वाचना के इस युग म विशिष्ट आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आगमो को लिपिबद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था । इस प्रवृत्ति से आगम-ज्ञान को स्थायित्व मिला । आचार्य स्कन्दिल और आचार्य नागार्जुन की वाचना आचार्य देवर्द्धिगणी से लगभग १५० वर्ष पूर्व हो गई थी । उस समय मे भी आगमो को लिपिबद्ध किया गया था । ऐसे सकेत भी ग्रन्थो मे प्राप्त हैं ।[१४] पर व्यवस्थित रूप मे यह कार्य आचार्य देवर्द्धिगणी ने किया था ।[१५] उन्ही के इस प्रयत्न से आगम-ज्ञान की धारा सुरक्षित रही । उत्तरवर्ती आचार्यों को इससे महान् लाभ प्राप्त हुआ । आज भी जैन शासन मे जो आगमनिधि सुरक्षित है उसका श्रेय देवर्द्धिगणी के प्रयत्न को है ।

आगम-प्रवृत्ति के पोषक देवर्द्धिगणी की इस विशिष्ट प्रवृत्ति के साथ ही एक हजार वर्ष का आगमयुग समाप्त हो जाता है ।

उत्कर्ष-युग

उत्कर्ष-युग वीर निर्वाण की ग्यारहवी (वि० ५३०) सदी से प्रारभ होकर वीर निर्वाण २००० (वि० १५३०) वर्ष तक का काल जैन शासन के उत्कर्ष का काल था । इस युग मे तेजस्वी एवं वर्चस्वी एवं दार्शनिक आचार्य उदित हुए । वे विविध भाषाओ के अध्येता और विविध विषयों के निष्णात विद्वान् थे । उनकी निर्मल प्रतिभा के प्रकाश में उस युग का सपूर्ण वातावरण

अग्निस्नात स्वर्ण की भांति चमक उठा और जैन शासन की अभूतपूर्व प्रगति हुई, अतः इस काल को उत्कर्ष-युग की संज्ञा प्रदान की गई है।

न्याय-युग का उद्भव

भगवान् महावीर के निर्वाण से कई शताब्दियो तक का युग आगम प्रधान युग था। आगम सम्मत बात निर्विवाद रूप से सर्वमान्य हो जाती थी। जब नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग आदि बौद्ध विद्वानो ने धर्म और दर्शन को वाद-विवाद का रूप दिया तब प्रत्युत्तर मे न्यायदर्शन के विद्वान् वात्स्यायन और उद्द्योतकर वैशेषिक दर्शन के विद्वान् प्रशस्तपाद मीमांसक दर्शन के विद्वान् शबर और कुमारिल भी प्रतिमल्लवादी के रूप मे उतर आये थे। जैन शासन मे भी तार्किक, दार्शनिक एव न्यायविज्ञ आचार्यों की अपेक्षा अनुभूत होने लगी थी।

इस तर्क प्रधान युग मे श्वेताम्बर परपरा के आचार्य सिद्धसेन, दिगम्बर परपरा के आचार्य समन्तभद्र एव आचार्य अकलक भट्ट इस युग के उज्ज्वल नक्षत्र थे। इन आचार्यों का अभ्युदय जैन दर्शन का अभ्युदय था। इनका जन्म न्याय का जन्म था।

आचार्य सिद्धसेन

जैन साहित्य मे आज न्याय शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त है उसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन को है। न्यायावतार की रचना से उन्होंने न्यायशास्त्र की नीव डाली। नयवाद का विशद विश्लेषण सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन के ग्रन्थो मे प्राप्त होता है।

प्रमाणशास्त्र के विषय मे भी आचार्य सिद्धसेन ने गभीर चर्चा की है। अनुमान-प्रमाण की परिभाषा और स्वार्थ-परार्थ के रूप मे भेद-विभाजन का सर्वथा मौलिक चिन्तन सिद्धसेन का है। पक्ष, हेतु, दृष्टांत, दूषण आदि विभिन्न पक्षो पर चिन्तन प्रस्तुत कर आचार्य सिद्धसेन ने स्वतत्र रूप से न्याय-पद्धति की रचना की। अतः आचार्य सिद्धसेन के साहित्य मे न्याय-युग के नवीन प्रभात का उदय हुआ था।

आचार्य समन्तभद्र

आचार्य समन्तभद्र का न्याय-युग मे अनुपम योग है। आगम में निहित अनेकात सामग्री को दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय

उन्हें है। आचार्य समतभद्र महान् स्तुतिकार और अगाध आस्थाशील थे। उनके ग्रन्थ स्तुति-प्रधान हैं। उन्होने वीतराग प्रभु की स्तुति के साथ एकान्तवाद का निरसन एव अनेकांतवाद की स्थापना कर अनेकात दर्शन को व्यापक रूप प्रदान किया। आप्तमीमासा मे उन्होने आप्तपुरुषो की परीक्षा तर्क के निकप पर की है।

सुनय और दुर्नय की व्यवस्था, स्याद्वाद की परिभाषा का स्थिरीकरण और सप्तभगी की व्यवस्था आचार्य समन्तभद्र की देन है।

आचार्य अकलंक भट्ट

आचार्य अकलक भी न्याययुग के महान् आलोक थे। न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाण संग्रह के द्वारा उन्होने न्याय की समुचित व्यवस्था की है। आज भी उनके साहित्य मे प्रतिष्ठित न्याय अकलक न्याय पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने आचाय अकलंक की न्याय-पद्धति का अनुसरण किया है एव आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपने ग्रन्थो मे अकलक न्याय को व्यापक विस्तार दिया है।

आचार्य अकलक की अष्टशती टीका जैन-दर्शन के गूढतम अनेकात दर्शन की प्रकाशिका है।

न्याय-युग की प्रतिष्ठा

न्याय-युग की प्रतिष्ठा मे मल्लवादी, पात्रकेशरी, विद्यानद, अभयदेव, माणिक्यनन्दी, वादिराज, प्रभाचंद्र, वादिदेव, रत्नप्रभ, हेमचद्र, मल्लिषेण आदि आचार्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन आचार्यों ने द्वादशारनयचक्र, त्रिलक्षण कदर्थन, प्रमाण-परीक्षा, वाद महार्णव, परीक्षामुख, न्यायविनिश्चय विवरण, न्यायकुमुदचंद्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमाणनयतत्त्वालोक, प्रमाण मीमासा, रत्नाकरावतारिका और स्याद्वादमञ्जरी जैसे ग्रंथ निर्माण कर न्याय-व्यवस्था को पूर्ण उत्कर्ष पर चढा दिया था। जैन ग्रन्थो मे नव्यन्यायशैली के प्रतिष्ठापक उपाध्याय यशोविजय जी थे।

योग और ध्यान के सन्दर्भ में

योग और ध्यान के विषय मे भी जैनाचार्यों ने मौलिक दृष्टिया प्रस्तुत की। आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचद्र और कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र योग के महान् प्रतिष्ठापक थे। आचार्य शुभचंद्र का "ज्ञानार्णव" और आचार्य

हेमचंद्र का "योगशास्त्र" योग विषय की प्रसिद्ध कृतिया हैं। आचार्य हरिभद्र के "योगबिन्दु", "योगदृष्टिसमुच्चय", "योगविंशिका", "योगशतक" और "षोडशक" इन पाचो ग्रन्थो मे पातजलयोगदर्शन के साथ समन्वय तथा जैन दर्शन से सबंधित नवीन यौगिक दृष्टियों की अवतारणा भी है। मित्रा, तारा, बला, दीप्रा आदि आठ दृष्टियो का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र के मौलिक चिन्तन का परिणाम है।

प्राकृत व्याख्या ग्रन्थों का सृजन

भगवान् महावीर की वाणी गणधरो द्वारा प्राकृत भाषा मे निबद्ध हुई, यह आगम साहित्य के रूप मे जैन समाज के पास उपलब्ध थी। आगम ग्रन्थो की शैली अत्यन्त संक्षिप्त एव गूढ थी। उसमे सुगमता से प्रवेश पाने के लिए जैनाचार्यों ने प्राकृत व्याख्या साहित्य का निर्माण किया। निर्युक्ति रचना के साहित्यकार आचार्य भद्रबाहु, भाष्य साहित्य के रचनाकार आचार्य जिन-भद्रगणि क्षमाश्रमण, चूर्णि साहित्य के रचनाकार आचार्य जिनदास महत्तर इस युग के महान् आगम व्याख्याकार आचार्य थे। चूर्णिया सस्कृत-मिश्रित प्राकृत मे हैं।

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य के रूप मे रचित विशाल व्याख्या-साहित्य जैन इतिहास की गौरवमय निधि है। जैनाचार्यों का यह साहित्य प्राचीन भारत की सभ्यता एव सस्कृति की झाकी प्रस्तुत करने वाला दर्पण है।

जैन साहित्य और संस्कृत भाषा

यह युग संस्कृत भाषा के आरोहण का काल था। जैनेतर विद्वानो द्वारा सम्कृत भाषा मे विशाल ग्रन्थराशि का निर्माण हो रहा था। यह विद्वानो की भाषा समझी जाने लगी। धर्म-प्रभावना के कार्य मे इस भाषा का आलम्बन अनिवार्य हो गया था।

संस्कृत भाषा प्रधान इस युग मे सस्कृतविज्ञ सक्षम जैनाचार्यों का आविर्भाव हुआ। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वाति, महान् टीकाकार आचार्य हरिभद्र, आचार्य शीलाक, सोलह वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरूढ होने वाले नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेव, समर्थ टीकाकार आचार्य मलयगिरि, सरस टीकाकार आचार्य नेमिचंद्र आदि सस्कृत भाषा में आगम के व्याख्या ग्रन्थो को प्रस्तुत करने वाले दिग्गज विद्वान् थे। उन्होंने

विशाल टीका ग्रंथो का निर्माण कर संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया।

सर्वार्थसिद्धि के रचयिता आचार्य पूज्यपाद, भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुग, १४४४ ग्रन्थो के रचयिता आचार्य हरिभद्र, धवला तथा जयधवला के लेखक आचार्य वीरसेन और जिनसेन, उत्तरपुराण के रचयिता आचार्य गुणभद्र, अष्टसहस्री और तत्त्वार्थवार्तिक आदि नौ ग्रन्थो के रचयिता आचार्य विद्यानन्द, आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथो के व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र, रूपक ग्रन्थ-उपमितिभव-प्रपञ्चकथा के रचनाकार आचार्य सिद्धर्षि, अमितगति श्रावकाचार के रचयिता आचार्य अमितगति, गोम्मटसार जैसी अमूल्य कृति के रचनाकार आचार्य नेमिचंद्र, यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य सोमदेव, कविमूर्धन्य आचार्य रामचद्र, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र आदि विद्वान् जैनाचार्य इस युग के अनुपम रत्न थे। इन आचार्यों की प्रखर प्रतिभा और समर्थ लेखनी ने संस्कृत साहित्य को ज्ञानालोकमय बना दिया था।

जैन साहित्य और लोकभाषा

जैनाचार्य लोकरुचि के भी ज्ञाता थे। उन्होने एक ओर सस्कृत भाषा मे उच्चतम साहित्य का निर्माण कर उसे विद्वद्भोग्य बनाया दूसरी ओर लोक भाषा को भी प्रश्रय दिया। वे जनभाषा मे बोले और जनभाषा मे साहित्य की रचना कर विभिन्न देशो की भाषा को समृद्ध किया। इससे उनके प्रति लोकप्रीति बढी और वह धर्म-प्रभावना मे अधिक सहायक सिद्ध हुई। आज पूर्वाचार्यों के प्रयत्न स्वरूप प्राकृत और सस्कृत के अतिरिक्त तमिल, अपभ्रंश, कन्नड, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओ मे जैन साहित्य उपलब्ध है।

जैनाचार्यों का शास्त्रार्थ-कौशल

भगवान् महावीर के निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि मे भारत भू-मण्डल पर विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायो के वाद कुशल आचार्यों द्वारा शास्त्रार्थों का जाल-सा बिछ गया था। जैनाचार्यों ने इस समय अपनी चिन्तन-शक्ति को उस ओर मोडा। उनकी स्फुरणशील मनीषा ने अनेक सभाओ मे दिग्गज विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की और जैन-धर्म की प्रभावना में चार चांद लगा दिए।

जैनाचार्यों द्वारा जैन-धर्म का विस्तार

जैनाचार्यों ने जैन धर्म का व्यापक विस्तार किया। उनके द्वारा प्रदत्त धर्म का संदेश सामान्य-जनो से लेकर राजप्रासाद तक पहुंचा। दक्षिणाञ्चल के राजवश-चोलवश, होयसलवंश, राष्ट्रकूटवंश, पाण्ड्यवश, कदम्बवश और गंगवश के राजपरिवार जैन थे। दक्षिण-नरेश शिवकोटि ने आचार्य समन्तभद्र से, शिलादित्य ने आचार्य मल्लवादी से, दुर्विनीत कोंगुणी ने आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) से, अमोघवर्ष ने आचार्य वीरसेन और जिनसेन से अध्यात्म का बोध प्राप्त किया था। युद्ध-विजेता दण्डनायक सेनापति चामुण्डराय, गगधर और हुल ने जैनाचार्यों से प्रभावित होकर जैनशासन की प्रभावना की।

भारत के उत्तराञ्चल मे राजशक्तियो पर जैनाचार्यो का अप्रतिहत प्रभाव था। आचार्य सिद्धसेन ने सात राजाओं को प्रतिबोध दिया था। कूर्मार के राजा देवपाल और अवन्ति के विक्रमादित्य उनके परम भक्त बन गए थे। ग्वालियर के राजा वत्सराज का पुत्र 'आम' आचार्य बप्पभट्टि के साथ गाढ मैत्री सम्बन्ध रखता था। बगाल के अधिपति धर्मराज और राजा 'आम' का परस्पर पुरातन वैर आचार्य बप्पभट्टी की उपदेशधारा से सदा-सदा के लिए उपशान्त हो गया था।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा पर मुग्ध होकर सिद्धराज जयसिह उसका परमभक्त बन गया था और कुमारपाल ने अपना सम्पूर्ण राज्य ही उनके चरणो मे समर्पित कर दिया था। राजा हर्षदेव की सभा में आचार्य मानतुग का, परमार नरेश भोज एव जयसिह की सभा मे आचार्य माणिक्यनन्दी एव आचार्य प्रभाचन्द्र का, सोलकी नरेश जयसिह प्रथम की सभा मे आचार्य वादिराज का, चालुक्य वशी कृष्णराज तृतीय की सभा में आचार्य सोमदेव का विशेष स्थान था।

मुगल सम्राटो को प्रतिबोध देने वाले आचार्यों मे आचार्य जिनप्रभ सर्वप्रथम थे। उन्होंने मुगल नरेश तुगलक को बोध देकर जैन शासन के गौरव को बढाया।

जैनाचार्यों के शास्त्रार्थों, प्रवचनो एवं दूरगामी यात्राओं से उत्तर-दक्षिण का भारत भूमण्डल जैन सस्कारो से प्रभावित हो गया था। इस युग मे जैनाचार्यो ने जो कुछ किया वह असाधारण था। साहित्य की महान् समृद्धि और राजनीति पर धर्मनीति की विजय जैनाचार्यों की सूझ-बूझ का

परिणाम था । एक सहस्र वर्ष के इस काल का अंकुश एक प्रकार से जैनाचार्यों के हाथ में था । वे शासक वर्ग के अनन्य परामर्शदाता थे । यह जैन धर्म के विस्तार का उत्कर्ष युग था ।

नवीन युग

उत्कर्ष का चरम बिन्दु क्रान्ति का आमन्त्रण है । क्रान्ति की निष्पत्ति नवीन प्रभात का उदय है । आचार्य देवर्द्धिगणी के बाद वीर निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि के पूर्वार्ध मे चैत्यवासी सम्प्रदाय को निर्बाध गति से पनपने का अवसर मिला । कठोर चर्या पालन करने वाले सुविहितमार्गी श्रमण चैत्यवासी श्रमणों के बढ़ते हुए वर्चस्व के सामने पराभूत हो गए । श्रमण वर्ग, यति वर्ग एव भट्टारक वर्ग मे सुविधावाद पनपने लगा । उग्र विहार चर्या को छोडकर वे मठाधीश बन गए । जंत्र, मंत्र, तन्त्रो के प्रयोग से वे राज-सम्मान पाकर राजगुरु कहलाने लगे । छत्रचामर आदि को नि.सकोच भाव से धारण कर वे राजशाही ठाट मे रहने लगे । जनमानस मे इन सारी प्रवृत्तियों के प्रति भारी असंतोष था । असंतोष का ज्वार वीर निर्वाण की इक्कीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे विस्तार के साथ प्रकट हुआ । साध्वाचार की विशृखलित मर्यादाओ ने क्रान्ति को जन्म दिया ।

क्रान्ति का प्रथम चरण

उस समय जैन संप्रदायो मे सर्वत्र क्रांति की आंधी उठ रही थी । दिगम्बर परपरा मे वी० नि० १९७५ से २०४२ (वि० १५०५ से १५७२) के बीच क्रान्तिकारी तारण स्वामी हुए । उन्होने मूर्तिपूजा के विरोध मे एक क्रान्ति की । इस क्रान्ति की निष्पत्ति तारण-तरण समाज के रूप मे हुई । इस समाज के अनुयायी मन्दिरो के स्थान पर सरस्वती-भवन बनाने और मूर्तियो के स्थान पर शास्त्रो की प्रतिष्ठा करने लगे थे । उस समय भट्टारक शक्ति बलवान थी । उसके सामने यह नवोदित सघ अधिक पनप नही सका ।

भट्टारक सम्प्रदाय के शिथिलाचार पर धार्मिको के मन मे नाना प्रकार की प्रतिक्रिया हो रही थी । कुछ लोग आचार्य कुन्दकुन्द और अमृत-चन्द्र के ग्रन्थों का अध्ययन कर अध्यात्म की ओर झुके और वे अध्यात्मी कहलाने लगे । पंडित बनारसीदास जी का समर्थन पाकर इस अध्यात्मी परम्परा से दिगम्बर तेरापन्थी का जन्म हुआ । तेरापन्थ के अभ्युदय के साथ ही इतर पक्ष दिगम्बर 'बीसपंथी' कहलाया । दिगम्बर परंपरा की यह नवीन क्रान्ति युग

का प्रथम चरण था।

क्रान्ति का द्वितीय चरण

श्वेताम्बर संप्रदाय मे भी इस समय क्रांतिकारी लोकाशाह पैदा हुए। लोकाशाह के युग मे श्वेताम्बर धर्मगच्छो के सचालन का दायित्व यति वर्ग के हाथ मे था। यति चैत्यो में निवास करते थे। उनके सामने साधुत्व का भाव गौण और लोकरञ्जन का भाव प्रमुख था। परिग्रह को पापमूलक बताने वाले स्वयं धन-सम्पदा का निरकुश भोग करने लगे। नाना प्रकार की सुविधाएं उनके जीवन मे प्रवेश पा चुकी थी। इन सबके विरोध मे लोकाशाह की धर्म क्रान्ति का स्वर गुजरात की धरा से गूंज उठा।

लोकाशाह गुजरात के थे। उनके पिता का नाम हेमाभाई था। मूलत: वे सिरोही राज्य के अन्तर्गत अरहटवाडा ग्राम के निवासी थे और अहमदाबाद मे आकर रहने लगे थे। यति-वर्ग का अहमदाबाद मे प्रभुत्व था।

लोकाशाह मे बचपन से ही सहज धार्मिक रुचि थी एव उनकी लिपि-कलापूर्ण थी। वे मोती जैसे गोल एव सुन्दर अक्षर लिखते थे। यतियो ने आगम लिखने का कार्य उन्हे सौपा। लोकाशाह लिपिकार ही नही थे वे गभीर चिन्तक, सूक्ष्म अध्येता एवं समुचित समीक्षक भी थे। आगम-लेखन मे रत लोकाशाह ने एक दिन अनुभव किया—आगम-प्रतिपादित सिद्धान्त और साध्वाचार के मध्य भेदरेखा उत्पन्न हो गई है।

लोकाशाह ने कई दिनो तक चिन्तन-मनन किया और एक दिन उन्होने निर्भीकतापूर्वक क्रान्ति का उद्घोष कर दिया। सैकडो लोगो को लोकाशाह की नीति ने आकृष्ट किया। कोट्याधीश लक्खमसी भाई ने भी लोकाशाह के विचारो को गहराई से समझा और वे उन के मत का प्रबल समर्थन करने लगे।

लक्खमसी भाई द्वारा धर्म-प्रचार की दिशा मे पर्याप्त सहयोग प्राप्त कर लेना लोकाशाह की सफलता में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

एक बार कई संघ तीर्थयात्रार्थ जा रहे थे। अधिक वर्षा के कारण उन्हें वहां रुकना पडा जहां लोकाशाह थे। लोंकाशाह का प्रवचन सुनकर सैंकडों व्यक्ति सुलभबोधि बने। कई व्यक्तियों ने लोकाशाह की श्रद्धा के अनुरूप वी० नि० २००१ (वि० सं० १५३१) में श्रमण दीक्षा ली और

उन्होंने चैत्यों में रहना छोड़ा।

इनका नवोदित गच्छ लोंकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोंकाशाह द्वारा श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

लोंकागच्छ का विकास शीघ्र गति से प्रारम्भ हुआ। इस गच्छ की एक शती पूर्ण होने से पूर्व ही सैकड़ों व्यक्तियों ने लोंकाशाह की नीति के अनुरूप निर्ग्रन्थ-दीक्षा स्वीकार की। सर्वत्र लोंकागच्छ की चर्चा प्रारंभ हो गई। लोंकाशाह का लोंकागच्छ के शिशुकाल में ही वी० नि० २०११ (वि० सं० १५४१) में स्वर्गवास हो गया था। अतः इनके गच्छ का संगठन सुदृढ़ नहीं हो पाया। स्वस्थ नेतृत्व के अभाव में संघ व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न होनी प्रारंभ हो गईं। कुछ विद्वानों के अभिमत से लोंकागच्छ के आठ पट्टधर लोंकाशाह की नीति का सम्यक् अनुगमन करते रहे। तदनंतर परस्पर सौहार्द और एक सूत्रता की कमी के कारण संगठन की जड़ें खोखली हो गईं। लोंकागच्छ के सामने एक विकट परिस्थिति पैदा हो गई। धर्मसंकट की इस घड़ी में ऋषिलवजी, धर्मसिंह जी एवं धर्मदास जी जैसे क्रियोद्धारक आचार्यों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने साधु-जीवन की मर्यादाओं का दृढ़ता से अनुगमन किया। लोंकाशाह की धर्म-क्रान्ति को प्रबल वेग दिया एवं स्थानकवासी संप्रदाय की व्यवस्थित नींव डाली।

पांच सौ वर्षों के इतिहास को अपने में समाहित किए हुए यह स्थानकवासी परंपरा विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त है। इस परंपरा का स्थानकवासी नाम अर्वाचीन है, इसका साधुमार्गी नाम मन्दिरमार्गी नाम से मिलता-जुलता है।

आचार्य धर्मदास जी के निन्यानवे शिष्य थे। आचार्य धर्मदास जी का स्वर्गवास होते ही उनका शिष्य समुदाय बाईस भागों में विभक्त हो गया और उसकी प्रसिद्धि 'बाईस टोला' नाम से हुई। आज यह संप्रदाय 'स्थानकवासी' नाम से अधिक विश्रुत है।

समय के लंबे अन्तराल में इनमें से अधिकांश शाखाओं का आज लोप हो गया है। नयी शाखाओं का उद्भव भी हुआ है। विभिन्न शाखाओं को संगठित करने के उद्देश्य से विक्रम की इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में स्थानकवासी मुनियों का वृहद् श्रमण-सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन 'सादड़ी सम्मेलन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवसर पर सौहार्दपूर्ण विचार विनिमय

के वातावरण में भिन्न-भिन्न शाखाओ के आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, मुनिजनो ने आचार्य आत्माराम जी को प्रमुख पद पर चुन कर और उनके नेतृत्व मे अधिकांश स्थानकवासी सप्रदायो ने अपना सहज समर्पण कर दिया। इस सगठित संघ का नाम श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-सघ हुआ।

स्थानकवासी परपरा की दूसरी शाखा 'साधुमार्गी' के नाम से प्रसिद्ध है। वह श्रमण-सघ के साथ नही है।

गोडल सप्रदाय, लीबडी संप्रदाय और आठकोटि सप्रदाय—ये तीनों ही स्थानकवासी परपरा की शाखाए है। गोडल और लीबडी सप्रदाय सौराष्ट्र मे है तथा आठकोटि संप्रदाय कच्छ मे है।

क्रान्ति का तृतीय चरण

तीन सौ वर्षों के बाद राजस्थान (मेवाड) से क्रान्ति की एक और आंधी उठी। यह क्राति आगमिक आधार पर स्थानक तथा दान-दया-सबधी आचार मूलक वैचारिक क्राति थी। इस क्राति के जन्मदाता राजस्थान (मारवाड़) के सपूत आचार्य भिक्षु थे। हर क्रान्तिकारी मानव के जीवन मे सघर्ष और तूफान आते है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रांतिकारी आचार्य भिक्षु के पथ मे भी नाना प्रकार की बाधाए उपस्थित हुई। स्थान न मिलने के कारण वे श्मशान-भूमि मे रहे। पाच वर्ष तक उन्हे पर्याप्त भाजन भी नही मिला, पर किसी प्रकार के अभाव की एव सुख-सुविधा की चिन्ता किए बिना, वे अविरल गति से अपने निर्धारित पथ पर बढते रहे एव निर्भीक वृत्ति से सत्य का प्रतिपादन करते रहे।

आचार्य भिक्षु मे किसी नये सम्प्रदाय के निर्माण का व्यामोह नहीं था। पर वे जिस पथ का अनुसरण कर रहे थे उस पर अन्य चरणो को बढ़ते हुए देखा तब उन्होने मर्यादाए बाधी, सघ बना। इस सघ का नाम श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथ है। तेरापथ का स्थापना दिवस वी० नि० २२८७ (वि० सं० १८१७) है। क्रान्ति युग के तृतीय चरण की निष्पत्ति तेरापथ के रूप में उपलब्ध हुई।

वर्तमान मे तेरापथ का इतिहास लगभग २२५ वर्षो का इतिहास है। इस स्वल्प समय मे श्री तेरापथ धर्मसघ ने जैन-धर्म की विभिन्न शाखाओ मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। और अपनी सगठनात्मक नीति से सारे विश्व का ध्यान आकृष्ट किया है।

तेरापन्थ परपरा में नौ आचार्य हुए हैं। उनमे सर्वप्रथम अध्यात्म के सजग प्रहरी आचार्य भिक्षु थे। उन्होने इस तेरापन्थ महावृक्ष का बीज-वपन किया। पूज्य श्री भारमल जी और रायचन्द जी ने उसे अकुरित किया। ज्योतिर्धर जयाचार्य के समुचित सरक्षण मे उसका पल्लवन हुआ। महाभाग मघवागणी और माणकगणी की शीतल छाया तथा डालगणी के तेजोमय व्यक्तित्व का समुचित ताप पाकर वह खिला और कमनीय कलाकार कालूगणी के श्रमसिंचन से वह फला।

वर्तमान मे युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के प्रेरक और सुखद नेतृत्व मे एव युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के कुशल निर्देशन मे यह सघ बहुमुखी विकास कर रहा है।

नवीन युग और जैनाचार्य

नवीन युग मे तपागच्छ के आचार्य हीरविजय जी, आचार्य विजय देव, आचार्य विजयसेन आदि जैनाचार्यों का उल्लेख है। उन्होने बादशाहो को प्रतिबोध देने का तथा उन्हें जैन धर्म के अनुकूल बनाने का प्रभावी कार्य किया था। इस युग मे अध्यात्म योगियो की धारा गतिशील बनी। यह धारा आनन्दघन जी से प्रारम्भ हुई। आचार्य बुद्धिसागर इसी योगधारा के सन्त थे।

दिगम्बर परपरा के आचार्य शातिसागरजी, आचार्य वीर सागर जी, आचार्य शिवसागर जी, आ० देश भूषण जी, मन्दिरमार्गी परपरा के आचार्य विजयानन्द सूरि जी, विजय राजेन्द्र जी, कृपाचन्द्र सूरि जी, विजयवल्लभ सूरि जी, सागरानन्द जी, स्थानकवासी परंपरा के आचार्य भूधर जी, आचार्य रघुनाथ जी, जयमल्ल जी, अमोलक ऋषिजी, आत्माराम जी, जवाहरलाल जी, आनन्द ऋषि जी, तेरापंथ परपरा के आचार्य भिक्षु, जयाचार्य, आचार्य मघवागणी, आचार्य कालूगणी जी आदि इस युग के विशेष उल्लेखनीय आचार्य हैं। इनकी धर्म प्रचार प्रवृत्ति, साहित्य साधना, महान् यात्राए तथा विविध प्रकार की अन्य कार्य पद्धतिया जैनधर्म की प्रभावना मे विशेष सहायक सिद्ध हुई हैं। विदेशों तक धर्म सदेश पहुंचाने का श्रेय भी नवीन युग के आचार्यों को है।

जैनाचार्यों के विशेष प्रयत्नों से पांच सौ वर्षों के इस काल मे अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियों का अभ्युदय हुआ। अतः मैने इस युग का नाम

'नवीन युग' दिया है ।

आचार्यों के काल निर्णय मे एक मात्र आधारभूत प्राचीनतम महावीर निर्वाण सम्वत् का उपयोग किया गया है और इसके साथ विक्रम सवत् का तथा कही-कही ईस्वी सवत् का उल्लेख भी है ।

वीर निर्वाण के बाद आचार्य सुधर्मा से लेकर आचार्य देवर्द्धिगणी तक आचार्यों की परपरा पट्टावलियो के अनुसार कई रूपो मे उपलब्ध है । उनमे से कल्पसूत्र स्थविरावली गुरु-शिष्य क्रम की परपरा मानी गई है । शेष पट्टावलियां प्राय युग प्रधानाचार्यों की और वाचक वश या विद्याधर वश की परंपराएं हैं । विभिन्न पट्टावलियो मे से तीन पट्टावलिया यहा दी जा रही हैं ।

दशाश्रुतस्कंध स्थविरावली

१	आचार्य	सुधर्मा	१८	आचार्य	शिवभूति
२.	,,	जम्बू	१९.	,,	भद्र
३	,,	प्रभव	२०	,,	नक्षत्र
४.	,,	शय्यंभव	२१	,,	रक्ष
५.	,,	यशोभद्र	२२.	,,	नाग
६.	,,	सभूत विजय-भद्रबाहु	२३	,,	जेहिल
७	,,	स्थूलभद्र	२४.	,,	विष्णु
८	,,	सुहस्ती	२५	,,	कालक
९.	,,	सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध	२६.	,,	संपलित भद्र
१०.	,,	इंद्रदिन्न	२७.	,,	वृद्ध
११.	,,	दिन्न	२८.	,,	सघपालित
१२.	,,	सिंहगिरि	२९	,,	हस्ती
१३.	,,	वज्र	३०	,,	धर्म
१४.	,,	रथ	३१.	,,	सिंह
१५.	,,	पुष्यगिरि	३२.	,,	धर्म
१६.	,,	फल्गुमित्र	३३	,,	षाडिल्य
१७.	,,	धनगिरि	३४.	,,	देवर्द्धिगणी

वल्लभी युग-प्रधान पट्टावली

आचार्य		काल
१	आचार्य सुधर्मा	२० वर्ष
२	,, जम्बू	४४ वर्ष
३	,, प्रभव	११ ,,
४	,, शय्यभव	२३ ,,
५	,, यशोभद्र	५० ,,
६	,, सम्भूत विजय	८ ,,
७	,, भद्रबाहु	१४ ,,
८	,, स्थूल भद्र	४६ ,,
९	,, महागिरि	३० ,,
१०.	,, सुहस्ती	४५ ,,
११	,, गुणसुन्दर	४४ ,,
१२	,, कालक	४१ ,,
१३	,, स्कंदिल	३८ ,,
१४.	,, रेवतिमित्र	३६ ,,
१५	,, मगू	२० ,,
१६	,, धर्म	२४ ,,
१७	,, भद्रगुप्त	४१ ,,
१८	,, आर्यवज्र	३६ ,,
१९	,, रक्षित	१३ ,,
२०	,, पुष्यमित्र	२० ,,
२१	, वज्रसेन	३ ,,
२२	,, नागहस्ती	६९ ,,
२३	,, रेवतिमित्र	५९ ,,
२४	,, सिंहसूरि	७८ ,,
२५.	,, नागार्जुन	७८ ,,
२६.	,, भूतदिन्न	७९ ,,
२७.	,, कालक	११ ,,

दुस्सम-काल-श्रमण-संघस्थव 'युगप्रधान' पट्टावली

नाम			वीर निर्वाण		विक्रम संवत्
१	आचार्य	सुधर्मा	१ से २०	वि० पू०	४६६ से ४५०
२.	,,	जम्बू	२० से ६४	,,	४५० से४०६
३.	,,	प्रभव	६४ से ७५	,,	४०६ से ३६५
४.	,,	शय्यभव	७५ से ६८	,,	३६५ से ३७२
५	,,	यशोभद्र	६८ से १४८	,,	३७२ से ३२२
६	,,	सभूतविजय	१४८ से १५६	,,	३२२ से ३१४
७.	,,	भद्रबाहु	१५६ से १७०	,,	३१४ से ३००
८.	,,	स्थूलभद्र	१७० से २१५	,,	३०० मे २५५
६.	,,	महागिरि	२१५ से २४५	,,	२५५ से २२५
१०.	,,	सुहस्ती	२४५ से २६१	,,	२२५ से १७६
११	,,	गुणसुदर	२६१ से ३३५	,,	१७६ से १३५
१२	,,	श्याम	३३५ से ३७६	,,	१३५ से ६४
१३	,,	स्कदिल	३७६ से ४१४	,,	६४ मे ५६
१४	,,	रेवतिमित्र	४१४ से ४५०	,,	५६ से २०
१५	,,	धर्मसूरि	४५० से ४६५	,,	२० से २५
१६.	,,	भद्रगुप्तसूरि	४६५ से ५३३	,,	२५ से ६३
१७	,,	श्रीगुप्तसूरि	५३३ से ५४८	,,	६३ मे ७८
१८.	,,	वज्रस्वामी	५४८ से ५८४	,,	७८ मे ११४
१६.	,,	आर्यरक्षित	५८४ से ५६७	,,	११४ से १२७
२०	,,	दुर्बलिका पुष्यमित्र	५६७ से ६१७	,,	१२७ से १४७
२१	,,	वज्रसेनसूरि	६१७ से ६२०	,,	१४७ से १५०
२२.	,,	नागहस्ती	६२० से ६८६	,,	१५० से २१६
२३.	,,	रेवतिमित्र	६८६ से ७४८	,,	२१६ से २७८
२४.	,,	सिंहसूरि	७४८ से ८२६	,,	२७८ से ३५६
२५.	,,	नागार्जुनसूरि	८२६ से ६०४	,,	३५६ से ४३४
२६.	,,	भूतदिन्नसूरि	६०४ से ६८३	,,	४३४ से ५१३
२७.	,,	कालकसूरि (चतुर्थ)	६८३ से ६६४	,,	५१३ से ५२४

नाम			वीर निर्वाण	विक्रम संवत्
२८.	आचार्य	सत्यमित्र	९९४ से १०००	वि० पू० ५२४ से ५३०
२९.	,,	हारिल्ल	१००० से १०५५	,, ५३० से ५८५
३०.	,,	जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	१०५५ से १११५	,, ५८५ से ६४५
३१	,,	उमास्वातिसूरि	१११५ से ११९७	,, ६४५ से ७२७
३२.	,,	पुष्यमित्र	११९७ से १२५०	,, ७२७ से ७८०
३३	,,	संभूति	१२५० से १३००	,, ७८० से ८३०
३४	,,	माठर सभूति	१३०० से १३६०	,, ८३० से ८९०
३५.	,,	धर्मऋषि	१३६० से १४००	,, ८९० से ९३०
३६.	,,	जेष्ठांगगणी	१४०० से १४७१	,, ९३० से १००१
३७	,,	फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०	,, १००१ से १०५०
३८	,,	धर्मघोष	१५२० से १५९८	,, १०५० से ११२८

इन पट्टावलियो मे तथा अन्य पट्टावलियो मे से मैंने किसी पट्टावली को प्रमुखता प्रदान न कर सभी पट्टावलियो से विशेष प्रभावक आचार्यों का जीवन-प्रसग प्रस्तुत पुस्तक मे देने का प्रयत्न किया है।

इस कृति मे आचार्यों के जीवन का प्रस्तुतीकरण अधिकाशत कालक्रम के अनुसार किया गया है।

तीर्थङ्कर महावीर की उत्तरवर्ती परपरा में प्रभावक आचार्यों का जीवनवृत्त ढाई हजार वर्ष के दीर्घकालिक इतिहास का प्रेरक एवं मनोज्ञ अध्याय है।

आधार स्थल

१ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा (ईशावास्योपनिषद्)

२. जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा ॥
(उत्तरज्झयणाणि, अ० २५।२६)

३ धम्मतित्थयरे जिणे। (आवश्यक सूत्र)

४. वंदे उसभ अजियं संभवमभिणदण सुमइ सुप्पभ सुपासं
ससि-पुफदंत-सीयल सिज्जसं वासुपुज्जं च ॥
विमलमणत य धम्म, सति कुथु अरं च मल्लि च
मुणिसुव्वयणमि-णेमी, पासं तह वद्धमाणं च ॥
(नन्दीसूत्र-पट्टावली १।१८,१९)

५. पढम राया, पढम जिणे, पढम केवलि, पढम तित्थयरे, पढम धम्मवर चक्कवट्टी (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २।३०)
६. संस्कृति के चार अध्याय पृ० १२६
७. उत्तराध्ययन अध्ययन २५।१६
८. अष्टमे मरुदेव्या तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ।।
(श्रीमद् भागवत, स्कन्ध १, अ० ३, श्लोक १३)
९. नाभिर्मरुदेव्या पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरत पुत्रश्च ।
(वाराह पुराण, अ० ७४)
१० असूतपूर्वो वृषभो ज्यायनिमा अस्य शुरुध: सन्ति पूर्वी. ।
दिवो नपाता विदथस्य धीभि. क्षत्र राजाना प्रदिवो दधाथे ।।
(ऋग्वेद, ५-३८)
११. ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी ।
(ऋग्वेद, १०।१०२।६)
१२. त्रिषष्टी श्लाका पुरुष चरित्र १।३ ।
१३. उसभ पवर वीरं महेसिं विजिताविन ।
अनेजं नहातक बुद्ध तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।४२२।।
(धम्मपद)
१४. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ द्वितीय खड पृ० १ से ५ तक
१५. तए णं से गयसुकुमाले कण्हेण वासुदेवेण एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए सचिट्ठइ ।। तए णं से गयसुकुमाले कण्ह वासुदेवं अम्मापियरो य दोच्चं पि तच्चं पि एव वयासी·········त इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अतिए मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइत्तए ।।
(अतगडदसाओ अध्ययन-८ वर्ग-३ सूत्र ७५-७६)
१६. तए ण से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे···········जेणामेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिण करेइ, वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता अरहओ अरिट्ठनेमिस्स नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे पंजलिउडे अभिमुहे विणएणं पज्जुवासइ ।।
(नायाधम्मकहाओ अध्य० ५ कण्हस्स पज्जुवासणा-पदं)

१७ छान्दोग्योपनिषद्—३, १७, ६

१८. जैन दर्शन मनन और मीमांसा पृ० १७

१६. उत्तरज्झयणाणि, अ० २३

२०. चाउज्जामो य जो धम्मो जो धम्मो पंचसिक्खिओ
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥ (उत्तरज्झयणाणि २३।२३)

२१. चतुर्दश सहस्राणि, षट्त्रिंशत्सहस्राणि ।

(आवश्यक-निर्युक्ति)

२२ (क) से जहाणामए अज्जो ! मम नव गणा एगारस गणधरा ।

(ठाण ६ सूत्र ६२)

(ख) आयरिएति वा, उवज्झाएति वा, पात्तीति वा, थेरेति वा, गणीति वा, गणधरेति वा, गणावच्छेदेति वा ।

(ठाण ३।३, सूत्र ३६२)

२३ तेन खलु समयेन राजगृहे नगरे षट्पूर्णाद्या. शास्तारोऽसर्वज्ञाः सर्वज्ञमानिनः प्रतिवसन्तिस्म । तद्यथा—पूरणकाश्यपो, मश्करी-गोशालिपुत्र , सजयी वैलट्टी पुत्रोऽजितःकेशकम्बल·, ककुद. कात्यायनो, निर्ग्रन्थो ज्ञातपुत्रः ।

(दिव्यावदान, १२-१४३-१४४)

२४. (क) अत्थ भासइ अरहा सुत गथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाय तओ सुत्त पवत्तेई ॥१६२॥

(आवश्यक—नि० पृ० ७६)

(ख) भगवता अत्थो भणिता, गणहरेंहि गथो कओ वाइयो य इति ।

(आव० चूर्णि, पृ० ३३४)

२५. इमे दुवालसगे गणिपिडगे पण्णत्ते

(समवाओ, १।२)

२६ अपच्छिमकेवली जबूसामी सिद्धि गमिही ।

(विविधतीर्थ कल्प पृ० ३८)

२७. केवली चरमो जम्बूस्वाम्यथ प्रभव· प्रभुः ।
शय्यम्भवो यशोभद्र. सम्भूतविजयस्तत· ॥३३॥
भद्रबाहुः स्थूलभद्र· श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥३४॥

(अभि० चिन्तामणि, खण्ड प्रथम)

२८ महाबन्ध प्रस्तावना

२६ गण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे ।
संजय-तिय केवलि-सिज्झणाय जंबुम्मि वुच्छिन्ने ॥२५६३॥
(विशेषावश्यक भाष्य)

३०. चौदस पुव्वच्छेदो, वरिससते सत्तरे विणिद्दिट्ठो ।
साहूम्मि थूलभद्दे, अन्ने य इमे भवे भावा ॥७०१॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

३१. महागिरिः सुहस्ती च सूरि श्रीगुणसुन्दर
श्यामार्य· स्कन्दिलाचार्यो रेवतीमित्रसूरिराट् ॥
श्रीधर्मो भद्रगुप्तश्च श्रीगुप्तो वज्रसूरिराट्
युगप्रधानप्रवरा दशैते दशपूर्विण ॥
(संबोधिका-स्थविरावलीविवरण पत्र ११६)

३२ तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जातिथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे णिग्गथे जातिथेरे, ठाणसमवायधरे ण समणे-णिग्गथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए ण समणे णिग्गथे परियायथेरे ।
(ठाण ३।१८७)

३३ थूलभद्दसामिणा अज्जसुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो ।
(निशीथभाष्य चूर्णिभाग २ पृ० ३६१)

३४ तहा वि अज्जमहागिरी सुहत्थि य पीतिवसेण एक्कओ विहरति ॥
(निशीथभाष्य चूर्णि भाग २ पृ० ३६१)

३५. वद्धमाणसामिस्स सीसो सोहम्मो··········थूलभद्द जाव सव्वेसि एक्कसभोगो आसिरे ।
(निशीथभाष्य चूर्णि भाग २ पृ० ३६०)

३६. ज रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो ।
त रयणिमवनीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥६२०॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

३७. सट्ठी पालगराओ, पणवन्न सय तु होइ नन्दाण ।
अट्ठसय मूरियाण तीसच्चिया पूसमित्तस्य ॥
(मेरुतुगसूरि कृत विचार श्रेणी)

३८ सिरि जिणनिव्वाणगमणरयणिए उज्जेणीए चडपज्जोअमरणे पालओराया अहिसित्तो। तेण य अपुत्त उदाइमरणे कोणिअरज्जं पाडलिपुर पि अहिट्ठिअं ॥

तस्स य वरिस ६० रज्जे—गोयम १२ सुहम्म ८ जम्बू ४४ कुणप्पहाण पुणो पाडलीपुरे ११, १०, १३, २५, २५, ६, ६, ४, ५५ नवनंद एवं वर्ष १५५ रज्जे जंबू शेष वर्षाणि ४, प्रभव ११, शय्यंभव २३, यशोभद्र ५०, संभूतविजय ८, भद्रबाहु १४, स्थूलभद्र ४५, एवं निर्वाणात् ॥२१५॥

(दुष्षमाकाल श्री समण सघ अवचूरि)

३६ इतश्च गोल्लविषये ग्रामे चणकनामनि ।
ब्राह्मणो ऽभूच्चणी नाम तद्भार्या च चणेश्वरी ॥१६४॥
बभूव जन्मप्रभृति श्रावकत्वचणश्चणी ।
ज्ञानिनो जैनमुनय पर्यवात्सुश्च तद्गृहे ॥१६५॥

(परि० पर्व सर्ग ८)

४० स मुनिभ्यस्तदप्याख्यन्मुनयो ऽप्येवमूचिरे ।
भाव्येष बिम्बान्तरितो राजा रदनघर्षणात् ॥१६६॥

(परि० पर्व सर्ग ८)

४१. जवमज्झ मुरियवसे, दाणे वणि-विवणि दारमलोए ।
तसजीवपडिक्कमओ, पभावओ समणसघस्स ॥३२७८॥

यथा यवो मध्यभागे पृथुल आदावन्ते च हीन एव मौर्यवशोऽपि । तथाहि—चद्रगुप्तस्तावद् बलवाहनादिभूत्या हीन आसीत्, ततो बिन्दुसारो बृहत्तर. ततोऽप्यशोकश्रीर्बृहत्तम तत सप्रति. सर्वोत्कृष्ट, ततो भूयोऽपि तथैव हानिरवसातव्या, एवं यवमध्यकल्प संप्रतिनृपतिरासीत् ।

(बृहत्कल्प भाष्य भाग ३, पत्र १७-१८)

४२ तद्वंशे (मौर्य) तु बिंदुसारोऽशोकश्रीः कुणाल स्तत्सूनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहारः सप्रतिमहाराज श्चाभवत् ।

(विविध तीर्थ कल्प पृ० ६६)

४३. सिरिवीराओ गएसु, पणतीसहिए तिसयवरिसेसु ।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामुज्जनामु त्ति ॥२७२॥

(रत्न सचय प्रकरण)

४४. तह गद्दभिल्लरज्जस्स, छेयगो कालगारिओ हो ही ।
छत्तीस गुणोवेओ गुणसयकलिओ महाजुत्तो ॥१॥

(दुष्षमाकाल श्री समण सघ स्तोत्र-अवचूरि)

४५ चउसयतिपन्नवरिसे, कालिगगुरुणा सरस्सती गहिया ।
चिहुसयसत्तरिवरिसे, वीराऊ विक्कमो जाओ ।।२७३।।
(रत्न सचय प्रकरण से)

४६ पंचेव य वरिससए, सिद्धसेणेदिवायरो पयडो ।
सत्तसय वीस (७२०) अहिय, कालिकगुरू सक्कसंथुणिओ ।।२७४।।
(रत्न संचय प्रकरण से)

४७. सागारियमप्पाहण, सुवन्न सुयसिस्स खत लक्खेण ।
कहणाएसिस्सा गमण धूली पुञ्जोवमाण च ।।२३६।।
आयरिया भणंति सुदर, मा पुण गव्व करिज्जासि । ताहे धूलीपुञ्ज पिछते करेति धूली हत्थेण चेत्तु तिसु ठाणेसु ओयारति—जहा एस धूली ठविज्जमाणी अक्खिप्पमाणी य सव्वत्थ परिमडई एव अत्थो वि-तित्थगरेहिंतो गणहराण, गणहरेहिंतो जाव अम्हं आयरियउवज्भायाणं पर एण आगय, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ता मा गव्व काहिसि,………अज्ज कालिया सीसय सीसाण अणुयोग कहेउ ।
(बृहत्कल्पभाष्य, भाग १, पत्र ७३, ७४)

४८. कालियसुयच इसिभासिआइ तइओ अ सूरपन्नत्ती ।
सव्वोअ दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ।।१२४।।
(आवश्यक निर्युक्ति)

४९. वंदामि अज्जरक्खिय, खमणे रक्खिअचरित्त सव्वस्से ।
रयणकरडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ।।३२।।
(नन्दी थेरावली २)

५०. गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्डियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ।
(ठाण ६।२६)

५१. "इत्थ दूसहदुब्भिक्खे दुवालसवारिसिय नियत्ते सयलसघ मेलिअ आगमाणुओगो पवत्तिओ खदिलायरियेण ।"
(विविध तीर्थकल्प पृ० १६)

५२. अत्थि मुहराउरीय सुयसमिद्धो खंदिलो नाम सूरी तहा वलहि नयरीय नागज्जुणो नाम सूरी । तेहि य जाए वरिसयि दुक्काले निव्वउ भाव-ओवि फुट्टि (१) काऊण पेसिया दिसोदिसं साहवो गमिउं च कहवि-दुत्थ ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्भायति नाव खंडुखरुडीहूयं पुव्वाहियं ।

(कहावली)

५३. जिनवचनं च दुष्षमाकालवंशादुच्छिन्न प्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन स्कन्दिलाचार्य्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषुन्यस्तम् ।

(योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७)

५४. श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीरादशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायां, भविष्यद् भव्यलोकोपकराय श्रुतभक्तये च श्रीसङ्घाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वसाधून् बलभ्यामाकार्यं तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटितानुत्रुटितानागमालापकाननुक्रमेण स्वमत्या सङ्कलय्य पुस्तकारूढ़: कृतः । ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्सङ्कलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्त्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः ।

(समाचारी शतक)

खण्ड २

प्रभावक आचार्य

अध्याय १

उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य

[संख्या १ से ५०]

१. श्रमण–सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा

तीर्थङ्कर और गणधर

जैन शासन मे तीर्थङ्कर परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास है । गणधर परम्परा तीर्थङ्कर परम्परा के इतिहास की अविच्छिन्न कडी है। प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन काल मे गणधर मण्डली का अभ्युदय होता है । तीर्थङ्कर तीर्थ की स्थापना करते है । तीर्थ स्थापना के समय सबसे पहले गणधरो को मुनि दीक्षा प्रदान की जाती है। गणधर विभिन्न गणो के रूप मे तीर्थङ्कर देव की श्रमण सम्पदा के सम्यक् सवाहक होते हैं । तीर्थङ्कर प्रवचन देते है । उनके महा-मङ्गलकारक वचनसुमनो को गणधर प्रज्ञा-पटल पर ग्रहण कर उनसे आगम माला की रचना करते हैं ।[1]

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर के शासन मे ग्यारह गणधरो की मण्डली थी। उस मण्डली मे सर्वतोऽधिक ज्येष्ठ इन्द्रभूति गौतम थे । सर्वाधिक दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा थे । तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण के समय इन्द्रभूति और सुधर्मा दो गणधर ही उपस्थित थे । अवशिष्ट गणधरो का तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण से पूर्व ही निर्वाण हो गया था ।[2] निर्वाण होने से पूर्व उन गणधरो ने तीर्थङ्कर महावीर के निर्देश से अपना-अपना गण दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा को सौप दिया था ।[3] वीर निर्वाण के समय गणधर सुधर्मा का गण ही सर्वाधिक विशाल था । उन्हे अपने से अतिरिक्त नौ गणधरों की शिष्य सम्पदा भी प्राप्त थी ।

आचाय परम्परा की प्रथम कड़ी

श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा का स्थान प्रभावक आचार्यो की परम्परा मे सर्वोच्च है । श्वेताम्बर परम्परा के अभिमत से वीर निर्वाण के बाद आचार्य परम्परा का प्रारम्भ उन्ही से होता है । गणधर मण्डली मे उनका स्थान पाचवां था । आचार्यों की शृंखला मे वे प्रथम आचार्य बने । तीर्थङ्कर देव की साक्षात् सन्निधि का सौभाग्य भी आचार्यों में अकेले सुधर्मा को ही प्राप्त हुआ । दिगम्बर परम्परा के अनुसार गणधर इन्द्रभूति गौतम तीर्थङ्कर महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी थे ।

गुरु परम्परा

आचार्य सुधर्मा के गुरु सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर महावीर थे। वीतराग प्रभु महावीर के द्वारा ही उनका दीक्षा संस्कार हुआ। तीर्थङ्कर देव के पादमूल मे बैठकर ही उन्होने विविध अनुभवो को संजोया। ज्ञान कणो का अर्जन किया एव अध्यात्म साधना के मधुर मकरन्द का आस्वाद लिया। तीर्थङ्कर महावीर स्वयं ही तीर्थ के प्रवर्त्तक थे एव स्वय सम्बुद्ध थे। उन्होने अपने से पूर्व की किसी गुरु परम्परा का आधार नही लिया था। अत: आचार्य सुधर्मा की गुरु परम्परा तीर्थङ्कर महावीर से ही प्रारम्भ होती है।

जन्म एवं परिवार

सुधर्मा का जन्म विदेह प्रदेशान्तर्गत कोल्लाग सन्निवेश मे ब्राह्मण परिवार मे वी० नि० पूर्व ८० (वि० पू० ५५०, ई० पू० ६०७) मे हुआ। अग्नि वैश्यायन उनका गोत्र था। उनके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्दिला था।

जीवन वृत्त

ब्राह्मण सुधर्मा अपने युग के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वैदिक दर्शन का उन्हे अगाध ज्ञान था। चतुर्दश विद्याओ पर उनका विशेष आधिपत्य था।[४] ब्राह्मण-समाज पर उनके पाण्डित्य का अतिशय प्रभाव था। पांच-सौ छात्रो के वे शिक्षक थे।

श्रमण भूमिका में प्रवेश

ब्राह्मण सुधर्मा ने श्रमण दीक्षा ग्रहण कर गणधर का स्थान प्राप्त किया। जैन शासन मे तीर्थङ्करो के बाद सर्वोच्च पद गणधर का होता है। गणधर अतुल बल सम्पन्न एवं उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप के धनी होते हैं।[५] असाधारण क्षमताए उनमे विकास पाती है। गणधरो की शरीर सम्पदा भी सामान्य मनुष्यो से अतिरिक्त होती है। देवो की समस्त रूप सम्पदा तीर्थङ्करो के एक नख मे समाहित हो जाती है। गणधरो की रूप सम्पदा तीर्थङ्करो से किञ्चिन्न्यून एव आहारक शरीर चक्रवर्ती आदि अन्य सबसे विशिष्ट होती है।[६]

सुधर्मा गणधर थे। उनके शरीर की ऊंचाई सात हाथ की थी। समचतुस्र संस्थान था। वज्रऋषभनाराच सहनन था। आकार-प्रत्याकार से

सुन्दर और सुगठित उनकी काया थी। सुतप्त स्वर्ण की भांति वह कान्तिमान थी। शरीर का वर्ण रक्ताभगौर था।

ब्राह्मण सुधर्मा का श्रमण भूमिका तक पहुंचने का इतिहास अत्यन्त रोचक है। सर्वज्ञत्वोपलब्धि के बाद श्रमण भगवान महावीर एक बार जंभियग्राम से मध्यमा पावापुरी पधारे। महासेन उद्यान में ठहरे। उसी नगर मे सोमिल ब्राह्मण महायज्ञ कर रहा था। उन्नत, विशाल कुलोत्पन्न वेदविज्ञ ग्यारह विद्वान् (गणधर), गोब्बर ग्रामवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति के पुत्र—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, कोल्लाग सन्निवेशवासी भारद्वाज गोत्रीय धनमित्र के पुत्र व्यक्त, अग्नि वैश्यायन गोत्रीय धम्मिल के पुत्र-सुधर्मा, मौर्य सन्निवेशवासी वाशिष्ठ गोत्रीय धनदेव के पुत्र-मण्डित, काश्यप गोत्रीय मौर्य के मौर्यपुत्र, मिथिलावासी गौतम गोत्रीय देव के पुत्र अकम्पित, कौशलवासी हारितगोत्रीय वसु के पुत्र अचलभ्राता, वत्स देश तुङ्गिय सन्निवेशवासी कौडिन्य गोत्रीय दत्त के पुत्र मेतार्य, राजगृहवासी कौडिन्य गोत्रीय बल के पुत्र प्रभास—ये सभी सोमिल के यज्ञानुष्ठान की सफलता के लिए वहा आ रहे थे[१]। उनके साथ चवालीस-सौ शिष्यों का परिवार था। प्रथम पाच विद्वानो के प्रत्येक के पाच-पाच सौ शिष्यो का परिवार, मण्डित और मौर्यपुत्र प्रत्येक के तीन-तीन सौ पचास शिष्यों का परिवार, अवशिष्ट चार के तीन-तीन सौ शिष्यो का परिवार था[२]। ग्यारह ही विद्वानो का गर्व आकाश को छू रहा था। समग्र ज्ञान सिन्धु पर वे अपना एकाधिपत्य मानने लगे थे। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, दर्शन, अध्यात्म, धर्म, विज्ञान, कला और साहित्य किसी भी विषय पर उनसे लोहा लेने वाला कोई भी व्यक्ति उनकी दृष्टि मे नही था।

उन्होने अपार जनसमूह को महावीर की ओर बढते देखा। उनका अहं नाग फुफकार उठा। सोचा—"कोई ऐन्द्रजालिक दम्भी मायावी आया है। वह किसी मन्त्र-तन्त्र से सबको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। पर हमारे सामने उसकी क्या हस्ती है? समग्र कान्तार को कपा देने वाली पञ्चानन की दहाड के सामने क्या कोई टिक सका है? पलक झपकते ही हम उसके प्रभाव को मिट्टी मे मिला देंगे।" कुछ समय तक ऊहापोह कर लेने के बाद अपने-अपने शिष्य परिवार सहित वे ग्यारह ही विद्वान् अपनी अजेय शक्ति की घोषणा करते हुए क्रमश भगवान् महावीर के समवसरण मे पहुंचे। अपनी ज्ञान राशि से वे सर्वज्ञ भगवान् महावीर को अभिभूत कर देना चाहते

थे। उनका यह प्रयास मुष्टि-प्रहार से भीमकाय चट्टान को चूर्ण कर देने जैसा व्यर्थ सिद्ध हुआ।

विशाल जनसमूह के बीच भगवान् महावीर उच्चासन पर सुशोभित थे। उनके तेजोदीप्त मुखमडल की प्रभा को देखते ही ब्राह्मण पण्डितो के चरण ठिठक गए, नयन चुधिया गए। हिमालय के पास खडे होने पर उन्हे अपने मे बौनापन की अनुभूति हुई। सहस्राशु के महाप्रकाश मे उन्हे अपना ज्ञान जुगनू की तरह फुदकता-सा लगा।

अगाध ज्ञान-सिन्धु के स्वामी ग्यारह ही पडित आत्मा, कर्मवाद, तज्जीव तच्छरीरवाद (शरीर और चैतन्य का भिन्न-अभिन्नत्व) पच भूतात्मक सत्ता, परलोक मे तद्रूप प्राप्ति का भावाभाव बन्ध-मोक्ष, देव-नरक, पुण्य-पाप, परलोक-निर्वाण सबधी एक-एक शका मे वैसे ही उलझे हुए थे जैसे हाथियो के मद को चूर्ण कर देने वाला शक्तिशाली शेर पेचदार लोहे की छोटी-सी जजीर मे उलझ जाता है। प्रथम सपर्क मे भगवान् द्वारा उच्चारित अपने नाम पुरस्सर सबोधन ने इद्रभूति गौतम को चौका अवश्य दिया था, पर तत्काल भीतर का दर्प बोल उठा—"मुझे कौन नही जानता" ? सूर्य को अपने विज्ञापन की आवश्यकता नही होती। तदनन्तर भगवान् महावीर से अपनी गुप्त शकाओ का रहस्योद्घाटन एव उनका सतोषप्रद समाधान पा इद्रभूति सहित क्रमश सभी पडितो का अभिमान विगलित हो गया। वे भगवान् महावीर के चरणो मे फलो से लदी हुई शाखा की भाति झुक गए। पडितो ने जो कुछ पहले सोचा था, ठीक उसके विपरीत घटित हुआ। वे समझाने आए थे, स्वय समझ गए। सिन्धु मे बिन्दु की तरह विराट् व्यक्तित्व मे उनका 'स्व' समाहित हो गया। सर्वतोभावेन भगवान् महावीर के चरणो मे समर्पित होकर उन्होने श्रमण धर्म की भूमिका मे प्रवेश पाया। भगवान् महावीर द्वारा यह पहला दीक्षा सस्कार वी० नि० पूर्व ३० (वि० पू० ५००) वैशाख शुक्ला एकादशी को हुआ। चतुर्विध सघ स्थापना का यह प्रथम चरण था।

सयम साधना स्वीकार करने के बाद इन पण्डितो को गणधर-लब्धि की प्राप्ति हुई। वे गणधर कहलाए और भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यमयी त्रिपदी के आधार पर उन्होने द्वादशागी की रचना की।" प्रथम सात गणधरो का आगम वाचना पृथक्-पृथक् थी। आगे के गणधरो मे गणधर अचलभ्राता और अकम्पित की वाचना गणधर मेतार्य और

प्रभास की वाचना समान थी। अंतिम युग्म वाचना समान होने के कारण ग्यारह गणधरो के नौ गण बने।" आगम वाचना के आधार पर निर्मित इन गणों में प्रथम सात गणो का संचालन इन्द्रभूति आदि प्रथम सात गणधरों ने क्रमशः किया। अचलभ्राता और अकंपित ने ८वें गण का एवं मेतार्य और प्रभास ने ९वें गण का सचालन किया था। समवायाङ्ग सूत्र मे गणधरों का उल्लेख है।"

महावीर का निर्वाण वि० पू० ४७० मे हुआ। उस समय गणधर इन्द्रभूति गौतम अन्यत्र प्रबोध देने गए थे। निर्वाण की सूचना प्राप्त होते ही छद्मस्थता के कारण गौतम मोह विह्वल हो गए। उनका हृदय अनुताप से भर गया। शनैः शनैः चिन्तन की धारा मुड़ी, दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई। यह चेतना के ऊर्ध्वारोहण की अवस्था थी। जागरण की स्थिति थी। जागृति के इन क्षणों में मोह का दुर्भेद्य आवरण टूटा। तदनन्तर ज्ञान-दर्शन कारक कर्माणुओं के क्षीण होते ही अखण्ड ज्ञान (केवलज्ञान) की लौ उद्दीप्त हो गई। ज्येष्ठ गणधर इन्द्रभूति सर्वज्ञ बन गए।" सर्वज्ञ कभी परम्परा का वाहक नहीं होता। अतः वीर निर्वाण के बाद सघ के दायित्व को गणधर सुधर्मा ने सम्भाला।" इस समय उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। सर्वज्ञ प्रभु की सुखद सन्निधि मे तीस वर्ष रहने के कारण विविध अनुभूतियो का संबध उनके पास था। भगवान् महावीर जैसे सबल आधार के अभाव मे एक बार सघ की नौका का डगमगा जाना स्वाभाविक था, पर सुधर्मा जैसे महान् आचार्य का सुदृढ आलबन सघ के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

उस युग मे आजीवक प्रभृति इतर धर्म सघ भी अपना वर्चस्व बढा रहे थे और अपनी कठोरचर्या से जनमानस को प्रभावित कर रहे थे। ऐसे समय मे भगवान् महावीर की सत्य सघित्सु दृष्टि एव स्याद्वादमयी नीति को प्रमुखता प्रदान कर आचार्य सुधर्मा ने जो नेतृत्व श्रमण संघ को दिया वह अद्भुत था, सुखद था।

समकालीन राजवंश

महावीर निर्वाण के बाद निर्ग्रंथ शासन के प्रति आस्थाशील राजवशों को भी धर्म के क्षेत्र मे सुदृढ़ आलंबन की आवश्यकता थी। आचार्य सुधर्मा के समय मे मगध पर सम्राट् श्रेणिक के पुत्र कोणिक (अजातशत्रु) का और अवन्ति पर पालक का शासन था। सम्राट् श्रेणिक की भगवान् महावीर के प्रति दृढ़ आस्था थी।

पिता श्रेणिक की भांति कोणिक का भी भगवान् महावीर की भक्ति में अतिशय अनुराग था। अपने राज्य मे अङ्ग नरेश कोणिक ने एक ऐसे विभाग की नियुक्ति की थी जिस दल का मुख्याधिकारी निरतर भगवान् महावीर का सुख संवाद नरेश कोणिक को सुनाया करता था। इस विभाग मे कई व्यक्ति काम करते थे। विभाग के मुख्याधिकारी को नरेश कोणिक की ओर से विपुल आजीविका (अर्थराशि) मिलती थी।

एक बार विशाल श्रमण-श्रमणी समवेत तीर्थंकर भगवान् महावीर का आगमन अङ्ग प्रदेश की राजधानी चम्पा मे हो रहा था। उस समय उपर्युक्त विभाग के मुख्याधिकारी ने भगवान् महावीर के आगमन की सूचना अङ्ग भूपाल कोणिक को दी। कोणिक का मन इस उल्लासवर्द्धक सूचना का श्रवण कर प्रसन्नता से भर गया। सिहासन से तत्काल नीचे उतरकर नरेश कोणिक ने पादुकाए खोली, खड्ग, छत्र, मुकुट आदि राजचिह्नो को उतारा और भगवान् महावीर की दिशा मे विधिपूर्वक वदन किया तथा सदेश प्रवृत्ति वाहक (विभाग का मुखिया) को विशाल अर्थ राशि का प्रीतिदान दिया।[1]

तीर्थंकर महावीर का चम्पा मे पदार्पण होने पर सपरिवार कोणिक ने तीर्थंकर प्रभु के चरणो मे उपस्थित होकर उपासना का लाभ प्राप्त किया। सर्वज्ञ भगवान् को अमृतोपम देशना सुनकर अङ्गाधीश नृप का मन प्रीति से भर गया। उल्लासमयी भावधारा मे बहकर कोणिक ने तिक्खुत्ते के पाठ से विधिपूर्वक धर्म शासन के नायक को वदन किया एव निम्नोक्त शब्दो मे कृतज्ञता ज्ञापित की —

"सुयक्खाए ते भते ! निग्गंथे पावयणे।
सुपण्णत्ते ते भते ! निग्गथे पावयणे।
सुभासिए ते भते ! निग्गथे पावयणे।
सुविणीए ते भते ! निग्गथे पावयणे।
सुभाविए ते भते ! निग्गथे पावयणे।
अणुत्तरे ते भते ! निग्गथे पावयणे।
धम्म ण आइक्खमाणा उवसम आइक्खह।
उवसम आइक्खमाणा विवेग आइक्खह।
विवेगं आइक्खमाणा वेरमण आइक्खह।
वेरमण आइक्खमाणा अकरणं पावाण कम्माण आइक्खह।
णत्थि ण अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे एरिस धम्ममाइक्खित्तए।"

भगवन् ! आपका निर्ग्रंथ प्रवचन सुविख्यात है। सुप्रज्ञप्त है। सुभाषित है। शिष्यो में सम्यक् प्रकार से नियोजित है। सुभावित है। अनुत्तर है।

आपने अपने धर्म प्रवचन मे उपशम भाव के साथ विवेक, विरति और निवृत्ति धर्म का सम्यक् प्रतिपादन किया है। कोई भी अन्य श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार धर्म व्याख्या करने मे समर्थ नही है।

"किमंग पुण एत्तो उत्तरतर ?"

इससे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है ?[१७]

इस घटना प्रसग से स्पष्ट है—नरेश कोणिक की वीतराग प्रभु मे आतरिक भक्ति थी। सम्राट् श्रेणिक की मृत्यु के बाद कोणिक ने मगध की बागडोर वी० नि० से १७ वर्ष पूर्व ही सभाल ली थी अत: आचार्य सुधर्मा के पदारोहण के समय कोणिक शासन का मध्याह्नकाल था।

अवन्ति का शासन उस समय चंडप्रद्योत पुत्र पालक के हाथ मे था। चडप्रद्योत की भी भगवान् महावीर के परम भक्तो मे गणना थी। सुधर्मा ने जिस दिन वीर शासन का दायित्व सभाला था, उसी दिन प्रद्योत पुत्र पालक ने अवन्ति का शासन सभाला था।[१८] अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत के दो पुत्र थे—पालक और गोपालक। जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन चडप्रद्योत का देहावसान हुआ था। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राज्य का अधिकार पालक को मिला और गोपालक ने सुधर्मा के पास मुनि दीक्षा ग्रहण कर आत्मसाम्राज्य का अधिकार प्राप्त किया।[१९]

इन दोनो राजवशो की धार्मिक आस्थाओ के स्थिरीकरण मे आचार्य सुधर्मा का शासन अनन्य शरणभूत सहायक बना था।

आगम रचनाएं

जैन शासन आज आचार्य सुधर्मा का महान् आभारी है। आत्म-विजेता भगवान् महावीर के उपपात मे बैठकर उनकी भवसतापहारिणी, जन-कल्याणकारिणी शिक्षा-सुधा से मनीषा-घट को भरा और द्वादशांगी की रचना कर हमारे लिए अगाध आगम ज्ञानराशि को सुरक्षित रखा। वर्तमान मे उपलब्ध एकादशाग की आगम सपदा आचार्य सुधर्मा की देन है।[२०] अङ्गागमो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

आयारो (आचारांग)

यह प्रथम अङ्गागम है। तीर्थंकरो ने अङ्गों मे सर्वप्रथम इस अङ्गागम का प्रवर्तन किया है।[२१] इसके आयारो और आयारचूला नामक दो श्रुतस्कंध

के ९ अध्ययन एवं द्वितीय श्रुतस्कंध के १६ अध्ययन हैं। कुल पच्चीस अध्ययन हैं।[१२] इस आगम की पद संख्या १८००० बताई गई है।[१३] अभयदेवसूरि आदि ने यह पद संख्या प्रथम श्रुतस्कध की मान्य की है।[१४]

प्रथम श्रुतस्कध का नाम ब्रह्मचर्य भी है। अध्ययनों की सख्या ९ होने के कारण इसे नव ब्रह्मचर्य भी कहा गया है। द्वितीय श्रुतस्कध चूलिका रूप है। इसका दूसरा नाम आचाराग्र भी बताया गया है।

दिगम्बर ग्रन्थ-राजवार्तिक, धवला, जयधवला, गोम्मटसार, अङ्गपण्णत्ति आदि मे *तथा श्वेताम्बर ग्रन्थ—समवायाङ्ग और नन्दी मे इस ग्रन्थ का उल्लेख* और विषय वर्णन मिलता है। आगम साहित्य मे यह आगम प्राचीनतम माना गया है। इसमे गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनो प्रकार की शैली प्रस्तुत है। वर्तमान मे इस आगम का कही-कही गद्य-पद्य संमिश्रित हो गया है। दोनो का पृथक्करण अत्यन्त श्रम साध्य है। इसके पद्य भाग मे जगती, आर्या, वैतालीय आदि छन्द प्रयुक्त है।

प्रथम श्रुतस्कध की भाषा द्वितीय श्रुतस्कध की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। इस श्रुतस्कध के सूक्त मर्मस्पर्शी और प्रभावकारी हैं। महापरिज्ञा नामक इसका सातवा अध्ययन लुप्त है।

द्वितीय श्रुतस्कध की पाचवी चूलिका निशीथसूत्र के रूप मे स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया है। वर्तमान मे वह चतुर्चूलात्मक है। प्रथम दोनो चूलिकाओं के प्रत्येक के सात-सात अध्ययन है। तृतीय चूलिका का नाम भावना और चतुर्थ चूलिका का नाम विमुक्ति है। परिशिष्ट पर्व मे प्राप्त उल्लेखानुसार इन दोनो चूलिकाओं की उपलब्धि साध्वी यक्षा के द्वारा हुई थी।[१५] मुनिचर्या के वस्त्र, पात्र, भोजन आदि सबधी विधि-विधानो का वर्णन इन चूलिकाओं मे है।

ज्ञान-दर्शनादि आचार विषय का मुख्यतः वर्णन होने के कारण इस आगम का आयारो नाम सार्थक है।[१६] भद्रबाहु की निर्युक्ति, जिनदास महत्तर की चूर्णी और शीलाङ्क की टीका प्रस्तुत आगम पर उपलब्ध है।

सुयगडो (सूत्रकृतांग)

यह दूसरा अङ्गागम है। निर्युक्ति साहित्य मे इसके तीन गुण-निष्पन्न नाम उपलब्ध होते हैं[१७]—सुतगड, सुत्तकड, सूयगड।

इस आगम के दो श्रुत स्कध हैं। प्रथम श्रुतस्कध के १६ अध्ययन

एवं द्वितीय श्रुतस्कंध के ७ अध्ययन हैं। कुल अध्ययन २३ हैं।[२८] समवायाङ्ग, नन्दी और आवश्यक आगम मे इस ग्रन्थ का उल्लेख है। राजवार्तिक, धवला, जयधवला, अङ्गपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थो मे भी इस आगम के विषयो की चर्चा है।

प्रस्तुत आगम में प्रथम श्रुतस्कंध के १५ अध्ययन पद्यात्मक हैं। एक अध्ययन गद्यात्मक है। दूसरे श्रुतस्कध के चार अध्ययन पूर्णरूपेण गद्यमय एवं दो अध्ययन पद्यमय हैं। ग्रन्थ का तृतीय अध्ययन अधिकांशतः गद्यात्मक है। पद्य सख्या अत्यल्प है।

प्रथम श्रुतस्कध मे स्व-पर समय की विविध सूचनाए हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध मे पुण्डरीक अध्ययन रूपक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी के छठे अध्ययन मे आर्द्रक मुनि का गोशालक शाक्य भिक्षु आदि दर्शनान्तरियो के साथ संवाद तथा सातवें अध्ययन मे गौतम गणधर की पार्श्वनाथ के शिष्य उदक पेढाल पुत्र के साथ सैद्धान्तिक विषयो पर चर्चा अधिक ज्ञानवर्धक है एव ऐतिहासिक सदर्भ मे भी विशेष उपयोगी है।

सूत्रकृताग आगम की शैली प्रौढ एवं सरस है। विषय के प्रतिपादन में अनेक दृष्टातों, व्यवहारिक उपमाओ का उपयोग किया गया है। दर्शन की भूमिका पर इस कृति का विशेष महत्त्व है। सूत्रकृतांग वृत्ति के अनुसार यह आगम प्रधानतया द्रव्यानुयोग मे परिगणित हुआ है।[२९] इस आगम मे मुख्यतः आत्मा, चरण, करण की प्ररूपणा है।[३०]

ठाणं (स्थानांग)

यह तीसरा अङ्गागम है। इसमे एक श्रुतस्कध के १० अध्ययन हैं।[३१] जीव, पुद्गल आदि का वर्णन सख्याक्रम से है। सग्रह नय की दृष्टि और व्यवहार नय की दृष्टि के आधार पर विषय का संक्षेप और विस्तार है। प्रथम अध्ययन के वर्णन का आधार सग्रह नय है। शेष अध्ययनो के वर्णनो का आधार व्यवहार नय है। द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि को इस आगम के आधार पर सम्यक् रूप से समझा जा सकता है।

इस आगम की शैली प्राचीन है। वैदिक ग्रन्थो मे भी इस प्रकार की शैली का उपयोग किया गया है। अगुत्तर निकाय नामक बौद्ध ग्रन्थ मे भी यही शैली प्रयुक्त है।

स्थानांग के प्रथम प्रकरण मे एक-एक प्रकार की वस्तुओ का द्वितीय

प्रकरण में दो-दो प्रकार की वस्तुओ का क्रमशः दसवे प्रकरण मे दस-दस प्रकार की वस्तुओ का उल्लेख है। जैन-दर्शन सम्मत अनेक मान्यताओ का तथा विविध लौकिक विषयो का विवेचन इस आगम मे उपलब्ध है।

आगम के सातवें अध्ययन मे सात निह्नवो का, आठवें अध्ययन मे निर्ग्रन्थ शासन मे दीक्षित आठ राजाओ का, नौवें अध्ययन मे नौ गणो का, दसवें अध्ययन मे दस महानदियो का, दस राजधानियो का, दस आश्चर्यकारी घटनाओ का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से एव भौगोलिक दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण है।

सात निह्नवो का वर्णन कालक्रम की दृष्टि से विचारणीय है। भगवान् महावीर के युग मे जमालि एव तिष्यगुप्त दो ही निह्नव हुए थे। स्थानागसूत्र गणधर रचना है अत इसमे अवशिष्ट निह्नवो का उल्लेख सभवत बाद मे गीतार्थ स्थविरो द्वारा सयुक्त किया गया है। यह आगम अत्यन्त गम्भीर है। तात्त्विक चर्चाओ से परिपूर्ण है। इस आगम का पाठी मुनि श्रुतस्थविर की गणना मे आ जाता है।

प्रस्तुत आगम पर अभयदेवसूरि की सक्षिप्त टीका है। मलयगिरि की टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है।

समवाओ (समवायांग)

यह चतुर्थ अङ्गागम है। जीव, अजीव आदि पदार्थों का समवतार होने के कारण ग्रन्थ का नाम समवाय है।[१५] ग्रन्थ मे सौ तक एकोत्तरीका वृद्धि है। बाद मे अनेकोत्तरिका वृद्धि है। एकोत्तरिका वृद्धि का उल्लेख नन्दी और समवायाग मे है। एकोत्तरिका ऋद्धि और अनेकोत्तरिका वृद्धि दोनो का उल्लेख अभयदेव की समवायाग वृत्ति मे है।[१६] नन्दी और समवायाग इन दोनो ग्रन्थो मे प्रस्तुत एक ही आगम का विवरण भिन्न-भिन्न प्रकार से उपलब्ध है। नन्दी की विषय-सूची से समवायाग की विषय-सूची अधिक विस्तृत है। इस आगम मे भी स्थानांग शैली की समता है।

प्रस्तुत आगम का विषय स्थानांग की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। स्थानाग मे अधिक से अधिक दस प्रकार की वस्तुओ का वर्णन है। प्रस्तुत आगम मे आगे की सख्या वाली वस्तुओ का प्रतिपादन भी हुआ है। सौ, सहस्र-लाख, करोड से भी आगे प्रथम तीर्थंकर और अतिम तीर्थंकर का अन्तराल कोटा-कोटि सागर का बताकर सख्या और प्रकारो के वर्णन को अतिशय

उत्कर्ष पर चढा दिया है।

यह आगम भी स्थानांग की भांति अतिगभीर है। इस आगम का पाठी मुनि भी श्रुतस्थविर की गणना में आता है।

नन्दी-आगम मे समवायांग आगम का १,४४,००० पद्य परिमाण बताया है।[१४] वर्तमान मे इस आगम का वह विशाल रूप उपलब्ध नही है।

विआहपण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति)

यह पांचवा अङ्गागम है। भगवती नाम से वर्तमान मे इस आगम की प्रसिद्धि है। इसके मुख्य ४१ शतक हैं। आवान्तर शतकों की संख्या ६७ है। है। कुल १३८ शतक है। प्रथम ३२ शतक एव ४१वा शतक स्वतत्र है। ३३ से ३९ शतकों मे प्रत्येक के बारह-बारह आवान्तर शतक हैं। इस आगम का ४०वा शतक २१ शतको का समवाय है। उद्देशक सख्या १९२३ है। प्रश्नोत्तर शैली मे रचा गया, यह आगम ज्ञान का महासागर है। समवायाग और नंदीसूत्र के अनुसार इस आगम के शताधिक अध्ययन, दस हजार उद्देशक और दस हजार समुद्देशक एव छत्तीस हजार (३६०००) प्रश्नोत्तर थे।[१५] वर्तमान मे आगम का यह रूप उपलब्ध नही है। इसका लघु रूप ही प्राप्त है। पर ग्यारह अगों मे आज भी यह आगम सर्वतोधिक विशाल है। जैन-दर्शन सम्मत जीव-विज्ञान (जीयोलोजी) और परमाणु-विज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन इसमे है। अध्यात्म-विद्या का यह गभीर ग्रन्थ है।

ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। परिव्राजक स्कंदक का महावीर के पास दीक्षा ग्रहण, तुङ्गिया नगरी के श्रावको की पार्श्वापत्यों से धर्मचर्चा, तामली तापस को साधना, शिवराजर्षि की प्रव्रज्या, श्रावक सुदर्शन, शख-पोखली आदि के महत्त्वपूर्ण जीवन-प्रसंग, जयती के प्रश्नोत्तर, गोशालक का विस्तृत जीवन परिचय आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियो का उल्लेख इस ग्रन्थ मे प्राप्त है।

वर्तमान मे इस आगम का ग्रन्थमान लगभग सोलह हजार (१६०००) पद्य परिमाण माना गया है।

इस आगम पर अभयदेव सूरि की वि० स० ११२८ मे रचित १८६१६ श्लोक परिमाण विशाल सस्कृत टीका है।

जयाचार्य रचित साठ हजार (६००००) पद्य परिमाण भगवती जोड़ राजस्थानी भाषा का एक विशिष्ट व्याख्या ग्रन्थ है।

नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृ धर्मकथा)

यह छट्ठा अङ्गागम है। इसके नाया और धम्म कहाओ नामक दो श्रुतस्कंध हैं। दोनो का सयुक्त रूप 'नाया-धम्म-कहाओ' बनता है। आचार्य अकलंक ने प्रस्तुत आगम को ज्ञातृधर्मकथा[१५] एवं जय धवला टीका मे नाह-धम्मकथा कहा है। टीकाकारो ने नाया का अर्थ उदाहरण और धर्मकथा का अर्थ धर्मप्रधान कथा किया है।[१७]

इस ग्रन्थ मे नाना प्रकार के उदाहरण दृष्टात और धर्म आख्यायिकाएं हैं। आगम की शैली काव्य का-सा रसास्वादन करती है। विषय वर्णन हृदय-स्पर्शी है।

कथाओ के माध्यम से इस आगम ग्रन्थ मे तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव प्राकृतिक अनेक प्रकार के बिन्दु प्राप्त होते है।

इस आगम ग्रन्थ की गणना धर्मकथानुयोग मे की गई है। ग्रन्थगत कथाएं सरस एव शिक्षाप्रद हैं। कई कथाए अत्यन्त मार्मिक है। देश-देशातर की प्रचलित नाना कथाओ के साथ इस आगम की कथाओ का तुलनात्मक रूप शोध का रोचक विषय है।

यह आगम ग्रन्थ जनसाधारण के लिए भी सुग्राह्य और उपयोगी है। इस आगम की प्रत्येक धर्मकथा मे पांच-पाच सौ आख्यायिकाए, प्रति-आख्यायिका मे पांच-पांच सौ आख्यायिकाए एव प्रत्येक उपाख्यायिका मे पाच-पाच सौ आख्यायिकाए, उपाख्यायिकाएं थी। यह ज्ञातासूत्र सार्धत्रय कोटी कथाओ का संग्रह था।[१८] वर्तमान मे इस आगम का वह स्वरूप उपलब्ध नही है।

उवासगदसाओ (उपासकदशा)

यह सातवा अङ्गागम है। इसके दस अध्ययन है।[१९] भगवान् महावीर के बारह व्रतधारी दस उपासको के मुख्यत. साधनामय जीवन का इसमे वर्णन है। प्रथम अध्ययन मे श्रावक के बारह व्रतो का विस्तार से विवेचन है। श्रावक आचार संहिता को इस आगम के आधार पर सुगमता से समझा जा सकता है। श्रावक प्रतिमा साधना की भी विपुल सामग्री इस ग्रंथ मे उपलब्ध है।

यह आगम आनन्द आदि उपासको की अगाध धर्मनिष्ठा एव हृदय को कम्पा देने वाली कष्टकर स्थिति मे भी उनकी अटल नियमानुवर्तिता को प्रकट करता है।

श्रावक आचार संहिता को प्रमुख रूप से प्रस्तुत करने वाला यह आगम अङ्गागमो मे अपना मौलिक स्थान रखता है।

अंतगड़दशाओ (अन्तकृद्दशा)

यह आठवां अङ्गागम है। इसके दस अध्ययन हैं। जन्म-मरण की परपरा का अंत करने वाले दस महापुरुषो का वर्णन होने के कारण इस ग्रंथ का नाम अन्तकृद्दशा है। नदी सूत्र मे इसके आठ वर्ग बताए गए हैं।[४०] अध्ययनो की सख्या नही है। समवायाग सूत्र मे इसके १० अध्ययन और ७ वर्ग बताए हैं।[४१] चूर्णिकार ने दसा का अर्थ अवस्था किया है।

हरिभद्र के अभिमत से इस आगम के प्रथम वर्ग के दस अध्ययनो के आधार पर ग्रथ का नाम अन्तकृद्दशा है।[४२]

प्रस्तुत आगम ग्रथ के वर्णनानुसार भगवान् महावीर के सघ मे राजकुमार गजसुकुमाल, मालाकार अर्जुन, बाल-मुनि अतिमुक्तक, श्रेष्ठीपुत्र सुदर्शन आदि सभी जाति एव वर्ग के लोगो के लिए अध्यात्म साधना का द्वार समान भाव से खुला था।

अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा)

यह नौवा आगम है। अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले साधको का इसमे वर्णन होने के कारण ग्रथ का नाम अणुत्तरोपपातिकदशा है। इस ग्रथ के तीन वर्ग है।[४३]

समवायाग के अनुसार इसके दस अध्ययन और सात वर्ग हैं। प्रस्तुत आगम मे राजकुमारो और श्रेष्ठी कुमारो की विभुता का एव उनकी तपस्याओ का विस्तृत वर्णन है। गजसुकुमाल की ध्यान-साधना एव धन्यकुमार की तप: साधना का वर्णन विशेष रूप से प्रभावक है। इस आगम ग्रथ से तपोयोग की विशिष्टता का बोध होता है।

पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरण)

यह दसवां अग है। स्थानांग, नदी, तत्त्वार्थवार्तिक, जय धवला आदि ग्रंथो मे इस आगम का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह आज उपलब्ध नही है। नंदी के अनुसार इस सूत्र मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न तथा विविध विद्याओ और मत्रो का उल्लेख था।[४४] वर्तमान मे प्रश्नव्याकरण-सूत्र पाच आश्रव और पाच सवर द्वारो मे विभक्त है। यह स्वरूप नदी मे नही, नदीचूर्णी मे उपलब्ध है। अतः वर्तमान प्रश्नव्याकरण सम्भवत.

किसी स्थविर द्वारा नंदी आगम रचना के बाद और नदीचूर्णी से पहले रचा गया है।

विवायसुयं (विपाक-सूत्र)

यह ग्यारहवां अंग है। कर्मों के विपाक (फल परिणति) का वर्णन होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम विपाक है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं और २० अध्ययन हैं।[४५] श्रुतस्कध के नाम हैं—दुःख विपाक, सुख विपाक। नाम के अनुसार ही इन विभागो मे अपने विषय का वर्णन है। जैनकर्मसिद्धात के प्रायोगिक रूप को समझने के लिए यह ग्रन्थ विशेष पठनीय है।

दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)

यह बारहवा अङ्गागम है। इसमे विविध दृष्टियो एवं नयो का प्रतिपादन हुआ है। यह इस आगम के नाम से ही स्पष्ट है।

दृष्टिवाद के पाच विभाग है—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका।[४६] इनमे पूर्वगत विभाग मे उत्पाद पूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद आदि चतुर्दश पूर्वों का सार गर्भित है।

स्थानाग सूत्र मे दृष्टिवाद के दस पर्यायवाची नाम बताए गए हैं।[४७] उनमे एक नाम पूर्वगत भी है। नदी सूत्र मे दृष्टिवाद का सक्षिप्त परिचय उपलब्ध होता है। उसके अनुसार जिनप्रणीत समस्त भावो का निरूपण इस बारहवे अग म निर्दिष्ट है। वर्तमान मे यह बारहवां अग अनुपलब्ध है।

मल्लधारी हेमचद्र की विशेष आवश्यकवृत्ति मे कुछ भाष्य गाथाओं को पूर्वगत बताया है।

सर्वज्ञ श्री की उपलब्धि

आचार्य सुधर्मा उम्र मे भगवान् महावीर से आठ वर्ष ज्येष्ठ थे। धर्म-तीर्थ का सम्यक् सचालन करते हुए उन्हें बानवें वर्ष की वृद्ध अवस्था मे वी० नि० १२ (वि० पू० ४५८) मे सर्वज्ञ श्री की उपलब्धि हुई। अविकलज्ञान से मडित होकर प्रखर भास्वान् के समान वे भारत वसुधा पर चमके। सहस्रों-सहस्रो व्यक्तियो को उनसे दिव्यप्रकाश प्राप्त हुआ।

समय-संकेत

आचार्य सुधर्मा पच्चास वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। उन्हें तीस वर्ष तक भगवान् महावीर की सन्निधि प्राप्त हुई। वीर निर्वाण के बाद बारह

वर्ष का उनका छद्मस्थकाल और आठ वर्ष का केवलीकाल है। उनके जीवन का पूरा एक शतक प्रभावक जैनाचार्यों की प्रलम्बमान शृंखला की प्रथम कड़ी है।

वैभारगिरि पर मासिक अनशन के साथ श्रमण सहस्रांशु सुधर्मा वीर नि० २० (विक्रम पूर्व ४५०) मे देहबंधन को तोडकर आत्म-साम्राज्य के अधिकारी बने।

आचार्य सुधर्मा का धार्मिक परिवार कल्पवृक्ष की भांति विस्तार को प्राप्त हुआ है।[४८]

आधार-स्थल

१. (क) तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
त बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउ निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइ गथंति तओ पवयणट्ठा॥
(आवश्यक निर्युक्ति पद्य ८९-९०)

(ख) अत्थं भासइ अरहा सुत्त गथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ॥
(आवश्यक निर्युक्ति पद्य ९२)

(ग) "भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहिं गंथो कओ वाइओ य इति।"
(आवश्यक चूर्णि पृ० ३३४)

२ परिणिव्वुया गणहरा जीवते णायए णव जणाऊ।
(आवश्यक निर्युक्ति पद्य ६५८)

३. (क) यश्च यश्च कालं करोति स स सुधर्मस्वामिनो गण ददाति।
(आवश्यक निर्युक्ति मलयवृत्ति भाग २ पृ० ३३९)

४. षडङ्गी वेदाश्चत्वारो, मीमांसाऽन्वीक्षिकी तथा।
धर्मशास्त्रं पुराणश्च, विद्या एताश्चतुर्दश॥१७७॥
(अभिधान चिन्तामणि काण्ड)

५. अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः।
(आवश्यक निर्युक्ति वृत्ति पद्य १०६२)

६. सव्वसुरा जइ रूव अगुट्ठपमाणयं विउविज्जा।
जिणपायंगुट्ठं पइ न सोहए तं जहिंगालो॥

............तओ किंचूणं गणहराणं। तत्तो वि हीणं
आहारगसरीरस्स............तत्तो वि चक्कवट्टीण
हिणयरं............एवं विसिट्ठ रूव गणहराणं।
(विविध तीर्थकल्प—श्री महावीर गणधर कल्प पृ० ७६)

७. (क) तत्थ गणहराण नामाइं—(१) इंदभूई, (२) अग्गिभूई, (३) वाउभूई, (४) विउत्तो, (५) सुधम्मसामी, (६) मडिओ, (७) मोरिअपुत्तो, (८) अकंपिओ, (९) अचल भाया, (१०) मेअज्जो (११) पभासो य।

इंदभूइप्पमुहा तिन्नि सहोअरा मगहदेसे गोब्बरगामे उप्पन्ना। विअत्तो सुहम्मो य दो वि कोल्लागसनिवेसे। मडिओ मोरिअपुत्तो अ दो वि मोरिअसंनिवेसे। अकंपिओ मिहिलाए। अयलभाया कोसलाए। मेअज्जो वच्छदेसे तुंगिअसनिवेसे। पभासो रायगिहे।

जणओ तिण्ह सोअराण वसुभूई विअत्तस्स धणमित्तो। अज्ज-सुहम्मस्स धम्मिलो। मंडिअस्स धणदेवो। मोरिअपुत्तस्स मोरिओ। अकंपिअस्स देवो। अयल भाउणो वसू। मेअज्जस दत्तो। पभा-सस्स बलो।

(विविध तीर्थकल्प पृ० ७५)

(ख) एक्कारसवि गणहरा सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा।
पावाइ मज्झिमाए समोसढा जन्नवाडम्मि ॥५९२॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति भाग २, पत्रांक ३११)

८. गिहत्थ परिआओ-इंदभूइणो पन्नास वासाइ, अग्गिभूइस्स छाया-लीस, वाउभूइस्स बायालीस वियत्तस्स पन्नास, सुहम्मसामिस्स वि पन्नास, मंडियस्स तेवण्णा, मोरियपुत्तस्स पणसट्ठी, अकंपियस्स अडयालीस, अयलभाउणो छायालीस, मेअज्जस्स छत्तीस, पभा-सस्स सोलस त्ति।

(विविध तीर्थकल्प पृ० ७५)

९. ससओ—इंदभूइस्स जीवे। भगवया महावीरेण छिन्नो। अग्गिभूइणो कम्मे। वाउभूइणो तज्जीव-तस्सरीरे। विअत्तस्स पचमहाभूएसु। सुहम्मसामिणो जो जारिसो इह भवे, परभवे वि सो तारिसो नेव त्ति मडिअस्स बध-मुक्खेसु। मोरिअपुत्तस्स देवेसु। अकपिअस्स नरएसु। अयलभाउणो पुन्न-पावेसु। मेअज्जस्स परलोए। पभासस्स निव्वाणे ति।

(विविध तीर्थकल्प पृ० ७५)

१०. हे इंदभूइ ! गोयम ! सागये मुत्ते जिणेण चितेइ ।
नामंपि मे विणाअइ अहवा को म न याणेइ ।।१।२५।।
(आवश्यक निर्युक्ति मलयवृत्ति, भाग २, पृ० ३१३)

११. जग्रन्थुद्वादशाङ्गीं भवजलधितरी ते निषद्यात्रयेण ।।२।।
(अपापाकल्प विविध तीर्थकल्प पृ० १२५)

१२. मम णव गणा एकारस गणधरा ।
(ठाणं ९।६२)

१३ समवायाङ्ग ।

१४ जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी ।
(तिलोयपण्णत्ति महा० ४)

१५ आसीत् सुधर्मा गणभृत्सु तेषु श्री वर्धमान प्रभुपट्टधुर्य. ।।११।।
(पट्टावली समुच्चय श्री महावीर पट्टपरपरा पृ० १२१)

१६ औपपातिक १।५४, "पीइदाण दलइ" ।

१७ औपपातिक १।७६ ।

१८ ज रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थकरो महावीरो ।
त रयणिमवन्तीए, अभिसित्तो पालओ राया ।।६२०।।
(तित्थोगाली पइन्नय)

१९ इतो य उज्जेणीए पज्जोतसुता दोण्णि पालओ गोपालओ य, गोपाल-ओ पव्वइतो पालगो रज्जे ठितो ।
(आवश्यक चूर्णि भा० २ पृ० १८९)

२० अधुनैकादशाङ्ग्यस्ति सुधर्मास्वामिभाषिता ।।११४।।
(प्रभावक चरित, पत्राक ५८)

२१ सव्वेसिआयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए ।
सेसाइ अगाइं एक्कारस आणुपुव्वीए ।।८।।
(आचाराङ्ग निर्युक्ति)

२२. से णं अगट्ठयाए पढमे अगे, दो सुयक्खधा, पणुवीस अज्झयणा·······
(नन्दी सूत्र सख्या ८७ पृ० ७५ पक्ति १)
नदी—(सशोधक सपादक मुनि पुण्यविजयजी)

२३ अट्ठारस पयसहस्साइं पदग्गेणं ।
(नदी सूत्र सख्या ८७ पृ० ७५ पक्ति २-३)

२४. णव बंभचेरमइयो अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ ।
हवइ य सपचचूलो बहु-बहुतरओ पयग्गेण ॥१॥
(समवायाङ्ग टीका)

२५. भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम् ।
तथा विचित्रचर्या च तानि चैतानि नामत ॥६८॥
अप्येकया वाचनया मया तानि धृतानि च ।
उद्गीतानि च सङ्घाय तत्तथाख्यानपूर्वकम् ॥६६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

२६ त जहा—णाणायारे, दसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे वीरियायारे ।
(नदी सूत्र सख्या ८७)

२७. सुत्तकडं, सूतगड, सूयकड चेव गोण्णाइ ।
(सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा-२)

२८ से ण अगट्ठयाए बिइए अगे, दो सुयक्खधा, तेवीस अज्झयणा·······
(नदी सूत्र सख्या ८८)

२६. अधुना अवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्य द्वितीयमङ्ग व्याख्यातुमारभ्यते ।
(सूत्रकृताग वृत्ति पत्र-१)

३० से एवआया··········चरणकरणपरूवणा··········
(नदी सूत्र सख्या ८८)

३१. से ण अगट्ठयाए तइए अगे, एगे सुयक्खधे, दस अज्झयणा····· ···
(नदी सूत्र सख्या ८६)

३२. समवयन्ति वा—समवतरन्ति सम्मिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावा अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवाय इति ।
(समवायाग वृत्ति पत्र-१)

३३. तत्र शत यावदेकोत्तरिका परतोऽनेकोत्तरिकेति ।
(समवायाग वृत्ति पत्र १०५)

३४ एगे चोयाले पदसयसहस्से पदग्गेण ।
(नंदी सूत्र संख्या ६० पृ० ८०)

३५. से णं अंगट्ठयाए पचमे अंगे, एगे सुयक्खधे एगे सातिरेगे अज्झयणसते दस उद्देसगसहस्साइ, दस समुद्देसगसहस्साइ, छत्तीसं वाग-

रणसहस्साइं………

(नंदी सूत्र संख्या ६१)

३६. तत्त्वार्थ वार्तिक १।२० पृ० ७२।

३७ ज्ञातानि—उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा।

(समवायांग वृत्ति पत्र १०८)

३८. तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पच पच अक्खाइओवक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धु-ट्ठाओ कहाणगकोडीओ भवति त्ति मक्खाय।

(नदी सूत्र संख्या ६२)

३६. से ण अगट्ठयाए सत्तमे अगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा।

(नदी सूत्र संख्या ६३)

४० से ण अगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुयक्खधे, अट्ठवग्गा।

(नदी सूत्र संख्या ६४)

४१ दस अज्झयणा सत्त वग्गा।

(समवाय सूत्र ६६)

४२ प्रथमवर्गेदशाध्ययनानीति तत्संख्यया अन्तकृद्दशा इति।

(नदी वृत्ति पृ० ८३)

४३ णवमे अगे एगे सुयक्खधे, तिण्णि वग्गा।

(नदी सूत्र सख्या ६५)

४४. पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तर पसिणसयं, अट्ठुत्तर अपसिणसयं अट्ठुत्तर पसिणाऽपसिणसयं, अण्णे वि विविधा दिव्वा विज्जा-तिसया…………आघविज्जंति।

(नदी सूत्र सख्या ६६)

४५. से ण अगट्ठयाए एक्कारसमे अगे, दो सुयक्खधा वीस, अज्झयणा।

(नदी सूत्र सख्या ६७)

४६. से समासओ पचविहे पण्णत्ते त जहा—परिकम्मे, सुत्ताइ, पुव्वगए, अणुओगे, चूलिया।

(नदी सूत्र संख्या ६८)

४७. दिट्ठिवायस्स णं दस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा दिट्ठिवाएति वा, हेउवाएति वा, भूयवाएत्ति वा, तच्चावाएति वा, सम्मावाएति वा,

धम्मावाएति वा, भासाविजएति वा, पुव्वगतेति वा, अणुओगगतेति वा, सव्वपाणभूतजीवसत्तसुहावहेति वा ।

(स्थानांग सूत्र, ठा० १०, सू० ९२)

४८. सोहम्म मुणिनाह पढम वदे सुभत्ति सजुत्तो ।
जस्सेसो परिवाउ, कप्परुक्खुव्व वित्थरिउ ॥२॥

(हिमवंत स्थविरावली)

२. ज्योतिपुञ्ज आचार्य जम्बू

आचार्य जम्बू तीर्थङ्कर महावीर के द्वितीय उत्तराधिकारी थे। उनका साधनामय जीवन अध्यात्म के समुन्नत स्तम्भ का जगमगाता दीप था। युग-पर-युग आये और बीत गए पर उस ज्योतिर्मय जीवन दीप की निर्धूम शिखा समय की परतो को चीरकर अकम्प जलती रही है और जन-जन के पथ को आलोकित करती रही है।

गुरु-परम्परा

जंबू के गुरु आचार्य सुधर्मा थे। वीर निर्वाण के बाद श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा के द्वारा सर्वप्रथम मुनि-दीक्षा जंबू को प्रदान की गई थी। जम्बू ने आचार्य सुधर्मा से द्वादशाङ्गी का गंभीर अध्ययन किया। वे चतुर्दश पूर्वो की विशाल ज्ञान राशि को भी उनसे ग्रहण करने मे सफल हुए। अतः मुनि जबू के लिए दीक्षा-गुरु की भूमिका और शिक्षा-गुरु की भूमिका दोनों प्रकार की भूमिकाओ के दायित्व को निभाने वाले आचार्य सुधर्मा थे। आचार्य सुधर्मा से पूर्व की गुरु-परंपरा तीर्थंकर महावीर से सम्बन्धित थी।

जन्म एवं परिवार

जबू का जन्म वी० नि० पू० १६ (वि० पू० ४८६) में राजगृह निवासी वैश्य परिवार मे हुआ। राजगृह मगध की राजधानी थी। जंबू के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। यथानाम तथा गुणसपन्न समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, कनकवती, जयश्री नामक जबू की आठ पत्नियां थी। आठो पत्नियो के माता-पिता के नाम क्रमश: ये थे :—

माता के नाम— (१) पद्मावती, (२) कनकमाला, (३) विनयश्री, (४) धनश्री, (५) कनकवती, (६) श्रीषेणा, (७) वीरमती, (८) जयसेना।

पिता के नाम—(१) समुद्रप्रिय, (२) समुद्रदत्त, (३) सागरदत्त, (४) कुबेरदत्त, (५) कुबेरसेन, (६) श्रमणदत्त, (७) वसुषेण, (८) वसुपालित।[1]

जीवन वृत्त

राजगृह को जंबू की जन्मभूमि होने का सौभाग्य मिला, वह उस समय जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र थी। सम्राट् श्रेणिक के शासनकाल मे उसकी शोभा स्वर्गतुल्य थी।[१] ऋषभदत्त राजगृह का इभ्य श्रेष्ठी था। लक्ष्मी की अपार कृपा थी। गगनचुम्बी अट्टालिका, मणिरत्नो से जटित छते और स्वर्णकणो से चमकती पीताभ दीवारे ऋषभदत्त के समृद्ध जीवन की प्रतीक थी।

धारिणी सद्धर्मचारिणी महिला थी। गजगामिनी, मरालमनीषा, प्रबुद्धविवेक, वाणी-माधुर्य आदि गुण धारिणी के जीवन के अलङ्कार थे। सब तरह से सुखी होते हुए भी धारिणी पुत्राभाव से चिन्तित रहती थी।

एक दिन धारिणी के गर्भ मे महान् तेजस्वी विद्युन्माली देव का जीव अवतीर्ण हुआ। उस समय धारिणी ने स्वप्न मे श्वेतसिंह देखा[२]। जसमित्र नामक निमित्तज्ञ ने धारिणी को बताया था—"जिस दिन पुत्र का गर्भावतार होगा, तुम श्वेतसिंह का स्वप्न देखोगी। निमित्तज्ञ के द्वारा की गई घोषणा के अनुसार धारिणी को विश्वास हो गया कि वह अवश्य ही सिंह शावक के समान शक्तिशाली पुत्र को जन्म देगी।

धारिणी शिष्ट, सुदक्ष और सुशिक्षित नारी थी। वह जानती थी, गर्भस्थ डिम्ब माता से भोजन ही ग्रहण नही करता, अपितु जननी के आचार-विचार-व्यवहार के सूक्ष्म सस्कारो को भी ग्रहण करता है। सदाचारिणी माता की सन्तान अधिकाश सदाचारिणी होती है। मनोविज्ञान की इस भूमिका से सुविज्ञ धारिणी गर्भस्थ शिशु को सुसस्कारी बनाने के लिए विशेष सयम से रहने लगी और जागरूक रहकर धर्माराधना करने लगी।

गर्भस्थिति पूर्ण होने पर स्वप्न के अनुसार धारिणी ने तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया। माता ने गर्भ धारण की स्थिति मे जबू द्वीपाधिपति देव की १०८ आयम्बिल तप के साथ विशेष रूप से आराधना की थी अत. शुभ मुहूर्त एव उल्लासमय वातावरण मे बालक का नाम जंबू रखा गया।[३]

बालक जबू रूपसपन्न और तेजस्वी था। अनुक्रम से जबू के जीवन का विकास हुआ। सोने के चमच से दुग्धपान करने वाला और मखमली गद्दो मे पलने वाला शिशु सयमपथ का पथिक बनेगा यह ?

अत्यन्त सुकुमार और सरल स्वभावी जबू ने किशोरावस्था मे प्रवेश पाया। उनके जीवन मे विनय आदि अनेक गुण विकसित हुए। यौवन के

द्वार पर पहुंचने से जबू का देदीप्यमान रूप खिल गया। काम को भी अभिभूत कर देने वाली आठ रूपवती कन्याओ के साथ जंबू का १६ वर्ष की अवस्था में सबध कर दिया।

जीवन मे कभी-कभी ऐसे सुनहले क्षण होते है जो जीवन को सर्वथा नया मोड देते हैं। एक दिन जंबू ने मगध सम्राट् श्रेणिक के गुणशील नामक उद्यान मे आचार्य सुधर्मा का भवसन्तापहारी प्रवचन सुना[१]। उनके सरल हृदय पर अध्यात्म का गहरा रग चढ़ गया।

जन्म-जन्मान्तर की अनन्तकालिक अविच्छिन्न परंपरा को उच्छिन्न करने के लिये जबू उद्यत हुए।

आचार्य सुधर्मा के पास जाकर जबू ने प्रार्थना की—"महामहिम मुनीश ! मुझे आपकी वाणी से भौतिक सुखो की विनश्वरता का बोध हो गया है, मैं अब शाश्वत सुख प्रदान करने वाले सयम मार्ग को ग्रहण करना चाहता हू।"

आचार्य सुधर्मा भव-भ्रमण भेदक दृष्टि का बोध कराते हुए बोले—"श्रेष्ठि-पुत्र ! सयमी जीवन का अमूल्य क्षण महान् दुर्लभ है। धीर पुरुषो के द्वारा यही पथ अनुकरणीय है। तू पल भर भी प्रमाद मत कर।"

जबू का मन शीघ्रातिशीघ्र मुनि-जीवन मे प्रविष्ट होने के लिए उत्सुक था। परन्तु सद्य. दीक्षित हो जाना जबू के वश की बात नही थी। इस महापथ पर बढने के लिये अभिभावको की आज्ञा आवश्यक थी।

जबू के निर्देश पर सारथि ने रथ की धुरी को घर की ओर उन्मुख कर दिया। तीव्र गति से दौडते हुए अश्वचरण जनाकीर्ण नगर द्वार तक आकर रुक गए। वाहनो की बहुलता के कारण आगे जाने का मार्ग अवरुद्ध था। मार्ग प्राप्ति की प्रतीक्षा मे अत्यधिक काल-विक्षेप की सभावना विरक्त जबू के लिए असह्य हो गई। स्वामी के सकेत की क्रियान्विति करते हुए सारथि ने रथांगो (रथ के चक्को को) को नगर के द्वितीय प्रवेश द्वार की ओर घुमा दिया।

निर्दिष्ट प्रवेश-द्वार के निकट पहुंचकर जंबू ने देखा—लपलपाती तलवारो, सुतीक्ष्ण भालो, भारी भरकम गोलको, वपु विदारक कटारो, महाशिलाखण्ड की आकृति के भयानक शस्त्रो से द्वार का उपरितन भाग सुसज्जित था। यह सारा कार्य परचक्र के भय से सावधान रहने के लिए किया गया था। जबू ने सोचा—"शत्रुसहार के लिए धागे से लटकते हुए

शतघ्नी आदि ये शस्त्र, ये भारी-भरकम लोहमय गोलक मौत का महा निमंत्रण है। किसी समय जीवन-समाप्ति की सूचना है, चेतना के जागरण का आह्वान है और श्रेयकार्य को कल पर न छोडने की तीव्र ललकार है। द्वार को पार करते समय किसी भी शस्त्र के पतन की दुर्घटना मेरे रथ पर भी घटित हो सकती है। उस समय मैं, मेरा रथ तथा सारथि कोई भी नही बच सकता[1]।

जबू के हृदय मे ज्ञान की दिव्य किरण उदित हुई। रथ वापस मुडा। आचार्य सुधर्मा के पास पहुचकर जबू ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन की प्रतिज्ञा की।

जबू का रथ त्वरित गति से चलता हुआ पुनः घर की ओर बढा। माता-पिता के पास पहुचकर जबू ने उन्हे प्रणाम किया और बोला—आचार्य सुधर्मा से मैने अध्यात्म प्रवचन सुना है। मैंने मुनि बनने का निर्णय ले लिया है। आपके द्वारा अब आदेश प्राप्त करने की प्रतीक्षा है[2]।

पुत्र की बात सुनकर ऋषभदत्त का मुख म्लान हो गया। माता धारिणी की ममता रो पडी। नयन का सितारा, कुल का जगमगाता दीप, हृदय का हार, अपार सपत्ति को भोगने वाला जबू उनका इकलौता पुत्र था। अप्सरा-सी सुन्दर आठ कन्याओ के साथ उसका सबन्ध पहले ही निर्णीत हो गया था। विवाहान्तर पुत्र के भोग-सपन्न सुखी जीवन को देखने की उनकी इच्छा अत्यन्त प्रबल हो रही थी।

मोह विमूढ माता-पिता ने जबू के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—'पुत्र ! तुम ही हमारे लिये आधार हो। वार्धक्य मे यष्टि की भांति आलबन हो। तुम्हारा विवाह रचकर उल्लासमय दिन देखने के हमने स्वप्न सजोये थे। वधुओ के आगमन की और पौत्र-दर्शन की भी आनन्दमयी कल्पना की थी। हमारी कामना को सफल करो और आठ वधुओं के साथ इस लक्ष्मी वधू का भी सानन्द भोग करो।' और भी नाना प्रकार के प्रलोभन दिए गए, पर किसी प्रकार का प्रलोभन जबू को अपने लक्ष्य से विचलित न कर सका। उसके मानस मे ज्ञान की अकप लौ जल रही थी। जनक-जननी का आखिरी प्रस्ताव था—'पुत्र ! हम तुम्हारे इस कार्य मे विघ्न बनना नही चाहते, पर आठ कन्याओ के साथ तुम्हारा सबध हो गया है। विवाह के लिये हम वचनबद्ध है। तुम्हारे इस कार्य से उनके साथ धोखा होगा। हमारा वचन भी भग होगा। वत्स ! तुम हमेशा हमारे आज्ञाकारी पुत्र रहे हो। अब भी

हमारी बात को स्वीकार करो। आठो कन्याओ के साथ पाणिग्रहण की अनुमति प्रदान करो विवाह के बाद हमारी ओर से तुम्हारे मार्ग मे कोई बाधा उपस्थित नही होगी। प्रत्युत् हम भी तुम्हारे साथ ही प्रव्रजित बनेगे।'

जंबू जानता था—पाणिग्रहण के बाद उन आठो पत्नियो की आज्ञा आवश्यक होगी। यह विघ्न निश्चित दिखाई दे रहा था। पर माता-पिता के युक्ति-सगत कथन को इस बार टाल न सका। अपने साथ अभिभावक भी दीक्षित बनेंगे—यह दुगुने लाभ की बात वणिक पुत्र को अधिक प्रभावित कर गई। जंबू कुछ झुका। उसने विवाह के लिये स्वीकृति दे दी। यह स्वीकृति-रीति-निर्वहण मात्र थी। ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा मे वह अब भी मन्दराचल की तरह अचल था।

जबू के दृढ सकल्प की बात कन्याओं के अभिभावको को भी बता दी गई। इस सूचना से वे चिन्तित हुए। उनमे परस्पर विचार-विमर्श प्रारंभ हुआ। व्यामोह के कारण वे किसी एक निर्णय पर नही पहुंच पा रहे थे। यह चर्चा कन्याओ के कानो तक भी पहुंची। उन्होने दृढ स्वर से अपने अभिभावको से कहा—'आपके द्वारा जबू के साथ हमारा वाग्दान हो गया है। हमने भी जबू को वर रूप मे स्वीकार कर लिया है। अब हमारा वर दूसरा नही हो सकता। राजा और सत पुरुषो द्वारा वचन दान एक बार ही किया जाता है और कन्याओ का दान भी एक बार ही होता है'। हमारे प्राण अब श्रेष्ठीकुमार जबू के हाथ मे हैं।

कन्याओं का निश्चय सुनकर अभिभावको के विचार भी स्थिर हुए। सबने यही सोचा माता-पिता के स्नेहिल आग्रह ने पुत्र को विवाह हेतु प्रस्तुत कर लिया, तो ललनाओ का आग्रह भरा अनुनय भी जबू के संयमार्थ बढते चरणो को अवश्य रोक लेगा। नैमित्तिक को पूछकर उस दिन से सातवे दिन विवाह लग्न निश्चित हुआ। ऋषभदत्त के मानस मे हर्ष की लहर पुनः दौड गई। धारिणी के पैरा मे घुघरू बंध गए। स्वजन, स्नेही कुटुम्बजन उत्सव की तैयारी मे लगे। सारा वातावरण ही उल्लास से भर गया। आनन्द प्रदायिनी मंगल बेला मे धूम-धाम से जबू का विवाह-सस्कार संपन्न हुआ। यथा नाम तथा गुण वाली समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, रूपश्री और जयश्री इन आठो रूपवती कन्याओ के साथ जबू ने घर मे प्रवेश किया। किसलय सी सुकुमार, भूषणालकृत पुत्रवधुओ और पुत्र जंबू को देखकर धारिणी आनन्द विभोर हो गई। महिलाओ ने मंगल गीत

गाए और रीति-रश्म के साथ वर-वधुओ का वर्धापन किया। ऋषभदत्त का आंगन जबू के दहेज से प्राप्त निन्यानवे करोड की धन राशि से शीशमहल की तरह चमक उठा था।

अपने माता-पिता की प्रसन्नता हेतु जम्बू ने विवाह किया था। उत्सव के इस प्रसंग पर विविध वाद्यो की मनमोहक झकार, कोकिल-कठो से उठते सगीत एवं गुलाबी रग मे उछलती खुशिया विरक्त जम्बू के मन को मुग्ध न कर सकी।

रात्रि के नीरव वातावरण मे ससार नीद की गोद मे सोया था, पर ऋषभदत्त के घर भारी हलचल थी।

एक ओर प्रभव प्रमुख पाच-सौ चोर घर मे घुसकर दहेज मे प्राप्त प्रचुर धन राशि को तत्परता से बटोर रहे थे। दूसरी ओर ऋषभदत्त के उपरितन प्रासाद मे अप्सरा-सी आठो पत्नियो के मध्य बैठा, जम्बू राग-भरी रजनी में त्याग और विराग की चर्चा कर रहा था।

समुद्र श्री आदि आठ कन्याओ ने मूर्ख किसान--बक, वानर-युगल, नूपुर-पण्डिता विलासवती, शख-धमक, बुद्धि-सिद्धि, ग्रामकूट-पुत्र, मा-साहस पक्षी, चतुर-ब्राह्मण कन्या नाग श्री, ये आठ कथाए क्रमश जम्बू को ससार मे मुग्ध करने को कही थी। जम्बू ने भी काकपक्षी, अगार-दाहक, मेघरथ-विद्युन्माली, यूथपति-वानर, जात्यश्व, घोडी-पालक तीन मित्र, ललिताङ्ग, तीन वणिक् और खदाने, आख्यान-चिन्तामणि (द्रव्याटवी भवाटवी) इन कथाओ के द्वारा पत्नियो के मन का समाधान किया।

समुद्र श्री आदि आठो ने क्रमश एक-एक कथा कही। जम्बू ने भी प्रत्येक कथा के उत्तर मे एक-एक कथा कही। अन्तिम दो कथा अधिक कहकर सबको वैराग्य रस से परिप्लावित कर दिया। जम्बू के प्रत्येक स्वर मे अन्तर्मुखता की लहर उठ रही थी। कामिनियो के काम-बाण जम्बू को परा-भूत करने मे निष्फल रहे। वनिताओ का विकार भाव उसके चित्त को तथा चतुर चोरो का दल उसके वित्त को हरण न कर सका।[१] प्रत्युत् जम्बू द्वारा प्रस्तुत अध्यात्म-चर्चा से मृगनयनी आठो पत्नियो के मानस का भी अन्धकार मिट गया। वासनाशक्ति क्षीण हो गई। वे जम्बू के साथ दीक्षित होने को तैयार हो गई। आगे से आगे बढती हुई वैराग्य की सबल तरगो ने सारे वातावरण को बदल दिया। ऋषभदत्त, धारिणी, आठो पत्नियो के माता-पिता और पांच-सौ चोरो का एक सबल दल भी सयम-साधना के पथ पर

बढने के लिए उत्सुक बना ।

दिगम्बर परम्परा मे कवि 'वीर' रचित जम्बू स्वामी चरित्र ग्रन्थ के अनुसार जम्बु के पिता का नाम अर्हद्दास और माता का नाम जिनमती था । जम्बू पूर्वभव मे विद्युन्माली देव था । यह विद्युन्माली देव जब जिनमती के गर्भ मे आया उस समय जिनमती ने स्वप्न मे जम्बूफलो का गुच्छा, निर्धूमाग्नि, धानभरा-खेत (शालि क्षेत्र) सरोवर, विशाल सागर को देखा था ।[१०] गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर जिनमती ने रूपवान्-भाग्यवान्-कान्तिमान्, तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । पुत्र का नाम जबू कुमार रखा गया । युवावस्था मे जबू का पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री, रूपश्री इन चारो श्रेष्ठी कन्याओ के साथ सबध कर दिया था । इन चारो कन्याओ के पिताओ का नाम क्रमश समुद्रदत्त, कुबेरदत्त, वैश्रवण और धनदत्त था एव माताओ का नाम पद्मावती, कनकमाला, विनयमाला एव विनयमती था ।

आचार्य सुधर्मा के द्वारा बोध प्राप्त कर जबू मुनि-दीक्षा ग्रहण के लिए प्रवृत्त हुआ पर माता-पिता के आग्रह से जबू ने विवाह स्वीकृति दी । उल्लासमय वातावरण मे विवाह-विधि अक्षय तृतीया के दिन सम्पन्न हुई ।[११] प्रचुर धनराशि दहेज मे वरवधू का प्रदान की गई ।[१२] मनमोहक सुहाग रात मे चारो पत्नियो ने अनेक प्रकार के हाव-भाव से जबू को मोहित करने का प्रयत्न किया, पर जबू अपने निश्चय पर अटल था । उसके वैराग्य का निर्झर भीतर से बह रहा था । उस रात को हस्तिनापुर के महाप्रतापी राजा विश्वम्भर और महारानी श्रीवेणा का पुत्र विद्युच्चर[१३] चोरी करने के लिए श्रेष्ठी अर्हद्दास के घर मे घुसा था । महापुराण ग्रन्थ के अनुसार विद्युच्चर पोदनपुर के राजा विद्युत्राज एव रानी विमलमती का पुत्र था । वह अपने ५०० साथियो सहित चोरी करने आया था ।[१४]

श्रेष्ठी अर्हद्दास के घर मे इधर-उधर से धन बटोरता हुआ विद्युच्चर चोर, जबू के शयन-कक्ष तक पहुच गया था । नव-विवाहित जम्बू और उसकी पत्नियो के बीच हो रहे वार्तालाप को सुनने के लिए दीवार से सटकर वह खडा हो गया अपने कान उसने कपाट पर लगा दिए थे ।

किसलय-सी सुकुमार कामिनियो के बीच जम्बू स्थिर योग की मुद्रा मे बैठा था । वैराग्य भाव एवं सौम्य भाव की तरङ्गो से प्रासाद का वातावरण तरङ्गायमान था । प्रभव ने ऐसा दृश्य पहली बार देखा था । जम्बू की महान् कल्याणकारी वाणी को सुनकर वह ठिठक गया । उसे अध्यात्म की सच्चाई

का पहली बार अनुभव हुआ।

जम्बू की माता जिनमती पुत्र के वैराग्य से चिन्तित, उद्भ्रान्त और खिन्न-सी थी। नव वधुएं अपने राग-पाश बन्धन मे जम्बू को बांधने मे सफल हुई या नही इस बात को जानने के लिए वह भी महल के पास आई। उसने दीवार से सटकर खडे व्यक्ति को देखा और वह निडर भाव से बोली—"अधेरे मे छुपकर कौन खडा है ?" तभी विद्युच्चर ने जिनमती से कहा "मा मै विद्युच्चर नाम का प्रसिद्ध चार हू।" "मदिरु तं न ज न मूसिउ" मेरी समझ मे ऐसा कोई घर नही है जिसे मैने नही लूटा। एक तेरा ही घर बचा है जहां आज मै चोरी करने आया हू।"

जिनमती बोली—'गिण्हहि दविणु पुत्र जं रुच्चइ' पुत्र जो तुझे जरूरत है वह ले जाओ। मेरा यह इकलौता कुलदीप पुत्र प्रभात होते ही मुनि-दीक्षा स्वीकार करने वाला है। अब हमे अधिक धन से प्रयोजन ही क्या है।" विद्युच्चर बोला—"मा! तेरे पुत्र और पुत्र-वधुओ की अध्यात्म चर्चा सुनकर और जम्बू के सौम्य चेहरे को दूर से ही देखकर मेरा मन बदल गया। मैं अब चोरी नही करूगा। मा एक बात और बता देता हूं—"मैं वशीकरण, स्तम्भन, सम्मोहन विद्या को भी जानता हू, आप मुझे जम्बू के चरणो तक पहुचा दो। मैं उसे भोगो के वशवर्ती बनाने मे समर्थ हू।" विद्युच्चर की बात सुनकर जिनमती को आश्वासन मिला, उसने शयन कक्ष के द्वार खटखटाये। पुत्र को सबोधित करती हुई वह बाहर मे ही बोली—"जम्बू तुम्हारे मामा आए हैं।" उनका यहा आना तुम्हारे जन्म के बाद पहली बार हुआ है। आज रात को ही वे लौट जाने वाले हैं। अत अपने मामा का सम्मान करो और उनसे मिलो।" जिनमती की सहायता से विद्युच्चर जम्बू के समीप पहुंच गया। जम्बू ने मामा समझ विशेष सम्मान दिया। चारो नवविवाहित वधुओ, विद्युच्चर चोर तथा जम्बू कुमार के बीच रोचक सवाद चला, अन्त मे जम्बू की विजय हुई। विद्युच्चर ने भी अपना असली परिचय दिया और जम्बू मुनि-दीक्षा लेने को तैयार हो गए।

अभिनिष्क्रमण और दीक्षा

प्रभात के समय विशाल जनसमूह के साथ वैरागी जम्बू का मुनि-दीक्षा स्वीकार करने के लिए घर से अभिनिष्क्रमण हुआ। वाद्य बज रहे थे। मंगल गीत गाए जा रहे थे। जम्बू का रथ आगे बढ रहा था। जबूद्वीप के अधिपति अनादृत (अणाढिय) देव ने अभिनिष्क्रमणोत्सव मनाया। मगधाधिपति

कोणिक का भी चतुरङ्गिनी सेना के साथ इस महोत्सव प्रसङ्ग पर आगमन हुआ। दीक्षार्थी को संबोधित करते हुए मगध नरेश ने कहा—

"ता सकयत्थो जम्मो पसंसणीय च तुह कुलं अज्ज।
छेत्तूण जेण मोह पडिवन्नो उत्तम मग्गं ॥५०६॥
जम्बू चरिय, उ० ६

"धीर पुरुष ! तुम्हारा जन्म कृतार्थ हुआ। तुम्हारा कुल प्रशसनीय बना है। मोह का परित्याग कर तुमने उत्तम मार्ग ग्रहण किया है।"

"आइससु धीर। इण्हि ज कायव्व मए किंचि।" ५२२॥
जबू चरियं, उ० ६

"नरवर ! हमारे द्वारा जो भी करणीय है उसे मुक्त भाव से कहो।" जबू ने प्रभव की ओर सकेत कर रहा—"नरश्रेष्ठ ! यह प्रभव चोर वैराग्य भाव को प्राप्त कर मेरे साथ मुनि बनने जा रहा है। आपके राज्य मे इसने जो भी अपराध किए हैं आज से इसे क्षमा कर दे।

"नरनाहेण भणिय कुणसु अविग्घेण एस सामणा।
खमिय सव्व पि मए एयस्स महाणुभावस्स ॥५२६॥
जबू चरिय, उ० १६

जबू के प्रत्युत्तर मे नरेश्वर कोणिक ने कहा—"अविघ्न भाव से श्रमण धर्म को स्वीकार करें। मैं इस महानुभाव के समग्र अपराधो को क्षमा करता हू।

नरवर कोणिक का आशीर्वाद प्राप्त कर जंबू और प्रभव परम प्रसन्नता को प्राप्त हुए।

दिगम्बर ग्रन्थो के अनुसार जबू के अभिनिष्क्रमण के समय सम्राट् श्रेणिक उपस्थित हुए। उन्होने श्रेष्ठी कुमार जबू को आभूषणो से सुसज्जित किया।[१७]

श्वेताम्बर ग्रन्थो के अनुसार सम्राट् श्रेणिक का देहावसान सर्वज्ञ श्री सप्तम तीर्थङ्कर महावीर के समय मे ही हो गया था। अत इस प्रसङ्ग पर नरवर कोणिक उपस्थित थे।[१८]

आचार्य सुधर्मा के द्वारा श्रेष्ठीकुमार जबू ने ५२७ व्यक्तियो के साथ वी० नि० १ वि० पू० ४६६ मे राजगृह के गुणशीलचैत्य में मुनि-दीक्षा ग्रहण की।[१९]

दिगम्बर ग्रन्थो के अनुसार जबू को दीक्षा के साथ विद्युच्चर चोर-

माता जिनमती और पद्मश्री आदि महिलाओ ने भी श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। जिनमती आदि महिलाओ को सुप्रभा साध्वी का संरक्षण प्राप्त हुआ।[१०] आचार्य पद पर आसीन होते ही आचार्य सुधर्मा को इतने विशाल परिवार के साथ जंबू जैसे योग्य शिष्य का मिल जाना शुभङ्कर था।

मुनि जीवन में जम्बू

मुनि जंबू कुशाग्र बुद्धि के स्वामी थे। वे अपनी सर्वग्राही एव सद्य.-ग्राही प्रतिभा के द्वारा आचार्य सुधर्मा के अगाध ज्ञानसिंधु को अगस्त्य ऋषि की तरह पी गए।

आगम की अधिकाश रचना जबू के प्रिय सबोधन से प्रारभ हुई। "जंबू! सर्वज्ञ श्री वीतराग भगवान् महावीर से मैने ऐसा सुना है।" आचार्य सुधर्मा का यह वाक्य आगम-साहित्य मे अत्यन्त विश्रुत है।[११]

समग्र सूत्रार्थ ज्ञाता, विश्रुत कीर्ति, विविध गुणो के धारक जबू को आचार्य सुधर्मा ने अपने पद पर आरूढ किया। आचार्य पद ग्रहण के समय जबू की अवस्था ३६ वर्ष की थी। आचार्य पद ग्रहण का समय वी० नि० २० (वि० पू० ४५०) माना गया है।

पूर्व भवों में सुधर्मा और जम्बू

सुधर्मा और जबू का पूर्व के पाच भवो का इतिवृत्त ग्रन्थो मे मिलता है। प्रथम भव मे सुधर्मा और जबू दोनो मे भ्रातृ सबन्ध था। सुधर्मा का नाम भवदत्त और जबू का भावदेव था। भवदत्त ने भावदेव को बोध दिया और उसे दीक्षित कर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया था। भवदत्त एव भाव देव दोनो संयम की आराधना कर स्वर्ग मे गये। उसके बाद सागरदत्त और शिवकुमार नाम के दोनो राज कुमार हुए।

सागरदत्त का जन्म पुण्डरीकिणी नगरी मे और शिवकुमार का जन्म वीतशोका नगरी मे हुआ। सागरदत्त के पिता का नाम वज्रदत्त एव माता का नाम यशोधना था और शिवकुमार के पिता का नाम पद्मरथ और माता का नाम वनमाला था। सागरदत ने मुनि-दीक्षा ग्रहण कर शिवकुमार को बोध दिया। शिवकुमार ने उच्चकोटि की श्रावक-धर्म की आराधना की और बारह वर्ष तक कठोर तप किया। यहा से समाधि-मरण प्राप्त कर दोनो पुन देव हुए। देवायु को पूर्ण कर दोनो मनुष्य लोक मे आए। मनुष्य लोक मे ससार ने उनको सुधर्मा और जबू के नाम से पहचाना। सुधर्मा का जन्म ब्राह्मण परिवार में

और जबू का जन्म वैश्य परिवार मे हुआ। इस पाचवें भव मे भी श्रेष्ठी कुमार जंबू को आचार्य सुधर्मा से बोध प्राप्त हुआ—यह वर्णन वीर कवि रचित "जम्बू स्वामी चरिउ" ग्रन्थ मे है।

"जम्बू चरिउ" ग्रन्थ के रचनाकार गुणपाल ने मुनि सागरदत्त का उसी भव मे मोक्ष मान लिया हैं। शिवकुमार ने विद्युन्माली देव बनने के बाद जम्बू के रूप मे जन्म लिया था।

समकालीन राजवंश

जबू ने दीक्षा ली उस समय मगध पर श्रेणिक पुत्र कोणिक का एवं अवन्ति पर चण्डप्रद्योत-पुत्र पालक का शासन था। जंबू के आचार्य-काल मे राज सत्ताएं बदल गई थी। नरेश कोणिक का देहावसान आचार्य सुधर्मा के शासनकाल मे ही हो गया था। जंबू के शासनकाल मे मगध पर उदायी का शासन था। कोणिक की भाति उदायी मे भी जैनधर्म के प्रति गहरी निष्ठा थी। उदायी का देहावसान पौषध की स्थिति मे वी० नि० ६० में (वि० ४१०) हुआ था। इस समय आचार्य जबू के शासनकाल के ४० वर्ष व्यतीत हो गये थे। नरेश उदायी के सतान न होने के कारण इस समय मगध पर शिशुनागवशी शासको की सत्ता डगमगा गई। जंबू निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व की घटना है। मगध मे राजा का चयन करने के लिए मंत्रीगण की सलाह से हथिनी को घुमाया गया। मस्त चाल से चलती हुई हथिनी ने नापित पुत्र नद के गले मे वरमाला डाली। तीन शतक से भी अधिक समय तक शिशुनागवशी शासको द्वारा सम्यक् सचालित मगध का राज्य नन्दवश के हाथ मे आ गया और अवन्ति पर उस समय अवन्तिवर्धन का शासन था।

अवन्ति-नरेश पालक के दो पुत्र थे। अवन्तिवर्धन और राष्ट्रवर्धन। पिता पालक ने अपने शासन-काल के बीसवें वर्ष मे उत्तराधिकार पद पर ज्येष्ठ पुत्र अवन्तिवर्धन की एवं युवराज पद पर अपने द्वितीय पुत्र राष्ट्रवर्धन की नियुक्ति कर अपने राज्य को व्यवस्थित किया। उसके बाद पालक ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की।[११]

अवन्तिवर्धन के शासन-काल मे अवन्ति राज्य मे भारी उतार-चढाव आए थे। नरेश अवन्तिवर्धन का मन राष्ट्रवर्धन की पत्नी धारिणी के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया था। राष्ट्रवर्धन को अपने मार्ग मे बाधक समझ कर अवन्तिवर्धन ने मरवा दिया था। धारिणी अपनी इज्जत को बचाने के लिए जैन श्रमणी बनी। अवन्तिवर्धन ने भी जीवन से हताश होकर मुनि-

दीक्षा ग्रहण की और अपना उत्तराधिकार राष्ट्रवर्धन के पुत्र अवन्तिसेन को सौप दिया था।

कौसम्बी का शासन इस समय नरेश अजितसेन के हाथ मे था। अजितसेन के बाद नरेश मणिभद्र ने कौसम्बी राज्य का सचालन किया। मणिभद्र और अवन्तिसेन दोनो सहोदर थे एव राष्ट्रवर्धन के पुत्र थे।

ये तीनो ही अपने युग के प्रभावी राजवंश थे। इन तीनो मे मगध का राजवश अधिक प्रसिद्ध था। भगवान् महावीर और निर्ग्रंथ शासन के प्रति इन राजवशो की गहरी आस्था थी।

एक बार आचार्य सुधर्मा की मुनि मण्डली मे युवा मुनि जबू के तेजस्वी एवं सौम्याकृति को देखकर कोणिक ने प्रश्न किया था—आचार्यवर ! ये मुनि कौन है ?[११]

नरेश कूणिक की जिज्ञासा के समाधान मे सुधर्मा ने जबू के जीवन का विस्तार से परिचय दिया था।

जबू की दीक्षा के समय भी मगधाधिपति कोणिक का उपस्थित होना, अष्टमी, चतुर्दशी को उदायी के द्वारा पौषध-व्रत की आराधना[१४] तथा अवन्ति-वर्धन का एव राष्ट्रवर्धन की पत्नी धारिणी का जैन-शासन मे दीक्षित होना—ये प्रसङ्ग इन राजवशो मे जैन सस्कारो के प्राबल्य को सूचित करते है।

अन्तिम केवली

सर्वज्ञ श्री सपन्न इन्द्रभूति के वी० नि० २० (वि० पू० ४५०) मे श्रमण सहस्राशु आचार्य सुधर्मा का निर्वाण और आचार्य जबू को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तीर्थङ्कर महावीर के बाद अनुबद्ध केवली परम्परा मे जबू तृतीय केवलज्ञानी बने। जबू का आचार्य पद ग्रहण और केवलज्ञान प्राप्ति प्रसङ्ग का सवत् समय एक ही है।

पिता अपना वैभव पुत्रो को सौपकर जाता है, आचार्य सुधर्मा इसी प्रकार अपनी सर्वज्ञत्व सपदा जम्बू को समर्पित कर गए। अपूर्व ज्ञानराशि आचार्य जबू का आश्रय पाकर मुस्करा उठी।

जबू समर्थ आचार्य थे एव निर्मल ज्ञानज्योति के देदीप्यमान-पुञ्ज थे। इनके समय तक धर्मसघ मे कोई भेदरेखा नही उभरी थी। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परपरा सुधर्मा और जबू को समान सम्मान प्रदान करती हैं। इस समय तक विकास का कोई भी द्वार अवरुद्ध नही था।

आचार्य सुधर्मा के पास ५२७ व्यक्तियो के साथ दीक्षित होने वाले

आचार्य जबू चरम शरीरी थे एवं अन्तिम सर्वज्ञ थे।[१५]

समय संकेत

आचार्य जबू सोलह वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। मुनि पर्याय के कुल ६४ वर्ष मे ४४ वर्ष तक उन्होने युगप्रधान पद को अलंकृत किया। उनकी संपूर्ण आयु ८० वर्ष की थी। जन-जन को ज्ञान रश्मियो से आलोकित कर ज्योतिपुञ्ज आचार्य जबू वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) मे निर्वाण पद को प्राप्त हुए।[१६]

नवयौवना रूपसपन्ना आठ पत्नियो का परित्याग कर सयम मार्ग पर बढने वाले जबू मुक्ति-वधू का वरण कर कृतार्थ हो गए थे।

दिगम्बर एव श्वेताम्बर—दोनो के अभिमत से ज्योतिपुञ्ज जबू अतिम मुक्तिगामी रहे हैं।[१७]

आधार-स्थल

१ इतश्च तत्रैव पुरेऽभून्महेभ्यशिरोमणे.।
समुद्रप्रियसज्ञस्य नाम्ना पद्मावती प्रिया ॥७५॥
तथा समुद्रदत्तस्य समुद्रस्येव सपदा।
नाम्ना कनकमालेति पत्न्यभूद् गुणमालिनी ॥७६॥
तथा सागरदत्तस्य गरिष्ठस्याद्भुतश्रिया।
विनयश्रीरभूद्भार्या सदा विनयशालिनी ॥७७॥
तथा कुबेरदत्तस्य कुबेरस्येव ऋद्धिभि.।
धनश्रीरिति नाम्नाऽभूत्पत्नी शीलमहाधना ॥७८॥
दम्पतीनाममीषां तु विद्युन्मालिप्रियाश्च्युता।
क्रमाद् दुहितरोऽभूवन्नभिधानेन ता यथा ॥७९॥
समुद्रश्रीश्च पद्मश्री पद्मसेना तथैव च।
तथा कनकसेनेति रूपात्प्राग्जन्मिका[१] इव ॥८०॥
तथा कुबेरसेनस्य प्रिया कनकवत्यभूत्।
अभूच्छ्रमणदत्तस्य श्रीषेणेति तु गेहिनी ॥८१॥
वसुषेणाभिधानस्याभवद्वीरमती प्रिया।
वसुपालितस्य पुनर्जयसेनेति वल्लभा ॥८२॥
नभ. सेना कनकश्रीस्तथा कनकवत्यपि।
जयश्रीश्चेति चाभूवंस्तेषां दुहितर. क्रमात् ॥८३॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

२ (क) इतश्च नगरे राजगृहे राजशिरोमणि ।
श्रेणिकोऽपालयद्राज्य प्राज्यश्रीर्मघवानिव ॥१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

(ख) घत्ता—परिहापायारहिं परियरिउ सुरपुरमिरिदलवट्टणु ।
तहिं देसि मणोहरु रायगिहु नामे निवसइ पट्टणु ॥८॥
(जम्बूसामिचरिउ पृ० १०)

३ अन्यदा धारिणी स्वप्ने श्वेतसिंह न्यभालयत् ॥५७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

४ सुनोर्जम्बूलरोर्नाम्ना जम्बूरित्यभिधा व्यधात् ॥७१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५. आराम समोसरियं, पणमित्तु पहु पुरो निसन्नो य ।
हरिसियहिय ओ निसुणेइ, देसण मउलियग्गकरो ॥१८३॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरिय, पत्राङ्क १३६)

६ गच्छतो मेऽध्वनाऽनेन शिलोपरि पतेद्यदि ।
तदस्मि नाह न रथो न रथ्या न च मारथि ॥१०७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

७ ""स भणइ पव्वज्जाए, अणुजाणह ना ममामयाणि ॥१९६॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरिय, पत्राङ्क १३६)

८ सकृज्जाल्पन्ति राजान सकृज्जाल्पन्ति साधव ।
सकृत्कन्या प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृन्सकृत् ॥१२८॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

९ चित्त न नीत वनिता विकारैवित्त न नीत चतुरैश्च चौरै. ॥२॥
(पट्टावली समुच्चय, तपागच्छपट्टावली, पृष्ठ ४२)

१०. दीसइ जम्बूफलनिउरूब गंधायड्डियभमरकुडब ।
धगधगतजोइयसव्वासं निद्धम जलतसव्वाम ।
सहलसालिछेत्त सुहगध महमहतमरु-पूरियरध ।
कूइयचक्कमरालवलाय पप्फुल्लियसयवत्तलाय ।
मयरमच्छकच्छवपायार रयणाउण्ण पारावार ।
नियभत्तरहोजजिहदिट्ठ पडिबुद्धए पहाए त सिट्ठ ।
(जबू सामिचरिउ, सधि ४ कडवक ५ पृ० ६६)

११. ठविउ विवाहलग्गु घणरासिए अक्खयतइयदिवसे जोइसिए ।
(,, ,, स० ४ क० १४ पृ० ७६)

१२. बहुकरसंगहे गोत्तपवित्तहो दिज्जइ दाइज्जउ वरइत्तहो।
(जं० सा० च० स० ८ क० १२ पृ०१६०)

१३. तहिं परबलघणपलयमहामरु वसइ नराहिउ नामविसंधरु।
पिय सिरिसेण तासु विक्खाइय सुउविज्जुच्चरु नाम वि याइय।
(जं० सा० च० स० ३ क० १४ पृ० ५६)

१४. सुरम्यविषये ख्यातपौदनाख्यपुरेशिनः।
विद्युद्राजस्य तुग्विद्युत्प्रभो नाम भटाग्रणी.॥५३॥
तीक्ष्णो विमलवत्याश्च क्रुध्वा केनापि हेतुना।
निजाग्रजाय निर्गत्य तस्मात्पचशतैर्भटैः॥५४॥
विद्युच्चोराह्वयं कृत्वा स्वस्य प्राप्य पुरीमिमाम्।
जानन्नदृश्यदेहत्वकपाटोद्‌घाटनादिकम्॥५५॥
(उत्तर पुराण, पर्व ७६)

१५. हउं नामेण चोरु विज्जुच्चरु हिंडमि नयरु निसिहिं नीसंचरु।
(जं० सा० च० स० ६ क० १५ पृ० १८५)

१६. मे कणिट्ठ भाइ एक्कु मडलतरम्मि थक्कु।
वच्छरेमु आउ अज्जु जाणिऊण तुज्झ कज्जु।
दसणाणुरायबद्ध दुल्लहेट्ठगोट्ठिसद्ध।
नेच्छए निसाविरामु अच्छए दुवारे मामु।
(जं० सा० च० स० ६ क० १७ पृ० १८८)

१७. नेहसंवाहिओ रायरायाहिओ सेणिओ आगओ।
तेण मणिजुत्तय कडय-कडिसुत्तय सेहर सिरहिय।
ममउसिय वत्थेण अप्पणो हत्थेण भूसण परिहिय।
(जं० सा० च० सं० १० क० ६१ पृ० २१०)

१८. घणवो व्व पूरमाणो, दविण महासंचएण पणइयणं।
कोणिय नरनाहेण, सहिओ य अणाढियसुरेण॥५१५॥
(जम्बू चरिय (गुण पान) १६ उद्देश)

१९. पचमगणहारि सुहम्मसामिणा दिन्न पुन्न पव्वज्जो॥८४७॥
(उपदेशमाला—विशेषवृत्ति, जबचरियं, पत्राङ्क १८५)

२०. एत्तहे वि पडिच्छियवयभरेण पव्वज्ज लइय विज्जुच्चरेण।
अण्णहि दिणे सुयणाणंदणासु मताण सहोयरनंदणासु।

जिणसेणहो अप्पिवि ललियबाहु हुउ अरुहयासु निग्गंथसाहु ।
जिणवइयए सुप्पहअज्जियासु तव्वयरणु लइउ पासम्मि तासु ।
पउमसिरिपमुह वहुआउ जाउ पव्वज्जिउ अज्जिउ जाउ ताउ ।
कइदिणेहिं सुहम्महो गणहरासु उप्पण्णउ केवलनाणु तासु ।
(ज० सा० व० स० १० क० २० पृ० २१२)

२१ (क) सुयं मे आउसं ! तेणं भगवता एवमक्खायं
(ठाण १।१)

(ख) अज्जसुहम्मो जम्बुस्वामि पुच्छत भणति—अहासुतं वइस्सामि
(श्री आचाराङ्ग चूर्णि पृ० २६८)

२२. तस्स दो पुत्ता, पालको अवतिबद्धण राजाणं ।
रज्जबद्धण जुवरायाण ठवेता पव्वइतो ।।
(आवश्यक चूर्णि, भाग २ पृ० १८६)

२३. देशनान्ते च गणभृच्छिष्यान्पश्यन्नरेश्वर ।
जबूस्वामितमुद्दिश्य पप्रच्छ परमेश्वरम् ।।३८।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८, पृ० १२२)

२४. उदायी त्वाददेऽष्टम्या चतुर्दश्या च पौषधम् ।
अवात्सु सूरयो धर्मकथार्थं च तदन्तिके ।।२००।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, पृ० १४६)

२५. अपच्छिमकेवली जम्बूसामी
(विविध तीर्थकल्प, पृ० ३८)

२६. तत्पट्टे २ श्री जम्बूस्वामी····षोडश (१६) वर्षाणि गृहे, विंशति (२०) वर्षाणि व्रते चतुश्चत्वारिंशत् (४४) वर्षाणि युग-प्रधान भावे । सर्वायुरशीति (८०) वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीराच्चतुःषष्टि (६४) वर्षान्ते सिद्ध. ।
(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरुपट्टावली, पृ० १६३)

२७. मत्कृते जम्बुना त्यक्ता नवोढा नवकन्यका ।
तन्मन्ये मुक्तिवध्वाऽन्यो, नवृतो भारतो नर ।।
(पट्टावली समुच्चय (तपागच्छ पट्टावली पृ० ४२)

३. परिव्राट्-पुंगव आचार्य प्रभव

स्तेन सम्राट् प्रभव उच्चकोटि का परिव्राट् बना, श्रमण सम्राट् बना, यह जैन इतिहास का अनुपम पृष्ठ है। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा मे आचार्य प्रभव सर्वप्रथम हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली जम्बू के बाद श्रुतकेवली की परम्परा मे सर्वप्रथम स्थान द्वादशाङ्ग के विशिष्ट अध्येता एवं सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञाता विष्णु मुनि को प्राप्त है।

गुरु परम्परा

आचार्य सुधर्मा प्रभव के गुरु थे। आचार्य जम्बू और आचार्य प्रभव एक गुरु से दीक्षित गुरु बन्धु थे। आचार्य प्रभव का दीक्षा सस्कार आचार्य सुधर्मा द्वारा हुआ था। आचार्यों की परम्परा मे तीर्थङ्कर महावीर के शासन का उत्तराधिकार प्रभव को आचार्य जम्बू से प्राप्त हुआ था। सुधर्मा की गुरु परम्परा भगवान् महावीर से सम्बन्धित थी।

जन्म एवं परिवार

प्रभव क्षत्रिय राजकुमार था। विन्ध्य प्रदेश के जयपुर नगर मे वी० नि० पू० ३० (वि० पू० ५००, ईसा पूर्व ५५७) मे प्रभव का जन्म हुआ। विन्ध्य नरेश का वह पुत्र था। कात्यायन उसका गोत्र था। कात्यायन गुरु गोत्र माना गया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो मे यह गोत्र प्रचलित रहा है। ऐसा इस प्रसङ्ग से स्पष्ट होता है।

विन्ध्य प्रदेश विन्ध्य पर्वत की तलहटी मे बसा हुआ था।

जीवन-वृत्त

विन्ध्य नरेश के दो पुत्र थे। प्रभव उनमें ज्येष्ठ था। क्षत्रियोचित नाना प्रकार की उसने शिक्षाएं पाईं। युवा हुआ। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राज्य पाने का वह अधिकारी था। किसी कारणवश विन्ध्य नरेश द्वारा राज्य का उत्तराधिकारी कनिष्ठ पुत्र को बना दिया गया। इस घटना से प्रभव कुपित हुआ। राजमहलो मे पला हुआ युवा प्रभव पितृ-स्नेह से रिक्त

होकर चोरो की पल्ली मे आ पहुंचा। वह बुद्धिबल का स्वामी था और शारीरिक सामर्थ्य से भी सम्पन्न था। जन समूह को लूटता, कूदता-फांदता, विन्ध्याचल की घाटियों मे शेर की तरह निर्भीक दहाडता प्रभव एक दिन ५०० चोरों का नेता बन गया। अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी नामक दो विद्याएं प्रभव के पास थी। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा वह सबको निद्राधीन कर सकता था और तालोद्घाटिनी विद्या के द्वारा मजबूत तालो को खोल सकता था। अपनी इन दो विद्याओ से स्तेनाधिपति का बल अत्यधिक बढ़ा हुआ था। शस्त्रसुसज्जित सैन्य-दल भी प्रभव के नाम से कापता था।

एक बार प्रभव का दल मगध की सीमा मे पहुच गया। इस दल ने राजगृह के इभ्य श्रेष्ठी ऋषभदत्त के पुत्र जम्बू के विवाह की चर्चा सुनी। विवाह मे प्राप्त ९९ करोड के दहेज की जानकारी प्राप्त कर प्रभव ने सोचा —एक ही दिन मे धनाधीश बन जाने की यह सुन्दरतम घडी है। भाग्य को चमकाने वाला यह सुनहरा मौका है। ऐसे सुनहरे मौके को गवा देने वाला महामूर्ख होता है। हमे बुद्धिमानी से काम करना है और अपने भाग्य को परखना है।

प्रभव का दल प्रभूत धन-सम्पदा को हथियाने निशा के समय श्रेष्ठी ऋषभदत्त के गृह मे प्रविष्ट हुआ। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा सबको नीद की गोद मे सुलाकर तालोद्घाटिनी विद्या का प्रयोग किया। ताले टूट गए।[१] 'मधु बिन्दु पर जैसे मक्खियां भनभनाती हुई लपकती है वैसे ही इस गिरोह के सदस्य धन की पेटियो पर जा लपके। गिद्ध की तरह उनकी लालची दृष्टि पेटियो मे छिपे हीरो और पन्नो को सग्रह करने मे सहयोग कर रही थी।

जम्बू ने चोरो के द्वारा अपनी सम्पत्ति को अपहरण होते हुए देखा पर वह न कुपित हुआ, न क्षुब्ध हुआ। स्तेनदल के कई सदस्यो ने निद्राधीन अतिथिजनो के पहने हुए आभूपणो को शरीर पर से उतारने का प्रयास किया।[२] "दस्युजनो! विवाहोपलक्ष मे आए हुए मेरे मित्रो के अलकारो पर हाथ मत लगाओ। मैं निशाप्रहरी की भांति खुली आखो से तुम्हे देख रहा हूं।"[३] अज्ञात दिशा से बढती हुई ये शब्द तरगे स्तेनदल के कानो से टकराई। तरंगो की टकराहट के साथ ही एक विचित्र घटना घट गई।

दस्युदल का नेता प्रभव पहरेदारी करता हुआ घूम रहा था। स्तेनदल ने अत्यन्त त्वरा से अपना काम किया, धन की गाठे बाधी। गाठो को

उठाने मे तत्पर उनके हाथ गांठो पर और पैर धरती पर चिपक गए। सबके सब भित्तिचित्र की तरह स्तभित रह गए।[४] प्रभव दूर खडा अपने साथियों को चलने का आदेश दे रहा था पर वे सब प्रस्तर मूर्ति की तरह अविचल खड़े थे। अपनी शारीरिक शक्ति का पूरा उपयोग कर लेने पर भी किसी का पैर इच मात्र नही हिला। वे ऊर्ध्वकर्ण होकर अज्ञात दिशा से आती हुई शब्द-तरगो को सुन रहे थे तथा भयाक्रान्त नयनो से नेता की ओर भांक रहे थे।

पवन की लहरो पर आरूढ शब्द-तरगे प्रभव के कानो तक भी पहुची। प्रभव कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था। स्थिति को समझते उसे देर नही लगी। मेरे संकेत मात्र पर बलिदान होने वाला मेरा दल मेरी आज्ञा की अवहेलना नही कर सकता। यहा अवश्य कोई दूसरा रहस्य है। मेरे कानों से टकराने वाली शब्द-तरगो का प्रयोक्ता इसी भवन मे कही बैठा है। वह मेरे से भी अधिक शक्तिशाली है। मेरी अवस्वापिनी विद्या उसके सामने असफल हो गई है। उसी ने अवश्य मेरे स्तेनदल पर स्तम्भिनी विद्या का प्रयोग किया है। प्रभव की दृष्टि क्षण-भर मे चारो ओर घूम गई। उसने ऊपर की ओर भाका। ऋषभदत्त के सबसे उपरितन प्रासाद मे दीपमालाए जल रही थी। उसी प्रासाद के जालीदार गवाक्ष मे छन-छनकर आती हुई प्रकाश-किरणे प्रभव को जम्बू के शयनकक्ष तक खीचकर ले गई। उसने द्वार के छिद्रो से चुगलखोर की तरह चुपके से भाका। मृगनयनियो की कुतलाल-कृत रूपछटा काली घटाओ मे चमकी विद्युत् की तरह प्रभव की आखो मे कौध गई। जम्बू का कान्तिमान् भाल उसे अत्यधिक प्रभावित कर गया। नवोढाओ का मधुर सवाद सुनने के लिये स्तेन-सम्राट् ने अपने कान दीवार पर लगा दिए। सुहाग की उस प्रथम रात मे पति-पत्नियो के मध्य अध्यात्म की चर्चा चल रही थी। विरक्ति के स्वर उसके कानो से टकराए। प्रभव ने सोचा—'यह कोई असाधारण पुरुष है'। वह जम्बू के सामने जाकर खडा हुआ और अपना परिचय देते हुए वह बोला—"मैं चोराधिपति प्रभव हू। आपके सामने मैत्री स्थापित करने की भावना के साथ प्रस्तुत हुआ हू। मैं अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याए आपको अर्पित कर रहा हूं। आप भी मुझे अपना मित्र मानकर मेरी इन विद्याओ को ग्रहण करें और मुझे स्तम्भिनी और विमोचिनी विद्या प्रदान करे।[५]"

जम्बू मुस्कराया और बोला—"स्तेन सम्राट् ! मेरे पास किसी प्रकार

की भौतिक विद्या नही है और मैं तुम्हारी इन विद्याओ को लेकर क्या करूं ? प्रभात होते ही मणि, रत्न, कनक-कुण्डल, किरीट आदि समग्र सम्पदा तथा रूप-सम्पदा की स्वामिनी इन कामिनियो का परित्याग कर सुधर्मा स्वामी के पास सयम-पर्याय को ग्रहण करूगा। मेरी दृष्टि मे अध्यात्मविद्या से बढकर कोई विद्या नही है, कोई मत्र नही है, कोई शक्ति नही है, कोई बल नही है।"

जम्बू की बात सुनकर प्रभव अवाक् रह गया। वह कुछ क्षणो तक जम्बू के शशिसौम्य मुख को अपलक नयन से निहारता रह गया। उसका अन्तरंग उद्वेलित हो उठा। भीतर से झटका लगा। अरे प्रभव ! क्या देख रहे हो ? झटके के साथ ही प्रभव का मौन टूटा। वह जम्बू से कहने लगा— 'मेरे परम मित्र ! पल्लव-पुष्पो से मुस्कराते मधुमास की भाति यह नव यौवन तुम्हे प्राप्त है। लक्ष्मी तुम्हारे चरणो की सेविका है। सब प्रकार की अनुकूल सामग्री तुम्हे सुलभ है। मुक्त भाव से विषय-सुख भोगने का यह अवसर है। इन नवविवाहित बालाओ पर अनुकम्पा करो, इनकी इच्छाओ को पूर्ण करो।"

"जम्बू ! तुम जानते हो सन्तान हीन व्यक्ति नरक मे जाता है अत. नरक से त्राण पाने के लिए पुत्रसन्तति का विस्तार कर पितृऋण से मुक्त बनो। सम्पूर्ण परिवार के लिये आलम्बन बनो। उसके बाद सयम मार्ग मे प्रविष्ट होना शोभास्पद है।" मुदिर की भाति जम्बू ने मन्द स्वर मे उद्‌बोध दिया—"प्रभव विषय-भोगो से उत्पन्न सुख अपाय-बहुल है। सर्षपकण तुल्य भोग भी मधुबिन्दु के समान प्रचुर दु ख के दाता होते हैं। महर्षिजनो की दृष्टि मे विषय-सुख मधु-बिन्दु के समान क्षणिक आनन्ददायी होते है। जैसे धन सग्रह का इच्छुक कोई व्यक्ति घोर विपिन मे मदोन्मत्त हाथी के द्वारा पीछा किए जाने पर त्राण पाने का कोई अन्य उपाय न देखकर वृक्ष की शाखा का आलम्बन लिये गम्भीर कूप मे लटक रहा है। उसके पदतल नीचे कूप मे विकराल काल की भ्रूचाप के समान चार कृष्णकाय सर्प फुफकार रहे हैं। उनके मध्य मे विशालकाय अजगर मुह फैलाये पडा है। मत्त मतंगज वृक्ष के प्रकाण्ड को प्रकम्पित कर रहा है। आलम्बनभूत शाखा को सफेद और काला चूहा कुतर रहा है। वृक्ष की उपरितन शाखा पर मधुमक्खियो का छाता है। मधुमक्खियां देह को काट रही है। छाते से बूद-बूद मधु उसके मुह में टपक रहा है। मौत उसे स्पष्ट सर पर नाचती हुई दिखाई दे रही है। भाग्य से विद्याधर का विमान ऊपर से निकला। शाखा से लटकते दु:खार्त व्यक्ति को देखकर करुणार्द्रहृदय विद्याधर ने आह्वान किया—'आओ मानव

वंशज ! मैं तुम्हें नन्दनवन की भाति आनन्ददायक स्थान पर ले चलता हूं ।' विद्याधर के द्वारा पुन:-पुन: बुलाने पर भी मधु-बिन्दु मे आसक्त बना वह सद्य: चलने को तैयार नही होता। एक बिन्दु और·········एक बिन्दु और···· की प्रतीक्षा मे प्राणो से हाथ धो लेता है ।

"अटवी संसार है। विषयोन्मुख प्राणी रसलुब्ध मानव के समान है। कूप मानव-जन्म तथा चार नागराज चतुष्क कषाय हैं। अजगर की भाति नरकादि गतियो के द्वार खुले पडे हैं। आयुष्य की शाखा पर मनुष्य लटक रहा है। चूहो के रूप मे शुक्लपक्ष एव कृष्णपक्ष हैं, जो आयुष्य की शाखा को काट रहे हैं। मधुमक्षिका की भांति व्याधियां आक्रान्त कर रही हैं। इन्द्रिय-जन्य सुख मधुबिन्दु के समान क्षणिक आस्वाद देने वाले हैं। विद्याधर के समान सत पुरुष बोध प्रदान कर रहे है। उनकी वाणी से विवेक प्राप्त सुधी-जन लक्ष्मी और ललना-लावण्य मे लुब्ध होकर सयममय सुरक्षित स्थान की क्षण-भर के लिये भी उपेक्षा नही करते।

"प्रभव ! पुत्रोत्पत्ति से पितृ-कल्याण की भावना भी भ्राति मात्र है। पिता-पुत्र के सम्बन्ध अनेक बार हो चुके हैं। जन्म-जन्मान्तर मे पिता पुत्र का और पुत्र-पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है। परिवर्तनशील विश्व मे जनक-जननी, सुत-सुता, वल्लभ-कान्ता आदि के सम्बन्ध शाश्वत नही हैं। इस अनादि-अनन्त ससार मे किसके साथ किसका सम्बन्ध नही हुआ है ? अत. स्व-पर की कल्पना ही व्यामोह है। माता, दुहिता, भगिनी, भार्या, पुत्र, पिता, बन्धु आदि सारे-के-सारे सम्बन्ध भव-भवान्तर मे परिवर्तित होते रहते है। अत इन सम्बन्धो मे आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त नही होता ।

महेश्वरदत्त, गोपयुवक, कोडी के बदले अपने सर्वस्व को गवा देने वाले वणिक् आदि के उदाहरण सुनाकर एवं कुबेरदत्त, कुबेरदत्ता के दृष्टान्त से एक भव के अठारह सम्बन्धो का विचित्र लेखा-जोखा समझाकर श्रेष्ठी कुमार ने चोराधिपति के मोहानुबन्ध को शिथिल कर दिया। जम्बू के अमृतोपम उपदेश से प्रभव का हृदय पूर्णत झकृत हो उठा। युग-युग से तन्द्रिल नयन अध्यात्म के अजन से खुल गए। भीतर का ज्ञान दीप जल गया। वह अपने द्वारा कृत पापो के प्रति अनुताप की अग्नि मे जलने लगा। सोचा, हाय ? कहां यह श्रेष्ठी कुमार जम्बू, जो प्राप्त भोगो को ठुकरा रहा है और कहां मैं जो मांस के टुकडे पर कुत्ते की नाई धन पर टूट पडा हूं········ ।

'इस महायोगी के नयनो में मैत्री का अजस्र स्रोत छलक रहा है

और मैं पापी·······महापापी सहस्रो-सहस्रो ललनाओ की माग का सिन्दूर पोंछने वाला, रक्षा बाधने को प्रतीक्षारत भगिनियो के भ्रातृ-सुख का अपहरण करने वाला, प्रिय पुत्रो के प्राणो से खेलकर माताओ को बिलखाने वाला, अपने रक्त-रजित हाथो पर अट्टहास करने वाला मै·······मैं कालसौकरिक से भी अधिक क्रूर निर्दयी हत्यारा हू। सयम और तप की अग्नि मे स्नान किये बिना मेरा विशुद्धीकरण असम्भव है······। सर्वथा असम्भव।"

जम्बू की ज्ञानधारा मे प्रभव के हृदय पर युग-युग से जमा कल्मष धुल गया। वह अपने को धिक्कारता हुआ अध्यात्म सागर मे गहराई तक बहता चला गया। जो ऋषभदत्त की धनराशि को लूटने आया था वह स्वय पूर्णत लुट गया। जम्बू के चरणो मे जा गिरा, अपराध की क्षमा मांगी और अपने साथियो को मुक्त कर देने के लिए आग्रह-भरा निवेदन उनसे किया, पर वह आश्चर्य के महासागर मे डूब गया। जब वह जम्बू के आदेशानुसार अपने दल के पास पहुचा और उसने देखा, कोई भी साथी बंधा हुआ नही है। किसी का पैर धरती पर चिपका नही है। अपने साथियो के हाथ-पैर पहले क्यो स्तम्भित हो गए थे? इसका वैज्ञानिक समाधान भी उसे मिल गया था। जिसको वह स्वय और उसके साथी देवमाया का प्रयोग तथा स्तम्भिनी विद्या का प्रभाव मान रहे थे। वह और कुछ नही, जम्बू की पावन अध्यात्म धारा की त्वरितगामी तरगो का प्रभाव था। अणुशक्ति के प्रयोग से आन्दोलित वातावरण की भाति जम्बू की सद्य गामी एव दूरगामी सबल ज्ञानधारा के स्पर्श से स्तेनदल के अन्तर्मन मे एक विचित्र क्रान्ति घट गई थी। प्रभव को अपने साथियो के हाथ पैरो का स्तम्भन दिखाई दिया पर यथार्थ मे अध्यात्म-तरगों से प्रभावित उनका मन इस पापकर्म को करने से पूर्णत विमुख हो गया था।

प्रभव सयम मार्ग पर बढने को तत्पर हुआ। अपने अधिपति के इस महान् निर्णय को सुनकर समग्र स्तेनदल मे एक दूसरी क्रान्ति और घट गई। दीप से दीप जल उठे। मन का पाप भस्म हो गया। समस्त साथियो ने नेता का अनुगमन किया। प्रभव ने अपने पूरे दल सहित वी० नि० १ (वि० पू० ४६६) मे सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण की।

परिशिष्ट पर्व के अनुसार प्रभव की दीक्षा आचार्य जम्बू की दीक्षा से एक दिन बाद हुई।[१] इस आधार पर दीक्षा ज्येष्ठ आचार्य जम्बू थे एवं अवस्था-ज्येष्ठ आचार्य प्रभव थे। दीक्षा ग्रहण काल मे जम्बू की अवस्था १६

वर्ष की एवं प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी ।

आचार्य जम्बू के बाद वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) में प्रभव ने आचार्यपद का दायित्व सम्भाला ।* भगवान् महावीर की परम्परा में प्रभव का क्रम तृतीय है ।

स्तेन सम्राट् को महावीर-सघ का उत्तराधिकार अवश्य मिला, पर सर्वज्ञत्व की सम्पदा उन्हे प्राप्त नहीं हो सकी ।

समकालीन राजवंश

प्रभव के शासनकाल मे नन्दो का शासनकाल प्रारभ हो गया था । मगध मे नरेश उदायी के राज्य का अन्त वो० नि० ६० (वि० पू० ४१०) मे होता है । इसी वर्ष नन्दवश के राज्य का अभ्युदय हुआ । नन्दवश के अभ्युदय के समय आचार्य जम्बू का आचार्य काल था । चार वर्ष के बाद आचार्य प्रभव का आचार्य-काल प्रारभ हुआ था । अत नन्दवश का राज्य आचार्य प्रभव के समय अपने शैशवकाल मे था ।

विद्वानो ने नन्द शासको को जैन माना है । राजवश जैन होने के कारण श्रुतधर प्रभव को अवश्य ही धर्म प्रचार के लिए राजकीय दृष्टि से अनुकूल वातावरण प्राप्त था ।

प्रथम श्रुत केवली

श्रुतकेवली की परपरा मे आचार्य प्रभव मुख्य थे । आचार्य प्रभव को द्वादशागी की उपलब्धि आचार्य सुधर्मा से प्राप्त हुई या जम्बू से·······इस प्रसग का कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नही हो सका है ।

महान् जैनाचार्यो मे परिव्राट्-पुगव आचार्य प्रभव का गौरवमय स्थान भी बहुत ऊचा है । शय्यभव जैसे महान् अहकारी निर्ग्रन्थ, प्रवचन के घोर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् को भगवान् महावीर के सघ मे दीक्षित कर देना उनकी प्रभावकता का सबल उदाहरण है ।

दिगम्बर परपरा मे जम्बू के साथ दीक्षित होने वाले "विद्युच्चर" को न श्रुतकेवली माना है और न गुरु पट्टावली के क्रम मे भी कही विद्युच्चर का उल्लेख है । श्वेताम्बर परपरा के अनुसार स्तेन सम्राट् प्रभव परिव्राट् अग्रणी बने एव श्रुतकेवली परपरा मे उन्होने प्रथम स्थान पाया । अपने स्थान पर उन्होने श्रुतज्ञानादि गुणो से मण्डित शय्यम्भव की नियुक्ति की एव संघ के ऋण से मुक्त हुए ।

समय-संकेत

परम प्रभावी आचार्य प्रभव ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। संयमी जीवन के कुल ७५ वर्ष के काल मे ११ वर्ष तक आचार्य पद का उन्होंने वहन किया। चारित्र धर्म की सम्यक् आराधना करते हुए १०५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वी० नि० ७५ (वि० पू० ३९५) में वे अनशन पूर्वक स्वर्गगामी बने।

परिव्राट् पुङ्गव प्रभव विविध योग्यताओं की प्रभुसत्ता से सम्पन्न, सक्षम, विशिष्ट प्रभावशाली आचार्य थे।

आधार-स्थल

१. ओसोयणि विज्जाए, सोयाविऊण जणमसेसपि।
सो जाइ जंबुनामस्स, मदिरे मेरुसिहरेव्व ॥१३॥
तालुग्घाडिणिविज्जाए तालयाइ विहाडिऊण लहु।
विवरियसव्वदुवारे पविसइ नियमंदिरेव्व तहि ॥१४॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्राङ्क १३७)

२. घरहरघोरंत जणाहिं, जाव तेणा विभूसणाईयं।
उल्लुटणाय लग्गा, समग्गभडारगाणंपि ॥१५॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्राङ्क १३७)

३ नीसकमाणओ तो, भणेड सिंहासणे समासीणो।
जबूनामो भो मा, छिवेह पाहुणय जणमेयं ॥१६॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्राङ्क १३७)

४ महापुण्यप्रभावस्य तस्याथ वचसेदृशा।
ते चौरा· स्तब्ध वपुषोऽभूवन् लेप्यमया इव ॥१७६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५ वयस्य ! देहि मे विद्यां स्तम्भनी मोक्षणीमपि।
अवस्वापनिकातालोद्घाटिन्यौ ते ददाम्यहम् ॥१८२॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

६ पित्तनापृच्छ्य चान्येद्यु प्रभवोऽपि समागत।
जम्बूकुमारमनुयान्परिव्रज्यामुपाददे ॥२९१॥
(परिशिष्ट पर्व, तृतीय सर्ग, पत्राङ्क ११८)

७. श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि,
चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बू·।
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य,
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ॥६१॥
(परिशिष्ट पर्व, चतुर्थ सर्ग, पत्राङ्क १२४)

४. श्रुत-शार्दूल आचार्य शय्यम्भव

आचार्य शय्यम्भव के व्यक्तित्व मे असाधारण गुणो का विकास था। तीर्थङ्कर महावीर के वे चतुर्थ पट्टधर थे। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में उनका द्वितीय क्रम था। आचार्य शय्यम्भव का ब्राह्मण संस्कृति से श्रमण सस्कृति मे प्रवेश पाने का घटना प्रसङ्ग इतिहास का अत्यन्त रोचक पृष्ठ है।

दिगम्बर परंपरा मे श्रुतधर विष्णुनन्दी के बाद श्रुतधर नन्दीमित्र हुए।

गुरु परम्परा

आचार्य शय्यभव के गुरु आचाय प्रभव थे। प्रभव प्रथम श्रुतधर आचार्य थे। आचार्य शय्यभव को प्रभव से ही जैन धर्म का बोध प्राप्त हुआ। तदनन्तर शय्यभव ने उनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की। आगम श्रुत और पूर्व श्रुत का प्रशिक्षण पाया। प्रभव से पूर्व की गुरु परपरा मे सर्वज्ञ श्री सवम्म जबू और गणधर सुधर्मा हुए।

जन्म एवं परिवार

आचार्य शय्यभव का जन्म ब्राह्मण परिवार मे वी० नि० ३६ (वि० पू० ४३४) मे हुआ था। उनका गोत्र वत्स था। राजगृह उनकी जन्मभूमि थी। परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थो मे शय्यभव के जीवन प्रसङ्गो के साथ उनकी पत्नी का उल्लेख है, पर पत्नी के नाम की सूचना नही है। शय्यंभव के पुत्र का नाम मनक था। उनके माता-पिता एवं अन्य पारिवारिक जनो की सामग्री उपलब्ध नही है।

जीवन वृत्त

शय्यंभव गृहस्थ जीवन मे अहंकारी विद्वान् थे। वे स्वभाव से प्रचण्ड क्रोधी और निर्ग्रन्थ धर्म के प्रबल विरोधी भी थे। यज्ञ आदि अनुष्ठानो के आयोजनो मे उनकी प्रमुख रूप से भूमिका रहती थी। वेद वेदाङ्ग दर्शन संबन्धी उनका ज्ञान अगाध था। आचार्य प्रभव को शय्यंभव जैसे महान् याज्ञिक ब्राह्मण शय्यभव की शिष्य के रूप मे प्राप्ति विशेष प्रयत्न पूर्वक ही

हुई थी।

आचार्य का सबसे बड़ा दायित्व भावी आचार्य का निर्णय करना होता है। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व की चिन्ता आचार्य सुधर्मा और जंबू को नहीं करनी पड़ी थी। सुधर्मा के सामने जंबू और जंबू के सामने प्रभव जैसे योग्य व्यक्ति थे। आचार्य प्रभव का पदारोहण ६४ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। उनके जीवन का यह सन्ध्याकाल था। पश्चिम यामिनी मे एक बार आचार्य प्रभव ने सोचा—मेरे बाद गणभार वाहक कौन होगा? उन्होने श्रमण संघ, श्रावक संघ एवं जैन संघ का क्रमशः अवलोकन किया। गणभार वहन योग्य कोई भी व्यक्ति उनके दृष्टिगत नही हुआ। उनका ध्यान यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण विद्वान् शय्यंभव पर केन्द्रित हुआ।[1] वे नेतृत्व कला मे सर्वथा समर्थ प्रतीत हो रहे थे पर उनके सामने जैन-दर्शन की बात करना सकट का सकेतक था।

प्रभव सक्षम आचार्य थे। वे चर्चा-प्रसंग से प्रतिद्वन्द्वी शय्यभव को जैनधर्म के प्रति प्रभावित कर सकते थे। पर उन्हे आचार्य प्रभव के पास ले आने का कार्य सरल न था। धर्म-सघ हित की भावना से प्रेरित होकर युगल श्रमण इस कार्य के लिए प्रस्तुत हुए। वे आचार्य प्रभव के आदेशानुसार विद्वान् शय्यम्भव के यज्ञवाट् मे गए, उन्होने द्वार पर उपस्थित होकर धर्म लाभ कहा। वहा श्रमणो का घोर अपमान हुआ और उन्हें बाहर निकालने का उपक्रम चला। श्रमण बोले—"अहो कष्टमहो कष्ट तत्त्व विज्ञायते नहि" —अहो! खेद की बात है, तत्त्व नही जाना जा रहा है।

तत्त्व को नही जानने की बात महाभिमानी उदभट्ट विद्वान् शय्यभव के मस्तिष्क मे टकराई। सोचा, ये उपशान्त तपस्वी झूठ नही बोलते[2]। हाथ मे तलवार लेकर वे अध्यापक के पास गए और तत्त्व का स्वरूप पूछा। उपाध्याय ने कहा—"स्वर्ग और अपवर्ग को प्रदान करने वाले वेद ही परम तत्त्व हैं।" शय्यभव बोले—"वीतद्वेष, वीतराग, निर्मम, निष्परिग्रही, शान्त महर्षि अवितथ भाषण नही करते, अतः यथावस्थित तत्त्व का प्रतिपादन करो। अन्यथा इस तलवार से शिरश्छेद कर दूगा।" लपलपाती तलवार को देखकर अध्यापक कांप उठा और कहने लगा—"अर्हत् धर्म ही यथार्थ तत्त्व है।"

विद्वान् शय्यंभव महाभिमानी होते हुए भी सच्चे जिज्ञासु थे। यज्ञ सामग्री अध्यापक को संभलाकर श्रमणो की खोज मे निकले और एक दिन आचार्य प्रभव के पास पहुच गए। प्रभव ने उन्हें यज्ञ का यथार्थ स्वरूप

समझाया। अध्यात्म की विशद भूमिका पर जीवन-दर्शन का चित्र प्रस्तुत किया। आचार्य प्रभव की पीयूषस्रावी वाणी से बोध प्राप्त कर शय्यभव वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) मे श्रमण संघ मे प्रविष्ट हुए। मुनि जीवन ग्रहण के समय उनकी उम्र २८ वर्ष की थी।

वे वैदिक दर्शन के धुरन्धर विद्वान् पहले से ही थे। आचार्य प्रभव के पास उन्होंने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधर की परंपरा मे वे द्वितीय श्रुतकेवली बने।

श्रुतसंपन्न शय्यभव को अपना ही दूसरा प्रतिबिम्ब मानते हुए आचार्य प्रभव ने उन्हें वी० नि० ७५ (वि० पू० ३९५) मे आचार्य पद से अलंकृत किया।

ब्राह्मण विद्वान् का श्रमण संघ मे प्रविष्ट हो जाना उस युग की एक विशेष घटना थी। शय्यभव जब दीक्षित हुए तब उनकी नवयुवती पत्नी गर्भवती थी।[1] ब्राह्मण वर्ग मे चर्चा प्रारभ हुई :—

अहो शय्यभवो भट्टो निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः।
स्वां प्रियां यौवनवती सुशीलामपि योऽत्यजत् ॥५६॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

विद्वान् शय्यम्भव भट्ट निष्ठुरातिनिष्ठुर व्यक्ति हैं, जिसने अपनी युवती पत्नी का परित्याग कर दिया है। साधु बन गया है। नारी के लिए पति के अभाव मे पुत्र ही आलम्बन होता है। वह भी उसके नही है। अबला भट्ट-पत्नी कैसे अपने जीवन का निर्वाह करेगी ? स्त्रिया उससे पूछती—"बहिन, गर्भ की सभावना है ?" वह सकोच करती हुई कहती—'मणय'—यह मणयं शब्द संस्कृत के मनाक् शब्द का परिवर्तित रूप है, जो सत्त्व का बोध करा रहा था तथा कुछ होने का संकेत कर रहा था। भट्ट-पत्नी के इस छोटे-से उत्तर से परिवार वालो को सतोष मिला। एक दिन भट्ट-पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम माता द्वारा उच्चरित मणयं की ध्वनि के आधार पर मनक रखा गया।[2] भट्ट-पत्नी ने मनक का अत्यन्त स्नेह से पालन किया। बालक आठ वर्ष का हुआ। उसने अपनी मां से पूछा—"जननी ! मेरे पिता का नाम क्या है ?" भट्ट-पत्नी ने पुत्र के प्रश्न पर समग्र पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया और उसे बताया—"तुम्हारे पिता जैन मुनि बन गये हैं। पितृ-दर्शन की भावना बालक में जगी। माता का आदेश ले वह स्वयं भट्ट की खोज मे निकला। पिता-पुत्र का चम्पा में अचानक मिलन हुआ। अपनी मुखाकृति से

मिलती मनक की मुखमुद्रा पर आचार्य शय्यभव को दृष्टि केन्द्रित हो गई। अज्ञात स्नेह हृदय मे उमड पड़ा। उन्होने बालक से नाम-गाव आदि के विषय में पूछा। अपना परिचय देता हुआ मनक बोला—"मेरे पिता आचार्य शय्यभव मुनि कहां हैं ? आप उन्हे जानते हैं ?" बालक के मुह से अपना नाम सुनकर शय्यभव ने पुत्र को पहचान लिया और अपने को आचार्य शय्यंभव का अभिन्न मित्र बताते हुए उसे अध्यात्म-बोध दिया। बाल्यकाल के सरल मानस मे सस्कारो का ग्रहण बहुत शीघ्र होता है। आचार्य शय्यंभव का प्रेरणा-भरा उपदेश सुन मनक प्रभावित हुआ और आठ वर्ष की अवस्था में उनके पास मुनि बन गया।

आचार्य शय्यभव हस्तरेखा के जानकार थे। मनक का हाथ देखने से उन्हे लगा, बालक का आयुष्य बहुत कम रह गया है। समग्र शास्त्रो का अध्ययन करना इसके लिए सभव नही है।[५]

अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसार समुद्धरेत्।
चतुर्दशपूर्वधर. पुन: केनापि हेतुना ॥८३॥

(परिशिष्टपर्व, सर्ग ५)

—अपश्चिम दशपूर्वी एव चतुर्दश पूर्वी विशेष परिस्थिति मे ही पूर्वो से आगम-निर्यूहण का कार्य करते है।

आचार्य शय्यभव चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होने अल्पायुष्क मुनि मनक के लिए पूर्वो से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया।[६] इस सूत्र के दश अध्ययन हैं। इसमे मुनि-जीवन की आचार-संहिता का निरूपण है। यह सूत्र उत्तरवर्ती नवीन साधको के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

भद्रबाहु की दशवैकालिक निर्युक्ति के अनुसार इस सूत्र के चतुर्थ अध्ययन का निर्यूहण आत्मप्रवाद पूर्व से, पचम अध्ययन का निर्यूहण कर्म-प्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन का निर्यूहण सत्य-प्रवाद पूर्व से, अवशिष्ट अध्ययनो का निर्यूहण नवमे प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से हुआ है।

निर्युक्ति की गाथाएं इस प्रकार है :—

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

(दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १६-१७)

दशवैकालिक आगम से संयुक्त रइवक्का और विवित्तचर्या नामक दो चूलिकाएं भी हैं। सयम मे अस्थिर मुनि के विचारो को स्थिर करने के लिए इन चूलिकाओ का स्वाध्याय सुदृढ आलंबन-भूत बनता है।

ये दोनो चूलिकाए इस आगम के साथ बाद मे सबद्ध की गई हैं। आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक के दस अध्ययनो का ही निर्यूहण किया था।

परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थो मे मनक की आयु दीक्षा ग्रहण के समय आठ वर्ष की मानी गई है।[७] अत. मनक का दीक्षा समय एवं दशवैकालिक सूत्र रचना का समय वी० नि० ७२ (वि० पू० ३९८) सभव है। आचार्य प्रभव का स्वर्गवास वी० नि० ७५ (वि० पू० ३९५) में हुआ था। इस आधार पर मनक की दीक्षा एव दशवैकालिक आगम रचना के समय आचार्य प्रभव की विद्यमानता सिद्ध होती है।

प्रस्तुत सदर्भ मे एक बिन्दु विशेष चर्चनीय बन जाता है। वह यह है—मुनि मनक की दीक्षा ग्रहण के समय एवं दशवैकालिक रचना के समय प्रभव के विद्यमान होने पर भी आचार्य प्रभव और मनक से संबन्धित किसी प्रकार का प्रसङ्ग, परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थो मे संकेतित नही है।

मुनि मनक को आचार्य शय्यभव के सान्निध्य का लाभ दीर्घ समय तक प्राप्त न हो सका। सयम पर्याय के छह महीने ही बीते थे, मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया था।[८]

शय्यम्भव श्रुतधर आचार्य थे, पर वीतराग नही बने थे। पुत्र-स्नेह उभर आया। उनकी आंखें मनक के मोह से गीली हो गई।[९]

यशोभद्र आदि मुनियो ने उनसे खिन्नता का कारण पूछा। आचार्य शय्यम्भव ने बताया—"यह मेरा संसार-पक्षीय पुत्र था। पुत्र-मोह ने मुझे विह्वल कर दिया है। यह बात पहले श्रमणों के द्वारा जान लिए जाने पर आचार्य-पुत्र समझ कर कोई इससे परिचर्या नही करवाता और यह सेवा धर्म के लाभ से वञ्चित रह जाता। अतः इस भेद को आज तक मैंने श्रमणो के सामने उद्घाटित नही किया था।" श्रुतधर शय्यम्भव की गोपनीयता पर श्रमण आश्चर्यचकित रह गए।

आचार्य प्रभव के स्वर्गवास के बाद श्रुतधर शय्यभव ने धर्मसंघ का दायित्व सभाला। वीतराग-शासन की उन्होने व्यापक प्रभावना की। स्वयं से अधिक परिचित और अतिनिकट यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण समाज को यज्ञ का अध्यात्म रूप[१०] समझाकर उनको जैनधर्म के अनुकूल बनाया तथा नाना रूपो

मे जैनशासन की श्रीवृद्धि उन्होने की।

राजवंश

शय्यंभव के समय मे मगध पर नन्दो का राज्य था। नन्द राज्य की स्थापना सर्वज्ञ श्री सम्पन्न जम्बू के निर्वाण से चार वर्ष पूर्व ही हो गई थी। इस समय वीर निर्वाण को ६० वर्ष पूरे हो गए थे।[१] शय्यंभव के आचार्यपद ग्रहण के समय नन्द साम्राज्य की स्थापना के लगभग १५ वर्ष सम्पन्न हो रहे थे। समय की इस लम्बी अवधि तक नन्द साम्राज्य की नीव सुदृढ हो चुकी थी। नन्द राज्य मे अमात्य पद पर इस समय कल्पक नामक ब्राह्मण विद्वान् था। बुद्धिमान कल्पक की अमात्य पद पर नियुक्ति स्वय नन्द ने ही अति-प्रयत्न पूर्वक की थी।[१] नन्द राज्य का कल्पक सुयोग्य मन्त्री था एवं जैनधर्म के प्रति आस्थावान् था।[१] धार्मिक सस्कार कल्पक को अपने परिवार से प्राप्त थे। मन्त्री कल्पक का पिता कपिल व्रतधारी श्रावक था।[१४] उसके घर पर कई बार मुनि विराजते थे। सौभाग्य से कपिल परिवार को मुनिजनो से प्रवचन सुनने का लाभ पुन-पुन होता रहता था। आचार्य शय्यभव के प्रवचन सुनने का इस परिवार को लाभ भी किसी समय प्राप्त हुआ ही होगा, पर जैन ग्रन्थो मे कपिल परिवार का सुप्रसिद्ध जैन मत्री कल्पक का, राजा नन्द का आचार्य शय्यभव से सम्बन्धित कोई भी प्रसङ्ग प्राप्त नही है। नन्द राज्य मे जैन मन्त्री होने से आचार्य शय्यभव द्वारा वपित धर्म बीजो को फलवान बनने मे उर्वरधारा और अनुकूल वातावरण उस समय का था।

अध्यात्म का ऊर्ध्वारोहण

जीवन के सध्याकाल मे आचार्य शय्यभव ने अपने पद पर श्रुतसागर-पारीण यशोभद्र को नियुक्त किया[१५]। महान् गरिमामय इस पद के लिए आर्य यशोभद्र जैसे सुयोग्य व्यक्ति के चयन से जन-जन का मानस उल्लास से भर गया।

श्रुतबल से आचार्य शय्यंभव शार्दूल की भाति दु प्रघर्ष थे। पूर्वज्ञान से निर्यूढ सूत्र रचना का प्रारम्भ उन्ही से हुआ है। उनका जीवन ब्राह्मण सस्कृति और जैन संस्कृति का मिलन था तथा अध्यात्म का ऊर्ध्वारोहण था।

समय-संकेत

आचार्य शय्यंभव २८ वर्ष की अवस्था मे श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ३९ वर्ष की अवस्था मे आचार्य पद पर आरूढ हुए थे। सयमी जीवन के कुल ३४

वर्षों में २३ वर्ष तक युगप्रधान पद के दायित्व का निपुणता से संचालन किया। वे ६२ वर्ष तक की अवस्था में वी० नि० ९८ (वि० पू० ३७२) में स्वर्गवासी बने।"

आधार-स्थल

१. सुहम्मो नाम गणहरो आसी, तस्सवि जंबूणामो, तस्सविय पभवोत्ति, तस्सऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिंता समुपन्ना को मे गणहरो होज्जति अप्पणो गणे य संघ य सव्वओ उवओगो कओ; णं दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जभव माहण जन्नं जयमाणं पासइ।

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्राङ्क १०)

२. तेण य सेज्जभवेण दारमूलेठिएण तं वयण सुअं, ताहे सो विचिंतेइ एए उवसंता तवस्सिणो असच्च ण वयंति।

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्राङ्क १०-११)

३. जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था,

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्राङ्क १० (१))

४. मायाए से भणिअं 'मणग' त्ति तम्हा मणओ से णामं कयंति।

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्राङ्क ११ (२))

५. एवं च चिन्तयामास शय्यम्भवमहामुनिः।
अत्यल्पायुरय बालो भावी श्रुतधरः कथम् ॥८२॥

(परिशिष्टपर्व, सर्ग ५)

६. सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्यः शय्यम्भवस्तदा।
दशवैकालिक नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥८५॥

(परिशिष्टपर्व, सर्ग ५)

७. अतीते चाष्टमे वर्षे पप्रच्छेति स मातरम्।
क्व नाम मे पिता मातर्वेषेणाविधवा ह्यसि ॥६३॥

(परिशिष्ट पर्व सर्ग ५)

८. अपाठयन्मणकं तं ग्रन्थं निग्रन्थपुङ्गवः।
श्रीमान् शय्यम्भवाचार्यवर्यो धुर्यः कृपावताम् ॥८७॥
आराधनादिकं कृत्यं कारितः सूरिभिः स्वयम्।
षण्मासान्ते तु मणकः कालं कृत्वा दिवं ययौ ॥८८॥

(परिशिष्ट पर्व सर्ग ५)

९. आणंदअंसुपाय कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा ।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा य वियालणा संघे ॥
(दशवै० निर्युक्ति)

१० के ते जोई ? के व ते जोइ ठाणे ? का ते सुया ?
किं व ते कारिसंग ? ।
एहा य ते कयरा सन्ति ? भिक्खू ।
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ? ॥
तवो जोई जीवो जोइटाण जोगा सुया सरीर कारिसंगं ।
कम्म एहा सजमजोगसन्ती । होम हुणामी इसिण पसत्थं ॥
(उत्तराध्ययन अ० १२, श्लोक म० ४३, ४४)

११. अनन्तर वर्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात् ।
गताया षष्टिवत्सर्यामेप नन्दोऽभवन्नृप ॥२४३॥
(परिशिष्ट पर्व सर्ग ६)

१२ कल्पक पण्डितं बुद्धिमन्त श्रुत्वाऽथ नन्दराड् ।
आहूय प्रार्थयाञ्चक्रे ममामात्यत्त्वमाश्रय ॥४०॥
(परिशिष्ट पर्व सर्ग ७)

१३ स गर्भश्रावकत्वेन सदा सन्तोषधारक ॥२१॥
(परिशिष्ट पर्व सर्ग ७)

१४. श्रावक. कपिलो जज्ञे आचार्या ययुरन्यत ॥१३॥
(परिशिष्ट पर्व सर्ग ७)

१५. श्रीमाञ्शय्यभवः सूरिर्यशोभद्रमहामुनिम् ।
श्रुतसागरपारीण पदे स्वस्मिन्नतिष्ठिपत् ॥१०६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

१६. तत्पट्टे ४ श्रीशय्यंभस्वामी । स च स्वगृहे यज्ञ कुर्वाण पञ्चशत-द्विजै 'अहोकष्टमहोकष्ट तत्त्व न ज्ञायते क्वचिद्' इति साधुवचः श्रुत्वा यज्ञस्तम्भाध स्थितश्रीशान्तिजिन-बिम्ब-दर्शनाद् बुद्धः । अष्टाविंशतिवर्षाणि गृहे स्थित्वा व्रत लेभे । एकादश (११) वर्षाणि व्रते त्रयोविंशतिवर्षाणि युगप्रधानत्वेसर्वायुद्रर्पष्टि ६२ वर्षाणि प्रपाल्य श्रीवीरात् ९८ वर्षातिक्रमे स्वर्ययो ।
(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरुपट्टावली, पत्राङ्क १६४)

५. युगप्रहरी आचार्य यशोभद्र

यशोभद्र जैन शासन के परम यशस्वी आचार्य थे। तीर्थङ्कर महावीर के वे पचम पट्टधर थे। श्रुतधर आचार्यों की परंपरा मे उनका क्रम तृतीय था। श्रुतशार्दूल आचार्य शय्यंभव के उत्तराधिकारी श्रुतसंपन्न आचार्य यशोभद्र अपने युग के वे आचार्य थे जिन्होने अर्धशतक पर्यन्त युगप्रधानाचार्य पद को सुशोभित किया एवं दीर्घ संयम पर्याय का पालन कर अपने अमृतोपम मधुर वचनो से जन-जन को मार्गदर्शन दिया था। उनके विशद ज्ञानालोक में अङ्ग, मगध और विदेह का कण-कण जगमगा गया था।

गुरु परम्परा

आचार्य यशोभद्र के गुरु शय्यभव थे। आचार्य शय्यभव चतुर्दश पूर्वधर थे और श्रुतधर आचार्य प्रभव के शिष्य एवं उत्तराधिकारी थे। आचार्य यशोभद्र का दीक्षा-सस्कार आचार्य शय्यंभव के द्वारा हुआ था। आगमो एवं पूर्वों का गभीर अध्ययन भी आचार्य यशोभद्र को अपने दीक्षा गुरु से प्राप्त हुआ।

जन्म एवं परिवार

आचार्य यशोभद्र का जन्म ब्राह्मण परिवार मे वी० नि० ३६ (वि० पू० ४३४) मे हुआ। तुङ्गीकायन उनका गोत्र था। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने नन्दी मे यशोभद्र को तुङ्गीकायन गोत्रीय कहकर वन्दन किया है—'जस्स भद्दं तुगिय वन्दे।' आचार्य यशोभद्र के वंश, जन्म आदि की अत्यन्त संक्षिप्त सामग्री ही ग्रथो मे उपलब्ध है।

जीवन वृत्त

यशोभद्र कर्मकाण्डी विद्वान् थे। विशाल यज्ञों के आयोजनों का वे सफलतापूर्वक संचालन किया करते थे। ब्राह्मण समाज पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप थी। संयोग से उन्हे एकबार श्रुत आचार्य शय्यंभव के प्रभावक प्रवचन को सुनने का अवसर मिला। महामङ्गल कारक अध्यात्मोपदेश से ब्राह्मण यशोभद्र की जीवन धारा बदल गई। सांसारिक भोग उन्हें

नीरस लगने लगे। उनका मन सयम की ओर झुका। विरक्ति की धारा प्रबल हो उठी।

वैराग्य भावना से भावित होकर ब्राह्मण विद्वान् यशोभद्र ने २२ वर्ष की युवावस्था मे श्रमण नायक शय्यभव के पास वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) मे जैन मुनि दीक्षा ग्रहण की। जो जाति से ब्राह्मण थे, वे गुणो से ब्राह्मण बने और त्याग एव तप का महापथ स्वीकार कर जगत्पूज्य श्रमण बने। सयमी जीवन मे श्रुत सपन्न आचार्य शय्यभव का पावन सान्निध्य यशोभद्र के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ। वे १४ वर्ष तक उनके पास रहे। सयम साधनोपयोगी विभिन्न योग्यताओ का अर्जन करने के साथ पूर्व श्रुत और आगम श्रुत का ग्रहण भी श्रमण यशोभद्र ने उनसे किया। अपने दीक्षा गुरु आचार्य शय्यभव के बाद वी० नि० ९८ (वि पू० ३७२) मे आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। कुशलतापूर्वक उन्होने वीर शासन के दायित्व को सभाला। आचार्य पदारोहण के समय श्रुतधर यशोभद्र की अवस्था ३६ वर्ष की थी। मगध, अङ्ग और विदेह—ये तीनो क्षेत्र आचार्य यशोभद्र के धर्म प्रचार स्थल थे।

मगध पर यशोभद्र के आचार्य काल मे नन्दो का शासन था एव पाटलिपुत्र इस समय तक मगध का राजधानी नगर बन गया था। नन्दो के न्याय-नीति पूर्ण शासन मे मगध की भौतिक श्री परम उत्कर्ष पर थी। पाटलिपुत्र की रौनक निराली थी। प्रजा सुखी थी। धर्म प्रचार के लिए यह उपयुक्त क्षेत्र था। आचार्य यशोभद्र का लबे समय तक इस धरा पर विहरण हुआ। जन सामान्य से लेकर शासक-वर्ग तक को उनके उपदेशो ने प्रभावित किया। उनकी अमृतमयी वाणी मगध, अङ्ग और विदेह की धरा पर चतुर्दिशा मे गूजती रही। उनके अहिसक संदेश ने महान् क्रियाकाण्डी ब्राह्मणो को अध्यात्म की ओर उन्मुख बनाकर यज्ञो मे होने वाले निरीह प्राणियो की हिंसा से उन्हे मुक्त किया था। उस युग का यह एक महान् कल्याण का कार्य था।

आचार्य शय्यभव और यशोभद्र दोनो ब्राह्मण पुत्र थे। इनका अपने ब्राह्मण-समाज पर असाधारण प्रभुत्व छाया हुआ था। इसी कारण से इन दोनो आचार्यों का ७३ वर्ष का सुदीर्घ शासनकाल ब्राह्मण-समाज मे जैन संस्कृति को प्रसारित करने की दृष्टि से विशेष प्रभावक रहा। याज्ञिक क्रियाकाण्डो मे होने वाली हिंसाओ के स्थान पर अहिंसा के उद्घोष सुनाई देने लगे थे।

मोहतापतप्त विश्व को जलधर की भान्ति अर्हतोपदिष्ट धर्मधारा के द्वारा शान्ति प्रदान करते हुए आर्यधरा पर यशस्वी यशोभद्र ने सिंह तुल्य निर्भीक वृत्ति विहरण किया। उनकी कीर्तिलताए चतुर्दिग् मे विस्तृत हुईं।

संयम शैल आचार्य संभूतविजय और जैन मुकुटमणि आचार्य भद्रबाहु दोनो मेधावी मुनि आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। दोनो ही श्रमण आचार्य यशोभद्र से १४ पूर्व की पूर्ण ज्ञान संपदा ग्रहण करने मे समर्थ सिद्ध हुए[1]।

आचार्य शय्यंभव तक एक आचार्य की परंपरा थी। युग-प्रहरी आचार्य यशोभद्र ने अपने बाद संभूतविजय और भद्रबाहु-इन दोनो की आचार्य पद पर नियुक्ति की[2]। यह जैन शासन मे नई प्रवृत्ति का जन्म था।

आचार्य यशोभद्र चतुर्दश पूर्व की विशाल ज्ञान राशि से सपन्न उत्तम चरित्र के धनी, सौम्य स्वभावी और अपने समय के युग प्रहरी आचार्य थे। उनका शासनकाल अत्यन्त सुखद और शान्तिमय बना रहा, उसमें विशेष उतार-चढाव नहीं आए। यह आचार्य यशोभद्र के सक्षम व्यक्तित्व का परिणाम था।

मगध पर इस समय नन्दवश का राज्य था।

समय-संकेत

तीर्थङ्कर महावीर के उत्तरवर्ती युग प्रधान आचार्यों की परपरा में उस समय तक सर्वाधिक लंबा शासनकाल आचार्य यशोभद्र का रहा। सयम-पर्याय के कुल ६४ वर्ष के काल मे ५० वर्ष तक उन्होंने युग-प्रधान पद को अलकृत किया। आचार्य यशोभद्र का स्वर्गवास वी० नि० १४८ (वि० पू० ३२२) मे ८६ वर्ष की अवस्था मे हुआ[3]।

आधार-स्थल

(१) मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी।
चतुर्दशपूर्वधरौ तस्य शिष्यौ बभूवतु.॥३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

(२) सूरि श्रीमान्यशोभद्रः श्रुतनिध्योस्तयोर्द्वयोः।
स्वमाचार्यकमारोप्य परलोकमसाधयत्॥४॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

(३) तत्पट्टे ५ श्रीयशोभद्रस्वामी। स च २२ वर्षाणिगृहे, १४ वर्षाणि व्रते, ५० वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुः षडशीति ८६ वर्षाणि प्रपाल्य श्रीवीरात् १४८ वर्षान्ते स्वर्ययौ।
(पट्टावलीसमुच्चय, श्रीगुरुपट्टावली, पृ० १६४)

६. संयम-सूर्य आचार्य सम्भूतविजय

आचार्य संभूतविजय जैन श्वेताबर परपरा के गौरवशाली आचार्य थे। तीर्थङ्कर परंपरा के वे छट्ठे पट्टधर थे। श्रुतकेवली की परपरा मे वे चतुर्थ श्रुतकेवली थे। महामात्य शकडाल के दोनो पुत्रो एव सातो पुत्रियो ने आचार्य संभूतविजय से दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को धन्य किया।

गुरु परम्परा

आचार्य सभूतविजय के दीक्षा गुरु और विद्या गुरु श्रुतधर आचार्य यशोभद्र थे। आचार्य यशोभद्र आचार्य शय्यभव के शिष्य थे और प्रभव के प्रशिष्य थे। उनसे पूर्व प्रथम पट्टधर आचार्य सुधर्मा और द्वितीय पट्टधर आचार्य जंबू हुए थे।

सप्तम आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु सभूतविजय के गुरु बन्धु थे। दोनो आचार्य यशोभद्र से दीक्षित थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य संभूतविजय का जन्म वी० नि० ६६ (वि० पू० ४०४) मे ब्राह्मण वश मे हुआ। नन्दी सूत्रकार ने—'सभूय चेव माढर' कहकर सभूतविजय को वन्दन किया है। इस आगम पद्य के आधार पर श्रुतधर सभूति विजय का गोत्र माठर था। गृहस्थजीवन का अन्य परिचय अज्ञात है।

जीवन-वृत्त

आचार्य सभूतविजय का जन्म ब्राह्मण परिवार मे होने के कारण उस धर्म और दर्शन के सस्कार उन्हे बाल्यकाल से ही प्राप्त थे। आचार्य यशोभद्र से उपदेशामृत का पान कर वे जैन सस्कारो मे ढले। परम वैराग्य-पूर्वक उन्होने वी० नि० १०८ (वि० पू० ३६२) मे सभूतविजय से मुनि दीक्षा ग्रहण की। श्रमणाचार की शिक्षाएं पाईं। आगमो का गंभीरता से अध्ययन किया और पूर्वों की विशाल ज्ञान राशि को पूर्णत ग्रहण कर श्रुतधर आचार्यो की परपरा मे स्थान पाया।

आचार्य यशोभद्र के बाद वी० नि० १४८ (वि० पू० ३२२) मे वे

आचार्य पद पर आरूढ़ हुए ।

श्रमणो की शोभा आचार्य से एंव आचार्य की शोभा श्रमण से होती है। जिस सघ मे तपस्वी श्रुतसम्पन्न श्रमण होते हैं वह संघ तेजस्वी होता है। एवं संघनायक धर्म की प्रभावना के कार्य मे अधिक सक्षम होते हैं । आचार्य सम्भूतविजय के संघ में श्रेष्ठ श्रमण सम्पदा थी। श्रुतसम्पन्न आचार्य भद्रबाहु उनके गुरुभ्राता श्रमण थे । घोर अभिग्रहधारी श्रमण भी उनके शिष्य परिवार मे कई थे ।

एक बार चार विशिष्ट साधक मुनि आचार्य सम्भूतविजय के पास आये । एक ने सिंह की गुफा मे, दूसरे ने सर्प की बाबी पर, तीसरे ने कुए की पाल पर तपपूर्वक चातुर्मास करने का घोर अभिग्रह धारण किया[1] और अपने लक्ष्य की ओर वे प्रस्थित हुए । आर्य स्थूलभद्र ने वह चातुर्मास पूर्व परिचिता गणिका कोशा की चित्रशाला मे किया । चातुर्मास की सम्पन्नता पर चारो मुनि लौटे । आचार्य सम्भूतविजय ने प्रथम तीन मुनियो का सम्मान 'दुष्क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर किया था। श्रमण स्थूलभद्र के आगमन पर स्वय आचार्य संभूतविजय सात-आठ पैर सामने गए और 'महादुष्कर क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर उन्हें विशेष सम्मान प्रदान किया ।[2]

स्वर्गोपम चित्रशाला मे सुखपूर्वक चातुर्मास सम्पन्न करने वाले श्रमण स्थूलभद्र के प्रति 'महादुष्कर क्रिया के साधक' जैसा आदरसूचक सम्बोधन सुनकर तीनो घोर अभिग्रहधारी मुनियो के मानस मे प्रतिस्पर्धा का प्रबल भाव जागृत हुआ । उन्होने मन-ही-मन सोचा—अमात्य-पुत्र होने के कारण आचार्य सभूतविजय ने 'षट्रस भोजी' मुनि स्थूलभद्र को इतना सम्मान प्रदान किया है।[1] सरस भोजन करने से मह दुष्कर साधना निष्पन्न हो सकती है तो कोई भी साधक इस साधना मे सफल हो सकता है ।

मात्सर्य भाव से आक्रान्त उन श्रमणो के लगभग आठ महीने व्यतीत हुए । सिंह-गुफावासी मुनि ने आचार्य सभूतविजय के पास आकर प्रार्थना की—"गुरुदेव ! मैं आगमी चातुर्मास गणिका 'कोशा' की चित्रशाला मे करना चाहता हूं ।"

आचार्य सम्भूतविजय के योग-दर्पण में अवांछनीय घटना का भावी प्रतिबिम्ब झलक रहा था[4] । उन्होंने कहा—"वत्स ! इस महान् दुष्कर अभिग्रह को ग्रहण मत करो । अद्रिराज की तरह स्थिर स्थूलभद्र जैसा व्यक्ति

ही इस प्रकार के अभिग्रह को निभा सकता है ।"

मुनि बोले—"मेरे लिए यह अभिग्रह दुष्कर नही है । आप जिसे दुष्कर-दुष्कर कह रहे हैं, वह मार्ग मेरे लिए बहुत आसान है । "

आर्य सम्भूतविजय ने मधुर स्वरो मे पुन. प्रशिक्षण देते हुए कहा— "इस अभिग्रह मे तुम सफल नही बन सकोगे । तुम्हारा पूर्व तपोयोग भी भ्रष्ट हो जाएगा । दुर्बल कधों पर आरोपित अतिभार गात्र-भग का निमित्त बनता है ।" आर्य संभूतविजय इतना कह कर मौन हो गए । दर्प-दलित, ईर्ष्यानागदंशित सिंह-गुफावासी मुनि गुरु के वचनों को अवगणित कर गणिका कोशा की चित्रशाला की ओर बढ गए । अविरल गति से चलते चरण मजिल के निकट पहुचे और चित्रशाला मे पावस बिताने के लिए कोशा गणिका से आदेश मागा ।

कोशा बुद्धिमती महिला थी । उसने समझ लिया, तपस्वी मुनि का आगमन मुनि स्थूलभद्र की स्पर्धा के कारण हुआ है । वह व्यवहारकुशल भी थी। उसने उठ कर वदन किया और अपनी चित्रशाला चातुर्मास के लिए उन्हें समर्पित कर दी ।

सिंह-गुफावासी मुनि स्वय को जितेन्द्रियता के जिस उच्चतम बिन्दु पर मान रहे थे उससे यथार्थ मे व बहुत दूर थे । आर्य स्थूलभद्र जैसा दृढ मनोबल उनके पास नही था । षट्रसपूर्ण भोजन की परिणति वासना का तीव्र ज्वार लेकर उभरी । कमलनयनी गणिका कोशा के अनुपम रूप पर मुनि का मन एक ही दिन मे विक्षिप्त हो गया । धर्मोपदेश के स्थान पर मुनि ने कोशा के समक्ष काम-प्रार्थना प्रस्तुत की । कवि ने ठीक ही कहा है— "अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धु; कामातुराणा न भय न लज्जा ।" अर्थातुर व्यक्ति के लिए न कोई गुरु है, न कोई बन्धु, कामार्त्त व्यक्ति के लिए न भय है, न लज्जा ।

वज्जिय लज्जो अज्झोववन्नऊ तय लग्गो ।
निउण मईए मीए, भणिओ किं देसि मे कहसु ।।७६।।

(उप० विशेष वृति पृ० २१३८)

सिंह गुफावासी मुनि को प्रार्थना करते समय न लज्जा की अनुभूति हुई न अपयश का भय ही लगा ।

साधक स्थूलभद्र के सम्यक् सबोधि-प्राप्त गणिका कोशा स्वय मे पूर्ण सजग एवं सावधान थी । वह राजा के आदेश के अतिरिक्त किसी भी पुरुष

से काम-सम्बन्ध जोड़ने का परित्याग कर चुकी थी। मुनि को प्रशिक्षण देने की दृष्टि से उसने कहा—"मुने! मैं गणिका हूं। गणिका उसी की होती है जो प्रचुर मात्रा में द्रव्य दान कर सकता है। आपके पास मुझे समर्पित करने के लिए क्या है?"

मुनि ने कातर नयनों से गणिका की ओर झांकते हुए कहा—"मृगलोचने! बालुकणो से कभी तेल नहीं निकलता। हमारे जैसे अकिंचन व्यक्तियों से धन की आशा रखना व्यर्थ है। तुम प्रसन्न बनो और मेरी कामना पूर्ण करो।" विवेक-सम्पन्न कोशा बोली—"मुने! नेपाल देश का राजा प्रथम समागत मुनिजनो को लक्षमुद्रा मूल्य की रत्न कम्बल प्रदान करता है। वह कम्बल मेरे सामने प्रस्तुत कर सको तो इस विषय मे कुछ सोचा जा सकता है।"

कामासक्त व्यक्ति हिताहित का सम्यक् समालोचन नही कर सकता। मुनि भी अपनी संयत मर्यादा को भूल चातुर्मासिक काल मे ही वहा से चल पड़े। सैकड़ों कोस धरती पार कर नेपाल पहुंचे और अत्यन्त कठिनता से रत्नकम्बल को प्राप्त कर लौटे। रास्ते मे भीषण आपत्तियों का सामना भी उन्हे करना पड़ा। कभी तीव्र ताप से तापित धरती की तपन पैरों को झलसाती, कभी सर्दी की ठिठुरन शरीर को कपकंपा देती थी। भूख-प्यास से आकुल मुनि के लड़खड़ाते चरण, विशालकाय पहाड़ो की ककरीली दरारो, बरसाती हवाओ से सर्पिणी की भांति फुफकारती बिफरी नदियो एव बीहड़ वनो को लाघते आगे बढ़ते रहे। मार्ग मे चोरो का आवासस्थल था। उसके पास पहुंचते ही शकुन-सूचक पक्षी बोला—"आयाति लक्षम्"—लक्ष मुद्राओ का द्रव्य आ रहा है। पक्षी की भाषा को समझ कर स्तेनाधिपति ने द्रुमारूढ चोर से पूछा—"मार्ग पर कोई आता हुआ दिखाई दे रहा है?"

"आगच्छन् भिक्षुरेकोऽस्ति न कश्चित्तादृशोऽपर.।" चोर ने कहा—"एक भिक्षु के अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर नही हो रहा।"

चोर सम्राट् ने आदेश दिया—"निकट आने पर आगन्तुक को लूट लिया जाए।" चोरों ने वैसा ही किया पर भिक्षु के पास कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। स्तेनदल से मुक्ति पाकर ज्योंही मुनि के चरण आगे बढे, पक्षी पुनः बोला—

"एतल्लक्षं प्रयाति"

पक्षी से संकेत पाकर स्तेनराट् सहित चोरो ने उसे घेर लिया और

कहा—

"सत्यं ब्रूहि किमस्ति ते ?

—भिक्षुक ! सत्य कहो, तुम्हारे पास क्या है ?

मुनि का हृदय काप गया। वे बोले—"मेरी इस प्रलम्बमान वंश-यष्टि में रत्नकम्बल निहित है। मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए इसे नेपाल सम्राट् से याचना करके लाया हूं।" चोरो ने मुनि की क्लीवता पर अट्टहास किया और दयापात्र समझकर रत्नकबल का अपहरण किए बिना ही उन्हें छोड़ दिया।

सिंह-गुफावासी मुनि अत्यन्त आह्लाद के साथ अवशिष्ट मार्ग को पार कर चित्रशाला के निकट पहुंचा। उसका मन प्रसन्नता से नाच रहा था।

गणिका कोशा के चरणो मे रत्नकंबल का मूल्यवान् उपहार प्रदान कर वे उसकी कृपादृष्टि पाने को आतुर हो उठे। रत्नकंबल को देखकर गणिका कोशा की मुद्रा गंभीर हो गई। अस्थियो से चिपकी चर्म एव फटे-पुराने चिथड़ो मे लिपटा मुनि का शरीर हड्डियो का ढांचा मात्र लग रहा था। विवेक-संपन्ना गणिका कोशा ने रत्नकंबल से अपने पैरो को पोछा और उसे गंदी नाली मे गिरा दिया। मुनि चौके और बोले—"कंबुकठे ! अति कठिन श्रम से प्राप्त महामूल्य की इस रत्नकंबल को आप जैसी समझदार महिला के द्वारा यह उपयोग किया जा रहा है !"

मुनि को आश्चर्यचकित देखकर सयम जीवन की महत्ता उन्हें समझाती हुई गुणवती कोशा ने कहा—महर्षे ! इस साधारण-सी कबल के लिए इतनी चिन्ता ? संयम रत्नमयी कंबल को खोकर आप अपने जीवन मे इससे भी बड़ी भूल नही कर रहे हैं ?[१]"

गणिका कोशा की सम्यक् वाणी के स्नेह दान से सिंह-गुफावासी मुनि के मानस मे सवेग-दीप जल गया। सयम जीवन की स्मृति हो आई। हृदय अनुताप की अनल मे जलने लगा। वे कृतज्ञ स्वरो मे गणिका से बोले—

"बोधितोऽस्मि त्वया साधु संसारात्साधु रक्षितः"

—सुव्रते ! तुमने मुझे बोध दिया है। वासना चक्र की उत्ताल वीचि-समूह मे ऊब-डूब करती मेरी जीवन नौका की तुमने सुरक्षा की है। मैं आर्य संभूतविजय के पास जाकर आत्मालोचनपूर्वक शुद्ध बनूगा।

गणिका कोशा बोली—"ब्रह्मचर्य व्रत मे स्थिर करने के लिए आपको महान् क्लेश प्रदान किया है। यह आपकी आशातना मेरे द्वारा बोध प्रदानार्थ

हुई है। मेरे इस व्यवहार के लिए मुझे क्षमा करें और श्रेय मार्ग का अनुशरण करें।"[7]

सिंह-गुफावासी मुनि गणिका-गृह से विदा हो, खिन्नमना आचार्य संभूतविजय के पास पहुंचे। वे कृत-दोष की आलोचना कर संयम में पुनः स्थिर हुए एवं कठोर तप साधना का आचरण करने लगे।[8]

उत्तम-पुरुषों के साथ सत्त्वहीन मनुष्यों का प्रतिस्पर्धा-भाव उनके अपने लिए ही हानिकारक होता है। कवि ने ठीक ही कहा है—

अहो ! का काकानामहमहमिका हंसविहगैः,
सहामर्ष. सिंहैरिह हि कतमो जंबुकतुकाम् ।
यत स्पर्द्धा कीदृक् कथय कमलैः शैवलतते,
सहासूया सद्भि खलु खलजनस्यादि कतमा ।।९४।।
(उपदेशमाला, विशेष वृति, पृष्ठ २३९)

हंसो के साथ काको की अहं-अहमिका, सिंह के साथ शृंगाल की ईर्ष्या, कमल के साथ शैवाल की स्पर्धा एव सज्जन मनुष्यों के साथ खल मनुष्यों की असूया निभ नही पाती।

यह बात सिंह-गुफावासी मुनि की समझ मे आ गई। उनका मानस श्रमण स्थूलभद्र के अनन्त मनोबल पर सहस्र-सहस्र साधुवाद दे रहा था।

मज्झवि ससग्गीए, अग्गीए जो तया सुवन्न व ।
उच्छलिय बहलतेओ, स थूलभद्दो मुणी जयउ (इ) ।।१६।।
(उपदेशमाला विशेष वृति, पृ० २४१)

स्त्री के ससर्ग मे रहकर भी जिनकी साधना का तेज अग्नि के मध्य प्रक्षिप्त स्वर्ण की भांति अधिक प्रदीप्त हुआ। उन स्थूलभद्र की जय हो।

चारों ओर से इस प्रकार स्थूलभद्र की जय बोली जा रही थी। आचार्य सम्भूतविजय के शासन-काल से सबधित इतिहास की यह घटना अनेक दुर्बल आत्माओ के मार्ग-दर्शन मे प्रकाश-दीपिका होगी।

सिंह-गुफावासी मुनि के जीवन का यह प्रसंग विनय भाव को भी पुष्ट करता है—

जो कुणइ अप्पमाण,
गुरुवयण न य लहइ उवएस ।
सो पच्छा तह सोअइ,
उवकोसघरे जह तवस्सी ।।६१।।
(उपदेशमाला विशेष वृति, पृ० २४३)

जो गुरु के वचनो को अप्रमाण करता है, विनय पूर्वक उन्हें स्वीकार नहीं करता है वह उपकोशा के घर समागत सिंह-गुफावासी तपस्वी की भांति अनुताप करता है।

उपदेशमाला का यह श्लोक कोशा के स्थान पर उपकोशा की सूचना देता है। उपकोशा कोशा गणिका की भगिनी थी।

आचार्य संभूतविजय का शिष्य परिवार विशाल था। कल्पसूत्र स्थविरावली में उनके बारह शिष्यो का उल्लेख है।[९] उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) नन्दनभद्र (२) उपनन्दनभद्र (३) तीसभद्र (४) यशोभद्र (५) सुमणिभद्र (६) मणिभद्र (७) पुण्यभद्र (८) स्थूलभद्र (६) उज्जुमइ (१०) जंबू (११) दीहभद्र (१२) पण्डुभद्र।

आचार्य संभूतविजय का श्रमणी वर्ग अत्यन्त प्रभावक था। यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा—सातो महामात्य शकडाल की प्रतिभासंपन्न पुत्रियां आचार्य सभूतविजय के पास दीक्षित हुई थी।[१०] इनका दीक्षा-संस्कार आर्य स्थूलभद्र के बाद हुआ था।

महामात्य पद पर गौरवप्राप्त राजानन्द की अपार कृपा का केन्द्र, सुकोमल तनु, सरल स्वभावी, बुद्धि वैभव से समृद्ध श्रीयक ने भी यक्षा आदि अपनी सातो भगिनियो के साथ वी० नि० १५३ (वि० पू० ३१७) मे आचार्य संभूतविजय के पास दीक्षा ग्रहण की थी।[११] एक ही आचार्य के शासन-काल मे दीक्षित होने वाले बन्धुद्वय (आर्य स्थूलभद्र एव मुनि श्रीयक) मुनियो के मिलन का कोई भी प्रसंग ऐतिहासिक सामग्री मे उपलब्ध नही हो सका है। मुनि श्रीयक से आर्य स्थूलभद्र लगभग ७ वर्ष पहले दीक्षित हो गए थे।

यक्षादि भगिनियो के साथ भ्राता श्रीयक का घटना-प्रसग अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयद्रावक है। श्रीयक का शरीर अत्यन्त कोमल था। एक भक्त तप भी उसके लिए कठिन था। एक दिन ज्येष्ठ भगिनी साध्वी यक्षा से प्रेरणा पाकर मुनि श्रीयक ने पर्युषण पर्व के दिनो मे एक बार क्रमशः प्रहर, अर्ध दिन एव अपार्ध दिन तक भोजन ग्रहण करने का परित्याग कर लिया था। मुनि श्रीयक के लिए तप: साधना का यह प्रथम अवसर था। अन्न का एक कण न ग्रहण करने पर भी दिन का अधिकाश भाग सुखपूर्वक कट गया। भगिनी यक्षा ने कहा—"भ्रात! रात्रि निकट है। नींद मे सोते-सोते ही समय कट जायेगा। तपः प्रधान पर्युषण चल रहा है। अब उपवास कर लो।" ज्येष्ठ

भगिनी की शिक्षा को ग्रहण कर श्रीयक ने उपवास तप स्वीकार कर लिया।

निशा में भयंकर कष्ट हुआ। क्षुधा-वेदना बढ़ती गयी। देव गुरु का स्मरण करता हुआ श्रीयक स्वर्गगामी बना।[१२]

भ्राता के स्वर्गवास की बात सुनकर साध्वी यक्षा को तीव्र आघात लगा। भाई की इस आकस्मिक मृत्यु का निमित्त स्वय को मानती हुई वह उदास रहने लगी। ऋषिघात जैसे भयकर पाप के प्रायश्चित्त के लिए उसने अपने को सघ के सामने प्रस्तुत किया। सघ ने साध्वी यक्षा को निर्दोष मानते हुए कोई दड नहीं दिया, पर इससे यक्षा के मन को संतोष नही था। उसने अन्न ग्रहण करना छोड दिया। संघ की सामूहिक साधना से शासन-देवी प्रकट हुई। वह साध्वी यक्षा के मनस्ताप को उपशांत करने के लिए उसे महाविदेह क्षेत्र मे श्री सीमधर स्वामी के पास ले गई। श्री सीमंधर स्वामी ने बताया—"मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिए तुम दोषी नही हो।" वीतराग प्रभु के अमृतोपम वचन सुनकर साध्वी यक्षा को तोष मिला। उद्वेलित मन को समाधान मिला। जैन शासन मे अत्यधिक प्रसिद्ध चार चूलिकाओ की उपलब्धि साध्वी यक्षा को श्री सीमधर स्वामी के पास हुई।[१३] इन चार चूलिकाओ मे से दो चूलिकाओ का सयोजन दशवैकालिक सूत्र के साथ एवं दो चूलिकाओ का संयोजन आचाराग सूत्र के साथ हुआ है।[१४] ये चूलिकाएं आज आगम का अभिन्न अग बनी हुई हैं। साधुचर्या की महत्ता इन चूलिकाओं के माध्यम से समझी जा सकती है।

आचार्य स्थूलभद्र के द्वारा दशपूर्व ग्रहण करने के बाद पाटलिपुत्र मे आचार्य भद्रबाहु के आदेश से यक्षा आदि साध्वियां ज्येष्ठ भ्राता के दर्शनार्थ गयी थी। सिह के रूप मे उन्हे पाकर डर गई थी। अल्प समय के बाद ही उन्हें मुनि के रूप मे प्राप्त कर प्रसन्न भी हुई थीं। इसी प्रसग पर बहिनो ने आर्य स्थूलभद्र को श्रीयक से संबंधित यह सारा वृत्तान्त सुनाया था। मुनि श्रीयक के स्वर्गवास सबंधी सवत् का कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। संभवतः संभूत-विजय के शासनकाल मे ही मुनि श्रीयक की जीवनयात्रा सुखपूर्वक संपन्न हो गई थी।

आचार्य संभूतविजय के द्वारा स्थूलिभद्र की दीक्षा वी० नि० सं० १४६ (वि० पू० ३२४) मे हुई थी।

परमयशस्वी आचार्य यशोभद्र का स्वर्गवास वी० नि० सं० १४८ (वि० पू० ३२२) में हुआ था। इन सन्दर्भों के अनुसार स्थूलभद्र के दीक्षा-

ग्रहण के समय आचार्य यशोभद्र विद्यमान थे। अत आचार्य यशोभद्र के रहते हुए भी अमात्य पुत्र आचार्य स्थूलभद्र का दीक्षा-सस्कार आचार्य संभूतविजय के द्वारा किया जाना इतिहास का वह बिन्दु है जो तत्कालीन धर्म संघ की व्यवस्था का सकेतक है।

संभूतविजय और भद्रबाहु दोनो आचार्य यशोभद्र के चतुर्दश पूर्वधर शिष्य थे।[१५] स्थूलभद्र को आचार्य पद पर नियुक्त करने का कार्य श्रुतधर भद्रबाहु ने किया।

संभूतविजय के गुणानुवाद मे पट्टावली समुच्चय का श्लोक है—

संभूतपूर्वो विजयो गुरुस्तत्पट्ट श्रिया पल्लवयाचकार।
कदम्बजबूकुटजावनीजकुज नभोम्भोद इवाम्बुवृष्ट्या ॥२६॥
(पट्टावली-समुच्चय श्री महावीर पट्टपरम्परा पृ० १२३)

समकालीन राजवंश

सभूतविजय के आचार्यकाल मे नन्द राज्य उत्कर्ष पर था। भौतिक और अध्यात्म-सस्कारो से समृद्ध करने का महान् कार्य आचार्य सभूतविजय ने किया था।

नन्दो के १५५ वर्ष के राज्यकाल मे ९ नन्द हुए।[१६] शकडाल नवमे नन्द के समय महामात्य के पद पर नियुक्त था।[१७] शकडाल के पुत्र स्थूलभद्र ने श्रुतधर सभूतविजय के पास दीक्षा ग्रहण की। इस दृष्टि से सभूतविजय के समय मे नवमे नन्द का सत्ताकाल सिद्ध होता है, पर ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से नवमे नन्द के शासनकाल मे वी० नि० २१५ मे नन्द साम्राज्य का पतन होता है। सभूतविजय का स्वर्गवास वी० नि० १५६ (वि० पू० ३१४) मे ही हो जाता है। इस आधार पर आचार्य सभूतविजय के शासन-काल मे नवमे नन्द का और शकडाल अमात्य का सत्ता समय गभीर अनुसधान का विषय है।

संयम साधना के प्रेरणा स्रोत

आचार्य संभूतविजय धर्म-जागरणा के मूर्त्तरूप थे। उनके महामंगल-कारी उपदेश से जन-जन को जीवन का अनुपम पाथेय मिला, सहस्रो-सहस्रों चरण सयम-भाव की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित हुए। शकडाल के परिवार की अत्यन्त प्रभावकारी ९ श्रमण दीक्षाएं आचार्य सभूतविजय द्वारा हुईं। अमात्य के पूरे परिवार का ही इस प्रकार से सयम साधना हेतु समर्पित हो

जाना उस युग की आश्चर्यजनक घटना थी। जिसके प्रेरणास्रोत थे संयम साधना के सूर्य अतिशय प्रभावी आचार्य सम्भूतविजय।

समय-संकेत

आचार्य सभूतविजय चतुर्थ श्रुतकेवली थे। वे ४२ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। सामान्य स्थिति मे ४० वर्ष तक उन्होने साधु-चर्या का पालन किया। उनका आचार्यत्व-काल आठ वर्ष का था। ज्ञान-रश्मियो से भव्यजनो का पथ आलोकित करते हुए सयम-सूर्य आचार्य सभूतविजय वी० नि० १५६ (वि० पू० ३१४) मे स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१ पत्ते वासरत्ते, तिण्णि मुणी तिव्वभवमउव्विग्गा।
गिण्हति कमेणेए, अभिग्गहे दुग्गहसरूवे ॥६०॥
एगो सीहगुहाए, अन्नो दारूण विसाहिव सहीए।
कूबफलयंमि अन्नो, चाउम्मास ठिओऽणसणो ॥६१॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ० २३७)

२ अब्भुट्ठिया मणाग, दुक्करकारीण मागय तुब्भ।
आसासिया कमेण, गुरुणा ता थूलभद्दोवि ॥६६॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ० २३८)

३. इदमामन्त्रण मन्त्रिपुत्रताहेतुक खलु ॥१३७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

४. उवउत्तेण गुरुणा, नाय पार न पाविही एसो।
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ० २३८)

५ नेवालजणवए जह, राया पुव्वस्स साहुणो देइ।
कंबलरयण सयसहस्समोल्लमेसो तहिं जाइ ॥८१॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ० २३८)

६ ता तं एय सोयसि, न उणो गुणरयणठाणमप्पाणं।
ता इय गए वि भयवं, संभरसु पवित्तनियपयवि ॥६०॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३६)

७ आशातनेयं युष्माकं बोधहेतोर्मया कृता।
क्षन्तव्या सा गुरुवच श्रयध्वं यात सत्वरम् ॥१६७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

८. इच्छामीति वदन् गत्वा सभूतविजयान्तिके ।
गृहीत्वालोचना तीक्ष्णमाचचार पुनस्तपः ।।१६८।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

६. थेरस्स ण अज्जसभूयविजयस्स·········इमे दुवालस थेरा अतेवासी····
होत्था, तं जहा—
नंदणभद्दे उवनंदभद्द तह तीसभद्द जसभद्दे ।
थेरे य सुमिणभद्दे मणिभद्दे य पुन्नभद्देय ।।१।।
(कल्पसूत्र २०८)

१० थेरे य थूलभद्दे उज्जुमती जंबुनामधेज्जे य । थेरे य दीहभद्दे थेरे तह पंडुभद्दे य ।। थेरस्स ण अज्जसभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नाताओ होत्था, त जहा—
जक्खाय जक्खदिन्ना भूया तहेव होई भुईदिन्ना य ।
सेणा वेणा रेणा भगिणीओ थूलभद्दस्स ।।१।।
(कल्पसूत्र २०८)

११. श्रीयक· सममस्माभिर्दीक्षामादत्त किं त्वसौ ।
क्षुधावान्सर्वदा कर्तुं नैकभक्तमपि क्षम ।।
(परि० पर्व, सर्ग ६ श्लोक ८४)

१२. ततो निशीथे सम्प्राप्ते स्मरन्देव गुरुनसौ ।
क्षुत्पीडया प्रसरन्त्या विपद्य त्रिदिव ययौ ।।
(परि० पर्व, सर्ग ९ श्लोक ८६)

१३. श्री सङ्घायोपदा प्रैषीन्मन्मुखेन प्रसादमाक् ।
श्रीमान्सीमन्धर स्वामी चत्वार्यध्ययनानिच ।।
भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम ।
तथा विचित्रचर्या च तानि चैतानि नामत. ।।
(परि० पर्व, सर्ग ६, श्लोक ६७-६८)

१४. आचाराङ्गस्य चूले द्वे आद्यमध्ययनद्वयम् ।
दशवैकालिकस्यान्यदथ संघेन योजितम् ।।
(परि० पर्व, सर्ग, ६ श्लोक १००)

१५. मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी ।
चतुर्दशपूर्वधरौ तस्य शिष्यौ बभूवतु. ।।
(परि० पर्व, सर्ग ६ श्लोक ३ पृ० ५६)

१६. "पणवन्न सयं तु होइ नन्दाणं।"

(मेरुतुङ्गकृत विचार श्रेणि)

१७. ततस्त्रिखण्डपृथिवीपतिः पतिरिव श्रियः।
समुत्खातद्विषत्कन्दो नन्दो ऽभून्नवमो नृपः॥
विशङ्कटश्रियां वासो ऽसङ्कट शकटो धियाम्।
शकटाल इति तस्य मन्त्र्यभूत्कल्पकान्वयः॥

(परि० पर्व, सर्ग ८ श्लोक ३,४)

भवाब्धि पोत आचार्य भद्रबाहु

श्रुतधर परपरा मे आचार्य भद्रबाहु पाचवे श्रुतधर थे। अर्थ की दृष्टि से वे अन्तिम श्रुतधर थे। नेपाल की गिरि कन्दराओ मे उन्होंने महा-प्राण ध्यान की विशिष्ट साधना की। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परपराओ मे उनको श्रुतधर आचार्य के रूप मे आदरास्पद स्थान प्राप्त हुआ। इसका कारण आचार्य भद्रबाहु का प्रभावशाली तेजोमय व्यक्तित्व था।

गुरु-परम्परा

आचार्य भद्रबाहु के दीक्षा-गुरु और शिक्षा-गुरु यशोभद्र थे। यशोभद्र श्रुतधर आचार्य थे। वे श्रुतधर आचार्य शय्यभव के शिष्य थे। उनसे पूर्व प्रथम श्रुतधर आचार्य प्रभव हुए थे। यशोभद्र ने अपने स्थान पर सभूत-विजय और यशोभद्र दोनों शिष्यो की नियुक्ति की। सभूतविजय भद्रबाहु के ज्येष्ठ गुरुबन्धु थे। यशोभद्र के बाद जिन शासन का दायित्व सभूतविजय ने सभाला। सभूतविजय के बाद यह गुरुत्तर दायित्व भद्रबाहु ने सभाला अत पट्ट परपरा के क्रम मे आचार्य भद्रबाहु भगवान महावीर के सातवें पट्टधर थे।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु की पूर्व की गुरु परपरा मे सर्वज्ञ श्री सपन्न आचार्य जबू के बाद श्रुतकेवली विष्णु, नन्दी-मित्र, अपराजित, गोवर्धन नामक आचार्य क्रमशः हुए। गोवर्धन के शिष्य भद्रबाहु थे[1]।

जन्म एवं परिवार

प्रबधकोश, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ग्रन्थो मे भद्रबाहु के नाम के साथ वंश, जन्म, परिवार आदि की उपलब्ध सामग्री द्वितीय भद्रबाहु से सबन्धित है। श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के जीवन प्रसग 'तित्थोगालिय पइन्ना' आवश्यक चूर्णि, निर्युक्ति आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध है, उनमे उनके गृहस्थ जीवन से सबन्धित सामग्री का उल्लेख नहीं है। नन्दी सूत्र के अनुसार भद्र-बाहु का 'प्राचीन' गोत्र था[2]। 'दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति' मे भी सकल श्रुत

संपन्न आचार्य भद्रबाहु को 'प्राचीन' गोत्री कहकर वन्दन किया गया है।[१] ब्राह्मण समाज में प्रचलित इस गोत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि भद्रबाहु का जन्म संभवतः ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनका जन्म संवत् वी० नि० ९४ (वि० पू० ३७६) है।

जीवन-त्त्व

श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु को प्रकृति से श्रेष्ठ शरीर संपदा प्राप्त थी। 'तित्थोगालिय पइन्ना' मे उल्लेख है—

सत्तमनो थिर बाहु जाणुयसीससुपडिच्छिय सुबाहु।
नामेणा भद्दबाहु अविही साधम्म सद्दोत्ति (२) ॥७१४॥
सोविय चोद्दस पुव्वी, बारस वासाइ जोग पडिवन्नो।
सुतत्थेण निबंधइ, अत्थं अज्झयण बंधस्स ॥७१५॥

योग साधक श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु महासत्व सपन्न थे। उनकी आजानु भुजाएं प्रलम्बमान सुन्दर, सुदृढ और सुस्थिर थीं। इसी ग्रंथ का एक और श्लोक है—

तो वदिऊण पाएसु, भद्दबाहुस्स दहि बाहुम्स।
पुच्छन्नि भाउओ मो, कत्थगतो थूलभद्दो त्ति ॥७५६॥

यहा भी भद्रबाहु को 'दीर्घ-भुजा' विशेषण से संबोधित किया गया है। पंचकल्प महाभाष्यकार के शब्दो में भद्रबाहु नाम उनकी सुन्दर भुजाओ के कारण था। वह पद्य इस प्रकार है—

भद्दनि सुन्दर त्ति य पुल्लथो जत्थ सुन्दरा बाहू।
सो होति भद्दबाहू गोण्णं जेणं तु वालत्ते ॥७॥

शरीर लक्षण शास्त्र के अनुसार लंबी भुजाएं उत्तम पुरुषों के होती है।

भद्रबाहु ने वैराग्यपूर्वक श्रुतधर आचार्य यशोभद्र के पास वी० नि० १३९ (वि० पू० ३३१) में मुनि-दीक्षा ग्रहण की, गुरु के पास १७ वर्ष तक रहकर उन्होने आगमो का गभीर अध्ययन किया। पूर्वों की संपूर्ण श्रुतधारा को आचार्य यशोभद्र से ग्रहण करने मे वे सफल हुए। आचार्य यशोभद्र के बाद धर्मसंघ का दायित्व संभूतविजय के कंधो पर आया। संभूतविजय का शासनकाल ८ वर्ष का था। संभूतविजय के स्वहस्त दीक्षित बुद्धिमान शिष्य स्थूलभद्र थे। भद्रबाहु संभूतविजय के सतीर्थ्य बन्धु थे। स्थूलभद्र से वय ज्येष्ठ और संयम पर्याय मे ज्येष्ठ होने के कारण भद्रबाहु का अनुभव ज्ञान

अधिक परिपक्व था । उनके पास आगम ज्ञान और पूर्व ज्ञान का अक्षय भंडार था । उस समय केवल श्रमण स्थूलभद्र एकादशाङ्गागम के धारक थे । उनका दृष्टिवाद का अध्ययन पूरा-का-पूरा अवशिष्ट था । पूर्वांशो के ज्ञाता भी वे नहीं थे । गुरु-शिष्य की परंपरा के आधार पर आचार्य संभूतविजय के बाद श्रमण स्थूलभद्र का क्रम होते हुए भी महामेधावी मुनि भद्रबाहु ने वी० नि० १५६ (वि० पू० ३१४) मे आचार्य पद का दायित्व सभाला था ।

परिशिष्ट पर्व के अनुसार श्रुतधर आचार्य यशोभद्र के द्वारा आचार्य पद पर शिष्य संभूतविजय और भद्रबाहु दोनो की नियुक्ति एक साथ की गई थी ।[४] अवस्था मे ज्येष्ठ होने के कारण यह दायित्व पहले संभूतविजय ने संभाला । उनके बाद भद्रबाहु धर्मसघ के अग्रणी बने ।

जिनशासन आचार्य भद्रबाहु जैसे सामर्थ्यसपन्न, श्रुतसपन्न, अनुभव-सपन्न व्यक्तित्व को पाकर धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया ।

आचार्य भद्रबाहु का विराट् एव प्रभावी व्यक्तित्व था । यही कारण है—आचार्य जंबू के बाद दो भिन्न दिशाओ मे बढती हुई श्वेताम्बर और दिगम्बर परपरा के आचार्यों की शृखला एक बिन्दु पर आ गई । दोनो ही परपराओ ने आचार्य भद्रबाहु को समान महत्त्व प्रदान किया है ।

कल्पसूत्र स्थविरावली मे भद्रबाहु के चार प्रमुख शिष्यो का उल्लेख है : (१) स्थविर गौदास, (२) स्थविर अग्निदत्त, (३) भत्तदत्त, (४) सोमदत्त ।[५] परिशिष्ट पर्व के अनुसार दृढ आचार का सबल उदाहरण प्रस्तुत करने वाले चार शिष्य उनके और भी थे । वे गृहस्थ जीवन मे राजगृह निवासी सपन्न श्रेष्ठी थे । बचपन के साथी थे । चारो ने ही आचार्य भद्रबाहु के पास राजगृह मे दीक्षा ग्रहण की । दीक्षा स्वीकृति के बाद चारो मुनियो ने श्रुत की आराधना की एव विशेष साधना मे अपना जीवन लगाया । निरहकारी, प्रियभाषी, मितभाषी, धर्मप्रवचन प्रवण, करुणा के सागर इन मुनियो ने आचार्य भद्रबाहु से आज्ञा प्राप्त कर एकल विहारी की कठिनचर्या अभिग्रहपूर्वक स्वीकार की । प्रतिमा तप की साधना मे लगे । ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक बार चारो मुनि राजगृह के वैभारगिरि पर आए । वे गोचरी करने नगर मे गए । लौटते समय दिन का तृतीय प्रहर सपन्न हो चुका था । दिन के तृतीय प्रहर के बाद भिक्षाटन एव गमनागमन न करने की प्रतिज्ञा के अनुसार एक मुनि गिरि गुफा के द्वार पर, दूसरा उद्यान मे, तीसरा उद्यान के बाहर एवं चौथा मुनि नगर के बहिर्भूभाग मे रुक गया । हिम ऋतु

का समय था। रात गहरी होती गई। जान लेवा शीत लहर चारों मुनियों की सुकोमल देह को कंपकपा रही थी। कष्टसहिष्णु चारो मुनि शात खडे थे। अत्यधिक शीत के कारण गुफाद्वार स्थित मुनि का प्रथम प्रहर मे, उद्यान स्थित मुनि का द्वितीय प्रहर मे, उद्यान बहिस्थित मुनि का तृतीय प्रहर में एवं नगर के बहिर्भूभाग मे खडे मुनि का रात्रि के चतुर्थ प्रहर में देहांत हो गया। क्रमश चार प्रहर मे चारों मुनियों के स्वर्गवास होने का कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीत का प्राबल्य था। गिरि गुफा का स्थान सबसे अधिक शीतल था और सबसे कम शीतल स्थान नगर का बहिर्भूभाग था।

अपनी प्रतिज्ञा मे दृढ रहकर चारो मुनियों ने (शीत) कष्ट-सहिष्णुता का अनन्य आदर्श उपस्थित किया।[1]

जैन शासन को वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के मध्य काल में दुष्काल के भयकर वात्याचक्र से जूझना पडा। उचित भिक्षा के अभाव में अनेक श्रुतसपन्न मुनि काल-कवलित हो गए। भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी मुनि चौदह पूर्व का ज्ञाता नही बचा था। वे उस समय नेपाल की पहाड़ियों मे महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ को इससे गंभीर चिंता हुई। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए श्रमण सघाटक नेपाल पहुचा। करबद्ध होकर श्रमणो ने भद्रबाहु से प्रार्थना की। "सघ का निवेदन है कि आप वहां पधार कर मुनिजनो को दृष्टिवाद की ज्ञानराशि मे लाभान्वित करें।" भद्रबाहु ने अपनी साधना मे विक्षेप समझते हुए इसे अस्वीकार कर दिया।[2]

तित्थोगालिय के अनुसार सघ के दायित्व से उदासीन होकर आचार्य भद्रबाहु निरपेक्ष स्वरो मे बोलते हैं .

सो भणति एव भणिए असिट्ठ किलिट्ठएण वयणेण।
न हु ता अह समत्थो इण्हि मे वायण दाउ॥२८॥
अप्पट्टे आउत्तस्स मज्झ किं वायणाए कायव्व।
एव च भणिय मेत्ता रोसस्स वस गया साहू॥२९॥

—श्रमणो! मेरा आयुष्यकाल कम रह गया है। इतने कम समय मे अतिक्लिष्ट दृष्टिवाद की वाचना देने मे मैं असमर्थ हू। मैं समग्र भावेन आत्म हितार्थ अपने को नियुक्त कर चुका हू। अब मुझे सघ को वाचना देकर करना भी क्या है?

भद्रबाहु के इस निराशाजनक उत्तर से श्रमण उत्तप्त हुए और उन्होने सघीय विधि-विधानो की भूमिका पर आचार्य भद्रबाहु से प्रश्न किया :

एव भणंतस्स तुह को दंडो होई त मुणसु ।

—संघ की प्रार्थना अस्वीकृत करने पर आपको क्या प्रायश्चित्त करना होगा ? हमारी इस जिज्ञासा का आप समाधान करे ।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार समागत श्रमण सघाटक ने अपनी ओर से आचार्य भद्रबाहु के सामने कोई भी नया प्रश्न उपस्थित नही किया । आचार्य भद्रबाहु द्वारा वाचना प्रदान की अस्वीकृति पाकर वह सघ के पास लौटा और उसने सारा संवाद कहा । सघ को इससे क्षोभ हुआ, पर दृष्टिवाद की वाचना आचार्य भद्रबाहु के अतिरिक्त और किसी से सभव नही थी । सघ के द्वारा विशेष प्रशिक्षण पाकर श्रमण सघाटक पुन. नेपाल मे आचार्य भद्रबाहु के पास पहुचा और उन्हे विनम्र स्वरो मे पूछा—"सघ का प्रश्न है कि जो संघ की आज्ञा को अस्वीकृत कर दे उसके लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है ?"

पूर्वश्रुतसपन्न श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु भी इस प्रश्न पर शास्त्रीय विधि-विधानो का चिन्तन करते हुए गभीर हो गए । श्रुतकेवली कभी मिथ्या भाषण नही करते । आचार्य भद्रबाहु के द्वारा यथार्थ निरूपण होगा, यह सबको दृढ़ विश्वास था । वैसा ही हुआ । आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट घोषणा की— जो आगम वाचना प्रदान करने के लिए स्वीकृति नही देता है, जो सघ शासन का अपमान करता है, वह सघ से बहिष्कृत करने योग्य है ।

भद्रबाहु द्वारा उत्तर सुनकर श्रमण सघाटक ने उच्चघोष से कहा—"आपने भी संघ की बात को अस्वीकृत किया है अत आप भी उस दण्ड के योग्य हैं[८]" तित्थोगालिय मे इस प्रसग पर श्रुत-निह्नव होने की घोषणा के साथ श्रमण सघ द्वारा १२ प्रकार के सभोग विच्छेद का उल्लेख भी है ।[९]

महान् यशस्वी आचार्य भद्रबाहु इस अकीर्तिकर प्रवृत्ति से सभल गए । उन्होने सबको सतोष देते हुए कहा—"मैं सघ की आज्ञा का सम्मान करता हूं । मैं महाप्राण ध्यान साधना मे प्रवृत्त हूं । इस ध्यान साधना से १४ पूर्व की पूर्ण ज्ञान-राशि का मुहूर्त्त मात्र मे परावर्तन कर लेने की क्षमता आ जाती है ।[१०] अभी इसकी सपन्नता मे कुछ समय अवशेष है । इससे मैं वहा आने मे असमर्थ हू । सघ मेघावी श्रमणो को यहा प्रेषित करे, मै उन्हे साधना की सात वाचना देने का प्रयत्न करूगा ।[११]"

तित्थोगालिय के अनुसार आचार्य भद्रबाहु का उत्तर था ।

एक्केण कारणेण, इच्छ भे वायण दाउं ।

—मैं एक अपवाद के साथ वाचना देने को प्रस्तुत होता हूं ।

अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाइं उज्जुत्तो ।
न विह वायरियव्वो, अहंपि नवि वायरिस्सामि ।।३५।।

"आत्महितार्थ मे युक्त, परमार्थ मे प्रवृत्त मैं वाचना ग्रहणार्थ आने वाले श्रमण संघ के कार्य मे बाधा उत्पन्न नहीं करूंगा, वे भी मेरे कार्य मे विघ्न न बनें ।

पारियकाउसग्गो, भत्तट्ठितो व अहव सेज्जाए ।
नितो व अइतो वा, एव मे वायण दाह ।।३६।।

कायोत्सर्ग सपन्न कर भिक्षार्थ आते-जाते समय और निशा मे शयन-काल से पूर्व मैं उन्हे वाचना प्रदान करता रहूंगा ।

श्रमणो ने 'वाढम्' (ठीक है) कहकर आचार्य भद्रबाहु के निर्देश को स्वीकार किया और उन्हे वन्दन कर वे वहा से चले, सघ को संवाद सुनाया, इससे मुनिजनो को प्रसन्नता हुई ।

महामेघावी, उद्यमवन्त, स्थूलभद्र आदि ५०० श्रमण, सघ का आदेश प्राप्त कर आचार्य भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद की वाचना ग्रहण करने के लिए पहुचे ।[१२] आचार्य भद्रबाहु प्रतिदिन उन्हें सात वाचनाएं प्रदान करते थे । एक वाचना भिक्षाचर्या से आते समय, तीन वाचनाए विकाल बेला मे और तीन वाचनाए प्रतिक्रमण के बाद रात्रिकाल मे प्रदान करते थे ।[१३]

दृष्टिवाद का ग्रहण बहुत कठिन था । वाचना प्रदान का क्रम बहुत मन्द गति से चल रहा था । मेधावी मुनियो का धैर्य डोल उठा । एक-एक करके ४९९ शिक्षार्थी मुनि वाचना क्रम को छोडकर चले गये । स्थूलभद्र मुनि यथार्थ मे ही उचित पात्र थे । उनकी धृति अगाध थी । स्थिर योग था । वे एकनिष्ठा से अध्ययन मे लगे रहे । उन्हे कभी एक पद कभी अर्ध पद सीखने को मिलता, परन्तु वे निराश नही हुए । आठ वर्ष मे उन्होने आठ पूर्वों का अध्ययन कर लिया ।[१४]

आठ वर्षों की लंबी अवधि में आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र के बीच अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी भी वार्तालाप का उल्लेख प्राप्त नही है ।

आचार्य भद्रबाहु की साधना का काल सपन्नप्राय था । उस समय एक दिन आचार्य भद्रबाहु ने प्रथम बार स्थूलभद्र से कहा—"विनेय ! तुम्हें माधुकरी प्रवृत्ति एव स्वाध्याय योग मे किसी प्रकार का क्लेश तो नही होता ?"[१५]

आर्य स्थूलभद्र विनम्र होकर बोले—"भगवन् ! मुझे अपनी प्रवृत्ति मे कोई कठिनाई नहीं है। मैं पूर्ण स्वस्थमना अध्ययन मे रत हूं। आपसे मैं एक प्रश्न पूछता हू—मैंने आठ वर्षों मे कितना अध्ययन किया है और कितना अवशिष्ट रहा है ?"

प्रश्न के समाधान मे भद्रबाहु ने कहा—"मुने ! सर्षप मात्र ग्रहण किया है मेरु जितना ज्ञान अवशिष्ट है। दृष्टिवाद के अगाध ज्ञानसागर से अभी तक बिन्दु मात्र ले पाए हो।"[१६]

आर्य स्थूलभद्र ने निवेदन किया—"प्रभो ! मै अगाध ज्ञान की सूचना पाकर हतोत्साहित नहीं हू, पर मुझे वाचना अल्प मात्रा मे मिल रही है। आपके जीवन का संध्याकाल है, इतने कम समय मे मेरु जितना ज्ञान कैसे ग्रहण कर पाऊगा ?"[१७]

बुद्धिमान आर्य स्थूलभद्र की चिता का निमित्त जान आर्य भद्रबाहु ने आश्वासन दिया—"शिष्य ! चिन्ता मत करो, मेरा साधना कार्य सपन्न प्राय है। उसके बाद मैं तुम्हे रात दिन यथेष्ट समय वाचना के लिए दूगा।"[१८]

श्रुतसपन्न आर्य भद्रबाहु एव स्थूलभद्र के बीच हुए इस सवाद का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों मे प्राय· प्राप्त होता है।

आर्य स्थूलभद्र का अध्ययन-क्रम चलता रहा। भद्रबाहु की महाप्राण ध्यान की साधना पूर्ण होने तक उन्होने दो वस्तु कम दशपूर्व की वाचना ग्रहण कर ली थी।[१९] तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार आर्य स्थूलभद्र ने दशपूर्व पूर्ण कर लिए थे। उनके ग्यारहवें पूर्व का अध्ययन चल रहा था। ध्यान साधना का काल संपन्न होने पर आर्य भद्रबाहु पाटलिपुत्र लौटे। यक्षा आदि साध्विया आर्य भद्रबाहु के वन्दनार्थ आयी।[२०] आर्य स्थूलभद्र उस समय एकान्त मे ध्यान-रत थे। परम वन्दनीय महाभाग आचार्य भद्रबाहु के पास अपने ज्येष्ठ भ्राता मुनि आर्य स्थूलभद्र को न देख साध्वियो ने उनसे पूछा—"गुरुदेव ! हमारे ज्येष्ठ भ्राता मुनि आर्य स्थूलभद्र कहा है ?" भद्रबाहु ने स्थान-विशेष का निर्देश दिया। यक्षा आदि साध्विया वहा पहुची। बहनो का आगमन जान आर्य स्थूलभद्र कुतूहलवश अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। साध्विया शेर को देखकर डर गयी। वे आचार्य भद्रबाहु के पास तीव्र गति से चलकर पहुची और प्रकंपित स्वर मे बोली—"गुरुदेव, आपने जिस स्थान का सकेत दिया था, वहां केसरीसिंह बैठा है। ज्येष्ठार्य उससे सिंह . —लगता है, हमारे भाई का उसने भक्षण कर लिया है।"

भद्रबाहु ने समग्र स्थिति को ज्ञानोपयोग से जाना और कहा—

"वन्दध्वं तत्र वः सोऽस्ति ज्येष्ठार्यो न तु केसरी ॥"८२॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

"वह केसरीसिंह नही तुम्हारा भाई है। पुनः वही जाओ। तुम्हे तुम्हारा भाई मिलेगा। उसे वंदन करो।"

आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्देश प्राप्त कर बहनें पुन उसी स्थान पर गईं। ज्येष्ठ बधु आर्य स्थूलभद्र को देखकर प्रसन्नता हुई। सबने मुकुलित पाणिमस्तक झुकाकर वन्दन किया और बोली—"भ्रात! हम पहले भी यहां आयी थी, परन्तु आप नही थे। यहा पर केसरीसिंह बैठा था।" आर्य स्थूलभद्र ने उत्तर दिया—"साध्वियो! मैंने ही उस समय सिंह का रूप धारण किया था।"

आर्य स्थूलभद्र एव यक्षा, यक्षदत्ता आदि साध्वियो का कुछ समय तक वार्तालाप चला। उन्होने मुनि श्रीयक के रोमाचक समाधि-मरण की घटना आर्य स्थूलभद्र को बतलायी। इस घटना-श्रवण से आर्य स्थूलभद्र को खिन्नता हुई। यक्षादि साध्विया अपने स्थान पर लौट आयी। आर्य स्थूलभद्र वाचना ग्रहण के लिए आचार्य भद्रबाहु के चरणो में उपस्थित हुए। अपने सम्मुख आर्य स्थूलभद्र को देखकर आचार्य भद्रबाहु ने उनसे कहा—"वत्स! ज्ञान का अह विकास मे बाधक है। तुमने शक्ति का प्रदर्शन कर अपने को ज्ञान के लिए अपात्र सिद्ध कर दिया है। अग्रिम वाचना के लिए अब तुम योग्य नही रहे हो।" आर्य भद्रबाहु द्वारा आगम वाचना न मिलने पर उन्हे अपनी भूल समझ मे आयी। प्रमाद वृत्ति पर गहरा अनुताप हुआ। भद्रबाहु के चरणो मे गिरकर उन्होंने क्षमायाचना की और कहा—"यह मेरी पहली भूल है। इस प्रकार की भूल का पुनरावर्तन नही होगा। आप मेरी भूल को क्षमा कर मुझे वाचना प्रदान करे।"

आचार्य भद्रबाहु ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नही की।

आर्य स्थूलभद्र ने पुन नम्र निवेदन किया—"प्रभो! पूर्वज्ञान का विच्छेद होने वाला है, परन्तु मैं सोचता हू—

न मत्तः शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु सः ॥१०६॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

"श्रुत-विच्छिन्नता का निमित्त मैं बनू अत. पुन प्रणति-पूर्वक आपसे वाचना प्रदानार्थ आग्रह भरी नम्र विनती कर रहा हूं।

आचार्य स्थूलभद्र को वाचना प्रदान की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु सकल सघ ने बार-बार विनती आचार्य भद्रबाहु के सामने की।

सबकी भावना सुनने के बाद समाधान के स्वरो में दूरदर्शी आचार्य भद्रबाहु बोले—"गुणमंडित, अखंडित आचारनिधिसपन्न मुनिजनो ! मैं आर्य स्थूलभद्र की भूल के कारण ही वाचना देना स्थगित नही कर रहा हूं। वाचना न देने का कारण और भी है, वह यह है—'मगध की रूपसी कोशा गणिका के बाहुपाश को तोड देने वाला एव अमात्य पद के आमन्त्रण को ठुकरा देने वाला आर्य स्थूलभद्र श्रमण समुदाय मे अद्वितीय है। वह योग्य है। इसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा के समान अभी कोई दूसरी प्रतिभा नही है। इसके प्रमाद को देखकर मुझे अनुभूत हुआ कि समुद्र भी मर्यादा का अतिक्रमण करने लगा है। उच्च कुलोत्पन्न, पुरुषो मे अनन्य, श्रमण समाज का भूषण, धीर, गंभीर, दृढ मनोबली, परम विरक्त आर्य स्थूलभद्र जैसे व्यक्ति को भी ज्ञान मद आक्रान्त करने मे सफल हो गया है। आगे इससे भी मंद सत्त्व साधक होगे।'" अतः पात्रता के अभाव मे ज्ञानदान ज्ञान की आशातना है। भविष्य में अवशिष्ट वाचना प्रदान करने से किसी प्रकार के लाभ की सभावना नही है।

अस्यास्तु दोषदण्डो ऽयमन्यशिक्षाकृतेऽपि हि ॥१०८॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

"वाचना को स्थगित करने से आर्य स्थूलभद्र को अपने प्रमाद का दण्ड मिलेगा और भविष्य मे श्रमणो के लिए उचित मार्ग दर्शन होगा।"

अह भणइ थूलभद्दो, अण्णं रूव न किंचि काहामो।
इच्छामि जाणिउं जे, अहं चत्तारि पुव्वाइ ॥८००॥

(तित्थोग.लिय पइन्ना)

आर्य स्थूलभद्र ने पुनः अपनी भावना श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा—"मैं पररूप का निर्माण कभी नही करूगा। आप कृपा करके अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान देकर मेरी इच्छा पूर्ण करें।"[११]

आर्य स्थूलभद्र के अत्यन्त आग्रह पर आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें चार पूर्वों का ज्ञान अपवाद के साथ प्रदान किया। आर्य स्थूलभद्र को आचार्य भद्रबाहु से दश पूर्वों का ज्ञान अर्थसहित एवं अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान शब्दश. प्राप्त हुआ।

आगम वाचना के इस प्रसङ्ग का उल्लेख सर्ग रूप मे उपदेशमाला

विशेषवृत्ति, आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली, परिशिष्ट पर्व—इन चार ग्रन्थों में अत्यल्प भिन्नता के साथ विस्तार से मिलता है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार दो श्रमण श्रुत वाचना के हेतु प्रार्थना करने के लिए नेपाल पहुचे थे।[२३] तित्थोगाली तथा आवश्यक चूर्णि मे श्रमण सघाटक का निर्देश है।[२४] श्रमणो की संख्या का निर्देश नहीं है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार ५०० शिक्षार्थी श्रमण नेपाल पहुंचे थे।[२५] तित्थोगाली मे यह संख्या १५०० की है। इसमे ५०० श्रमण शिक्षार्थी एव १००० श्रमण परिचर्या करने वाले थे।[२६]

आचार्य भद्रबाहु के जीवन की यह घटना विशेष संकेत करती है। नेपाल मे आचार्य भद्रबाहु महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उस समय इच्छा न होते हुए भी संघ की प्रार्थना को प्रमुखता प्रदान कर आर्य स्थूलिभद्र को दृष्टिवाद की आगम वाचना देना स्वीकार किया। पाटलिपुत्र मे आचार्य स्थूलभद्र की भूल हो जाने पर आर्य भद्रबाहु के द्वारा वाचना प्रदान का कार्य पूर्णत स्थगित कर दिया गया। सघ की प्रार्थना को भी उन्होने मान्य नही किया। स्थूलभद्र के अति आग्रह पर भी उन्होने शब्दश. अन्तिम चार पूर्वो को वाचना प्रदान की अर्थतः नही। इस प्रसङ्ग से यह स्पष्ट है कि सघ की शक्ति सर्वोपरि होती है। सघ अपने सरक्षण के लिए आचार्य को नियुक्त करता है। आचार्य के लिए सघ नही बनता। परन्तु सघ की शक्ति आचार्य मे केन्द्रित होती है अन्तत निर्णायक आचार्य ही होते है। यही कारण है—समग्र सघ के द्वारा निवेदन करने पर भी आर्य भद्रबाहु ने चार पूर्वों की अर्थ वाचना देना भविष्य मे लाभप्रद नही समझकर अस्वीकार कर दिया।

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थो मे भद्रबाहु से सम्बन्धित कई जीवन प्रसङ्ग हैं।

दिगम्बर विद्वान् हरिषेण का वृहत्कथाकोष का रचनाकाल शक सवत् ८५३ है। उसके अनुसार भद्रबाहु का जन्म पुण्ड्रवर्द्धन राज्य के कोटिकपुर ग्राम मे हुआ। वे राजपुरोहित के पुत्र थे। बाल्यकाल मे साथियो के साथ खेलते हुए बालक भद्रबाहु ने एक बार चौदह गोलियो को एक श्रेणी मे एक दूसरे के ऊपर चढ़ा दी। चतुर्दश पूर्वधर गोवर्द्धनाचार्य उस मार्ग से जा रहे थे। उन्होने बालक के इस कौशल को देखा। वे अपने विशेष ज्ञान द्वारा इस निर्णय पर पहुंचे कि यह बालक चतुर्दश पूर्वधर होगा। भद्रबाहु के पिता से अनुमति लेकर गोवर्द्धनाचार्य ने बालक को अपने पास रखा। विद्याए सिखा, मुनि दीक्षा प्रदान की। बुद्धिमान भद्रबाहु श्रुतधर गोवर्द्धनाचार्य से

चतुर्दश पूर्वों की संपूर्ण ज्ञान राशि को ग्रहण करने में सफल हुए। श्रुतकेवली परंपरा मे उन्होंने स्थान पाया। गोवर्द्धनाचार्य ने भद्रबाहु की आचार्य पद पर नियुक्ति की।

एक बार ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु का पदार्पण अवन्ति मे हुआ। क्षिप्रा नदी के तटवर्ती उपवन में वे ठहरे। उस समय अवन्ति में निर्ग्रन्थ धर्म में आस्थाशील चन्द्रगुप्त का राज्य था। रानी का नाम सुप्रभा था। भद्रबाहु स्वयं गोचरी के लिए नगर मे गए। उन्होंने एक घर में प्रवेश करते समय झूले से झूलते हुए एक शिशु को देखा। आंगन मे अन्य कोई मनुष्य नहीं था। शिशु ने तीखी आवाज मे चिल्लाकर भद्रबाहु से कहा—'तुम यहां से शीघ्र चले जाओ' शिशु के मुख से विचित्र आवाज को सुनकर भद्रबाहु को निमित्त ज्ञान से ज्ञात हुआ—इस मालव देश मे द्वादश वर्षीय भयकर दुष्काल पडेगा। भद्रबाहु वहां से अपने स्थान पर आए और अपने शिष्य समुदाय को भावी दुष्काल की सूचना दी और कहा—सुरक्षा की दृष्टि से तुम लोगो का दक्षिण की ओर चले जाना उचित है। मेरा आयुष्य कम है अत मैं यहीं रहूगा।

भद्रबाहु के मुख से दुष्काल की बात अवन्ति नरेश चद्रगुप्त ने भी सुनी। उसे ससार से विरक्ति हुई। राज्य की व्यवस्था कर एव पुत्र को राज्य सौप कर चन्द्रगुप्त ने भद्रबाहु से श्रमण दीक्षा स्वीकार की। मुनि चंद्रगुप्त विशाखाचार्य नाम से विख्यात हुए। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार दीक्षा लेने वालो मे चद्रगुप्त अन्तिम सम्राट् थे। इसके बाद किसी सम्राट् ने मुनि दीक्षा ग्रहण नही की।[२७]

भद्रबाहु के आदेश से विशाखाचार्य के नेतृत्व मे विशाल श्रमण-सघ दक्षिण की ओर पुन्नाट देश मे चला गया। भद्रबाहु अवन्ति के ही भाद्रपद नामक स्थान मे विराजे। वही उनका अनशन की अवस्था मे स्वर्गवास हो गया।[२८] रामिल्ल स्थूलवृद्ध भद्राचार्य अपने श्रमण-सघ सहित भद्रबाहु के आदेश से संकट की घडियो को पार करने के लिए सिन्धु प्रदेश की ओर चले गए थे।

रत्ननन्दी कृत 'भद्रबाहु चरित्त' (रचना १५ वी शती) मे प्राप्त उल्लेखानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु जब अवन्ति मे पधारे उस समय चंद्रगुप्त का राज्य था।[२९] चंद्रगुप्त ने १६ स्वप्न देखे। भद्रबाहु ने उनका फलादेश अनिष्ट सूचक बताया। चंद्रगुप्त को संसार से विरक्ति हुई। अपने पुत्र को

राज्य सौपकर भद्रबाहु से श्रमण दीक्षा ग्रहण की। इस घटना के बाद एक दिन भद्रबाहु जिनदास श्रेष्ठी के घर गोचरी गए। पालने में झूलते हुए नन्हें से शिशु ने चिल्लाकर कहा—'चले जाओ।' भद्रबाहु ने पूछा—'कितने समय के लिए ?' शिशु ने १२ वर्ष के लिए कहा।[९] निमित्त ज्ञान से भद्रबाहु ने समझ लिया १२ वर्ष का दुष्काल होगा।

भद्रबाहु ने इस संकटकाल की सूचना श्रमण-संघ को दी और सुदूर दक्षिण में जाने की वे तैयारी करने लगे। श्रावकों के द्वारा प्रार्थना करने पर भी वे नही रुके। उन्होंने १२००० साधुओं के साथ दक्षिण की ओर विहार किया। स्थूलभद्र आदि श्रमण अवन्ति मे ही रहे। कुछ मार्ग पार करने क बाद प्राकृतिक संकेतो के आधार पर भद्रबाहु को अपना अन्तिम समय सन्निकट प्रतीत हुआ[११]। उन्होंने अपने रहने की व्यवस्था वही की। मुनि चंद्रगुप्त भद्रबाहु के पास रहे। पूर्वधर विशाखाचार्य की अध्यक्षता मे श्रमण संघ को सुदूर दक्षिण मे भेजा गया। जीवन के अन्तिम समय मे भी भद्रबाहु के पास मुनि चंद्रगुप्त थे।

इन दोनो ग्रन्थो के उल्लेखानुसार दुष्काल की समाप्ति के बाद श्रमण-सघ मिला। आचार संहिता समान न रहने के कारण श्वेताम्बर और दिगम्बर सप्रदाय का उद्‌भव हुआ।

इन दोनो ग्रन्थो मे प्राप्त घटनाचक्र विशेष चर्चनीय है। श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास श्वेताम्बर मान्यतानुसार वी० नि० १७० (वि० पू० ३००) तथा दिगम्बर मान्यतानुसार वी० नि० १६२ (वि० पू० ३०८) में हुआ था। दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों की भेदरेखा का जन्म दोनो की मान्यतानुसार भिन्न है। श्वेताम्बर मान्यतानुसार वी० नि० ६०९ मे दिगम्बर मत की स्थापना हुई। दिगम्बर मान्यतानुसार वी० नि० ६०६ मे श्वेताम्बर मत का उद्‌भव हुआ। कालक्रम के अनुसार कई शताब्दियो का अन्तराल इन दोनो घटनाओ के बीच मे है। अतः वी० नि० १६२ (वि० पू० ३०८) मे स्वर्गवासी भद्रबाहु की विद्यमानता छठ्ठी शताब्दी में कैसे सगत हो सकती है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा चन्द्रगुप्त को दीक्षा देने का प्रसङ्ग निर्विवाद नही है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के निकटवर्ती नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य थे। उन्हें पाटलिपुत्र का शासक बताया गया है। भद्रबाहु द्वारा दीक्षित चन्द्रगुप्त को अवन्ति का नरेश माना है। अतः दो चन्द्रगुप्त सिद्ध होते हैं।

ऐतिहासिक संदर्भ मे श्रुतकेवली भद्रबाहु का और पाटलिपुत्र नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु-शिष्य सम्बन्ध सिद्ध नही होता। मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त के राज्य का अभ्युदय वी० नि० तृतीय शताब्दी (वी० नि० २१५) के प्रारभ मे होता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास उससे ४५ वर्ष पहले ही हो जाता है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार मौर्यवशी चन्द्रगुप्त के जैन होने की सम्भावना प्रकट होती है", पर उन्हे भद्रबाहु द्वारा मुनि दीक्षा प्रदान करने का कही उल्लेख नही है।

श्रवणवेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर एक शिलालेख है। यह शिलालेख शक सवत् ५७२ के आसपास का माना गया है। इस शिलालेख मे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनो का उल्लेख है पर न भद्रबाहु को श्रुतकेवली विशेषण से विशेषित किया गया है और न चन्द्रगुप्त को मौर्यवशी बताया गया है।

इससे भी एक प्राचीन शिलालेख पार्श्वनाथ वस्ति का है। वह इस प्रकार है :—

'महावीर सवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि गौतम गणधरसाक्षाच्छिष्य लोहार्य जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख प्रोष्ठिल-कृतिकाय-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिलादि गुरु-परम्परीण वक्र (क्र) भाम्यागतमहापुरुषसत तिसमवद्योतितान्वय-भद्रबाहु स्वामिना उज्जयन्याष्टाक, महानिमित्ततत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसवत्सरकालवैषम्यमुपालभ्य कथिते सर्वसघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथ प्रस्थित ।''

यह शिलालेख शक सवत् ५२२ के आसपास माना गया है। इस शिलालेख से श्रुतकेवली भद्रबाहु और निमित्तधर भद्रबाहु की भिन्नता का स्पष्ट बोध होता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद विशाख, प्रोष्ठिल आदि कई आचार्य हुए। आचार्यों की लम्बी शृखला को पार करने के बाद निमित्तधर भद्रबाहु का नामक्रम आया है। निमित्तधर भद्रबाहु के मुख से द्वादशवार्षिक दुष्काल की बात सुनकर तथा उनके आदेश से श्रमण-सघ उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर गया था। इस शिलालेख मे भी भद्रबाहु के दक्षिण मे जाने का कोई स्पष्ट सकेत नही है। भद्रबाहु के आदेश से श्रमणसघ का दक्षिण मे जाने का उल्लेख हुआ है। इस शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है—श्रुतकेवली भद्रबाहु के बहुत लम्बे समय बाद निमित्तधर भद्रबाहु हुए है।

शुभचन्द्र भट्टारक ने द्वितीय भद्रबाहु को प्रथमाङ्गधर माना है।[13] ब्रह्म हेमचन्द्र ने द्वितीय भद्रबाहु का सत्ता समय अङ्गश्रुत की परम्परा विछिन्न हो जाने के बाद स्वीकार किया है। अङ्ग-विच्छेद का समय दिगम्बर मान्यतानुसार वी० नि० ६८३ है।

तित्थोगालिय पइन्ना, आवश्यकनिर्युक्ति, परिशिष्ट पर्व आदि श्वेताम्बर ग्रन्थो मे श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन-प्रसङ्ग उपलब्ध हैं। वहा चन्द्रगुप्त का उल्लेख नहीं है और न दक्षिण की यात्रा का उल्लेख भी है। आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थो मे श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेपाल जाने का उल्लेख है।[14]

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध दिगम्बर ग्रन्थों मे प्राप्त होता है और वह भी दसवी शताब्दी के बाद के ग्रन्थो मे है। प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों मे चन्द्रगुप्त को दीक्षा प्रदान करने वाले भद्रबाहु को श्रुतकेवली नहीं बताया है उन्हें निमित्तवेत्ता बताया है।

इन सन्दर्भों के आधार पर राजा चन्द्रगुप्त का संबन्ध प्रथम भद्रबाहु के साथ न होकर द्वितीय भद्रबाहु के साथ सिद्ध होता है, जो निमित्तज्ञानी थे। प्रथम भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। चन्द्रगुप्त को दीक्षा देने वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली नही थे। उनके पीछे कही श्रुतधर विशेषण नहीं आया है। श्वेताम्बर परपरा मे उन्हे निमित्तवेत्ता माना है और दिगबर परपरा मे उन्हे सुनिमित्तधर[15] एव परम निमित्तधर[16] विशेषण से विशेषित किया गया है।

भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नो के फलादेश की घोषणा की थी, इससे भी चन्द्रगुप्त के गुरु द्वितीय भद्रबाहु सिद्ध होते है जो निमित्तज्ञानी थे। श्वेताम्बर परपरा के अनुसार वराहमिहिर के बन्धु द्वितीय भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान के बल पर कई भविष्य-घोषणाए की थी[17]। वराहमिहिर का समय १६००-२००० वर्ष पूर्व का है अत. अपने १६ स्वप्नो का फलादेश पूछने वाले चन्द्रगुप्त श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्रथम) के अनुग सिद्ध न होकर द्वितीय भद्रबाहु के अनुग सिद्ध होते हैं।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनो के समय द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल का आघात लगा था। इस घटना साम्य के कारण द्वितीय भद्रबाहु के समय मे होने वाले चन्द्रगुप्त को प्रथम भद्रबाहु के समय मे होने वाले चन्द्रगुप्त को प्रथम भद्रबाहु का शिष्य मान लिया गया है और भिन्न-भिन्न काल मे होने वाले दो दुष्कालो को एक समय का मान लिया गया है इसलिए सुदूर

अन्तराल मे होने वाली घटनाओ का परस्पर सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

दिगम्बर ग्रन्थों मे चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को ही निमित्तधर सिद्ध किया है। जैन श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रबन्ध कोश के आदि मे श्रुतधर भद्रबाहु के द्वारा निर्युक्तियां रची जाने का उल्लेख है।[१८] श्वेताम्बर विद्वान् शीलाङ्काचार्य आदि ने भी छेदसूत्रकार, निर्युक्तिकार एव श्रुतधर भद्रबाहु को एक ही माना है।[१९] छेद-सूत्रकार, श्रुतधर भद्रबाहु द्वारा निर्युक्तिया रची गई यह मान्यता बहुत लम्बे समय तक जैन विद्वानो द्वारा समर्थित होती रही है।

पाश्चात्य विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी ने सबसे पहले यह शोध की और बताया—निर्युक्तिकार भद्रबाहु और छेद-सूत्रकार, श्रुतधर भद्रबाहु एक नही है।

इस सन्दर्भ मे डॉ० हर्मन जेकोबी का परिशिष्ट पर्व इन्ट्रोडक्सन विशेष रूप से द्रष्टव्य है।[२०] डॉ० हर्मन जेकोबी की समीक्षा के मुख्य बिन्दु हैं—

श्रुतधर भद्रबाहु वी० नि० १७० मे हुए हैं। आवश्यक निर्युक्ति मे ७ निह्नवो का उल्लेख है। सातवा निह्नव गोष्ठामाहिल वी० नि० ५८४ मे हुआ है। उसका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति मे होने के कारण निर्युक्तिकार भद्रबाहु गोष्ठामाहिल के बाद हुए है। निर्युक्ति मे वी० नि० ६०९ मे होने वाले आठवें निह्नव का उल्लेख नही है अत निर्युक्ति ग्रन्थो की रचना वी० नि० ५८४ (वि० ११४) और वी० नि० ६०९ (वि० १३९) के मध्य काल मे हुई सभव है।

> As the NIRYUKTI had been written between 584 and 609 A.V
>
> (Parisista Parva Introductory Page 17)

महावीर का निर्वाण परपरा सम्मत ई० पू० ५२७ मान लेने पर निर्युक्ति रचना का यह काल ई० सन् ५७ और ८२ का मध्यवर्ती काल प्रभावित होता है। निर्युक्ति रचनाकार के विषय मे वे लिखते हैं—

> These stories are scarcely ever alluded to in the sutra Itself, but frequently in the NIRYUKTI belonging to it. There are ten sutras to which Bhadrabahu, a late name sake of the sixth Potriarch, has written NIRYUKTIS i.e.
>
> (Parisista Parva Introductory Page 6)

उक्त समीक्षा से स्पष्ट है—निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न थे।

डा० हर्मन जेकोबी की इस शोध के बाद भारतीय जैन विद्वानों ने भी इस विषय पर अनुसधान कर यह प्रमाणित कर दिया है—श्रुतधर भद्रबाहु और निर्युक्तिकार भद्रबाहु एक नहीं है। दशाश्रुतस्कन्ध मे निर्युक्तिकार भद्रबाहु, छेद सूत्रकार श्रुतधर भद्रबाहु को वंदन करते हैं।[1] इस उल्लेख से भी श्रुतधर और छेदसूत्रकार भद्रबाहु की निर्युक्तिकार भद्रबाहु से भिन्नता प्रमाणित होती है। पञ्चकल्प चूर्णिकार ने भी निशीथ, बृहद्-कल्प, व्यवहार और दशाश्रुतस्कन्ध इन छेदसूत्रों के रचनाकार श्रुतधर भद्रबाहु को माना है।[2]

इन ग्रन्थों के मननपूर्वक अध्ययन से भी स्पष्ट हो गया है कि इतिहास के लबे अन्तराल मे दो भद्रबाहु हुए हैं। प्रथम भद्रबाहु वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी मे हुए। वे श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार श्रुतधर थे एवं छेदसूत्रों के रचनाकार थे। नेपाल की गिरिकन्दराओं में उन्होंने महाप्राण ध्यान की साधना की थी। द्वितीय भद्रबाहु सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के सहोदर थे। वे विक्रम की पाचवी शताब्दी के विद्वान् थे।

स्थानाङ्ग सूत्र मे नौ गणो का उल्लेख है।[3] उनमें एक गौदासगण भी है। यह गण गौदास मुनि से संबन्धित था। गौदास मुनि आचार्य भद्रबाहु के प्रथम शिष्य थे। गौदासगण की प्रमुखत· चार शाखाएं थीं। उनमें ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका एवं पुड्रवर्धिका—इन तीन शाखाओं की जन्म-स्थली बगाल थी। ताम्रलिप्तिका, कोटि-वर्ष एवं पुड्रवर्धन—ये तीनों बंगाल की राजधानिया थी। गौदासगण की तीनो शाखाओ से इन राजधानियो का नाम साम्य, भद्रबाहु के सघ का बगाल भूमि से नैकट्य सूचित करता है। अत: कई विद्वानो का पुष्ट अनुमान है—भद्रबाहु विशाल श्रमण-संघ के साथ दुष्काल की विकट वेला मे कुछ समय तक बगाल मे रहे। आचार्य हेमचंद्र का अभिमत भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। परिशिष्ट पर्व मे लिखा है·—

इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीर नीरनिधेर्ययौ ॥५५॥

इन पद्यों के अनुसार कराल कालदुष्काल की घड़ियो मे श्रमण समुदाय जीवन-निर्वाहार्थ समुद्री किनारो पर विहरण कर रहा था।

परिशिष्ट पर्व के उक्त उल्लेखानुसार ससंघ भद्रबाहु दुष्काल के समय बंगाल के निकट समुद्री किनारो पर अथवा तटवर्ती बस्तियो मे रहे थे।

उन्होंने संभवतः इसी प्रदेश में छेदसूत्रों की रचना की थी।

छेदसूत्रों के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है—उस समय आहार पानी आदि मुनिजनोचित सामग्री की सुलभता से उपलब्धि न होने के कारण श्रमण समुदाय वनों की कठिन जीवन चर्या से निराश होकर नगरों और जन-पदों की ओर बढ़ रहा होगा, इसीलिए संभवतः शहरी जीवन से संबंधित मुनिचर्या की एक आचार-संहिता का निर्माण करना भद्रबाहु को आवश्यक अनुभूत हुआ। उन्होंने नगर में गृहस्थों के मकान आदि में रहने से संबंधित मुनिचर्या के अनेक विधि-विधान बनाए। उनके इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप इन छेदसूत्रों की रचना हुई। छेदसूत्रों की रचना के बाद भद्रबाहु स्वयं नेपाल की ओर बढ़ गये थे। नेपाल की ओर बढते समय उनके साथ शिष्य समुदाय के होने का उल्लेख ग्रंथों में नहीं है। आर्य स्थूलभद्र ने यहीं पर आकर आचार्य भद्रबाहु से दृष्टिवाद आगम का अध्ययन किया था। डा० हर्मन जेकोबी ने भद्रबाहु के नेपाल जाने की घटना का समर्थन किया है।

श्वेताम्बर परपरा सम्मत ग्रंथों में भद्रबाहु के साथ किसी भी राजा का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर परपरा सम्मत ग्रन्थों में भद्रबाहु के साथ चद्रगुप्त का उल्लेख है। रत्ननन्दी कृत 'भद्रबाहु चरित्त' में चन्द्रगुप्त के स्थान पर चद्रगुप्ति का उल्लेख है—

"यो भद्रबाहु मुनिपुगव पट्ट पद्म।
सूर्य स वो दिशतु निर्मल सघ वृद्धिम्॥"

(जैन सिद्धात भास्कर भाग-१ किरण ४ पृ० ५१)

श्रुतधर भद्रबाहु का व्यक्तित्व सूर्य के समान तेजस्वी था।

कल्पसूत्र में भद्रबाहु के चार शिष्यों का, परिशिष्ट पर्व में भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का, स्थूलभद्र को दृष्टिवाद-वाचना देने का एव दशाश्रुतस्कध निर्युक्ति में दशा, कल्प, व्यवहार इन तीन छेदसूत्रों की रचना का एव पञ्चकल्पचूर्णि में निशीथ आगम के निर्यूहण का उल्लेख है। भद्रबाहु ने निशीथ का निर्यूहण नवमे पूर्व के तृतीय आचार-वस्तु से किया था।

भद्रबाहु के चारों ही शिष्यों का स्वर्गवास हो जाने से उनकी शिष्य परपरा आगे न बढ सकी थी। सभूतविजय के बाद शिष्य-परपरा का विस्तार आचार्य स्थूलभद्र से हुआ।

श्रुतधर भद्रबाहु के समय मगध पर नन्दवश का राज्य था। तित्थो-

गालिय आदि ग्रन्थो मे इस समय नन्दो के शासन का उल्लेख है।[४४]

साहित्य

आचार्य भद्रबाहु श्रुतधर थे एवं आगम रचनाकार थे। उन्होने छेद-सूत्रो की रचना की। आगम साहित्य मे छेद आगम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार शुद्धि के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त संबंधी विधि-विधान मुख्यतः इन सूत्रो मे वर्णित है। छेद नामक एक प्रायश्चित्त के आधार पर संभवतः इनका नाम छेदसूत्र हुआ है। दशाश्रुतस्कंध वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ इन चार छेद सूत्रो की रचना आचार्य भद्रबाहु की मानी गई है। इनका परिचय इस प्रकार है।

दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदशा)

छेदसूत्रो मे दशाश्रुतस्कन्ध प्रथम छेदसूत्र है। इसके दश अध्ययन हैं। अध्ययनो की सख्या दस होने के कारण इस सूत्र का नाम दशाश्रुतस्कंध है। मुनि आचार संहिता का वर्णन होने के कारण इसका नाम आचारदशा भी है। वर्तमान मे उपलब्ध कल्पसूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध के पजोषणा नामक आठवें अध्ययन का ही विस्तार है। इस छेदसूत्र के प्रथम अध्ययन मे २० असमाधि स्थानो का, द्वितीय अध्ययन मे २१ प्रकार के सबल दोषों का, तृतीय अध्ययन मे ३३ प्रकार की आशातनाओ का, चतुर्थ अध्ययन मे ८ प्रकार की गणी सपदाओ का, पञ्चम अध्ययन मे १० प्रकार के चित्तसमाधि स्थानो का, षष्ठ अध्ययन मे ११ प्रकार की उपासक प्रतिमाओ का, सप्तम अध्ययन में १२ प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओ का, अष्टम अध्ययन में पर्युषण कल्प का, नवम अध्ययन मे ३० मोहनीय स्थानो का तथा दसवें अध्ययन में विभिन्न प्रकार के निदान कर्मो का वर्णन है।

वृहत्कल्प

छेदसूत्रो मे इसका द्वितीय स्थान है। आचार्य भद्रबाहु की यह गद्यात्मक रचना है। इसके छह उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक के ५० सूत्र हैं, द्वितीय उद्देशक के २५ सूत्र हैं, तृतीय उद्देशक के ३१ सूत्र हैं, चतुर्थ उद्देशक के ३७ सूत्र है, पंचम उद्देशक के ४२ सूत्र हैं, षष्ठ उद्देशक के २० सूत्र हैं।

प्रथम उद्देशक में पावस-काल के अतिरिक्त एक गांव मे रहने के लिए श्रमणो के मासकल्प और द्विमासकल्प की चर्चा है। तथा श्रमणों को किस स्थान पर रहना चाहिए और श्रमणियों को किस स्थान पर रहना चाहिए

इस संबंध का विस्तृत वर्णन है। इसी उद्देशक मे श्रमण-धर्म का सार उपशम बताया गया है।

द्वितीय उद्देशक मे मुख्यत श्रमण श्रमणियो के लिए पाच प्रकार के वस्त्र का एव पाच प्रकार के रजोहरण का उल्लेख है।

तृतीय उद्देशक मे भी साधु-साध्वियो के वस्त्र धारण करने सम्बन्धी विविध-विधि विधान हैं तथा शय्यातर दान न ग्रहण करने का भी बोध दिया गया है।

चतुर्थ उद्देशक मे गुरु-प्रायश्चित्त पाराचित प्रायश्चित्त और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के कारणो का उल्लेख है तथा क्लीव व्यक्ति को प्रव्रज्या के अयोग्य बताया गया है। कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रात आहार ग्रहण करने पर श्रमण लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। यह उल्लेख भी इसी उद्देशक मे है।

पचम उद्देशक मे मुख्यत. आहार विषयक मुनिचर्या बोध दिया गया है।

छठे उद्देशक मे नाना प्रकार के प्रायश्चित्त विधि का निर्देश है।

छह उद्देशको के इस लघुकाय ग्रन्थ मे साध्वाचार की अनेक मर्यादाए और विधान है। साध्वाचार की मर्यादाओ का नाम कल्प है। यह जैन का पारिभाषिक शब्द है। अत इस सूत्र का नाम कल्पसूत्र है।

व्यवहार-सूत्र

यह तृतीय छेद सूत्र है। इसके दस उद्देशक हैं और लगभग ३०० सूत्र है। वृहत्कल्प की भान्ति यह सूत्र भी गद्यात्मक है। इसमे भी मुनि आचार सहिता का निरूपण हुआ है तथा साधु-साध्वियो के पारस्परिक व्यवहार की अनेक शिक्षाएं और विधान हैं। आचार-शुद्धि की दृष्टि से कई प्रकार के प्रायश्चित्त का उल्लेख भी है।

प्रायश्चित्त के विभिन्न स्तरो को समझने के लिए इस सूत्र का पहला, दूसरा उद्देशक, आचार्य, उपाध्याय आदि की योग्यताओ को समझने के लिए तृतीय उद्देशक, आचार्य उपाध्याय की महत्ता को समझने के लिए चतुर्थ उद्देशक, प्रवर्तनी की महत्ता को समझने के लिए पंचम उद्देशक, आचार्य, उपाध्याय के विशेषाधिकार को समझने के लिए षष्ठ उद्देशक, आचार्य, उपाध्याय की आज्ञा का महत्व समझने के लिए सप्तम उद्देशक, स्थविरो के उप-

करण विशेष का बोध करने अष्टम उद्देशक, द्वादश भिक्षु प्रतिमाओं में से सप्तमादि प्रतिमाओ को समझने के लिए नवम उद्देशक तथा आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इन पांच व्यवहारो का, तीन प्रकार के स्थविरो का, दीक्षा पर्याय के आधार पर आगम-वाचना ग्रहण करने के क्रम का एवं वैयावृत्य (सेवाधर्म) के दस प्रकारो का ज्ञान करने के लिए दशम उद्देशक महत्वपूर्ण है।

व्यवहार पक्ष को उजागर करने वाला यह व्यवहार सूत्र श्रमण और श्रमणियो के लिए विशेष उपयोगी है।

निशीथ

निशीथ छेदसूत्र है। छेदसूत्रो मे इसका क्रम चौथा है। बृहत्कल्प और व्यवहार की भाति यह भी आचार्य भद्रबाहु की गद्य रचना है। ग्रंथ के २० उद्देशक हैं एव सूत्र संख्या लगभग १५०० है। इसमे विशेष गोपनीय दोषो की चर्चा की गई है, जो छद्मस्थता के कारण साधक के जीवन मे संभव है। दोष-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। ग्रन्थ मे प्रायश्चित्त के चार प्रकार बताए गए है—(१) गुरु-मास (मासगुरु) (२) लघुमास (मासलघु) (३) गुरु चातुर्मासिक (४) लघु चातुर्मासिक। प्रथम उद्देशक मे गुरुमासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। द्वितीय उद्देशक से लेकर पाचवे उद्देशक तक लघुमासिक प्रायश्चित्त का, छठे से ग्यारहवे तक गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का और आगे के उद्देशको मे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। गुरु-मास प्रायश्चित्त मे उपवास, लघुमास प्रायश्चित्त मे एकासन आदि दिए जाते हैं।

एक साथ कई दोष-आचरण कर लेने पर अथवा दोष विशुद्धि के लिए प्राप्त प्रायश्चित्त विधि का तप पूर्ण होने से पूर्व किसी अन्य दोष का सेवन कर लेने पर विशेष प्रकार की तप-विधि का उल्लेख भी है। एक समान दोष सेवन करने पर भी माया पूर्वक आलोचना करने वाले को अधिक और सरल हृदय के लिए कम प्रायश्चित्त का विधान है। बड़ा दोष सेवन करने पर उत्कृष्टन षष्ठमासिक प्रायश्चित्त का विधान भी आगमो मे है।

निशीथ का अर्थ है—अप्रकाश। प्रायश्चित विषयक बातें सबके समक्ष गोपनीय और अप्रकाशनीय होती है। इन गोपनीय बिंदुओं का इस सूत्र मे उल्लेख होने के कारण इस सूत्र का नाम निशीथ रखा गया है। निशीथ और व्यवहार दोनो का विषय प्राय: समान है।

वैशिष्ट्य

आचार्य भद्रबाहु संयम-सूर्य आचार्य सम्भूतविजय के सतीर्थ श्रमण थे। सकलागम पारगामी विद्वान् थे। दशाश्रुत आदि छेदसूत्रों के उद्धारक एवं महाप्राण ध्यान साधना के विशिष्ट साधक थे। अध्यात्म के वे सबल प्रतिनिधि थे। श्रुतधारा को अविरल और अखण्डित रूप मे श्रुतधर आचार्य संभूतविजय से ग्रहण कर उसे सुरक्षित रखने वाले अन्तिम श्रुतधर थे। उनका जीवन श्रुतसाधना, योगसाधना और साहित्य साधना का त्रिवेणी संगम था। उनसे जैन-दर्शन की महती प्रभावना हुई।

समय-संकेत

आचार्य भद्रबाहु ४५ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। उनका १७ वर्ष तक सामान्य अवस्था मे साधु पर्याय पालन एवं १४ वर्ष तक युगप्रधान पद वहन का काल था। उनकी सर्वायु ७६ वर्ष की थी। बारह वर्ष तक उन्होंने महाप्राण ध्यान की साधना की थी।

जिन शासन को सफल नेतृत्व एव श्रुतसंपदा का अमूल्य अनुदान देकर श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु वीर निर्वाण १७० (वि० पू० ३००) मे स्वर्ग को प्राप्त हुए।[४] उन्ही के साथ अर्थ वाचना की दृष्टि से श्रुतकेवली का विच्छेद हो गया।

दिगम्बर परंपरा के अनुसार भद्रबाहु का आचार्य-काल २९ वर्ष का था।[५]

आधार-स्थल

१. सद सुयकेवलणाणी पच जणा विण्हु नन्दिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य संजादा ॥६॥
(नन्दीसङ्घ-बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छ प्राकृत-पट्टावली)

२ भद्दबाहु च पाईण—
(नदी-स्थविरावली)

३. वदामि भद्दबाहु, पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।
(दशाश्रुत स्कन्ध निर्युक्ति)

४. परिशिष्ट पर्व सर्ग ९, श्लोक ४

५. थेरस्सण अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगुत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था ते जहा थेरे गोदासे १. थेरे अग्गिदत्ते

२ थेरे जसदत्ते ३. थेरे सोमदत्ते ४

(कल्प सूत्र-स्थविरावली)

६. चत्वारो वणिजस्तस्मिन्पुरे सवयसो ऽभवन् ।
उद्यानद्रुमवद् वृद्धि जग्मिवासः सहैव हि ॥६॥
सन्निधौ भद्रबाहोस्ते धर्मं शुश्रुवुरार्हतम् ।
कषायाग्निजलासार प्रतिबोध च लेभिरे ॥७॥
श्रीभद्रबाहुपादान्ते दान्तात्मानः सहैव ते ।
प्रव्रज्यामाशु जगृहुर्गृहवासपराङ्मुखा ॥८॥

(परि० पर्व सर्ग ६)

७. क. "तम्मि य काले बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो । संजता इतो इतो य समुद्दतीरे गच्छित्ता पुणरवि 'पाडिलपुत्ते' मिलिता । तेसिं अण्णस्स उद्देसो, अण्णस्स खडं, एव सघाडितेहिं एक्कारसअगाणि संघातिताणि दिट्ठिवादो नत्थि । 'नेपाल' वत्तिणीए य भयव भद्दबाहुसामी अच्छति चोद्दस्सपुव्वी, तेसिं संघेणं पत्थविता सघाडओ 'दिट्ठिवाद' वाएहि त्ति । गतो, निवेदित मघकज्ज । त ते भणति दुक्कालनिमित्त महापाणं पविट्ठोमि तो न जाति वायणं दातु ।"

(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्रांक-१८७)

ख सो ऽप्युवाच महाप्राण ध्यानमारब्धमस्ति यत् ।
साध्य द्वादशभिर्वर्षैर्नागमिष्याम्यहं तत ॥६१॥

(परि० पर्व० सर्ग ६)

८ क. "पडिनियत्तेहिं सघस्स अक्खात । तेहिं अण्णोवि सघाडओ विसज्जितो, जो सघस्स आण अतिक्कमति तस्स को दडो: । तो अक्खाई उग्घाडिज्जइ । ते भणंति मा उग्घाडेइ पेसेह मेहावी, सुत्त पडिपुच्छगाणि देमि ।"

(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्राक-१८७)

ख. गत्वा वाच्य स आचार्यो य श्रीसङ्घस्य शासनम् ।
न करोति भवेत्तस्य दण्ड क इति शस न ॥६४॥
सङ्घबाह्य. स कर्त्तव्य इति वक्ति यदा स तु ।
तर्हि तद्दण्डयोग्योऽसीत्याचार्यो वाच्य उच्चकै. ॥६५॥
ताभ्यां गत्वा तथैवोक्त आचार्यो ऽप्येवमूचिवान् ।
मैवं करोतु भगवान्सङ्घ कि तु करोत्वद. ॥६६॥

(परि० पर्व० सर्ग ६)

९. सो भणति एव भणिए, अविसनो वीरवयणनियमेण ।
वज्जेयव्वो सुयनिह्नतो (निह्नवो) त्ति अह सव्वसाहूहिं ॥३१॥
बारसविहसंभोगे, वज्जए तो तयं समणसंघो ।
जं ने जाइज्जं तो, नवि इच्छसि वायणं दाउं ॥३३॥
(तित्थोगाली)

१०. महाप्राणे हि निष्पन्ने कार्ये कस्मिश्चिदागते ।
सर्वपूर्वाणि गुण्यन्ते सूत्रार्थाभ्यां मुहूर्तत ॥६२॥
(परि० पर्व० सर्ग ९)

११ (क) मयि प्रसाद कुर्वाण श्रीसङ्घ प्रहिणोत्विह ।
शिष्यान्मेधाविनस्तेभ्य सप्त दास्यामि वाचना ॥६७॥
(परि० पर्व० सर्ग ९)

(ख) पेसेह मेहावी, मत्त पडिपुच्छगाणि देमि ।
(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्रांक-१८७)

१२. ताभ्यामेत्य तथाऽऽख्याते श्री सङ्घो ऽपि प्रसादभाक् ।
प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपञ्चशती तत ॥७०॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

१३. तत्रैका वाचना दास्ये भिक्षाचर्यात आगत ।
तिसृषु कालवेलासु तिस्रोऽन्या वाचनास्तथा ॥६८॥
सायाह्नप्रतिक्रमणे जाते तिस्रो ऽपरा पुन ।
सेत्स्यत्येव सङ्घकार्य मत्कार्यस्याविबाधया ॥६९॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

१४. श्रीभद्रबाहुपादान्ते स्थूलभद्रो महामति ।
पूर्वाणामष्टक वर्षैरपाठीदष्टभिर्भृशम् ॥७२॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

१५ सो अट्ठमस्स वासस्स, तेण पढमिल्लुय समाभट्ठो ।
कीस य परितमीह, धम्मावाए अहिज्जतो ॥४७॥
(तित्थोगाली)

१६ एक्कती भे पुच्छ, केत्तियमेत्तमि सिक्खितो होज्जा ।
कत्तियमेत्त च गयं, अट्ठहिं वासेहिं किं लद्ध ॥४८॥
मंदरगिरिस्स पासमि, सरिसव निक्खिवेज्ज जो पुरिसो ।
सरिसवमेत्त ति गय मदरमेत्त च ते सेसं ॥४९॥
(तित्थोगाली)

१७. सो भणइ एव भणिए, भीतो नवि ता अहं समत्थोमि ।
अप्पं च महं आउ, बहुसुय मंदरो सेसो ॥५०॥
(तित्थोगाली)

१८. मा भाहि नित्थरीहिसि, अप्पतरएण वीर कालेणं ।
मज्झ नियमो समत्तो, पुच्छाहि दिवा य रत्ति च ॥५१॥
(तित्थोगाली)

१९. पूर्णे ध्याने महाप्राणे स्थूलभद्रो महामुनि ।
द्विवस्तूनानि पूर्वाणि दश यावत्समापयत् ॥७६॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

२०. सपत्ति एक्कारसम, पुव्व अतिवयति वणदवो चेव ।
भंतितओ भगिणीतो, सुट्ठुमणा वंदणनिमित्तं ॥५३॥
जक्खा य जक्खदिण्णा, भूया तह हवति भूयदिण्णा य ।
सेणा वेणा रेणा, भगिणीतो थूलभद्दस्स ॥५४॥
(तित्थोगाली)

२१. सूरि सघ बभाषे ऽथ विचक्रे ऽसौ यथाऽधुना ।
तथान्ये विकरिष्यन्ति मदसत्त्वा अत परम् ॥१०७॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

२२. अन्यस्य शेषपूर्वाणि प्रदेयानि त्वया न हि ।
इत्यभिग्राह्य भगवान्स्थूलभद्रमवाचयत् ॥११०॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

२३. नेपालदेशमागस्थं भद्रबाहु च पूर्विणम् ।
ज्ञात्वा सङ्घ. समाह्वात् तत प्रैषीन्मुनिद्वयम् ॥५९॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

२४ (क) सघाडएण गतूण । (तित्थोगाली)
(ख) तेसि सघेण पत्थवितो संघाडओ ॥
(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्रांक-१८७)

२५. प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपचशती तत· ॥७०॥
(परि० पर्व, सर्ग ९)

२६. जे आसी मेहावी, उज्जुत्ता गहणधारणसमत्था ।
ताण पंचसमाइ, सिक्खगसाहूण गहियाइं ॥३८॥
वेयावच्चगरा से, एक्केक्कस्सेव उट्ठिया दो दो ।
भिक्खंमि अपडिबद्धा, दिया य रत्ति च सिक्खंति ॥३९॥
(तित्थोगाली)

२७. मउडधरेसु चरिमो जिण दिक्खं धरदिचंद्रगुत्तो य तत्रो मउडधरादु
प्पवज्जं णेव गेण्हंति—
(तिलो० प० ४-१४८१)

२८. "प्राप्य भाद्रपदं देश श्रीमदुज्जयनीभवम् ।
चकाराऽनशन धीर' स दिनानि बहून्यलम् ॥
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ" ॥
(हरिषेण बृहत्कथाकोष)

२९ "अवंतीविपयेऽथाथ, विजिताखिलमडले ।
विवेकविनयानेक - धनधान्यादि संपदा ॥५॥
अभादुज्जयिनी नाम्ना, पुरी प्राकारावेष्टिता ।
श्री जिनागार सागार-मुनिसद्धर्ममंडिता ॥६॥
चद्रावदातसत्कीर्तिश्चद्रवन्मोदकर्तृ (कृन्तृ) णाम् ।
चद्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकच्चारू-गुणोदय: ॥७॥
(भद्रबाहू चरित्र परिच्छेद २)

३०. तत्र शून्य गृहे चैको विद्यते केवल शिशु:
झोलिकान्तर्गत षष्टि-दिवस प्रमितस्तदा
गच्छ गच्छ वचो वादीत्तच्छ्रुत्वा मुनिना द्रुतम्
शिशुरुक्ता पुन. स्तेन कियन्तोब्दा: शिशो ! वद
द्वादशाब्दा मुने प्रोचे निशम्य तद्वच. पुन
(द्वितीय परिच्छेद श्लो० ५९-६०)

३१. अथाऽसौ विहग्न्स्वामी भद्रबाहु शनै· शनै· ।
प्रापन्महाटवीं तत्र शुश्राव गगनध्वनिम् ॥
श्रुत्वा···· ··········
आयुरल्पिष्ठ मात्मीय मज्ञासीद् बोधलोचन ॥१॥
(तृतीय परिच्छेद)

३२. उत्पन्नप्रत्यय. माधून् गुरून्मेनेऽथ पार्थिव ॥४३५॥
(परि० पर्व० सर्ग८)

३३. "अग्गिम अंगि सुभद्दो जसभद्दो भद्दबाहुपरमगणी ।
आयरियपरपराइ, एव सुदणाणमावहदि ॥४७॥
(अंगपण्णति)

३४. 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दबाहुसामी अच्छंति चोद्दस्सपुव्वी,
(आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्रांक १८७)

३५. आसि उज्जोणिणयरे, आयरियो भद्दबाहुणामेण ।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणियो संघो णिओ तेण ।।१३८।।
(भावसंग्रह, आचार्य देवसेनकृत)

३६. "आयरिओ भद्दबाहु, अट्ठ गमहणिमित्तजाणयरो ।
णिण्णासइ कालवसे, स चरिमो हु णिमित्तओ होदि ।।८०।।"
('श्रुतस्कंध')

३७. अयं बाल: सप्तमे दिवसे निशीथे बिडालिकया बानिष्यते ।
(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु वराह प्र० प्रबन्ध पृ० ३, पत्ति २१)

३८ भद्रबाहुश्चतुर्दशपूर्वी .... । दशवैकालिक-उत्तराध्ययन-दशाश्रुत-स्कन्ध-कल्प-व्यवहार-आवश्यक- सूर्यप्रज्ञप्ति - सूत्रकृत - आचाराङ्ग-ऋषिभाषिताख्यग्रन्यदशकप्रतिबद्ध दशनिर्युक्तिकारतया पप्रथे
(प्रबन्ध कोश, भद्रबाहु बराह प्रबन्ध, पृ० २)

३९. "अनुयोगदायिन —सुधर्मस्वामिप्रभृतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्यो ऽनस्तान् सर्वानिति ।"
(शीलाङ्काचार्यकृत आचाराङ्ग टीका, पृ० ४)

४० The dates within which the Kathanaka Literature has been developed, can be fixed almost with Certitude-for the beginning of that Period is Marked by the Niryuktis, and the end by Haribhadra's Tika, the author of the Niryuktis Bhadrababu is identified by the Jainas with the Patriarch of that name who died 170 A.V There can be no doubt that they are Mistken for the account of the Seven Schisms (ninhaga) in the Avasyaka Niryukti VIII 56-100 must have been written between 584 and 609 of the Vira Era. These are the dutes of the 7th and 8th Schisms, of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is there for, certain that the Niryukti was Composed before the 8th Schism 609 A V. the dates 584 and 609 A.V. Correspond to 57 and 82 A.D. on

assuming the traditional date of the Nirvana 527 B.C.

(Parisista Parva Introductory Page 6)

४१. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणि ।
सुत्तस्स कारगमिसि दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

(दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति)

४२. तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनी-संदभूता निज्जूढा ।

(पचकल्प चूर्णि, पत्र १)

४३. समणस्स ण भगवतो महावीरस्स णव गणा हुत्था, तं जहा—गोदास-गणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्वाइयगणे, विस्स-वाइय गणे कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ।

(ठाणं स्थान ६ सूत्र २६)

४४. पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णदाणम् । (६२१)

(तित्थोगाली)

४५. (क) "पंचचत्वारिंशत् ४५ गृहे, सप्तदश १७ व्रते, चतुर्दश १४ युगप्रधाने चेति सर्वायु षट् सप्तति ७६ वर्षाणि परिपाल्य श्रीवीरात् सप्तत्यकधिशत १७० वर्षे स्वर्गभाक्" ।

(पट्टावली समुच्चय पृष्ठ ४४)

(ख) वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति ।
भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्ग समाधिना ॥११२॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

४६. इग-हीण-वीस वास गोवद्धन भद्दबाहु गुणतीस । (५)

(नन्दीसङ्घ ....प्राकृत पट्टावली)

८. तेजोमय नक्षत्र आचार्य स्थूलभद्र

कामविजेता आचार्य स्थूलभद्र को श्वेताम्बर परम्परा मे अत्यन्त गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ है। वे तीर्थङ्कर महावीर के आठवें पट्टधर थे। श्रुतधर परम्परा के वे अन्तिम श्रुतकेवली थे। दुष्काल के आघात से टूटती श्रुत शृखला को सुरक्षित रखने का एकमात्र श्रेय महास्थिर योगी आचार्य स्थूलभद्र की सुतीक्ष्ण प्रतिभा को है। आचार्य स्थूलभद्र के लिए श्वेताम्बर परम्परा का प्रसिद्ध श्लोक है—

मङ्गल भगवान वीरो मङ्गल गौतमप्रभुः ।
मङ्गल स्थूलभद्राद्या जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलं ॥

मङ्गलकारक तीर्थङ्करदेव वीरप्रभु और गणधर इन्द्रभूति गौतम के बाद आचार्य स्थूलभद्र के नाम का स्मरण उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का सूचक है।

गुरु परम्परा

आचार्य स्थूलभद्र के गुरु आचार्य सम्भूतविजय थे। सम्भूतविजय श्रुतधर आचार्य थे एवं आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु सम्भूतविजय के गुरुबन्धु थे। श्रमण स्थूलभद्र ने आचार्य सम्भूतविजय से एकादशाङ्गी का गम्भीर अध्ययन किया था। द्वादश वर्षीय दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद दृष्टिवाद आगम का प्रशिक्षण श्रमण स्थूलभद्र को श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु से प्राप्त हुआ। जिनशासन के सचालन के दायित्व का भार भी उनके कन्धो पर भद्रबाहु के बाद आया था। अत· आर्य स्थूलभद्र आचार्य भद्रबाहु के उत्तराधिकारी थे एव श्रुतधर आचार्य सम्भूतविजय के स्वहस्त दीक्षित शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य स्थूलभद्र ब्राह्मणपुत्र थे। उनका गौतम गोत्र था। उनका जन्म वी० नि० ११६ (वि० पू० ३५४) मे पाटलीपुत्र मे हुआ था। पाटलीपुत्र मगध की राजधानी थी। स्थूलभद्र के पिता का नाम शकडाल एवं

माता का नाम लक्ष्मी था। शकडाल के नौ सन्ताने थी। स्थूलभद्र और श्रीयक दो पुत्र थे। यक्षा, यक्षदत्ता, भूत, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा—ये सात पुत्रिया थी।

जीवनवृत्त

स्थूलभद्र का परिवार राजसम्मान को प्राप्त था। उनके पिता शकडाल की नियुक्ति नन्द साम्राज्य मे उच्चतम अमात्य पद पर थी[२]। उनकी मंत्रणा से सारे राज्य का संचालन होता था। प्रजा उनके कार्यकौशल पर प्रसन्न थी। नन्द साम्राज्य की कीर्तिलता मत्री के बुद्धिबल पर दिगदिगन्त मे प्रसार पा रही थी एव लक्ष्मी की अपार कृपा उस राज्य पर बरस रही थी। लोक श्रुति के अनुसार नन्द साम्राज्य मे नौ स्वर्ण शैल खडे थे। काशी, कौशल, अवन्ति, वत्स अङ्ग आदि राज्य मगध के अन्तर्गत थे।

स्थूलभद्र की जननी लक्ष्मी यथार्थ मे लक्ष्मी ही थी। वह धर्म-परायणा, सदाचार सम्पन्ना, शीलालङ्कारभूषिता नारीरत्न थी।

मेधावी पिता की सन्तान मेधासम्पन्न हो इसमे आश्चर्य ही क्या? शकडाल की सभी सन्ताने बुद्धि वैभव से सम्पन्न थी। सातो पुत्रियो की तीव्रतम स्मरणशक्ति विस्मयकारक थी। प्रथम पुत्री एक बार मे, दूसरी पुत्री दो बार मे, क्रमश. सातवी पुत्री सात बार मे अश्रुतश्लोक को सुनकर उसे कण्ठस्थ कर लेने मे और ज्यो का त्यो तत्काल उसे दुहरा देने मे समर्थ थी।[३]

शकडाल का कनिष्ठ पुत्र श्रीयक भक्तिनिष्ठ था एव सम्राट् नन्द के लिए गोशीर्ष चन्दन की तरह आनन्ददायी था।

स्थूलभद्र शकडाल का अत्यन्त मेधासम्पन्न पुत्र था। उसे कामकला का प्रशिक्षण देने के लिए मत्री शकटाल ने गणिका कोशा के पास प्रेषित किया था।

उर्वशी के समान रूपश्री से सम्पन्ना कोशा मगध की अनिन्द्य सुन्दरी थी। पाटलिपुत्र की वह अनन्य शोभा थी। मगध का युवावर्ग, राजा, राजकुमार तक उसकी कृपा पाने के लिए लालायित रहते थे।[४] कामकला से सर्वथा अनभिज्ञ षोडश वर्षीय नवयुवक स्थूलभद्र कोशा के द्वार पर पहुच कर वापस नही लौटा। उसका भावुक मन कोशा गणिका के अनुपम रूप पर पूर्णतः मुग्ध हो गया।

मंत्री शकडाल को स्थूलभद्र के जीवन से प्रशिक्षण मिला। उसने

अपने छोटे पुत्र श्रीयक को वहा भेजने की भूल नहीं की। राजतन्त्र का बोध देने हेतु अमात्य शकडाल उसे अपने साथ रखता एवं राज्य-संचालन का प्रशिक्षण देता।

बुद्धिकुशल श्रीयक राजा नन्द का अंगरक्षक बना। विनय आदि गुणो के कारण श्रीयक राजा को हृदय की तरह प्रिय लगने लगा।

मगध का विद्वान् कवीश्वर, वैयाकरण-शिरोमणि, द्विजोत्तम, वररुचि नन्द राज्य मे अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। वह प्रतिदिन राजा की प्रशंसा में स्वरचित १०८ श्लोक राजसभा मे सुनाया करता था। पर अमात्य शकडाल ने उसकी प्रशंसा में एक शब्द भी नही कहा। शकडाल मंत्री के द्वारा श्लोको की प्रशंसा किये जाने पर ही नन्द राजा के द्वारा उसे पुरस्कार प्राप्त हो सकता है इस बात को वररुचि ने अच्छी तरह जान लिया।

एक दिन वररुचि ने एक योजना सोची—वह शकडाल की पत्नी लक्ष्मी को अपनी कविताए सुनाने लगा। लक्ष्मी स्वय विदुषी नारी थी। वह काव्य के मूल्य को पहचानती थी। विद्वान् वररुचि के काव्यमय श्लोको को सुनकर लक्ष्मी प्रभावित हुई। एक दिन उसने वररुचि से कहा—"ब्राह्मणपुत्र! मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कहो।" विद्वान् वररुचि नम्र होकर मधुर स्वर मे बोले—"भगिनी! मन्त्री शकडाल के द्वारा मेरे श्लोको की राजा के सामने स्तुति होनी चाहिये।" वररुचि इतना कहकर अपने घर पर चला गया।

मत्री पत्नी ने एक दिन अवसर देखकर मंत्री से कहा—"आप वररुचि के श्लोको की राजा के सामने प्रशसा अवश्य करे।" अमात्य की अपनी इच्छा नही थी पर पत्नी के कथन पर उसने अपने विचारो को बदला। दूसरे ही दिन वररुचि जब नन्द के सामने श्लोक बोल रहा था तभी शकडाल ने कहा—"अहो सुभाषितम्"। शकडाल के द्वारा ये शब्द सुनकर नरेश नन्द ने वररुचि की ओर कृपा दृष्टि से झाका। उसी दिन से विद्वान् वररुचि को १०८ श्लोको के बदले १०८ स्वर्ण मुद्राओं का पुरस्कार प्रतिदिन सुलभता मे मिलने लगा। अपनी योजना की सफलता पर वररुचि अत्यन्त प्रसन्न था।

प्रतिदिन १०८ दीनारो (स्वर्ण मुद्रा) का राजा नन्द के द्वारा दिया जाने वाला यह पुरस्कार महामात्य शकडाल के लिये चिन्ता का विषय बन गया।

राजतन्त्र का सचालन अर्थतत्र से होता है अत. राजनीतिक धुरा के सफल संवाहक मन्त्री को अर्थ की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखना पड़ता है । अर्थकोष को उपेक्षित कर कोई भी राज्य सशक्त नही बन सकता । मेधावी मन्त्री शकडाल अपने कार्य मे पूर्ण सावधान एव सजग था ।

अत्थक्खय पलोइय, भणियमच्चेण देव ! किमिमस्स ।
दिज्जइ वज्जरइ निवो, सत्याहिओ जं तए एसो ।।१३।।
(उपदेश माला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३५)

अर्थ-व्यय पर विचार-विमर्श करते हुए एक दिन महामात्य ने राजा से निवेदन किया—"पृथ्वी-नायक ! वररुचि को १०८ दीनारो का यह पुरस्कार प्रतिदिन किस प्रयाजन से दिया जा रहा है ?" राजा नन्द का उत्तर था—"महामात्य ! तुम्हारे द्वारा प्रशसित होने पर ही वररुचि को यह दान दिया गया है। हमारी ओर से ही देना होता तो हम पहले ही इसे प्रारम्भ कर देते ।"

शकडाल नम्र होकर बोला—"भूपते ! यह आपकी कृपा है, मुझे इतना सम्मान प्रदान किया पर मैने श्लोको की प्रशसा की थी, वररुचि के वैदुष्य की नही। वररुचि जिन श्लोको को बोल रहा है वह उसकी अपनी रचना नही है ।"

नन्द ने कहा—'मन्त्रीश्वर ! यह कैसे हो सकता है ?"

अपने कथन की भूमिका को सुदृढ करते हुए मत्री बोला—"वररुचि द्वारा उच्चारित श्लोको को आप मेरी सातो पुत्रियो द्वारा तत्काल सुन सकते हैं।"

मन्त्री ने आगे कहा—राजन् ! आपका आदेश मिलने पर मैं इसे आपके सामने प्रमाणित कर सकता हूं। राजा को मन्त्री की बात पर विस्मय हुआ ।

दूसरे दिन मन्त्री ने राजा के परिपार्श्व मे कनात के पीछे अपनी सातो लड़कियो के बैठने की व्यवस्था कर दी । पण्डित वररुचि हमेशा की भान्ति राजसभा मे उपस्थित हुआ और उसने १०८ श्लोक बोले । उन श्लोकों को यक्षा ने एक बार सुनकर क्रमशः वेणा ने छह बार और रेणा ने सात बार सुनकर त्यो-के-त्यों दुहरा दिए। मन्त्री शकडाल को अपने कार्य मे सफलता मिली ।

महामात्य की योजना ने वररुचि का महत्त्व राजा नन्द की दृष्टि में

क्षीण कर दिया। विद्वान् वररुचि राजा का कोपभाजन बना तथा उसी दिन से १०८ दीनारों का पुरस्कार उसे मिलना बन्द हो गया। वररुचि का यह अपमान महामात्य के लिए संघर्ष को आमन्त्रण था।

महामात्य शकडाल के प्रति वररुचि के हृदय मे प्रतिशोध की भावना अंकुरित हुई। जनसमूह पर पुनः प्रभाव स्थापित करने के लिये मायापूर्वक वररुचि गङ्गा से अर्थ राशि प्राप्त करने लगा। प्रातः काल कटिपर्यंत जल में स्थित विद्वान् वररुचि के द्वारा गङ्गा का स्तुति पाठ होता और उसी समय बड़ी भीड के सामने गङ्गा की धार से एक हाथ ऊपर उठता और १०८ स्वर्ण-मुद्राओ की थैली वररुचि को प्रदान कर देता था। यह सारा प्रपञ्च वररुचि के द्वारा रात्रि के समय सुनियोजित होता था।

निशा के समय वह गङ्गाजल मे यन्त्र को स्थापित कर देता था उसके साथ एक सौ आठ स्वर्ण-मुद्राओं की एक थैली भी रख देता था। प्रातः कटिपर्यन्त जल मे स्थित होकर जनसमूह के सामने गङ्गा की प्रशंसा में वररुचि स्तुति-पाठ करता और पैर से यन्त्र को दबाता। दबाव के साथ ही यन्त्र के द्वारा स्वर्ण-मुद्राओ की वह थैली ऊपर की ओर आ जाती तथा वररुचि के हाथ तक पहुच जाती थी। पैर का दबाव वररुचि के द्वारा शिथिल कर दिए जाने पर यन्त्र का भाग नीचे पानी मे अदृश्य हो जाता था। वररुचि पर गङ्गा की यह कृपा जनता की दृष्टि में विस्मयकारक थी। नगर-भर में इस अपूर्व दान की चर्चा प्रारम्भ हुई और एक दिन यह चर्चा कर्णानुकर्ण परम्परा से राजा नन्द के कानो तक पहुंची। मन्त्रणा के समय राजा नन्द ने शकडाल से कहा—"अमात्य, वररुचि को भागीरथी प्रसन्न होकर एक सौ आठ स्वर्ण-मुद्राओ का दान कर रही है। घटना की यथार्थता से अवगत होने के लिये मैं भी इसे कल प्रातः देखने की इच्छा रखता हूं।"

सचिव ने झुककर वसुधानाथ के आदेश को समादृत किया। नगर में गङ्गा-तट पर नन्द के पदार्पण की घोषणा हो गई।

अमात्य शकडाल रहस्यमयी घटना की पृष्ठभूमि को भी सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहता था। रात्रि के समय मन्त्री का निर्देश प्राप्त कर चतुर गुप्तचर गङ्गातट पर पहुंचा। पेड—पौधों के झुरमुट मे पक्षी की भांति अंगो को संकुचित कर बैठ गया। उसने वररुचि के क्रियाकलाप को देखा। निशा के नीरव वातावरण में निःशब्द गति से चलता वररुचि गंङ्गातट पर आया और जल के अन्तराल मे कोई वस्तु रखकर चला गया। वररुचि

के लौट जाने के बाद गुप्तचर ने जल मे घुसकर पूर्व वृत्तान्त की पूर्ण जानकारी प्राप्त की तथा यन्त्र के मध्य मे स्वल्प समय पहले ही वररुचि द्वारा स्थापित एक सौ आठ दीनारो को लेकर अमात्य शकडाल के पास पहुचा। उसने वररुचि की रहस्यमयी घटना का सारा भेद उद्घाटित कर दिया।

दूसरे ही दिन प्रात. राजपरिवार सहित राजा नन्द गङ्गातट पर उपस्थित हुए। सहस्रो नागरिकजन उस विस्मयकारक दृश्य को देखने के लिये पहले ही उत्सुक थे। वररुचि ने अत्यन्त उल्लास के साथ गगा जलान्तर मे स्थिर होकर मदाकिनी की स्तवना की। क्रमद्वय से यन्त्र को दबाया। गगा की धारा से एक हाथ ऊपर उठा और नीचे गिर गया। उससे एक भी दीनार वररुचि को नही मिली। इस घटना से वह अत्यन्त लज्जित हुआ।

शकडाल अमात्य आगे आकर बोला—"ब्राह्मणपुत्र, यह रही, तुम्हारी एक सौ आठ दीनारो की धनराशि, जिसे तुम विभावरी के समय स्वय ही यंत्र के साथ गगा मे स्थापित कर गए थे। दुनिया की आंखो मे कुछ समय के लिये धूल झोकी जा सकती है, सदा के लिये नही।"

गगादान का प्रच्छन्न भेद खुलते ही नागरिक जनो मे विद्वान् वररुचि का घोर अपवाद प्रारम्भ हो गया। जितना उसने यह घटनाचक्र मे यश सचय किया था उससे अधिक अपयश उसके मस्तिष्क पर चढकर बोल रहा था। उसे लगा, जैसे अकीर्ति का नाग उसे डसने को आ रहा है।

शकडाल अमात्य के द्वारा वररुचि दूसरी बार पुन बुरी तरह से पराजय को प्राप्त हुआ। इससे वररुचि के हृदय मे प्रतिशोध की आग शतगुणित होकर भभकी। नन्हा-सा छिद्र भी पूरी नौका का डुबो सकता है। छोटा-सा शत्रु भी कभी-कभी महाविनाश का कारण बन जाता है। विद्वान् वररुचि भी शकडाल के विनाश का उपाय खोजने लगा।

मत्री शकडाल पुत्र श्रीयक के विवाहोपलक्ष्य पर राजकीय सामग्री से राजा नन्द का विशेष सम्मान अपने प्रागण मे करना चाहता था। अत छत्र-चामर आदि राजसम्मानार्ह अलकारो का निर्माण प्रच्छन्न रूप से मंत्री शकडाल द्वारा कराया जा रहा था। शुभभावना मे किया गया मंत्री शकडाल का यह प्रयत्न वररुचि की भावना को साकार करने मे प्रबल निमित्त बना। शकडाल की दासी के योग से विद्वान् वररुचि को अमात्य के गृह पर सम्मानार्ह निर्मित सामग्री के भेद का पता लग गया।

उसने सोचा, अमात्य शकडाल के यश पर कालिख पोतकर बदला लेने का यह अच्छा अवसर उपस्थित हो गया है। बालको को मोदक देकर वररुचि ने उन्हें उत्साहित किया—वे चतुष्पथो, त्रिपथों तथा चच्चर मार्गों पर निम्नोक्त श्लोक का उच्चघोष से बार-बार उच्चारण करें।

एदु लोउ न वियाणाइ जं शयडालु करे मइ ।
नन्दु राउ मारेविणु, सिरिओ रज्जि ठवेसइ ॥३२॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३६)

शकडाल जो काम कर रहा है उसे लोक नहीं जानते। राजा नन्द को मारकर शकडाल श्रीयक को राजसिंहासन पर आसीन करेगा।

वररुचि द्वारा सिखाया गया यह श्लोक बालकों ने कण्ठस्थ कर लिया। अन्नदान किसी के मुख को बन्द कर सकता है और खोल भी सकता है। बालक दल बनाकर चौराहों, राजपथो, सार्वजनिक स्थलों एवं गलियो में घूमते एव वररुचि द्वारा सिखाये गए श्लोक को बोलते चलते थे। पुन: पुन: उच्चारण किये जाने पर वह श्लोक महिलाओं के भी कण्ठस्थ हो गया। घर-घर मे यह एक ही चर्चा सुनाई देने लगी।

कई बार कही गई मिथ्या बात भी कभी-कभी सत्य प्रतीत होने लगती है। यही इस घटनाचक्र मे हुआ। बालको एवं महिलाओं के मुख से उठती ध्वनियां राजा नन्द के कानो तक पहुंचीं। विचारो में मन्थन चला। मगधेश्वर ने सोचा, राजभक्तिनिष्ठ अमात्य शकडाल कभी ऐसा नही कर सकता।

क्षणान्तर के बाद राजा नन्द के विचारो ने मोड लिया—उन्होने मन-ही-मन सोचा हर व्यक्ति के अव्यक्त मन रूपी महासागर की तह मे दुर्बलताओं के कई रूप दबे रहते हैं। अहं और माया की मरीचिका किसी भी क्षण मे अपना रूप दिखाकर मानव-मृग को भ्रान्त बना सकती है। अमात्य हो या राजकुमार किसी का अत्यधिक विश्वास राजनीति की प्रथम भूल है।

राजा नन्द के विचारो मे कई उतार-चढाव आए। मगध देश की अन्तश्चेतना के दर्पण मे अमात्य का विश्वासघाती रूप एक बार भी प्रति-बिम्बित नही हुआ। बुद्धि उन्हे बार-बार प्रेरित कर रही थी—वह एक बार इस विषय की विश्वस्त जानकारी अवश्य प्राप्त करे। स्वच्छ अन्तश्चेतना और जटिल तर्क पाशबद्ध मेधा के संघर्ष मे, बुद्धि की विजय हुई। राजा नन्द के द्वारा निर्देश पाकर गुप्तचर अमात्य के घर पहुंचा एवं अपने लक्षित भेद

की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लौटा और उसने राजा नन्द के सामने आखो देखा विवरण प्रस्तुत किया।

महामात्य के लिये मौत की घटी बजने लगी थी। जिस मत्री को राजा का पूर्ण विश्वास प्राप्त था, उसी मत्री का रूप राजा की आखो मे संदेहास्पद बन गया था। शकडाल सच्चाई के पथ पर होते हुए भी उसके लिये वातावरण का उल्टा चक्र घूमना प्रारम्भ हुआ। वर्षों से सचित यश सूर्य को कालिमा का राहु ग्रसने का प्रयास कर रहा था। मत्री के घर पर प्राप्त राजसम्मानार्ह सामग्री ने नन्द के हृदय को पूर्णत बदल दिया। कवि की यह अनुभूतिपूर्ण वाणी सत्य प्रमाणित हुई

राजा योगी अगन-जल इनकी उलटी रीत।
डरते रहियो परशराम-ए थोड़ी पाले प्रीत॥

बलिदान हो जाने वाले अमात्य के प्रति भी राजा का विश्वास डोल गया। चिन्तन के हर बिन्दु पर अमात्य का कुटिल रूप उभर-उभर कर राजा नन्द के सामने आ रहा था।

प्रात.कालीन क्रिया कलाप से निवृत्त होकर शकडाल राजसभा मे पहुचा। नमस्कार करते समय राजा की मुखमुद्रा को देखकर महामात्य चिन्ता के महासागर मे डूब गया। वह जानता था राजा के प्रकोप की परिणति कितनी भयकर होती है। समग्रता से अपने परिवार के भावी विनाश का भीषण रूप उसकी आखो मे तैरने लगा। अपकीर्ति से बचने के लिए और परिवार को विनाशलीला से बचा लेने के लिए अपने प्राणोत्सर्ग के अतिरिक्त कोई मार्ग अमात्य की कल्पनाओ म नही था। उसने अपने घर आकर श्रीयक से कहा—"पुत्र ! अपने परिवार के लिए किसी पिशुन के प्रयत्न ने सकट की घड़ी उपस्थित कर दी है। हम सबको मौत के घाट उतार देने का राजकीय आदेश किसी क्षण प्राप्त हो सकता है। परिवार की सुरक्षा और यश को निष्कलक रखने के लिए मेरे जीवन का बलिदान आवश्यक है। यह कार्य पुत्र, तुम्हे करना होगा। अत मै जिस समय राजा के चरणो मे नमस्कार हेतु झुकू उस समय निश्शक होकर, अंगज ! तीव्र असिधारा से मेरा प्राणान्त कर देना। इस समय प्राणो का व्यामोह अदूरदर्शिता का परिणाम होगा।"

पिता की बात सुनकर श्रीयक स्तब्ध रह गया। दो क्षण रुककर बोला "तात ! पितृ-हत्या का यह जघन्य कार्य मेरे द्वारा कैसे सभव हो सकता है ?"

सयडालेणं भणियं, तालउडे भक्खियंमि मयि पुव्व ।
निवपायपडण काले, मरिज्जसु त गया संको ।।

(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति पृ० २३६)

पुत्र की दुर्बलता का समाधान करते हुए शकडाल ने कहा—"वत्स ! मैं नमन करते समय मुख मे तालपुट विष स्थापित कर लूगा अतः तुम पितृ-हत्या दोष के भागीदार नहीं बनोगे ।"

राजभय से आतंकित पिता के सामने श्रीयक को यह कठोर आदेश अन्यमनस्क भाव से भी स्वीकार करना पड़ा ।

पिता-पुत्र दोनो राजसभा मे उपस्थित हुए । राजनीति कुशल शकडाल नतमस्तक मुद्रा मे राजा नन्द को प्रणाम करने झुका । बुद्धिमान श्रीयक ने पिता के नमन करने योग्य शीर्ष को शस्त्र-प्रहार द्वारा धड से अलग कर दिया ।

इस घटना ने एक ही क्षण मे राजा नन्द के विचारो मे उथल-पुथल मचा दी । श्रीयक की ओर रक्ताभ नयनो से झांकते हुए राजानन्द ने कहा—"वत्स ! यह क्या किया ?" श्रीयक निर्भीक स्वरो मे बोला .

जो तुम्ह पडिकूलो, तेणं विउणा वि नत्थि मे कज्ज ।।

(उपदेशमाला विशेष वृत्ति पृष्ठ २३६)

—राजन् ! आपकी दृष्टि मे जो राजद्रोही सिद्ध हो जाता है वह भले पिता ही क्यों न हो नन्द का अमात्य परिवार उसे सहन नहीं कर सकता ।

श्रीयक की राज परिवार के प्रति यह आस्था देखकर राजा नन्द के सामने महामात्य शकडाल को अटूट राजभक्ति का चित्र उभर आया । राज्य की सुरक्षा मे की गई उसकी सेवाएं मस्तिष्क में सजीव होकर तैरने लगी । अतीत को वर्तमान मे परिवर्तन नही किया जा सकता । सुदक्ष अमात्य को खो दिया इससे राजा का मन भारी था । महामात्य शकडाल का राजसम्मान के साथ दाह संस्कार हुआ ।

महामत्री शकडाल की और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न करने के बाद नरेश्वर नन्द ने श्रीयक से कहा—"वत्स ! सर्व व्यापार सहित मत्री मुद्रा को ग्रहण करो ।"

श्रीयक नम्र होकर बोला—"मगधेश ! मेरे पितृ तुल्य ज्येष्ठ भ्राता स्थूलभद्र कोशा गणिका के यहां निर्विघ्न निवास कर रहे हैं । भोगों को भोगते

हुए उन्हें वहां बारह वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। वे वास्तव मे ही इस पद के योग्य हैं।

राजा नन्द का निमन्त्रण स्थूलभद्र के पास पहुचा। राजाज्ञा प्राप्त स्थूलभद्र ने बारह वर्ष बाद पहली बार कोशा के प्रासाद से बाहर पैर रखा। वे मस्त चाल से चलते हुए राजा नन्द के सामने उपस्थित हुए। उनका तेजोदीप्त भाल सूर्य के प्रकाश को भी प्रतिहत कर रहा था। उनकी मनोरम मुद्रा सबकी दृष्टि को अपनी ओर खीच रही थी। राजा नन्द के द्वारा महामात्य पद को अलकृत करने का उन्हे निर्देश मिला। गौरवपूर्ण यह पद काटो का मुकुट होता है। विवेकसंपन्न स्थूलभद्र ने साम्राज्य के व्यामोह मे विमूढ होकर बिना सोचे-समझे इस पद के दायित्व को स्वीकृत कर लेने की भूल नही की। वे राजा द्वारा प्राप्त निर्देश पर विचार-विमर्श करने के लिए अशोक वाटिका मे चले गए। वृक्ष के नीचे बैठकर चिन्तन के महासागर मे गहरी डुबकिया लेने लगे, सोचा—'उच्च-से-उच्च पद पर प्रतिष्ठित एव राज्य का स्वय सचालन करता हुआ भी राजपुरुष राजा के द्वारा अनुशासित व्यक्ति को सुखानुभूति कहा है? सर्वतो भावेन राज्य मे समर्पित होने पर भी छिद्रान्वेषी पिशुन लोग उसके मार्ग मे उपद्रव प्रस्तुत करने को तत्पर रहते है।'[१]

स्थूलभद्र की आखो के सामने अतीत का चित्र घूमने लगा। श्रीयक के विवाहोत्सव-प्रसङ्ग मे राजा नन्द के सम्मान हेतु निर्मित राजमुकुट, छत्र, चामर, विविध शस्त्र आदि की सूचना पाकर दम्भी वररुचि के द्वारा रचा गया षड्यन्त्र नन्द के हृदय मे महामंत्री शकडाल पर राज्य को छीन लेने का संदेह, राजा के भ्रूविक्षेप मे झाकता समग्र मत्री-परिवार को भी लील लेने वाला विनाशकारी रूप, लघु भ्राता श्रीयक द्वारा राजा नद के सामने उनके विश्वासी मत्री की हत्या आदि विविध प्रसङ्गो की स्मृति मात्र से स्थूलभद्र काप गए। वे परम विरक्ति को प्राप्त हुए और सयम-पथ अगीकार करने का निर्णय लेकर लुचित मस्तक साधुमुद्रा मे स्थूलभद्र राजा नद की सभा मे पहुँचे। स्थूलभद्र के विचारो को समझ कर जनता अवाक् रह गयी। श्रीयक ने भी निर्णय को बदल लेने के लिए उनसे अनुरोध किया पर स्थूलभद्र अपने सकल्प मे दृढ थे। वे धीर-गभीर मुद्रा मे बन्धु परिजनो के मोह से विमुख बन अज्ञात दिशा की ओर बढ़ चले। कही हमे धोखा देकर गणिका कोशा के भवन मे पुन नही पहुंच रहा है, यह सोच मगध नरेश प्रासाद गवाक्ष से आर्य

स्थूलभद्र के बढते चरणो पर दृष्टि टिकाए रहे। वृक्षों की पंक्ति के बीच से निर्जन वन की ओर आर्य स्थूलभद्र के गमन को देखकर उन्हे अपने अन्यथा चिन्तन के प्रति अनुताप हुआ। नागरिक जनो को कई दिनो तक स्थूलभद्र की स्मृति सताती रही।

अमात्य पद का दायित्व श्रीयक के कंधो पर आया। मगध नरेश जो सम्मान महान् अनुभवी, राजनीति कुशल, अनन्त विश्वासपात्र, राजभक्त, प्रजावत्सल अमात्य शकडाल को प्रदान करता था, वही सम्मान श्रीयक को देने लगा।

महामात्य पद के लिए श्रीयक जैसे समर्थ व्यक्ति की उपलब्धि से राज्य मे पुन चार चाद लग गए थे पर महामात्य शकडाल के अभाव मे राजा नन्द के हृदय मे महान् दु ख था। शोकसतप्त मुद्रा मे एक दिन मगध नरेश ने श्रीयक के सामने सभा मे मत्री के गुणो का स्मरण करते हुए कहा—

भक्तिमाञ्शक्तिमाश्रित्य शकटालो महामति·
अभवन्मे महामात्य· शक्रस्येव बृहस्पतिः
एवमेव विपन्नो ऽसौ दैवादद्य करोमि किम् ?
मन्ये शून्यमिवाऽऽस्थानमहं तेन विनाऽऽत्मन. ॥९८-९९॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

—"भक्तिमान, शक्तिमान, महामति, महामात्य शकडाल शक्र के सामने वृहस्पति की भाति प्रतीत होता था। दैवयोग मे वह चला गया, क्या करूं ? उसके बिना मुझे अपने मे भारी रिक्तता का अनुभव हो रहा है।"

राजा नन्द के इन शब्दो ने एक बार सभी सभासदो को मोह-विह्वल कर दिया था।

गुणसम्पन्न, नररत्न स्थूलभद्र की विरह-व्यथा से आर्त्त कोशा भी उदास रहने लगी। वह कभी-कभी फूट-फूटकर रोती एव क्रन्दन करती थी।

अमात्य श्रीयक राजकार्य मे व्यस्त होते हुए भी गणिका कोशा के पास धैर्य प्रदान करने के लिए जाया करता था। गणिका मंत्री श्रीयक से सात्त्विक बोध प्राप्त कर आश्वस्त हुई।

वररुचि की कपट पूर्ण नीति सबके सामने स्पष्ट बोल रही थी। शकडाल की मृत्यु के बाद वररुचि स्वच्छन्द विहारी होकर पुनः अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा था। उपकोशा के भवन मे उसका निर्विघ्न

आवागमन प्रारंभ हो गया था। बुरे कार्य की परिणति अन्ततः अकल्याणकर ही होती है। सुरापान के कारण वररुचि का दुःखद प्राणान्त हुआ।

अनुभवी मन्त्री की भांति राज्यकार्य में व्यस्त अमात्य अपने कार्य-कौशल से साक्षात् शकडाल की भाति प्रतीत होने लगा था।

ससार विरक्त अमात्य-पुत्र स्थूलभद्र के गतिशील चरण बढ़ते गए। आचार्य सभूतविजय के पास पहुंच कर स्थूलभद्र ने वी० नि० १४६ (वि० पू० ३२४) को दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन मे प्रवेश पाकर स्थूलभद्र सबके लिए वन्दनीय बन गये। उस समय उनकी आयु तीस वर्ष की थी। आचार्य सभूतविजय की श्रमण मण्डली मे स्थूलभद्र विनयवान्, गुणवान्, बुद्धिमान् श्रमण थे। उन्होने संभूतविजय से आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और मुनिचर्या का विशेष प्रशिक्षण पाया। धैर्य-स्थैर्य, क्षमा, शान्ति, समतादि गुणो का विकास कर वे आचार्य संभूतविजय के अनन्त विश्वासपात्र बने।

एक दिन विनयवान्-गुणवान् मुनि स्थूलभद्र ने पूर्व परिचिता कोशा गणिका के भवन मे पावस बिताने की इच्छा गुरु के समक्ष प्रकट की। आचार्य संभूतविजय ने 'तथास्तु' कह कर स्वीकृति दी। मुनि अपने सकल्पित लक्ष्य की ओर चल पड़े। स्थूलभद्र कोशा की उसी चित्रशाला मे पहुचे, जहा वे पहले बारह वर्ष रह चुके थे।

स्थूलभद्र के आगमन से कोशा पुलक उठी। चित्रशाला का बुझा दीप जल गया। वीणा तन्त्री पर कामोत्तेजक स्वर-लहरिया थिरकने लगी। कोयल ने पचम स्वर मे गाया। उपवन महका। पक्षी चहके। नर्तिकाए घुघरु बाध कर नाची। उस मधुर ध्वनि के साथ सारी चित्रशाला गूज उठी।

कोशा ने स्थूलभद्र का अभिनदन किया। स्थूलभद्र ने कोशा से चित्र-शाला मे चातुर्मास बिताने के लिए आज्ञा मागी। कोशा बोली—"प्राणदेव! आज आपके पधारने से मै धन्य हो गई हूं। यह चित्रशाला आपकी ही है। सहर्ष आप इसमे निवास करें।"

गणिका कोशा की आज्ञा से मुनि स्थूलभद्र का चित्रशाला में चातुर्मास प्रारभ हुआ। लोगो की दृष्टि मे जो कामस्थल था वह स्थूलभद्र के पादार्पण से धर्मस्थल बन गया।

कोशा स्थूलभद्र के लिए प्रतिदिन षट्रसयुक्त भोजन तैयार करती बहुमूल्य आभूषणो से विभूषित होकर उनके सामने उपस्थित होती। विविध

भाव भङ्गिमाओ के साथ नृत्य करती । पूर्वभोगों की स्मृति कराती और वह यथासभव उपाय से उन्हे मुग्ध करने का प्रयत्न करती ।

स्थूलभद्र अपने व्रतो मे हिमालय की भांति अचल थे । उनके भीतर मे ब्रह्मचर्य का तेज चमक रहा था । कोशा के कामबाण विफल हो गए । वह स्थूलभद्र की सयम साधना के सामने झुकी और एक दिन नतमस्तक होकर कहने लगी—"मुने ! मुझे धिक्कार है—मैंने आपको अपने व्रत से विचलित करने के लिए जो भी प्रयत्न किए हैं, उनके लिए आप क्षमा करें ।"

स्थूलभद्र मुनि ने भी कोशा को धर्मोपदेश दिया । अध्यात्म का मर्म समझाया । कोशा भी जीवन विज्ञान के रहस्य को समझकर व्रतधारिणी श्राविका बनी और विकल्प के साथ जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया ।

पावस सानन्द संपन्न हुआ । स्थूलभद्र कसौटी पर खरे उतरे । नवनीत आग पर चढ़कर भी नही पिघला । काजल की कोठरी मे रहकर भी अतुल मनोबली मुनि स्थूलभद्र बेदाग रहे । वे आचार्य सभूतविजय के पास लौट आए ।

आचार्य सात-आठ पैर स्थूलभद्र के सामने चलकर आए । 'दुष्कर-महादुष्कर क्रिया के साधक' का सबोधन देकर काम विजेता स्थूलभद्र का सम्मान किया ।[७]

आचार्य सभूतविजय के बाद उस युग का महत्त्वपूर्ण कार्य आगम वाचना का था । द्वादश-वर्षीय दुष्काल के कारण श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो रही थी । उसे संकलित करने के लिए पाटलिपुत्र मे महाश्रमण-सम्मेलन हुआ । इस आयोजन के व्यवस्थापक स्थूलभद्र स्वय थे । ग्यारह अङ्गो का सम्यक् सकलन हुआ ।[८] आगम ज्ञान का विशाल भडार "दृष्टिवाद" किसी को याद नही था । दृष्टिवाद की अनुपलब्धि ने सबको चिन्तित कर दिया । आचार्य स्थूलभद्र मे असाधारण क्षमता थी । ज्ञानसागर की इस महान् क्षति-पूर्ति के लिए सघ के निर्णयानुसार वे नेपाल मे भद्रबाहु के पास विद्यार्थी बनकर रहे एव उनसे समग्र चतुर्दश पूर्व की ज्ञान राशि को अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण कर उन्होने श्रुतसागर से टूटती दृष्टिवाद की सुविशाल धारा को संरक्षण दिया । अर्थ-वाचना दस पूर्व तक ही वे उनसे ले पाए थे । अन्तिम चार पूर्व की उन्हे पाठ-वाचना मिली । वीर निर्वाण के १६० वर्ष के आस-पास सपन्न यह सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण वाचना थी ।

भद्रबाहु के बाद वी० नि० १७० (वि० पू० ३००) में स्थूलभद्र ने आचार्य पद का नेतृत्व संभाला था। उनसे विविध रूपों में जैन शासन की प्रभावना हुई थी।

महाकरुणा के स्रोत, पतितोद्धारक, परोपकार-परायण आर्य स्थूलभद्र का पादार्पण एक बार श्रावस्ती नगरी में हुआ। इसी नगरी में उनका बाल-सखा घनिष्ठ मित्र धनदेव श्रेष्ठी सपरिवार निवास करता था। जन-जन हितैषी आर्य स्थूलभद्र का प्रवचन सुनने विशाल संख्या में मानव समुदाय उपस्थित था। इस भीड़ में बचपन के साथी श्रेष्ठी धनदेव की सौम्य आकृति कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। उनकी अन्यत्र गमन की अथवा रुग्ण हो जाने की परिकल्पना आर्य स्थूलभद्र के मस्तिष्क में उभरी, उन्होंने सोचा—संकट की स्थिति में श्रेष्ठी धनदेव अवश्य अनुग्रहणीय हैं। अध्यात्म-उद्बोध देने के निमित्त से प्रेरित होकर प्रवचनोपरांत आर्य स्थूलभद्र विशाल जनमंघ के साथ श्रेष्ठी धनदेव के घर पहुंचे। महान् आचार्य के पदार्पण से धनदेव की पत्नी परम प्रसन्न हुई। उसने भूतल पर मस्तक टिकाकर वंदन किया। महती कृपा कर अध्यात्मानुकंपी आर्य स्थूलभद्र मित्र के घर पर बैठे एवं मित्र की पत्नी से धनदेव के विषय में पूछा। खिन्नमना होकर वह बोली—"आर्य! दुर्भाग्य से घर की संपत्ति नष्ट प्रायः हो गयी है। अर्थहीन व्यक्ति संसार में तृण के समान लघु एवं मूल्यहीन होता है। शरीर नहीं पूजा जाता अर्थ पूजा जाता है।' 'विदेशो व्यवसायिनाम् व्यवसाय के लिए विदेश ही आश्रय है। अर्थाभाव में अत्यन्त दयनीय स्थिति को प्राप्त पतिदेव धनोपार्जन हेतु देशान्तर गए हैं।"

श्रेष्ठी धनदेव के आंगन में स्तम्भ के नीचे विपुलनिधि निहित थी। धनदेव सर्वथा इससे अनजान था। आर्य स्थूलभद्र ने ज्ञानबल से इसे जाना एवं मित्र की पत्नी से बात करते समय उनकी दृष्टि उसी स्तम्भ पर केन्द्रित हो गयी थी। हाथ के संकेत भी स्तम्भ की ओर थे। आर्य स्थूलभद्र ने कहा—"बहिन संसार का स्वरूप विचित्र है। एक दिन धनदेव महान् व्यापारी था। आज स्थिति सर्वथा बदल चुकी है पर चिन्ता मत करना। भौतिक सुख-दुःख चिरस्थायी नहीं होते।" आर्य स्थूलभद्र के उपदेश-निर्झर के शीतल कणों से मित्र-पत्नी के आधि-व्याधि ताप-तप्त अधीर मानस को अनुपम शान्ति प्राप्त हुई।

कुछ दिनों के बाद श्रेष्ठी धनदेव पूर्व जैसी ही दयनीय स्थिति में घर आया। उसकी पत्नी ने आर्य स्थूलभद्र के पादार्पण से लेकर सारी घटना

कह सुनाई। उसने यह भी बताया कि उपदेश देते समय आर्य स्थूलभद्र स्तंभ के अभिमुख बैठे थे। उनका हस्ताभिनय भी इसी स्तभ की ओर था।

बुद्धिमान श्रेष्ठी धनदेव ने सोचा—महान् पुरुषो की हर प्रवृत्ति रहस्यमयी होती है। उसने स्तभ के नीचे से धरा को खोदा। विपुल संपत्ति की प्राप्ति उसे हुई। आर्य स्थूलभद्र इस समय तक पाटलिपुत्र पधार चुके थे। उनके अमित उपकार से उपकृत धनदेव श्रेष्ठी दर्शनार्थ वहां पहुंचा और पावन, पवित्र, अमृतोपम, महान् कल्याणकारी, शिव पथगामी उपदेश सुनकर व्रतधारी श्रावक बना। मित्र का अध्यात्म पथ का पथिक बनाकर आर्य स्थूलभद्र ने जगत् के सामने अनुपम मैत्री का आदर्श उपस्थित किया।

आर्य स्थूलभद्र के जीवन से अनेक प्रेरक घटना-प्रसङ्ग जुडे हैं। एक बार मगधाधिपति नन्द ने रथ-संचालन के कला-कौशल से प्रसन्न होकर सारथि को अनिद्य सुन्दरी कला की स्वामिनी, विविध गुण संपन्ना मगध गणिका कोशा को उपहार के रूप मे घोषित कर दी थी।

कोशा चतुर महिला थी। वह आर्य स्थूलभद्र से श्राविका-व्रत ग्रहण कर चुकी थी। अपने प्रण पर दृढ थी। उसकी वाक-पटुता एव व्यवहार-कौशल ने सयम मे अस्थिर कामाभिभूत सिंह-गुफावासी मुनि को भी पुन. सयम मे स्थिर कर दिया था। अपने व्रत मे सुस्थिर रहकर उत्तीर्ण होने का यह दूसरा अवसर कोशा के सामने प्रस्तुत हुआ था। कोशा ने राजाज्ञा का चातुर्य से पालन किया। वह रथिक के सामने सीधी-सादी वेश-भूषा मे उपस्थित हुई। उसकी आंखो मे न कोई वासना का ज्वार था न शरीर पर साज-सज्जा एवं शृंगार। वह बार-बार आर्य स्थूलभद्र का नाम लेकर कह रही थी—"स्थूलभद्र विना नान्य पुमान् कोपीत्यहर्निशम्।" आज दुनिया मे आर्य स्थूलभद्र जैसा उत्तम पुरुष कोई नही है।

विराग भाव से उपस्थित मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए रथिक ने बाण-कौशल से सुदूरवर्ती आम्रफलो के गुच्छ को तोड़कर उसे उपहृत किया। सारथि के इस बाण-कौशल में कोशा को कुछ भी आश्चर्य जैसा नही लगा। वह एक अत्यन्त प्रवीण नारी थी। नृत्यकला मे उसका चातुर्य अनुपम था। उसने सरसो के ढेर पर सूई की नोक से अनुस्यूत गुलाब की पखुड़ियो को फैलाकार उस पर नृत्य किया। अपनी लचीली देह को कोशा ने इस तरह साध लिया था कि उसके पादाक्रान्त भार से सर्षप राशि का एक भी दाना इधर से उधर नहीं हुआ और न सूई की नोक की

झपट ही उसके चरणो को घायल कर सकी। रथिक प्रसन्न होकर बोला—"सुभगे ! तुम्हारे इस नृत्य-कौशल पर प्रसन्न होकर मैं तुम्हें कुछ उपहार देना चाहता हूं।" गणिका ने कहा—"रथिक ! मेरी दृष्टि मे तुम्हारा यह आम्रफल के गुच्छो का उच्छेदन दुष्कर नही है और न मेरा यह नृत्य कौशल ही, पर स्थूलभद्र जैसा ब्रह्मचर्य का उदाहरण प्रस्तुत करना महादुष्कर है। मेरी कामोद्दीपक चित्रशाला मे आर्य स्थूलभद्र ने पूरा पावस बिताया। षट्-रसपूर्ण भोजन किया पर कज्जल की कोठरी मे रहकर भी आर्य स्थूलभद्र की सफेद चद्दर पर एक भी दाग न लगा। आग पर चढकर भी मक्खन न पिघला, ऐसे महापुरुष समग्र विश्व के द्वारा वन्दनीय होते हैं।"

रथिक आर्य स्थूलभद्र की महिमा गणिका के द्वारा सुनकर परम प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। हृदय मे सात्त्विक भावो का उदय हुआ, विरक्ति की धारा बही एवं पाटलिपुत्र मे आर्य स्थूलभद्र के पास पहुच कर रथिक ने दीक्षा ग्रहण कर ली।

स्थूलभद्र के जीवन से पावन प्रेरणा पाकर न जाने कितने व्यक्ति अध्यात्म मार्ग के पथिक बने थे।

नन्द राज्य के यशस्वी महामात्य शकडाल की नौ सन्तानें जैन शासन में दीक्षित हुई थी—सात पुत्रियां एव दो पुत्र। इनमे आर्य स्थूलभद्र ही सबसे ज्येष्ठ थे। शकडाल परिवार मे सर्वप्रथम दीक्षा सस्कार भी उनका ही हुआ था। आचार्य पद के महिमामय दायित्व को भी आर्य स्थूलभद्र ने अत्यन्त दक्षता के साथ वहन किया। श्रमण संघ मे आर्य महागिरि एव सुहस्ती जैसे प्रभावी आचार्य उनके प्रमुख शिष्य थे।[1]

स्थूलभद्र दीर्घजीवी आचार्य थे। उनके काल मे मौर्य सम्राट् चद्रगुप्त और राजनीति-दक्ष, महामेधावी जैन धर्म मे आस्थाशील चाणक्य का अभ्युदय हुआ। मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। नन्द साम्राज्य के पतन की दर्दनाक घटना भी इस युग का मर्मान्तिक इतिहास है। दुष्काल परिसमाप्ति के बाद आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण कार्य आर्य स्थूलभद्र की सन्निधि मे हुआ था। स्थूलभद्र के जीवन का लगभग एक शतक आरोह और अवरोह से भरा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है।

अर्थत: दस पूर्वधर एवं शब्दत चतुर्दश पूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र श्रमण समुदाय के शिरोमणि एव महान् तेजस्वी आचार्य थे।

समय-संकेत :—

आचार्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे लगभग ७० वर्ष के काल मे ४५ वर्ष तक उन्होंने आचार्य पद के दायित्व को कुशलतापूर्वक वहन किया। उनके जीवन की विशेषताओ से आचार्य पद स्वयं मण्डित हुआ। वैभारगिरि पर्वत पर १५ दिन के अनशन के साथ वी० नि० २१५ (वि० पू० २५५) मे आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हुआ।

आधार-स्थल

१ पुत्तो य थूलभद्दो, पढमो से बीयओ तहासिरियो ।
रुववईओ धूयाओ, सत्त जक्खा पमुक्खाओ ॥२॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह भूयदिन्निया नाम ।
सेणा वेणा रेणा, ताओ एयाओ अणुकमसो ॥३॥
(उपदेशमाला, पत्र २३४)

२. समुत्खातद्विपत्कन्दो नन्दो ऽभून्नवमो नृप ॥३॥
शकटाल इति तस्य मन्त्र्यभूत्कल्पकान्वयः ॥४॥
(परि० पर्व, सर्ग-८)

३ इग-दुग-तिगाइ परिवाडिपायडंताणमावडइ कमसो ।
सक्कय मिलोगगाहा, सयाइ मेहापहाणाण ॥४॥
(उपदेशमाला, पत्र २३४)

४ पुरे ऽभूत्तत्र कोशेति वेश्या रूपश्रियोर्वशी ।
वशीकृतजगच्चेता बभूव जीवनौषधिः ॥८॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

५. तेणं भणिय भाया, जेट्ठो मे थूलभद्दनामोत्ति ।
बारसम से वरिस, वेसाए गिहे वसतस्स ॥४॥
(उपदेशमाला, विशेषवृति, पत्रांक २३६)

६ त्यक्त्वा सर्वमपि स्वार्थं राजार्थं कुर्वतामपि ।
उपद्रवन्ति पिशुना उद्बद्धानामिव द्विका. ॥७४॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

७. स्थूलभद्रमथायान्तमभ्युत्थायाब्रवीद् गुरुः ।
दुष्करदुष्करकारिन्महात्मन् ! स्वागत तव ॥१३६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

८. अह बारसवारिसिओ, जाओ कूरो कयाइ दुक्कालो ।
सव्वो साहुसमूहो, तओ गओ कत्थई कोई ॥२२॥
तदुवरमे सो पुणरवि, पाडिले पुत्ते समागओ विहिया ।
संघेणं सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थित्ति ॥२३॥
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणगाइ त सव्व ।
सघडिय एक्कारसंगाइं तहेव ठवियाइं ॥२४॥
(उपदेशमाला, विशेषवृति, पत्रांक २४१)

९. सोऽर्थहीन. पुरे ऽत्राभूल्लघुरेव तृणादपि ।
अर्था सर्वत्र पूज्यन्ते न शरीराणि देहिनाम् ॥१७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १०)

१०. थूलभद्दस्स जुगप्पहाणा दो सीसा—अज्जमहागिरि अज्जसुहत्थी य ॥
(सभाष्य निशीथ चूर्णि, पत्राक ३६१)

सद्गुण-रत्न-महोदधि आर्य महागिरि

आर्य महागिरि जैन श्वेताम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। वे महा मेधावी, परमत्यागी, निरतिचार संयम धर्म के आराधक थे। और जिन-कल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। तीर्थङ्कर महावीर की पट्टधर परम्परा में उनका क्रम नौवां है। दस पूर्वधर परम्परा में आर्य महागिरि का स्थान सर्वप्रथम है।

गुरु-परम्परा

आर्य महागिरि के दीक्षा गुरु एवं विद्या गुरु श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र थे। आचार्य स्थूलभद्र श्रुतधर आचार्य सम्भूतविजय के शिष्य थे एव आचार्य भद्रबाहु के उत्तराधिकारी थे। सद्गुण रत्न महोदधि आर्य महागिरि को अपने दीक्षा प्रदाता गुरु आचार्य स्थूलभद्र का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। उनकी पूर्व गुरु परम्परा मे सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र जैसे सर्वज्ञ श्री सम्पन्न एव श्रुत सम्पन्न प्रभावी आचार्य हुए थे।

जन्म एवं परिवार

आर्य महागिरि का जन्म एलापत्य गोत्र मे हुआ। उनका जन्म समय वी० नि० १४५ (वि० पू० ३२५) बताया गया है। उनके गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थो के अनुसार आर्य महागिरि का लालन-पालन आर्यायक्षा के द्वारा हुआ। इसी कारण से महागिरि के नाम से पूर्व आर्य विशेषण जुड़ा है।[1] लोक श्रुति के अनुसार आर्य शब्द की परम्परा यही से प्रारम्भ हुई है।

जीवन वृत्त

आर्य महागिरि बाल्यकाल से ही श्री-सम्पन्न, धृति-संपन्न एवं शील-सम्पन्न थे। आर्यायक्षा के मार्ग दर्शन मे उनके जीवन का बहुमुखी विकास हुआ था। ससार से विरक्त होकर ३० वर्ष की उम्र मे उन्होने श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र के पास वी०नि० १७५ (वि० पू०२९५) मे मुनि-दीक्षा ग्रहण की। गुरु की सन्निधि मे वे ४० वर्ष तक रहे। इस अवधि मे उनको दस पूर्वों की

विशाल ज्ञान-निधि गुरु से उपलब्ध हुई ।

आर्य सुहस्ती भी आचार्य स्थूलभद्र द्वारा दीक्षित मेधावी श्रमण थे । उनकी दीक्षा आर्य महागिरि की दीक्षा के ३८ अथवा ३९ वर्ष बाद हुई थी । आचार्य स्थूलभद्र के जीवन का वह सन्ध्याकाल था । भावी आचार्य पद निर्णय के समय आचार्य स्थूलभद्र ने अपने स्थान पर शान्त, दान्त, लब्धि-सम्पन्न, आगम, विज्ञ, आयुष्मान्, भक्ति परायण आर्य महागिरि एवं सुहस्ती इन दोनो शिष्यो की नियुक्ति की ।[२] इसका कारण उभय शिष्यो का प्रभावशाली व्यक्तित्व ही हो सकता है ।

उस समय एकतन्त्रीय शासन की परम्परा सबल थी । उभय शिष्यों की नियुक्ति एक साथ होने पर भी कार्यभार सचालन की दृष्टि से एक दूसरे का हस्तक्षेप नही था । दीक्षा-क्रम मे ज्येष्ठ शिष्य ही आचार्य पद के दायित्व को निभाते थे । आचार्य यशोभद्र एव स्थूलभद्र के द्वारा आचार्य पद के लिए दो-दो शिष्यो की नियुक्ति एक साथ होने पर भी यशस्वी आचार्य यशोभद्र के बाद उनके दायित्व को दीक्षा-क्रम मे ज्येष्ठ होने के कारण आचार्य सभूतविजय ने एव आचार्य स्थूलभद्र के बाद उनका दायित्व आचार्य महागिरि ने सम्भाला था ।

श्रुत सागर आचार्य भद्रबाहु अपने ज्येष्ठगुरु भ्राता आचार्य सभूत-विजय के अनुशासन को एव आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि के अनुशासन को सुविनीत शिष्य की भांति पालन करते रहे थे ।

निशीथ चूर्णिकार के अभिमत से आचार्य स्थूलभद्र के बाद आचार्य पद का गरिमामय दायित्व आचार्य सुहस्ती के कन्धो पर आया था, पर प्रीतिवश आर्य महागिरि एव आचार्य सुहस्ती दोनो एक साथ विहरण करते थे ।[३]

आर्य महागिरि जैसे प्रभावशाली श्रुत सम्पन्न, जिन शासन के दायित्व को सम्भालने मे सक्षम शिष्य के होते हुए भी अनधीत श्रुत, अनुभव-हीन, नवदीक्षित श्रमण सुहस्ती को आचार्य पद पर नियुक्ति सम्बन्धी चूर्णिकार का यह उल्लेख रहस्यमय प्रतीत होता है । परिशिष्ट पर्व, कल्प-सूत्र आदि अन्य ग्रन्थों मे दोनो की एक साथ नियुक्ति का उल्लेख मिलता है ।[४]

आर्य महागिरि महान् योग्य आचार्य थे । उन्होने अनेक मुनियो को आगम वाचना प्रदान की ।[५] आचार्य सुहस्ती जैसे महान् प्रभावक आचार्य भी उनके विद्यार्थी शिष्य समूह में एक थे ।

उग्र तपस्वी आर्य महागिरि के महान् उपकार के प्रति आर्य सुहस्ती आजीवन कृतज्ञ रहे एवं उनको गुरु तुल्य सम्मान प्रदान किया था।

गुरुगच्छ धुराधारण धोरेय, धीर, गम्भीर आर्य महागिरि ने एक दिन सोचा, गुरुत्तर आत्म-विशुद्धि कारक जिनकल्प तप वर्तमान मे उच्छिन्न है, पर तत्सम तप भी पूर्व संचित कर्मों का विनाश कर सकता है।[१] मेरे स्थिरमति अनेक शिष्य सूत्रार्थ के ज्ञाता हो चुके हैं। मैं अपने इस दायित्व से कृतकृत्य हू। गच्छ की प्रतिपालना करने मे सुहस्ती सुदक्ष है। गण-चिन्ता से मुझे मुक्त करने मे वह समर्थ है।[७] अत: इस गुरुत्तर दायित्व से निवृत्त एव गण से सम्बन्धित रहते हुए आत्महितार्थ विशिष्ट तप मे स्व को नियोजित कर मैं महान् फल का भागी बनू यह मेरे लिए कल्याणकारक मार्ग है।

महासकल्पी अन्तर्मुखी आचार्य महागिरि की चिन्तनधारा दृढ निश्चय मे बदली। संघ-संचालन का भार आर्य सुहस्ती को संभलाकर वे जिनकल्प तुल्य साधना मे प्रवृत्त हुए। भयावह उपसर्गों मे निष्प्रकम्प, नगर, ग्राम, आराम आदि के प्रतिबन्ध से मुक्त बने एव श्मशान भूमिकाओ मे गण निश्रित विहरण करने लगे।[८]

भिक्षाचरी मे आर्य महागिरि विशेष अभिग्रही थे। वे प्रक्षेप योग्य भोजन ही ग्रहण करते थे।

पाटलीपुत्र की घटना है—आर्य महागिरि वसुभूति श्रेष्ठी के घर आहारार्थ गए। वहा आर्य सुहस्ती पहले से ही विद्यमान थे। श्रेष्ठी वसुभूति की विशेष प्रार्थना से वे उनके परिवार को जैन धर्म का बोध देने आए थे। सपरिवार वसुभति आचार्य सुहस्ती के पावन चरणो मे बैठकर प्रवचन सुन रहा था। आर्य महागिरि के आगमन पर आर्य सुहस्ती ने उठकर वंदन किया। आर्य महागिरि के प्रति आर्य सुहस्ती का यह सम्मान देखकर श्रेष्ठी वसुभूति के हृदय मे आश्चर्य मिश्रित जिज्ञासा जगी। आचार्य महागिरि के लौट जाने के पश्चात् श्रमणोपासक श्रेष्ठी वसुभूति ने आर्य सुहस्ती से पूछा—"भगवन्! आप श्रुतसम्पन्न महाप्रभावी आचार्य हैं। आपके भी कोई गुरु हैं?"[९] निगर्वी भाव से सुहस्ती ने उत्तर दिया—"ममैते गुरवः"—ये मेरे गुरु हैं। महान् साधक, विशिष्ट तपस्वी एव दृढ अभिग्रही हैं। आन्त, प्रान्त, नीरस, प्रक्षेप योग्य भिक्षा को ग्रहण करते हैं। प्रतिज्ञानुसार भोजन न मिलने पर तप:कर्म मे प्रवृत्त हो जाते हैं।"

आर्य सुहस्ती से महातपस्वी आर्य महागिरि का परिचय पाकर श्रेष्ठी

वसुभूति अत्यन्त प्रभावित हुआ। आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी परिवार को उद्बोधन देकर स्वस्थान पर लौट आए।

आर्य महागिरि को लक्षित कर अपने पारिवारिक जनो को निर्देश देते हुऐ श्रेष्ठी वसुभूति ने कहा—"अपने घर पर जब कभी ऐसा महा-अभिग्रही साधक, तपस्वी मुनि का पादार्पण हो, उन्हे भोजन को प्रक्षेप योग्य कहकर प्रदान करे। उर्वर धरा मे समय पर उप्त बीजो की परिणति बहुत विस्तारक होती है।[१०] इसी भाति सयति-दान महान् फलदायक है। इससे यश का सचय होता है एवं कलमष भी दूर हो जाता है।

आर्य महागिरि दूसरे दिन भिक्षाचरी करते हुए सयोगवश श्रेष्ठी वसुभूति के घर पहुचे। दान देने मे उद्यत उन लोगो ने मोदक सभृत हाथो को पुरस्सर कर भक्ति भावित हृदय से प्रार्थना की—"मुने! ये मोदक हमारे द्वारा परित्यक्त भोजन है। हम प्रतिदिन क्षीर के साथ इनको खाते हैं। अत्यधिक सरस घृत-शक्कर परिपूरित भोजन ग्रहण कर लेने के बाद आज इन मोदको से हमे कोई प्रयोजन नही है।"[११]

आर्य महागिरि अपनी प्रवृत्ति मे पूर्ण सजग थे एवं अभिग्रह के प्रति सुदृढ थे। श्रेष्ठी वसुभूति के पारिवारिक सदस्यो की मर्यादातिक्रान्त भक्ति एव अपूर्व चेष्टाए देखकर उन्होने विशेष उपयोग लगाया एव प्रदीयमान भोजन-सामग्री को अपनी, प्रतिज्ञा के अनुरुप न समझकर उसे ग्रहण नहीं किया। अनाचरणीय मार्ग का अनुगमन करने से निस्तार नही होगा—यह सोचकर आत्म-गवेषक मुनि महागिरि बिना भोजन ग्रहण किए वन की ओर चले गए।[१२]

आर्य सुहस्ती से आर्य महागिरि जब मिले तब उन्होने वसुभूति के घर पर घटित घटना से उन्हे अवगत कराते हुए कहा—"सुहस्ती! तुमने श्रेष्ठी वसुभूति के सम्मुख मेरा सम्मान कर मेरे लिए अनेषणीय स्थिति उत्पन्न करदी है।[१३]"

क्षमाधर आर्य सुहस्ती ने आचार्य महागिरि के चरणो मे नत होकर क्षमा प्रार्थना की और बोले—"इस भूल का आगे के लिए पुनरावर्तन नही होगा।"

यह घटना आर्य महागिरि एव सुहस्ती के गुरु-शिष्य सम्बन्ध पर प्रकाश डालने के साथ-साथ अभिग्रहधारी श्रमणो की विशुद्धतम कठोर आचार-साधना, गुरु के कटु उपालम्भ के प्रति भी शिष्य का विनम्र भाव,

श्रावक समाज की मुनि जनों के प्रति आस्था एव उदग्र भक्ति तथा गृहस्थ समाज को बोध देने हेतु उनके घर पर बैठ कर उपदेश देने की पद्धति आदि कई तथ्यो को अनावृत्त करती है ।

कल्प सूत्र स्थविरावली मे आर्य महागिरि के विशाल शिष्य परिवार में से आठ प्रमुख शिष्यों का उल्लेख हुआ है । उनके नाम इस प्रकार हैं[१४]— (१) उत्तर (२) बलिस्सह (३) धनाढ्य (४) श्री आढ्य (५) कौण्डिन्य (६) नाग (७) नागमित्र (८) रोहगुप्त । इन शिष्यो मे उत्तर और बलिस्सह प्रभावक शिष्य थे ।

स्थानागसूत्र मे नौ गणो का उल्लेख हैं ।[१५] उनमे उत्तर बलिस्सह गण की स्थापना आर्य महागिरि के उत्तर और बलिस्सह नामक शिष्य के नाम पर हुई सम्भव है । आर्य महागिरि के आठवें शिष्य मोहगुप्त से त्रैराशिक मत प्रकट हुआ ।[१६]

आर्य महागिरि, विशुद्धतम चरित्र पर्याय के प्रतिहालक थे । वे एक ओर दस पूर्वो की विशाल श्रुत-सम्पदा के स्वामी थे । दूसरी ओर वे जिनतुल्य साधना करने वाले विशिष्ट तपस्वी थे । घृति, क्षमा, तितिक्षा, त्याग वैराग्य आदि विविध गुण रत्नो के वे महोदधि थे ।

समय-संकेत

आर्य महागिरि आर्य स्थूलभद्र की भान्ति दीर्घजीवी आचार्य थे । वे ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे । सामान्य मुनि-पर्याय का उनका काल ४० वर्ष का एव युगप्रधान आचार्य पद का ३० वर्ष का था ।[१७]

उन्होने युग का पूरा एक शतक अपनी आंखो से देखा । मालव प्रदेश के गजाग्रपद स्थान पर वे वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) मे स्वर्ग वासी बने ।

आधार-स्थल

१. तौ हि यक्षार्यया बाल्यादपि मात्रैव पालितौ ।
इत्यार्योपपदौ जातौ महागिरि सुहस्तिनौ ।।३७।।
(परिशिष्ट पर्व सर्ग-१०)

२. शान्तौ दान्तौ लब्धिमन्तावधीतावायुष्मन्तौ वाग्मिनौ दृष्टभक्तौ ।
आचार्यत्वे न्यस्य तौ स्थूलभद्रः काल कृत्वा देवभूयं प्रपेदे ।।४०।।
(परिशिष्ट पर्व सर्ग १०)

३. थूलभद्दसामिणा अज्ज सुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो ।
तहा वि अज्जमहागिरि अज्जसुहत्थी य पीतिवसेण एक्कओ विहरंति ।
(निशीथ सूत्र सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ० ३६१)

४. शान्तौ दान्तौ लब्धिमन्तावधोतावायुष्मन्तौ वाग्मिनौ दृष्टभक्ती ।
आचार्यत्वे न्यस्य तौ स्थूलभद्र काल कृत्वा देवभूय प्रपेदे ॥४०॥
(परिशिष्ट पर्व सर्ग १०)

५ कालक्रमेण भगवाञ्जगद्बन्धुर्महागिरि ।
शिष्यान्निष्पादयामास वाचनाभिरनेकश. ॥२॥
(परिशिष्ट पर्व सर्ग ११)

६. गुरुगच्छ धुराधारण धोरेया धरियलद्धिणो धीरा ।
चिरकाले वोलीणे महागिरी चितए ताण ॥२॥
गुरुतर निज्जरकारी, न सपय जइवि अत्थि जिणकप्पो ।
मह तह वि तदब्भासो पणामए पुव्व पावाइ ॥३॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्राङ्क ३६६)

७ विहिया सुयत्थ-परमत्थवित्थरे थिरमई मए सीसा ।
मह गच्छसारणाईविसारओ अत्थि य सुहत्थी ॥४॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्राङ्क ३६६)

८ इय चितिऊण परिवज्जिऊण, गणगच्छ पालणुच्छाह ।
विहरेइ तस्स निस्साए, सायर वण-मसाणेसु ॥६॥
पुर-नगर-गाम-आराम-आसमाई सुमुक्कपडिबधो ।
उवसग्गवग्गसंसग्गनिप्पकंपो अपको य ॥७॥
(उपदेशमाला, विशेपवृत्ति, पत्राङ्क ३६६)

९ अह एगया सुहत्थी, कहेइ सकुडुबसेट्ठिणो धम्म ।
गेहगणंमि पत्तो, महागिरी विहरमाणो तो ॥१२॥
सहसा सुहत्थिणा सो, दट्ठु अब्भुट्ठिओ सबहुमाण ।
पणमिय पुच्छइ सेट्ठी, भते ! तुम्हवि किमत्थि गुरु ॥१३॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्राङ्क ३७०)

१०. घरजणमेव जइ एइ, एरिसो महासाहू ।
तो पडिलाभेयव्वो, उज्झिय भिक्खाछल काउ ॥१७॥
सुपवित्तपत्तखेत्तम्मि, खित्तमप्पंपि बीयमिव ससाए ।
अइबहुफारफलेहिं, फलेइ ता देयमेयस्स ॥१८॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्राङ्क ३७०)

११. मह जे दिन्ना मड्डुाए, लड्डुआ छड्डिया मया तेऽमी ।
परिवज्जियाइ खज्जाइं, अज्ज कज्जं न एएहिं ॥२१॥
पइदिवसं खीरिए खज्जंतीए इमाए खद्धामि ।
अलमत्थु मज्झ घयखंडपुन्नघयपुन्नपत्तेण ॥२२॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्राङ्क ३७०)

१२. इय पेक्खतोऽपुव्वं, सव्वं चेट्ठं स चिंतइ किमेयं ।
उवओगं दव्वाइसु, दिंतो जाणेइ जमसुद्धं ॥२३॥
अहमिह नाओ नूण, अनायचरिया तओ न नित्थरिया ।
इय स नियत्तो तत्तो, पत्तो य वणे अमत्तट्ठी ॥२४॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति पत्राङ्क ३७०)

१३ अब्भुट्ठाण बहुमाणमायर तारिसं कुणंतेण ।
तइ तइया विहियाणेसणाहि तब्भत्तिजणणाओ ॥२६॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्राङ्क ३७०)

१४ थेरस्स ण अज्जमहागिरिस्स एलावच्छसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी ....त जहा-थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिड्ढे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसिस गुत्तेणं ।
(कल्पसूत्रस्थविरावली, सूत्र २०६) स० पुण्यविजयजी

१५ गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्वाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्डियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ।
(ठाण ६।२६)

१६ रोहगुत्तेहिंतो, कोसियगुत्तेहिंतो तत्थणं तेरासिया निग्गया ।
(कल्पसूत्र स्थविरावली, सूत्र २०६)

१७ तत्पट्टे श्री आर्यमहागिरि-आर्य सुहस्तिनामानौ उभौ अष्टम पट्टधरौ जातौ । तत्र प्रथमस्य त्रिंशद्वर्षाणि गृहे चत्वारिंशद्व्रते, त्रिंशत् युगप्रधानत्वे, सर्वायु शतवर्षाणि ।
(पट्टावली-समुच्चय, श्री गुरुपट्टावली, पृ० १६५)

सद्धर्म–धुरीण आचार्य सुहस्ती

जिनकल्प तुल्य साधक आर्य महागिरि के बाद जैन श्वेताम्बर परम्परा मे आर्य सुहस्ती जैसी महान् हस्ती का अभ्युदय हुआ । यह शुभ का सूचक था । आर्य सुहस्ती तीर्थङ्कर महावीर के दसवे पट्टधर थे । दस पूर्वधरो मे उनका स्थान द्वितीय था । मौर्यवंशी सम्राट् सम्प्रति को जैन धर्म के अनुकूल बनाने का महान् श्रेय आर्य सुहस्ती को प्राप्त हुआ है ।

गुरु-परम्परा

आर्य सुहस्ती के दीक्षा गुरु श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र थे । उनकी पूर्व गुरु परम्परा मे श्रुत सम्पन्न आचार्य यशोभद्र, सम्भूतविजय और भद्रबाहु जैसे यशस्वी आचार्य हुए । आर्य सुहस्ती को अपने दीक्षा गुरु आचार्य स्थूलभद्र की सन्निधि मे रहने का अवसर अत्यल्प ही प्राप्त हुआ था । आर्य महागिरि से आर्य सुहस्ती ने आगमो का एवं पूर्वों का अध्ययन किया था । यही कारण है—आर्य महागिरि ज्येष्ठ गुरुबन्धु (एक गुरु से दीक्षित) होने पर भी आर्य सुहस्ती ने उन्हे गुरु-तुल्य सम्मान प्रदान किया था ।

जन्म एवं परिवार

आर्य सुहस्ती का जन्म वशिष्ट गोत्र मे वी० नि० १८१ (वि० पू० २७८) मे हुआ और महागिरि की भाति उनका लालन-पालन आर्यायक्षा ने किया । आर्य सुहस्ती के नाम के साथ आर्य विशेषण आर्यायक्षा से उनके सम्बन्ध को सूचित करता है। गृहस्थ जीवन सम्बन्धी आगे की सामग्री उपलब्ध नहीं है ।

जीवन-वृत्त

आचार्य सुहस्ती २३ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे । आर्यायक्षा द्वारा उन्हे जीवन विज्ञान सम्बन्धी संस्कार प्राप्त हुए । आचार्य स्थूलभद्र से उन्होने वी० नि० २१५ (वि० पू० २५५) मे मुनि दीक्षा ग्रहण की । इसी वर्ष आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हो गया था ।

आर्य सुहस्ती का अध्ययन आर्य महागिरि की सन्निधि मे हुआ । अत.

आर्य सुहस्ती के दीक्षा गुरु आचार्य स्थूलभद्र और शिक्षा गुरु आर्य महागिरि थे। आर्य महागिरि दश पूर्वधर थे। विराट् बुद्धि के धनी आर्य सुहस्ती उनसे एकादशाङ्ग शिक्षा के साथ दशपूर्वों की सम्पूर्ण ज्ञान राशि को ग्रहण करने मे सफल सिद्ध हुए। उन्होने गुरु के मार्ग-दर्शन मे विविध योग्यताओ का विकास किया। श्रमण सघ सचालन एव धर्म-प्रचार का स्वतन्त्र रूप से कार्य आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि के आदेश से उनकी विद्यमानता में ही करने लगे। पर आचार्य पद का विधिपूर्वक दायित्व उन्होने आर्य महागिरि के स्वर्गवास के बाद वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) मे सम्भाला था। नन्दी चूर्णि के अनुसार आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती दोनो की गण-परम्परा भिन्न-भिन्न थी।

जैन धर्म को विस्तार देने मे आर्य सुहस्ती का विशिष्ट अनुदान है। सम्राट् सम्प्रति उनके धर्म-प्रचार के महान् सहयोगी थे। आचार्य सुहस्ती को सम्राट् सम्प्रति का योग मिला, उसके पीछे महत्त्वपूर्ण इतिहास है।

आचार्य महागिरि के साथ एक बार आचार्य सुहस्ती का पदार्पण कौशाम्बी मे हुआ। स्थान की संकीर्णता के कारण दोनो आचार्यों का शिष्य परिवार भिन्न-भिन्न स्थानो पर रुका। कौशाम्बी मे उस समय भयकर दुष्काल की स्थिति थी। जनता भीषण काल के प्रकोप से पीडित थी। साधारण मनुष्य के लिए पेट-भर भोजन की बात कठिन हो गई थी।

श्रमणो के प्रति अत्यधिक भक्ति के कारण भक्त लोग उन्हे पर्याप्त भोजन प्रदान करते थे। एक दिन आचार्य सुहस्ती के शिष्य आहारार्थ श्रेष्ठी-गृह पर पहुचे। उनके पीछे एक रक भी चला गया। उसने श्रमणो के पात्रो मे श्रेष्ठी के द्वारा प्रदीयमान स्वादिष्ट भोजन सामग्री को देखा। श्रमण पर्याप्त आहारोपलब्धि के बाद उपाश्रय की ओर लौट रहे थे। वह रक भी उनके साथ-साथ चल रहा था। उसने श्रमणो से भोजन मांगा। श्रमण बोले—"गुरु आदेश के बिना हम कोई भी कार्य नही कर सकते।"

रङ्क धर्म-स्थान तक श्रमणो के पीछे-पीछे चला आया। आचार्य सुहस्ती से श्रमणो ने रंक की ओर सकेत करते हुए कहा—"आर्य! यह दीन-मूर्ति रङ्क हमारे से भोजन की याचना कर रहा है।"

आर्य सुहस्ती ने गंभीर दृष्टि से उसको देखा और ज्ञानोपयोग से जाना—

भावी प्रवचनधारो यद् रङ्कोऽय भवान्तरे ॥४८॥

—परि० पर्व, सर्ग ११

यह रङ्क भवान्तर मे प्रवचनाधार बनेगा । इसके निमित्त से जैन शासन की अतिशय प्रभावना होगी ।

अध्यात्म-स्रोत, अकारण कारुणिक आर्य सुहस्ती ने मधुर स्वर मे सम्मुख उपस्थित दयापात्र रङ्क को सबोधित करते हुए कहा—"मुनि जीवन स्वीकार करने पर तुम्हे हम भोजन दे सकते है । गृहस्थ को भोजन देना साध्वाचार की मर्यादा से सुविहित नहीं हैं ।"

रङ्क को अन्नाभाव के कारण मृत्यु का आलिंगन करने की अपेक्षा इस कठोर संयम-चर्या का मार्ग सुगम लगा । वह मुनि बनने के लिये तत्काल सहमत हो गया ।

परोपकार-परायण आर्य सुहस्ती ने महान् लाभ समझकर उसे दीक्षा प्रदान की । कई दिनो के बाद क्षुधाक्रान्त रङ्क को प्रथम बार पर्याप्त भोजन मिल पाया था । आहार-मर्यादा का विवेक न रहा । मात्रातिक्रान्त भोजन उदर मे पहुच जाने से श्वासनलिका मे श्वासवायु का सचार कठिन हो गया । दीक्षा दिन की प्रथम रात्रि मे ही वह समता भाव की आराधना करता हुआ काल धर्म को प्राप्त हुआ और अवन्ति नरेश अशोक का प्रपौत्र व कुणालपुत्र सम्प्रति के रूप मे जन्मा । अव्यक्त सामायिक की साधना के फलस्वरूप भवान्तर मे उसे महान् साम्राज्य की प्राप्ति हुई ।[1]

राजकुमार सप्रति एक दिन राजप्रासाद के वातायन मे बैठा था । उसने श्रमणवृन्द से परिवृत्त आचार्य सुहस्ती को राजपथ पर चलते हुए देखा । पूर्व भव की स्मृति उभर आयी । आर्य सुहस्ती की आकृति उसे परिचित-सी लगी । ध्यान विशेषरूप से केन्द्रित होते ही जाति-स्मरण ज्ञान प्रकट हुआ । संप्रति ने पूर्व भव को जाना एव प्रासाद से नीचे उतरकर आर्य सुहस्ती को वन्दन किया और विनम्र मुद्रा मे पूछा—"आप मुझे पहचानते है ?" परम-ज्ञानी आर्य सुहस्ती ने दत्तचित्त-होकर चिन्तन किया एव ज्ञानोपयोग से राज-कुमार सप्रति के पूर्वभव का सपूर्ण वृत्तान्त जानकर उसे विस्तार पूर्वक राज-कुमार के सामने प्रस्तुत किया ।[2]

संप्रति ने प्रणत होकर निवेदन किया—"भगवन् ! उस द्रमुक के भव मे आप मुझे प्रव्रजित नही करते तो जिन धर्म की प्राप्ति के अभाव मे आज मेरी क्या गति होती ? आप मेरे महा उपकारी हैं । पूर्व जन्म मे आप मेरे गुरु थे । इस जन्म मे भी मैं आपको गुरु रूप मे स्वीकार करता हू । मुझे अपना धर्मपुत्र मानकर कर्त्तव्य-शिक्षा मे अनुग्रहित करे और प्रसन्नमना होकर

किसी विशिष्ट कार्य का आदेश दे, जिसे सपादित कर मै आपसे उऋण हो सकू।" आर्य सुहस्ती के मुख से भवतापोपहारी अमृत बूदे बरसी—"राजन्! उभय लोक कल्याणकारी जिन धर्म का अनुसरण कर।"

आचार्य सुहस्ती से बोध प्राप्त कर संप्रति प्रवचन-भक्त, सम्यक्त्व गुणयुक्त अणुव्रतधारी श्रावक बना।

कल्पचूर्णि के अनुसार सप्रति ने अवन्ति मे श्रमण परिवार परिवृत्त सुहस्ती को राज-प्राङ्गण मे गवाक्ष से देखा। चिन्तन चला—जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसके बाद आचार्य सुहस्ती के स्थान पर जाकर उन्होने जिज्ञासा की —"प्रभो! 'धम्मस्स किं फलं—'धर्म का क्या फल है?" आर्य सुहस्ती बोले—

"अव्यक्त सामायिक का फल राज्यपदादि की प्राप्ति है।" सम्प्रति ने विस्मित मुद्रा मे कहा—"आपने सत्य सभाषण किया है। क्या आप मुझे पहचानते हैं?" सम्प्रति के इस प्रश्न पर आर्य सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग लगाकर कहा—'तुमने पूर्व भव मे मेरे पास दीक्षा ग्रहण की थी। तदनन्तर सम्प्रति ने आचार्य सुहस्ती से श्रावक धर्म स्वीकार किया।"

निशीथचूर्णि के एक स्थल पर प्रस्तुत घटना सन्दर्भ के साथ विदिशा का और दूसरे स्थल पर अवन्ति का उल्लेख है। विदिशा को अवन्ति के राज्याधिकार मे मान लेने से इस प्रकार का उल्लेख सम्भव है।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार आर्य महागिरि एव सुहस्ती विदिशा मे एक साथ गए थे। उनके बाद आर्य महागिरि अनशन करने के लिये दशार्णपुर की ओर चले गए। तदनन्तर आर्य सुहस्ती का अवन्ति मे पादार्पण हुआ, उस समय सम्प्रति आर्य सुहस्ती का श्रावक बना था।

श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाणोत्तर काल मे साभोगिक सम्बन्ध-विच्छेद की सर्वप्रथम घटना आर्य सुहस्ती और सम्राट् सम्प्रति के निमित्त से घटित हुई थी।

दुष्काल के विपन्न क्षणो में सम्राट् सम्प्रति ने श्रमणो के लिए भिक्षा-सम्बन्धी अनेक विध सुविधाएं प्रदान की थी। सभी प्रकार के व्यापारी वर्ग को सम्राट् सम्प्रति का आदेश था—"वे मुक्त भाव से श्रमणो को यथेप्सित द्रव्यो का दान करे, उनका मूल्य मैं दूगा। मेरे घर का भोजन राजपिंड होने के कारण मुनिजनो के लिये ग्रहणीय नहीं है।" सम्राट् संप्रति की इस उदारता के कारण आर्य सुहस्ती के शासनकाल मे शिथिलाचार की प्रवृत्ति

प्रारम्भ हो गई। साधुचर्या में अजागरूक श्रमण मुक्त भाव से सदोष दान ग्रहण करने लगे।

आर्य महागिरि जब आर्य सुहस्ती से मिले, घोर दुष्काल मे भी साधुओ को प्रर्याप्त एवं विशिष्ट भोजन मिलता देख आर्य महागिरि को राजपिण्ड तथा सदोषआहार की शका हुई। उन्होने आर्य सुहस्ती से समग्र स्थिति को जानना चाहा।

गवेषणा किए बिना ही आर्य सुहस्ती बोले—"यथा राजा तथा प्रजा।" प्रजा राजा की अनुगा होती है। यही कारण है—राजा की भक्ति के अनुसार प्रजा मे भी धार्मिक अनुराग है। तेली तेल, घृत बेचने वाला घी, वस्त्र के व्यापारी वस्त्र अपने-अपने भण्डार से मुनि वर्ग को सभी यथेप्सित वस्तुओ को प्रदान कर रहे हैं।

आर्य महागिरि आर्य सुहस्ती के उपेक्षा-भरे उत्तर से विक्षुब्ध हुए। वे गम्भीर होकर बोले—"आर्य! आगमविज्ञ होकर भी शिष्यों के मोहवश जानबूझकर इस शिथिलाचार को पोषण दे रहे हो?"

आर्य महागिरि चरित्रनिष्ठ, ऊर्ध्वचिन्तक, निर्दोप परम्परा के पक्षपाती आचार्य थे। संघ व शिष्यो का व्यामोह उनके निर्मल मानस मे कभी अपना स्थान न पा सका।

गण में शिथिलाचार को पनपते देख उन्होने तत्काल प्रतिभा-सम्पन्न प्रभावी शिष्य सुहस्ती से भी अपना साम्भोगिक (भोजन आदि का व्यवहार) संबन्ध विच्छेद कर लिया था।[४]

आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि को गुरुतुल्य सम्मान देते थे। उनके कठिन उपालम्भ को सुनकर भी वे क्षमाशील बने रहे। उनके चरणों मे गिरे। अपने दोष के लिये उन्होने क्षमायाचना की तथा पुन: ऐसा न करने के लिये वे सकल्पबद्ध हुए। आर्य सुहस्ती की विनम्रता के सामने आर्य महागिरि झुके। उन्होने अपना विचार एव साम्भोगिक सबन्ध की विच्छिन्नता के प्रतिबन्ध को हटा दिया, पर भविष्य मे मनुष्य की मायाप्रधान प्रवृत्ति का विचार कर अपना आहार-व्यवहार उनके साथ नहीं किया।

सरल, सुविनीत, मृदुस्वभावी, पूर्वज्ञान, गुण सपन्न आर्य सुहस्ती ने महनीय महिमाशाली आर्य महागिरि के सुदृढ अनुशासनात्मक व्यवहार से प्रशिक्षण पाकर अपनी भूल का सुधार कर लिया था पर शिष्यगण मे पनपते सुविधावाद के संस्कारो का प्रवाह सर्वथा न रुक सका।

आधुनिक अनुसन्धानो के आधार पर घटना सम्राट् बिन्दुसार के युग की मानी गई है । आर्य महागिरि का स्वर्गवास वी० नि० २४५ मे हुआ था । सम्राट् सम्प्रति के राज्याभिषेक का समय वी० नि० २६५ है । आर्य महागिरि के स्वर्गवास के समय सम्राट् सम्प्रति का जन्म भी संभव नही है । अतः यह घटना उस दुष्काल की परिकल्पना मानी गई है जिस समय सम्प्रति का जीव द्रमक के भव मे था, क्षुधा से आक्रान्त होकर आर्य सुहस्ती के पास उसने दीक्षा ग्रहण की थी ।

दुष्काल के उस युग का शासक सम्राट् बिन्दुसार था । वह महादानी एव उदारचेता शासक था । उसने जनता को सहायता प्रदान करने के लिये अन्न के भण्डार खोल दिए थे । श्रमण वर्ग को भी सम्राट् की इस प्रवृत्ति से भिक्षाचरी सुलभ हो गई थी । सम्राट् संप्रति के अत्यधिक प्रभाव के कारण बिन्दुसार के युग की यह घटना संप्रति युग के साथ संयुक्त हुई प्रतीत होती है ।

सम्राट् अशोक की भांति सम्राट् सप्रति भी महान् धर्म-प्रचारक था । आन्ध्र आदि अनार्य देशो मे जैन-धर्म को प्रसारित करने का श्रेय उसे है । आर्य सुहस्ती से सम्यक्त्व-बोध एव श्रावक व्रत दीक्षा स्वीकार करने के बाद सम्राट् सप्रति ने अपने सामन्त वर्ग को भी जैन सस्कार दिये तथा राजकर्मचारी वर्ग को मुनिवेश पहनाकर द्रविड, महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि देशो मे उन्हें भेजा था ।[५] जैन-विहित साधु-मुद्रा से विभूषित राजसुभट अपरिचित अनार्य देशो मे घूमे तथा उन लोगो को साधुचर्या से अवगत कराने हेतु आधाकर्मादि दोप-विवर्जित आहार को ग्रहणकर जैन मुनियो की विहारचर्या योग्य भूमिका प्रशस्त की । प्रबल धर्म-प्रचारक आर्य सुहस्ती ने सम्राट् सप्रति की प्रार्थना पर अपने शिष्य वर्ग को अनार्य देशो मे भेजा था ।[६] मिथ्यात्वतिमिराछन्न उन क्षेत्रो मे अध्यात्म का दीप प्रज्ज्वलित कर श्रमण लौटे । उस समय आर्य सुहस्ती ने उनसे अनार्य लोगो के विभिन्न अनुभव सुने थे ।[७]

एक बार आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी पत्नी भद्रा के 'वाहन-कुट्टी' स्थान में विराजे थे । रात्रि के प्रथम पहर मे वे 'नलिनी-गुल्म' नामक अध्ययन का परावर्तन (स्वाध्याय) कर रहे थे ।[८] निशा का नीरव वातावरण था । भद्रापुत्र अवन्ति सुकुमाल अपनी बत्तीस पत्नियो के साथ उपरितन साप्तभौमिक प्रासाद मे आमोद-प्रमोद कर रहे थे । स्वाध्यायकालीन आचार्य सुहस्ती की मधुर शब्द-तरगें अवन्ति सुकुमाल के कानो से टकराई । उसका ध्यान

शास्त्रीय वाणी पर केन्द्रित हो गया।[1] नलिनी गुल्म अध्ययन मे वर्णित नलिनी गुल्म विमान का स्वरूप उसे परिचित-सा लगा। ऊहा-पोह करते-करते भद्रापुत्र को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने अपना पूर्व भव देखा और एक नया रहस्य उद्घाटित हुआ। अवन्ति सुकुमाल अपने पूर्व भव मे नलिनी गुल्म विमान का देव था।

नलिनी गुल्म विमान को पुन: प्राप्त कर लेने की उत्कट भावना ने उसे मुनि बनने के लिये प्रेरित किया। आचार्य सुहस्ती के पास पहुंचकर अवन्ति सुकुमाल ने अपनी भावना प्रस्तुत की। साधु-जीवन की कठोर चर्या का बोध देते हुए आर्य सुहस्ती ने कहा—"वत्स ! तुम सुकुमाल हो। मुनि-जीवन मोम के दांतो से लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है।"

अवन्ति सुकुमाल अपने निर्णय पर दृढ था। उसे न मुनि-जीवन की कठोरता का बोध अपने लक्ष्य से विचलित कर सका, न रूपवती बत्तीस पत्नियो का आकर्षण एव न मा भद्रा की ममता निर्णीत पथ से हटा सकी।

भद्रा के द्वारा अनुमति न मिलने पर भी मुनि-परिधान को पहनकर आर्य सुहस्ती के सामने भद्रापुत्र उपस्थित हुआ। अपने ही द्वारा गृहीत साधु-वेश की मुद्रा मे अवन्ति सुकुमाल को आर्य सुहस्ती ने प्रस्तुत देखा और उसकी वैराग्यमयी तीव्र विचारधारा को परखा। साधना-सोपान पर बढने के लिये उत्तरोत्तर उत्कर्ष भाव को प्राप्त अवन्ति सुकुमाल को परम कारुणिक आर्य सुहस्ती ने श्रमण दीक्षा प्रदान की।

कमल-सी कोमल शय्या पर सोने वाले अवन्ति सुकुमाल दीर्घकालीन तपस्या के द्वारा कर्म-निर्जरा करने मे अपने आपको सक्षम पा रहे थे। दीक्षा के प्रथम दिन ही गुरु से आदेश प्राप्तकर यावज्जीवन अनशनपूर्वक कठोर साधना करने के लिये वहा से प्रस्थित हुए और श्मशान भूमि की ओर बढे। नगे पांव चलने का उन्हे अभ्यास भी नही था। पथ मे सुतीक्ष्ण कांटो और ककरो के प्रहार द्वारा उनके कोमल पदतल से रक्तबिन्दु टपकने लगे। पथगत बाधाजनित क्लेश को समतापूर्वक सहन करते हुए अवन्ति सुकुमाल मुनि निर्णीत स्थान तक पहुचे एवं श्मशान के शिलापट्ट पर अनशनपूर्वक ध्यानस्थ हो गए। मध्याह्न के तीव्र आतप ने उनकी कडी परीक्षा ली एव पच नमस्कार मंत्र का स्मरण करने लगे। दिन ढला, रजनी का आगमन हुआ।

सुकोमल मुनि के चरणो से टपको रक्तबून्दो से मिश्रित पथ के धूलिकणो की दुर्गन्ध क्षुधार्त्त शिशुओं के साथ मामभक्षिणी जम्बुकी को खीच

लाई। उसने रक्ताप्लावित मुनि के तलवो को चाटा। कृतान्त सहोदरा की भांति वह मुनि के वपु का भक्षण करने लगी। चर्म का आवरण चट-चट करता टूटता गया। मांस, मेद और मज्जा के स्वाद मे क्षुब्ध शृगालिनी रक्त सनी कशेरुका (पीठ की हड्डी), पर्शुका (पार्श्व की हड्डी), करोटि (मस्तक की हड्डी), कपालास्थियो का भी चवर्ण करने लगी। उसके शिशु परिवार ने और उसने मिलकर प्रथम प्रहर मे मुनि के पैरों को, द्वितीय प्रहर मे जंघा को, तृतीय प्रहर मे उदर को और चतुर्थ प्रहर में मुनि के शरीर के ऊपरी भाग का मासादि निगल लिया। तब अस्तित्व का बोध कराता हुआ कंकाल मात्र अवशिष्ट रह गया था।

उत्तरोत्तर चढ़ती हुई भावना की श्रेणी मुनि को अपने लक्ष्य तक पहुचा गई। धैर्य से भयंकर वेदना को सहते हुए भद्रापुत्र अवन्ति सुकुमाल नलिनी गुल्म विमान को प्राप्त हुए। देवताओ ने आकर उनका मृत्यु महोत्सव मनाया। महानुभाव! महासत्त्व! कहकर मुनि के गुणो की प्रशंसा की।

भद्रापुत्र की पत्नी ने आचार्य सुहस्ती की परिषद् में भद्रापुत्र को नहीं देखा। उसने वन्दनकर मुनीन्द्र से पूछा—"भगवन्, मेरे पति कहां है ?" सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग के बल पर अवन्ती सुकुमाल की पत्नी से समग्र वृतांत कह सुनाया।

पुत्रवधु के द्वारा अपने पुत्र के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त कर भद्रा पागल की भांति दौडती हुई श्मशान भूमि मे पहुंची। वहा पुत्र के अस्थिपंजर को देखकर फूट-फूटकर रोने लगी और विलपती हुई कहने लगी, "पुत्र, तुमने ससार को छोडा, मां की ममता और वधुओ का मोहपाश तोडा। पर प्रव्रजित होकर एक ही अहोरात्रि की साधना कर प्राणो का परित्याग क्यो कर दिया ? क्या यही रात्रि तुम्हारे लिए कल्याणकारी थी ? परिवार से निर्मोही बने क्या धर्मगुरु से भी निर्मोही बन गए ? सत परिवेश मे एक बार मेरे आंगन मे आकर भवन को पवित्र कर देते।"

पुत्र के और्ध्व-दैहिक सस्कार के साथ भद्रा के मानस मे ज्ञान की लौ जल उठी। भद्रा की पुत्रवधुओ को भी भोगप्रधान जीवन से विरक्ति हो गई। एक गर्भिणी वधू को छोड़कर सारा का सारा परिवार आर्य सुहस्ती के पास दीक्षित हुआ।[१०]

अवन्ति सुकुमाल के पुत्र ने पिता की स्मृति में उनके देहावसान के

स्थान पर जैन-मंदिर बनवाया था। वह आज अवन्ति में महाकाल के नाम से प्रख्याति प्राप्त है।"

आचार्य सुहस्ती के जीवन से सबधित श्रेष्ठीपुत्र अवन्ति सुकुमाल निर्ग्रन्थ की यह घटना दुर्बल आत्माओ मे धैर्य का सम्बल प्रदान करने वाली है।

आचार्य सुहस्ती के शासन काल मे गणधरवंश, वाचक वश और युग-प्रधान आचार्य की परपरा प्रारभ हुई।

गण के दायित्व को सभालने वाले गणाचार्य, आगम वाचना प्रदान करने वाले वाचनाचार्य एव प्रभावोत्पादक, सार्वजनीन अध्यात्म प्रवृत्तियो से युग चेतना को दिशाबोध देने वाले युगप्रधानाचार्य होते है।

तीनो दायित्व उत्तरोत्तर एक-दूसरे से व्यापक है। गणाचार्य का सम्बन्ध अपने-अपने गण से होता है। वाचनाचार्य भिन्न गण को भी वाचना प्रदान करते हैं। युगप्रधान का कार्यक्षेत्र सार्वभौम होता है। जैन जैनेतर सभी प्रकार के लोग उनसे लाभान्वित होते हैं।

आचार्य सुहस्ती का शिष्य समुदाय आर्य महागिरि की अपेक्षा बड़ा था। कल्प सूत्र मे आर्य सुहस्ती के १२ शिष्यो का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार है—(१) आर्य रोहण (२) यशोभद्र (३) मेघगणी (४) कामार्द्धिगणी (५) सुस्थित (६) सुप्रतिबद्ध (७) रक्षित (८) रोहगुप्त (९) ऋषिगुप्त (१०) श्री गुप्त (११) ब्रह्मगणी (१२) सोमगणी।

स्थविर आर्य रोहण से उदेहगण, यशोभद्र से उडुपाटितगण, कामर्द्धि से वेशपाटितगण, सुस्थित, सुप्रतिबद्ध से कोटिगण, ऋषिगुप्तसूरि से मानवगण, श्रीगुप्त सूरि से चारणगण का विकास हुआ। अवशिष्ट शिष्यो से संबंधित गण का उल्लेख नही मिलता।

आर्य सुहस्ती दस पूर्वधर, ज्ञानराशि से सपन्न प्रभावशाली आचार्य थे एवं धर्म धुरा के सफल संवाहक थे। उनके शासनकाल मे जैन धर्म के प्रसार की सीमा अधिक विस्तृत हुई।

मगध की भाति सौराष्ट्र और अवन्ति देश भी जैन धर्म के केन्द्र बन गए थे।

समय संकेत

आर्य सुहस्ती लगभग २३ वर्ष गृहस्थ जीवन मे रहे। उन्होने ७७ वर्ष की कुल चारित्र पर्याय मे ४६ वर्ष तक युगप्रधान पद को अलंकृत

किया। महागिरि की भांति उनकी कुल आयु १०० वर्ष की थी। सद्धर्म-धुरीण आर्य सुहस्ती का वी० नि० २९७ (वि० पू० १७३) मे स्वर्गवास हुआ।[८]

आधार-स्थल

१. कोसंबाऽऽहारकते, अज्जसुहत्थीण दमगपव्वज्जा ।
अव्वत्तेण सामाइएण रण्णो घरे जातो ॥३२७५॥
(बृहत्कल्पभाष्य, विभाग ३)

२. अज्जसुहत्थाऽऽगमण, दट्ठु सरण च पुच्छणा कहणा ।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता सपतीरण्णो ॥३२७७॥
(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

३. साहूण देह एयं, अह मे दाहामि तत्तियं मोल्ल ।
णेच्छति घरे घेत्तुं, समणा मम रायपिंडो त्ति ॥३२८०॥
(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

४ आर्य सुहस्ती जानानोऽप्यनेपणामात्मीयशिष्यममत्वेनभणति—क्षमाश्रमणा !·······राजधर्ममनुवर्तमान एष जन एव यथेप्सितमहारादिकं प्रयच्छति। तत आर्यमहागिरिणा भणितम्—आर्य ! त्वमपीदृशो बहुश्रुतो भूत्वा यद्येवमात्मीयशिष्यममत्वेनेत्थ ब्रवीषि, ततो मम तव चाद्य प्रभृत्ति विष्वक् सम्भाग नैकत्र मण्डल्यासमुद्देशनादिव्यवहाररति, एव सभोगस्य विष्वक्करणमभवत् ।
(बृहत्कल्प सभाष्य वि० ३, पत्राङ्क २०)

५. तत. प्रेषादनार्येषु साधुवेषधरान्नरान् ॥९१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

६. एव राज्ञोऽतिनिर्बन्धादाचार्यै. केपि साधव ।
विहर्तुमादिदिशिरे ततो ऽन्ध्रद्रमिलादिषु ॥९९॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

७. निरवद्य श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधव. ।
दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराख्यन्सविस्मया. ॥१०१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

८. परावर्तितुमारेभे प्रदोषसमये ऽन्यदा ।
आचार्यैर्नलिनीगुल्माभिधमध्ययन वरम् ॥१३३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

९. भद्रायाश्च सुतो ऽवन्तिसुकुमालः सुरोपमः ।
तदा च विलसन्नासीत्सप्तभूमिगृहोपरि ॥१३४॥
द्वात्रिंशता कलत्रैः स क्रीडन् स्व·स्त्रीनिभैरपि ।
तस्मिन्नध्ययने कर्णं ददौ कर्णरसायने ॥१३५॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

१० भद्राथ सदने गत्वा मुक्त्वैकां गुर्विणी वधूम् ।
वधूभिः सममन्याभिः परिव्रज्यामुपाददे ॥१७५॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

११. गुर्व्या जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुल महत् ।
अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यते ऽवन्ति भूषणम् ।
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकै. ॥१७७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

१२. श्री आर्यसुहस्तिसूरिः·········षट्चत्वारिंशद् ४६ वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुः शतमेक १०० परिपाल्य श्री वीरात् एकनवत्यधिकशतद्वये २९१ स्वर्गभाग् ।
(पट्टावलीसमुच्चय, श्री पट्टावली सारोद्धार, पत्राङ्क १४९)

११-१२. विश्वबन्धु आचार्य बलिस्सह और गुणसुन्दर

आचार्य बलिस्सह और गुणसुन्दर दोनो अपने युग के प्रभावशाली आचार्य थे। आचार्य बलिस्सह ने गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनो पदो को कुशलतापूर्वक सम्भाला था। गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे।

गुरु-परम्परा

आचार्य बलिस्सह के गुरु आर्य महागिरि थे।[1] आचार्य स्थूलभद्र ने आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती दोनो की नियुक्ति सूरि पद पर की।[2] अवस्था मे ज्येष्ठ होने के कारण आचार्य महागिरि की शाखा को प्राचीन आचार्यो द्वारा मुख्यता प्रदान की गई थी।[3] महागिरि की शाखा के गणाचार्य बलिस्सह थे। आचार्य महागिरि के आठ शिष्य थे। उनमे प्रथम शिष्य का नाम उत्तर और द्वितीय शिष्य का नाम बलिस्सह था।[4]

गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्यों की परपरा मे हुए थे। आचार्य सुहस्ती एव वज्रस्वामी के अन्तराल काल मे वलभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आर्य रेवतीमित्र, आर्य मगू, आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त आदि कई प्रभावक युग-प्रधान आचार्य हुए है। उनमे आर्य गुणसुन्दर एक थे। युगप्रधान आचार्यों मे आचार्य सुहस्ती के बाद गुणसुन्दर का क्रम है।[5]

जन्म एवं परिवार

आचार्य बलिस्सह ब्राह्मण वंशज थे। उनका गोत्र कौशिक था। बलिस्सह के वन्दना प्रसंग मे नन्दी सूत्र का उल्लेख है—

'तत्तो कोसिअगोत बहुलस्स सरिव्वयं वदे' ॥२४॥

आचार्य गुणसुन्दर के वश-जन्म-स्थान आदि के सम्बन्ध की सामग्री उपलब्ध नही है। उनका जन्म-संवत् वी० नि० २३५ (वि० पू० २३५) माना गया है।

जीवन-वृत

आचार्य बलिस्सह अपने युग के विशिष्ट श्रुतसंपन्न आचार्य थे। आचार्य महागिरि के बाद उनके स्थान पर बलिस्सह की गणचर्या के रूप में

नियुक्ति हुई। श्रुतसंपन्न होने के कारण गणाचार्य बलिस्सह ने वाचनाचार्य के पद का भी सम्यक् सचालन किया था।

आचार्य बलिस्सह के गण की प्रसिद्धि उत्तर बलिस्सह के नाम से हुई।[१] आचार्य बलिस्सह के ज्येष्ठ गुरुबन्धु बहुल का एक नाम उत्तर था। अतः दोनो गुरु-बन्धुओं के नाम का समन्वयात्मक रूप उत्तर बलिस्सह नाम मे प्रतिबिम्बित है।

आचार्य सुहस्ती के आठ शिष्यो मे प्रथम शिष्य एव आर्य बलिस्सह के गुरु बन्धु होने के कारण यह नाम उनके सम्मान का सूचक भी है अथवा गुरुबन्धु बहुल से आर्य बलिस्सह उत्तर मे होने के कारण उत्तर बलिस्सह नामकरण की कल्पना सभव है।

हिमवन्त स्थविरावलि के अनुसार सम्राट् खारवेल के द्वारा आयोजित कुमारगिरि पर्वत पर महाश्रमण सम्मेलन मे आचार्य बलिस्सह उपस्थित थे। इसी प्रसग पर उन्होंने विद्यानुप्रवाद पूर्व से अगविद्या जैसे शास्त्र की रचना की थी।

कल्पसूत्र स्थविरावली मे उत्तर बलिस्सह गण की चार शाखाओ का उल्लेख इस प्रकार है—

तजहा—कोसंबिया, सोतित्तिया (सोत्तिमूत्तिया) कोउवाणी, चंदनागरी ॥२०६॥

आचार्य गुणसुन्दर का दीक्षा ग्रहण सवत् वी० नि० २५६ (वि० पू० २११) और आचार्य पदारोहण काल वी० नि० २६१ (वि० पू० १७६) माना गया है। आचार्य सुहस्ती के गण सचालक आचार्य सुस्थित का पदारोहण काल भी यही है। वाचनाचार्य पद पर इस समय आर्य महागिरि के शिष्य बलिस्सह थे। इससे प्रतीत होता है—आचार्य सुहस्ती के बाद स्पष्ट रूप से गणाचार्य, वाचनाचार्य एव युगप्रधानाचार्य की भिन्न-भिन्न परम्परा प्रारम्भ हो गई थी।

आचार्य गुणसुन्दर के युगप्रधानाचार्य काल मे मौर्यवंशी सम्राट् सम्प्रति का मगध पर शासन था। सम्राट् सम्प्रति के धर्म गुरु आर्य सुहस्ती थे। अतः आर्य गुणसुन्दर को जैनधर्म के प्रचार मे मौर्य राज्य से सभवत. अत्यधिक अनुकूल सहयोग प्राप्त था।

अपने-अपने पद के दायित्व को सम्यक् प्रकार से वहन करते हुए

आर्य बलिस्सह और गुणसुन्दर ने संसार को सार्वभौम अहिंसा और मैत्री का संदेश देकर विश्व-बन्धुत्व की भावना को साकार रूप दिया और जैन-दर्शन की विशेष प्रभावना की।

समय संकेत

आर्य बलिस्सह का आचार्यकाल युगप्रधानाचार्य गुणसुन्दर से पहले का है। आर्य बलिस्सह का आचार्यकाल वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) से और गुणसुन्दर का युगप्रधानाचार्य काल वी० नि० २९१ (वि० पू० १७९) से प्रारम्भ माना गया है। बलिस्सह का स्वर्गवास सम्वत् वी० नि० ३२९ (वि० पू० १४१) के लगभग अनुमानित किया गया है। आर्य गुणसुन्दर का स्वर्गवास संवत् वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) बताया गया है।[7] प्रस्तुत स्वर्ग सवत् के आधार पर आर्य गुणसुन्दर की आयु १०० वर्ष की थी। दोनों ही आचार्यों का काल वी० नि० तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी सिद्ध होता है।

आधार-स्थल

१ महागिरिस्स अंतेवासी बहुलो बलिस्सहो।

(नन्दी चूर्णि पृष्ठ ८)

२ परि० पर्व० सर्ग १० श्लोक ४०

३. अत्र चायं वृद्धसंप्रदाय-स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वय—आर्य्य महागिरिः आर्य-सुहस्ती च। तत्र आर्य्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या।

(मेरुतुंगीया स्थविरावली टीका ५)

४ थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिण्णाया हुत्था, तजहा—थेरे उत्तरे, (१) थेरे बलिस्सहे, (२) थेरे धणड्ढे, (३) थेरे सिरिड्ढे, (४) थेरे कोडिन्ने, (५) थेरे नागे, (६) थेरे नागमित्ते, (७) थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्ते ण ।।८।।

(कल्पसूत्र स्थविरावली)

५ महागिरि सुहत्थि गुणसुंदरं च सामज्ज खंदिलायरिज।
रेवइमित्तं धम्मं च भद्दगुत्तं सिरिगुत्तं ।।११।।

(दुःपमा काल श्री श्रमणसंघस्तोत्रम्)

६. थेरेहिन्तो ण उत्तर बलिस्सहेहिन्तो तत्थ णं उत्तर बलिस्सहे नामं गणे निग्गये। (कल्पसूत्र स्थविरावली)

७. दुस्सम-काल-समण-संघत्थव 'युग प्रधान' पट्टावली।

१३-१४. स्वाध्याय-प्रिय आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध

आचार्य सुहस्ती के शासनकाल में गणधर वंश, वाचक वंश और युगप्रधानाचार्य परम्परा प्रारंभ हुई। गणधर वंश परम्परा मे आचार्य सुहस्ती के बाद आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य पद पर सुशोभित हुए। तप की विशिष्ट साधना से इन युगल बन्धुओ ने जैन धर्म की विशेष प्रभावना की। कोटिक गच्छ का उद्‌भव इनके शासनकाल मे हुआ।

गुरु-परम्परा

आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के गुरु आर्य सुहस्ती थे। आचार्य सुहस्ती दस पूर्वधर थे। आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध ने विविध विषयों का प्रशिक्षण पाया। आर्य सुहस्ती श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र के शिष्य थे। आर्य महागिरि सुहस्ती के ज्येष्ठ गुरुबन्धु थे। आर्य स्थूलभद्र के दीक्षागुरु श्रुतधर आचार्य संभूतविजय थे।

जन्म एवं परिवार

सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध काकन्दी के राजकुमार थे। उनका व्याघ्रापत्य गोत्र था। आर्य सुस्थित का जन्म वी० नि० २४३ (वि० पू० २२७) में हुआ। आर्य सुप्रतिबुद्ध उनके सहोदर एवं गुरु-बन्धु (एक गुरु के शिष्य) थे।

जीवन-वृत्त

आर्य सुस्थित ३१ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। श्रुत-संपन्न आचार्य सुहस्ती के पास उन्होने वी० नि० २७४ (वि० पू० १८६) मे मुनि-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद १७ वर्ष तक गुरु की सन्निधि मे रहकर उन्होने सयम साधना के क्षेत्र मे विकास किया। शास्त्रीय ज्ञान ग्रहण मे भी उनकी गति उत्तरोत्तर विस्तार पाती रही।

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती की गण व्यवस्था भिन्न-भिन्न थी। प्रीतिवश दोनो एक साथ विहरण करते थे। आचार्य सुहस्ती के गण का दायित्व उनके स्वर्गवास के बाद वी० नि० २९१ (वि० पू० १७९) में आर्य सुस्थित ने संभाला। पदारोहण के समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी।

सहोदर सुप्रतिबुद्ध उनके अनन्य सहयोगी थे। कल्पसूत्र स्थविरावली मे आचार्य सुहस्ती के बाद सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध दोनो के नाम का गणाचार्य के रूप में एक साथ उल्लेख हुआ है, पर गण के प्रमुख सचालक संभवतः आर्य सुस्थित थे। आचार्य पद-ग्रहण के समय आर्य सुस्थित की अवस्था ४८ वर्ष की थी। आचार्य सुप्रतिबुद्ध वाचनाचार्य पद पर नियुक्त हुए।

आर्य सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध के पांच शिष्य थे—१. इन्द्रदिन्न २. प्रियग्रन्थ, ३. विद्याधर गोपाल, ४. ऋषिदत्त, ५. अर्हद्दत्त।

भुवनेश्वर के निकट कुमारगिरि पर्वत पर दोनो सहोदर, सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध, कठोर तप· साधना में लगे। यह कुमारगिरि पर्वत वर्तमान में खण्डगिरि उदयगिरि पर्वत ही है जहां की अनेक जैन गुफाएं आज भी कलिंग नरेश खारवेल महामेघवाहन के धार्मिक जीवन की परिचायिकाएं हैं।

कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल के नेतृत्व मे इसी पर्वत पर महत्त्वपूर्ण आगम वाचना का कार्य और अनेक श्रमणो का सम्मेलन हुआ था। उसमे दोनो सहोदर आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध उपस्थति थे। कलिंगाधिप भिक्षुराज ने इन दोनो का विशेष सम्मान किया था।[१]

काकन्दी नगरी मे दोनो साधको ने जिनेश्वरदेव (सूर्यमन्त्र) का कोटि बार जप किया। इस उच्चतम साधना से संघ को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उक्त साधना के परिणामस्वरूप आचार्य सुस्थित के गच्छ का नाम कोटिक गच्छ हुआ।[२]

कोटिक गण की चार शाखाएं थीं[३]—

१ उच्चनागरी, २. विद्याधरी, ३ वाज्री, ४. मध्यमा।

कोटिक गण के चार कुल थे—

१ बंभलिज्ज, २. वत्थलिज्ज, ३. वाणिज्ज, ४ पण्णवाहण।

शिष्य प्रियग्रन्थ से मध्यमशाखा का, शिष्य विद्याधर गोपाल से विद्याधर शाखा का जन्म हुआ।[४]

आर्य इन्द्रदिन्न के शिष्य आर्यदिन्न एवं आर्यदिन्न के शिष्य शान्ति श्रेणिक थे। आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चनागरी शाखा का विकास हुआ।[५] उच्चनागरी शाखा का सबंध उच्च नगर से भी बताया जाता है।

युगप्रधान आचार्य सुहस्ती के १२ प्रमुख शिष्यो मे से आर्य सुस्थित एक थे। आर्य रोहण आदि अपने ग्यारह गुरु बन्धु (एक गुरु से दीक्षित) मुनियो मे चार मुनि आर्य सुस्थित से ज्येष्ठ थे और सात मुनि कनिष्ठ थे।

इन मुनियों से कई शाखाओ, गणो एवं कुलो का विकास हुआ ।

आर्य सुस्थित स्वाध्याय, योग एवं जपयोग की साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त थे ।

समय-संकेत

आचार्य सुस्थित के गृहस्थ जीवन का काल लगभग ३१ वर्ष का है । उन्होने ६५ वर्ष की संयम पर्याय मे ४८ वर्ष तक श्रमणसंघ का नेतृत्व किया । कुमारगिरि पर्वत पर ९६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वाध्यायप्रिय आचार्य सुस्थित वी० नि० ३३९ (वि० पू० १३१) मे स्वर्गगामी बने ।

आधार स्थल

१. थेराणं सुट्ठिअसुप्पडिबुद्धाणं कोडिय काकंदाणं वग्घावच्चसगोत्ताण इमे पंच थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था तं जहा—
१. थेरे अज्ज इंददिन्ने, २ थेरे पिय गथे, ३. थेरे विज्जाहर गोवाले कासवगोत्तेणं, ४ थेरे इसदत्ते, ५ थेरे अरहदत्ते ।
(कल्पसूत्र स्थविरावाली)

२. सुट्ठिय सुपडिबुद्धे, अज्जे दुन्ने वि ते नमसामि ।
भिक्खुराय-कलिगाहिवेण सम्माणिए जिट्ठे ।।१०।।
(हिमवत-स्थविरावली)

३. (क) प्रीति सृजन्ती प्ररुषोत्तमाना दुग्धाम्बुराशेखि पद्मवासा ।
हृदा जिन बिभ्रत आविरासीत्तत्सुरियुग्मादिह
"कौटिकाख्या" ।।४४।।

(ख) थेरेहितो सुट्ठिअ सुप्पडिबद्धथेहितो कोडिअ काकदगेहितो ।
वग्घावच्चस गुत्तेहि तो इत्यण कोडिअगणे नाम गणे निग्गए ।।
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

४ थेरेहितो सुट्ठिअ सुप्पडिबद्धथेहितो.......तत्सण इमाओ चत्तारि साहाओ चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जति से कि त साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंत्ति त जहा—उच्चानागरी विज्जाहरी अबयरी अ मज्झिमिल्ला या कोडिअगणस्स एआ हवंति चत्तारि साहाओ ।।१।। से त साहाओ से कि त कुलाई ? कुलाइ एवमाहिज्जति त जहा—पढमित्थ बभलिलिज्ज, विइअ नामेण वत्थलिज्जतु । तइ अं पुण वाणिज्जं चउत्थयं पह्णवाहणयं ।।२।।

(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

५. थेरेहिंतो णं पियगंथेहिंतो एत्थ णं मज्झिमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं विज्जाहरगोवाले-हिंतो तत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया।

(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

६. थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्नेथेरे.........थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिए-हिंतो ण माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया।

(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

१५. सद्भाव समुद्भावक आर्य स्वाति

आर्य बलिस्सह की भांति आचार्य स्वाति भी जैन श्वेताम्बर परम्परा मे वाचनाचार्य पद पर नियुक्त थे। इस समय युगप्रधान परम्परा, वाचनाचार्य परम्परा और गणाचार्य परपरा भिन्न-भिन्न रूप में प्रवर्तमान थी। युगप्रधान परंपरा का प्रतिनिधित्व गुण सुन्दर कर रहे थे। वाचनाचार्य बलिस्सह के बाद वाचनाचार्य स्वाति का काल प्रारभ होता है, तब तक गुणसुन्दर को युगप्रधान का दायित्व सभाले लगभग ३६ वर्ष हो गए थे।

गुरु-परम्परा

नंदी सूत्र स्थविरावली के अनुसार प्रस्तुत आचार्य स्वाति वाचनाचार्य बलिस्सह के उत्तराधिकारी थे।[1] बलिस्सह दस पूर्वधर आचार्य महागिरि के शिष्य थे। आर्य महागिरि से पूर्व गुरुक्रम नन्दी स्थविरावली और कल्पसूत्र स्थविरावली मे प्राय: समान है। आर्य सुहस्ती की परपरा मे गणाचार्य पद पर इस समय आर्य सुस्थित एव सुप्रतिबुद्ध थे।

जीवन-वृत्त

आर्य स्वाति का जन्म ब्राह्मण परिवार मे हुआ। नन्दी सूत्र मे प्राप्त उल्लेखानुसार उनका हारित गोत्र था।[2] पट्टावली समुच्चय के रचनाकार ने तत्त्वार्थ के रचनाकार उमास्वाति और प्रस्तुत आर्य स्वाति को अभिन्न माना है।[3] पर आधुनिक शोध लेखक इस पक्ष मे नही हैं। उमास्वाति का कौभीषण गोत्र था। वे उच्च नागर शाखा के थे।[4] आचार्य स्वाति के समय मे उच्च नागर शाखा का उद्‌भव ही नही हुआ था। अत: दोनो के जीवन प्रसङ्ग स्पष्टत उनकी भिन्नता का बोध कराते है।

स्वाति अपने युग के अतिशय प्रभावी आचार्य थे। इन्होने वाचनाचार्य पद को अत्यन्त कुशलता से सम्भाला और जैन दर्शन की महती प्रभावना की।

आचार्य स्वाति के समय मगध पर मौर्य वश का शासन था।

समय संकेत

वाचनाचार्य स्वाति का काल आर्य बलिस्सह और आर्य श्याम के

मध्यवर्ती है। आर्य बलिस्सह का स्वर्गवास वी० नि० ३२९ (वि० पूर्व १४१) और वाचनाचार्य श्याम का आचार्यकाल वी० नि० सं० ३३५ (वि० पूर्व १३५) माना गया है। अतः वाचनाचार्य स्वाति का समय वी० नि० ३२९ (वि० पू० १४१) से वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) तक सभव है।[1]

वाचनाचार्य स्वाति ने अहिंसा, समता, सद्भाव आदि का विकास कर जैन-धर्म की महती प्रभावना की।

आधार स्थल

१. बलिस्सहस्स अंतेवासी साती

(नन्दी चूर्णि)

२. हारियगोत्तं साइं च

(नन्दी पद्य २५)

३ बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्वार्थादयो
ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते।

(पट्टावली समुच्चय, पृ० ४६)

४ कौभीषणिना स्वातितनयेन·······
इदमुच्चैनगिर वाचकेन·······

(तत्वार्थ भाष्य कारिका)

१६-१७. सन्त-श्रेष्ठ आचार्य और षाण्डिल्य

आचार्य श्याम और षाण्डिल्य नन्दी उल्लेखानुसार जैन श्वेताम्बर परम्परा के क्रमश: १३ वें और १४ वें वाचनाचार्य थे। युगप्रधान पट्टावलीकारों ने इन दोनो आचार्यों को युगप्रधान माना है और युगप्रधानाचार्यों की शृंखला मे उनका क्रम क्रमश. १२ वा और १३ वां है।

जैन परम्परा मे चार कालकाचार्य प्रसिद्धि प्राप्त हैं। उनमे श्यामाचार्य को ही प्रथम कालक के रूप मे पहचाना गया है।

वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में युगप्रधान गुणसुन्दर के बाद कालकाचार्य का नाम है एवं 'दुस्सम-काल-समण-संघत्थव' युगप्रधान पट्टावली मे गुणसुन्दर के बाद युगप्रधान के रूप में श्यामाचार्य का नाम है। आचार्य गुण सुन्दर के बाद एक युगप्रधान पट्टावली में कालक के नाम का उल्लेख और दूसरी युगप्रधान पट्टावली में श्याम नाम का उल्लेख श्यामाचार्य और कालकाचार्य की अभिन्नता को प्रमाणित करता है।

गुरु परम्परा

वाचनाचार्य क्रम मे आचार्य महागिरि के शिष्य वाचनाचार्य बलिस्सह के बाद स्वाति और स्वाति के बाद वाचनाचार्य श्याम हुए। श्यामाचार्य के बाद वाचनाचार्य पाण्डिल्य का क्रम निर्दिष्ट है।[1]

युग प्रधान पट्टावली मे युगप्रधान गुणसुन्दर के बाद क्रमश: श्याम और षाण्डिल्य का उल्लेख है। पाण्डिल्य का उल्लेख युगप्रधान पट्टावली में स्कन्दिल के नाम से है।[2] आगम वाचनाकार स्कन्दिल से युगप्रधान क्रम मे स्कन्दिल नाम से उल्लिखित होने वाले प्रस्तुत पाण्डिल्य भिन्न हैं।

जन्म एवं परिवार

आचार्य श्याम और षाण्डिल्य दोनो का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ। नदी सूत्रानुसार आचार्य श्याम का हारित गोत्र और आचार्य षाण्डिल्य का कौशिक गोत्र था।[3] आचार्य श्याम का जन्म वी० नि० २८० (वि० पू० १९०) एव आचार्य पाण्डिल्य का जन्म वी० नि० ३०६ (वि० पू० १६४)

बताया गया है। परिवार सम्बन्धी अन्य सामग्री दोनो आचार्यों की उपलब्ध नहीं है।

जीवन-वृत्त

आचार्य श्याम

ससार से विरक्त होकर श्यामाचार्य ने वी० नि० ३०० (वि० पू० १७०) मे श्रमण दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था २० वर्ष की थी।

युगप्रधानाचार्य गुणसुन्दर और वाचनाचार्य स्वाति के स्वर्गवास के बाद आर्य श्याम ने वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) मे युगप्रधानाचार्य और वाचनाचार्य दोनों पदो का दायित्व एक साथ सभाला।*

दोनो पदो पर श्यामाचार्य की नियुक्ति उनके महाप्रभावक व्यक्तित्व को सूचित करती है। आचार्य श्याम की श्रुत साधना भी विशिष्ट थी। वे जैन सैद्धान्तिक विषयों के सूक्ष्म व्याख्याकार थे। इतिहास के पृष्ठो पर उनकी अधिक प्रसिद्धि निगोद व्याख्याता के रूप मे है। एक बार सीमन्धर स्वामी से महाविदेह मे सूक्ष्म निगोद की विशिष्ट व्याख्या सौधर्मेन्द्र ने सुनी और प्रश्न किया—"भगवन्! भरतक्षेत्र मे भी निगोद संबधी इस प्रकार की व्याख्या करने वाले कोई मुनि, श्रमण, उपाध्याय और आचार्य है?"

सौधर्मेन्द्र के समाधान मे सीमन्धर स्वामी ने आचार्य श्याम का नाम प्रस्तुत किया। सौधर्मेन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे आचार्य श्याम के पास आया। उनके ज्ञानबल का परीक्षण करने के लिए उसने अपना हाथ उनके सामने किया। हस्त-रेखा के आधार पर आचार्य श्याम ने जाना—'नवागन्तुक ब्राह्मण की आयु पल्योपम से भी ऊपर पहुच रही है।' आचार्य श्याम ने उसकी ओर गम्भीर दृष्टि से देखा और कहा—"तुम मानव नही, देव हो।" सौधर्मेन्द्र को आचार्य श्याम के इस उत्तर से सतोष मिला एव निगोद के विषय मे जानना चाहा। आचार्य श्याम ने निगोद का सागोपाग विवेचन कर इन्द्र को आश्चर्याभिभूत कर दिया। अपनी यात्रा का रहस्य उद्घाटित करते हुए सौधर्मेन्द्र ने कहा—"मैंने सीमन्धर स्वामी से जैसा विवेचन निगोद के विषय मे सुना था वैसा ही विवेचन आपसे सुनकर मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुआ हूं।"

देवो की रूप सपदा को देखकर कोई शिष्य श्रमण निदान न करले, इस हेतु से भिक्षाचर्या मे प्रवृत्त मुनि-मण्डल के आगमन से पूर्व ही सौधर्मेन्द्र श्यामाचाय की प्रशसा करता हुआ जाने लगा।

श्यामाचार्य शिष्यो को सिद्धान्तो के प्रति अधिक आस्थाशील बनाने की दृष्टि से बोले—"सौधर्मेन्द्र ! देवागमन की बात मेरे शिष्य बिना किसी सांकेतिक चिह्न के कैसे जान पायेंगे ?" आचार्य देव का निर्देश पा सौधर्मेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्व से पश्चिमाभिमुख कर दिया। आचार्य श्याम के शिष्य गोचरी करके लौटे। वे इन्द्रागमन से लेकर द्वार के स्थानान्तरण तक की सारी घटना सुनकर विस्मयाभिभूत हो गए।

इन्द्रागमन की यह घटना प्रभावक चरित के कालकसूरि प्रबन्ध मे आचार्य कालक के साथ एव विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रथों मे आचार्यरक्षित के साथ भी प्रयुक्त है।

आचार्य षाण्डिल्य

भोगो से विरक्ति को प्राप्त कर पाण्डिल्य ने वी० नि० ३२८ (वि० पू० १४२) मे मुनि दीक्षा ग्रहण की। आचार्य श्याम के बाद वी० नि० ३७६ (वि० पू० ९४) मे उन्होने वाचनार्य एव प्रधानाचार्य दोनो पदो का दायित्व संभाला।

आचार्य पदारोहण के समय आचार्य श्याम की अवस्था २० वर्ष की एव आचार्य पाण्डिल्य की अवस्था ७० वर्ष की थी।

आचार्य पाण्डिल्य के जीवन प्रसङ्ग विशेषत: उपलब्ध नही है। आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने उन्हे नदीसूत्र मे जीतधर विशेषित किया है।[५] यह विशेषण जीत व्यवहार की प्रतिपालना मे उनकी पूर्ण जागरूक वृत्ति का सकेत करता है।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार आर्य पाण्डिल्य के आर्य जीतधर और आर्य समुद्र नाम के दो शिष्य थे।[६]

आर्य षाण्डिल्य का जीतधर विशेषण जीतधर शिष्य के आधार पर प्रयुक्त प्रतीत नही होता।

पाण्डिल्य गच्छ का जन्म भी आर्य षाण्डिल्य से हुआ बताया है।

साहित्य

आचार्य श्याम द्रव्यानुयोग के विशेष व्याख्याकार थे। प्रज्ञापना जैसे विशालकाय सूत्र की रचना उनके विशद वैदुष्य का परिणाम है।[७] प्रज्ञापना का प्राकृत रूप पन्नवणा है। प्रस्तुत पन्नवणा आगम का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

पन्नवणा (प्रज्ञापना)

जैन आगम साहित्य दो भागो में विभक्त है। अंग साहित्य और अनङ्ग साहित्य अथवा अंग साहित्य और उपाङ्ग साहित्य । उपाङ्ग साहित्य मे पन्नवणा (प्रज्ञापना) चौथा उपाङ्ग है । इस उपाङ्ग के ३६ पद्य हैं और ३४६ सूत्र हैं । यह समवायाङ्ग आगम का उपाङ्ग माना गया है । दोनो की विषय-वस्तु भिन्न-भिन्न है । प्रज्ञापना के दो प्रकार बतलाए गए हैं—जीव प्रज्ञापना और अजीव प्रज्ञापना । जीव प्रज्ञापना मे जैन-दर्शन सम्मत जीव विज्ञान सबंधी विस्तृत विवेचन है। पांच स्थावर जीवों के वर्णन मे वनस्पति विज्ञान को विशदता से समझाया गया है । त्रस जीवो के प्रकरण मे मनुष्य के तीन प्रकार बताए गए हैं—कर्म भूमिक, अकर्म भूमिक और अन्तर्द्वीपक । अन्तर्द्वीपक मनुष्यो के वर्णन मे एकोरूप, हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, अयोमुख, गोमुख, गजमुख, हस्तीमुख, सिहमुख आदि नाना प्रकार के मनुष्यो का अथवा मनुष्य जातियो का उल्लेख हैं जो शोध का विषय बन सकता है । अनार्यों के प्रकरण मे शक, यवन, किरात, बर्बर आदि म्लेच्छ जातियो का, आर्यो के प्रकरणान्तर्गत जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य के वर्णन मे नाना प्रकार की आर्य जातियो, आर्य कुलो एव आर्य जनोचित विविध कोटि के व्यापार कर्मों का जैन-दर्शन सम्मत साढा पच्चीस आर्य क्षेत्रो का तथा ब्राह्मी, यवनानि, खरोष्ट्री, पुक्खर, सारिया, अन्तक्खारिया, अक्खरपुरिया, वैनयिकी, अङ्कलिपि, गणितलिपि, गान्धर्वलिपि, आदर्शलिपि, दोमिलिपि (द्राविडी) पौलिन्दी आदि अनेक लिपियो का उल्लेख प्राचीन सभ्यता और सस्कृति जानने के लिए महत्त्वपूर्ण उपादान बिन्दु है । इस ग्रन्थ मे अर्धमागधी बोलने वालों को भाषार्य कहा गया है । इससे सिद्ध होता है कि आर्य देश निवासी मनुष्यो की प्रमुख भाषा अर्धमागधी थी ।

अजीव प्रज्ञापना प्रकरण मे जैन-दर्शन सम्मत धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि द्रव्य विभाग का वर्णन है । दार्शनिक दृष्टि से यह विभाग महत्त्वपूर्ण है । पन्नवणा का ग्यारहवा पद भाषा विज्ञान का विशद व्याख्या प्रस्तोता है ।

चार अनुयोगो मे प्रज्ञापना आगम द्रव्यानुयोग मे परिगणित किया गया है । अङ्गो मे भगवती आगम और उपाङ्गो में पन्नवणा सर्वाधिक विशाल है। इस सूत्र पर टीकाकार हरिभद्र की ३७२८ श्लोक परिमाण लघु टीका और आचार्य मलयगिरि की १६००० श्लोक परिमाण विशद पद व्याख्या नामक विशाल टीका है । विद्वान् हरिभद्र की टीका विषम पदो की व्याख्या मात्र

है। मनीषी मलयगिरि की टीका हरिभद्र की लघु टीका के आधार पर रची गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को आगम रूप मे मान्यता प्रदान कर देना आचार्य श्याम की निर्मल नीति पर श्रमण संघ के हार्दिक विश्वास का द्योतक है।

पन्नवणा के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण पद्यो मे श्यामाचार्य को दुर्धर पूर्वश्रुतधारक माना है। मङ्गलाचरण के पद्य अन्य कर्तृक सम्भव है।

समय संकेत

श्यामाचार्य दीर्घजीवी थे। मुनि जीवन के ७६ वर्ष के काल मे ४१ वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहे। उनका सम्पूर्ण आयुष्य ९६ वर्ष १ मास १ दिन का बताया गया है। श्यामाचार्य का स्वर्गवास वी० नि० ३७६ (वि० पू० ९४) मे हुआ।

आर्य षाण्डिल्य का गृहस्थ जीवन का काल २२ वर्ष का था। वे ४८ वर्ष तक सामान्य मुनि पर्याय मे रहे। संयमी जीवन के कुल ७६ वर्ष के काल मे २८ वर्ष तक उन्होने युगप्रधान पद को सुशोभित किया। आर्य षाण्डिल्य १०८ वर्ष की उम्र को पारकर वी० नि० ४१४ (वि० पू० ५६) मे स्वर्ग-वास को प्राप्त हुए।[८]

श्याम और षाण्डिल्य दोनो आचार्यो ने जैनशासन के वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य दोनो पदो को अलकृत कर सत की भूमिका मे श्रेष्ठ एवं गरिमामय स्थान प्राप्त किया।

आधार-स्थल

१ नदी स्थविरावली-पद्य २४-२५

२. दुस्सम-काल-समण-संघत्थव-युगप्रधान पट्टावली

३ हारियगोत्त साइं च वदिमो हारियं च सामज्ज।
वदे कोसियगोत्त सडिल्ल अज्जजीयधर ॥२५॥
(नदी स्थविरावली)

४ सिरिवीराओ गएसु पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरि, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥५५॥
(रत्नसंचयप्रकरण, पत्राक ३२)

५ वंदे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥२५॥
(नदी स्थविरावली)

संडिल्लो कोसियसगोत्तो, सो य अज्जजीतधरो त्ति अज्जं आर्य........
जीतं ति-सुत्तं धरति........

(नन्दी चूर्णि पृ० ८)

६. तेषांशांडिल्याचार्याणां आर्य जीतधरार्य समुद्रास्यौ द्वौ शिष्यावभूताम्
(हिमवन्त स्थविरावली)

७. निज्जूढा जेण तया पन्नवणा सव्वभावपन्नवणा ।
तेवीसइमो पुरिसो पवरो सो जयइ सामज्जो ।।१८८।।

८. दुस्सम-काल-समण-संघत्थव-युगप्रधान पट्टावली

१८-२०. अर्हमिन्द्र आर्य इन्द्रदिन्न, आर्य दिन्न, आर्य सिंहगिरि

प्रभावक आचार्यो की परंपरा मे आर्य इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न और आर्य सिंहगिरि—तीनो को एक साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य सुहस्ती की गणाचार्य परम्परा मे इन तीनो का क्रमश उल्लेख है। कल्प सूत्र स्थविरावली मे इनका वर्णन है।

गुरु परम्परा

आचार्य स्थूलभद्र के बाद आर्य महागिरि और सुहस्ती दोनों की शिष्य परम्परा और गण परम्परा भिन्न-भिन्न रूप मे उपलब्ध है। आर्य महागिरि की शिष्य परम्परा मे आर्य बलिस्सह, आर्य स्वाति आदि का उल्लेख है। आर्य सुहस्ती की परम्परा मे गणाचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के बाद आर्य इन्द्रदिन्न, आर्य दिन्न, आर्य सिंहगिरि हुए हैं। आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के पाच शिष्य थे। उनमे इन्द्रदिन्न का नाम सबसे प्रथम है। आर्य दिन्न के दो शिष्य थे। शान्तिश्रेणिक और सिंहगिरि। दशपूर्वधर गगन गामिनीविद्या के धारक महाप्रभावक आर्य वज्रस्वामी के आर्यसिंहगिरि गुरु थे।

जीवन-वृत्त

आर्य इन्द्रदिन्न और आर्य दिन्न की जीवन सम्बन्धी सामग्री विशेष प्राप्त नही है। आर्य इन्द्रदिन्न के गुरुबंधु मुनि आर्य प्रियग्रथ के जीवन में एक विशेष प्रभावक घटना उपलब्ध होती वह इस प्रकार है—

प्रियग्रंथ मुनि मन्त्र-विद्या के विशेष ज्ञाता थे। एक बार वे हर्षपुर नगर मे गए। वहां एक यज्ञ मे बकरे की बलि दी जा रही थी। प्रियग्रथ ने सोचा—किसी प्रकार से इस बकरे की बलि को रोक देने पर जैन-दर्शन की विशेष प्रभावना होगी। प्रियग्रंथ ने श्रावकों को मन्त्रित चूर्ण दिया और उस चूर्ण को बकरे पर डाल देने को कहा। श्रावको ने वैसा ही किया। अभिमंत्रित चूर्ण के प्रभाव से बकरा बोलने लगा। बकरे के मुंह से मनुष्य की भाषा सुनकर लोग चकित रह गए। बकरे ने यज्ञ में होने वाली हिंसा को

बंद करने का उपदेश दिया और मुनि ग्रन्थ की उपासना से लाभ प्राप्त करने की प्रेरणा दी।

मंत्रविद्या के बल पर आर्य प्रियग्रंथ ने ब्राह्मण समाज को प्रतिबोध देकर अध्यात्म के अनुकूल बनाया था। इतिहास मे प्रियग्रथ मुनि मंत्रवादी के रूप मे प्रख्यात हैं।

आर्यसिंहगिरि

आर्यसिंहगिरि के चार शिष्य थे। आर्य धनगिरि, आर्यवज्र, आर्य समित, आर्य अर्हद्दत्त। इनमे आर्य वज्र का जीवन आगे के प्रबन्ध मे विस्तार से प्रस्तुत है। आर्यसिंहगिरि के चारो शिष्यो मे आर्यवज्र अधिक प्रभावक थे। आर्य समित और धनगिरि भी आर्यवज्रस्वामी के निकट संबंधी (ज्ञातिजन) थे। आर्य धनगिरि वज्रस्वामी के पिता और आर्य समित वज्रस्वामी के मामा थे। दोनो ने आर्य वज्रस्वामी से पहले आर्य सिंहगिरि से दीक्षा ग्रहण की थी। आर्य समित के जीवन का एक विशेष धर्म प्रभावक घटना प्रसंग है।

अचलपुर नामक नगर के परिपार्श्व मे कृष्णा और पूर्णा नामक दो नदियां बहती थी। दोनो के मध्यवर्ती स्थान मे ५०० तापस रहते थे। वह स्थान ब्रह्मद्वीप के नाम से प्रसिद्ध था। ब्रह्मद्वीप निवासी तापसो में से एक पादलेप विद्या का विशेषज्ञ तापस था। वह पैरों पर औषधि का लेप लगाकर नदी के पानी पर चलता हुआ पारणे के दिन अचलपुर मे भोजन ग्रहण करने आया-जाया करता था। यह चमत्कार किसी मंत्र विद्या का नही था। औषधि विशेष का लेप लगाने के कारण ऐसा संभव हो सका था। सामान्य जन इस दृश्य को देखकर बहुत प्रभावित थे। वे तापस के इस चमत्कार को तपस्या का फल मानकर प्रशसा करते थे। कई लोग यह भी कहते ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति अन्य धर्म मे नही है और जैन शासन मे भी नही है।

> नहि वो दर्शने कोऽपि प्रभावोऽस्ति यथा दिनः।
> श्रमणोपासका नैव प्रजहास स तापसः ॥७३॥
>
> (परि० पर्व, सर्ग १२)

इस प्रकार तापस की चमत्कारिक शक्ति के सामने जैन शासन की प्रभावना का उपहास किया जा रहा था।

एक दिन संयोग से वज्रस्वामी के मातुल योगसिद्ध महातपस्वी आचार्य समित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अचलपुर मे पधारे। जैन श्रमणो-

पासकों ने जैन शासन की अपवादकारी स्थिति की अवगति आचार्य समित को दी। आचार्य समित बोले—

नास्य कापि तपःशक्तिस्तापसस्य तपस्विनः।
केनाप्यसौ प्रयोगेण प्रतारयति वोऽखिलान् ॥७७॥
(परि० पर्व, सर्ग १२, पृ० १००)

श्रमणोपासको ! यह चमत्कार तप विशेष का नहीं, पादलेप का है। जल से पाद प्रक्षालन कर दिये जाने के बाद ऐसा चमत्कार तापस के द्वारा संभव नहीं है। स्थिति को विश्वस्त रूप से जान लेने के लिए किसी एक श्रावक ने तापस को अपने घर मे निमंत्रण दिया। स्वागत मे आग्रह पूर्वक उनके पाद प्रक्षालन किए। उसके बाद भोजन की क्रिया संपन्न हुई। नदी के पास जाते समय कई लोग साथ गए।

यत्किञ्चित औषधि लेप पैर पर लगे रह जाने की सभावना से अति साहस करके तापस ने अपना पैर नदी मे रख दिया पर श्रमणोपासको ने पैरो पर लगे लेप का पहले ही अच्छी तरह से प्रक्षालन कर दिया था। अतः जलपर पैर रखते हुए कमण्डलु की भान्ति चमत्कार प्रदर्शन करने वाला तापस डूबने लगा। उसी समय आर्य-समित वहा श्रावकों की मण्डली के साथ आ गए। उन्होने उस पार जाने के लिए नदी से रास्ता मागा।

तटद्वये ततस्तस्या सरितो मिलिते सति।
आचार्य सपरीवार परतीरभुव ययौ ॥९६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२, पृ० १००)

नदी के दोनो पाट तत्काल सिमटकर एक हो गए। सपरिवार आर्य समित तट के उस पार पहुचे। आचार्य के इस अतिशय को देखकर सभी विस्मयाभिभूत हो गए।

आर्य समित से प्रतिबोध प्राप्त कर सभी तापसो ने भागवती दीक्षा ग्रहण की। जैन धर्म की महिमा इस घटना से प्रसारित हुई। तापस ब्रह्मद्वीप निवासी होने के कारण उनकी शाखा जैन शासन मे ब्रह्मदीपिक नाम से प्रसिद्ध हुई।

ते ब्रह्मद्वीपवासतव्या इतिजातास्तदन्वये।
ब्रह्मद्वीपिकनामानः श्रमणा आगमोदिता ॥९९॥
(परि० पर्व, सर्ग १२ पृ० १०१)

ते य पचतावससया समियायरियस्स समीवे पव्वतिता ।
ततो य बंभद्दीवा साहा संवुत्ता ।।
(निशीथ चूर्णि, भा० ३, पृ० ४२६)

पिण्ड निर्युक्ति के अनुसार ५०० तापसो के मुखिया कुलपति देवशर्मा था।

जैनशासन में मत्रविद्या का प्रयोग विहित नहीं है। पर कभी-कभी जैनधर्म के प्रति हो रहे अपवाद को मिटाने के लिए अथवा जैनधर्म की व्यापक भावना के उद्देश्य से प्रभावक मुनियो, आचार्यों द्वारा ऐसे प्रयोग किये जाते रहे हैं। इन्द्रदिन्न के गुरुबधु प्रियग्रन्थ मुनि ने जैनधर्म की प्रभावना के लक्ष्य से और आर्य समित ने अपवाद को मिटाने के उद्देश्य से मन्त्रविद्या का विशेष प्रयोग किया था।

समय-संकेत—

आर्य इन्द्रदिन्न, आर्य दिन्न, आर्य सिंहगिरि तीनो के संबध मे विशेष समय सकेत हमे उपलब्ध नही है। आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के बाद वे तीनो क्रमश: गणाचार्य बने है। आर्य सिहगिरि आर्य वज्रस्वामी के गुरु थे। आर्य वज्रस्वामी का जन्म वीर निर्माण ४९६ (वि०) मे हुआ। आठ वर्ष की उम्र मे आर्य सिंहगिरि ने उन्हें दीक्षा प्रदान की। आर्य वज्र की वी० नि० ५४८ मे आचार्य पद पर नियुक्ति हुई थी।

आर्य इन्द्रदिन्न, आर्य दिन्न, आर्य सिंहगिरि तीनो आचार्य आर्य वज्र से पूर्ववर्ती और वी० नि० की चतुर्थ शताब्दी मे होने वाले आर्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध से उत्तरवर्ती होने के कारण इन तीनो आचार्यों का समय वी० नि० की चौथी शताब्दी के उत्तराश से छठी शताब्दी के पूर्वांश तक सभव है।

२१-२४. मोक्ष-वीथि-पथिक आचार्य समुद्र, मंगू, धर्म, भद्रगुप्त

जैन शासन की ऐतिहासिक परम्परा मे समुद्र, मङ्गू और भद्रगुप्त—ये तीनो विशेष प्रसिद्ध आचार्य रहे है। आचार्य समुद्र ने वाचनाचार्य परंपरा को मंडित किया। आचार्य भद्रगुप्त युगप्रधान पद पर सुशोभित थे।

गुरु परम्परा

हिमवन्त स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली की वाचक गुरुपरपरा के अनुसार आचार्य षाण्डिल्य के उत्तरवर्ती समुद्र और समुद्र के उत्तरवर्ती आचार्य मगू थे। वलभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार मंगू रेवतीमित्र के उत्तरवर्ती थे। आचार्य भद्रगुप्त युग-प्राधानाचार्य वज्रस्वामी के विद्यागुरु थे। और युग-प्रधानाचार्य धर्म के उत्तरवर्ती युग-प्रधानाचार्य थे।

जीवन-वृत्त

नन्दी स्थविरावली मे आचार्य समुद्र और मगू की प्रशस्त शब्दो मे प्रशसा की गई है। आचार्य समुद्र के गुणानुवाद का श्लोक इस प्रकार है —

तिसमुद्दखायकित्ति दीव-समुद्देसु गहियपेयाल।
वदे अज्जसमुद्दं अक्खुभियसमुद्दगभीर ।।२६।।

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार आचार्य समुद्र की कीर्ति आसमुद्रान्त तक विस्तृत थी और वे प्रतिकूल परिस्थिति मे भी अक्षुभित समुद्र की भान्ति गभीर थे।

आर्य समुद्र की विस्तृत कीर्ति के विषय मे नन्दी चूर्णिकार का उल्लेख इस प्रकार है :—

पुव्व-दक्खिणाऽवरा तलो समुद्दा उत्तरतो वेतड्ढो एत तगे खातकित्ती।

आर्य समुद्र का रसासक्ति पर उत्कृष्ट सयम भाव था। वे स्वाद विजय की विशिष्ट साधना के लिए सभी प्रकार के भोजन को साथ मिलाकर ग्रहण किया करते थे।

मगू के लिए नन्दी स्थविरावली का श्लोक है :—

भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगू सुयसागरपारगं धीरं ।।२७।।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार से की है :—

कालियपुव्वसुत्तत्थं भणतीति भणको। चरण-करण क्रियां करोतीति कारक। सुत्तत्थे य मणसा झायंतोज्झरको। परप्पवादिजयेण पवयणप भावको। नाण-दंसण चरणगुणाणं च पभावको आधारो य।

आचार्य मंगू आगम-अध्येता, आचार-कुशल, सूत्रार्थ का मानसिक चिन्तन करने वाले, परवादी विजेता, प्रवचन-प्रभावक, ज्ञान, दर्शन, गुण सपन्न, श्रुत-सागर-पारगामी, घृतिधर आचार्य थे।

चूर्णि ग्रन्थो मे प्राप्त वर्णनानुसार आचार्य मगू को मथुरा के भक्त श्रद्धालुओ ने अपनी भक्ति भावना से विशेष प्रभावित कर लिया था। भक्तो के द्वारा प्राप्त सरस भोजन मे आसक्त होकर आचार्य मंगू वहीं स्थिर रूप से रहने लगे। आचार्य मंगू की इस प्रवृत्ति से असहमत उनके शिष्य परिवार ने वहां से विहार कर दिया था। आचार्य मंगू अन्तिम समय तक वहा रहे। दोषो की आलोचना किए बिना वे मृत्यु को प्राप्त कर यक्ष योनि मे उत्पन्न हुए।

चूर्णि का यह उल्लेख उच्च व्यक्तित्व के धनी वाचनाचार्य आचार्य मगू के साथ सगत प्रतीत नही होता है।

आर्यधर्म

आचार्य धर्म से सबधित विशेप सामग्री उपलब्ध नही है। मेरुतुङ्गीय विचार-श्रेणी मे प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य मंगू का ही दूसरा नाम धर्म था। युगप्रधान पट्टावली मे आचार्य मंगू का काल २० वर्ष का और आचार्य धर्म का आचार्य काल २४ वर्ष का माना गया है।

"अज्ज मंगू य बीसं
चउवीस अज्ज धम्मे"

(युगप्रधान पट्टावली)

आर्य भद्रगुप्त

आचार्य भद्रगुप्त दस पूर्वधर थे। ज्योतिषविद्या के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। आर्यरक्षित ने आचार्य भद्रगुप्त की अनशन की स्थिति मे विशेष उपासना की थी। आचार्य वज्रस्वामी ने भी दस पूर्वों का ज्ञान आचार्य भद्र-

गुप्त से ग्रहण किया था।

समय संकेत

वाचनाचार्य आचार्य पाण्डिल्य के बाद आचार्य समुद्र का क्रम होने के कारण उनका (आचार्य समुद्र) आचार्य पदारोहण काल वीर निर्वाण ४१४ (वि० पू० ५६) है। उनका स्वर्गवास वी० नि० ४५४ (वि० पू० १६) में हुआ है। तदनन्तर आचार्य मंगू और धर्म का वाचनाचार्य काल क्रमशः प्रारंभ होता है। आचार्य मंगू का आचार्य काल २० वर्ष का, आचार्य धर्म का आचार्य काल २४ वर्ष का होने के कारण आचार्य मंगू का आचार्यकाल वी० नि० ४५१ (वि० पू० १६) से प्रारम्भ होता है और वी० नि० ४७० (वि० स०१) मे सपन्न होता है एवं आचार्य धर्म का आचार्यकाल वी० नि० ४७० (वि० सं० १) से प्रारम्भ और वी० नि० ४९४ (वि० सं० २४) संपन्न होता है। आचार्य भद्रगुप्त का आचार्यकाल वी० नि० ४९५ (वि० स० २५ और स्वर्गवास वी० नि० ५३३ अथवा ५३५ (वि० ६३ या ६५) बताया गया है। आचार्य भद्रगुप्त ३५ वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहे। वल्लभी युगप्रधान पट्टावली मे भद्रगुप्त का आचार्यकाल ४१ वर्ष का माना गया है। आचार्य धर्म और आचार्य भद्रगुप्त की युगप्रधान आचार्यो मे भी गणना है।

२५. क्रान्तिकारी आचार्य कालक (द्वितीय)

जैन श्वेताम्बर प्रभावक आचार्यों की परम्परा मे प्रस्तुत आचार्य कालक द्वितीय कालक के रूप में प्रसिद्ध है। वे महान् क्रान्तिकारी आचार्य थे। उन्होने पश्चिम मे ईरान एव दक्षिण-पूर्व मे जावा, सुमात्रा तक की प्रलम्बमान पद यात्राएं की। आचार्यो की परम्परा में विदेश यात्रा का सर्वप्रथम द्वार खोला।

गुरुपरम्परा

कालक के गुरु गुणाकार थे। वे किस गुरुपरम्परा और किस गच्छ के थे, इस सबध का उल्लेख ग्रंथो मे नहीं है। कालक विद्याधर गच्छ के थे। यह उल्लेख प्रभावक चरित्र के पादलिप्त प्रबध मे है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य कालक का जन्म क्षत्रिय राज परिवार मे हुआ। उनके पिता का नाम वैरसिह, माता का नाम सुरसुन्दरी एव बहिन का नाम सरस्वती था। धारानगरी उनकी जन्मभूमि थी।

जीवन-वृत्त

कालक राजकुमार अश्वारुढ़ होकर मत्री के साथ नगर के बहिर्भूभाग मे क्रीडा करने गया था। वहां उसने गुणाकार मुनि को देखा। प्रवचन सुना। घनरव गम्भीर गिरा के श्रवण से परम प्रमोद को प्राप्त कालक कुमार संसार से विरक्त हो गया। दीक्षा लेने की भावना जागृत हुई। इस भावना का प्रभाव बहिन सरस्वती पर भी हुआ। दोनो भाई बहिन मुनि गुणाकर के पास दीक्षित हो गए।

कालक कुमार कालक मुनि बन गए। कालक मुनि प्रतिभा सपन्न युवक थे। अल्पसमय मे शास्त्रो के पारगामी विद्वान् बने। उनके गुरु ने उन्हें योग्य समझकर आचार्य पद से विभूषित किया।[1]

एक बार ससंघ आचार्य कालक का पदार्पण उज्जयिनी मे हुआ। उस समय उज्जयिनी मे गर्दभिल्ल का शासन था। आचार्य कालक की भगिनी

साध्वी सरस्वती के अनुपम रूप-सौन्दर्य को देखकर गर्दभिल्ल का मन मुग्ध हो गया। राजा का आदेश पा राजपुरुषो ने करुण स्वर से क्रन्दन करती, 'हा ! रक्ष, हा ! रक्ष, भ्रात !' कहकर सहोदर आचार्य कालक को स्मरती, कलपती-विलपती साध्वो सरस्वती का अपहरण कर लिया।[३]

आचार्य कालक का प्रस्तुत घटना से उत्तेजित हो जाना सम्भव था। वे राजसभा मे पहुचे एवं राजा गर्दभिल्ल के सम्मुख उपस्थित होकर बोले— 'फलो की रक्षा के लिए बाड का निर्माण होता है। बाड स्वय ही फल को खाने लगे तो फलो की रक्षा कैसे हो सकती है ? सरक्षक ही सर्वस्व का अपहरण करने लगे तो दु ख-दर्द की बात किसके सामने कही जा सकती है ?'[४]

"राजन् ! आप समग्र वर्गों के एव धार्मिक समाज के रक्षक हैं। आपके द्वारा एक साध्वी के व्रतभग की बात उचित नही है।"

आचार्य कालक ने यह बात सयत स्वरो मे एव शालीन शब्दो मे कही थी, किन्तु नृपाधम राजा पर इसका कोई प्रभाव नही हुआ। मत्री सहित पौर जनो ने भी गर्दभिल्ल को दृढ स्वरो मे निवेदन किया, पर मिथ्यामोहारूढ, मूढमति राजा ने उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नही दिया।[५]

आचार्य कालक मे क्षात्र तेज उद्दीप्त हो उठा, "नम्हा सइ सामत्थे आणा भट्ठम्मि नो खलु उवेहा" सामर्थ्य होने पर आज्ञा भ्रष्ट की कभी उपेक्षा नही करनी चाहिए। "जिन प्रवचन के अहित साधक, अवर्णवादी को पूर्ण शक्ति लगाकर रोक देना चाहिए।" यह एक ही बात आचार्य कालक के मस्तिष्क मे चक्कर काटने लगी। उन्होने गर्दभिल्ल को राजच्युत करने की घोर प्रतिज्ञा की।[६]

आचार्य कालक का स्पष्ट निर्णय था— 'मर्यादा भ्रष्ट गर्दभिल्ल को राजच्युत न कर दू तो सघ के प्रत्यनीक, प्रवचन-प्रघातक, सयम-विनाशक व्यक्तियो जैसी गति मुझे प्राप्त हो।[७]

गर्दभिल्ल शक्तिशाली शासक था। उससे लोहा लेना आसान बात नही थी। आचार्य कालक इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे।

अपनी घोर प्रतिज्ञा का भेद कही खुल न जाए, इस बात को गम्भीरता से लेते हुए आचार्य कालक शहर मे सज्ञाशून्य की भाति घूमने लगे। नगर की गलियो, चोराहो, राजपथो पर असबद्ध अपलाप करते हुए वे कहने— "गर्दभिल्ल नरेन्द्र है तो क्या ? देश समृद्ध है तो क्या ? उसका अन्त पुर रम्य है तो क्या ? नगरी सुरक्षित है तो क्या ? नागरिक जन सुन्दर परिधान

पहने हुए हैं तो क्या ? मैं भिक्षार्थ भटकता हू तो क्या ? शून्य देवल मे निवास करता हू तो क्या ?"

आचार्य कालक के इस अपलाप ने सब को भ्रान्ति मे डाल दिया। राजा गर्दभिल्ल को लगा—आचार्य कालक भगिनी के व्यामोह मे विक्षिप्त हो गए हैं। अपने करणीय हेतु निर्विघ्न भूमिका का निर्माण कर राजनीति-दक्ष-आचार्य कालक कतिपय समय के बाद एकाकी वहां से निकल गए।

बहिन सरस्वती को गर्दभिल्ल राजा के पजे से मुक्त कराना था अतः किसी राजसत्ता का सहयोग लेना कालक के लिए अनिवार्य हो गया था। वहा आस-पास मे कोई भी राजा कालक की दृष्टि मे इतना सबल नही था जो गर्दभिल्ल के विपक्ष मे युद्ध के मोर्चे पर आकर खडा हो सके। भरोच के बलमित्र और भानुमित्र अपने राज्य के प्रतापी शासक थे; पर उनमे भी नरेश गर्दभिल्ल से लोहा लेने का साहस नही था अतः सब प्रकार से निरुपाय कालक पश्चिम दिशा की ओर बढते हुए सिन्धुतट पर पहुच गए।[८]

वहां से वे शारवी देश गए। शारवी देश मे ९६ शाहो (शक सामन्तो) माण्डलिक राजाओ को विद्याबल से प्रभावित कर उनके साथ आचार्य कालक ने घनिष्ठ मित्रता स्थापित कर ली। शक सामन्तो पर एक मुख्य शाह राजा भी था। एक दिन शक सामन्त राजभय से घिर गए। उस सकट से बचाने के लिए शक सामन्तो को नौका पर चढ़ाकर आचार्य कालक सिंधु नदी को पार करते हुए सौराष्ट्र पहुचे।[९]

निशीथ चूर्णि मे शको का 'पारस कुल' मे होने का उल्लेख है। संभवत. पारस कुल पारस खाडी के निकट का कोई प्रदेश था। विद्वानो की दृष्टि मे वर्तमान मे यह ईरान का स्थान हैं। पारस कुल शको का निवासस्थान होने से शक कुल अथवा शाकद्वीप के नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। ये शक (शाही) संभवतः सीथियन जाति के लोग थे। एक अभिमत यह भी है—आचार्य कालक सिंधु प्रदेश से शक सामन्तो को लेकर आये थे।

भारत से सुदूरवर्ती क्षेत्र ईरान से इतने विशाल दल को प्रभावित कर ले आना उस समय की कठिन परिस्थितियो मे एव यातायात के साधनो के उचित अभाव मे एक आचार्य के लिए असम्भव था।

घनागम (वर्षा ऋतु का आगमन) के समागम होने के कारण शको सहित आचार्य कालक को सौराष्ट्र मे कई महीनो तक रुकना पडा। युद्ध के लिए प्रचुर अर्थ-राशि आवश्यक थी। कालक ने विद्या-बल से विपुल परिमाण में

स्वर्ण निष्पन्न कर अर्थ की कमी को पूर्ण कर दिया था। शरदृऋतु का आगमन हुआ। विशाल शक दल के साथ आचार्य कालक ने वहां से प्रस्थान किया। वहा से सबल शासक बलमित्र और भानुमित्र को भी आचार्य कालक ने अपने साथ ले लिया। सशक्त सैन्य समूह के साथ कालक मालव की सीमा पर पहुंच गए।[१०]

नरेन्द्र गर्दभिल्ल को अपनी विद्याशक्ति पर अधिक गर्व था। आक्रमण की बात सुनकर भी गर्दभिल्ल ने कोई ध्यान नही दिया। न नगर-दुर्ग को शस्त्रो से सज्जित किया और न सैन्यदल को कोई आदेश दिया। नगर के द्वार भी शत्रु-भय से बद नही किए गए।

निशीथचूर्णि मे प्राप्त वर्णनानुसार आचार्य कालक अपने मे पूर्ण सावधान थे। उन्होने अपने दल से कहा—"उज्जयिनी का शासक गर्दभिल्ल अष्टमी चतुर्दशी के दिन अष्टोत्तर-सहस्र जपपूर्वक 'रासभी' विद्या की सिद्धि करता है। विद्या सिद्ध होने पर रासभी भौकती है। उसके कर्कश स्वरो को सुनते ही प्रतिद्वन्दी के मुखद्वार से पीप झरता है और वह सज्ञा शून्य हो जाता है। रासभी के इन स्वरो का प्रभाव प्रतिद्वन्दी पक्ष पर सार्ध तीन गव्यूति पर्यन्त होता है। अत: विद्या से अप्रभावित क्षेत्र मे तम्बू तैनात कर लेना ठीक है। शक सामन्तो ने वैसा ही किया। रासभी के प्रभाव को समाप्त कर देने के लिए शब्दबेधी बाण को चलाने में कुशल एक सौ आठ सुभट राजप्रासाद की ओर निशाना साधकर उचित स्थान पर बैठ गए। विद्या साधने के समय रासभी का मुह खुलते ही अपने कर्म मे जागरूक सुभटो ने सुतीक्ष्ण बाणो से तत्काल उसका मुह भर दिया। इससे रासभी कुपित हुई एव अशुचि पदार्थों का राजा गर्दभिल्ल पर प्रक्षेप कर अदृश्य हो गई। शत्रु को निर्बल जानकर शक सामन्तो ने सबल सैन्य-शक्ति के साथ अवन्ति पर एक साथ धावा बोल दिया। लाट प्रदेश की सेना भी इनका पूरा साथ दे रही थी। पूर्व तैयारी के अभाव मे शक्तिशाली गर्दभिल्ल की विदेशी सत्ता के सामने पराजय हुई। सुभटो ने राजा गर्दभिल्ल को बन्दी बनाकर आचार्य कालक के सम्मुख प्रस्तुत किया। सीकचो से मुक्त बहिन सरस्वती को पाकर आचार्य कालक प्रसन्न हुए। सुभटों ने कालक के सकेत से अन्यायी शासक गर्दभिल्ल को पदच्युत कर छोड़ दिया।

आचार्य कालक ने बहिन सरस्वती को पुन दीक्षा दी और स्वय ने प्रायश्चित्तपूर्वक मनोमालिन्य एव पापमय प्रवृत्ति का शोधन किया।[११] प्रभाव-

शाली व्यक्तित्व के कारण पहले की तरह ही संघ का नेतृत्व आचार्य कालक सभालने लगे ।

बृहत्कल्प भाष्य चूर्णि मे गर्दभ को अवन्ति राजा 'अनिल सुत यव' का पुत्र बताया है । गर्दभ का मन अपनी ही बहिन अडोलिया के रूप-सौदर्य पर मोहित हो गया था । इस कार्य मे दीर्घपृष्ठ नामक मन्त्री का पूर्ण सहयोग था । वह गर्दभ की इच्छा पूर्ण करने के लिए अडोलिया को सातवें भूमिगृह (अन्तर घर) मे रखा करता था ।[११]

चूर्णि साहित्य मे उल्लिखित गर्दभ तथा सरस्वती के अपहरणकर्त्ता गर्दभिल्ल दोनो एक ही प्रतीत होते है ।

गर्दभिल्लोच्छेद की यह घटना वी० नि० ४५३ (वि० पू० १७) मे घटित हुई थी । इसी वर्ष मालव प्रदेश पर शको का राज्य स्थापित हुआ । कालक जिन शक शाह के पास ठहरे थे, उनको अवन्ति के राज्य सिहासन का अधिकारी बनाया गया ।[१२] इस घटना के बाद शक शाहो का दल शक वंश के रूप मे प्रसिद्ध हुआ ।[१४]

भृगुकच्छ लाट देश की राजधानी थी । वहा के महान् शासक बलमित्र और भानुमित्र थे ।[१५] वे आचार्य कालक के भानजे थे । आचार्य कालक को विजयी बनाने मे उनका पूरा सहयोग था ।

अवन्ति पर चार वर्षों तक शको ने शासन किया । भारतभूमि को विदेशी सत्ता से शासित देखकर बलमित्र एव भानुमित्र का खून उबल उठा । उन्होंने मालव पर आक्रमण किया एव शक सामतो को बुरी तरह से अभिभूत कर वहा का राज्याधिकार अपने हाथ मे ले लिया । उज्जयिनी के पावन प्रागण मे स्वतत्रता का सूर्य उदय हुआ । बलमित्र ने वहा का शासन सभाला और लघुभ्राता भानुमित्र को युवराज बनाया गया ।[१६]

निशीथ चूर्णि के अनुसार एक बार आचार्य कालक ने अवन्ति मे चातुर्मास किया । अवन्ति पर उस समय बलमित्र तथा भानुमित्र का शासन था ।[१७] बलमित्र एव भानुमित्र की बहन का नाम भानुश्री था । भानुश्री के पुत्र का नाम बलभानु था । परमविरक्ति को प्राप्त बलभानु को आचार्य कालक ने दीक्षा प्रदान की थी । इससे बलमित्र और भानुमित्र प्रकुपित हुए और उन्होने अनुकूल परिषह उत्पन्न कर आचार्य कालक को पावसकाल मे ही विहार करने के लिए विवश कर दिया था । प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्यकालक का यह चातुर्मास भरौच मे हुआ था । बलमित्र की बहिन

भानुश्री एवं भागिनेय बलभानु का उल्लेख भी प्रभावक चरित्र ग्रन्थ मे है।[१८] इस ग्रन्थ के अनुसार चातुर्मासिक स्थिति मे आचार्य कालक के विहार का निमित्त राजपुरोहित था। भागिनेय बलमित्र व भानुमित्र की अगाध श्रद्धा आचार्य कालक के प्रति थी, पर राजसम्मान प्राप्त आचार्य कालक से भरोचराजपुरोहित ईर्ष्या करता था।

एक दिन शास्त्रार्थ मे आचार्य कालक से पराभव को प्राप्त राजपुरोहित ने उनके निष्कासन की योजना सोची। उसने बलमित्र और भानुमित्र से निवेदन किया—"राजन्! महापुण्योभाग आचार्य कालक के चरण हमारे लिए वन्दनीय हैं। पथ पर अङ्कित उनके चरणचिह्नो पर नागरिको के पैर टिकने से अथवा उनका अतिक्रमण होने से गुरुराज की आशातना होती है। यह आशातना राजा के लिए विघ्नकारक है। इससे राष्ट्र में अमगल हो सकता है। भ्रातृद्वय के सरल हृदय मे निकटवर्ती राजपुरोहित की यह बात जच गयी, पर पावस काल मे आचार्य कालक का निष्कासन होने से महान् अपवाद का भय था। इस अपवाद से बचने के लिए राजा का आदेश प्राप्त कर राजपुरोहित ने घर-घर मे आधाकर्मदोष निष्पन्न गरिष्ठ भोजन आचार्य कालक को प्रदान करने की घोषणा की। नागरिक जनो ने वैसा ही किया। एषणीय आहार-प्राप्ति के अभाव मे शासन-व्यवस्था की ओर से अनुकूल परीषह उत्पन्न हुआ जानकर आचार्य कालक ने पावस के मध्य ही विहार कर दिया।

वहा से आचार्य कालक प्रतिष्ठानपुर पधारे। प्रतिष्ठानपुर मे शासक नरेश शातवाहन के हृदय मे जैनधर्म के प्रति विशेष अनुराग भाव था। पौरजनो सहित शासक शातवाहन ने आचार्य कालक का भारी सम्मान किया। भाद्रव शुक्ला पचमी का दिन निकट था। संवत्सरी पर्व को अत्यन्त उत्साह के साथ मनाने की चर्चा चल रही थी। प्रतिष्ठानपुर मे इसी दिन इंद्रध्वज महोत्सव भी मनाया जाता था। दोनो पर्वों के कार्यक्रम में सम्मिलित होने की भावना से प्रेरित होकर शातवाहन ने कालक से प्रार्थना की—"आर्य! संवत्सरी पर्व षष्ठी को मनाया जाय, जिससे मैं भी इस पर्व की सम्यक् आराधना कर सकू।"

आचार्य कालक मर्यादा के प्रति दृढ थे। राजभय से इस महान् तिथि का अतिक्रमण करना उनकी दृष्टि मे उचित नही था। उन्होंने निर्भय होकर कहा—"मेरु प्रकम्पित हो सकता है। पश्चिम दिशा मे रवि उदय हो सकता

है, पर इस पर्व की आराधना मे पंचमी की रात्रि का अतिक्रमण नहीं हो सकता।" राजा ने पर्व को चतुर्थी के दिन मनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। आचार्य कालक की दृष्टि में इस पर्व को एक दिन पूर्व मनाने मे कोई बाधा नहीं थी। उन्होने शातवाहन के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अतिशय उल्लास के साथ गर्दभिल्ल उच्छेदक आचार्य कालक के नेतृत्व में सर्वप्रथम चतुर्थी के दिन संवत्सरी पर्व मनाया गया।

निशीथ चूर्णि के अनुसार आचार्य कालक अवन्ति से एव प्रभावक चरित्र के अनुसार भरौच से चतुर्मास मे विहार कर प्रतिष्ठानपुर मे गये थे। वहां उन्होने संवत्सरी पर्व चतुर्थी को मनाया था। बलमित्र, भानुमित्र ने ५२ वर्षों तक भरौच मे शासन किया था। गर्दभिल्लोच्छेदक घटना के बाद चार वर्ष तक शको ने अवन्ति पर शासन किया। उसके बाद वहा बलमित्र भानुमित्र का शासन हो गया था। चूर्णि मे प्राप्त उल्लेखानुसार कालक ने अपना चातुर्मास बलमित्र तथा भानुमित्र के शासन काल मे अवन्ति मे किया था। युगल भ्राता भरौच मे वर्षों तक शासक रहने के कारण प्रभावक चरित्र मे अवन्ति के स्थान पर भरौच नरेश का निर्देश है। बलमित्र, भानुमित्र को कहीं अवन्ति नरेश और कही भरौच नरेश कहकर जैन ग्रन्थो मे उल्लेख हुआ है।

प्रतिष्ठानपुर मे चतुर्थी को सवत्सरी पर्व मनाने का यह प्रसंग वी० नि० ४५७ से ४६५ (वि० पू० १३५) के मध्य का है। बलमित्र, भानुमित्र ने वी० नि० ४५७ (वि० पू० १३) मे उज्जयिनी का राज्य सम्भाला था तथा उनके राज्य का वी० नि० ४६५ (वि० पू० ५) मे अन्त हो गया था। इसके बाद अवन्ति का राज्य नभसेन ने सभाला था। नभसेन के पांचवे वर्ष मे शको ने पुनः मालव पर आक्रमण किया। इस समय भी उनकी हार हुई। मालव प्रजा ने विजय प्राप्ति की खुशी मे मालव संवत् स्थापित किया। यही मालव सवत् आगे विक्रम सवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ बताया जाता है। शको ने १३५ वर्ष बाद एक बार पुनः मालव पर आक्रमण किया। इस समय शको की विजय हुई। इस विजय के हर्षोल्लास मे शक संवत् स्थापित किया। यह शक संवत् वी० नि० से ६०५ वर्ष बाद और विक्रम से १३५ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ है। विक्रम सवत् का सबध जैन धर्म के उपासक राजा बलमित्र से ही बताया जाता है।

देश-देशान्तर मे विहरण करते हुए आचार्य कालक का पदार्पण एक बार पुनः अवन्ति मे हुआ। इस समय आचार्य कालक वृद्धावस्था मे थे।

वार्धक्य की चिन्ता न कर वे अपने शिष्य वर्ग को अत्यन्त जागरूकता के साथ आगम वाचना देते थे। आचार्य कालक जैसा उत्साह उनके शिष्य वर्ग मे न था। वे आगम वाचना ग्रहण करने मे अत्यन्त उदासीन थे। अपने शिष्यो के इस प्रमत्त भाव से आचार्य कालक खिन्न हुए। उनको शिक्षा देने की दृष्टि से आचार्य कालक ने शिष्यो से अलग होने की बात सोची। मन-ही-मन सूरिजी ने गहराई से चिन्तन किया—

"आसन्नऽविनयाः शिष्या दुर्गतौ दोहदप्रदा." ॥१३०॥

(प्रभा० च० पृ० २६)

अविनीत एव प्रमादी शिष्य कष्टदायक होते हैं। उनके साथ रहने से दुर्गति का बन्धन होता है। अत बिना सुविधा-दुविधा की परवाह किए इन शिष्यो का मोह त्याग कर अन्यत्र चले जाना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

सम्यक् तरह से विचार कर लेने के बाद शय्यातर के पास जाकर आचार्य कालक बोले—"मैं अपने अविनीत शिष्य-सघ को यहा छोड़कर इन्हे बिना सूचित किए ही अपने प्रशिष्य सागर के पास स्वर्णभूमि की ओर जा रहा हूं। सोचता हूं—"शिष्यो द्वारा अनुयोग न ग्रहण करने पर मेरा इनके बीच मे रहने से कोई उपयोग नही है; प्रत्युत इन शिष्यो की उच्छृखलता कर्म-बन्धन का हेतु है। हो सकता है मेरे पृथक्त्व से वे सभल जाए और उन्हे अपनी भूल समझ मे आ जाए। पर मेरे चले जाने की सूचना शिष्य वर्ग को अत्यन्त आग्रह पूर्वक पूछने पर उन्हें सरोष स्वरो मे बताना।" शय्यातर को इस प्रकार अपना कथ्य पूरी तरह से समझाकर शिष्यो को सावधान किए बिना ही गुप्त रूप से आचार्य कालक ने विहार कर दिया। मार्गवर्ती बस्तियो को पार करते हुए वे सुदूर स्वर्णभूमि मे सुशिष्य सागर के पास पहुचे। आगम वाचनारत शिष्य सागर ने उन्हें सामान्य वृद्ध साधु समझकर अभ्युत्थानादि-पूर्वक कोई स्वागत नहीं किया। अर्थ-पौरुषी (अर्थ-वाचना) के समय शिष्य सागर ने सम्मुखीन आचार्य कालक को सकेत करते हुए पूछा—"खंत! मेरा कथन समझ मे आ रहा है?" आचार्य कालक ने 'आम्' कहकर स्वीकृति दी। सागर सगर्व बोले—"वृद्ध! अवधानपूर्वक सुनो।" आचार्य कालक गम्भीर मुद्रा में बैठे थे। आर्य सागर अनुयोग प्रदान मे प्रवृत हो गये। उधर अवन्ति मे आचार्य कालक के शिष्यो ने देखा—उनके बीच मे आचार्य कालक नहीं है। उन्होने इधर-उधर ढूढा पर वे कही न मिले। शय्यातर से जाकर शिष्यो ने पूछा—"आचार्यदेव कहां हैं?" मुखमुद्रा को वक्र बना शय्यातर ने

कहा—"आपके आचार्य ने आपको भी कुछ नही कहा, मुझे क्या कहते ?" शिष्यो ने पुनः आचार्य कालक को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया पर वे असफल रहे। आग्रहपूर्वक पूछने पर शय्यातर ने कठोर रुख बनाकर शिष्यों से कहा—"आप जैसे अविनीत शिष्यो की अनुयोग ग्रहण करने में अलसता के कारण खेद-खिन्न आचार्य कालक स्वर्णभूमि में प्रशिष्य सागर के पास चले गए हैं।" शय्यातर के कटु उपालम्भ से लज्जित, गुरु के बिना अनाश्रित, उदासीन शिष्यो ने तत्काल अवन्ति से स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थान कर दिया। विशाल संघ को विहार करते देख लोग प्रश्न करते—"कौन आचार्य जा रहे हैं ?" शिष्य कहते—"आचार्य कालक"।

यह बात कानो-कान तेल-बिन्दु की तरह प्रसारित हो गयी। श्रावक वर्ग ने आर्य सागर से निवेदन किया—"विशाल परिवार सहित आचार्य कालक आ रहे हैं।" अपने दादा गुरु के आगमन की बात सुन उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पुलकितमन होकर आर्य सागर ने अपने शिष्य वर्ग को गुरु के आगमन की सूचना दी और कहा—"मैं उनसे कई गंभीर प्रश्न पूछकर समाहित बनूगा।"

शीघ्र गति से चलते हुए आचार्य कालक के शिष्य स्वर्णभूमि मे पहुंचे और स्वागतार्थ सामने आए हुए श्रमण सागर के शिष्यो से पूछा—"आचार्य कालक यहा पधारे हुए हैं ?" उत्तर मिला—"एक वृद्ध श्रमण के अतिरिक्त यहा कोई नहीं आया।" उपाश्रय मे पहुचकर आचार्य कालक को कालक के शिष्यो ने सभक्ति वन्दन किया। नवागन्तुक श्रमण संघ द्वारा अभिवन्दित होते देखकर आर्य सागर ने आचार्य कालक को पहचाना। अपने द्वारा कृत अविनय के कारण उन्हें लज्जा की अनुभूति हुई।[1] हृदय अनुताप से भर गया। गुरुदेव के चरणो मे गिरकर क्षमा मांगी। विनम्र स्वरों में पूछा—"गुरुदेव मैं अनुयोग वाचना उचित प्रकार से दे रहा था ?" आचार्य कालक ने कहा—"तुम्हारा अनुयोग सम्यक् है, पर गर्व मत करना। ज्ञान अनन्त है, मुष्टि-भर धूलिराशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर एव दूसरे स्थान से तृतीय स्थान पर रखते-उठाते समय वह न्यून-न्यूनतर होती जाती है। तीर्थंकर प्रतिपादित ज्ञान गणधर, आचार्य, उपाध्याय के द्वारा हम तक पहुंचते-पहुंचते वह अल्प-अल्पतर हो गया है।" आचार्य कालक ने प्रशिष्य सागर को अनेक प्रकार का प्रशिक्षण दिया एवं वे स्वयं अनुयोग-प्रवर्तन में भी लगे।

प्रभावक चरित्र मे प्राप्त वर्णनानुसार अपने शिष्यों का परित्याग कर

आचार्य कालक अवन्ति में प्रशिष्य सागर के पास पहुंचे। उस समय आगम वाचना कार्य में रत श्रमण सागर आचार्य कालक को सामान्य वृद्ध साधु समझकर न खड़े हुए न अन्य किसी प्रकार का स्वागत किया। आचार्य कालक उपाश्रय के एक कोने में जाकर सहजभाव से बैठ गए और परमेष्ठि-स्मरण मे लीन हो गए। आगम अनुयोग का कार्य सम्पन्न होने के बाद प्रशिष्य सागर ने कालकाचार्य के पास जाकर कहा—

"किञ्चित्तपोनिधि जीर्ण ! पृच्छ सन्देहमाद्दृत" ॥१४५॥
(प्रभा० परि० पृ० २६)

"वृद्ध तपोनिधे ! आपकी कोई जिज्ञासा है, प्रष्टव्य है ? आप मुझसे पूछें, मैं उसका यथोचित समाधान देकर सन्देह का निवारण करूंगा।"

आचार्य कालक बोले—वृद्ध होने के कारण मैं तुम्हारे कथन को ठीक से नही समझ पा रहा हूं। फिर भी पूछता हूं अष्टपुष्पी का अर्थ क्या है ? सागर ने गर्व के साथ अष्टपुष्पी की व्याख्या की। इस व्याख्या से आचार्य कालक को सतोष नही हुआ। पर उस समय प्रत्युत्तर मे कुछ भी बोलना ठीक न समझ वे मौन रहे। बाद में आये हुए कालकाचार्य के शिष्यो द्वारा गुरु के प्रति विनयभाव, भक्ति को देखकर श्रमण सागर ने जब कालक को पहचाना तब मन मे सकोच की अनुभूति हुई। अपने अविनय की क्षमा मागी तथा अष्टपुष्पी के सबंध मे जिज्ञासा प्रकट की। जिज्ञासा के समाधान मे आचार्य कालक ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, राग-द्वेष का परिहार, धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान—इन आठ प्रकार के पुष्पो से आत्मा की अर्चा को कल्याण का मार्ग बनाकर विशुद्ध अध्यात्म भाव का प्रतिपादन किया था।[१९] शिष्य सागर को ज्ञान का गर्व न करने की शिक्षा भी दी।

आचार्य कालक के द्वारा अष्टपुष्पी स्वरूप व्याख्या प्राचीन ग्रन्थो मे नहीं है।

अवन्ति से स्वर्णभूमि मे आचार्य कालक के जाने का उल्लेख निशीथ चूर्णि में है वह इस प्रकार है—

"उज्जेणी काल खमणा, सागरखमणा सुवण्णभूमिसु"

यह उल्लेख कालकाचार्य का अवन्ति मे और प्रशिष्य सागर का सुवर्णभूमि में होने का स्पष्ट संकेतक है।

त्वया कथ्यममीषां च प्रियकर्कशवाग्भरैः।
शिक्षयित्वा विशालायां प्रशिष्यान्ते य यौगुरुः ॥१३१॥
(प्रभावक चरित्र)

प्रभावक चरित्र के उक्त पद्य के अनुसार आगम अध्ययन में शिष्यों की उदासीन वृत्ति के कारण आचार्य कालक उनका परित्याग कर अवन्ति मे आए थे। पर वे कहा से आए थे इस सम्बन्ध का भी उल्लेख नहीं है।

अविनीत शिष्यों के परित्याग की यह घटना वी० नि० ४५७ (वि० पू० १३) के बाद तथा वी० नि० ४६५ (वि० पू० ५) से पहले घटित हुई बताई गई है।

आचार्य कालक का भूभ्रमण भी बहुत विस्तृत था। पश्चिम मे ईरान एवं दक्षिण पूर्व मे जावा, सुमात्रा तक की पद यात्रा करने का श्रेय उन्हें है।

आचार्य कालक का शिष्य संघ विशाल था पर उनके साथ आचार्य कालक का दृढ अनुबन्ध नही था। अविनीत शिष्यो के साथ रहने से कर्म बन्धन ही होगा, यह सोच वे एकाकी पदयात्रा पर चल पड़े थे। यह प्रसङ्ग उनके निर्लेप साधना जीवन का प्रशस्त निदर्शन है।

आचार्य कालक का निमित्त एवं ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त विशद था।[१]

आचार्य कालक ज्ञानाराधना की प्रवृत्ति मे भी अप्रमत्त भाव से प्रवृत्त थे। अपने पास शिष्यो की अस्थिरता देखकर आचार्य कालक को अपने ज्योतिष ज्ञान संबंधी अपूर्णता की अनुभूति हुई। उन्होंने एक दिन सोचा— "मैं अभी तक ऐसा मुहूर्त्त भी नही जान सका जिससे मेरे द्वारा प्रव्रजित शिष्य स्थिरता को प्राप्त हो।" भीतर की इस प्रेरणा से प्रेरित हो मुहूर्त्त ज्ञान सबंधी विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए आचार्य कालक ने यह विद्या प्रतिष्ठानपुर मे आजीविको के पास ग्रहण की थी।[१]

आजीविको से ज्योतिषविद्या ग्रहण का यह समय वी० नि० ४५३ (वि० पूर्व १७) से पूर्व का बताया गया है।

कालकाचार्य जब ईरान मे गए उस समय भी वहां के माण्डलिक राजाओ को निमित्तविद्या और मन्त्रविद्या बल से प्रभावित कर उन्हे सौराष्ट्र मे ले आए थे।

आचार्य कालक का जीवन कई विस्मयकारी प्रसङ्गो से संयुक्त है। चतुर्थी को संवत्सरी मनाने के उनके सर्वथा सद्यस्क निर्णय को संघ ने एक रूप में मान्य किया। इसमें भी प्रमुख हेतु आचार्य कालक का तेजस्वी एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ही था। आचार्य कालक की परम्परा मे पांडिल्य शाखा का निर्णय हुआ।

समय-संकेत

आचार्य कालक से सम्बन्धित गर्दभिल्लोच्छेद की घटना वी० नि० ४५३ (वि० पू० १७) की और चतुर्थी पर्युषणा की घटना वी० नि० ४५७ और ४६५ (वि० पू० १३-५) की मानी गई है। अतः क्रान्तिकारी कालक द्वितीय का समय वी० नि० ५ वी शताब्दी (विक्रम की प्रथम शताब्दी के आस-पास) सिद्ध होता है।

आधार-स्थल

१. स्वपट्टे कालक योग्यं प्रतिष्ठाप्य गुरुस्तत.।
श्रीमान् गुणाकरः सूरिः प्रेत्यकार्याण्यसाधयत् ॥२५॥

(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २२)

२. हा रक्ष रक्ष सौदर्य ! क्रन्दन्ती करुणस्वरम्।
अपाजीहरदत्युग्रकर्मभिः पुरुषैः स ताम् ॥३०॥

(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २३)

३. वृत्तिर्विधीयते कच्छे रक्षार्थं फलसंपद.।
फलानि भक्षयेत् सैवाख्येय कस्याग्रतस्तदा ॥३२॥

(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २३)

४. सघेन मन्त्रिभि. पौरैरपि विज्ञापितो दृढ़म्।
अवाजीगणदारूढ़ो मिथ्यामोहे गलन्मतिः ॥३५॥

(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २३)

५. प्राक्क्षात्रतेज आचार्यं उन्निद्रमभजत् ततः।
प्रतिज्ञां विदधे घोरा तदा कातरतापनीम् ॥३६॥

(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २३)

६. जे सघपञ्चणीया पवयणउवघायगानरा जे य।
संजमउवघायपरा तदुविक्खाकारिणो जे य ॥
तेसिं वच्चामि गइं, जइ एय गर्द्दभिल्लरायाण।
उम्मूलेमि ण सहसा, रज्जाओ भट्ठमज्जाय ॥

(प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राङ्क ४५७)

७. (क) गर्दभिल्लो नरेन्द्रश्चेत् ततस्तु किमतः परम्।
यदि देश. समृद्धोऽस्ति ततस्तु किमत. परम ॥४१॥

(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २३)

(ख) जइ गद्दभिल्लो राया तो किमतः परं।
जइ वा अंतेपुरं रम्म तो किमतः परं।
विसओ जइ वा रम्मो तो किमतः परं।
सुणिवेट्ठा पुरी जइ तो किमतः परं।
जइ वा जणो सुवेसो तो किमतः परं।
जइ वा हिंडामि भिक्खं तो किमतः परं।
जइ सुण्णे देउले वसामि तो किमतः परं।
(निशीथ-चूर्णि उद्दे० १०, भाग ३, पत्राङ्क ५९-६०)

८ दिनैः कतिपयैस्तस्मान्निर्ययावेक एव सः।
पश्चिमां दिशमाश्रित्य सिन्धुतीरमगाच्छनैः ॥४३॥
(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २३)

९. तरीभि. सिन्धुमुत्तीर्य सुराष्ट्रां ते समाययु ॥५६॥
(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २३)

१० पञ्चाल-लाटराष्ट्रेशभूपान् जित्वाऽथ सर्वतः।
शका मालवसन्धि ते प्रापुराक्रान्तविद्विषः ॥६७॥
(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २४)

११. आरोपिता व्रते साध्वी गुरुणाऽथ सरस्वती।
आलोचितप्रतिक्रांता गुणश्रेणिमवाप च ॥८७॥
(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क २४)

(ख) "भगिणि पुणरवि संजमे ठविया"......निशीथ चूर्णि उद्देशक १० भाग ३

१२. "उज्जेणी णगरी, तत्थ अणिलसुतो जवो नाम राया, तस्स पुत्तो गद्दभो णाम जुवराया, तस्स रण्णो धूआ गद्दभस्स भइणी अडोलिया णाम, सा य रूपवती तस्स य जुवरण्णो दीहपट्ठो णाम सचिवो (अमात्य इत्यर्थः) ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भइणि पासित्ता अज्झोववण्णो दुवली भवइ। अमच्चेण पुच्छितो णिब्बंधे सिट्ठों अमच्चेण भण्णइ सागरियं भविस्सति तो सत्तभूमीघरे छुभउ तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए लोगो जाणिस्सइ सा कहिं पि णट्ठा एवं होउ त्ति कतं।"

(बृहत्कल्प चूर्णि)

१३. "सूरीजप्पासि ठिओ, आसीसोऽवंतिसामिओ सेसा ।
तस्सेवगा य जाया, तओ पउत्तो अ सगवंसो ॥८०॥
(कालकाचार्य कथा)

१४. "ज कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ राया अधिवो ।
राया ठविसो, ताहे सगवंसो उप्पण्णो ॥"
(निशीथ चूर्णि उद्देशक १०, पत्र २३६)

१५ इतश्चास्ति पुरं लाटललाटतिलकप्रभम् । भृगुकच्छ नृपस्तत्र बलमित्रो-ऽभिधानत. भानुमित्रा ग्रजन्मासीत् स्वस्रीयः कालक प्रभो. ।
(प्रभा० च० पद्य सं० ६४, ६५ पृ० २५)

१६. "बलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवंतीइ रायजुवराया ।
(कालकाचार्य कथा)

१७. कालगायरिओ विहरतो उज्जेणि गतो । तत्थ वासावास ठितो ।.......
तस्स कनिट्ठो भाया भाणुमित्तो जुवराया"
(निशीथ चूर्णि)

१८. स्वसा तयोश्च भानुश्री·, बलभानुश्च तत्सुत. ॥६५॥
(प्रभा० च० पृ० २५)

१९. कम्पते मेरुचूलापि रविर्वा पश्चिमोदय· ।
नातिक्रमति पर्वेद पञ्चमीरजनी ध्रुवम् ॥१२०॥
(प्रभा० च० पत्राङ्क २५)

२०. ताहे अज्जकालया चितेति—एए मम सीसा अणुओग न सुणंति तओ किमेएसि मज्झे चिट्ठामि तओ सुवन्नभूमिए सागराणं लोगेण कहियं, जहा अज्जकालगा नाम आयरिया बहुस्सुया बहुपरिवारा इहाऽऽगंतुकामा पंथे वट्टंति । ताहे सागरा सिस्साणं पुरओ भणंति—मम अज्जया इंति, तेसिं सगासे पयत्थे पुच्छीहामित्ति । अचिरेण ते सीसा आ गया । तत्थ अग्गिल्लेहिं पुच्छिज्जति कि इत्थ आयरिया आगया चिट्ठंति ? ॥१॥
नत्थि, नवरं अन्ने खता आगया । केरिसा वदिये नाय "एए आयरिया ।" ताहे सो सागरो लज्जिओ ।
(सभाष्य बृहत्कल्प भाग १ पृ० ७३७४)

२१. अष्टपुष्पी च तत्पृष्ट· प्रभुर्व्याख्यानयत् तदा ।
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्माकिंचनता तथा ॥१५०॥

रागद्वेषपरीहारो धर्मध्यानं च सप्तमम् ।
शुक्लध्यानमष्टमं च पुष्पैरात्मार्चनाच्छिवम् ॥१५१॥

(प्रभावक चरित्र, पृ० २६)

२२. "जोतिस-निमित्त-बलिया ।"

(निशीथ-चूर्णि उद्दे० १०, भाग ३, पत्राङ्क ५९)

२३. लोगाणुओगे अज्जकालगा । सज्जेतवासिणा (?) एत्तिउं पढिउं सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ पव्वाविओ थिरो होज्जा । तेण निव्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्तं पढियं ।

(पञ्चकल्प-चूर्णि, पृ० २४)

२६. क्षमाधर आचार्य खपुट

आर्य खपुट अपने युग के विशिष्ट प्रभावी आचार्य थे। वे प्रभावोत्पादक विद्याओं के स्वामी थे। भव-विभ्रान्त पथिक के लिये विश्राम स्थल थे। निशीथ चूर्णि मे आठ व्यक्तियों का धर्म की प्रभावना मे महान् योगदान माना गया है।[1] विद्याबल पर प्रभावना करने वालों मे वहां आचार्य खपुट का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[2] अतिशय विद्या सम्पन्नता के कारण प्रबन्ध कोशकार ने उन्हे 'आचार्य सम्राट्' सज्ञा से अभिहित किया है।[3]

गुरु-शिष्य-परम्परा

खपुट किस गच्छ के थे इस संबंध का कोई सकेत ग्रन्थो मे उपलब्ध नही है। शिष्य समुदाय मे भुवन नाम का एक शिष्य खपुट के था वह उनका भागिनेय भी था। एक अन्य शिष्य का नाम महेन्द्र था। आचार्य खपुट का उत्तराधिकार शिष्य भुवन को प्राप्त हुआ था। इन दोनो शिष्यो का उल्लेख प्रभावक चरित्र काल-प्रबन्ध में हुआ है।

जीवन-वृत्त

आचार्य खपुट ने शिष्य भुवन को अनेक प्रकार की विद्याएं प्रदान की थीं। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण कर्ण श्रुति से भी कई विद्याएं उसने ग्रहण कर ली थीं। भृगुकच्छ के राजा बलमित्र बौद्ध भक्त थे। उनकी सभा मे मुनि भुवन का बौद्धो के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ। राजकीय सम्मान प्राप्त, प्रमाणज्ञ, तर्कज्ञ, न्यायज्ञ बौद्ध भिक्षु जैनो से अपने को प्रकृष्ट मानते थे। मुनि भुवन की अकाट्य तर्कों के सामने इस शास्त्रार्थ में वे पूर्ण परास्त हो गए। जैन शासन के विजिगीषु 'वड्ढकर' नामक बौद्धाचार्य गुड़शस्त्रपुर से भृगुकच्छ आए। शास्त्रार्थ में स्याद्वाद्‌वादी मुनि भुवन ने उन्हें भी परास्त कर दिया। इससे जैन शासन की महान् प्रभावना हुई।

गुड़शस्त्रपुर मे एक बार यक्ष का उपद्रव होने लगा था। जैन संघ विशेषत: इस उपद्रव से आक्रान्त था। गुड़शस्त्रपुर से समागत मुनिद्वय के द्वारा विस्तृत विवरण सहित दु:खद घटनाचक्र की सूचना आचार्य खपुट को मिली।

इन मुनियो को जैन संघ ने ही प्रेषित किया था। आचार्य खपुट इस घटना से निर्वेद को प्राप्त हुए। भुवन शिष्य को उन्होने अपनी कर्पदिका (विशिष्ट विद्या से संबंधित पुस्तक) सौंपी और कहा—"एषा कर्पदिका वत्स नोन्मोच्या कौतुकादपि"—वत्स ! यह कर्पदिका मैं तुम्हें दे रहा हूं। न किसी के हाथ मे देना है, न कौतुक वश होकर भी इसे खोलना है। समग्र प्रकार से उचित प्रशिक्षण देकर आचार्य खपुट भृगुपुर से चले और गुड़शस्त्रपुर पहुंचे। वहां संघ से मिलकर समग्र स्थिति को जाना। वे यक्षायतन में गए एवं यक्ष के कानो मे उपानह् डालकर सो गए। पुजारी इस व्यवहार से प्रकुपित हुआ। यह बात राजा के कानो तक पहुचाई। राजकीय पुरुषो द्वारा आचार्य खपुट की पिटाई होने लगी, पर आगे की घटना से सब विस्मयाभिभूत हो गए। यष्टि-प्रहार आचार्य खपुट की पीठ पर हो रहा था, करुण-क्रन्दन अन्तःपुर से सुनाई दे रहा था। राजा समझ गया यह चमत्कार उस विद्यासिद्ध योगी का है।[४] वे खपुटाचार्य के पास पहुंचे एवं कठोर आदेश के लिये उन्होंने क्षमा मांगी। इस विद्या बल से प्रभावित होकर राजा खपुटाचार्य का परम भक्त बन गया।[५] यक्ष-प्रतिमा भी उन्हें द्वार तक पहुंचाने आई। खपुटाचार्य का नाम मुख पर गूंज उठा। यक्ष का उपद्रव पूर्णतः शांत हुआ।

आर्य खपुट जैन संघ को आश्वस्त करने हेतु उपद्रव शांत हो जाने के बाद भी कुछ दिन तक वहीं रुके। इधर भृगुपुर मे विचित्र घटना घट गई। मुनिद्वय भृगुपुर से आर्य खपुट के पास पहुंचे। उन्होने निवेदन किया—"आर्य ! आपके द्वारा निषेध करने पर भी आपकी कर्पदिका को भुवन शिष्य ने खोला। उससे उसे आकृष्टि महाविद्या प्राप्त हो गई है। वह इस विद्या का दुरुपयोग कर रहा है"—

"तत्प्रभावाद् वराहारमानीय स्वदतेतराम्।"

प्रतिदिन गृहस्थो के घर से आकृष्टि महाविद्या के द्वारा सरस-सरस आहार को खींचकर उसने उसका उपभोग करना प्रारम्भ कर दिया था। रस-लोलुप भुवन को स्थविरो ने बार-बार रोका। वह उसे सहन नहीं कर सका। स्थिति विकट हो गई। जैन संघ से अपना सबंध विच्छेद कर विद्या के गर्व से गुर्राता हुआ भुवन बौद्धो के साथ जा मिला। वहां इसी विद्या के आधार पर आकाश-मार्ग से पात्रों को बौद्ध उपासको के घर भेजता है और भोजन से परिपूर्ण होने के बाद उन्हें वापस खीच लेता है। इस चामत्कारिक विद्या के प्रभाव से अनेक जैन बौद्ध होने लगे। सारी स्थिति आपके ध्यान में

ला दी। 'यदुचितं तत्कुरुध्वम्'— 'अब जैसा उचित हो वैसा करें।" आर्य खपुट मुनियो द्वारा समग्र घटना-प्रसंग को सुनकर वहा से चले और भृगुपुर पहुंचे। प्रच्छन्न रूप से कही स्थित होकर आर्य खपुट ने शिष्य-भुवन के विद्या-बल के द्वारा आकाश मार्ग से समागत भोजनपूरित पात्रो को शिला प्रहार से खड-खंड कर दिया।[६] भग्न पात्रो से मोदक आदि नाना प्रकार का स्वादिष्ट भोजन लोगो के मस्तक पर गिरने लगा।[७] शिष्य भुवन ने समझ लिया, उसके प्रभाव को प्रतिहत करने वाले आचार्य खपुट आ चुके हैं। वह नाना प्रकार के कल्पित भय से घबरा कर वहा से भाग गया। आर्य खपुट का मुख-मुख से जय-जयकार होने लगा।[८]

पाटलिपुत्र मे जैन सघ के सामने भयकर राजकीय सकट उपस्थित हुआ। वहां के राजा दाहड का जैन श्रमणो को आदेश मिला—वे ब्राह्मण वर्ग को नमन करे अन्यथा उनका शिरच्छेद होगा। राजा की इस घोषणा से जैन सघ मे चिन्ता हुई। यह जीवन-संकट का प्रश्न नही, धर्म-सकट का प्रश्न था—

"देहत्यागान्न नो दुःख शासनस्याप्रभावना।'

देहत्याग से उन्हें दुःख नहीं था पर शासन की अप्रभावना पीडित कर रही थी। अतिशय विद्यासंपन्न आर्य खपुट और उनका शिष्य मडल ही इस संकट से जैन सघ को बचा सकता है।

जैन संघ ने भृगुपुर मे दो गीतार्थ स्थविर मुनियो को आचार्य खपुट के पास प्रेषित किया। आर्य खपुट ने समग्र स्थिति को समझा एव प्रतिकारार्थ अपने विद्वान् शिष्य महेन्द्र को वहा भेजा। राजा दाहड की सभा मे ब्राह्मण पण्डितो के सम्मुख मुनि महेन्द्र द्वारा लाल एव धवल कणेर के माध्यम से विद्या-प्रयोग का प्रदर्शन जैन संघ के हित मे हुआ। राजा दाहड ने श्रमण वर्ग के लिए प्रदत्त कठोर आदेश हेतु मुनि महेन्द्र से क्षमायाचना की। बार-बार राजा दाहड़ ने नम्र होकर कहा—

"क्षमस्वैकव्यलीक मे" (२८) (प्रभा० च०, पृ० ३५)।

इस घटना-प्रसंग से जैन दर्शन की महती प्रभावना हुई। राजा दाहड़ और ब्राह्मण वर्ग—दोनो प्रतिबोध को प्राप्त हुए।[९]

कुछ समय के बाद शिष्य भुवन ने भी अपने गुरु के पास आकर स्वकृत अविनय की क्षमा-याचना की और श्रमण सघ मे मिल गया।[१०] गुरु ने भी उसे योग्य समझकर बहुमान दिया। गुणवान्, विनयवान्, चरित्रवान् एवं श्रुतवान्

बनकर भुवन ने संघ को विश्वस्त किया। आचार्य खपुट ने शिष्य भुवन को सूरिपद पर स्थापित कर अनशनपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया।[५] आर्य कालक की भांति अनेक चामत्कारिक घटनाएं खपुटाचार्य के जीवनवृत्त के साथ जुड़ी हुई हैं।

उनके चामत्कारिक प्रसंगो के आधार पर प्रभावक चरित्र आदि साहित्य मे वे सर्वत्र विद्या सिद्ध आचार्य के रूप मे विशेषित हैं। टीकाकार मलयगिरि ने उन्हे विद्या चक्रवर्ती का सम्बोधन देकर अतिशय विद्याओ पर उनका प्रबल आधिपत्य सूचित किया है।[६]

समय-संकेत

खपुट के समय का उल्लेख प्रवचन चरित्र के विजयसिंहसूरि प्रबन्ध मे प्राप्त होता है वह इस प्रकार है :—

श्रीवीरमुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।
वर्षाणां समजायत श्रीमानाचार्य खपुट गुरुः ॥७६॥

(प्रभा० चरित, पृ० ४३)

प्रभावक चरित के उक्त उल्लेखानुसार आचार्य खपुट का समय वी० नि० ४८४ (वि० स० १४) है।

आधार-स्थल

१. अइसेसइड्डि-धम्मकहि-वादि-आयरिय-खमग-णेमित्ती।
विज्जा-राया-गण-समता य तित्थं पभार्वेति ॥३३॥

(निशीथ भाष्य चूर्णि)

२. नेमित्ती अट्ठंग-णिमित्त-संपण्णो।
विज्जासिद्धो जहा अज्जखउडो।

(निशीथ चूर्णि)

३. क्वापि गच्छेऽनेकातिशयलब्धिसम्पन्नाः श्री आर्यखपुटा नाम आचार्य-सम्राज।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध पृ० ९, पंक्ति १६)

४ तदाकर्ण्य नृपो दध्यौ विद्यासिद्धोऽसौ ध्रुवम् ॥१६२॥

(प्रभावक चरित्त, पृ० ३३)

५ राजा प्रबोध्य सद्यः श्रावकः कृतः।

(प्रबन्ध कोष, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ० १०, पंक्ति २५)

६. पूर्णानि तानि भोज्यानामायान्ति गगनाध्वना ।
गुरुभिः कृतयाऽदृश्यशिलया व्योम्नि पुस्फुटुः ।।१७७।।
(प्रभावक चरित्त, पृ० ३४)

७. पतन्ति पात्रेभ्यः शालि-मण्डक-मोदकाद्यंशाश्च लोकस्य मस्तकेषु ।
(प्रबन्धकोष, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति ३)

८. जय जय महर्षिकुलशेखर !—इत्यादि स्तुतीरतनिष्ट ।
(प्रबन्ध कोष, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति ५)

९. प्रतिबोधितो राजा विप्रलोकश्च । एवं प्रभावनाऽभूत् ।
(प्रबन्ध कोष, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति २०)

१०. भुवनोऽपि बौद्धान् परिहृत्य स्वगुरुणां मीलितः ।
(प्रबन्धकोष, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति २१)

११. आर्यखपुटाः सूरिपदं भुवनाय दत्त्वाऽनशनेन द्यामारुरुहुः ।
(प्रबन्ध कोष, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ० ११, पंक्ति २३)

१२ विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि ।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोव्व ।।
(आवश्यक मलय पृ० ५४१)

२७. परोपकारपरायण आचार्य पादलिप्त

आचार्य पादलिप्त चामत्कारिक विद्याओं के स्वामी थे। पैरों पर औषधियो का लेप लगाकर गगन मे यथेच्छ विहरण की उनमे असाधारण क्षमता थी। वे सरस काव्यकार और शातवाहन वंशी राजा हाल की सभा के के अलङ्कार थे।

गुरु परम्परा

आचार्य पादलिप्त के गुरु का नाम नाग हस्ती था। दीक्षा प्रदाता गुरु का नाम सग्रामसिह था और विद्या गुरु का नाम मण्डन था। संग्रामसिह नागहस्ती के गुरु बन्धु थे।

नन्दी पट्टावली और युगप्रधान पट्टावली दोनो मे नागहस्ती का उल्लेख है।

प्रभावक चरित्र पादलिप्त प्रबन्ध के अनुसार नागहस्ती विद्याधर गच्छ के थे। यह विद्याधर गच्छ नमि विनमि विद्याधरो के वंश मे होने वाले कालकाचार्य से सबधित था।[1] "जैन काल गणना" मे प्राप्त उल्लेखानुसार कालकाचार्य से संबंधित विद्याधर गच्छ की बात प्रमाणित नही है। उनके विचारानुसार कालकाचार्य से किसी विद्याधर गच्छ का उद्‌भव नही हुआ है।

आचार्य सुहस्ती की परम्परा मे होने वाले आचार्य सुस्थित के शिष्य विद्याधर गोपालक से विद्याधर शाखा का जन्म हुआ था। यह विद्याधर शाखा आचार्य सुस्थित के कोटिक गण से सबधित थी।

आर्य वज्रसेन के शिष्य आर्य नागेन्द्र से विद्याधर कुल का उद्‌भव हुआ था। आचार्य पादलिप्त के गुरु नागहस्ती का कोटिक गण की विद्याधर शाखा से संबध सभव है। प्राचीन शाखाएं कालान्तर में कुल और तदन्तर गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई।

वज्रसेन के शिष्य मुनि नागेन्द्र से विद्याधर कुल का जन्म आर्यरक्षित के बाद हुआ है। युग प्रधान पट्टावली मे आर्यरक्षित के बाद पुष्यमित्र (दुर्बलिका पुष्य मित्र), उनके बाद वज्रसेन का क्रम है। विद्याधर कुल के प्रवर्तक आर्य नागेन्द्र आर्य वज्रसेन के शिष्य थे। पादलिप्त आर्यरक्षित से

पूर्व हुए हैं। आर्यरक्षित के अनुयोग द्वार मे "तरंग वईकार" के रूप मे आर्य पादलिप्त का उल्लेख है। अतः पादलिप्त के गुरु नागहस्ती का वज्रसेन के शिष्य आर्य नागेन्द्र के विद्याधर कुल से किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य पादलिप्त का जन्म सरयू और गगा के तट पर बसी कौशला (अयोध्या) नगरी मे हुआ। वहां उस समय विजयब्रह्म का राज्य था। पादलिप्त के पिता का नाम फुल्लचंद्र और माता का नाम प्रतिमा था। पादलिप्त के ६ लघु सहोदर थे परन्तु उनके नामो का निर्देश ग्रथों मे नही हैं।

जीवन-वृत्त

पादलिप्त के पिता फुल्लचंद्र कौशला नगरी के विपुल श्रीसंपन्न श्रेष्ठी थे। उनकी पत्नी प्रतिमा रूपवती एवं गुणवती महिला थी। उसकी वाक्-माधुरी के सामने सुधा घूंट भी नीरस प्रतीत होती। विविध गुणों से सम्पन्न होने पर भी निःसंतान होने के कारण प्रतिमा चिन्तित रहती। अनेकविध औषधियो का सेवन तथा नाना प्रकार के जंत्र-मत्र आदि भी उसकी चिन्ता को मिटा न सके। एक बार उसने सतान प्राप्ति हेतु वैरोट्या देवी की आराधना मे अष्ट दिन का तप किया। तप के प्रभाव से देवी प्रकट हुई। उसने कहा—"ज्ञान-सागर, बुद्धि-उजागर, लब्धि-सम्पन्न आचार्य-नागहस्ती के पाद प्रक्षालित उदक का पान करो, उससे तुम्हे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी।"[१]

देवी के मार्ग-दर्शन से प्रतिमा प्रसन्न हुई। वह भक्ति-भरित हृदय से उपाश्रय में पहुंची। आचार्य नागहस्ती के पाद प्रक्षालित उदक की उपलब्धि उसे अपने सम्मुख आते एक मुनि के द्वारा हुई।

चरणोदक पान करने के बाद प्रतिमा ने नागहस्ती के निकट जाकर दर्शन किए। नागहस्ती ने प्रतिमा से कहा—"तुमने मेरे से दस हाथ दूर चरणोदक पान किया है अत· तुम्हें दस पुत्रों की प्राप्ति होगी। उनमे तुम्हारा प्रथम पुत्र तुम्हारे से दस योजन दूर जाकर महान् विकास को प्राप्त होगा। धर्मसंघ की गौरव वृद्धि करेगा एव बृहस्पति के समान वह बुद्धिमान होगा। तुम्हारी अन्य सताने भी यशस्वी होगी।

चम्पक, कुसुम आदि नाना सुमनों के मकरन्द पान से उन्मुक्त मधुपो की ध्वनि के समान गिरा से संभाषण करती हुई प्रतिमा विनम्र होकर बोली—"गुरुदेव, मैं अपनी प्रथम संतान को आपके चरणों में समर्पित करूंगी।" कृतज्ञता ज्ञापन कर महान् आशा के साथ वह अपने घर लौटी। श्रेष्ठी, फुल्लचंद्र

भी पत्नी प्रतिमा से समग्र वृत्तान्त सुन प्रसन्न हुए और गुरुचरणो मे प्रथम संतान को समर्पित कर देने की बात को भी उन्होंने पर्याप्त समर्थन दिया।

काल-मर्यादा संपन्न होने पर प्रतिमा ने कामदेव से भी सुन्दर अधिक रूपसम्पन्न, सूर्य से भी अधिक तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुत्र के गर्भकाल मे प्रतिमा ने नाग का स्वप्न देखा था। स्वप्न के आधार पर पुत्र का नाम नागेन्द्र रखा गया। माता की ममता और पिता के वात्सल्य से परम पुष्टता को प्राप्त बालक दिन-प्रतिदिन विकास को प्राप्त होता रहा एवं परिजनो के स्नेहसिक्त वातावरण मे वह बढ़ता गया।

पुत्र जन्म से पूर्व ही वचनबद्ध होने के कारण प्रतिमा ने अपने पुत्र को नागहस्ती के चरणो मे समर्पित कर दिया। अल्पवय शिशु को नागहस्ती ने प्रतिपालना करने के लिए जननी प्रतिमा के पास ही रखा। आठ वर्ष की अवस्था मे बालक को आर्य नागहस्ती ने अपने संरक्षण मे लिया। मुनि सग्रामसिह नागहस्ती के गुरुबन्धु थे। आर्य नागहस्ती के आदेश से शुभ-मुहूर्त्त मे सग्रामसिहसूरि ने नागेन्द्र को मुनि दीक्षा प्रदान की। मण्डल मुनि की सन्निधि मे बाल मुनि का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।[३] मुनि नागेन्द्र की बुद्धि शीघ्रग्राही थी। एक ही वर्ष में उन्होने व्याकरण, न्याय, दर्शन, प्रमाण आदि विविध विषयो का गंभीर ज्ञान सफलता पूर्वक अर्जन किया।[४]

एक दिन नागेन्द्र जल लाने के लिए गए। गोचरी से निवृत्त होकर वे उपाश्रय मे लौटे और ईर्या-पथिकी आलोचना करने के बाद गुरु के समक्ष उन्होने एक श्लोक बोला—

अंब तं बच्छीए अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए।
नवसालिकंजियं नवबहूइ कुडएण मे दिन्नं ॥३८॥

(प्रभा० च० पृ० २६)

ताम्र की भांति ईषत् रक्ताभ, पुष्पोपम दंतपंक्ति की धारिणी नववधू ने मृण्मय पात्र से यह कांजी जल प्रदान किया।

शिष्य के मुख से शृंगारमयी भाषा मे काव्य को सुनकर गुरु कुपित हुए। रोषारुण स्वरों मे वे बोले—"पलित्तोऽसि" यह शब्द प्राकृत भाषा का रूप है एवं रागाग्नि प्रदीप्त भावो का द्योतक है।

सद्योत्तर प्रतिभा मुनि नागेन्द्र के पास थी। गुरु द्वारा उच्चारित शब्द को अर्थान्तरित कर देने हेतु मुनि नागेन्द्र ने नम्र होकर कहा— 'आर्य ! पलित्त में एक मात्रा बढ़ाकर उसको पालित्त बना देने का मुझे आप द्वारा

प्रसाद प्राप्त हो। मात्रा वृद्धि से पलित्तओ का सस्कृत मे पादलिप्त हो जाता है। पादलिप्त से मुनि नागेन्द्र का तात्पर्य था—

"गगनगमनोपायभूतां पादलेपविद्या मे देहि येनाहं 'पादलिप्तक' इत्यभिधीये।" मुझे गगन गमन मे उपायभूत पादलेप विद्या का दान करें जिससे मैं पादलिप्तक कहलाऊं।

एक मात्रा की वृद्धि मात्र से पलित शब्द को विलक्षण अर्थ प्रदायिनी मुनि नागेन्द्र की प्रज्ञा पर गुरु प्रसन्न हुए। उन्होंने गगन-गामिनी विद्या से विभूषित 'पादलिप्तो भव' का शुभ आशीर्वाद शिष्य को दिया। तब से मुनि नागेन्द्र का नाम पादलिप्त प्रसिद्ध हो गया। इससे पहले मुनि जीवन मे उनके नाम परिवर्तन का निर्देश प्राप्त नही है।

प्रबन्धकोश के अनुसार गुरु नागहस्ती ने मुनि नागेन्द्र को "पादलेप विद्या प्रदत्ता" पादलेप विद्या प्रदान की थी, जिससे बाल मुनि को गगन मे यथेच्छ विहरण करने की क्षमता प्राप्त हो गई थी।

दस वर्ष की अवस्था मे गुरु ने उन्हे आचार्य पद पर नियुक्त किया।[1] आचार्य पादलिप्त के शिशुकाल मे ही गुरु ने उनकी माता से बालक के संघ मुख्य होने का संकेत कर दिया था। गुरु की भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हुई।

धर्मसंघ की प्रभावना के लिए गुरु के आदेश से आर्य पादलिप्त एक बार मथुरा मे गए। कुछ समय तक वहां रहने के बाद उनका मथुरा से पाटलीपुत्र मे पदार्पण हुआ। पाटलीपुत्र का शासन उस समय मुरुण्ड के हाथ मे था।[1] बौद्धिक बल से आर्यपादलिप्त ने नरेश मुरुण्ड को अत्यधिक प्रभावित किया।

एक बार नरेश मुरुण्ड के मस्तिष्क में भयंकर पीड़ा उठी। छह महीने तक अनेक उपचार किए गए पर किसी प्रकार की चिकित्सा वेदना को उपशान्त न कर सकी। राजपरिवार मे निराशा छा गई। मंत्री ने राजा को परामर्श दिया—"नाथ! आपकी वेदना का सफल उपचार आर्य पादलिप्त के मंत्र प्रयोग से सम्भव है।" भूप मुरुण्ड ने तत्काल आर्य पादलिप्त को बुला लाने का आदेश दिया। मत्री आर्य पादलिप्त के पास पहुचा और विनम्र स्वरों मे बोला—

"शिरोर्तिर्निर्वर्त्यताम्, कीर्ति धर्मौ संचीयेताम्"

(प्रबन्धकोश, पृ० १२, पंक्ति २५)

आर्य ! राजा की मस्तिष्क-पीड़ा को दूर कर कीर्ति धर्म का उपार्जन करें। मन्त्री की प्रार्थना को स्वीकार कर पादलिप्त राजदरबार में गए।

प्रदेशिनी अंगुली को अपने जानु पर घुमाकर क्षण-भर में उन्होने राजा के सिर दर्द को उपशान्त कर दिया।* कला-कौशल से किसी भी व्यक्ति को अपना बनाया जा सकता है। पादलिप्त की मन्त्र-विद्या से पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त कर महाराज मुरुण्ड उनके भक्त बन गए।

आर्य पादलिप्त के इस प्रसङ्ग का उल्लेख प्रभावक चरित्र.प्रबन्ध कोश, निशीथभाष्य आदि कई ग्रन्थो मे है। प्रस्तुत घटना से संबंधित प्रसिद्ध दोहा है—

"जह जह पएसिणि जाणुयंमि पालित्तउ भमाडेइ।
तह तह से सिरवियणा पणस्सई मुरुण्डरायस्स ॥"

(प्रभा० चरित्त, पृ० ३०)

इस गाथा की प्रसिद्धि वेदना शामक मन्त्र के रूप मे भी है। नरेश मुरुण्ड एव आर्य पादलिप्त से सबधित इस प्रकार की कई घटनाएं चामत्कारिक एव प्रभावोत्पादक हैं।

विशेषावश्यकभाष्य मे सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमण ने मुरुण्ड राजा और आर्य पादलिप्त से संबधित घटना विशेष का उल्लेख किया है। वह यह है—एक बार नरेश मुरुण्ड ने वार्तालाप के प्रसङ्ग मे आर्य पादलिप्त से प्रश्न किया—हमारे वेतन भोगी कर्मचारी वेतन के अनुसार कार्य सपादन करते हैं। भिक्षावृत्ति के आधार पर जीने वाले आपके शिष्य वेतन-प्रलोभन के बिना भी आपके कार्य को करने के लिए तत्पर रहते हैं। इसका क्या रहस्य है। प्रत्युत्तर मे पादलिप्त बोले—"लोकद्वय हितैषया" "राजन् ! उभय लोक को हित कामना से प्रेरित होकर ये शिष्य गुरु के कार्य को करने के लिए उत्सुक बने रहते हैं।" पादलिप्त के इस उत्तर से मुरुण्ड के मन को समुचित समाधान नही मिला। वे बोले—"लोक प्रवृत्ति का प्रमुख निमित्त वित्त होता है। कहा भी है—"द्रव्यस्था हि जनस्थितिः" सर्वत्र जन प्रवृत्ति धनानुगा दिखाई देती है। कुछ समय तक दोनों मे प्रस्तुत विषय पर चर्चा चली। अपनी-अपनी बात को प्रामाणिक करने के लिए राजा ने अपने प्रधान को और आर्य पादलिप्त ने अपने नव दीक्षित शिष्य को आदेश दिया। वे जांच कर बताएं—गङ्गा किस दिशा की ओर बह रही है। प्रधान की मति बरगला गई। उसने सोचा—बाल मुनि के

साथ में रहने से राजा की बुद्धि भी बाल जैसी हो गई है । प्रस्तुत साधारण प्रश्न का उत्तर तो महिलाएं भी दे सकती हैं । इस प्रकार बुदबुदाता हुआ मंत्री राजा के आदेशानुसार वहां से चला । प्रधान जुए का व्यसनी था । अपने दोस्तो के साथ जुआ खेलने मे समय बिताकर वह राजा के पास पहुंचा और बता दिया कि गङ्गा पूर्वाभिमुखी बह रही है । पर कुछ व्यक्तियो के द्वारा राजा को यह ज्ञात हो गया था कि प्रधान ने राजा के आदेश का ईमानदारी से पालन नही किया है । इधर पादलिप्त का नव दीक्षित शिष्य गङ्गा के तट पर गया व पूरी जाच की । लोगो से भी पूछा । पूरी प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर गुरु के पास आया और विनम्र शब्दो मे गङ्गा के पूर्वाभिमुख बहने की बात कही । स्थिति का यथार्थ ज्ञान होने पर शिष्य के विनय पूर्वक व्यवहार से नरेश मुरुण्ड और आर्य पादलिप्त प्रभावित हुए ।

पाटलीपुत्र से विहार कर आर्य पादलिप्त मथुरा गए तथा वहा से लाट प्रदेशान्तर्गत ओकारपुर पहुंचे । ओकारपुर मे उस समय राजा भीम का राज्य था । विद्वान् आर्य पादलिप्त को नरेश भीम ने बहुमान प्रदान किया ।

आचार्य पादलिप्त की कई इतिहास प्रसिद्ध चामत्कारिक घटनाए ओकारपुर मे घटित हुई थी ।

एक बार आर्य पादलिप्त से प्रभावित होकर लाट देश के पण्डितो ने उनसे पूछा—

पालित्तय ! कहसु फुड सयल महिमडल भमतेण ।
दिट्ठो सुओ कत्थ वि चदणरससीयलो अग्गी ।।

(प्रभा० चरित्त, पृ० ३१)

महिमण्डल पर भ्रमण करते हुए आपने कही अग्नि को चंदन रस के समान शीतल देखा या सुना है ?

पादलिप्त ने त्वरा से काव्यमयी भाषा में उत्तर दिया—

"अयसामिओग संदूमियस्स पूरिसस्स सुद्ध हिययस्स ।
होई वहंतस्स दुह चंदणरस सीयलो अग्गी ।।"

(प्रभा० चरित्त, पृ० ३२)

जो व्यक्ति पवित्र हृदय के हैं उन्हें अपनी अकीर्तिजन्य दुःख के सामने अग्नि भी शीतल चंदन के समान प्रतीत होती है ।

आचार्य पादलिप्त की प्रत्युत्पन्न प्रतिभा का प्रभाव विद्वानो के हृदय में गहरा अंकित हो गया ।

धर्मसंघ के अनुयायियों की प्रार्थना पर आर्य पादलिप्त ने शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। उसके बाद वे मानखेट पुर में गए। मानखेट में उस समय नरेश कृष्ण का राज्य था। आर्य पादलिप्त का राजा कृष्ण ने भक्तिपूर्वक आदर-सत्कार किया। मानखेटपुर में उस समय प्रांशुपुर से रुद्रदेव सूरि और विलासपुर से श्रमणसिंहसूरि आए थे। विलासपुर मे उस समय प्रजापति का शासन था। रुद्रदेवसूरि योनि-प्राभृत के विशिष्ट ज्ञाता थे एव जीवोत्पत्ति के सम्बन्ध का भी उन्हें अधिकृत ज्ञान था। श्रमणसिंहसूरि ज्योतिष विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। नरेश प्रजापति के सामने ज्योतिष विद्या के ज्ञान के बल पर कई आश्चर्यकारक रहस्य उद्घाटित किए थे। इन दोनो विद्वानो के साथ आर्य पादलिप्त के मिलन प्रसङ्ग सम्बन्धी कोई संकेत प्रस्तुत ग्रन्थ मे नही है।

आर्य पादलिप्त के बुद्धिबल एव विद्याबल से नरेश कृष्ण और उसकी सभा के विद्वान् अत्यधिक प्रभावित थे। राजा के आग्रह से आर्य पादलिप्त लम्बे समय तक मानखेट नगर में विराजे थे। एक बार भरुच के श्रावको की प्रार्थना पर आर्य पादलिप्त ने कार्त्तिक पूर्णिमा को वहां पहुंचने का उन्हें वचन दिया।

आर्य महेन्द्र के मन्त्रविद्या प्रयोग से अभिभूत पाटलीपुत्र के ब्राह्मणों को आर्य खपुट ने भरुच मे जैन दीक्षा प्रदान की थी। तब से जाति वैर के कारण भरुच के ब्राह्मण जैन समाज मे प्रतिकूल हो गए थे। उस समय का वैमनस्य ही जैन और ब्राह्मण समाज में विग्रह का कारण बन गया था। आर्य पादलिप्त का भरुच मे यह पदार्पण ब्राह्मणो द्वारा उत्पन्न इस विग्रह को शांत करने के विशेष उद्देश्य से हो रहा था। कार्तिक पूर्णिमा के दिन प्रभात के समय राजा कृष्ण को कह कर आर्य पादलिप्त ने वहा से प्रस्थान किया। गगन मार्ग से वे भरुच पहुचे।

विलक्षण शक्तिसंपन्न महाप्रभावी आर्य पादलिप्त के आगमन से जैन-समाज को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। आर्य पादलिप्त की गगनगामिनी विस्मय-कारक क्षमता से भयभीत होकर विग्रह उत्पन्न करने वाले व्यक्ति वहा से चले गए। भरुच नरेश को भी आर्य पादलिप्त के आगमन से प्रसन्नता हुई।

नरेश ने आर्य पादलिप्त से कहा—"राजाह सुकृती कृष्णः पूज्यैर्यो न विमुच्यते।" कृष्ण नरेश भाग्यशाली हैं जिनको आपका सान्निध्य निरन्तर प्राप्त होता है। अब हमे भी आपके दर्शनो का एव उपासना का अधिक-से-

अधिक लाभ प्राप्त हो।

आर्य पादलिप्त बोले—राजन् ! मैं आज अपराह्न काल मे मानखेट पहुंचने के लिए नरेश कृष्ण के साथ वचनबद्ध हूं। उसके बाद कई स्थानो पर तीर्थ यात्राएं भी मुझे करनी है अत आज ही प्रस्थान कर देना अत्यन्त जरूरी हो गया है। भरुच नरेश की अत्यधिक प्रार्थना पर भी आर्य पादलिप्त नही रुके। वे दिन के पश्चिम भाग मे आकाश मार्ग से मानखेट नगर मे पहुच गए। वहा से पदयात्री बनकर तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। तीर्थयात्रा के इस क्रम मे वे सौराष्ट्र प्रदेशान्तर्गत ढका नामक महापुरी मे पहुचे। वहा उन्हें नागार्जुन शिष्य की उपलब्धि हुई। नागार्जुन क्षत्रिय पुत्र था। उसकी माता का नाम सुव्रता था।

नागार्जुन बलशाली परिश्रमी बालक था। रसायन सिद्धि के प्रयोगो मे और कलाओं के सीखने मे उसकी विशेष रुचि थी। कलाकार वृद्ध पुरुषो से उसने विविध कलाओ का प्रशिक्षण पाया। रसायन विद्या का अनुभव सहित ज्ञान प्राप्त करने के लिए वनो, पर्वतो एव सरिताओ के तटो पर घूमने लगा। जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ" कवि की वह पक्ति नागार्जुन पर पूर्णत: चरितार्थ हुई। पर्वत-शिखरो एव घने जगलो मे उत्पन्न होने वाली जड़ी-बूटियो के रसो का वह विशिष्ट ज्ञाता हो गया। रससिद्धिदायक औषधियो का वह सग्रह करने लगा। गन्धक, अभ्रक, पारा आदि के सत्त्व को जानने म उसकी बुद्धि असाधारण रूप से प्रकट हुई। अभ्यास करते-करते रससिद्धि विद्याओ का वह निष्णात विद्वान् बन गया। सहस्र, लक्ष एव कोटि पुट रसायन तैयार करने की कला मे भी वह निपुण हो गया।

दूर देशान्तर की यात्रा सपन्न कर नागार्जुन ढका पुरी म आया। उस समय पादलिप्त वही विराजमान थे। नागार्जुन आर्य पादलिप्त के विराजने की बात सुनकर प्रमुदित हुआ। आर्य पादलिप्त के पास गगनगामिनी विद्या थी। नागार्जुन इस विद्या को प्राप्त करना चाहता था। अत. पादलिप्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से नागार्जुन ने रसायन से भरा पात्र अपने शिष्य के साथ उनके पास भेजा। शिष्य ने वह रस-कूपिका आर्य पादलिप्त को विनयपूर्वक भेट की। रस कूपिका को हाथ म लेकर पादलिप्त बोले—"नागार्जुन का मेरे साथ इतना स्नेह है जिसने मेरे लिए यह रसायन तैयार किया है।" इतना कहकर वे जोर से हसे और दीवार से टक्कर मारकर रसकूपिका का चूर्ण-चूर्ण कर डाला एव काच-पात्र को स्वमूत्रवण से भरकर

उसी शिष्य के हाथ में थमा दिया। शिष्य ने मन ही मन सोचा—'मेरे गुरु नागार्जुन कितने मूर्ख हैं जो इस स्नेहहीन पादलिप्त से मैत्री करना चाहते हैं।' शिष्य ने प्रश्रवण-भरा वह कांच-पात्र नागार्जुन के सामने ले जाकर रख दिया और बोला—आपके साथ उनकी यह अद्भुत मैत्री है।" कटोरे का ढक्कन उठाकर विद्वान् नागार्जुन ने उसे सूंघा। उसमें भारी दुर्गन्ध फूट रही थी। आर्य पादलिप्त के इस व्यवहार से नागार्जुन कुपित हुए और कांच-पात्र को शिलाखण्ड पर पटक कर फोड़ डाला। नागार्जुन के एक शिष्य ने कुछ समय बाद भोजन पकाने के लिए सहज भाव से वहां अग्नि प्रज्वलित की। अग्नि और प्रश्रवण का संयुक्त योग होते ही शिलाखण्ड स्वर्ण के रूप मे परिवर्तित हो गया। यह बात शिष्य के द्वारा नागार्जुन के पास पहुंची। आर्य पादलिप्त के प्रश्रवण के स्पर्शमात्र से स्वर्णसिद्धि की घटना सुनकर अपनी रसायन विद्या पर गर्व करने वाले रसायनवेत्ता विद्वान् नागार्जुन का गर्व मिट्टी मे मिल गया।

मन ही मन नागार्जुन ने सोचा—

"कास्तेऽत्र चित्रको रक्तः कृष्णमुण्डी च कुत्र सा।
शाकम्भर्याश्च लवणं वज्रकन्दश्च कुत्र च" ॥२७५॥

(प्रभा० च० पृ० ३७)

कहा चित्रावली, कहा कृष्णमुण्डी, कहां शाकम्भरी का लवण, कहां वज्रकन्द आर्य पादलिप्त के सामने मैं क्या हूं? भिक्षा के आधार पर जीवन चलाने और औषधियों का सग्रह करते मेरा यह शरीर म्लान और कृश हो गया है। दरिद्रावस्था मे रहते मेरी सिद्धि का क्या मूल्य है? धन्य है ये पादलिप्त जो गगनगामिनी विद्या से सम्पन्न है एवं मिट्टी को भी सोना बना देते हैं।

विद्वान् नागार्जुन आर्य पादलिप्त के पास गया और विनयपूर्वक बोला—मनीषीवर! आप देहसिद्ध योगी हैं। आपकी विद्याओ के सामने मेरी रससिद्धि विद्या का अभिमान विगलित हो गया है। अब मैं सदा आपके पास रहना चाहता हूं। मिष्ठान्न मिलने पर सामान्य भोजन की कौन इच्छा रखता है?

गगनगामिनी विद्या प्राप्त करने का अभिलाषी विद्वान् नागार्जुन आर्य पादलिप्त की सन्निधि मे रहने लगा।[6] वह प्रशान्त भाव से उनकी देह-शुश्रूषा एवं चरण प्रक्षालन का कार्य करता था। आर्य पादलिप्त पैरो पर लेप लगा-

कर तीर्थभूमिक गिरिशृंगो पर प्रतिदिन गगन मार्ग से आते-जाते थे। उनके आवागमन का यह कार्य एक मुहूर्त्त मे सम्पन्न हो जाता था। विद्याचरण लब्धि के धारक साधको की-सी क्षमता आर्य पादलिप्त मे थी। आर्य नागार्जुन उनके पादप्रक्षालित उदक के वर्ण-गध-स्वाद आदि को समझकर, सूघकर और चखकर १०७ द्रव्यो का ज्ञाता हो गया।' आर्य पादलिप्त की भांति विद्वान् नागार्जुन भी पैरो पर लेप लगाकर आकाश मे उडता, पर पूर्ण ज्ञान के अभाव मे वह ताम्र चूड़ पक्षी की तरह थोड़ी ऊचाई पर जाकर नीचे गिर पडता और घायल हो जाता था। पैरो के घाव को देखकर आर्य पादलिप्त विद्वान् नागार्जुन की असफलता का कारण समझ गए और उनसे बोले—"कुशल मनीषी ! तुम्हारी इस अपूर्णता का कारण गुरुगम्य ज्ञान का अभाव है। गुरु के मार्गदर्शन के बिना कला फलवान नही बनती' ज्ञान-प्राप्ति की दिशा मे अह का साथ नही निभता।" नागार्जुन बोला—देव ! आपका वचन प्रमाण है। गुरु के मार्ग-दर्शन के बिना सिद्धि की प्राप्ति नही होती। यह मैं भी जानता हू, पर मैं अपने बुद्धि-बल की परीक्षा कर रहा था। आर्य पादलिप्त नागार्जुन की सरलता पर प्रसन्न हुए और बोले—नागार्जुन ! मै न तो तुम्हारी रससिद्धि से सन्तुष्ट हूं और न वन्य प्रकार की सेवा-शुश्रूषा से, पर तुम्हारे प्रज्ञाबल पर मुझे सन्तोष हुआ है। मै तुझे विद्यादान करूगा। तू मुझे गुरु दक्षिणा मे क्या देगा ? नागार्जुन ने झुककर कहा—जो आप कहे, मैं उसके लिए तैयार हू। आर्य पादलिप्त ने नागार्जुन को जैन मत स्वीकार करने का उपदेश दिया। विद्वान् नागार्जुन ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उदारवृत्तिक आर्य पादलिप्त ने पादलेप विद्या का समग्रता से बोध देते हुए कहा—

"आरनालविनिर्धौततन्दुलामलवारिणा।
पिष्ट्वौषधानि पादौ च लिप्त्वा व्यामाध्वगो भव" ॥२६७॥
(प्रभा० च० पृ० ३८)

शिष्य ! तुम्हे एक सौ सात औषधियो का ज्ञान उपलब्ध है। इनके साथ काजीजल मिश्रित साठी तन्दुल का लेप करो। तुम निर्बाध गति से गगन यात्रा कर सकोगे।" गुरु के मार्ग-दर्शन से नागार्जुन को अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

आर्य पादलिप्त को धर्म-प्रचार मे विद्वान् शिष्य नागार्जुन का अत्यधिक सहयोग मिला। आर्य नागार्जुन ने आचार्य पादलिप्त का अपने पर

महान् उपकार माना है। उनकी पावन स्मृति मे आर्य नागार्जुन की प्रेरणा से शत्रुञ्जय पर्वत की तलहटी में बसे, नगर का नाम पादलिप्तपुर (पालिताणय) रखा गया था और इसी पर्वत के शिखर भाग पर निर्मित मन्दिर में वीर प्रतिमा के समक्ष आर्य पादलिप्त ने दो पद्यो के द्वारा स्तुति की थी। उन गाथाओ में सुवर्ण-सिद्धि और आकाश-गामिनी विद्या का गुप्त संकेत था और वह आज भी गुप्त है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग से सम्बन्धित उल्लेख प्रभावक चरित्र ग्रन्थ मे इस प्रकार है—

कृतज्ञेन ततस्तेन विमलाद्रेरुपन्यकाम्।
गत्वा समृद्धिभाक् चक्रे पादलिप्ताभिधं पुरम् ॥२९९॥
श्री पादलिप्तसूरिश्च श्री वीरपुरतः स्थितः।
स्तवं चक्रे वरं 'गाहाजुयलेणे' ति संज्ञितम् ॥३०२॥
गाथाभिश्चेति सौवर्ण-व्योमसिद्धि सुगोपिते।
प्रभुर्जजल्प नाभाग्याः प्रबुध्यन्तेऽधुनातमाः ॥३०३॥

(प्रभावक चरित्र—पादलिप्त सूरि प्रबन्ध पृ० ३८)

पादलिप्तसूरि ने विद्वान् शिष्य नागार्जुन के सामने द्वारका का जैसा वर्णन किया था उसी वर्णन के अनुरूप नागार्जुन ने गिरनार पर्वत के निम्न भाग मे द्वारका के महल बनाए तथा उन महलो मे दशार्हमण्डप, उग्रसेन के भवन, राजीमति के विवाह-वेदिका एवं वैराग्य प्राप्त नेमिनाथ भगवान् का पाणिग्रहण किए बिना ही वापस लौट जाने के दृश्य बताए गए थे।

प्रस्तुत प्रकरण से सम्बन्धित पद्य इस प्रकार है—

तथा रवैतकक्ष्माभृदधोदुर्गसमीपतः।
श्री नेमिचरितं श्रुत्वा तादृशाप्तप्रभोमुखात् ॥३०४॥
कौतुकात् तादृश सर्वमावासादि व्यधादसौ।
दशार्हमण्डप श्रीमदुग्रसेननृपालयम् ॥३०५॥
विवाहादिव्यवस्थां च वेदिकाया व्यधात् तदा।
अद्यापि धार्मिकैस्तत्र गतैस्तत् प्रेक्ष्यतेऽखिलम् ॥३०६॥

(प्रभावक चरित्र—पादलिप्तसूरि प्रबन्ध पृ० ३८)

नागार्जुन पादलिप्तसूरि के गृहस्थ शिष्य थे। नागार्जुन ने भी योगरत्नावली, योगरत्नमाला आदि ग्रन्थो की रचना की थी ऐसा माना गया है पर प्रभावक चरित्र ग्रन्थ मे इस सम्बन्ध का उल्लेख नही है।

एक बार आर्य पादलिप्त पृथ्वी प्रतिष्ठानपुर मे उस समय राजा शातवाहन का राज्य था। आर्य पादलिप्त के पादार्पण से पूर्व शातवाहन की सभा में चार कवि आए थे। चारो कवियो ने मिलकर राजा को एक श्लोक सुनाया था—

"जीर्णे भोजन मात्रेय:, कपिल. प्राणिनां दया।
बृहस्पतिरविश्वास., पाञ्चाल. स्त्रीषु मार्दवम्" ॥३२०॥
(प्रभा० च० पृ० ३९)

आत्रेय ऋषि ने भूख लगने पर भोजन ग्रहण करने की बात कही है। कपिल ने प्राणियों पर दया भाव रखने का आदेश दिया है। बृहस्पति ने स्त्रियो पर विश्वास न रखने का परामर्श दिया है एव पाञ्चाल ने महिलाओ के साथ मृदु व्यवहार करने की शिक्षा दी है।

प्रस्तुत पद्य को सुनकर शातवाहन की सभा के सभी सदस्यो ने चारो कवियो की भूरि-भूरि प्रशसा की। भोगवती नामक गणिका सर्वथा मौन थी। उसने प्रशंसा में एक शब्द भी नही बोला। राजा ने गणिका से कहा—"तुम भी अपने विचार प्रकट करो।" तब भोगवती बोली—गगनविद्या से सपन्न विद्या सिद्ध विद्वान् पादलिप्त के सिवाय मैं किसी अन्य विद्वान् की स्तुति नही करती। आज उनके तुल्य संसार मे कोई अन्य विद्वान् नही है।

धरती पर सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। वहा आर्य पादलिप्त के गुणो से ईर्ष्या रखने वाला शकर नामक व्यक्ति उपस्थित था उसने कहा— आर्य पादलिप्त मृत को भी पुनर्जीवित कर सकते है। प्रत्युत्तर मे गणिका ने दृढ स्वर से कहा—"ऐसा भी सम्भव है।" भोगवती गणिका के द्वारा आर्य पादलिप्त की प्रशसा सुनकर नरेश शातवाहन मे उनसे मिलने की उत्सुकता बढ़ गई।

आर्य पादलिप्त के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त कर शातवाहन नरेश ने मानखेट के भूपति कृष्ण के पास आर्य पादलिप्त को अपने यहां भेजने का निमन्त्रण भेजा। नरेश शातवाहन की प्रार्थना पर गंभीरता पूर्वक विचार कर आर्य पादलिप्त ने पृथ्वी प्रतिष्ठानपुर की ओर प्रस्थान किया। मार्गवर्ती दूरी को अतिशीघ्रता से पारकर वे प्रतिष्ठानपुर के बाहर उद्यान मे आकर रुके। आर्य पादलिप्त के आगमन की चर्चा वहां के दानवीर शासक शातवाहन की विद्वद्मण्डली मे चली। पण्डितो ने शरत्कालीन सघन (जमा हुआ) घृत से भरा कटोरा एक व्यक्ति के साथ उनके सम्मुख भेजा। आचार्य पादलिप्त

तीक्ष्ण प्रतिभा के धनी थे। वे विद्वानों की भावना को भाप गए। उन्होने घृत मे सूई डालकर कटोरे को लौटा दिया। विद्वानो का अभिप्राय था—

"एवमेतन्नगरं विदुषां पूर्णमास्ते, यथा घृतस्य पात्रं तस्माद्विमृश्य प्रवेष्टव्यम्।"

(प्रबन्ध कोश, पृ० १४, पंक्ति १४)

—शातवाहन की नगरी घृत से भरे कटोरे की भांति विद्वानो से भरी है। इस बात का नगरी मे प्रवेश करने से पहले भली-भांति चिन्तन कर लें।

आचार्य पादलिप्त का उत्तर था—

"घृत से भरे कटोरे मे जैसे सूई समा गई है, वैसे ही विद्वानो से मण्डित शासक शातवाहन की नगरी मे मैं प्रवेश पा सकूंगा।" आचार्य पादलिप्त की विद्वता का शातवाहन की विद्वत्मण्डली पर अत्यधिक प्रभाव हुआ।

प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के अनुसार पादलिप्त के बुद्धिबल की परीक्षा हेतु विद्वान् बृहस्पति ने उष्ण घृत से भरा कटोरा उनके सम्मुख भेजा। धारिणी विद्या के द्वारा आर्य पादलिप्त ने घृत मे सुई को ऊर्ध्व स्थिति मे स्थापित कर कटोरे को वापिस लौटा दिया। आर्य पादलिप्त के विस्मय कारक विद्या बल को जानकर विद्वान् बृहस्पति हतप्रभ हो गया।

नगर प्रवेश के समय विद्वद्वर्ग सहित शातवाहन नरेश ने आर्य पादलिप्त का स्वागत किया एवं प्रवेशमहोत्सव मनाया।

एक बार आर्य पादलिप्त ने 'तरङ्गलोला' (तरंगवती) नामक एक चम्पू काव्य की रचना कर राजा शातवाहन की विद्वद्सभा मे उसका व्याख्यान किया। काव्य सुनकर राजा तुष्ट हुआ। कवीन्द्र के नाम से आर्य पादलिप्त की ख्याति हुई। कवियो ने भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। राजसम्मानिता-गुणज्ञा गणिका ने उनकी स्तवना में एक शब्द भी न कहा। राजा शातवाहन पादलिप्त से बोले—"तत्क्रियतां येन स्तुतेः।" आर्य ऐसा उपक्रम करें जिससे यह गणिका भी आपके इस काव्य की स्तुति मे हमारे साथ हो। प्रभावक चरित्र के अनुसार गणिका के स्थान पर पांचाल कवि का उल्लेख है। आचार्य पादलिप्त के काव्य श्रवण से सब संतुष्ट थे, पर असूयाक्रांत पांचाल कवि प्रसन्न नहीं था। वह इस उत्तम काव्य मे भी दोषो को आरोपित करता हुआ बोला—

मद्ग्रन्थेभ्यो मुषित्वार्थबिन्दु कथेयमग्रथि।
बालगोपाङ्गनारङ्गसङ्गि ह्योतद्वचः सदा॥३३४॥

(प्रभा० च० पृ० ३६)

मेरे ही ग्रंथो से अर्थ चोरी कर कथा क्या कन्था (गुदडी) रची है। ऐसे प्राकृत के साधारण वचन बालगोपाल को ही प्रभावित करने मे समर्थ हैं। इमसे विद्वानों का चित्त आकृष्ट नही हो सकता। ऐसी कथाओ की स्तवना करना भोगवती गणिका के लिए ही शोभा देती है।

आचार्य पादलिप्त कवि ही नही थे, चामत्कारिक विद्याओ पर भी उनका प्रभाव था। वे उपाश्रय मे गए एवं पवनजय मंत्र विद्या के सामर्थ्य से श्वास की गति का अवरोध कर पूर्ण निश्चेष्ट हो गए। उनकी कपट पूर्ण मृत्यु भी यथार्थ मृत्यु की प्रतीति करा रही थी। सर्वत्र हाहाकार फूट पडा। वाद्यो की ध्वनि का शवयान नगर के प्रमुख मार्गो से ले जाया जा रहा था। आर्य पादलिप्त उठ रहे थे। शव यात्रा पाचाल कवि के द्वार तक पहुची। आचार्य पादलिप्त को शवयान मे देखते ही शोक पूरित कवि पांचाल रो पडा और बोला—

आकर. सर्वशास्त्राणा रत्नानामिव सागर ।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥
(प्रभा० चरित, पृ० ३६)

—रत्नाकर की भाति समग्र शास्त्रो के आकर महासिद्धि पात्र आचार्य पादलिप्त थे। ईर्ष्यावश मैं उनके गुणो से भी परितुष्ट नही हुआ। मेरे जैसे असूयी व्यक्ति को कभी मोक्ष की प्राप्ति नही होगी। आचार्य पादलिप्त उच्च कोटि के कवि थे।

सीस कहवि न फुट्ट जमस्स पालित्तयं हरंतस्स ।
जस्स मुहनिज्झराओ तरगलोला नई वूढा ॥
(प्रभा० चरित, पृ० ३६)

—जिनके मुख निर्झर से 'तरग लोला' नदी प्रभावित हुई उन पादलिप्त के प्राणो का हरण करने वाले यमराज का सिर फूटकर दो टूक क्यो न हो गया।

कवि पाचाल के मुख से अपनी प्रशसा सुनकर आचार्य पादलिप्त उठ बैठे और बोले—"मैं कविजी के सत्य वचन के प्रयोग से जीवित हो गया हू।" आचार्य पादलिप्त मे प्राणशक्ति का सचार देखकर सभी के मुख कमल-दल की भांति मुस्करा उठे।

प्रबन्ध-कोप के अनुसार इस विस्मय कारक घटना को देखकर गणिका बोली—"मुने ! आप मरकर भी हमारे मुख से स्तुति पाठ करवाते हैं।"

पादलिप्त ने कहा—"पचम वेद का सगान मृत्यु के बाद ही होता

है।" आचार्य पादलिप्त के इस उत्तर से शोकपूरित वातावरण खिलखिला उठा।

मुनिचन्द्र सूरि के शब्दो मे पादलिप्त सूरि ज्ञान के सागर थे अमम चरित्र ग्रंथ में वे लिखते हैं—

पालित्तसूरिः स श्रीमानपूर्वः श्रुतसागर.।
यस्मात्तरंगवत्याख्य कथास्त्रोतो विनिर्ययौ ॥

पादलिप्तसूरि के श्रुतसागर से तरङ्गवती काव्य का स्रोत प्रवाहित हुआ है।

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार पादलिप्तसूरि ने खपुटाचार्य के पास विद्याभ्यास किया था पर यह बात कालक्रम के संदर्भ मे ठीक नही है। पादलिप्त और खपुटाचार्य के मध्य लगभग दो शतक से भी अधिक समय का अन्तराल है।

नरेश शातवाहन ने मत्री के सहयोग से भरौच नरेश बलमित्र और भानुमित्र को पराजित कर विजय की वरमाला पहनी थी। शातवाहन के मत्री को प्रभावक चरित्र ग्रन्थ मे पादलिप्त सूरि का शिष्य बताया गया है पर यह प्रसङ्ग भी ऐतिहासिक सदर्भ मे सङ्गत प्रतीत नही होता। भरौच नरेश बलमित्र और भानुमित्र दोनो कालकाचार्य के भागिनेय थे। अतः उनका राज्य कालकाचार्य के समय मे सिद्ध होता है। खपुटाचार्य के समय मे बलमित्र और भानुमित्र के राज्य का सध्याकाल था एवं नभसेन का शासन प्रारम्भ होने जा रहा था। ऐसी स्थिति मे कालक और खपुटाचार्य के समय में होने वाले बलमित्र-भानुमित्र को पादलिप्त के समय मे मानना विशेष समालोच्य बन जाता है।

साहित्य

आचार्य पादलिप्त अपने युग के विश्रुत विद्वान् थे। वह युग प्राकृत का उत्कर्ष काल था। आचार्य पादलिप्त ने 'तरंगवई' (तरङ्गवती) कथा का निर्माण प्राकृत भाषा मे किया। निर्वाणकलिका और प्रश्न प्रकाश नामक कृतियो के रचनाकार भी आचार्य पादलिप्त थे। इन तीनो कृतियो का संक्षिप्त वर्णन यह है :—

तरंगवई (तरङ्गवती)

तरङ्गवती कथा आचार्य पादलिप्त की सरस प्राकृत रचना है। जैन

प्राकृत कथा साहित्य का यह आदि स्रोत भी है। अनेक जैन विद्वान् आचार्यों ने इस कथा का अपने ग्रन्थो मे विशेष उल्लेख किया है। आचार्य शीलाङ्क 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं :—

"सा णत्थि कला त णत्थि लक्खणं जं न दीसइ फुडत्थं।
पालित्तयाइविरइयतरंगमइयासु य कहासु ॥१२३॥"

पृ० ३८

कलाशास्त्र और लक्षणशास्त्र का सर्वाङ्ग विवेचन इस कथा मे है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य मे वासवदत्ता कथा के साथ इसका उल्लेख किया है। आगम साहित्य और चूर्णि साहित्य मे भी इस कथा का उल्लेख है। निशीथ चूर्णिकार ने इस कथा को लोकोत्तर धर्मकथा का रूप दिया है।

तरङ्गलोला ग्रन्थ के रचनाकार नेमिचद्रगणी के मतानुसार तरङ्गवती कथा जन भोग्य नही, विद्वद् योग्य थी। गहन युगलो और दुर्गम षट्कलो के कारण यह अतिशय गभीर कृति थी। सामान्य मनुष्यो के लिए इस कथा को समझ पाना अत्यन्त कठिन था।

तरङ्गवती कृति के आधार पर ही नेमिचद्र गणी ने १६४२ गाथाओ मे तरङ्गलोला कृति का निर्माण किया था।

शातवाहन वंशी राजा हाल के द्वारा सकलित 'गाथा सप्तति' नामक कृति मे वृहद्कथा के रचनाकार गुणाढ्य और पादलिप्त की रचनाओ का भी उपयोग किया गया था।

निर्वाणकलिका और प्रश्न-प्रकाश

निर्वाणकलिका को दीक्षा और प्रतिष्ठा विधि विषयक तथा प्रश्न प्रकाश को ज्योतिष विषयक ग्रन्थ माना गया है। प्रभावक चरित्र आदि ग्रन्थों में आचार्य पादलिप्त के तीन उक्त ग्रंथो का ही उल्लेख है। चूर्णि साहित्य मे आचार्य पादलिप्त के कालज्ञान नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

विद्याबल का प्रभाव

आचार्य पादलिप्त के जीवन प्रसङ्गों से स्पष्ट है—मन्त्र विद्याओं का आचार्य पादलिप्त के पास अतिशय बल था। पारस पत्थर से लोहा सोना बन जाता है। पादलिप्त के द्वारा मन्त्रित प्रश्रवण आदि के स्पर्श से भी प्रस्तर के खण्ड स्वर्ण रूप मे परिवर्तित हो जाता था। पारस पुरुष विशेषण आचार्य

पादलिप्त की इस क्षमता की अभिव्यक्ति के साथ उनकी अन्य अन्तरङ्ग क्षमताओ का द्योतक भी है ।

मन्त्र विद्या का प्रयोग कर पादलिप्तसूरि ने मुरुण्ड आदि राजाओं को धर्म प्रचार कार्य मे सहयोगी बनाया एवं आश्चर्यजनक कवित्व शक्ति के द्वारा उन्होने विद्वद्जनो में आदर पाया था । पादलिप्तसूरि के सम्बन्ध में उद्द्योतन सूरि लिखते है .—

णिम्मलमणेण गुणगरुयएण परमत्थरयणसारेण ।
पालित्तएण हालो हारेण व सोहई गोट्ठीसु ।।
(कुवलयमाला-प्रारम्भ)

शातवाहन के राजा हाल की विद्वद्गोष्ठियो मे आचार्य पादलिप्त गलहार के समान सुशोभित हुए थे ।

समय-संकेत

आचार्य पादलिप्त के दीक्षा गुरु नागहस्ती थे । नागहस्ती का समय वी० नि० ६२१ से ६८६ (वि० सं० १५१ से २१६) माना है । आर्य पादलिप्त को १० वर्ष की अवस्था मे नागहस्ती सूरि ने आचार्य पद पर नियुक्त किया था । अत: आर्य पादलिप्त के समय वी० नि० की ७ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध (वि० की तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध) सिद्ध होता है । प्रो० लॉयमन ने आचार्य पादलिप्त का समय ईस्वी सन् दूसरी, तीसरी शताब्दी माना है । इस आधार पर भी आचार्य पादलिप्त वी० नि० की ७ वीं ८ वी (वि० की तृतीय) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते है ।

आधार-स्थल

१. अथो फणीन्द्रकान्ताङसावादिदेश सुते ! शृणु ।
पुरा नमि-विनम्याख्यविद्याधरवरान्वये ।।१४।।
आसीत् कालिकसूरिः श्रीश्रुताम्भोनिधिपारगः ।
गच्छे विद्याधराख्यस्यार्यनागहस्तिसूरयः ।।१५।।
(प्रभावक चरित, पृ० २८, पंक्ति १४-१५)

२ श्री कालिकाचार्यसन्ताने विद्याधरगच्छे श्रुतसमुद्रपारग—श्री आचार्यनागहस्तिगुरुणामनेकलब्धिवतां पुत्रेच्छया पादप्रक्षालनजलं पिब ।
(पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ९२, पंक्ति १५)

३ गुरुभिरागत्याष्टमे वर्षे दीक्षितः । मण्डनाभिधस्य मुनेः पार्श्वे पाठितः ।
(प्रबन्ध कोश, पृ० स० १२)

४. लसल्लक्षण-साहित्य-प्रमाण-समयादिभिः ।
शास्त्रैरनुपमो जज्ञे विज्ञेशो वर्षमध्यत. ।।३४।।
(प्रभावक चरित, पृ० २६)

५ इत्यसौ दशमे वर्षे गुरुभिर्गुरुगौरवात् ।
प्रत्यष्ठाप्यत पट्टे स्वे कपपट्टे प्रभावताम् ।।४२।।
(प्रभावक चरित, पृष्ठ २६)

६ दिनानि कतिचित् तत्र स्थित्वाऽसौ पाटलीपुरे ।
जगाम तत्र राजास्ति मुरुण्डो नाम विश्रुत: ।।४४।।
(प्रभावक चरित, पृ० २६)

७. तत सूरीन्द्रो राजकुलं गत्वा मन्त्रशक्त्याक्षणमात्रेण-शिरोर्तिमपहर-ति स्म ।
(प्रबन्धकोश, पृ० १२ पंक्ति २६)

८ स च विद्याध्ययनार्थं पादलिप्तकपुरे पादलिप्ताचार्य विद्यार्थी सेवते ।
(पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ६१, पक्ति ११)

६. आगतानां नागार्जुनश्चरणक्षालनं कृत्वा स्वाद-वर्ण गधादिभि. सप्तो-त्तरं शतमौषधानाममीलयत् ।
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० ६१, पक्ति १३)

१० गुरुभिरुक्तम्—गुरुन् बिना कलाः कथं फलदा स्यु ।
(पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ६१, पक्ति १५)

११ आरनालमिश्रतन्दुलैनैकेनौषधानि पिष्ट्वा पादलेपे स्वगमनसिद्धि. ।
(पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ६४, पंक्ति ३,४)

२८. विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी

आचार्य वज्रस्वामी का जन्म विलक्षण विशेषताओं से मण्डित था। जन्म के दिन ही महिलाओ की चर्चा सुनकर उनको जाति स्मरण ज्ञान उपलब्ध हुआ। शैशवकाल मे भी उनका मानस विरक्ति के झूले मे झूलता रहा। दुग्धपान के साथ एकादशांगी का अमृतपान कर वे अध्यात्म पोष को प्राप्त हुए। गृहस्थ जीवन मे भी दीक्षा गुरु द्वारा उनका नामकरण हुआ। तीन वर्ष की अवस्था मे भी मातृ-वात्सल्य को ठुकराकर साधु-सगति से प्यार किया। आठ वर्ष की अवस्था मे वे त्याग के पथ पर बढ चले। रूपश्री और वाग्माधुर्य पर मुग्ध श्रेष्ठी-पुत्री रुक्मिणी को संयम मार्ग की पथिका बनाने का श्रेय भी उनको है। आचार्यों की परम्परा मे वज्रस्वामी अन्तिम दसपूर्वधर थे एव गगन गामिनी विद्या के उद्धारक थे।[1]

गुरु-शिष्य-परम्परा

वज्रस्वामी के गुरु सिंहगिरि थे। सिंहगिरि आर्य सुहस्ती की परपरा से सम्बन्धित कोटिकगण के आचार्य थे। आचार्य सुहस्ती की गणाचार्य की परपरा मे आर्य इन्द्रदिन्न के पश्चात् आर्यदिन्न हुए। आर्यदिन्न के दो मुख्य शिष्य थे—आर्य शान्ति श्रेणिक और आर्य सिंहगिरि। शान्ति श्रेणिक के मुख्य चार शिष्य थे—श्रेणिक, तापसी, कुबेर, ऋषिपालित। इन चारो शिष्यो से क्रमश श्रेणिया, तापसी, कुबेरी, इसी पालिया शाखा का उद्‌भव हुआ। आर्य सिंहगिरि आर्य दिन्न के पश्चात् गणाचार्य के रूप मे नियुक्त हुए। गणाचार्य सिंहगिरि के शिष्य वज्रस्वामी थे। आर्य सुहस्ती की गणाचार्य की परम्परा कल्पसूत्र-स्थविरावली मे प्रस्तुत है।

आर्य सिंहगिरि के प्रमुख चार शिष्य थे। आर्य समित, आर्य धनगिरि, आर्य वज्र, आर्य अर्हद्दत्त।[2] आर्य धनगिरि के पुत्र वज्रस्वामी थे और आर्य समित के धनगिरि बहनोई थे। इन चारो मे वज्रस्वामी की ख्याति युग-प्रधानाचार्य के रूप में हुई थी। दीक्षा पर्याय में कनिष्ठ होते हुए भी युगप्रधान होने के कारण कल्प स्थविरावली में आर्य वज्र का नाम आर्य समित से पहले

आया है।

वज्रस्वामी के पाच सौ श्रमणो का परिवार था, उनमे तीन प्रमुख थे[1]—वज्रसेन, पद्म, आर्यरथ। वज्रसेन इनमे ज्येष्ठ थे।

जन्म एवं परिवार

वज्रस्वामी का जन्म वी० नि० ४९६ (नि० स० २६) वैश्य परिवार मे हुआ। अवन्ति प्रदेशान्तर्गत तुम्बवन नामक नगर उनका जन्म स्थल था। वज्रस्वामी के पितामह का नाम धन और पिता का नाम धनगिरि था। श्वसुर का नाम धनपाल और पत्नी का नाम सुनन्दा था। पत्नी के भाई का नाम समित था। समित और धनगिरि दोनो मित्र थे। समित की दीक्षा आर्य सिंहगिरि के पास धनगिरि का सुनन्दा से सम्बन्ध होने से पहले ही हो गई थी।

जीवन वृत्त

आर्य वज्र का जन्मस्थल तुम्बवन ग्राम तत्कालीन व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। समृद्ध नगरो मे इसकी गणना थी। इसकी शोभा स्वर्ग को भी अभिभूत कर रही थी।

वज्रस्वामी के पितामह श्रेष्ठीधन तुम्बवन ग्राम के ख्याति प्राप्त दानवीर थे। उनके द्वार पर आया हुआ याचक खाली नहीं लौटता था। प्रभाचन्द्राचार्य की कल्पना के अनुसार श्रेष्ठीधन की दानवीरता से पराजित होकर कामधेनु और कल्पवृक्ष ने स्वर्ग का आश्रय ग्रहण कर लिया था।

उदारमना श्रेष्ठीधन के पुत्र का नाम धनगिरि और उनके पुत्र का नाम वज्र था। पूर्व पुण्योदय से श्रेष्ठीकुमार धनगिरि को धन सम्पदा की भांति अनुपम रूप सम्पदा भी प्राप्त थी पर विवेकी बालक धनगिरि को न धन संपदा का गर्व था और न रूप संपदा का। न भोगों में रस था, न घर मे आकर्षण।

रूपश्री और धनश्री—दोनो मे कोई भी धनगिरि की दृष्टि को भ्रांत न कर सकी। विवाह संबंध हो जाने पर भी श्रेष्ठीपुत्र का चिन्तन संयमी जीवन को ओर आकृष्ट था। एक दिन युवा धनगिरि ने वैराग्य-वृत्ति से भोगो को ठुकरा कर मुनिजीवन मे प्रवेश पाया। उस समय पुत्र वज्र गर्भावस्था मे था। एक दिन पुत्र वज्र भी पिता के मार्ग का अनुसरण करने मे सफल हुआ। न पत्नी के यौवन की मादकता पति धनगिरि के चरणों को रोक सकी

और न मां की ममता पुत्र वज्र को बांध सकी। धनगिरि और वज्र दोनों संयम पथ के पथिक बने। दोनो का दीक्षा प्रसङ्ग अत्यन्त रोचक और मार्मिक है। वह इस प्रकार है—

श्रेष्ठिपुत्र धनगिरि का बाल्यकाल आनन्द से बीता। माता की अपार ममता और पिता का असीम वात्सल्य उन्हें प्राप्त था। घर मे सब प्रकार से सम्पन्नता थी पर धनगिरि का मन कर्दम मे कमल की भांति सांसारिक विषयों से सहज निर्लिप्त था। उसी नगर मे लक्ष्मी-स्वामी धनपाल रहता था। वह प्रसिद्ध व्यापारी था। धनपाल के पुत्र का नाम समित था एव पुत्री का नाम सुनन्दा था। धनगिरि की भांति समित भी भोगो के प्रति अनासक्त था। श्रुत मलयाचल आर्य सिंहगिरि के आगमन पर परम वैराग्य को प्राप्त समित ने उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण की। गुणवती सुनन्दा धनपाल की सुयोग्य रूपवती कन्या थी। धनपाल को पुत्री के विवाह की चिन्ता का भार अधिक समय तक वहन करना नही पड़ा। सुनन्दा धनगिरि के रूप और गुणो पर मुग्ध थी। उसने एक दिन अपने विचार पिता के सम्मुख प्रस्तुत किए और कहा—"आप मुझे श्रेष्ठिपुत्र धनगिरि को प्रदान कर दे।"[१] उस युग मे भी लड़कियां सम्भवत वर-चुनाव मे स्वतन्त्र थी। धनपाल ने भी पुत्री के विचारो को ठीक समझा। धनगिरि से इस संबध की बातचीत की। उसने अपनी रूपवती कन्या सुनन्दा से पाणिग्रहण करने के लिए उससे आग्रह किया। प्रभावक चरित्र के अनुसार सुनन्दा ने अपनी ओर से किसी भी प्रकार का विचार पिता के समक्ष प्रकट नही किया था। धनपाल ने ही यह संबंध ठीक समझकर धनगिरि से अपनी कन्या के साथ पाणिग्रहण का आग्रह किया था।

धनगिरि का मन पहले से ही सहज विरक्त था। दामाद बनाने को उत्सुक श्रेष्ठी धनपाल से प्रत्युत्तर मे कहा—

"सुहृदां सुहृदा किं स्याद् बन्धन कर्तुमौचिती।"

अपने ही मित्रजनो को भव भ्रामक बन्धन मे डालना स्वजनो के लिए कहां तक समीचीन है? धनगिरि की प्रश्नात्मक शैली मे उपदेशमयी भाषा सुनकर श्रेष्ठी धनपाल गभीर हुआ और आध्यात्मिक भावभूमि पर भावो को अभिव्यक्ति देता हुआ बोला—"कर्मों के विपाक भोगने के लिए भवार्णवपारगामी तीर्थङ्कर ऋषभ प्रभु ने भी सांसारिक बन्धन को स्वीकार किया था अतः मेरी बात किसी प्रकार से अनुचित नहीं है।" नारी को बन्धन मानते हुए भी धनगिरि श्रेष्ठी धनपाल के आग्रह को टाल न सके। उन्होंने अन्यमनस्क भाव

से उनके निवेदन की मौन स्वीकृति प्रदान की।

शुभ मुहूर्त्त एव शुभ घडी मे सुनन्दा एवं धनगिरि का विवाह उल्लास-मय वातावरण मे संपन्न हुआ। सांसारिक भोगो को भोगते हुए उनका जीवन सानन्द बीतता गया। एक दिन सुनन्दा गर्भवती हुई। स्वप्न के आधार पर पुत्ररत्न का आगमन जान पति-पत्नि दोनो ही प्रसन्न हुए।

धनगिरि ने अपने को धन्य माना। उन्हें लगा अपनी मनोकामना पूर्ण करने का अब उचित अवसर उपस्थित हो गया है। अपनी भावना को पत्नी के सामने प्रस्तुत करते हुए उन्होने कहा, "आर्ये! नारी का बाल्यकाल मे पिता के द्वारा, यौवन मे पति के द्वारा एव वार्धक्य मे पुत्र द्वारा सरक्षण प्राप्त होता है।[1] तुम्हारे स्वप्न के आधार पर तुम नि सन्देह पुत्र के सौभाग्य को प्राप्त करोगी। तुम्हारे मार्ग मे अब किसी प्रकार की चिन्ता अवशिष्ट नही रही है। मैं भी अपने कर्त्तव्य ऋण को उत्तार चुका हू। अब तुम मुझे प्रसन्नता-पूर्वक सयम-मार्ग पर बढने के लिए आज्ञा प्रदान करो।" नारी का मानस सदा भावुक होता है। मधुर बातो से उसे किसी बात के लिए उकमाया जा सकता है, मनाया जा सकता है एव भरमाया जा सकता है। सौम्य हृदया सुनन्दा एक ही बार मे पति के प्रस्ताव पर सहमत हुई एव उसने व्रत ग्रहण करने के लिए सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दी।

उत्तम पुरुष श्रेय कार्य में क्षणमात्र भी किसी की प्रतीक्षा नही करते। पत्नी के द्वारा आदेश-स्वीकृति मिलते ही श्रेष्ठपुत्र धनगिरि जीर्ण धागे की तरह प्रेम-बन्धन को तोडकर महा-त्याग के कठिन पथ पर चल पडे। उनके दीक्षा-प्रदाता गुरु आर्य सिहगिरि थे।

आर्य समित एवं धनगिरि परस्पर साला-बहनोई थे। दोनों का सबध सुनन्दा के निमित्त से जुडा हुआ था। जैन शासन मे दोनो प्रभावी मुनि थे। पैरो पर लेप लगाकर नदी तैरने वाले ५०० तापसो के विस्मयाभिकारक मायावी आवरण को हटाकर भ्रान्त जनता के सामने सत्य धर्म का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने वाले आर्य समित एव प्रचार मे अनन्य सहयोगी मुनि धनगिरि आर्य सिंहगिरि के दो सुदृढ भुजा स्वरूप थे। इन मुनियो के सहयोग से आर्य सिंहगिरि का धर्म-प्रचार दिन प्रतिदिन उत्कर्ष पर था।

इधर गर्भकाल की स्थिति सम्पन्न होने पर सुनन्दा ने महा-तेजस्वी पुत्ररत्न का वी० नि० ४९६ (वि० २६) मे जन्म दिया। पुत्र-जन्मोत्सव मनाने की तैयारियां प्रारम्भ हुई। कई सखिया सुनन्दा को घेरकर खड़ी

थीं। जन्मोत्सव की आनन्दमय घड़ी में धनगिरि का स्मरण करती हुई वे बोलीं—"बालक के पिता धनगिरि प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करते और इस समय उपस्थित होते तो आज जन्मोत्सव के हर्षोल्लास का रूप कुछ दूसरा ही होता। स्वामी के बिना घर की शोभा नहीं होती। चंद्र के बिना नभ की शोभा नहीं होती।"

नारी जन के आलाप-संलाप को नवजात शिशु ने सुना। उसका ध्यान प्रस्तुत वार्तालाप पर विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। भीतर ही भीतर ऊहापोह चला। तदावरण क्षीण होता गया। ज्ञानावरोधक कर्म के प्रबल क्षयोपशम भाव का जागरण होते ही बालक को जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई।[1] चिन्तन की धारा आगे बढ़ी। सोचा, महापुण्य भाग पिता ने संयम ग्रहण कर लिया है। मेरे लिए भी अब वही मार्ग श्रेष्ठ है। इस उत्तम पथ की स्वीकृति मे मां की ममता बाधक बन सकती है। ममत्व के गाढ़ बंधन को शिथिल कर देने हेतु बालक ने रुदन करना प्रारम्भ कर दिया। वह निरन्तर रोता रहता है। सुनन्दा सुखपूर्वक न सो सकती थी, न बैठ सकती थी, न भोजन कर सकती थी। घर का कोई भी कार्य वह व्यवस्थित रूप से नहीं कर पाती थी। उसने बालक को प्रसन्न करने के नाना प्रयत्न किए। किसी प्रकार की राग-रागिनी उसके क्रंदन को बन्द न कर सकी और न अन्य प्रकार के साधन भी उसे लुभा सके। सुनन्दा बहुत अधिक स्नेह देती, प्यार करती, मधुर लोरियां गा-गाकर उसे सुलाने का प्रयत्न करती पर, बालक का रुदन कम न हुआ। छह महीने पूर्ण हो गए, किसी भी जन्त्र, मन्त्र, औषध-चिकित्सा का उस पर प्रभाव न हुआ। सुनन्दा बालक-रुदन से खिन्न हो गई।

"एवं जग्मुश्च षण्मासा षड्वर्षशतसन्निभाः" ॥५५॥

प्रभा० च०, पृ० ३

उसे छह मास भी छह सौ वर्ष जैसे लगने लगे।

एक दिन आर्य सिंहगिरि का तुम्बवन नगर मे पादार्पण हुआ। आर्य समित एवं मुनि धनगिरि भी उनके साथ थे। प्रवचनोपरांत गोचरी के लिए धनगिरि ने गुरु से आदेश मांगा। उसी समय पक्षीरव सुनाई दिया। निमित्त ज्ञान के विशेषज्ञ आर्य सिंहगिरि ने कहा—"मुने! यह पक्षी का शब्द शुभ कार्य का संकेतक है। आज तुम्हें भिक्षा मे सचित्त-अचित्त जो कुछ भी प्राप्त हो उसे बिना विचार किए ले आना।" अतुच्छधी प्रगसमना धनगिरि ने गुरु के निर्देश को 'तथेति' कह स्वीकृत किया और अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर

बढ चले । दोनो ने सर्वप्रथम सुनन्दा के गृह की पूर्व परिचित राह पकड़ी । आर्य समित एवं धनगिरि को आते देख सखीजनो ने सुनन्दा को उनके आगमन की सूचना दी और कहा—"सुनन्दे ! चिन्ता-मुक्त होने के लिए सुन्दर अवसर उपस्थित हुआ है । बालक के पिता मुनि धनगिरि स्वयं तुम्हारे प्रांगण को शीघ्र पवित्र करने वाले है । उन्हे अपने पुत्र का दान कर सुखी बनो ।"

बालक के अनवरत रुदन से सुनन्दा को सखियो की बात पसन्द आयी । वह आगमन से पूर्व ही पुत्र को गोद में लेकर खड़ी हो गयी । आर्य समित एव मुनि धनगिरि सुनन्दा के घर पहुचे । सुनन्दा ने उनको वन्दन किया और वह बोली—"मुने ! पुत्र के अनवरत रुदन से मैं खिन्न हू । माता-पिता दोनो पर सतान के संरक्षण का दायित्व होता है । इतने दिन बालक का पालन मैंने किया है । अब आप इस दायित्व को सभाले । इसे अपने पास रखें । बालक मेरे पास रहे या आपके पास इसकी कोई चिन्ता नही । यह सुखी रहेगा इसमे मुझे प्रमोद है ।"

दूरदर्शी मुनि धनगिरि ने कहा—"मैं इस पुत्र को दान मे स्वीकार कर सकता हू पर भविष्य मे इस घटना से कोई जटिल समस्या पैदा न हो जाए, अत: विग्रह-विवाद से बचने के लिए साक्षीपूर्वक यह कार्य करो । अभी से सोच लेना, भविष्य मे तुम किसी प्रकार की माग पुत्र के लिए नही रख सकोगी ।"

निर्वेद प्राप्त सुनन्दा बोली—"इस समय आर्य समित और ये मेरी सखिया भी साक्षी है । मैं अपने पुत्र के लिए भविष्य मे किसी प्रकार का प्रश्न खडा नही करूगी ।"

सम्यक् प्रकार से कार्य की भूमिका को सुदृढ बनाकर मुनि धनगिरि ने बालक को पात्र मे ग्रहण कर लिया । मुनि धनगिरि के पास आते ही बालक चुप हो गया मानो उसे अपना लक्ष्य मिल गया हो ।

मुनि धनगिरि बालक सहित पात्र को उठाकर चले । गुरु के समीप पहुचे । भारी पात्र से मुनि धनगिरि का हाथ लचक रहा था, कधा झुक गया था । चलने मे भी कठिनाई का अनुभव हो रहा था । आर्य सिंहगिरि मुनि धनगिरि को अधिक भार सहित आते देख उनका सहयोग करने के लिए उठे और धनगिरि के हाथ से पात्र को अपने हाथ मे लिया । आर्य सिंहगिरि को भी पात्र अपने हाथ से छूटता-सा लग रहा था । उनके मुह से निकला—"यह

वज्रोपम क्या उठा लाए हो ?" सहज भाव से उच्चारित वज्र शब्द बालक का स्थायी नाम बन गया। आज भी उनकी प्रसिद्धि वज्र-स्वामी के रूप में है।

'होनहार बिरवान के होत चिकने पात' यह लोकोक्ति बालक वज्र के जीवन में सत्य प्रतीत हो रही थी। उसका सौम्य वदन, तेजस्वी भाल एवं चमकते नेत्र शुभ भविष्य की सूचना दे रहे थे। निमित्त ज्ञानी आर्य सिंहगिरि को लगा, यह बालक प्रवचनाधार एवं धर्म संघ का विशेष प्रभावक होगा। दीर्घ प्रतीक्षा के बाद प्राप्त पुत्र का जितना हर्ष एक पिता को होता है उससे शतगुणाधिक आनन्द आर्य सिंहगिरि को बालक वज्र की उपलब्धि से हुआ। वे साध्वियों के उपाश्रय मे शय्यातर महिला को शिशु संरक्षण का दायित्व संभलाकर लोक कल्याणार्थ वहां से प्रस्थित हुए।

शय्यातर श्राविका बालक के पालन-पोषण का पूरा ध्यान रखती, माता जैसा प्रगाढ स्नेह देती। स्नान, दुग्ध-पान, शयन आदि की सम्यक् व्यवस्था करती। बालक का अधिकांश समय साध्वियो के परिपार्श्व में बीतता। झूले मे झूलता हुआ बालक वज्र अतन्द्र रहकर साध्वियो के स्वाध्याय को सुनता एवं शास्त्रीय पद्यो की स्पष्टोच्चारण विधि तथा प्रत्येक शब्द के व्यंजन, स्वर, मात्रा, बिन्दु, घोष पर विशेष ध्यान रखता पदानुसारिणी लब्धि के कारण श्रवण मात्र से बालक को एकादशांगी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया था।[8] शिशु के इस ज्ञान ग्रहण-कौशल को कोई नहीं जान सका।

सुनन्दा साध्वियो के दर्शनार्थ आया करती थी। उसने सम्यक् संरक्षण मे प्रफुल्ल वदन अपने पुत्र को देखा। मां का ममत्व जाग गया। उसे लेने की स्पृहा जगी। साध्वियों से भी पुत्र को लौटा देने के लिए उसने बहुत बार अनुनय-विनय भी किया। साध्वियो ने उसे समझाया। बहिन! वस्त्र, पात्र की भांति भक्ति भाव से प्रदत्त इस बालक को भी लौटाया कैसे जा सकता है। तुम्हारा पुत्र मे मोह है। तुम यहा आकर इसका लालन-पालन कर सकती हो। गुरुदेव के आदेश बिना इसे घर नही ले जा सकती। कुछ समय तक सुनन्दा वही पुत्र को स्नेह प्रदान कर अपनी मनोकामना पूर्ण करती रही। "आम्र का स्वाद इमली में नही आता।" यही स्थिति सुनन्दा की थी।

आर्य सिंहगिरि का पुनः तुम्बवन मे पादार्पण हुआ। सुनन्दा ने मुनि धनगिरि से पुत्र की माग की। उस समय बालक तीन वर्ष का हो गया था। उसकी प्रार्थना स्वीकृत नही हुई। मुनि ने कहा—"कन्यादान की भान्ति

उत्तम पुरुषों के वचन भी बार-बार बदले नहीं जाते।"

"एव विमृश धर्मज्ञे ! नो वा सन्त्यत्र साक्षिण.।"

—धर्मज्ञे ! जिनको साक्षी बनाकर तुमने दान दिया था वे भी उपस्थित हैं। तू अपने वचन की सम्यक् प्रतिपालना कर। पुत्र गुरु की निधि हो चुकी है। उस पर अब तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।

निरुपाय सुनन्दा राजा के पास पहुंची और न्याय मांगा। उस युग में न्याय निष्पक्ष था। नारी हो या पुरुष, धनी हो या निर्धन, न्याय सबके लिए समान व सुलभ था। एक नारी को न्याय देने के लिए राजा ने ससंघ मुनिजनो को आमंत्रित किया।

"धर्माधिकरणा युक्तैः पृष्ठौ पक्षावुभावपि ॥८२॥ प्रभा० च०, पृ० ४

—न्यायाधिकारी वर्ग ने उभय पक्ष की बात सुनी। एक ओर पुत्र की याचना करती हुई माता दुष्प्रतिकार्य थी, दूसरी ओर धर्मसंघ का प्रश्न था। मुनिजनो की दृष्टि मे माता द्वारा स्वेच्छा एव साक्षीपूर्वक प्रदत्त दान धर्मसघ की सम्पदा हो गई थी। इस जटिल गुत्थी को सुलझाने के लिए राजा ने गम्भीर चितन किया और बालक सहित उभय पक्ष को अपने सामने उपस्थित होने की घोषणा की और कहा—"बालक स्वेच्छा मे जिसको चाहेगा, वह उसी का होगा।" दोनो पक्षो ने इस अभिमत पर स्वीकृति प्रदान की। राजा के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर न्याय लेने के लिए दोनो पक्षो के लोग पहुच गए। पूर्वाभिमुख होकर राजा बैठा। दक्षिण की तरफ धर्म सघ बैठा। बाएं पक्ष मे खिलौने और मिठाइया लेकर परिवार सहित सुनन्दा बैठी। राजा ने कहा—"धर्म पक्ष मे पुरुष ज्येष्ठ माना जाता है। अतः पहला अवसर पिता धनगिरि को देता हूं।" नागरिक लोग सुनन्दा का पक्ष लेते हुए बोले—"पहला अवसर माता को मिलना चाहिए। माता अपनी सन्तान के लिए कठिन कार्य करने वाली होती है।" "उसका पुत्र के प्रति अति वात्सल्य होता है।" नागरिक लोगो का बहुमत था अतः पुरुष प्रधान परम्परा होते हुए भी जनता की आवाज का सम्मान कर बालक को मुग्ध करने का पहला अवसर सुनन्दा को दिया गया। परिशिष्ट पर्व के अनुसार राजा वामभाग मे और सुनन्दा दक्षिण भाग मे बैठी थी।

सुनन्दा हर्षित हुई। वह खिलौने दिखाती हुई तथा मिठाइयो का प्रलोभन देती हुई मिश्री से मधुर स्वर मे बोली—"आओ वज्र ! मेरी तरफ आओ।" ममतामयी मा के द्वारा पुन-पुन बुलाने पर भी वज्र नहीं

गया। उसने मन-ही-मन सोचा—"सुनन्दा का पक्ष लेने पर संसार की वृद्धि होगी। धर्म संघ की शरण ग्रहण करने पर मेरा कल्याण होगा। मां सुनन्दा का भी कल्याण होगा। वह भी मेरे साथ अवश्य श्रमणी बनेगी।" वज्र इस प्रकार अन्तर्मुखी चिन्तन करता हुआ उदासीन भाव से मौन बैठा रहा और आंखो से मां को अस्वीकृति की भाषा समझाता रहा।

द्वितीय अवसर पिताश्री मुनि धनगिरि को प्राप्त हुआ। मुनि ने बालक के सामने धर्म-ध्वज रखा और सरल सहज भाषा में बोले—"वत्स! तू तत्त्वज्ञ है। कर्म रजो का हरण करने वाला यह रजोहरण तुम्हारे सामने है। प्रसन्नमना तू इसे ग्रहण कर।"

उत्प्लुत्य मृगवत् सोऽथ तदीयोत्सङ्गमागतः।
जग्राह चमरात्रं तच्चारित्रधरणीभृत॥८८॥

(प्रभावक चरित्त, पृ० ५)

—बालक वज्र मृगशावक की भांति ऊपर उछला एवं मुनिजनो के चामराकृति रजोहरण को लेकर उनके उत्संग मे बैठ गया। न्याय मुनि धनगिरि की तुला पर चढ गया। मंगल ध्वनिपूर्वक जय-जय रव से दिग्-दिगत गूज उठा। राजा ने संघ को सम्मान दिया। इस समय बालक तीन वर्ष का था।

सरल स्वभावी सुनन्दा ने चिन्तन किया—मेरे सहोदर समित एवं प्राणाधार पति दीक्षित हो गए हैं एवं पुत्र भी श्रमण बनने के लिए दृढ सकल्प कर चुका है। मेरे लिए भी अब यही पथ श्रेष्ठ है। परम विरक्त भाव को प्राप्त सुनन्दा आर्य सिंहगिरि के पास दीक्षित हुई और श्रमणी समूह में मिल गई। श्रमणी संघ की प्रमुखा का नाम-निर्देश नही है।

प्रभावक चरित्र, परिशिष्ट पर्व, उपदेशमाला इन ग्रन्थो मे वज्र की आर्य सिंहगिरि द्वारा तीन वर्ष की अवस्था मे दीक्षा प्रदान करने की तथा विहार आदि के योग्य न होने के कारण उसे शय्यातर के घर पर ही रखने का उल्लेख है। इन ग्रन्थो के वर्णनानुसार आठ वर्ष की उम्र होने पर वज्र को आर्य सिंहगिरि ने अपनी नेश्राय मे लिया था।[1] पर यह दीक्षा भावी शिष्य स्वीकृति के रूप मे सम्भव है। युगप्रधान पट्टावलियो के अनुसार आर्य वज्र को दीक्षा आठ वर्ष की अवस्था मे वी० नि० ५०४ (वि० ३४) मे हुई थी। बालक वज्रमुनि कोमल प्रकृति के थे। सहज, नम्र एव आचार के प्रति दृढ निष्ठावान् थे। श्रमण परिवार से परिवृत्त आर्य सिंहगिरि विहारचर्या मे एक

बार किसी पर्वत की तलहटी तक पहुंच पाए थे। तीव्रधार दुर्निवार वर्षा प्रारंभ हुई। बादलों की गरजना झपाझप कौंधती बिजलियों की चमक प्रलयंकारी रूप प्रस्तुत कर रही थी। स्वल्प समय में ही धरा जलाकार दिखाई देने लगी, आवागमन के रास्ते बन्द हो गए। तोय जीवों की विराधना से बचने के लिए श्रमण संघ को गिरिकन्दरा मे वहीं रुक जाना पड़ा। उपदेश-माला के अनुसार इस समय ससंघ आर्य सिंहगिरि अवन्ति के उद्यान मे स्थित थे। आहारोपलब्धि की सभावना न देख तपःपूत, क्षमाप्रधान, परीषह विजेता, समता रसलीन अध्यात्मपीन श्रमणो ने उपवासव्रत स्वीकार कर लिया। प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के अनुसार यह असामयिक अतिवृष्टि प्रकृति का प्रकोप नही देवमाया थी। बाल मुनि वज्र के चरित्रनिष्ठ जीवन की परीक्षा के लिए पूर्व भव के मित्र जृंभक देवों ने कुतूहलवश इस सघन घनाघन घटा पटल का निर्माण किया था।[१०]

वर्षा के रुकने पर उपासक वणिक् आर्य सिंहगिरि के पास आए और गोचरी की प्रार्थना की। आचार्य की अनुमति पर वज्रमुनि माधुकरी वृत्ति के लिए अक्लात, अखिन्न मन से उठे एव द्वार तक पहुंचकर वे रुक गए। नन्ही-नन्ही बूंदे तब तक आ रही थी। वर्षा पूर्ण रुक जाने पर ईर्यासमितिपूर्वक मंद-मंद अनुद्विग्न गति से चलते हुए सयोगवश वे उसी बस्ती मे प्रविष्ट हुए जो देव-निर्मित थी। मानव के रूप मे देवगण बालमुनि वज्र को अपने गृह मे ले गया एव भक्तिभावपूर्वक दान देने को प्रस्तुत हुआ।

बालमुनि आर्य वज्र भिक्षा की गवेषणा मे जागरूक थे। इस अवसर पर प्रदीयमान सामग्री को अशुद्ध आधाकर्मी दोषयुक्त देवपिण्ड जानकर उसे लेना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। भिक्षा मे द्रव्य से कुष्माण्डपाक क्षेत्र से मालवा देश मे प्राप्त हो रहा था। काल से ग्रीष्मकाल का समय था। भाव की दृष्टि से अनिमिष नयन, अम्लान कुसुम मालाधारी व्यक्ति भोज्य सामग्री प्रदान कर रहा था। दान प्रदाता के चरण धरा से ऊपर उठे हुए थे। इस प्रकार का दान मानव वंशज से सभव नही था। कुष्माण्डपाक ग्रीष्मकाल मे और मालव देश मे सर्वथा अप्राप्य था। आर्य वज्र की दृष्टि मे यह आहार देवपिण्ड था तथा देवता के द्वारा दिया जा रहा था। साधु के लिए देवपिण्ड आहार सर्वथा अकल्प्य है, यह जान वज्रमुनि ने महान् क्षुधा से बाधित होने पर भी उसे ग्रहण नहीं किया।[११]

जृंभक देवो ने प्रकट होकर वज्रमुनि के उच्चतम साधनानिष्ठ जीवन

की प्रशंसा की एवं नाना रूप निर्मात्री वैक्रिय विद्या उन्हें प्रदान कर वे लौटे।"

उपदेशमाला के अनुसार यह मेघमाला देवकृत नहीं थी।

आर्य वज्र के सामने आहार-पानी की गवेषणा में उत्तीर्ण होने का एक अवसर और प्रस्तुत हुआ। ग्रीष्मऋतु के मध्याह्नकाल मे माधुकरी वृत्ति में व्यस्त बालमुनि वज्र को देखकर जृंभक देव पुन धरती पर वैक्रिय शक्ति द्वारा मानव रूप बनाकर आए एवं प्रार्थनापूर्वक वज्रमुनि को देव-निर्मित गृह में ले गए। श्रावक रूप में प्रकटीभूत जृभक देवो ने मुनि को दान देने के लिए घृत निष्पन्न मिष्टान्न (मिठाई) से भरा थाल प्रस्तुत किया। थाल मे शरद्कालीन मिष्टान्न थे। ग्रीष्मऋतु मे इस प्रकार की मिष्टान्न सामग्री को देखकर वज्र-मुनि सभल गए। उसे देवपिण्ड समझकर उन्होने ग्रहण नही किया।

भाग्यवान् व्यक्तियो को पग-पग पर निधान मिलता है। आर्य वज्र-स्वामी के जृभक देव पूर्व जन्म के मित्र थे। उनके आचार कौशल को देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए एव इस समय उन्हें गगन-गामिनी विद्या प्रदान की।"

सुविनीत आर्य वज्र के पास श्रुत सम्पदा का गभीर अध्ययन था। एक दिन आर्य सिंहगिरि शौचार्थ बाहर गए। माधुकरी मे प्रवृत्त अन्य मुनि भी उस समय उपाश्रय मे नहीं थे। बालमुनि आर्य वज्र स्थान पर अकेले थे। नीरव वातावरण से उनके मन मे कई प्रकार के भाव जागृत हुए। आगम वाचना प्रदान करने की उत्सुकता जगी। वातावरण को भी सर्वथा अनुकूल पाया। अपने चारो ओर श्रमणो के उपकरणों को रखकर उन्हे ही श्रमणो का प्रतीक मानकर वाचना प्रदान का कार्य मुनि वज्र ने प्रारभ किया। मनोनु-कूल कार्य में सहज लीनता आ जाती है। वज्रमुनि भी वाचना प्रदान कार्य मे तल्लीन हो गए। उन्हें समय का भी भान न रहा। आर्य सिंहगिरि उपा-श्रय के निकट आये। उन्हे मात्रा, बिन्दु सहित आगम पद्यो का स्पष्ट उच्चा-रण सुनाई दे रहा था। मधुर-मधुर ध्वनि ने आर्य सिंहगिरि के मन को मुग्ध कर दिया। आगम के प्रत्येक पद्य का अतीव सुन्दर साङ्गोपाग विवेचन सुनकर आर्य सिंहगिरि शिशु मुनि वज्र की प्रतिभा पर आश्चर्यविभोर थे।

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि नरस्तिरस्कृतिं लभते।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलित॥१६॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पृ० २१२)

शक्ति गुप्त रहने पर सबल व्यक्ति भी तिरस्कार को प्राप्त होते हैं। अन्तर्निहित अग्निक काष्ठ को लाघा जा सकता है, प्रज्वलित काष्ठ को नही।

वैयावृत्यादिषु लघोर्माऽवज्ञाऽस्य भवत्विति ।
ध्यात्वाऽऽहुर्गुरव शिष्यान् विहार कुर्महे वयम् ॥११८॥
(प्रभावक चरित्र, पृ० ६)

ज्ञान-गुण सम्पन्न आर्य वज्र की योग्यता अज्ञात रहने पर स्थविर मुनियो द्वारा वैयावृत्य आदि कराते समय किसी प्रकार की अवज्ञा न हो इस हेतु से मेरा अन्यत्र प्रस्थान उपयुक्त होगा। यह सोच दूसरे दिन आर्य सिंहगिरि ने शिष्य समूह को देशान्तर का निर्णय सुना दिया। अध्ययनार्थी मुनियो ने निवेदन किया—"गुरुदेव ! हमे वाचना कौन प्रदान करेंगे ?" आर्य सिंहगिरि ने लघु शिष्य मुनि वज्र का नाम वाचना प्रदानार्थ प्रस्तुत किया।

"निर्विचार गुरोर्वच."—गुरु के वचन अतर्कणीय होते हैं। विनीत शिष्य मण्डल ने 'तथेति' कहकर आर्य सिंहगिरि के आदेश को निर्विरोध स्वीकार किया।

स्थविर मुनियो से परिवृत आर्य सिंहगिरि का विहार हुआ एव आर्य वज्र ने शिष्य समूह को वाचना देनी प्रारम्भ की। लघुवय होने पर भी आर्य वज्र का विशद ज्ञान एव तत्त्व बोध प्रदान करने की पद्धति सुन्दर थी। मंद-मति शिष्य भी सुखपूर्वक आर्य वज्र से वाचना को ग्रहण करने लगे। कतिपय समय के बाद आर्य सिंहगिरि का आगमन हुआ। श्रमण वर्ग को आर्य वज्र की वाचना से सतुष्ट पाया। वाचनाचार्य के रूप मे आर्य वज्र की नियुक्ति के लिए स्वय मुनिजनो ने आचार्यदेव से प्रार्थना की थी।"

श्रुत्वेति गुरव प्राहुर्मत्वेद विहृतं मया ।
अस्य ज्ञापयितु युष्मान् गुणगौरवमद्भुतम् ॥१२५॥
(प्रभावक चरित्र, पृ० ६)

आर्य सिहगिरि बोले—"मैंने पहले ही मुनि वज्र की योग्यता को परख लिया था पर तुम्हे इससे अवगत कराने के लिए मैंने अन्यत्र विहार किया था। गुरु की दूरदर्शिता पर श्रमण सघ हर्षित हुआ। प्रतिभासम्पन्न-सुविनीत योग्य शिष्यो को पाकर आर्य सिंहगिरि को भी पूर्ण तोष था।

मुनि वज्र का उस समय तक ज्ञान गुप्तरीति से ग्रहण किया हुआ था। श्रुतवाचना देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए विधिपूर्वक गुरुगम्य ज्ञान होना आवश्यक था। आर्य सिंहगिरि के पास मुनि वज्र का तपोयोग-

वहन पूर्वक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण स्वल्प समय मे ही बाल मुनि वज्र बहुश्रुतधर बन गए।

आर्य सिंहगिरि का पदार्पण दशपुर मे हुआ। पूर्वों का ज्ञान ग्रहण करने के लिए मुनि वज्र को अवन्ति में विराजमान दसपूर्वधर आचार्य भद्रगुप्त के पास भेजा।

गुरु का आदेश प्राप्त कर आर्य वज्र ने अवन्ति की ओर विहार किया। वे अवन्ति नगर के बहिर्भूभाग की सीमा तक पहुचे तब तक संध्या हो गई थी। उन्होने रात्रि-निवास नगर के बाहर ही कही किया। इसी रात्रि मे आचार्य भद्रगुप्त ने स्वप्न देखा :

पात्रं मे पयसा पूर्णमतिथिः कोऽपि पीतवान्।

(प्रभावक चरित्र, पृ० १२६)

—दूध से भरा हुआ मेरा पात्र था, कोई अतिथि आकर पी गया। रात्रिकालीन इस स्वप्न की बात आर्य भद्रगुप्त ने अपनी शिष्यमण्डली से कही और इस स्वप्न के आधार पर अपना विश्वास प्रकट करते हुए वे बोले—"दश पूर्वो का ग्राहक विद्यार्थी अवश्य मेरे पास आएगा।" बात का यह प्रसङ्ग चल ही रहा था, आर्य वज्र वहां आ गए।

प्रतिभासपन्न, पूर्व ज्ञानराशि को ग्रहण करने मे सक्षम, सुयोग्य शिष्य आर्य वज्र को पाकर आर्य भद्रगुप्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने सलक्ष्य अपना सम्पूर्ण अधीत-श्रुत उन्हे पढ़ाया। दश पूर्व ज्ञानामृत का समग्रता से पान कर आर्य वज्र को भी परम तृप्ति की अनुभूति हुई। निर्धारित लक्ष्यसिद्धि के बाद आर्य भद्रगुप्त ने उन्हें पुन अपने गुरु के पास जाने का आदेश प्रदान किया। सुविशाल ज्ञान-संपदा का अर्जन कर वे आर्य सिंहगिरि के पास आए।

शिष्य की योग्यता से गुरु को सतोष हुआ। सघ ने होनहार शिष्य का सम्मान किया।

आचार्य सिंहगिरि इस समय वृद्ध हो गए थे। अब वे उत्तर-दायित्व से मुक्त होना चाहते थे। उन्होने वैसा ही किया। सुयोग्य शिष्य आर्य वज्र को वी० नि० ५४७ (वि० ७८) मे आचार्य पद पर नियुक्त कर वे संघ-चिन्ता से मुक्त बने। पूर्व जन्म के मित्र देवो ने इस अवसर पर महान् उत्सव मनाया।[५] आर्य वज्रस्वामी संघ का सकुशल नेतृत्व करते हुए पांच सौ श्रमणों के साथ विहरण करने लगे। उनके व्यक्तित्व मे रूप-सौन्दर्य एवं वाक्-माधुर्य

का अनुपम संयोग था।

पाटलिपुत्र के श्रीसम्पन्न धनश्रेष्ठी की पुत्री रुक्मिणी थी। वह यानशाला में विराजित साध्वियो के द्वारा स्वाध्याय करते समय प्रतिदिन सुना करती थी।

एस अखंडियसीलो, बहुस्सुओ एस एस पसमड्ढो।
एसो य गुणनिहाण, एस सरित्थो परो नत्थि ॥४८॥

(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ० २१४)

—अखण्डित शील, बहुश्रुत, प्रशांत भाव से सम्पन्न, गुणनिधान आर्य वज्र के समान दुनिया मे कोई दूसरा पुरुष नही है। "वइरस्स गुणे सरदिंदु-निम्मले" उनके गुण शरच्चन्द्र की भाति निर्मल हैं। रुक्मिणी वज्रस्वामी के यशोगान श्रवण मात्र से उनके व्यक्तित्व एव रूप-सौदर्य पर मुग्ध हो चुकी थी। पिता के सामने भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए उसने स्पष्ट कह दिया—"तात !

जइ मज्झ वरो वइरो, होही ताह विवाहमीहेमि।
जालाजालकरालो, जलणो मे अन्नहा सरण ॥५०॥

(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ० २१४)

—"मैं वज्रस्वामी के साथ पाणिग्रहण करूंगी, अन्यथा अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वालाओ की शरण ग्रहण कर लूगी। उत्तम कुल की कन्याएं कभी दो बार वर का चुनाव नहीं किया करती।" पुत्री के द्वारा अग्निदाह की बात सुनकर वात्याचक्र के तीव्र झोको से प्रताड़ित पीपल के पत्ते की भांति धन-श्रेष्ठी का दिल कांप गया।

साहिंति साहुणीओ, जहा न वइरो विवाहेइ ॥५१॥

(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ० २१४)

रुक्मिणी को साध्वियो ने बोध देते हुए कहा—"आर्य वज्र श्रमण हैं वे विवाह नही करेगे।" रुक्मिणी दृढ शब्दो मे बोली—"मुझे भी प्रव्रजित होना स्वीकार है। आर्य वज्र को पा लेने की प्रतीक्षा मे रुक्मिणी अपने दृढ संकल्प का वहन करती रही। तपस्या निष्फल नही जाती। दृढ संकल्पशक्ति भी एक दिन अवश्य फलवान् होती है। कुछ समय के बाद आचार्य वज्रस्वामी का आगमन रुक्मिणी के सौभाग्य से पाटलिपुत्र मे हुआ।

पाटलिपुत्र के राजा पर आर्य वज्रस्वामी के व्यक्तित्व का प्रभाव पहले से ही अंकित था। उनके आगमन की सूचना पाकर वह हर्षित हुआ। आर्य

वज्र के स्वागतार्थ उनके सम्मुख गया। वज्रस्वामी से आगे आने वाले मुनियो से राजा पूछता गया—"आप में वज्रस्वामी कौन हैं।" उत्तर मिलता गया—"वज्रस्वामी पीछे आ रहे हैं।" आगे आने वाले श्रमण भी द्युतिमान, कान्तिमान दिखाई दे रहे थे। कुछ देर बाद विशाल मुनि मण्डली से परिवृत वज्र को दूर से ही आते देखकर राजा का मन प्रफुल्ल हो उठा। वज्रस्वामी के रूप ने सबको आश्चर्य चकित कर दिया। भक्तिपूरित श्रावक की भांति मुकुलित पाणियुगल नत-मस्तक मुद्रा मे राजा ने विधिपूर्वक वज्रस्वामी को वन्दन किया तथा 'अभिवंदिओ अभिणदिओ' आदि शब्दो से उनका भव्य स्वागत किया।

आर्य वज्र पाटलिपुत्र के उद्यान मे रुके। विशाल मानव-मेदिनी को सबोधित करते हुए उन्होने मोह-विनाशिनी धर्मकथा प्रारम्भ की। घनरव-गम्भीर घोप मे वे बोले :

> खणदिट्ठनट्ठविहवे, खणपरियट्टंतविविहसुहदुक्खे।
> खणसंजोगवियोगे, नत्थि सुह किंपि संसारे ॥५६॥
>
> (उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ० २१५)

—ससार प्रतिक्षण परिवर्तनधर्मा है। वैभव स्थायी नही है। सुख-दुःख, सयोग-वियोग का प्रतिक्षण चक्र चलता रहा है।

"पोइणिदलग्गजलबिंदुचचलजीवियं"—पद्मिनी दलाग्र पर स्थित जल-बिंदु के समान जीवन अस्थिर है।

"विलसिततडिल्लेरवाचञ्चला लच्छी"—विद्युत्लेखा की भांति लक्ष्मी चचल है। "ता जिणधम्मं मोत्तूण सरण न हु किमपि ससारे"—जिनधर्म को छोडकर कही शरण नही है।

आर्य वज्र की अमृतोपम देशना को राजा के साथ राजकुमारो, श्रेष्ठि-पुत्रो, प्रशासको, मन्त्रियो एवं सहस्रो नागरिको ने भी सुना। आर्य वज्र की प्रभावोत्पादक वाणी से श्रोतागण मत्रमुग्ध हो गए। प्रवचनोपरात शहर मे वज्रस्वामी के प्रवचन की चर्चा प्रसारित हुई। यह चर्चा रुक्मिणी के कानों तक भी पहुची। वह उनके दर्शन करने को उत्सुक बनी। संकल्प की बात पिता के सामने दुहराती हुई बोली—"श्रीमद्वज्राय मा यच्छ शरण मे अन्यथानल."—तात ! मेरी मनोकामना पूर्ण करने का अवसर आ गया है। आर्य वज्र यहा पहुच गए हैं। मुझे आप उन्हे समर्पित कर दें, अन्यथा मैं अग्नि-दाह कर लूगी। पुत्री के सकल्प से श्रेष्ठिधन एक बार पुनः सिहर उठा।

वह शत-कोटि सम्पदा के साथ रुक्मिणी कन्या को लेकर वज्रस्वामी की परिषद् मे पहुंचा।

आर्य वज्रस्वामी के द्वारा प्रदत्त प्रथम देशना की प्रशसा सुनकर अन्तःपुर मे हलचल हुई। रानिया भी आर्य वज्र के रूप-सौदर्य को देखने एवं मधुर वाणी का रसास्वाद प्राप्त करने को उत्सुक बनी एवं अनेक नारियों से परिवृत्त होकर वे धर्मस्थान पर उपस्थित हुईं। आर्य वज्र विविध लब्धियो के स्वामी थे। क्षीराश्रवलब्धि से सपन्न आर्य वज्र की वाणी मे मधु-मिश्रित दुग्ध जैसा मिठास आता था।[१५] राजपरिवारयुक्त विशाल परिषद् के सामने पहले दिन विरूपाकृति मे प्रस्तुत होकर आर्य वज्र ने पुष्करावर्त मेघ की नाई धारा-प्रवाह प्रवचन दिया। लोगो के मन मे विचार उठने लगे :

जइ नाम-रुव-लच्छी हुंति एयस्स तो न तिजए वि।
असुरो सुरो व विज्जाहारो व इमिणा समो हुंतो ॥७१॥
(उपदेशमाला-विशेषवृत्ति, पृ० २१५)

—आर्य वज्र मे अद्भुत वाक्-कौशल के साथ रूप भी होना तो सुर-असुर, विद्याधर कोई भी व्यक्ति इनकी तुलना मे नही आता। आर्य वज्र ने जनता की भावना को जाना एव दूसरे दिन रूप परिवर्तन किया। वे सहस्रार-दलाकृति आसन पर स्थित अत्यन्त सौदर्यसपन्न एव विद्युत्पुञ्ज की भांति प्रकाशवान् दिखाई देने लगे—'नारिया इनके रूप-सौदर्य पर विमूढ न बन जाये संभवत इसीलिए आर्य वज्र ने देशना के प्रारभ मे विरूप रूप का प्रदर्शन किया था।' राजा ने भी उनके व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशसा की।

विस्मितानन समग्र सभा को देखकर आर्य वज्र बोले—'तपोधन, लब्धिसंपन्न अणगार असंख्यात सौंदर्यसम्पन्न रूपाकृतियो का निर्माण कर सकता है। मैंने एक रूप का प्रदर्शन किया है इसमे आश्चर्य जैसा क्या है?'

प्रवचनोपरात धन श्रेष्ठी आर्य वज्रस्वामी के निकट गया, वंदन किया और नम्र शब्दो में बोला—'आर्य! आपका जैसा विस्मयकारी रूप है मेरी यह पुत्री भी रूप-सौदर्य मे कम नहीं है। शतकोटि संपदा सहित इसे स्वीकार करे! आर्य वज्र ने कहा—'श्रेष्ठिन्! तुम स्वयं संसार मे बद्ध हो और दूसरों को भी बाधना चाहते हो?' जानते नही :

कलुणा नराणमेए, भोगा भुयगव्व भीसणा भोगा।
महुलग्गखग्गधारा, करालकरवाललिहणसमा ॥८०॥

किंपागाण विपागा, कडुयविवागा इमे मुहे महुरा ।
भोगा मसाणभूमिव्व सव्वओ भूरि भयहेऊ ।।८१।।
किं बहुणा भणिएणं, चउगइ दुक्खाण कारणं भोगा ।
ता किर को कल्लाणी, सल्लेसु व तेसु रज्जेज्जा ।।८२।।
(उपदेशमाला-विशेषवृत्ति, पृ० २१५)

—भोग भुजंग के समान भीषण होते हैं। मधुलिप्त असिधारा के समान कष्टकारक होते हैं। किम्पाक फल के समान मुख-मधुर कटु विपाकी होते हैं। श्मशान भूमि की तरह भयप्रद होते हैं। अधिक क्या, चातुर्गतिक दुःखो के कारण भोग है। कल्याण चाहने वाला व्यक्ति इनमे रंजित नहीं होता।

'श्रेष्ठिवर! भौतिक द्रव्य एवं विषयानद का प्रलोभन देकर अनन्त आनन्द स्रोत तप. संपदा को मेरे से छीन लेना चाहते हो, यह प्रयास रेणु के बदले रत्नराशि को, तृण के बदले कल्पवृक्ष को, काक के बदले कोकिला को, कुटिया के बदले प्रासाद को, क्षार जल से अमृत को पा लेने जैसा है। संयम-धन की तुलना मे ये विषयभोग तुच्छ हैं, क्षुद्र है। इनसे प्राप्त क्षण-भर का सुख महान् सकट का सूचक है। यह तुम्हारी पुत्री मेरे मे अनुरक्त है। छाया की भाति मेरा अनुगमन करना चाहती है, उसकी चाह की सर्व सुन्दर राह यह है·

मयादृतं व्रतं धत्तां, ज्ञानदर्शनसंयुतं ।।१४६।।
(प्रभावकचरित्र, पृ० ६)

—ज्ञान दर्शन युक्त मेरे द्वारा आदृत इस त्यागमार्ग का अनुसरण करे।

आर्य वज्रस्वामी की सहज सुमधुर उपदेशधारा से रुक्मिणी के अतर्नयन खुल गए। वह साध्वी बनी एव श्रमणी सघ मे सम्मिलित हो गई।[१७] आचाराङ्ग के महापरिज्ञा अध्ययन से वज्रस्वामी ने गगन-गामिनी विद्या का उद्धार किया था।[१८]

आचार्य वज्र के समय मे दो बार भयंकर दुष्काल की स्थिति बन गई थी। प्रथम दुष्काल के समय वज्रस्वामी का पदार्पण पूर्व से उत्तर भारत मे हुआ था।[१९] वहां पर अति क्षयकारी दुर्भिक्ष का अत्यन्त विकट सकट उपस्थित हो गया था। धरा पर क्षुधा से आर्त्त लोग आकुल-व्याकुल हो उठे। दुष्काल जनित संकट से घिर जाने पर शय्यातर सहित संपूर्ण संघ को पट पर बैठाकर

गगन-गामिनी विद्या के द्वारा आकाश-मार्ग से उड़ते हुए वज्रस्वामी उत्तर भारत से महापुरी (जगन्नाथपुरी) नगरी मे पहुचे थे। महापुरी मे सुकाल की स्थिति थी। जैन लोग वहां सुख से रहने लगे। वज्रस्वामी भी वही विराजे थे। चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। महापुरी का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी था। पर्युषण पर्व मनाने मे राजा की ओर से आने वाली बाधाएं वज्रस्वामी के विद्याबल प्रयोग से निरस्त हो गईं। निर्ग्रंथ धर्म की महिमा मुख-मुख पर मुखरित हुई। राजा वज्रस्वामी का परम भक्त बन गया।[१०]

आर्य वज्र धर्म प्रचार के साथ शिष्य समुदाय को आगम वाचना भी देते थे। आर्य तोषलिपुत्र के शिष्य आर्यरक्षित को उन्होने सार्ध नौ पूर्व (९॥) का ज्ञान प्रदान कर पूर्वज्ञान की राशि को सुरक्षित किया था।

वज्रस्वामी का मुख्य विहारक्षेत्र मालव, मगध, मध्य हिन्दुस्तान आदि स्थल थे। धर्म प्रभावना की दृष्टि से दुष्काल की घड़ियों में वे माहेश्वरी पुरी और हिमालय तक भी गए थे,[११] ऐसा उल्लेख 'प्रभावक चरित्र' और 'उपदेशमाला' आदि ग्रन्थो मे है।

दुष्काल का पुनः आगमन और अनशन

आर्य वज्रस्वामी से सम्बन्धित दक्षिणाचल की घटना विस्मयकारक है। एक बार वे यथोचित समय पर औषध लेना भूल गए थे। उन्हे अपनी स्मृति की क्षीणता पर आयुष्य की अल्पता का भान हुआ। इस समय उनके ज्ञानदर्पण मे भावी अत्यन्त भीषण दुष्काल के सकेत भी झलक रहे थे। यह वज्रस्वामी के समय मे दुष्काल का द्वितीय बार आगमन था। आर्य वज्र को पिछले दुष्काल से भी आने वाला दुष्काल अति भयावह प्रतीत हुआ। वंश-वृद्धि हेतु आर्य वज्र को इस समय कङ्कुण देश मे विहरण करने का आदेश दिया।

द्वादश वर्षीय भयकर दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण दक्षिण विहारी श्रमण सघ को आहारोपलब्धि कठिन हो गई।[१२] वज्रस्वामी ने आपात्कालीन स्थिति मे क्षुधा-शान्ति के लिए लब्धि-पिण्ड (लब्धि द्वारा निर्मित भोज्य सामग्री) ग्रहण करने का और विकल्प मे अनशन स्वीकार का अभिमत शिष्यो के सामने प्रस्तुत किया। निर्मल चरित्र पर्याय के पालक आर्य वज्रस्वामी ने इस प्रकार के परामर्श प्रदान का प्रयोग शिष्यो के धृति परीक्षणार्थ ही किया होगा।

ताहे भणंति सव्वे, भत्तेणेएण सामि ! अलमत्थु ।
अणसणविहिणाऽव्वस्सं, साहिस्सामो महाधम्म ।।३६।।

(उपदेशमाला-विशेषवृत्ति, पृ० २१८)

—संयमनिष्ठ श्रमणो ने एक स्वर में कहा—'भगवन् ! सदोष आहार (भोज्य सामग्री) हमें किसी भी स्थिति मे स्वीकार नही है। आहार अनेक बार किया है। अब अनशनपूर्वक उत्कृष्ट चारित्र धर्म की आराधना में अपने-आपको नियोजित करेंगे।'

मारणान्तिक स्थिति मे भी शिष्य गण का दृढ़ आत्मबल देखकर वज्र स्वामी प्रसन्न हुए एवं विशाल श्रमण परिवार सहित वे अनशनार्थ गिरि-शृंग की ओर वहा से प्रस्थित हुए। उनके साथ एक लघु वय का शिष्य था। अवस्था की अल्पता के कारण वज्रस्वामी उसे अनशन मे साथ लेना नही चाहते थे। उन्होने कोमल शब्दो में शिष्य से कहा :

अज्ज वि त वच्छ लहू ! अच्छसु एत्थेव ताव पुरे ।।४१।।

(उपदेशमाला-विशेषवृत्ति, पृ० २१८)

—वत्स ! अनशन का मार्ग बहुत कठिन है। तुम बालक हो। अब भी यही पुर या नगर मे रुक जाओ।

आर्य वज्रस्वामी द्वारा निर्देश मिलने पर भी कष्ट-सहिष्णु उच्च अध्यवसायी बाल मुनि रुकने के लिए प्रस्तुत नही हुआ। अनशन-पथ की कठोरता उसे तिलमात्र भी विचलित न कर सकी।

स्वेच्छापूर्वक बाल मुनि के न रुकने पर किसी कार्य के बहाने उसे एक ग्राम मे प्रेषित कर ससघ वज्रस्वामी आगे बढ़ गए। शैल शिखर पर आरोहण कर सबने देवगुरु का स्मरण किया। पूर्वकृत दोषो की आर्य वज्र के पास आलोचना की। गिरिखण्ड पर अधिष्ठित देवी से आज्ञा ग्रहण कर उन्होने यथोचित स्थान ग्रहण किया। वही पर वज्रस्वामी और पांच सौ श्रमण यावज्जीवन के लिए अनशन स्वीकार कर मेरु की भांति अकम्प समाधिस्थ बने।

कार्य-निवृत होकर वह शिष्य लौटा, उसे सघ का एक भी श्रमण दिखाई नही दिया। वह खिन्न हुआ, मन ही मन चिन्तन किया—मुझे इस पण्डित-मरण मे गुरुदेव ने अपने साथ नही लिया। क्या मैं इतना नि.सत्व, निर्वीर्य, निर्बल हूं ? कई सकल्प-विकल्पो के साथ वह वहां से चला—मेरे द्वारा उनके तपोयोग एव ध्यान योग में किसी प्रकार का विक्षेप न हो यह

सोच, वज्रस्वामी जिस पर्वतमाला पर अनशनस्थ हो गए थे उसी आद्रि की तलहटी मे पहुंचकर तप्त पाषाण शिला पर पादोपगमन अनशन ग्रहण कर लिया। तप्त शिला के तीव्र ताप से शिशु मुनि का नवनीत-सा कोमल शरीर झुलसने लगा। भयकर वेदना को समता से सहन करता हुआ लघुवय मुनि उन सबसे पहले स्वर्ग का अधिकारी बना। बाल मुनि की उत्तम साधना को जैन धर्म की प्रभावना का निमित्त मान देव महोत्सव के लिए आए। देवागमन देखकर वज्रस्वामी ने श्रमण सघ को सूचित किया—अत्यन्त तीव्र परिणामो से भीषण ताप-लहरी को सहन करता हुआ लघुवय मुनि का अनशन पूर्ण हो गया है। लघु मुनि के अनशन पूर्ण हो जाने की बात सुनकर एक ही लक्ष्य मे उद्यत सभी श्रमण क्षण भर के लिए विस्मित हुए। उनके भावो की श्रेणी चढी। चिन्तन चला—बाल मुनि ने स्वल्प समय मे ही परमार्थ को पा लिया है। चिरकालिक सयम प्रव्रज्या को पालन करने वाले हम भी क्या अपने लक्ष्य तक नही पहुच पाएगे? उत्तरोत्तर उनकी भावतरगे तीव्रगामी बनती रही। रात्रि के समय प्रत्यनीक देवो का उपसर्ग हुआ। उस स्थान को अप्रीतिकार जानकर ससघ वज्रस्वामी अन्य गिरिशृग पर गए। वहा पर दृढ सकल्प के साथ अपना आसन स्थिर किया। मृत्यु और जीवन की आकाक्षा से रहित उच्चतम भावो मे लीन श्रमण प्राणो का उत्सर्ग कर स्वर्ग को प्राप्त हुए।

अनशन की स्थिति मे परम समाधि के साथ वज्रस्वामी का स्वर्गवास हुआ। विशेष प्रभावकारक इस घटना ने देवो को प्रभावित किया।

पाच सौ श्रमणो सहित आर्य वज्रस्वामी की समाधिस्थली गिरिमण्डल के चारो ओर रथारूढ इन्द्र ने रथ को घुमाकर प्रदक्षिणा दी, अत उस पर्वत का नाम रथावर्त पर्वत हो गया था।

आर्य वज्रस्वामी जैन शासन के सबल आधार स्तम्भ थे। उनके स्वर्गगमन के साथ ही दसवे पूर्व की ज्ञान-सपदा एव चतुर्थ अर्धनाराच नामक सहनन की महान् क्षति जैन शासन मे हुई।[२३]

कालिक सूत्रो का अपृथक्त्व व्याख्यान पद्धति (प्रत्येक सूत्र की चरण करणानुयोग आदि चारो अनुयोगो पर विभागश. विवेचन) भी आर्य वज्र स्वामी के बाद अवरुद्ध हो गई।[२४]

वज्रस्वामी दश पूर्वधर थे। पदानुसारी लब्धि, क्षीरास्रवलब्धि आदि के धारक थे। गगनगामी विद्या के उद्धारक थे। नानारूप निर्मात्री

विद्या के वे स्वामी थे। दस पूर्वो की विशाल ज्ञान राशि के अंतिम संरक्षक आर्य वज्र ही थे। उनके बाद ऐसी क्षमता किसी को भी प्राप्त न हो सकी थी। महानिशीथ सूत्र के तृतीय अध्ययन मे प्राप्त उल्लेखानुसार, पंचमंगल श्रुतस्कंध को मूलसूत्रो के साथ नियोजित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होने किया था। उससे पहले पंचमंगल महाश्रुतस्कंध (नमस्कार महामंत्र) एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप मे प्रतिष्ठित था। इस सूत्र की व्याख्या मे कई निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि ग्रन्थ भी थे। कालक्रम से ये लुप्त हो गये।

समय संकेत

वज्र स्वामी ८ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे, उनका जन्म के बाद छह मास तक का समय मा के पास बीता। दीक्षा पूर्व अवशिष्ट आठ वर्ष के काल मे उनका पालन-पोषण गुरु नेश्राय मे शय्यातर के घर पर हुआ। उनकी कुल आयु ८८ वर्ष थी। मुनि पर्याय की कुल ८० वर्ष की कालस्थिति मे ३६ वर्ष तक उन्होने युग-प्रधान पद पर रहकर धर्मसघ का सफलतापूर्वक सचालन किया। विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी वी० नि० ५८४ (वि० सं० ११४) मे स्वर्गवासी हुए।

अतिशय विद्याओ के धनी विलक्षण वाग्मी आर्य वज्र जैन धर्म के सबल आधार स्तम्भ थे।

आधार-स्थल

१. जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ।
वदामि अज्जवइर अपच्छिमो जो सुयधराण ॥७६६॥
(आवश्यक-निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्राक ३९०)

२. थेरस्स ण अज्जसीहगिरिस्य जाईसरस्स कोसियगुत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था त जहा थेरे धणगिरि, थेरे अज्ज वइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरिहदिन्ने।
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

३. थेरस्स णं अज्जवयरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था त जहा-थेरे अज्जवइरसेणिए, थेरे अज्ज-पउमे, थेरे अज्जरहे।
(कल्प सूत्र-स्थविरावली)

४. धणपालसेट्ठिधूया, भणइ सुनंदत्ति तमि चेव पुरे।
देह मम धणगिरिणो, जेणाह त वसे नेमि ॥१४॥
(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति पत्रांक २०७)

५. जेण कुमारीण पिया जोव्वण भर भारियाण भत्तारो।
थेरत्ते पुत्तो पुण, नारीण रक्खओ होई ॥२२॥
(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति पत्रांक २०७)

६. ता ऊसवो स सन्नी, निम्मलमइनाणसंगओ सुणइ।
महिलाण तमुल्लावं जाइसरणो तओ होई ॥३१॥
(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति पत्रांक २०८)

७ अतिखिन्ना च साऽवादीदत्राऽऽर्यसमितो मुनि.।
साक्षी सख्यश्च साक्षिण्यो भाषे नात. किमप्यहम् ॥६४॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक ४)

८. निवसंतो तो तासि समीवदेसे सुणइ अगाई।
एक्कारसवि पढतीण, ताव तेणोवलद्धाणि ॥६७॥
एगपयाओ पयसयमणुसरइ मइ तहाविहा तस्स।
जाओ य अट्ठ वरिसो, ठविओ गुरुणा नियसमीवे ॥६८॥
(उपदेश माला विशेष वृत्ति पत्रांक २१०)

९. अष्ट वर्षोऽ भवद्वज्रो यावदार्या प्रतिश्रये।
ततो वसत्या मानिन्ये हर्षभाग्मर्महर्षिभिः ॥१३८॥
(परि० पर्व० सर्ग १२ श्लोक १३८)

१०. परि० पर्व० सर्ग १२ श्लोक सख्या १३८ से १०४ तक।

११. निमत देवपिण्डोऽय साधूना नहि कल्पते।
तस्मादनात्तपिण्डोऽपि व्रजामि गुरुसन्निधौ ॥१५४॥
(परि० पर्व० सर्ग १२)

१२. अथ वैक्रियलब्धाख्या विद्या तोषऽमृतोऽमरा.।
निष्क्रय कृप्तमायाया इव वज्राय ते ददु ॥१५७॥
(परि० पर्व० सर्ग १२ श्लोक १५७)

१३. वज्राय पूर्व सुहृदे विद्यामाकाशगामिनीम्।
प्रददु स्तोष भाजस्ते स्व स्व स्थानमथो ममु. ॥१६०॥
(परि० पर्व, सर्ग १२ श्लोक १६०)

१४. अस्माक वाचनाचार्यो वज्रोऽभूद्युष्मदाज्ञया ॥१८७॥
(परि० पर्व सर्ग १२ श्लोक १८७)

१५. वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः ।
तस्याचार्यप्रतिष्ठायां चक्रुरुत्सवमद्भुतम् ॥१३२॥
(प्रभावक चरित्र पत्रांक ६)

१६. क्षीरास्रवलब्धिमतः श्रीवज्रस्वामिन स्तया ।
धर्मदेशनया राजा हृतचित्तोऽभवतराम् ॥२६४॥
(परि० पर्व सर्ग श्लोक २६४)

१७ तत्रैव महाधनधनश्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी वज्रस्वामिन पतीयन्ती ।
प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना प्रव्राजिता ।
(विविध तीर्थकल्प, पाटलिपुत्र नगरकल्प पृ० ६६)

१८ अन्यदा जन्मसंसिद्धपदानु सृति लब्धिना ।
ततो भगवता वज्र स्वामिनाकाशगामिनी ॥३०७॥
महापरिज्ञाध्ययनादाचाराङ्गान्तर स्थितः ।
विद्योद्धृ भगवत. सङ्घस्योपचिकीर्षुणा ॥३०८॥
(परि० पर्व सर्ग १२ श्लोक सं० ३०७, ३०८)

१९. अन्यदा पूर्वदिग्भागाच्छ्रीवज्रो ऽगान्महामुनिः ।
सूर्यो मकरसङ्क्रान्ताविवाप्राच्यानुदग्दिशम् ॥३११॥
(परि० पर्व सर्ग १२, श्लोक संख्या ३११)

२०. बौद्धभावमपहाय पार्थिवः सप्रजोऽपि परमर्हितोऽभवता ॥३८८॥
(परि० पर्व सर्ग १२ श्लोक संख्या ३८८)

२१. स्वामी निमेषमात्रेण यागा-माहेश्वरीपुरीम् ॥३५३॥
अक्षुद्रः क्षुद्रहिमवद्गिरिं वज्रमुनिर्ययौ ॥३६१॥
(परि० पर्व० सर्ग १२ श्लोक संख्या ३५३, ३६१)

२२ इतो य वइरस्सामि दक्खिणावहे विहरति दुभिक्खं च ।
जाय वारसवरिसगं सव्वतो समता छिन्नपंथा निराधार जातं ॥
(आवश्यक-चूर्णि, पत्रांक ४०४)

२३. वास पंचसएहिं अज्जवयरे दसम पुव्व संघयणचउक्कं च अवगच्छिही ।
(विविधतीर्थ कल्प, पृ० ३८)

२४. जावंत अज्जवइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स ।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअसुइ दिट्ठिवाए ॥१६३॥
(आवश्यक मलय निर्युक्ति पृ० ३८३)

२६. अक्षय कोष आचार्य आर्यरक्षित

अनुयोग व्यवस्था आर्यरक्षित की गणना युगप्रधान आचार्यों मे है। वालभी युग प्रधान स्थविरावली के अनुसार आर्यरक्षित १६ वें युग प्रधान आचार्य हैं। माथुरी स्थविरावली में उनका २० वां क्रम है। पूर्वधर आचार्यों मे भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्यरक्षित अन्तिम सार्ध नव पूर्वधर थे। उन्होने जैन शासन मे कई नई प्रवृत्तियो की स्थापना की और विकास का द्वार खोला।

गुरु-परम्परा

आर्यरक्षित के गुरु आर्य तोषलिपुत्र थे। आर्य तोपलिपुत्र किस गण, कुल, शाखा से सम्बन्धित थे, इस सदर्भ का उल्लेख न तो आर्यरक्षित ने स्वय किया है और न प्रभावक चरित्र आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध है। आर्य तोषलिपुत्र ने अपना ज्ञान आर्यरक्षित को प्रदान किया। उसके पश्चात् अग्रिम अध्ययन के लिए तोषलिपुत्र ने उनको वज्रस्वामी के पास भेजा था। गुरु के आदेश से अवन्ति मे वज्रस्वामी के पास वर्षों तक रहकर आर्यरक्षित ने पूर्वो का ज्ञान ग्रहण किया था। वज्रस्वामी सुहस्ती की परम्परा के आचार्य सिहगिरि के शिष्य थे। इन प्रसङ्गो से आर्यरक्षित और तोषलिपुत्र की गुरु परम्परा भी आर्य सुहस्ती की परम्परा से सबधित सिद्ध होती है। मुनि कल्याणविजयजी ने उनको आर्य सुहस्ती की परम्परा का स्थविर माना है।

जन्म एवं परिवार

आर्यरक्षित का जन्म मध्यप्रदेशान्तर्गत (मालव) दसपुर (मंदसोर) निवासी ब्राह्मण परिवार मे हुआ। वालभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार उनका जन्म वी० नि० ५२२ (वि० ५२) माना गया है। आर्यरक्षित के पिता का नाम सोमदेव, माता का नाम रुद्रसोमा एव लघुभ्राता का नाम फल्गुरक्षित था।

जीवन-वृत्त

आर्यरक्षित के पिता सोमदेव को दशपुर नरेश उदायन के यहां

राजपुरोहित का सम्मानित स्थान प्राप्त था। ऐतिहासिक संदर्भ मे नरेश उदायन से संबधित किसी प्रकार का जीवन प्रसङ्ग समर्थित नही है।

राजपुरोहित सोमदेव की पत्नी रुद्रसोमा उदार हृदय और प्रियभाषिणी महिला थी। वह जैन शासन की दृढ उपासिका थी।

वर्णज्येष्ठ, कुलज्येष्ठ, क्रियानिष्ठ, कलानिधि सोमदेव को नागरिक जनों में विशेष आदर भाव प्राप्त था। उसके दो पुत्र थे। आर्यरक्षित और फल्गुरक्षित। दोनो पुत्र सूर्याश्व की भांति कुल की धुरा को वहन करने में सक्षम थे।[1] पुरोहित सोमदेव ने दोनो पुत्रो को वेदो का सांगोपांग अध्ययन करवाया। शास्त्रीय ज्ञान का पीयूष पान कर लेने पर भी महाविद्वान् आर्यरक्षित का मानस अतृप्ति का अनुभव कर रहा था। आगे पढने की तीव्र उत्कठा उसमे थी। विशेष प्रशिक्षण पाने के लिए वह पाटलिपुत्र गया। सद्यग्राही जागृत कुडलिनी के बल से धृतिधर प्रकृष्ट बुद्धिवान् आर्यरक्षित वेदो, उपनिषदो का पारगामी मनीषी बना। यथेप्सित अध्ययन कर लेने के बाद उपाध्याय का आदेश प्राप्त कर वह दशपुर लौटा। राजपुरोहित पुत्र होने के कारण महाप्रज्ञ आर्यरक्षित को राजम्मान प्राप्त हुआ। नागरिको ने हार्दिक अभिवादन किया एव घर-घर से उसे आशीर्वाद मिला। सभी का भव्य स्वागत झेलता हुआ आर्यरक्षित मा के पास पहुचा। रुद्रसोमा सामायिक कर रही थी। उसने आशीर्वाद देकर अपने पुत्र का वर्धापन नही किया।

राजसम्मान पा लेने पर भी मा के आशीर्वाद के बिना जननी वत्सल आर्यरक्षित खिन्न था। सोचा, धिक्कार है मुझे! शास्त्र समूह को पढ लेने पर भी मै मा को तोष नही दे सका।[2] सुन के उदासीन मुख को देखकर सामायिक-सम्पन्नता के बाद रुद्रसोमा बोली—"पुत्र! जो विद्या तुझे आत्मबोध न करा सकी उससे क्या? मेरे मन को प्रसन्न करने के लिए महाकल्याणकारी जिनोपदिष्ट दृष्टिवाद का अध्ययन करो।" आर्यरक्षित ने चिन्तन किया—"दृष्टिवाद का नाम भी सुन्दर है। इसका अध्ययन मुझे अवश्य करना चाहिए।" मा से आर्यरक्षित ने दृष्टिवाद के अध्यापनार्थ अध्यापक का नाम जानना चाहा। रुद्रसोमा ने बताया—"अगाध ज्ञान के निधि, दृष्टिवाद के ज्ञाता आर्य तोषलिपुत्र नामक आचार्य इक्षुवाटिका मे विराज रहे हैं।[3] जाओ पुत्र! उनके पास अध्ययन प्रारम्भ करो। तुम्हारी इस प्रवृत्ति से अवश्य ही मुझे शान्ति की अनुभूति होगी।"

मा का आशीर्वाद प्राप्त कर दूसरे दिन प्रात.काल होते ही आर्यरक्षित

ने इक्षुवाटिका की ओर प्रस्थान कर दिया। नगर के बहिर्भूभाग में उसे पिता का मित्र वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसके हाथ मे ६ इक्षुदण्ड पूर्ण थे। दशवां आधा था। इक्षु का यह उपहार लेकर वह आर्यरक्षित से मिलने ही आ रहा था। संयोगवश मित्रपुत्र को मार्ग के मध्य में ही पाकर वह प्रसन्न हुआ। आर्यरक्षित ने उनका अभिवादन किया। पिता-मित्र वृद्ध ब्राह्मण ने भी प्रीति-वश उसे गाढ आलिंगन मे बाध लिया। आर्यरक्षित ने कहा—"मैं अध्ययन करने के लिए जा रहा हूं। आप मेरे बंधुजनो की प्रसत्ति के लिए उनसे घर पर मिलें।" आर्यरक्षित ने अनुमान लगाया—इक्षुवाटिका की ओर जाते हुए मुझे सार्ध नव इक्षुदंडो का उपहार मिला। इस आधार पर मुझे दृष्टिवाद ग्रन्थ के सार्ध नव परिच्छेदो की प्राप्ति होगी, इससे अधिक नहीं।'

उल्लास के साथ आर्यरक्षित इक्षुवाटिका मे पहुचा। ढड्ढर श्रावक को वदन करते देख उन्होने उसी भांति आर्य तोषलिपुत्र को वदन किया। श्रावकोचित्त क्रियाकलाप से अज्ञात नवागतुक व्यक्ति को विधियुक्त वदन करते देख आर्य तोषलिपुत्र ने पूछा—"वत्स ! तुमने यह विधि कहां से सीखी ?" आर्यरक्षित ने ढड्ढर श्रावक की ओर संकेत किया और अपने आने का प्रयोजन भी बताया। आर्य तोषलिपुत्र ने ज्ञानोपयोग से जाना—"श्रीमद् वज्रस्वामी के बाद यह बालक महाप्रभावी होगा।" नवांगतुक आर्यरक्षित को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा—"दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए मुनि बनना आवश्यक है। आर्यरक्षित मे ज्ञानपिपासा प्रबल थी। वह श्रमण दीक्षा स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हुआ और गुरु चरणो मे उन्होने नम्र-निवेदन किया—"आर्य ! मिथ्या मोह के कारण लोग मेरे प्रति अनुरागी हैं। जैन सस्कारो से अज्ञात पारिवारिक जनो का ममकार (ममत्व) भी दुस्त्याज्य है। मेरे श्रमण बनने का वृत्तान्त ज्ञात होने पर राजा के द्वारा भी मुझे शक्ति-प्रयोग मे घर ले जाने के लिए विवश किया जा सकता है। इस प्रकार की घटना से किसी प्रकार जैन शासन की लघुता न हो इस कारण मुझे दीक्षा प्रदान करते ही अन्य देश मे विहरण करना उचित होगा। आर्य तोषलिपुत्र ने समग्र बातो को ध्यान से सुना और ईशान कोणाभिमुख आर्यरक्षित को सामायिक-व्रत का उच्चारण कराते हुए वी० नि० ५४४ (वि० ७४) मे दीक्षा प्रदान कर वहा से अन्यत्र प्रस्थान कर दिया। कालांतर मे अपनी ज्ञाननिधि को पूर्णत कर देने के बाद आर्य तोषलिपुत्र ने मुनि आर्यरक्षित को अग्रिम अध्ययन के लिए आर्य वज्रस्वामी के पास भेजा।

गुरु के आदेशानुसार मुनि आर्यरक्षित वहां से चले । मार्गान्तरवर्ती नगर अवन्ति में आचार्य भद्रगुप्त से उनका मिलन हुआ । आचार्य भद्रगुप्त वज्रस्वामी के विद्या गुरु थे। उन्होने आर्यरक्षित को गाढ स्नेह प्रदान करते हुए कहा—"आर्यरक्षित ! पूर्वों को पढ़ने की तुम्हारी अभिलाषा भद्र है, प्रशंसनीय है । तुम्हारा यहा आना उचित समय पर हुआ । मेरी मृत्यु का समय निकट है । अनशन की स्थिति मे मेरे पास रहकर तुम सहायक (निर्यामक) बनो । कुलीन व्यक्तियो का यही कर्त्तव्य होता है ।" आचार्य भद्रगुप्त का निर्देश पाकर आर्यरक्षित ने परम प्रसन्न मन से स्वयं को सेवाधर्म मे नियुक्त कर दिया । परम समाधि मे लीन, अनशन मे स्थित आर्य भद्रगुप्त ने एक दिन प्रसन्न मुद्रा मे कहा—"तुमने मेरी इतनी अच्छी परिचर्या की है जिससे क्षुधा एव तृषा की खिन्नता भी मुझे अनुभूत नही हुई । मैं तुम्हें एक मार्गदर्शन देता हूं । तुम वज्रस्वामी के पास पढ़ने के लिये जाओगे पर भोजन एवं शयन की व्यवस्था अपनी पृथक् रूप से रखना । क्योकि आर्य वज्र की जन्मकुण्डली (जन्मपत्रिका) का योग है—जो भी नवागन्तक व्यक्ति उनकी मडली मे भोजन करेगा और आर्य वज्रस्वामी के पास रात्रि शयन करेगा वह उन्ही के पास पचत्व को प्राप्त होगा । तुम शासन के प्रभावक बनोगे, संघाधार बनोगे अत· यह उपदेश मैं तुम्हें दे रहा हू ।"

आर्यरक्षित ने शीश झुकाकर 'आम्'—इति कहकर अत्यन्त विनीत भाव से आर्य भद्रगुप्त के मार्गदर्शन को स्वीकार किया । समाधिपूर्ण अवस्था मे आर्य भद्रगुप्त के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्यरक्षित ने वज्रस्वामी की दिशा मे अध्ययनार्थ प्रस्थान कर दिया । वहां पहुचते ही आर्य वज्रस्वामी के पास न जाकर रात्रि मे सोने की व्यवस्था उन्होने अपनी अलग की । आर्य वज्र-स्वामी ने ढलती रात मे स्वप्न देखा—दूध से भरा कटोरा नवागन्तुक पथिक आकर पी गया है पर कुछ पय उसमे अवशेष रह गया है । प्रातः होते ही स्वप्न की यह बात वज्रस्वामी ने अपने शिष्यो से कही । वार्तालाप का यह प्रसंग पूर्ण भी न हो पाया था तभी अपरिचित अतिथि ने आकर वज्रस्वामी को वन्दन किया । आर्य वज्रस्वामी ने पूछा—"तुम कहां से आ रहे हो ?" आर्यरक्षित बोले "मै आचार्य तोषिलपुत्र के पास से आ रहा हूं ।" दूरदर्शी, सूक्ष्मचिन्तक आर्य वज्रस्वामी ने कहा—"तुम आर्यरक्षित हो ? अवशिष्ट पूर्वों का ज्ञान करने के लिये मेरे पास आए हो ? तुम्हारे उपकरण, पात्र, सस्थारक कहा हैं ? उनको यहीं ले आओ । आहार-पानी की व्यवस्था यहां

बनाकर अध्ययन कार्य को प्रारम्भ करो। पृथक् रहने से पूर्वों का अध्ययन कैसे कर पाओगे ?" आर्यरक्षित ने आर्य भद्रगुप्त द्वारा प्रदत्त मार्ग-दर्शन को कह सुनाया और अपनी पृथक् रहने की व्यवस्था भी बता दी। वज्रस्वामी ने भी ज्ञानोपयोग से समग्र स्थिति को जाना और आर्य भद्रगुप्त के निर्देशानुसार उनके पृथक् रहने की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

दृष्टिवाद का पाठ विविध भागो, पर्यायो एव गभीर शब्दो के प्रयोग से अत्यन्त दुर्गम था। आर्यरक्षित ने स्वल्प समय मे ही इस ग्रन्थ के २४ यव पढ लिये थे। उनका अध्ययन विषयक प्रयास अद्भुत था।

इधर दशपुर मे रुद्रसोमा को पुत्र की स्मृति बाधित करने लगी। उसने सोचा, घर मे दीपक की तरह प्रकाश करने वाला पुत्र चला गया। इससे सारा वातावरण अधकारमय हो गया है। सोमदेव का परामर्श लेकर रुद्रसोमा ने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित से कहा—"पुत्र ! मेरा सदेश लेकर ज्येष्ठ भ्राता के पास जाओ। उनसे कहना—'भ्रात ! आपने जननी का मोह छोड दिया है, पर जिनेन्द्र भगवान ने भी वात्सल्यभाव को समर्थन दिया था और गर्भावास मे माता के प्रति अपूर्व भक्ति प्रदर्शित की थी। अत. आप भी माता को दर्शन देने की कृपा करे। हो सकता है आपने जिस मार्ग को स्वीकारा है आपका परिवार भी उस मार्ग पर चलने के लिये प्रस्तुत हो। आप मे मोह बुद्धि नही है। पर मा के उपकार को स्मरण करते हुए एक बार पधारकर उनके सामने कृतज्ञ भाव प्रकट करे। माता का आशीर्वाद ले।

मां का आदेश प्राप्त कर नम्राग फल्गुरक्षित आर्यरक्षित के पास गए एव मा की भावना को प्रस्तुत करते हुए बोले—"आपके दर्शन से पूज्या मां को अमृतपान जैसी तृप्ति होगी।" सयम साधना मे सावधान, विवेकशील, अन्तर्मुखी आर्यरक्षित ने फल्गुरक्षित के द्वारा रुद्रसोमा की अन्तर्वेदना को अनासक्त भाव से सुना और उन्होने अत्यन्त वैराग्यमयी भाषा मे कहा—"फल्गुरक्षित ! इस अशाश्वत ससार से क्या मोह है ? तुम्हारा भी सच्चा मोह मेरे प्रति है तो सयम जीवन स्वीकार कर अनवरत मेरे पास रहो।"

श्रेय कार्य मे विलम्ब श्रेष्ठ नही होता, यह सोच फल्गुरक्षित ने भाई की बात को सम्मान देते हुए तत्क्षण दीक्षा स्वीकार ली। यविकाओ का अविरल अध्ययन करते हुए एक दिन आर्यरक्षित ने आर्य वज्रस्वामी से पूछा—"भगवान् ! अध्ययन कितना अवशिष्ट रहा है ?" आर्य वज्रस्वामी गंभीर होकर बोले—यह प्रश्न पूछने से तुम्हे क्या लाभ है ? तुम दत्तचित्त होकर

पढते जाओ।" थोड़े समय के बाद यही प्रश्न पुनः आर्यरक्षित ने आर्य वज्र-स्वामी के सामने प्रस्तुत किया। वज्रस्वामी ने कहा—"वत्स ! तुम सर्षप मात्र पढे हो; मेरू जितना शेष पड़ा है। तुम अल्प मोहवश पूर्वों के अध्ययन को छोड़ने की सोच रहे हो यह कांजी के बदले क्षीर को, लवण के बदले कर्पूर को, कुसुम के बदले कुकुम को, गुजाफल के बदले स्वर्ण को परित्यक्त करने जैसा है।" गुरु का प्रशिक्षण पाकर आर्यरक्षित पुन: अध्ययन मे स्थिर हुए और नवपूर्वों का पूर्ण भाग एवं दसवे पूर्व का अर्धभाग उन्होने सम्पन्न कर लिया। आर्य फल्गुरक्षित पुनः-पुनः ज्येष्ठ भ्राता को माता-पिता की स्मृति कराते रहते थे। दृष्टिवाद के अथाह ज्ञान को धारण कर लेने मे एक दिन आर्यरक्षित का धैर्य डोल उठा। उन्होने वज्रस्वामी से निवेदन किया—"मुझे दशपुर जाने का आदेश प्राप्त हो, मैं शेष अध्ययन के लिए लौटकर शीघ्र ही आने का प्रयास करूंगा।" आर्य वज्र ने ज्ञानोपयोग से जाना—मेरा आयुष्य कम है। आर्यरक्षित का मेरे से पुन. मिलन होना असम्भव है। दूसरा कोई योग्य व्यक्ति ज्ञान-सिन्धु—दृष्टिवाद को ग्रहण करने मे समर्थ नही है। दसवा पूर्व मेरे तक ही सुरक्षित रह पायेगा। ऐसा ही स्पष्ट दीख रहा है।

आर्य वज्र गंभीर होकर बोले—"वत्स ? परस्पर उच्चावच्च व्यवहार के लिए "मिच्छामि दुक्कड है। तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो। तुम्हारा मार्ग शिवानुगामी हो।" गुरु का आदेश प्राप्त होने पर उन्हे वदन कर आर्यरक्षित फल्गुरक्षित के साथ वहा से चल पड़े।

शुद्ध सयम पूर्वक यात्रा करते हुए बन्धु सहित आर्यरक्षित पाटलिपुत्र पहुंचे। दीक्षा प्रदाता आर्य तोषलिपुत्र से प्रसन्नता पूर्वक मिले एवं सार्ध नव पूर्वों के अध्ययन की बात कही। पूर्वधर आर्यरक्षित को सर्वथा योग्य समझकर आर्य तोषलिपुत्र ने आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति की।[1]

आर्यरक्षित ने दशपुर की ओर प्रस्थान किया। मुनि फल्गुरक्षित ने आगे जाकर मा को आर्यरक्षित के आगमन की सूचना दी। ज्येष्ठ पुत्र के दर्शनार्थ उत्कठित जननी रुद्रसोमा पुत्रागमन की प्रतीक्षा कर रही थी। आर्य-रक्षित आ पहुंचे।

पिता सोमदेव को अपने पुत्रो का यह सीधा आगमन अच्छा नही लगा। वे चाहते थे, महान् उत्सव के साथ दोनो पुत्रो का नगर-प्रवेश होता। सोमदेव ने विशेष स्वागतार्थ दोनो पुत्रो को नगर के बाह्य उद्यान मे लौट

जाने को कहा पर आर्यरक्षित ने इस बात की स्वीकृति नहीं दी ।

पिता सोमदेव का दूसरा प्रस्ताव था—"पुत्र ! श्रमणवेश को छोड़कर द्वितीय आश्रम गृहस्थ जीवन की साधना करो और रूप यौवन सम्पन्ना योग्य कन्या के साथ महोत्सवपूर्वक श्रौत विधि से विवाह करने के लिए प्रस्तुत बनो। तुम्हारी माता को भी इससे आनन्द प्राप्त होगा। गृहस्थ जीवन की गाड़ी को वहन करने के लिए धनोपार्जन की चिन्ता तुम्हे नहीं करनी होगी। पूज्य नृपवर की कृपा से सात पीढ़ी सुख से भोग सके इतना द्रव्य मेरे पास है।"

अध्यात्म-साधना मे रत आर्यरक्षित ने राजपुरोहित पिता सोमदेव ने कहा—"मनीषी-मान्य, विज्ञ ! शास्त्रो का दुर्धर भार ही वहन कर रहे हो, जीवन के यथार्थ को नही पहचाना है। जन्म-जन्म मे माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पत्नी, सुता आदि अनेक बार ये संबध हुए हैं, इनमे क्या आनन्द है ? राजप्रसाद को भी भृत्य रूप मे रहकर अर्जित किया है इसमे भी गर्व किस बात का ? अर्थ-संपदा अनर्थ की जननी है, बहु उपद्रवकारिणी है। मनुष्य जन्म रत्न की तरह दुष्प्राप्य है। गृहमोह मे फंसकर विज्ञ मनुष्य इसको खोया नही करते। मेरा दृष्टिवाद का पठन भी पूर्ण नही हो पाया है। मै यहां कैसे रुक सकता हूं ? आपका मेरे प्रति सच्चा अनुराग मैं तभी समझूगा, आप दीक्षा स्वीकार करें।"

आर्यरक्षित की धीर-गभीर मगलमयी गिरा को सुनकर राजपुरोहित परिवार प्रतिबुद्ध हुआ एवं श्रमण धर्म मे दीक्षित हुआ। सोमदेव का दीक्षा संस्कार सापवादिक था। उन्होने छत्र, जनेऊ, कौपीन एवं पादुका का अपवाद रखा। पिता सोमदेव को इन अपवादो से मुक्त कर जैन-विहित विधि मे आर्य रक्षित द्वारा स्थिर करने की घटना आगम के व्याख्यात्मक साहित्य मे युक्ति-पूर्ण सदर्भ के साथ प्रस्तुत है।

एक बार सोमदेव मुनि श्रमणो के साथ चल रहे थे। आर्यरक्षित के सकेतानुसार मार्गवर्ती बालको ने कहा—"छत्रधारी के अतिरिक्त सब मुनियो को वन्दन करते हैं।" सोमदेव मुनि ने इसे अपना अपमान समझा और छत्र धारण करना छोड दिया। इसी तरह कौपीन के अतिरिक्त अन्य उपकरण भी छोड दिए थे। सोमदेव मुनि पहले भिक्षा लेने भी नहीं जाते। आर्यरक्षित के निर्देशानुसार एक दिन मुनि मंडली ने उन्हे भोजन के लिए निमंत्रण नहीं दिया। सोमदेव मुनि कुपित हुए। पिता की परिचर्या के लिए आर्यरक्षित स्वयं

भिक्षाचरी करने के लिए प्रस्तुत हुए ।

सोमदेव मुनि ने कहा— 'पुत्र ! आचार्य भिक्षाचरी करें और मैं न करूं, यह लोक व्यवहार की दृष्टि से उचित नही है अत स्वय ही इस क्रिया मे मैं प्रवृत्त बनूगा ।" सोमदेव मुनि भिक्षा के लिए चले । सपन्न श्रेष्ठी के घर पीछे के द्वार से चोर पथ से आते देख श्रेष्ठी कुपित हुआ। सोमदेव मुनि बुद्धि के धनी थे, वाक्पटु थे । उन्होने तत्काल कहा—"श्रेष्ठी ? लक्ष्मी का आगमन उलटे द्वार से ही होता है । मधुर वाणी में वातावरण को बदल देने की क्षमता होती है । सोच-समझकर विवेक पूर्ण बोला गया एक वाक्य भी विष को अमृतमय बना देता है । सोमदेव के सुमधुर शब्द के प्रयोग से श्रेष्ठी के क्रोध का पारा उतर गया । वह मुनि पर प्रसन्न हुआ । भक्तिभाव से अपने घर मे ले गया और बत्तीस मोदको का दान दिया । धर्मस्थान मे आर्यरक्षित के मार्ग-दर्शन से शिष्यमडली मे उन मोदकों का वितरण कर (दान देकर) महान् लाभ के भागी सोमदेव मुनि बने ।

आचार्य आर्यरक्षित का युगप्रधानत्व काल वी० नि० ५८४ (वि० ११४) से प्रारम्भ होता है । आर्यरक्षित का युग विचारो के संक्रमण का युग था । वह नई करवट ले रहा था । पुरातन परम्पराओ के प्रति जनमानस मे आस्थाएं डगमगा रही थी ।

नग्नो न स्यामहं यूय मा वन्दध्व सपूर्वजा. ।
स्वर्गोऽपि सोऽथ मा भूयाद् यो भावी भवदर्चनात् ॥१६८॥

प्रभावक चरित्र, पृ० १४

मुझे तुम वंदन भले न करो और तुम्हारी अर्चा से प्रापणीय स्वर्ग की उपलब्धि भी भले न हो, मैं नग्नत्व को स्वीकार नहीं करूगा ।"—पूर्वधर आर्यरक्षित के सामने पिता सोमदेव मुनि के ये शब्द प्राचीन नग्नत्व परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह का उद्घोष था ।

आर्यरक्षित भी स्थितिपालक नही थे । वे स्वस्थ परम्परा के पोषक थे । क्रान्तिकारी विचारो के वे सबल समर्थक भी थे । चतुर्मास की स्थिति मे दो पात्र रखने की प्रवृत्ति स्वीकार कर नई परम्परा को जन्म देने का साहस उन्होने किया था । उनके शासनकाल मे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनुयोग व्यवस्था का हुआ । आगम-वाचना का यह अतीव विशिष्ट अंग है । उससे पहले आगमो का अध्ययन समग्र नयो एवं चारो अनुयोगो के साथ होता था । अध्ययन क्रम की यह जटिल व्यवस्था थी । अस्थिरमति शिष्यो का धैर्य डग-

मगा जाता था। आर्यरक्षित के युग मे अध्ययन की नई व्यवस्था प्रारम्भ हुई। इसमे मुख्य हेतु विन्ध्य मुनि बने थे। विन्ध्य मुनि अतीव प्रतिभा सम्पन्न, शीघ्रग्राही मनीषा के धनी थे। आर्यरक्षित शिष्यमंडली को जो आगम-वाचना देते विन्ध्य मुनि उसे तत्काल ग्रहण कर लेते थे। उनके पास अग्रिम अध्ययन के लिए बहुत-सा समय अवशिष्ट रह जाता था। आर्यरक्षित से विन्ध्य मुनि ने प्रार्थना की, मेरे लिए अध्ययन की व्यवस्था पृथक् रूप से करने की कृपा करें। आर्यरक्षित ने इस महनीय कार्य के लिए महामेधावी दुर्बलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया। कुछ समय के बाद अध्यापनरत दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आर्यरक्षित से निवेदन किया— "आर्य विन्ध्य को आगम-वाचना देने से मेरे पठित पाठ के पुनरावर्तन मे बाधा पहुचती है। इस प्रकार की व्यवस्था से मेरी अधीत पूर्व ज्ञान की राशि विस्मृत हो जायेगी।"

शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के इस निवेदन पर आर्यरक्षित ने सोचा— महामेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है। आगम-वाचना प्रदान करने मात्र से अधीत ज्ञान राशि के विस्मरण की सभावना बन रही है। ऐसी स्थिति मे आगम ज्ञान का सुरक्षित रहना बहुत कठिन है।

दूरदर्शी आर्यरक्षित ने समग्रता से चिन्तन कर पठन-पाठन की जटिल व्यवस्था को सरल बनाने हेतु आगम अध्ययन क्रम को चार अनुयोगो मे विभक्त किया।[७] इस महत्वपूर्ण आगम-वाचना का कार्य द्वादश वर्षीय दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद दशपुर मे वीर निर्वाण ५९२ (वि० पू० १२२) के आस पास सम्पन्न हुआ।

सीमधर स्वामी द्वारा इन्द्र के सामने निगोद व्याख्याता के रूप मे आर्य रक्षित की प्रशसा, मथुरा मे आर्यरक्षित की आगम-ज्ञान की गहराइयो को जानने के लिए इन्द्रदेव का वृद्ध रूप मे आगमन, बनावटी वृद्ध की हस्तरेखा देखकर आर्यरक्षित द्वारा देव होने की स्पष्टोक्ति तथा निगोद की सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर सुरेन्द्र द्वारा मुनीन्द्र की भूरि-भूरि प्रशसा, जाते समय अन्य मुनियों की जानकारी हेतु सुगधित पदार्थों का वातावरण म विकीर्णन तथा उपाश्रय द्वार के दिक् परिवर्तन तक की समग्र घटना का विस्तार से आवश्यक निर्युक्ति-मलयवृत्ति मे उल्लेख है।[८] पन्नवणा सूत्र के रचनाकार श्यामार्य के साथ भी यह घटना अत्यन्त प्रसिद्धि-प्राप्त है, अत इसे प्रस्तुत प्रकरण मे न देकर आचार्य श्याम के जीवन-प्रसङ्ग मे ससदर्भ निबद्ध कर दिया गया है।

आर्यरक्षित के पास योग साधक शिष्यो की प्रभावक मंडली थी।

तीन पुष्यमित्र उनके शिष्य थे—दुर्बलिका पुष्यमित्र, घृत पुष्यमित्र एवं वस्त्र पुष्यमित्र। तीनों शिष्य लब्धि सम्पन्न शिष्य थे[९] एवं आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ध्यानयोग के विशिष्ट साधक भी थे।

आर्यरक्षित का प्रमुख विहार-क्षेत्र अवन्ति, मथुरा एवं दशपुर (मदसौर) के आसपास का क्षेत्र था। उनके जीवन की विशेष घटनाएं इन्हीं नगरों से संबंधित है।

आर्यरक्षित विविध क्षमताओं से संपन्न थे एवं आगम-ज्ञान के अक्षय-कोष थे। आगम-वाचना के लिए अनुयोग व्यवस्था की स्थापना आर्यरक्षित की जैन समाज को विशिष्ट देन है।

समय-संकेत

आर्यरक्षित २२ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। उनका सामान्य मुनि जीवन ४४ वर्ष का था। संयमी जीवन मे कुल ५७ वर्ष के काल मे १३ वर्ष तक उन्होने युगप्रधानाचार्य पद का सम्यक् वहन किया। वे ७५ वर्ष की उम्र को पार कर वी० नि० ५९७ (वि० १२७) मे स्वर्गगामी बने।[१०] यह क्रम वालभी युग पट्टावली के आधार पर है। माथुरी वाचना के अनुसार आर्यरक्षित का स्वर्गगमन वी० नि० ५८४ (वि० स० ११४) मे मान लिया गया है।

आधार-स्थल

१. सूर्यशिवयोरिव यमौ तयो पुत्रौ बभूवतु ।
आर्यरक्षित इत्याद्यो द्वितीय फल्गुरक्षितः ।।९।।

(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ९)

२ धिग् ! ममाधीतशास्त्रौघ बह्वप्यवकरप्रभम् ।
येन मे जननी नैव परितोषमवापिता ।।१९।।

(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ९)

३ ताव चिंतेइ—नाम पि चेव मुन्दरं, जइ कोइ अज्झावेइ अज्झामि, माया वि तोसिया भवई, ताहे भणइ कहिं ते दिट्ठिवायजाणतगा ? सा भणइ—अम्हं उच्छुघरे तोसलिपुत्ता नाम आयरिया ।

(आवश्यकमलय वृत्ति, पत्राङ्क ३९४)

४ न वाह दृष्टिवादस्य पूर्वाण्यध्ययनानि वा ।
दशम खण्डमध्येषु दध्यौ यानिति मोमभूः ।।५४।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३)

५. श्रीमत्तोसलिपुत्राणां मिलितः परया मुदा ।
पूर्वाणां नवके सार्द्धे सगृहोती गुणोदधिः ॥११७॥
तं च सूरिपदे न्यस्य गुरवोऽगुः परं भवम् ।
अथार्यरक्षिताचार्यः प्रायाद् दशपुरंपुरम् ॥११७॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क १२)

६. व्यवहार-चूर्णि, उद्देशो ८

७. देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खियअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥७७४॥

८. (क) आवश्यक मलयवृत्ति, पत्राङ्क ४०० ।
(ख) इत्थ भूयघरे ठिआ निगोयवत्तव्वयं नियाउपरिमाणं च पुच्छिय तुट्ठचित्तेण सक्केण अज्जरक्खिअसूरी वंदिआ उवस्सयस्स य अन्नओ-हुत्तं दारं कयं ।
(विविधतीर्थ कल्प, पृ० १९)

९. इत्थ वत्थपूसमित्तो घयपूसमित्तो दुब्बलियापूसमित्तो य लद्धिसंपन्ना विहरिया ।
(विविधतीर्थ कल्प, पृ० १९)

१०. दुस्सम-काल-समण-सघत्थव 'युग प्रधान' पट्टावली ।

३०. दुरित निकन्दन आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र स्वाध्याय योग और ध्यानयोग के विशिष्ट साधक थे। उनका बुद्धिबल भी अतुलनीय था। आर्यरक्षित की सार्ध ९ पूर्व की विशाल ज्ञान राशि से ९ पूर्वो का ज्ञान ग्रहण मे ये सफल सिद्ध हुए। आर्य रक्षित की शिष्य परम्परा मे पूर्वो की इतनी विशाल राशि को धारण करने वाले वे अकेले थे।

गुरु परम्परा

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के गुरु पूर्वधर आर्यरक्षित थे। आर्यरक्षित के दीक्षा गुरु आर्य तोषलिपुत्र एव पूर्वो के प्रज्ञाता वज्रस्वामी थे। आर्य तोषलिपुत्र को शोध विद्वानो मे सुहस्ती की परम्परा का स्थविर माना है। इस आधार पर दुर्बलिका पुष्यमित्र की गुरु परम्परा आर्य सुहस्ती की परम्परा से संबधित सिद्ध होती है।

जीवन-वृत्त

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रबल धृतिधर, कष्टसहिष्णु, महा-मेधावी श्रमण थे। इनका जन्म वी० नि० ५५० (वि० ८०) मे हुआ। उनके गृहस्थ जीवन सम्बन्धी अन्य सामग्री अनुपलब्ध है। सयमी जीवन मे प्रवेश पाने के बाद दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आर्य रक्षित के पास आगमो एव पूर्वो का अध्ययन किया। शास्त्रो के अनवरत गुणन-मनन, पुनरावर्तन मे दत्तचित्तता एवं प्रबल ध्यान साधना के परिश्रम परिणाम स्वरूप उनका शरीर सस्थान अत्यन्त कृश था। दुर्बलिका पुष्यमित्र—यह उनका नाम कृशकाय होने के कारण सार्थक भी था।

एक बार बौद्ध भिक्षु आर्यरक्षित के पास आए। प्रभावक चरित के अनुसार बौद्ध उपासक आये थे।[1] उन्होने बौद्ध शासन में निर्दिष्ट उच्चतम ध्यान प्रणाली की प्रशंसा की और कहा, 'हमारे सघ मे विशिष्ट ध्यान साधक भिक्षु हैं, आपके संघ मे ध्यान साधना का विकास नहीं है।'

आर्यरक्षित ने कहा, 'जैन परम्परा मे भी ध्यान साधना का क्रम

विद्यमान है।' उन्होंने दुर्बलिका पुष्यमित्र को उनके सामने प्रस्तुत करते हुए बताया, 'इस शिष्य के वपुः दौर्बल्य का निमित्त ध्यान साधना है।[१] 'यह दुर्बलिका पुष्यमित्र अप्रमत्त भाव से अहर्निश ध्यान साधना में निरत रहता है।'

बौद्ध उपासको को आर्यरक्षित के कथन पर विश्वास नही हुआ। उन्होने कहा, 'मुनि की कृशता का कारण स्निग्धाहार का अभाव है। आपको गरिष्ठ भोजन की उपलब्धि नही होती है।'

बौद्ध उपासको की शका के समाधान मे आर्य रक्षित ने घृत पुष्यमित्र और वस्त्र पुष्यमित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया और कहा, 'इन शिष्यो को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बन्धित चारो ही प्रकार की घृतलब्धि और वस्त्रलब्धि प्राप्त है।[२] ये श्रमण लब्धियो के प्रभाव से घृत और वस्त्र सम्बन्धी सामग्री को पर्याप्त रूप से प्रस्तुत कर समग्र सघ की यथेप्सित आवश्यकता को पूरी कर सकते हैं।

दोनों शिष्यो की क्षमता को उदाहरण की भाषा मे समझाते हुए आर्यरक्षित बोले, 'मथुरा देश की अनाथ कृष्ण महिला अपने हाथ से कपास को बीनकर वस्त्र बनाती है और उनके विक्रय से अपनी आजीविका चलाती है। यह महिला वर्षा, शिशर और हेमन्त ऋतु मे भी श्रमण वस्त्र पुष्यमित्र के उपस्थित होने पर उसे प्रमुदितमना वस्त्र प्रदान करने हेतु प्रस्तुत हो जाती है।

'अवन्ति प्रदेश की कृपण गर्भिणी निकट प्रसवा महिला के लिए उसके पति ने याचनापूर्वक छह महीनो के प्रयत्नो से घृत सचय किया। उस घृत को कृपण महिला अपने क्षुधार्त पति के द्वारा माग किए जाने पर भी प्रदान नही करती पर घृतपुष्यमित्र के उपस्थित होने पर ज्येष्ठ और आषाढ मास मे भी वह घृत उसी कृपण महिला द्वारा द्वारस्थ मुनि को सहर्ष प्रदान कर दिया जाता।[४]

'लब्धिधर इन समर्थ मुनियो के होते हुए भी सघ मे पौष्टिक भोजन के अभाव की कल्पना भ्रान्ति मात्र है। शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रतिदिन गरिष्ठ एव घृतासिक्त भोजन स्वेच्छापूर्वक करता है।[५] प्रस्तुत विषय की विश्वसनीयता प्राप्त करने के लिए इन्हे अपने स्थान पर रखकर परीक्षा ले सकते हैं।'

श्रमण दुर्बलिका पुष्यमित्र गुरु के आदेश से उनके साथ चले गये।

बौद्ध उपासकों ने अपने स्थान पर शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना और आहार विधि का समग्रता से कई दिनों तक अवलोकन किया। स्निग्ध और अति स्निग्ध भोजन को ग्रहण करने पर भी कृशकाय मुनि दुर्बलिका पुष्यमित्र का शरीर दिन-प्रतिदिन अधिक कृश बनता गया। भस्म में प्रक्षिप्त घृत की भांति रस परिणत आहार उनके शरीर में अरस परिणत सिद्ध होना।[१] रसोत्पत्ति न होने का कारण उनके शरीर में पाचन शक्ति की दुर्बलता नहीं पर स्वाध्याय, ध्यानरत आर्य दुर्बलिका पुण्यमित्र द्वारा अनास्वाद वृत्ति से भोजन का ग्रहण था। बौद्ध उपासको को दुर्बलिका पुष्यमित्र की साधना वृत्ति से अन्तःतोष हुआ।

आर्यरक्षित के घृत पुष्यमित्र और वस्त्र पुष्यमित्र के अतिरिक्त चार और प्रमुख शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य, गोष्ठामहिल।[२] दुर्बलिका पुष्यमित्र विनय, धृति आदि गुणो से संपन्न था। आर्यरक्षित की विशेष कृपा इन पर थी।

मेधावी फल्गुरक्षित आर्यरक्षित के लघु सहोदर थे। गोष्ठामाहिल तार्किक शिरोमणि एवं वादजयी मुनि थे। घृत पुष्यमित्र एवं वस्त्र पुष्यमित्र भी श्रमण परिषद् के विशेष अलंकार भूत थे।

एक बार श्रमण परिवार परिवृत आर्य रक्षित दशपुर मे विहरण कर रहे थे। मथुरा में अक्रियावादी अपना प्रबल प्रभुत्व स्थापित करने लगे थे। आर्यरक्षित ने उनके प्रभाव को प्रतिहत कर देने के लिए शास्त्रार्थ-कुशल गोष्ठामाहिल को वहा भेजा था। उनके वाक्-कौशल का अमित प्रभाव मथुरा के नागरिको पर हुआ। श्रावको ने वादजयी मुनि के पावस की विशेष माग आचार्य देव के सामने प्रस्तुत की। जैन शासन की विशेष प्रभावना की सभावना का चिंतन कर आर्यरक्षित ने गोष्ठामाहिल को मथुरा में ही चातुर्मासिक स्थिति सम्पन्न करने का आदेश दिया।

आर्यरक्षित का यह चातुर्मास दशपुर मे था। इस चातुर्मास मे उनके सामने भावी उत्तराधिकारी की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। आचार्य पद जैसे उच्चतम पद के लिए आर्यरक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को योग्य समझा था।[३] उस समय का श्रमण वर्ग भी इस विषय मे अत्यधिक जागरूक था। उन्होने मेधावी मुनि फल्गुरक्षित और वादजयी मुनि गोष्ठामाहिल का नाम प्रस्तुत किया।[४]

आचार्य का दायित्व श्रमण संघ को अधिक से अधिक तोष प्रदान

करना है। अपने इस दायित्व की भूमि पर श्रमणो के मन को समाहित करने के लिए तीन कलशो का दृष्टान्त देते हुए आर्यरक्षित प्रश्न की भाषा मे बोले, 'सुविज्ञ श्रमणो ! कल्पना करो……एक कलश उड़द धान्य से, दूसरा कलश तेल से, तीसरा कलश घृत से पूर्ण भरा हुआ है। तीनो कलशो को उलट देने का परिणाम क्या होगा ?' संघ हितैषी श्रमणो ने नम्र होकर कहा, 'पहला कलश पूर्ण रिक्त हो जायेगा। दूसरे कलश मे तेल की बूदे अल्प मात्रा मे एव तीसरे कलश मे घृत की बूदे अत्यधिक परिमाण मे अवशिष्ट रह जाएंगी।'

दृष्टान्त को शिष्यो पर घटित करते हुए आर्यरक्षित मधुर एवं गम्भीर शब्दो में समझाने लगे, 'शिष्यो ! उड़द धान्य प्रथम कलश की भाति मै अपना सम्पूर्ण ज्ञान दुर्बलिका पुष्यमित्र मे निहित कर चुका हूं। फल्गुरक्षित मे द्वितीय कलश के समान एव गोष्ठामाहिल मे तृतीय कलश के समान अल्प-अल्पतर मात्रा में मै ज्ञान राशि को स्थापित कर पाया हू।'[१०]

सुविनीत, श्रद्धानिष्ठ, चितनशील श्रमणो ने आर्यरक्षित के विचारो की गहराई को समझा। उनके मन को समाधान मिला।

आर्यरक्षित की सूझ-बूझ से निर्विरोध वातावरण का निर्माण हुआ। आचार्य-पद की नियुक्ति के लिए सर्वथा समुचित अवसर उपस्थित हो गया था। अनुकूल परिस्थित का लाभ उठाते हुए आर्यरक्षित ने शिष्य समुदाय को सबोधित करते हुए कहा, 'शिष्यो ! मेरे द्वारा प्रदत्त सूत्रागम और अर्थागम का ज्ञाता दुर्बलिका पुष्यमित्र को मै आचार्य पद पर स्थापित कर रहा हू।' धर्मसघ को आचार्य के निर्विरोध निर्णय से प्रसन्नता हुई।

दुर्बलिका पुष्यमित्र को आर्यरक्षित ने प्रशिक्षण दिया—'आर्य ! मैंने जैम फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल के साथ समुचित व्यवहार किया है तुम भी इन्हे इसी प्रकार सम्मान से रखना।' श्रमणो को भी आचार्य के प्रति कर्त्तव्य-बोध का पथ-दर्शन दिया। समग्र सघ को समुचित शिक्षाए देकर आर्यरक्षित गण-चिन्ता से मुक्त बने। उनका उसी वर्ष स्वर्गवास हो गया। आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने वी० नि० ५८४ (वि० ११४) मे सघ का दायित्व सभ ला।

गोष्ठामाहिल को आर्यरक्षित के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त हुई। वे पावस पूर्णाहुति के बाद दशपुर मे आए। उन्होंने मार्गवर्ती लोगो से पूछा—'गणधारक कौन हैं ?' उत्तर मे सभी के द्वारा दुर्बलिका पुष्यमित्र का नाम सुनकर गोष्ठामाहिल का मन खिन्न हुआ। श्रमणो एव श्रावको ने उन्हे

संघ मे सम्मिलित होने के लिए समुचित मार्ग-दर्शन दिया पर गोष्ठामाहिल ने किसी के कथन को समादर नहीं दिया ।

नवोदीयमान ध्यान योगी दुर्बलिका पुष्यमित्र द्वारा शिष्यो को प्रदीयमान आगम-वाचना का गोष्ठामाहिल श्रवण नहीं करते थे । मुनि विन्ध्य की आगम-वाचना मे वे सम्मिलित होते थे और उनसे अर्थागम वाचना करते समय गोष्ठामाहिल मे मिथ्याभिनिवेश प्रकट हुआ । वे कर्म बन्धन की प्रक्रिया को लेकर उलझ गए । गोष्ठामाहिल के अभिमत से कर्म का बन्ध, स्पृष्ट आदि अवस्थाओ का तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश की भूमिका पर उद्वर्तना, अपवर्तना, निधत्ति, निकाचना आदि भेद-प्रभेदो का भिन्न-भिन्न प्रकार से उद्‌बोध दिया । प्रतिक्षण जागरूक, निष्पक्ष, निराग्रही, पापभीरु, दुर्बलिका पुष्यमित्र ने भी नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया, पर पूर्वाग्रहग्रस्त गोष्ठामाहिल ने अपना अभिमत नही बदला ।

इक्षु मे रस, तिल मे तेल, पय मे नवनीत की भांति कर्म की आत्म-प्रदेशो के साथ बद्ध अवस्था न स्वीकार करने के कारण गोष्ठामाहिल द्वारा वी० नि० (५८४) वि० स० (११४) मे अबद्धिक मत की स्थापना हुई । जैन परम्परा मे गोष्ठामाहिल सातवे निह्नव हैं ।"[1]

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के जीवन मे ज्ञान, दर्शन, चरित्र—ये तीनों पक्ष उजागर थे । उनके अध्यात्म जीवन की सफलता मे महान् निमित्त उनकी ध्यान साधना थी । बौद्ध उपासको को भी आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना से अन्त:तोष प्राप्त हुआ था । प्रस्तुत प्रबन्ध मे ध्यान योगी विशेषण आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना के वैशिष्ट्ययुग को प्रकट करता है ।

समय-संकेत

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र लगभग १७ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे । सयम पर्याय के ५० वर्षीय काल में ३३ वर्ष तक उन्होने आचार्य पद के दायित्व का कुशलतापूर्वक वहन किया । विशिष्ट ध्यान-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वी० नि० ६१७ (वि० सं० १४७) में वे स्वर्ग सम्पदा के स्वामी बने ।"[2]

आधार-स्थल

१. सौगतोपासकास्ते च सूरिपार्श्वे समाययु: ॥२२०॥

(प्रभावकचरित, पृ० १६)

२. ताणि भणति—अम्हं भिक्खुणो झाणपरा, तुज्झ झाणं नत्थि, आयरिया भणति—अम्ह चेव झाण,""""दुब्बलियपूसमित्तो सोझा-णेण चेव दुब्बलो ।

(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्राङ्क ३९८)

३. तत्राद्यपुष्यमित्रस्य लब्धिरासीच्चतुर्विधा ।
द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालतो भावतस्तथा ।।२०९।।

(प्रभावकचरित, पृ० १६)

४. द्रव्यतो घृतमेव स्यात् क्षेत्रतोऽवन्तिमण्डलम् ।
ज्येष्ठाषाढे कालतस्तु भावतोऽथ निगद्यते ।।२१०।।
दुर्गता ब्राह्मणी षड्भिर्मासै. प्रसवधर्मिणी ।
तद्भर्तेति विमृश्याज्य भिक्षित्वा सचये दधौ ।।२११।।
तत सा प्रसवे चाद्यश्वीने क्षुद्बाधित द्विजम् ।
तद् घृत याचमानं त रुणद्ध्यन्यनिराशया ।।२१२।।
स मुनिश्चेदर्थयेद् दत्ते तदपि सा मुदा ।
यावद्गच्छोपयोग्य स्यात् तावदाप्नोति भावत. ।।२१३।।

(प्रभावकचरित, पृ० १६)

५. दुर्बल. पुष्यमित्रोऽपि यथालब्ध घृत घनम् ।
भुनक्ति स्वेच्छयाऽभीक्ष्ण पाठाभ्यासात् तु दुर्बला ।।२१८।।

(प्रभावकचरित, पृ० १६)

६. स्वजना व्यमृशन्नस्य भुक्त भस्मानि होमवत् ।
ददुर्बहुतर ते च ततोऽप्यस्य न किंचन ।।२२८।।

(प्रभावकचरित, पृ० १६)

७. तत्थ य गच्छे चत्तारि जणा पहाणा, सो चेव दुब्बलियपूसमित्तो विझो फग्गुरक्खितो गोट्ठामाहिलोत्ति ।

(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्राङ्क ३९८)

८. आर्यरक्षितसूरिश्च व्यमृशत् कः पदोचित ।
दुर्बल पष्यमित्रोऽय तद्विचारे समागमत् ।।२६४।।

(प्रभावकचरित, पृ० १७)

९. जो पुण से सयणवग्गो तेसिं गोट्ठामाहिलो फग्गुरक्खितो वा अभिमतो ।

(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्राङ्क ४००)

१०. दुब्बलियापूसमित्तं पति सुत्तत्थतदुभएसु निप्फावकुडसमाणो अहं जातो, फग्गुरक्खियं पति तेल्लकुडसमाणो, गोट्ठामाहिलं पति घयकुड-समाणो, अतो मम।

(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्राङ्क ४००)

११. विज्झो आणुभासइ, तं सुणेइ, अट्ठमे कम्मपवायपुव्वे कम्मं वन्निज्जइ, जहा कम्मं बज्झइ, जीवस्स य कहं बंधो, एत्थ विचारे सो अभिनिवे-सेण अन्नहा मन्नंतो य निण्हवो जातो।

(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्राङ्क ४०२)

१२ दुस्सम-काल-समण-संघत्थव 'युगप्रधान' पट्टावली

३१. विवेक-दर्पण आचार्य वज्रसेन

श्वेताम्बर परम्परा मे वज्रसेन अपने युग के प्रभावी आचार्य थे । युग प्रधान आचार्यों मे उनकी गणना है । सोपारक नगर के श्रेष्ठी जिनदत्त और उनके परिवार को प्रतिबोध देने का श्रेय वज्रसेन को है । सवा सौ वर्ष की वृद्धावस्था मे आचार्य पद को अलकृत करने वाले आचार्य वज्रसेन वीर निर्वाण की उत्तरवर्ती आचार्य परंपरा मे सर्वप्रथम हैं ।

गुरु-परम्परा

वज्रसेन की वज्रस्वामी के द्वारा गणाचार्य पद पर नियुक्त हुई । वज्रस्वामी वज्रसेन के दीक्षा गुरु नही थे । प्रभावक चरित्र आदि ग्रन्थो मे वज्रसेन के दीक्षा गुरु का उल्लेख ही नही है पर वज्रस्वामी से वय ज्येष्ठ और चरित्र पर्याय ज्येष्ठ होने के कारण वज्रसेन के दीक्षागुरु गणाचार्य सिंहगिरि सम्भव हैं । आर्य सिंहगिरि आर्य सुहस्ती की कोटिकगण की शाखा के थे । वज्रस्वामी के दीक्षा गुरु भी आर्य सिंहगिरि ही थे ।

युगप्रधानाचार्य क्रम मे आर्य वज्रस्वामी के बाद आर्यरक्षित, आर्यरक्षित के बाद दुर्बलिका पुष्यमित्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र के बाद वज्रसेन का क्रम है ।

वज्रसेन के प्रमुख चार शिष्य थे—१. नागेन्द्र, २ निवृत्ति, (३) चन्द्र और ४ विद्याधर ।[1] इन चार शिष्यो से क्रमश. नागेन्द्र कुल, निवृत्ति कुल, चन्द्र कुल और विद्याधर कुल का उद्‌भव हुआ । प्रत्येक कुल मे उत्तरोत्तर अनेक प्रभावक आचार्य हुए । वज्रस्वामी की गण-परम्परा आर्य रथ से आगे बढती है । वज्रसेन के शिष्यो द्वारा प्रवर्तित चारो गच्छ प्रभावक चरित्र ग्रथ की रचना के समय विद्यमान थे ।[2]

जीवन-वृत्त

आचार्य वज्रसेन का जन्म वी० नि० ४९२ (वि० २२) मे हुआ । उम्र का एक दशक ही पूर्ण नही हो पाया, वे त्याग के कुलिश-कठोर पथ पर बढ़ने को उत्सुक बने । पूर्ण वैराग्य के साथ वी० नि० ५०१ (वि० ३१) में

उन्होंने मुनि-जीवन मे प्रवेश पाया। आगमो का गम्भीर अध्ययन कर वे जैन दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता बने।

उत्तर भारत उनका प्रमुख विहार-क्षेत्र था। वीर निर्वाण की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध महान् संकट का समय था। द्वादशवर्षीय दुष्काल की काली छाया से पूरा उत्तर भारत भयंकर रूप से आक्रान्त हो चुका था। यह समय वी० नि० ५८० (वि० स० ११०) से वी० नि० ५६२ (वि० स १२२) तक था। इस समय लब्धिधर विलक्षण वाग्मी एवं संघ की नौका को कुशलतापूर्वक वहन करने वाले आर्य वज्रस्वामी वृद्धावस्था मे पहुंच चुके थे। जीवन के संध्याकाल मे वे पाच सौ मुनियो के परिवार सहित अनशनार्थ रथावर्त पर्वत पर जाने की तैयारी मे लगे थे। उस समय वज्रसेन भी वज्रस्वामी के साथ ही थे। दीर्घायु होने के कारण वज्रसेन गण परम्परा एवं युग प्रधान के दायित्व को वहन करने मे समर्थ है—यह सोच वज्रस्वामी ने वश वृद्धि हेतु वी० नि० ५८४ (वि० ११४) मे वज्रसेन को गण नायक बनाकर कुकुण देश मे विहरण करने का आदेश दिया।

अनशन की स्थिति मे आर्य भद्रगुप्त ने वज्रस्वामी के पास जाते हुए आर्यरक्षित को कहा था–जो भी व्यक्ति वज्रस्वामी की मण्डली मे भोजन ग्रहण करेगा और उनके पास रात्रिशयन करेगा वह उन्ही के साथ पञ्चत्त्व को प्राप्त होगा, पर वज्रसेन के साथ यह नियम लागू नही हुआ। क्योकि वज्रसेन आर्य वज्रस्वामी से उम्र और चारित्र पर्याय दोनो से ज्येष्ठ थे।

वज्रसेन गहरे अनुभवो के धनी थे। दुष्काल के इन क्षणो मे वज्रस्वामी के आदेशानुसार वहा वे ग्रामानुग्राम विहरण करते रहे। उन्होंने कुकुण की ओर प्रस्थान किया। मुनि-वृन्द से परिवृत गणाचार्य वज्रसेन का पदार्पण वी० नि० ४६२ (वि० १२२) मे सोपारक नगर मे हुआ।[1] दुष्काल इस समय परिसमाप्ति बिन्दु से गुजर रहा था। सोपारक देश का राजा जितशत्रु एवं रानी धारिणी थी। वहा का धनी-मानी श्रेष्ठी जिनदत्त धर्म का महान् उपासक था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। धृति सम्पन्न एव विपुल सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी श्रेष्ठी जिनदत्त दुष्काल के उग्र प्रकोप से विक्षुब्ध हो उठा था। क्षुधा-पिशाचिनी के क्रूर प्रहार से प्रताडित श्रेष्ठी का परिवार जिन्दगी की आशा खो चुका था। श्राविका ईश्वरी का धैर्य भी धान्याभाव के कारण डगमगा गया। पारिवारिक जनों ने परस्पर परामर्शपूर्वक सविष भोजन खाकर प्राणान्त करने की बात सोची।[2] ईश्वरी ने एक लाख स्वर्ण मुद्रा के

शालि पकाए। अब वह भोजन मे विष मिलाने का प्रयत्न कर रही थी। भिक्षार्थ नगर मे पर्यटन करते हुए आर्य वज्रसेन श्रेष्ठी जिनदत्त के घर पहुंचे।[7] मुनि को देखकर ईश्वरी एवं जिनदत्त परम प्रसन्न हुए। उन्होने अपना अहो-भाग्य माना। विषपूरित पात्र को भोजन से दूर रख दिया एवं मुनि को विशुद्ध भावो से दान दिया।

ईश्वरी चतुर महिला थी। उसने अपने अन्तर्द्वन्द्व को मुनि के सामने रखा एवं लक्ष मूल्य के पाक मे विष-मिश्रित करने की योजना प्रस्तुत की।[8] घटना प्रसङ्ग को सुनते ही आर्य वज्रसेन मुनि को दश पूर्वधर वज्रस्वामी के कथन का स्मरण हो आया और जिनदत्त श्रेष्ठी के समग्र परिवार को आश्वासन देते हुए वे बोले "भोजन को विष मिश्रित मत करो", अब यह कष्ट अधिक समय का नही है। दुष्काल चरम सीमा पर पहुच चुका है। मुझे दश पूर्वधर वज्रस्वामी ने कहा था, जिस दिन लक्ष मूल्य पाक को उपलब्धि होगी वही दुष्काल की परिसमाप्ति का दिन होगा। इस कथन के आधार पर कल ही सुखद प्रभात का उदय होने वाला है।"

उद्दीप्त भाव एवं नि:स्वार्थ प्रवृत्तिक मुनि वज्रसेन के अमृतोपम वचनो को सुनकर जिनदत्त श्रेष्ठी एवं उसके परिवार को आत्मतोष की अनुभूति हुई एवं भोजन के साथ विष-मिश्रण की योजना स्थगित कर सुकाल की प्रतीक्षा मे समता से कालयापन करने लगे।

दूसरे दिन प्रभात मे अन्न से भरे पोत नगर की सीमा पर आ पहुंचे।[8] आर्य वज्रसेन की वाणी सत्य प्रमाणित हुई। श्रेष्ठी का पुरा परिवार काल कवलित होने से बच गया।

प्रस्तुत घटना-प्रसङ्ग के बाद संसार से विरक्त होकर जिनदत्त श्रेष्ठी और ईश्वरी ने अपने पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर और निवृत्ति के साथ आर्य वज्रसेन से दीक्षा ग्रहण की।[9] चारो पुत्रो के नाम पर चार कुल (गण) स्थापित हुए—नागेन्द्र कुल, चन्द्र कुल, विद्याधर कुल, निवृत्ति कुल। प्रत्येक शाखा मे अनेक प्रभावक आचार्य हुए है। नागेन्द्र आदि चारो मुनियो के लिए कुछ कम दश पूर्वधारी होने का उल्लेख भी मिलता है।[10]

वज्रसेन के द्वारा सोपारक मे धर्म की अतिशय प्रभावना हुई। जिनदत्त का परिवार अन्नाभाव के कारण मृत्यु का ग्रास बनने जा रहा था, उस समय वज्रसेन ने अत्यन्त विवेक से काम किया। उन्होने श्रेष्ठी परिवार को इस प्रकार बोध दिया जिससे सभी ने अन्त तोष का अनुभव किया। दुष्काल की

परि-समाप्ति के बाद श्रेष्ठी जिनदत्त का परिवार मुनिचर्या को स्वीकार कर धर्म के प्रचार-प्रसार मे आर्य वज्रसेन का अनन्य सहयोगी बना ।

जैन इतिहास का यह विशेष प्रभावक घटना-प्रसङ्ग वज्रसेन के विवेक-बोध को युग-युग तक दुहराता रहेगा ।

समय-संकेत

विवेक दर्पण आचार्य वज्रसेन दीर्घजीवी आचार्य थे । वे नौ वर्ष की अवस्था मे श्रमण बने । अनुयोगधर आचार्य आर्यरक्षित की अनुयोग व्यवस्था के समय आचार्य वज्रसेन वाचनाचार्य के रूप मे उपस्थित थे । उन्होने युगप्रधान के रूप मे आचार्य पद का दायित्व ध्यान योगी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के बाद वी० नि० ६१७ (वि० १४७) मे सम्भाला । उनका आचार्य-काल मात्र तीन वर्ष का था । संयम-पथ पर उनके चरण लगभग १२० वर्ष तक सोत्साह बढते रहे । उनकी सर्वायु १२८ वर्ष की थी । वे वी० नि० ६२० (वि० १५०) मे स्वर्ग सम्पदा के स्वामी बने ।"

आधार-स्थल

१. नागेन्द्रो निवृत्तिश्चन्द्र· श्रीमान् विद्याधरस्तथा ।।१६६।।
(प्रभावक चरित्र, पृ० ८)

२. अद्यापि गच्छास्तन्नाम्ना जयिनोऽवनिमण्डले ।
वर्तन्ते तत्र तीर्थे च मूर्तयोऽद्यापि साईणा. ।।१६८।।
(प्रभावक चरित्र, पृ० ८)

३. वज्रसेनश्च सोपार नाम पत्तनमभ्यगात् ।।१८५।।
(प्रभावक चरित्र, पृ० ८)

४ विना धान्यक्रयाद् दुःखं जीवितास्म. कियच्चिरम् ।
तद्वर सविषं भोज्यमुपभुज्य समाहिताः ।।१८६।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३)

५ पक्वान्न लक्षमूल्यं सा यावन्नाक्षिपद्विषम् ।
वज्रसेनमुनिस्तावत्तज्जीवातुरिवागमत् ।।१८६।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३)

६. हृष्टाथ तस्मै विस्मेरचक्षुर्भिक्षामदत्त सा ।
लक्षमूल्यस्य पाकस्य वृत्तान्तं च न्यवेदयत् ।।१६२।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३)

७. तो भणइ वइरसेणो, मा खीरीए खिवेइ विसमेयं ॥३७०॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति २२०)

८. अह अवरण्हे देसंतराहि पत्ताणि जाणवत्ताणि ।
अइपउर धन्नपुन्नाइं, तेहिं जायं अइसुभिक्खं ॥७६॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति २२०)

९. ध्यात्वेति सा सपुत्राऽथ व्रतं जग्राह साग्रहा ।
नागेन्द्रो निवृत्तिश्चन्द्र. श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥१९६॥

(प्रभावक चरित्र, पृ० ८)

१०. अभूवंस्ते किञ्चिदूनदशपूर्वविदस्तत· ।
चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धारधुरंधराः ॥१९७॥

(प्रभावक चरित्र, पृ० ८)

११ तत्पट्टे १४ श्री वज्रसेनसूरिः स च दुर्भिक्षे श्रीवज्रस्वाम्याज्ञया सोपारके पत्तने गत्वा जिनदत्तगृहे ईश्वरीनाम्न्या भार्यया दुर्भिक्षभयाल्लक्षपाक-भोज्ये विषक्षेपादिकारणे निवेदिते प्रात· सुकालो भावीत्युक्त्वा विषनिक्षेपं निवार्य्य नागेन्द्र १ चन्द्र २ निर्वृत्ति ३. विद्याधरा ४ स्यान्चतुरः सकुटुबेभ्यः पुत्रान् प्रव्राजितवान् तेभ्यश्चत्वारि कुलानि जज्ञिरे। स वज्रसेनो ९ वर्षाणि गृहे, ११६ व्रते त्रीणि वर्पाणि युगप्रधानत्वे, सर्वायुः साष्टाविंशतिशत प्रपाल्य वीरात् ६२० वर्षान्ते स्वर्गभाग् बभूव ।

(पट्टावली समुच्चय, श्रीगुरुपट्टा पृ० १६६, १६७)

३२. आलोक कुटीर आचार्य अर्हद्बलि

दिगम्बर परम्परा के आचार्य अर्हद्बलि समर्थ संघ नायक थे। नन्दी, वीर, अपराजिता आदि एक साथ कई संघ की स्थापना करने का श्रेय उन्हे है। ज्ञानबल से भी वे सम्पन्न थे। अष्टाङ्ग महानिमित्त के ज्ञाता थे और अङ्गो के एक देश पाठी विद्वान् थे। पूर्वांशो का ज्ञान भी उन्हे था।[१] अर्हद्बलि का दूसरा नाम गुप्तिगुप्त था।[२]

गुरु-परम्परा

इन्द्रनदी श्रुतावतार को गुरु-परम्परा के अनुसार आचार्य अर्हद्बलि की पूर्व गुरु-परम्परा मे लाहाचार्य के पश्चात् अङ्ग और पूर्वों के एक देशपाठी आचार्य विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद् हुए। उनके बाद अर्हद्बलि का उल्लेख आया है। तिलोयपण्णत्ति मे आचाराङ्ग के सम्पूर्ण ज्ञाता तथा शेष अङ्गो और पूर्वो के एक देशपाठी आचार्य सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु तत्पश्चात् लोहाचार्य का क्रम है। इससे आगे की गुर्वावलि तिलोयपण्णत्ति मे नही है। नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली मे सुभद्राचार्य, यशोभद्राचार्य, भद्रबाहु, लोहाचार्य के पश्चात् अर्हद्बलि का उल्लेख है।[४] नन्दी सघ की पट्टावली मे प्राप्त उल्लेखानुसार अर्हद्बलि से पूर्व गुरु लोहाचार्य थे।

जीवन-वृत्त

इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार मे प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य अर्हद्बलि पूर्व देश मध्यवर्ती पुण्ड्रवर्धन के निवासी थे। वे अति विशुद्ध सत्क्रिया करने वाले आचार्य थे तथा सघ पर अनुग्रह-निग्रह करने का सबल सामर्थ्य भी उनमे था।[५]

पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय एक बार आन्ध्र प्रदेश में वेणानदी के तट पर बसे महिमा नगर मे महामुनि सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य अर्हद्बलि ने की थी।

धार्मिक महोत्सव के इस प्रसंग पर १०० योजन तक के मुनिनायक अपने गण सहित उपस्थित हुए थे। इन मुनिगणो मे विद्वान, तपस्वी, स्वा-

ध्यायी, ध्यानी, अध्ययन-अध्यापनरत श्रमण भी थे। अर्हद्बलि ने मुनिगणो से पूछा—"सर्वेऽप्यागताः यत." "आप सब आ गए हैं।"[१] मुनिजनो के ओर से उत्तर था—"हम अपने गण सहित पहुच गए हैं। आचार्य अर्हद्बलि अनुभवी थे और मानव मानस पारखी थे। मुनिजनो के उत्तर पर उनकी पक्षपात पूर्ण अन्तरङ्ग नीति को पहचान कर उन्होने ग्यारह नये सघ स्थापित किए। उनके नाम इस प्रकार हैं—नदी संघ, वीर संघ, अपराजित सघ, देव संघ, पचस्तूप सघ, सेन संघ, भद्र संघ, गुणधर संघ, गुप्त संघ, सिंह संघ, और चन्द्रसंघ आदि। मौलिक सूझबूझ के साथ इन संघों की स्थापना कर आचार्य अर्हद्बलि ने एक नई संघ व्यवस्था को जन्म दिया। इन सघो को स्थापित करने मे धर्म वात्सल्य की अभिवृद्धि एवं जैन संघ की एकता को अखण्ड बनाए रखना ही उनका प्रमुख उद्देश्य था।

महामुनि सम्मेलन की अध्यक्षता एव नए सघो की स्थापना आचार्य अर्हद्बलि के सफल एव सबल सघ नायकत्व को प्रमाणित करती है।

समय-संकेत

आचार्य अर्हद्बलि का समय नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली मे प्राप्त उल्लेखानुसार वी० नि० ५६५ (वि० ६५) के पश्चात् शुरू होता है। इसी पट्टावली मे अर्हद्बलि का काल २८ वर्ष का माना गया है। आचार्य अर्हद्बलि के अनन्तर होने वाले आचार्य माघनदी का समय वी० नि० ५९३ के पश्चात् प्रारम्भ होता है। इस आधार पर आचार्य अर्हद्बलि का समय वी० ५६५ से ५९३ (वि० ९५ से १२३) तक का स्पष्ट ही है।

आधार-स्थल

१. सर्वाङ्गपूर्व देशैकदेशवित्पूर्व देश मध्य गते।

(इन्द्रनदि श्रुतावतार)

२. श्री मानशेषनरनायकवंन्दितांघ्रि श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेयाः॥

(नन्दिसंघपट्टावली)

३. पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू।
तुरिमो य लोहणामो एदे आयार-अगधरा॥१४९०॥
सेसेक्करसंगाणं चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा।
एक्कसयं अट्ठारसवासजुद ताण परिमाणं॥१४९१॥

(तिलोयपण्णत्ति)

४. सुभद्दं च जसोभद्दं भद्दबाहुकमेण च ।
लोहाचय्य मुणीसं च कहिय च जिणागमे ॥१३॥
अरिह माघनन्दि य धरसेणं पुप्फयत भूदबली ॥१६॥
(नन्दीसंघपट्टावली)

५. श्री पुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्यः ॥८५॥
स च तत्प्रसारणा धारणा विशुद्धाति सत्क्रियो युक्तः ।
अष्टांग निमित्तज्ञः सघानुग्रहनिग्रहसमर्थः ॥८६॥
(इन्द्रनदि श्रुतावतार)

६. आस्त संवत्सरपंचकवासाने युगप्रतिक्रमणम् ।
कुर्वन्योजनशतमात्रवर्ति मुनिजनसमाजस्य ॥८७॥
अथ सोऽयदा युगान्ते कुर्वन् भगवान्युगप्रतिक्रमणम् ।
मुनिजनवृन्दमपृच्छत्कि सर्वेऽप्यागता यतः ॥८८॥
(इन्द्रनदि श्रुतावतार)

३३. धैर्यधन आचार्य धरसेन

दिगम्बर परम्परा के आचार्य धरसेन अष्टांग महानिमित्त के पारगामी विद्वान् थे। अङ्ग और पूर्वो का उन्हें एक देशीय ज्ञान परपरा से प्राप्त था।[1] अग्रायणी पूर्व की पञ्चम वस्तु के अन्तर्गत 'महाकम्मपयडी' नामक चतुर्थ प्राभृत का भी उन्हे विशिष्ट ज्ञान था।[2] मन्त्र-तन्त्र शास्त्रो पर भी उनका आधिपत्य था। षट्खण्डागम का सम्पूर्ण विषय उनके द्वारा सम्यक् प्रकार से गृहीत था।

गुरु-परम्परा

आचार्य धरसेन की गुरु-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नही है। नन्दी सघ की प्राकृत पट्टावली मे अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त भूतबलि का नाम क्रम से आया है। इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार मे भी अर्हद्बलि, माघनन्दी और धरसेन का उल्लेख है। इन दोनो ग्रन्थो के आधार पर धरसेन आचार्य के गुरु माघनन्दी और माघनन्दी के गुरु अर्हद्बलि के होने की सम्भावना है।

जीवन-वृत्त

आचार्य धरसेन सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्र गुफा मे निवास करते थे।[3] वे लेखन कला मे प्रवीण थे। प्रवचन एव प्रशिक्षण देने की उनकी शैली भी विलक्षण थी। ज्ञान दान मे उनका हृदय उदार था और चिन्तन दूरगामी था। श्रुत की धारा को अविच्छिन्न रखने के लिए उन्होने महिमा महोत्सव मे (आध्र प्रदेश, वेणानदी के तट का पार्श्ववर्ती स्थान) एकत्रित दक्षिणा-पथ विहारी महासेन आचार्य प्रमुख श्रमणो के पास एक पत्र भेजा था। इस पत्र के द्वारा उन्होने प्रतिभा-सम्पन्न मुनियो की माग की थी।

श्रमणो ने धरसेन द्वारा प्रेषित पत्र पर गभीरता से चिन्तन किया और समग्र श्रमण मुनि परिवार से चुनकर दो मेधावी मुनियो को उनके पास भेजा था। दोनों ही श्रमण विनयवान्, शीलवान्, जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न एव कला सम्पन्न थे। आगमार्थ को ग्रहण और धारण करने मे समर्थ थे और

वे आचार्यों से तीन बार पूछकर आज्ञा लेने वाले थे ।

टीकाकार वीरसेन के शब्दो मे यह प्रसंग निम्नोक्त प्रकार से उल्लिखित है :—

"तेण वि सोरट्ठ-विसयगिरिणयरपट्टणचंदगुहाठिएण अट्ठंग महाणिमित्त पारएण गन्थवोच्छेदो होहदित्ति जादभएण पवयणवच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो । लेहट्ठिय धरसेण वयणमवधारिय ते हि वि आइरिएहि बे साहू गहणधारण समत्था धवलामलबहुविह विणयविहूसियगा सीलमालाहरा गुरुपेसणासणतित्ता देसकुलजाइसुद्धा सयलकलापारयात्तिक्खुत्ता बुच्छियाइरिया अन्धविसयवेण्णायणादो पेसिदा ।"

जब दोनो श्रमण वेणानदी के तट से धरसेनाचार्य के पास आने के लिए प्रस्थित हुए थे उस समय पश्चिम निशा मे आचार्य धरसेन ने स्वप्न देखा था—दो धवल कर्ण ऋषभ उनके पास आये और उन्हे प्रदक्षिणा देकर उनके चरणो म बैठ गए है । इस शुभ सूचक स्वप्न से आचार्य धरसेन को प्रसन्नता हुई । उत्तम पुरुषो के स्वप्न सत्य फलित होते हैं । आचार्य धरसेन का स्वप्न भी फलवान् बना । दोनो श्रमण ज्ञान ग्रहण करने के लिए उनके पास आ पहुचे थे ।

आचार्य धरसेन की परीक्षा विधि मे भी उभय मुनि उत्तीर्ण हुए और विनयपूर्वक श्रुतोपासना करने लगे । उनका अध्ययनक्रम शुभतिथि, शुभनक्षत्र शुभदिन म प्रारम्भ हुआ था । आचार्य धरसेन को आज्ञा प्रदान करने की अपूर्व क्षमता एव युगल मुनियो की सूक्ष्मग्राही प्रतिभा का मणि-कांचन योग था । अध्ययन का क्रम द्रुतगति से चला । आषाढ शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न-काल मे वाचना-कार्य सम्पन्न हुआ था । कहा जाता है, इस महत्त्वपूर्ण कार्य की सम्पन्नता के अवसर पर देवताओ ने भी मधुरवाद्य ध्वनि की थी । इसी प्रसंग पर धरसेनाचार्य ने एक का नाम भूतबलि और दूसरे का नाम पुष्पदत रखा था ।

निमित्त ज्ञान से अपना मृत्युकाल निकट जानकर धरसेनाचार्य ने सोचा, 'मेरे स्वर्गगमन से इन्हें कष्ट न हो ।' उन्होने दोनो मुनियो को श्रुत की महा उपसम्पदा प्रदान कर कुशल क्षेमपूर्वक उन्हे विदा किया ।

आगम निधि सुरक्षित रखने का यह कार्य आचार्य धरसेन के महान् दूरदर्शी गुण को प्रकट करता है । जैनसमाज के पास आज षट्खण्डागम जैसी अमूल्य कृति है, उसका श्रेय आचार्य धरसेन के इस भव्य प्रयत्न को है ।

समय-संकेत

आचार्य धरसेन अर्हद्बलि के समसामयिक थे। नदी संघ की प्राकृत पट्टावली मे अर्हद्बलि के लिए वी० नि० ५६५ ईस्वी सन् ३८ का उल्लेख है। अर्हद्बलि का काल २८ वर्ष का है। तदन्तर माघनंदी और धरसेन के समय का क्रमशः उल्लेख है। माघनदी का काल २१ वर्ष का है। माघनंदी के बाद धरसेन का समय ६१४ से प्रारम्भ होता है। धरसेन का काल १६ वर्ष का माना गया है। इस आधार पर दूरदर्शी आचार्य धरसेन का समय ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी वी० नि० ६१४ से ६३३ (वि० १४४ से १६३) तक सिद्ध होता है। दिगम्बर विद्वानों द्वारा आचार्य धरसेन का यही समय निर्धारित हुआ है।

नदी संघ पट्टावली मे आचार्य धरसेन से संबधित समय सूचक पद्य इस प्रकार है।

पंचसये पणसठे अन्तिम-जिण-समयजादेसु।
उप्पण्णा पंचजणा इयगधारी मुणेयव्वा ।।१५।।
अरिहबलि माघनंदि धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
अउवीस इगवीसं उगणीस तीस वीस वास पुणो ।।१६।।
(नदी संघ प्राकृत पट्टावली)

आधार-स्थल

१ तदो सव्वेसिगं-पुव्वाणामेगदेशो आइरियपरम्पराए।
आगच्छमाणो धरसेणाइरिय सपत्तो ।।
(धवला० पु० ? पृ० ६७)

२. अग्गायणीय णामं पंचम वत्थुगत कम्मपाहुडया।
पयडिट्ठिदिअणुभागो जाणंति पदेसबंधो वि ।।८२।।
(श्रुतस्कंध ब्रह्महेमचंद्र)

३. उज्जिते गिरि सिहरे धरसेणो धरइ वय-समिदिगुत्ती।
चंदगुहाई णिवासी भवियहु तसु णामहु पय जुयल ।।८१।।
(श्रुतस्कन्ध ब्रह्म हेमचंद्र)

३४. गौरवशाली आचार्य गुणधर

गुणधर दिगंबर परपरा के मनीषी आचार्य थे। दिगंबर परपरा के श्रुतधर आचार्यों मे आचार्य गुणधर का नाम प्रमुख है। आचार्य गुणधर को पंचम ज्ञानप्रवादपूर्वगत दशम वस्तु के तृतीय पेज्जदोष पाहुड़ का ज्ञान था। यह उनके कषाय पाहुड के अध्ययन से प्रतीत होता है। आचार्य गुणधर महाकम्म पयडि पाहुड के भी विशिष्ट ज्ञाता थे। कषाय पाहुड़ के बंध, संक्रमण आदि अधिकारो मे कर्मविज्ञान का जो विशुद्ध विवेचन हुआ है वह महाकम्म पयडि पाहुड के अनुयोग द्वारो से सबधित बताया जाता है। महाकम्म पयडि पाहुड का २४वा अल्पबहुत्व नामक अनुयोग द्वार भी कषाय पाहुड के अर्थाधिकारों से संबद्ध माना गया है। इससे सिद्ध है पेज्जदोस पाहुड ज्ञान के साथ महाकम्मपयडि पाहुड पर भी गुणधराचार्य का ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण आधिपत्य था।

गुरु-परम्परा

इन्द्रनदी के श्रुतावतार मे दिगबर समाज समर्थित जो गुरु-परपरा प्राप्त है उसमे गुणधर का उल्लेख नही है। इन्द्रनन्दी सूत्र सिद्धात के पारगामी विद्वान् थे। उनके द्वारा विशिष्ट आचार्यों के साथ गुणधर का उल्लेख न हो—यह बिन्दु चिन्तन की अपेक्षा अवश्य रखता है पर इतिहास के अन्य सदर्भो को देखते हुए स्पष्ट अनुभूत होता है—गुणधर उस समय के युग प्रभावी आचार्य थे। आचार्य अर्हद्बलि की अध्यक्षता मे पांच वर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय बृहद् मुनि सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन मे सौ योजन तक के मुनि सम्मिलित हुए तथा नन्दी, वीर, अपराजित आदि कई सघ स्थापित हुए। उनमें एक गुणधर संघ की स्थापना भी हुई। यह गुणधर सघ की स्थापना आचार्य गुणधर के नाम पर थी। इससे स्पष्ट है उस समय आचार्य गुणधर का व्यक्तित्व या उनसे संबधित संघ या गण इतना प्रभावी रहा है जिसके कारण उस बृहद् सम्मेलन मे गुणधर संघ की स्थापना करनी पड़ी।

साहित्य

साहित्यिक क्षेत्र मे श्रुतधर गुणधर का योगदान मूल्यवान् है । गुणधर और धरसेन दोनो की श्रुत प्रतिष्ठापक के रूप मे प्रसिद्धि है । गुणधर ने कषाय पाहुड़ सुत्त जैसे उत्तम ग्रन्थ का निर्माण किया और धरसेन ने श्रुतज्ञान का दान पुष्पदत्त और भूतबलि जैसे योग्य शिष्यों को देकर श्रुत की धारा को अविच्छिन्न बनाए रखा। आचार्य गुणधर द्वारा रचित कषाय पाहुड़ का परिचय इस प्रकार है :—

कषाय पाहुड़

कषाय पाहुड ग्रन्थ को महा समुद्र के तुल्य माना गया है । यह ग्रन्थ दिगबर परपरा का कर्म विज्ञान सम्बन्धी प्रतिनिधि ग्रन्थ है । इसका दूसरा नाम पेज्जदोष पाहुड़ भी है । कषाय पाहुड के १६००० पद्य परिमाण विषय को १८० गाथाओ मे उपसहृत कर देना गुणधर आचार्य की विशेष क्षमता का प्रतीक है । गाथासूत्र शैली मे कषाय पाहुड की रचना हुई है ।[1] प्रमेयरत्न माला टिप्पण मे सूत्र लक्षणो की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है :—

अल्पाक्षरमसदिग्ध सारवद् गूढनिर्णयम् ।
निर्दोष हेतुमत्तथ्य सूत्र सूत्रविदो विदु ॥

अल्पाक्षरता, असदिग्धता, सारवत्ता, गूढ निर्णयकता, निर्दोषता, सहेतुता ये सूत्र के लक्षण है । इन समग्र लक्षणो से युक्त प्रस्तुत ग्रन्थ की सूत्र शैली सरस और प्रभावक है ।

कषाय पाहुड़ ग्रन्थ मे १५ अधिकार है और ५३ विवरण गाथाओ सहित २३३ गाथाएं है । इन १५ अधिकारो मे और २३३ गाथासूत्रो मे क्रोधादि कषायो का, राग द्वेष की परिणतियो का, कर्मो की विभिन्न अवस्थाओ का तथा इन्हे शिथिल करने वाले आत्म परिणामो का विस्तृत विवेचन है ।

गुणधराचार्य ने कषाय पाहुड़ की सूत्र गाथाओ का वाचन आर्य मक्षु और नागहस्ती को दिया था ।[2] चूर्णिकार यतिवृषभ को कषाय पाहुड के गाथा-सूत्र गुणधराचार्य से नही, आर्य मक्षु और नागहस्ती से प्राप्त हुए थे ।[3] जय-धवला टीका के अनुसार यति वृषभ आर्य मक्षु के शिष्य और नागहस्ती के अन्तेवासी थे ।[4]

आर्य मक्षु और नागहस्ती श्वेताम्बर परम्परा के आर्य मगू और आर्य नागहस्ती ही हैं या भिन्न है—यह गभीर शोध का विषय है ।

आचार्य वीरसेन एव जिनसेन ने इसी ग्रन्थ पर ६० सहस्र श्लोक

परिमाण जयधवला नामक टीका की रचना की है। एवं यतिवृषभ ने प्रस्तुत ग्रंथ पर ६००० श्लोक परिमाण चूर्णि ग्रंथ की रचना की है।

जयधवला के मंगला चरण में वीरसेन लिखते हैं।

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहि वियरियं तं गुणहरभडारयं वंदे॥

मैं उन आचार्य गुणधर को वंदन करता हूं जिन्होने कषाय पाहुड जैसे उत्तम उज्ज्वल ग्रंथ का गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया है।

समय-संकेत

श्रुतधर गुणधराचार्य के समय का निर्धारण आधुनिक शोधो द्वारा अर्हद्बलि के समय के आधार पर किया गया। नंदी संघ की प्राकृत पट्टावलि मे अर्हद्बलि का समय वी० नि० ५६५ (वि० ९५) है। अर्हद्बलि के नेतृत्व मे होनेवाले वृहद मुनि सम्मेलन मे गुणधर संघ की स्थापना हुई थी। संघ स्थापना की स्थिति मे पहुंचने तक की ख्याति अर्जन करने मे गुणधर की परंपरा को कम से कम सौ वर्ष लगे ही होगे। इस आधार पर डा० नेमिचंद्र शास्त्री आदि विद्वानों ने गुणधराचार्य का समय वि० पू० प्रथम शताब्दी निर्धारित किया है।[५] इस आधार पर गुण निधि आचार्य गुणधर का समय वीर निर्वाण चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है।

आधार-स्थल

१. गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥
(कषायपाहुडसुत्त, गाथा २)

२. एव गाथा सूत्राणि पंचदशमहाधिकाराणि।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमक्षुभ्याम्॥
(श्रुतावतार, पद्य १५४)

३. पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखू णागहत्थीण पत्ताओ। पुणो तेसि दोण्ह पि पादमूले असीदिसदगहाण गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभट्टारएण पवयणवच्छलेण चुण्णियुत कयं।
(कसाय पाहुड, जयधवला टीका, भाग-१ पृष्ठ ८८)

४. अज्ज मंखु सीसो अतेवासी वि णागहत्थिस्स।
(जयधवला टीका पृ० ४)

५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा।
(पृष्ठ-३०-३१)

३५-३६. प्रबुद्धचेता आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि

पुष्पदन्त और भूतबलि महामेधासम्पन्न आचार्य थे। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा आचार्य धरसेन के ज्ञान-पारावार को ग्रहण करने मे सक्षम सिद्ध हुई। उन्होने अगस्त्य ऋषि के सागर-पान की परम्परा को श्रुतोपासना की दृष्टि से दुहरा दिया था।

गुरु-परम्परा

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के शिक्षा गुरु धरसेन थे। धरसेनाचार्य ने महिमा नगरी मे होने वाले धार्मिक महोत्सव मे सम्मिलित आचार्यो के पास पत्र भेजा था। उस पत्र मे दो मुनियो को अध्ययनार्थ प्रेपित करने की सूचना थी। इसी सूचना के अनुसार दक्षिणापथ के आचार्यो ने मेधा-सम्पन्न श्रमण पुष्पदन्त और भूतबलि को धरसेनाचार्य के पास भेजा था। दोनो ने विनय-पूर्वक धरसेनाचार्य से पट्खण्डागम के विषय का तथा सैद्धान्तिक तत्त्वो का गम्भीर अध्ययन किया था अत. धरसेनाचार्य के पुष्पदन्त और भूतबलि विद्या शिष्य थे। श्रवणबेलगोल १०५ सख्यक अभिलेख मे पुष्पदन्त और भूतबलि को अर्हद्बलि का शिष्य बताया है।[1] इस आधार पर कहा जा सकता है—ये पुष्पदन्त और भूतबलि थे।

जीवन-वृत्त

पुष्पदन्त श्रेष्ठिपुत्र थे और भूतबलि सौराष्ट्र के नहपान नामक नरेश थे। गौतमी पुत्र शातकर्णी से पराजित होकर नहपान नरेश ने श्रेष्ठिपुत्र सुबुद्धि के साथ दिगम्बर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। धरसेनाचार्य के पास सौराष्ट्र के गिरिनगर को चन्द्र गुफा मे उन्होने अध्ययन किया। शिक्षा सम्पन्न होने के बाद धरसेनाचार्य से आशीर्वाद पाकर पुष्पदन्त और भूतबलि वहा से विदा हुए। दोनो ने एक साथ अङ्कुलेश्वर मे चातुर्मासिक स्थिति सम्पन्न की। वर्षावास समाप्त होने के बाद पुष्पदन्त और भूतबलि ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। दोनो सानन्द करहाटक पहुचे। करहाटक मे श्रमण पुष्पदन्त अपने भानेज जिनपालित से मिले। जिनपालित योग्य बालक था। पुष्पदन्त

ने उसे मुनि दीक्षा प्रदान की और वे नवदीक्षित मुनि जिनपालित को साथ लेकर बनवास देश मे गए। भूतबलि द्रविड देश की मथुरा नगरी में रुके।[*] उत्तर कर्णाटक का ही प्राचीन नाम बनवास बताया गया है।

साहित्य

दिगम्बर परम्परा मे कषाय प्राभृत के रचनाकार आचार्य गुणधर के बाद साहित्य रचना के क्षेत्र मे आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि का अनुदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। षट्खण्डागम की रचना इन दोनो आचार्यो के सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम है। षट्खण्डागम रचना का घटना प्रसग इस प्रकार है—आचार्य पुष्पदन्त ने बनवास देश (उत्तर कर्णाटक) में रहते हुए आचार्य धरसेन द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर वीसदिसुत्त के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रो का निर्माण किया। जिनपालित के द्वारा उन सूत्रों को भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने पुष्पदन्ताचार्य रचित वीसदिसूत्त को पढा और आचार्य पुष्पदन्त के जीवन का सन्ध्याकाल जानकर भूतबलि ने सोचा—"महाकर्म प्रकृति प्राभृत की श्रुतधारा का कही विच्छेद नही हो जाए" अतः उन्होने 'वीसदिसुत्त' के सूत्रो सहित छह सहस्र सूत्रो में ग्रन्थ के ५ खण्डों का निर्माण किया। छट्टा महाबन्धक नामक खण्ड के ३० हजार सूत्र रचे। इस ग्रंथ का नाम षट्खण्डागम है।[*] प्रस्तुत घटना प्रसंग से स्पष्ट है—आचार्य भूतबलि महाकर्म प्रकृति के ज्ञाता थे। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक सूत्रो की रचना पुष्पदन्त आचार्य द्वारा बन देश (उत्तर कर्णाटक) मे हुई। अवशिष्ट ग्रथ सूत्रो की रचना आचार्य भूतबलि द्वारा द्रविड़ देश मे हुई। षट्खण्डागम रचना का यह समय ई० सन् ७५ माना गया है। षट्खण्डागम ग्रथ का परिचय इसी प्रकार है :—

षट्खण्डागम जीवट्ठाण खण्ड

यह एक विशाल ग्रन्थ है। इसके छह खण्ड है। प्रथम खण्ड का नाम जीवट्ठाण (जीवस्थान) है। इस खण्ड मे सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व नाम के आठ प्रकरण हैं, तदन्तर ९ चूलिकाए हैं। जीव के गुण धर्म और नाना अवस्थाओ का वर्णन प्रस्तुत खण्ड मे है। इसकी कुल सूत्र संख्या २३७५ है।

खुद्दाबन्ध खण्ड

द्वितीय खंड का नाम खुद्दाबध (क्षुद्रकबंध) है। इस खड मे ११ अनु-

योग द्वार हैं। इस खण्ड के प्रारम्भ मे अनुयोगो से पूर्व बन्धको के सत्वो की प्ररूपणा है एवं अनुयोगो के बाद चूलिका के रूप में महादण्डक प्रकरण दिया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत खंड के १३ अधिकार हो जाते हैं। कर्म प्रकृति प्राभृत के बधक अधिकार के बंध आदि चार अनुयोगो मे से बंधक विषय का वर्णन इस खंड मे किया गया है। खड के कुल सूत्र १५८२ हैं। महाबंधक की अपेक्षा यह प्रकरण छोटा होने के कारण इस खंड का नाम क्षुद्रक बध है।

बंधसामित्त विचय खण्ड (बन्ध स्वामित्व विचय)

इस खड मे कर्मबध करने वाले स्वामियो पर विचार किया गया है। यह इस खड के नाम से ही स्पष्ट है। इस खंड के कुल ३२४ सूत्र हैं।

वेयणा खण्ड (वेदना खण्ड)

इसके दो अनुयोग द्वार है। सूत्र सख्या १४४६ है। इस खंड के प्रथम कृति अनुयोग द्वार की सूत्र सख्या ७५ है। द्वितीय वेयणा अनुयोग द्वार विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत खण्ड का नाम भी वेयणा ही है।

वर्गणा खण्ड

इसमे स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोग द्वार है। इन तीनो अनुयोग द्वारो मे प्रथम अनुयोग द्वार के ६३, द्वितीय के ३१ एव तृतीय के १४२ सूत्र हैं। इस खण्ड मे विभिन्न प्रकार की कर्म पुद्गल वर्गणाओं का प्रतिपादन है।

महाबध खंड

षष्ठम खण्ड का नाम महाबन्ध है। महाबन्ध का विस्तार ३० सहस्र श्लोक परिमाण है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बन्ध की व्याख्या इस खण्ड मे है।

षट्खण्डागम के छह खडो मे चालीस सहस्र श्लोक परिमाण यह अन्तिम खड महाबन्ध के नाम से प्रसिद्ध है। महाबन्ध का दूसरा नाम महाधवल भी है। षट्खण्डागम ग्रन्थ से सयुक्त होते हुए भी यह स्वतत्र कृति के रूप मे उपलब्ध है। षट्खण्डागम के पाचो खण्डो से महाबन्ध का विस्तार अधिक है। धवल टीकाकार आचार्य वीरसेन ने इस पर टीका लिखने की आवश्यकता ही नही समझी थी। यह महाबन्ध आधुनिक शैली मे सात भागो मे 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित है। जैन दर्शन सम्मत कर्मवाद का पर्याप्त विवेचन इस कृति से प्राप्त किया जा सकता है।

षट्खण्डागम की प्रामाणिकता

छह खंडों मे परिपूर्ण यह षट्खण्डागम कषाय पाहुड़ की भांति सैद्धान्तिक विषय का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

महाकर्म प्रकृति प्राभृत का उपसहार षट्खडागम कृति मे होने के कारण दिगम्बर परम्परा मे इसे आगम ग्रन्थ की भांति प्रामाणिक माना गया है।

जिनपालित आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के मध्य में ग्रन्थ निर्माण कार्य मे संयोजक कडी सिद्ध हुए। संभवतः आचार्य भूतबलि के पास रहकर ग्रन्थ लेखन का कार्य भी जिनपालित ने किया था।

पट्खण्डागम ग्रन्थ की रचनाकर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन हुई। आचार्य भूतबलि ने संघ-सहित इस ग्रन्थ की भक्तिपूर्वक और विधि से पूजा की तब से यह पंचमी श्रुत पंचमी के नाम से प्रसिद्ध हुई।* यह ग्रन्थ सम्पन्न हुआ, उस समय तक भाग्य से आचार्य पुष्पदन्त विद्यमान थे। भूतबलि ने इस ग्रन्थ को सम्पन्न कर आचार्य जिनपालित के साथ प्रेषित किया। विविध सामग्री मे परिपूर्ण इस ग्रथ को देखकर आचार्य पुष्पदन्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होने भी इस ग्रथ की भक्तिभाव से पुलकित होकर श्रुत पंचमी के दिन पूजा की थी।

समय-संकेत

पुष्पदन्त और भूतबलि दोनो का अधिकांश जीवन साथ-साथ व्यतीत हुआ। दोनो ने एक साथ दीक्षा ली। दोनो ने एक साथ धरसेनाचार्य के पास अध्ययन किया। षट्खण्डागम ग्रन्थ की रचना दोनो ने भिन्न-भिन्न स्थान पर की है। भूतबलि ने ग्रंथ रचना प्रारम्भ की उस समय पुष्पदन्त के जीवन का संध्या काल था। संयोग से पट्खण्डागम ग्रन्थ की सम्पन्नता तक आचार्य पुष्पदन्त रहे।

नदी संघ की पट्टावली मे आचार्य अर्हद्बलि, आचार्य माघनंदी, आचार्य धरसेन के वाद पुष्पदन्त और भूतबलि के क्रमशः उल्लेख हैं। पांचों आचार्यों के इस क्रम मे आचार्य भूतबलि से पहले पुष्पदन्ताचार्य का उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है—आचार्य भूतबलि से पुष्पदन्ताचार्य ज्येष्ठ थे।

नंदी संघ की पट्टावली मे इन आचार्यों की समय सूचना भी है। आचार्य धरसेन का समय वी० नि० ६१४ से ६३३ तक माना है। पुष्पदन्त

का समय इसके बाद प्रारम्भ होता है। आचार्य पुष्पदन्त का काल ३० वर्ष का और भूतबलि का काल २० वर्ष का माना गया है।[५] इस आधार पर आचार्य पुष्पदन्त का समय वी० नि० ६६३ से ६६३ (वि० १६३ से १९३) तक और आचार्य भूतबलि का काल वी० नि० ६६३ से ६८३ (वि० १९३ से २१३) तक प्रमाणित होता है। आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि दोनो का सम्मिलित कुल समय वी० नि० ६१४ से ६८३ के मध्यवर्ती है। धवला की प्रस्तावना मे यही समय सम्मत हुआ है।

आधार स्थल

१ य पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनाना प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूज. ॥२५॥
अर्हद्बलिस्सङ्घ चतुर्विध स श्रीकोण्ड कुन्दान्वयमूलसङ्घः।
कालस्वाभावादिह जायमान द्वेपेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥

श्रमणबेलगोल अभिलेख संख्या १०५

२ जग्मतुरथकरहाटे तयो स य पुष्पदन्त नाम मुनि।
जिनपालिताभिधान दृष्ट्वाऽसौ भागिनेय स्व ॥१३३॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन सम देशमेत्य वनवासम्।
तस्थौ भूतबलिरपि मधुराया द्रविडदेशेऽस्थात् ॥१३३॥

श्रुतावतार

श्रुतावतार, पद्य १३६।

३ तदो भूतबलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदमाणीए भवियलोगाणुग्ग-हट्ठ महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खडाणि कयाणि.

धवला पृष्ट १३३

४ ज्येष्ठसितपक्ष पचम्यां चतुर्वण्य सघसमवेत।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रिया पूर्वक पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपचमीति तेन प्रख्याति तिथिरिय परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजा कुर्वते जैना ॥१४४॥

इन्द्रनन्दी श्रुतावतार

५. अहिवल्लि माघनन्दि य घरसेण पुप्फयन भूदबली।
अडवीस इगवीस उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥१६॥

नंदी सघ पट्टावली

३७-४०. नयनानन्द आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ती, आर्य रेवती नक्षत्र, आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह

प्रस्तुत प्रबन्ध मे आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ती, आर्य रेवती नक्षत्र और आर्य ब्रह्मद्वीपक इन चारो को एक साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। ये चारो वाचनाचार्य परम्परा के हैं। नन्दी स्थविरावली मे इन चारो का क्रमश· उल्लेख हुआ है।

गुरु परम्परा

माथुरी युग-प्रधान-पट्टावली मे आर्य मगू के बाद आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्रस्वामी, एव आर्यरक्षित का क्रम है। उसके बाद आर्य नन्दिल का उल्लेख है। मलयगिरि आदि टीकाकार आचार्य आर्य धर्म से रक्षित तक चारो आचार्यो का उल्लेख करने वाली गाथाओ को प्रक्षिप्त मानकर आर्य मगू के बाद आर्य नन्दिल का क्रम स्वीकार करते है। आर्य मंगू का शासन-काल वी० नि० ५५१ से प्रारम्भ होकर ५७० मे सम्पन्न होता है। आर्य नन्दिल का युगप्रधान काल वी० नि० ५९७ के बाद प्रारभ होता है। दोनो के बीच मे लगभग १२७ वर्ष का अन्तराल है अत· आर्य मंगू के उत्तराधिकारी आर्य नन्दिल का होना सभव नही है। प्रभावक चरित्र मे आर्य नन्दिल को आर्यरक्षित का वशीय माना है।

आर्य नन्दिल के बाद आर्य नागहस्ती का उल्लेख है। प्रभावक चरित्र के अनुसार गगनगामिनीविद्या के स्वामी आर्य पादलिप्त के गुरु का नाम नागहस्ती है।

दिगम्बर परम्परा मे आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती का उल्लेख है। दोनो को चूर्णिकार यतिवृषभ का गुरु माना गया है। दिगम्बर परपरा समत मक्षु और नागहस्ती तथा श्वेताम्बर परपरा संमत मगू और नागहस्ती ये भिन्न है या अभिन्न यह एक गंभीर शोध का विषय है।

आर्य नागहस्ती के बाद आर्य रेवती नक्षत्र एव आर्य ब्रह्मदीपकसिंह का क्रमश· उल्लेख है। ब्रह्मदीपकसिंह का सम्बन्ध ब्रह्मदीपिका शाखा से माना

गया है ब्रह्मदीपिका शाखा का उद्‌भव आर्य सुहस्ती की परम्परा मे होने वाले आर्य समित से हुआ था।

जीवन-वृत्त

आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ती, आर्य रेवती नक्षत्र, आर्य ब्रह्मदीपकसिंह—इन चारों की आर्य देवर्धिगणी क्षमाश्रमण ने नन्दी मे भावपूर्ण शब्दो से स्तुति की है। आर्य नन्दिल के विषय मे वे लिखते हैं—

णाणम्मि दंसणम्मि य तव विणए णिच्चकालमुज्जुत्त।
अज्जाणंदिलखमणं सिरसा वंदे पसण्णमण ॥२९॥

ज्ञानयोग, दर्शनयोग, तप:योग, विनययोग में जो निरन्तर प्रयत्नशील हैं। उन प्रसन्नमना क्षमाशील आर्य नन्दिल को मैं वन्दन करता हू।

प्रभावक चरित्र मे प्राप्त वर्णनानुसार आर्य नन्दिल ने सास के व्यवहार से दुखित वैरोट्या नामक एक बहिन को क्षमाधर्म का उपदेश देकर उसके मन के आवेग को शान्त किया था। वैराग्य को प्राप्त कर एक दिन वह बहिन साध्वी बनी और समताभाव से मृत्यु को प्राप्त कर धरणेन्द्र नागराज की देवी बनी। पूर्व उपकार का स्मरण करती हुई वैरोट्यादेवी आर्य नन्दिल के प्रति विशेष आस्था रखती थी। पार्श्वनाथ के भक्तो का दु ख दूर करने के लिए वे सहयोग किया करती थी। प्रभावक चरित्र मे इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"सापि प्रभौ भक्तिमतां चक्रे सहायमद्भुत।"

(प्रभा० च०, पृ० ७८)

आर्य नन्दिल ने "नमिउण जिण पास"..........इस मंत्र से युक्त वैरोट्या-स्तवन की रचना की थी। उसकी प्रभावकता को बताते हुए प्रभाचन्द्राचार्य लिखते हैं।

"एक चित्त· पठेन्नित्यं त्रिसन्ध्यं इमं स्तवम्।
विषाद्युपद्रवा सर्वे-तस्य न स्युः कदाचना ॥८१॥

(प्रभा० च०, पृ० ७९)

आर्य नन्दिल सार्धनव पूर्वों के धारक थे ऐसा उल्लेख प्रभावक चरित्र मे है।

आठ नागकुल भी आर्य नन्दिल से प्रभावित थे।

प्रभावक चरित्र के आर्य नन्दिल से सम्बन्धित प्रकरण मे पद्मनीखण्ड

नगर, पद्मप्रभराजा, पद्मावती रानी, पद्मदत्त श्रेष्ठी, पद्मयशा पत्नी, पद्मप्रभ आदि प्रकार प्रधान इस प्रकार के नाम रुचिकर प्रतीत होते हैं। उस समय के इतिहास को जानने के लिए भी ये महत्त्वपूर्ण बिन्दू हैं।

वड्ढउ वायगवसो जसवसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण-करण - भंगी-कम्मप्पयडीपहाणाण ॥२६॥

(नन्दी स्थविरावली)

जीवादि पदार्थों के व्याख्याता चरणकरणानुयोग मे निष्णात, विविध प्रकार के भङ्ग और विकल्पो के प्ररूपक तथा कर्म प्रकृतियो के विशेषज्ञ महान् यशस्वी आचार्य नागहस्ती थे। आचार्य देवर्धिगणी ने उनके वाचक वश की वृद्धि की कामना की है।

आचार्य नागहस्ती को युगप्रधान पट्टावलियो मे युगप्रधान क्रम में स्वीकार किया है। उनका युगप्रधानाचार्य काल ६६ वर्ष का माना गया।

जच्चजणधाउसमप्पहाण मुद्दिय-कुवलयनिहाण।
वड्ढउ वायगवसो रेवइणक्खत्तणामाण ॥३०॥

(नन्दी स्थविरावली)

आर्य रेवती नक्षत्र नीलोत्पल की भाति श्यामवर्ण थे। रेवती नक्षत्र का वाचक वश भी वर्धमान स्थिति को प्राप्त हो—ऐसी भावना देवर्धिगणी ने प्रगट की है।

युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र एव वाचनाचार्य रेवती नक्षत्र दोनो भिन्न हैं। दोनो के बीच में लगभग सौ वर्ष का अन्तराल है वाचनाचार्य रेवती नक्षत्र से रेवतीमित्र बाद मे हुए है। युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र का समय वी० नि० ६१६ से ७४८ (वि० २१६ से २७८) तक है।

अयलपुरा णिक्खंते कालियसुयआणुओगिए धीरे।
बंभदीवगसीहे वायगपयसुत्तम पत्ते ॥३॥

(नन्दी स्थविरावली)

उपर्युक्त पद्य के वर्णनानुसार ब्रह्मदीपकसिंह कालिक श्रुत के ज्ञाता, अनुयोग कुशल, धीर गंभीर एव उत्तम पद से सुशोभित आचार्य थे। प्रस्तुत आचार्य अचलपुर के निवासी थे।

इन चारों आचार्यो से सम्बन्धित उपर्युक्त पद्यो से स्पष्ट है कि अपने युग के ये महान् प्रभावी आचार्य थे।

समय-संकेत

आचार्य नन्दिल का आचार्यकाल वी० नि० ५९७ के बाद प्रारंभ हुआ माना जाता है। इसके बाद आर्य नागहस्ती, आर्य रेवती नक्षत्र, आर्य ब्रह्मदीपक सिंह—इन तीनो वाचनाचार्यों का क्रमश: उल्लेख है। अत: इन आचार्यों का समय वी० नि० की छठी, सातवी एव आठवी शताब्दी तक सम्भव है।

ब्रह्मदीपकसिंह के बाद आचार्य स्कन्दिल हुए। उनकी आगम वाचना का समय वी० नि० ८२७ से ८४० (वि० ३५७ से ३७०) मध्य काल है।

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आर्य नागहस्ती का युगप्रधान काल वी० नि० ६२० से ६८९ (वि० १५० से २१९) तक का है। आर्य रेवतीमित्र का समय वी० नि० ६८९ से ७४८ (वि० २१९ से २७८) तक का है और आर्य सिंहसूरि (ब्रह्मदीपकसिंह) का समय वी०नि० ७४८ से ८२६ (वि० २७८ से ३५६) तक का है।

४१-४३. आगम-पिटक-आचार्य स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन

स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन—तीनो वाचक वंश परपरा के प्रभावी आचार्य थे। अगाध आगम ज्ञान के धनी थे। नदी स्थविरावली मे तीनो का क्रमशः उल्लेख हुआ हैं। स्कन्दिल और नागार्जुन आगम वाचनाकार के रूप मे प्रसिद्ध हैं।

गुरु-परम्परा

नंदी स्थविरावली के अनुसार वाचनाचार्य हिमवन्त के ठीक पश्चात्-वर्ती आचार्य नागार्जुन एवं पूर्ववर्ती आचार्य स्कन्दिल थे। नदी स्थविरावली को गुर्वावली के रूप मे मान लेने पर इन तीनो का परस्पर गुरु-शिष्य क्रम सिद्ध होता है।

आर्य स्कन्दिल का नाम इस स्थविरावली मे वाचनाचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह के बाद आया है। ब्रह्मद्वीपकसिंह कालिक सूत्र के ज्ञाता, अनुयोग कुशल, धीर-गंभीर एवं उत्तम वाचक पद से सुशोभित थे।[1] ब्रह्मद्वीपक सिंह से पूर्व नीलोत्पल की भान्ति श्याम वर्ण वाचनाचार्य रेवती नक्षत्र का नाम है।[2]

नंदी टीकाकार ने स्कन्दिलाचार्य को ब्रह्मद्वीपसिंह सूरि का शिष्य माना है। ब्रह्मद्वीपक विशेषण के आधार पर इनका संबंध ब्रह्मद्वीपिका शाखा से सूचित किया है।[3] ब्रह्मद्वीपिक शाखा का निर्माण आचार्य समित से हुआ था। समित आर्य सुहस्ती की परंपरा में होने वाले आर्य सिंह गिरि के शिष्य थे।

इन संदर्भों के आधार पर आर्य स्कदिल को गुरु परपरा का सम्बन्ध ब्रह्मद्वीपिक शाखा से जुड़ता है।

आधुनिक शोध विद्वान् मुनि कल्याणविजयजी ने विविध युक्तियो के आधार पर नंदी स्थविरावली स्थविर परंपरा को युग प्रभावी आचार्यों का क्रम स्वीकार किया है। उनके अभिमत से नंदी स्थविरावली में गुरु-शिष्य का क्रम प्रस्तुत नहीं है। इस सबंध की चर्चा "जैन काल गणना" पृष्ठ ११९

से आगे विस्तार से प्रस्तुत है। प्रभावक चरित्र मे अनुयोग प्रवर्तक आर्य स्कंदिल को विद्याधर आम्नाय से संबधित माना है। 'वृद्धवादी प्रबन्ध' मे प्रभाचंद्राचार्य लिखते हैं :—

पारिजातोऽपारिजातो, जैनशासननन्दने ।
सर्वश्रुतानुयोगार्ह-कुन्दकन्दलनाम्बुदः ॥४॥
विद्याधग्वराम्नाये, चिन्तामणिरिवेष्टदः ।
आसीच्छ्रीस्कदिलाचार्यः, पादलिप्त प्रभो· कुले ॥५॥

इस उल्लेखानुसार आचार्य स्कदिल विद्याधरीय आम्नाय के आचार्य पादलिप्त सूरि की परपरा के थे। जैन शासन रूपी नदन वन मे कल्पवृक्ष के समान तथा समग्र श्रुतानुयोग को अकुंरित करने मे वे महामेघ के समान थे। 'चिन्तामणिरिवेष्टदः' चिन्तामणि की भांति वे इष्ट वस्तु के प्रदाता थे।

प्रभाचद्राचार्य के उक्त उल्लेख से आर्य स्कदिल विद्याधरी शाखा के थे। विद्याधरी शाखा का जन्म आर्य सुस्थित-सुप्रतिबद्ध के शिष्य विद्याधर गोपालक से हुआ था।

आचार्य स्कंदिल को विद्याधर शाखा का मानना अधिक निर्विवादास्पद प्रतीत होता है।

हिमवन्त और नागार्जुन

नंदी स्थविरावली मे अनुयोगधर आर्य नागार्जुन का नाम हिमवन्त के बाद आया है।[४] इस स्थविराली के अनुसार नागार्जुन का क्रम २३वा है। वालभी युग प्रधान पट्टावली मे सिंहसूरि के बाद नागार्जुन का २४वा क्रम है। जिनदास महत्तर ने अपनी चूर्णि मे और हिमवन्त स्थविरावली मे नागार्जुन के शिष्य भूतदिन्न को नाइल कुल वंश वृद्धिकारक बताया है।[५] नाइल कुल या नागेन्द्र कुल का सम्बन्ध वज्रसेन के शिष्यो से था। इनके पूर्व की परपरा आर्य सुहस्ती की परपरा से सम्बन्धित थी। अतः नाइल कुल वंश वृद्धिकारक भूतदिन्न के गुरु नागार्जुन भी आर्य सुहस्ती की परपरा के स्थविर सिद्ध होते हैं।

जीवन-वृत्त

'वीर निर्वाण सवत् और जैन काल गणना' कृति मे प्रदत्त हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार आर्य स्कंदिल का जन्म मथुरा के ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उनके पिता का नाम मेघरथ और माता का नाम रूपसेना था।

मेघरथ और रूपसेना दोनो उत्कृष्ट धर्म की उपासना करने वाले जिनाज्ञा के प्रतिपालक श्रावक थे। गृहस्थ मे आचार्य स्कंदिल का नाम सोमरथ था। ब्रह्मद्वीपिका शाखा के स्थविर सिंहस्थ के उपदेश से प्रभावित हो सोमरथ ने उनके पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की।

द्वादश वर्षीय दुष्काल के प्रभाव से अनेक श्रुतधर मुनि वैभारगिरि एवं कुमारगिरि पर्वत पर अनशनपूर्वक स्वर्गस्थ हो चुके थे। इस अवसर पर आगमश्रुत की भी महान् क्षति हुई। दुष्काल की परिसमाप्ति पर मथुरा में आयोजित श्रमणो के महासम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य स्कंदिल ने की थी। प्रस्तुत सम्मेलन मे मधुमित्र, गधहस्ती आदि १५० श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र एव स्कंदिल दोनो आचार्य सिंह के शिष्य थे। नदी सूत्र मे इन्हे ही ब्रह्मद्वीपकसिंह कहा गया है। आचार्य गधहस्ती मधुमित्र के शिष्य थे। उनका वैदुष्य उत्कृष्ट था। उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर आठ हजार श्लोक प्रमाण महाभाष्य की रचना आचार्य गधहस्ती ने की।

गुरु भाई आचार्य मधुमित्र, महाप्रज्ञ आचार्य गंध हस्ती एव तत्सम अनेक विद्वान् श्रमणो के स्मृत पाठो के आधार पर आगम श्रुत का सकलन हुआ। अनुयोगधर आचार्य स्कदिल ने उसे प्रमाणित किया था। आचार्य स्कदिल की प्रेरणा से विद्वान् शिष्य गधहस्ती ने ग्यारह अगो का विवरण लिखा। मथुरा निवासी ओसवाल वशज श्रावक पोशालक ने गधहस्ती विवरण सहित सूत्रो को ताडपत्र पर लिखवाकर निर्ग्रन्थो को अर्पित किया था। आर्य गधहस्ती को ब्रह्मद्वीपिका शाखा मे मुकुटमणि के तुल्य माना है।[1]

हिमवन्त धृति-सपन्न, महापराक्रमी, परम स्वाध्यायी, अनुयोग धर आचार्य थे एवं उपसर्गादि प्रतिकूलताओ को सहने मे वे हिमालय की भाति अकम्प थे।[2] इनके जन्म, वश, परिवार आदि की सामग्री उपलब्ध नही है।

हिमवन्त का जीवन परिचय चूर्णिकार के शब्दो मे इस प्रकार हैं :—

हिमवंत पव्वतेण महतत्तणं तुल्लं जस्स सो हिमवतमहतो, रह भरहे णत्थि अण्णो तत्तुल्लो त्ति, एस थुतिवादो। उत्तरतो वा हिमवंतेण सेसदिसासु य समुद्देण निवारितो जसो, हिमवंत निवारणो जसो महतो त्ति अतो हिमवत महंतो। मंहतक्किमो कह ? उच्चेत-सामत्थतो, महंते वि कुल-गण-संघप्पयोयणे तरति त्ति परंपवदिजएण वा तवविसेसे वा धितिबलेण परक्कमंतो महतो। अणतगम-पज्जवत्तणतो अणंतधरो तं, महंतं हिमवंतणामं वंदे से सं कठं।

(नंदी चूर्णि पृ० १०)

चूर्णिकार ने आर्य हिमवत के यश को आसमुद्रात विस्तृत बताया है ।

नागार्जुन का जन्म वी० नि० ७६३ (वि० ३२३), दीक्षा वी० नि० ८०७ (वि० ३३७) और आचार्य पद वी० नि० ८२६ (वि० ३५६) बताया गया है ।[८] आचार्य पदारोहण के समय नागार्जुन ३५ वर्ष के युवा थे ।

आगम वाचना

जैन निर्युक्ति, भाष्य, टीका आदि ग्रन्थो मे प्राप्त उल्लेखानुसार तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाणोत्तर काल से अब तक चार आगम वाचनाओ का उल्लेख मिलता है । उनमे प्रथम वाचना वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे संपन्न हुई थी । उस समय दुष्काल के प्रभाव से श्रुतधर मुनियो की महान् क्षति होने पर भी श्रुतधारा सर्वथा विच्छिन्न नही थी । चौदह पूर्वों के ज्ञाता भवाब्धि पतवार आचार्य भद्रबाहु एवं श्रुतसागर का समग्रता से पान कर लेने मे सक्षम महाप्रतिभा सपन्न स्थूलभद्र जैसे श्रमण विद्यमान थे ।

वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी मे द्वादश वार्षिक दुष्काल का श्रुत विनाशकारी भीषण आघात पुन: जैन शासन को लगा । साधु-जीवन की मर्यादा के अनुकूल आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो गई । अनेक श्रुत सपन्न मुनि काल के अक मे समा गए । सूत्रार्थ ग्रहण-परावर्तन के अभाव मे श्रुत सरिता सूखने लगी । जैन शासन के सामने यह अति विषम स्थिति थी । बहुसख्यक मुनिजन सुदूर प्रदेशो मे विहरण करने के लिए प्रस्थान कर चुके थे ।

दुष्काल परिसमाप्ति के बाद अवशिष्ट श्रुत सकलना के उद्देश्य से मथुरा मे श्रमण सम्मेलन हुआ । सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कदिल ने सभाला । श्रुत सपन्न मुनियो की उपस्थिति सम्मेलन की अनन्य शोभा थी । श्रमणो की स्मृति के आधार पर आगम-पाठो का व्यवस्थित संकलन हुआ । इस द्वितीय आगम वाचना का समय वी० नि० ८२७ से ८४० (वि० सं० ३५७ से ३७०) का मध्यकाल है । यह आगम वाचना मथुरा मे होने के कारण माथुरी वाचना कहलाई ।[९] आचार्य स्कदिल की अध्यक्षता मे होने के कारण इसे स्कंदिली वाचना के नाम से अभिहित किया गया ।

प्रस्तुत घटना चक्र का दूसरा पक्ष यह भी है । दुष्काल के इस क्रूर आघात से अनुयोगधर मुनियो मे एक स्कंदिल ही बच पाए थे । उन्होने मथुरा में अनुयोग का प्रवर्तन किया था अत: यह वाचना स्कंदिली वाचना के नाम से विश्रुत हुई । इसी समय के आसपास एक आगम-वाचना वल्लभी मे आचार्य

नागार्जुन की अध्यक्षता मे संपन्न हुई। इसे वल्लभी वाचना एवं नागार्जुनीय वाचना की सज्ञा मिली है। स्मृति के आधार पर सूत्र-संकलना होने के कारण वाचना भेद रह जाना स्वाभाविक था।[10] आचार्य देवर्द्धिगणी के समय मे भी आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण कार्य वल्लभी मे हुआ है। अतः वर्तमान में आचार्य नागार्जुन की आगम वाचना को प्रथम वल्लभी वाचना के नाम से भी पहचाना जाता है।

आचार्य देवर्द्धिगणी ने इन दोनो ही आचार्यों की भावपूर्ण शब्दों में स्तुति की है।

वाचनाचार्य स्कदिल के विषय मे उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

जेसि इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहु नगरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥३२॥

(नन्दी)

प्रस्तुत पद्य मे आचार्य स्कंदिल के अनुयोग को संपूर्ण भारत में प्रवृत्त बताकर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने अपार सम्मान प्रकट किया है। नन्दी सूत्र के इस उल्लेख के आधार से महामहिम आचार्य स्कंदिल के उदात्त व्यक्तित्व का वर्चस्व पूरे भारत मे छाया हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है।

आचार्य नागार्जुन के विषय मे वे कहते हैं :—

मिउमज्जवसपण्णे अणुपुव्वि वायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमोयारे णागज्जुणवायए वंदे ॥३५॥

(नंदी)

मृदुतादि गुणो से सपन्न, सामायिक श्रुतादि के ग्रहण से अथवा परपरा से विकास की भूमिका का क्रमशः आरोहणपूर्वक वाचक पद को प्राप्त ओघ-श्रुत समाचारी मे कुशल आचार्य नागार्जुन को मैं प्रणाम करता हू।

आचार्य देवर्द्धिगणी ने नागार्जुन को वंदन करते समय उनका गुणानुवाद ही किया है।

आर्य स्कंदिल की स्तुति मे उनके अनुयोग का संपूर्ण भारत मे प्रभाव प्रदर्शित कर स्कंदिली वाचना को उन्होने प्रमुख स्थान दिया है।

वैशिष्ट्य

आर्य स्कंदिल और नागार्जुन की अध्यक्षता मे आगमो की महत्त्वपूर्ण वाचनाएं हुई। आगम वाचना के समय दुष्काल के प्रभाव से क्षत-विक्षत

एकादशांगी का संकलन कर इन दोनो अनुयोगधर आचार्यो ने जैन शासन पर महान् उपकार किया है एव पिटक की भाति आगम वचन रत्नो को सुरक्षित रखा है।

इतिहास के पृष्ठो पर आचार्य स्कदिल और नागार्जुन की आगम वाचनाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वाचनाचाय हिमवत का नन्दी स्थविरावली मे उल्लिखित आगम का गहन स्वाध्यायी रूप आगम ज्ञान की विशिष्टता का सूचक है।

प्रस्तुत तीनो आचार्य यथार्थ मे ही आगम वाणी के महापिटक रूप थे।

समय सकेत

आर्य स्कन्दिल हिमवन्त, नागार्जुन-तीनो समकालीन थे। आचार्य मेरुतङ्ग ने विचार श्रेणी म आचार्य स्कन्दिल की काल-निर्णायकता के विषय मे लिखा है—"श्री विक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्रस्वामी तदनु २३६ वर्षै स्कन्दिलः।" विक्रम स० ११४ मे वज्रस्वामी का स्वगवास हुआ। आचार्य स्कन्दिल का समय आर्य वज्र के स्वग सम्वत् से २३६ वर्ष बाद का है। "वीर निर्वाण संवत् जैन कालगणना" मे प्राप्त वर्णनानुसार वज्रस्वामी एव आचाय स्कन्दिल दोनो का मध्यवर्ती समय २४२ वर्ष का है। वज्रस्वामी के बाद १३ वर्ष आर्य रक्षित के, २० वर्ष पुष्यमित्र के, ३ वर्ष वज्रसेन के, ६६ वर्ष नागहस्ती के, ५६ वर्ष रेवतिमित्र के, ७८ वर्ष ब्रह्मद्वीपक सिंह के हैं। कुल जोड़ २४२ वर्ष का है। इस २४२ की सख्या मे वज्रस्वामी के ११४ वर्ष एवं अनुयोग प्रवर्तक प्रसिद्ध वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल के युगप्रधान-काल मे १४ वर्ष मिला देने से उनका (आर्य स्कन्दिल) समय वी० नि० ८२७ से ८४० तक का स्वीकृत किया गया है।[11] यही काल स्कन्दिली वाचना का प्रायः मान्य हुआ है।[12]

आचार्य हिमवन्त से सम्बन्धित जीवन प्रसङ्ग का काल सम्वत् प्राप्त नही है।

अनुयोगधर आर्य नागार्जुन का स्वर्गवास वी० नि० ६०४ (वि० स० ४३४) मे बताया गया है।[13] आर्य स्कन्दिल जिस समय वृद्धावस्था मे थे, आर्य नागार्जुन उस समय युवा थे।

आधार-स्थल

१. अयलपुरा णिक्खंते कालियसुयआणुओगिए धीरे ।
बभद्दीवग सीहे वायगपयमुत्तमं पत्ते ।।३१।।
(नन्दी सूत्र)

२. जच्चंजणधाउसमप्पहाण मुद्दिय-कुवलयनिहाण ।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइणक्खत्तणामाणं ।।३०।।
(नंदी सूत्र)

३. वन्दे सिङ्घवाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचार्यान् ।।३३।।
ब्रह्मद्वीपिका शाखोपलक्षितान् सिङ्घाचार्यान् रेवतिवाचकशिष्यान्।।३२।।
(नंदी टीका, पृ० १३)

४ कालियसुयअणुओगस्स धारए धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंतखमासमणे वंदे णागज्जुणायरिए ।।३४।।
हिमवंतो चेव हिमवंतखमासमणो । तस्स सीसो णागज्जुणायरितो ।।
(नन्दीचूर्णि, पृ० १२)

५ अड्ढभरहप्पहाणे बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे ।
अणुओगियवरवसहे णाइलकुलवंसणंदिकरे ।।३७।।
भूयहियप्पगब्भे वदेहं भूयदिण्णमायरिए ।
भवभयवोच्छेयकरे सीसे णागज्जुणरिसीणं ।।३८।।
(नंदीसूत्र)

६ हिमवंत स्थविरावली, पृ० १७६ से आगे ।

७. तत्तो हिमवंतमहतविक्कमे धिइपरक्कममहंते ।
सज्झायमणंतधरे हिमवंते वंदिमो सिरसा ।।३३।।
(नंदी सूत्र)

८. विचार-श्रेणि-युगप्रधान पट्टावली

९. कहं पुण तेसिं अणुओगो ?, उच्यते, बारससंवच्छरिए महंते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा फिडियाण गहण-गुणण-ऽणुप्पेहाऽभावतो सुत्ते विप्पणट्ठे पुणो सुब्भिक्खे काले जाते महुराए महंते साहुसमुदए खंदिलायरिय-प्पमुहसंघेण 'जो जं संभरति' त्ति एव संघडितं (जे० १६० प्र०) कालियसुतं । जम्हा य एतं मधुराए कतं तम्हा माधुरा वायणा भण्णति । सा य खंदिलायरियसम्मय त्ति कातुं तस्संतियो अणुओगो भण्णति । सेस कंठ । अण्णे भणंति जहा—सुतं ण णट्ठं, तम्मि

दुब्भिक्खकाले जे अण्णे पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा, एगे खंदिलायरिए संधरे, तेण मधुराए अणुयोगो पुणो साधूण पवत्तितो त्ति माधुरा वायणा भण्णति, तस्सतितो य अणियोगो भण्णति ॥३२॥

(नन्दी चूर्णी, पृ० ९)

१०. "इह हि स्कन्दिलाचार्य प्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षाप्रवृत्या साधूनां पठनगुणनादिक सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षाप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा—एको बलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसघटने परस्पर-वाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा सघटने भवत्यवश्यवाचना भेदो न काचिदनुपपत्तिः।"

(ज्योतिष्करण्डक टीका)

११. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ० १०९।

१२. दशवेआलिय (भूमिका)

१३. दुस्सम काल समण संघत्थव-युगप्रधान पट्टावली।

४४. अर्हन्नीति-उन्नायक आचार्य उमास्वाति

प्रभावक आचार्यों की परम्परा मे उमास्वाति वाचक को अतिशय विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वे सस्कृत भाषा के धुरन्धर विद्वान् थे। आगम ग्रन्थो का उन्हें गम्भीर अध्ययन था। जैन वाङ्मय का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र उनकी बहुश्रुतता का द्योतक है।

गुरु-परम्परा

उमास्वाति की गुरु-परम्परा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो के ग्रन्थों मे भिन्न-भिन्न रूप से प्राप्त होती है। श्वेताम्बर विद्वानो ने उमास्वाति की गुरु-परम्परा को श्वेताम्बर समन गुर्वावली से सबद्ध माना है। दिगम्बर विद्वान् उमास्वाति की गुरु-परपरा को दिगंबर गुरु-परपरा के साथ सम्बन्धित करते हैं।

उमास्वाति द्वारा रचित तत्त्वार्थ भाष्य प्रशस्ति के अनुसार उमास्वाति के दीक्षा गुरु घोषनन्दि श्रमण थे। घोपनन्दि एकादशाङ्ग के धारक थे एवं वाचक मुख्य शिव श्री के शिष्य थे। उमास्वाति के विद्या गुरु 'मूल' नामक वाचकाचार्य थे। वाचनाचार्य 'मूल' महावाचक मुण्डपाद के शिष्य थे। उच्चनागर शाखा मे उमास्वाति को वाचकाचार्य पद प्राप्त था।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्त्यार आदि ने उमास्वाति को दिगम्बर परपरा का माना है। वे भाष्य को स्वोपज्ञ मानने के पक्ष मे नही है।

पण्डित सुखलालजी ने उमास्वाति को कई प्रमाणो का आधार देकर श्वेताम्बर परपरा को सिद्ध किया है।[1] उनके अभिमत से तत्त्वार्थ भाष्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ रचना है। भाष्य प्रशस्ति मे संदेह करने का कोई कारण नही है।

दिगबर परपरा की नन्दीसंघ पट्टावली मे भद्रबाहु द्वितीय, गुप्ति गुप्त माघनन्दी जिनचन्द्र, कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी का क्रमश उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत उल्लेखानुसार उमास्वाति को कुन्द-कुन्द का शिष्य माना गया है। दिगबर परपरा मे उमास्वामी और उमास्वाति दोनो नाम प्रचलित है।

श्रवणबेलगोल के ६५ के शिलालेख मे प्राप्त उल्लेखानुसार उमा-

स्वाति कुन्द-कुन्द के अन्वय में हुए हैं।[१] इस शिलालेख के आधार पर कुन्द-कुन्द और उमास्वाति का साक्षात् गुरु-शिष्य संबंध सिद्ध नही होता।

इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार मे कुन्द-कुन्द का उल्लेख होने पर भी उमास्वाति का कही उल्लेख नही किया है।

आदि पुराण तथा हरिवंश पुराण मे भी प्राचीन आचार्यो के गुरुक्रम मे उमास्वाति का नाम निर्देश नही है।

आचार्य कुन्द-कुन्द और उमास्वाति के संबध को बताने वाले श्रवण-बेलगोल के सभी शिलालेख शोध विद्वानो के अभिमत से विक्रम की १० वी ११ वी शताब्दी के बाद के है। इससे पहले के किसी भी शिलालेख मे ऐसा उल्लेख नही है।

तत्त्वार्थ भाष्य की कारिकाओ मे प्राप्त नन्द्यन्त प्रधान नामो के आधार पर तथा कई सैद्धान्तिक मान्यताओ के आधार पर प्रेमीजी ने आचार्य उमास्वाति का सबध यापनीय सघ परपरा के साथ अनुमानित किया है।[२]

मैसूर नगर तालुका के ४६ न० के शिलालेख मे एक श्लोक आया है—

तत्त्वार्थसूत्र कर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीय वन्देऽह गुणमन्दिरम् ।।

इस श्लोक मे "श्रुतकेवलिदेशीय" विशेषण आचार्य उमास्वाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। यही विशेषण यापनीय सघ के अग्रणी वैयाकरण शाकटायन के साथ भी आया है। इस आधार से भी उमास्वाति यापनीय सघ की परपरा से सम्बन्धित सिद्ध होते है।

श्वेताम्बर विद्वान् धर्मसागरजी की पट्टावली मे प्रज्ञापना सूत्र के रचनाकार श्यामाचार्य के गुरु हारितगोत्रीय स्वाति को ही तत्त्वार्थ रचनाकार उमास्वाति मान लिया है।[४] यह उमास्वाति के नाम के अर्धांश की समानता के कारण भ्रान्ति पैदा हुई सम्भव है।

उमास्वाति और स्वाति दोनो का गोत्र भी एक नही है। स्वाति हारितगोत्रीय थे।[५] उमास्वाति का गोत्र कोभीषण माना गया है।[६] स्वाति के पूर्ववर्ती वाचनाचार्य बलिस्सह थे[७] जो महागिरि के उत्तराधिकारी थे। उमास्वाति के गुरु का नाम घोषनन्दी बताया गया है।[८]

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य को श्वेताम्बर विद्वानों ने एक मत से उमास्वाति की रचना माना है। इस भाष्य की प्रशस्ति मे उमास्वाति की गुरु-परम्परा

के साथ उच्चनागर शाखा का उल्लेख है। कल्पस्थविरावली के अनुसार आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उनके शिष्य इन्द्रदिन्न, इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न एवं दिन्न के शिष्य शान्ति श्रेणिक थे। शान्ति श्रेणिक से उच्चनागरी शाखा का उद्भव हुआ था।

भाष्य प्रशस्ति मे उच्चनागर शाखा के उल्लेख से आचार्य उमास्वाति की गुरु-परम्परा श्वेताम्बराचार्य आचार्य सुहस्ती की परम्परा के साथ सिद्ध होती है।

जीवन-वृत्त

प्रभावक आचार्यो की परम्परा मे उमास्वाति एक ऐसे आचार्य हुए हैं जिनको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो समान भावेन सम्मान देते हैं और इन्हे अपनी-अपनी परम्परा का मानने मे गौरव का अनुभव करते हैं।

दिगम्बर परम्परा मे उमास्वाति और उमास्वामी दोनो नाम प्रचलित हैं। श्वेताम्बर परपरा मे केवल उमास्वाति ही प्रसिद्ध है।

दिगम्बर ग्रन्थो मे गृध्रपिच्छ उमास्वाति को तत्त्वार्थ का कर्ता बताया है।[९] पण्डित सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र की प्रस्तावना मे वाचक उमास्वाति को तत्त्वार्थ सूत्र का कर्ता माना है। गृध्रपिच्छ उमास्वाति को नही। उनके अभिमत से गृध्रपिच्छ उमास्वाति नाम के आचार्य अवश्य हैं पर उन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र या तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र की रचना नहीं की थी। तत्त्वार्थ के कर्त्ता वाचक उमास्वाति ही थे। श्रवणबेलगोल के शिलालेख में उमास्वाति के बलाकपिच्छ नामक एक शिष्य का उल्लेख भी मिलता है।[१०]

उमास्वाति ऐसे युग मे पैदा हुए जब संस्कृत भाषा का मूल्य बढ रहा था। जैन शासन मे भी दिग्गज जैन सस्कृत ग्रन्थो का निर्माण हो रहा था। जैन शासन मे भी दिग्गज जैन सस्कृत विद्वानो की अपेक्षा अनुभूत होने लगी थी, इसी आवश्यकता की संपूर्ति मे उमास्वाति जैसे उच्चकोटिक विद्वान् की उपलब्धि जैन सघ को हुई।

उमास्वाति का जीवन कई विशेषताओ से मण्डित था। ब्राह्मण वंश मे उत्पन्न होने के कारण संस्कृत भाषा का ज्ञान उनमे प्रारम्भ से ही था। जैन आगम का प्रतिनिधि ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र उनके आगम सम्बन्धित ज्ञान की गहराइयो को प्रकट करता है तथा जैन आगमातिरिक्त न्याय, वैशेषिक, सांख्य मीमांसक आदि भारतीय दर्शनो के गंभीर अध्ययन की सूचना देता है।

उमास्वाति के वाचक पद को देखकर श्वेताम्बर परंपरा पूर्वविद् (पूर्वों के ज्ञाता) के रूप में मानती है और दिगम्बर परंपरा श्रुतकेवली तुल्य सम्मान प्रदान करती है।

आचार्य उमास्वाति बेजोड संग्राहक थे। जैन तत्त्व के संग्राहक आचार्यों मे उमास्वाति सर्वप्रथम है। उनके तत्त्वार्थ सूत्र मे जैन दर्शन से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयो का अनुपम सग्रह इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है। आगम वाणी का यह अपूर्वसार सग्राहक ग्रन्थ है।

आचार्य उमास्वाति की सग्राहक बुद्धि से प्रभाविन होकर आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—'उप उमास्वाति सग्रहीतार' जैन तत्त्व के सग्राहक आचार्यों मे उमास्वाति अग्रणी हैं।

जनश्रुति के अनुसार उमास्वाति चामत्कारिक भी थे। उन्होने एक बार प्रस्तर निर्मित प्रतिमा के मुख से शब्दोच्चारण करवा दिया था। आचार्य उमास्वाति का व्यक्तित्व वास्तव मे ऐसे चामत्कारिक प्रयोगो से नही उनकी निर्मल प्रतिभा के आधार पर चमका है।

ग्रन्थ रचना

सपूर्ण जैन समाज मे उमास्वाति का नाम आदर भाव मे ग्रहण किया जाता है। इसका प्रमुख कारण तत्त्वार्थ सूत्र जैसे उच्च कोटि ग्रन्थ का निर्माण है। तत्त्वार्थ सूत्र जैन ज्ञान, विज्ञान, भूगोल, खगोल, कर्म-सिद्धान्त, आत्म-तत्त्व, पदार्थ-विज्ञान, आदि मुख्य-मुख्य विषयो का यह आकर ग्रन्थ है। जैन-दर्शन के मूल तत्त्वो की आधारभूत सूचनाए इस ग्रन्थ से उपलब्ध की जा सकती हैं। श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो समाजो मे अत्यल्प पाठ भेद के साथ यह समान रूप से समादृत हुआ है। इस ग्रथ मे जैन समाज की एकात्मकता के दर्शन होते हैं। मोक्ष मार्ग के रूप मे रत्नत्रयी (सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चरित्र) का युक्ति पुरस्सर निरूपण, द्रव्यो एव तत्त्वो की विवेचना, ज्ञान एव ज्ञेय की समुचित व्यवस्था तथा जैन दर्शन सम्मत अन्य अनेक मान्यताओ के प्रतिपादन से इस ग्रथ की जैन समाज मे महत्ती उपयोगिता सिद्ध हुई है। आत्मा, बन्ध और मोक्ष का साङ्गोपाङ्ग वर्णन पाठक मन को विशेष प्रभावित करने वाला है। ग्रन्थ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

तत्त्वार्थ सूत्र

सूत्र ग्रन्थो में तत्त्वार्थ सूत्र जैन साहित्य का प्रथम सूत्र ग्रन्थ है। यह

विपुल सामग्री से परिपूर्ण है। इसकी रचना शैली प्रौढ और गंभीर है। कणादसूत्र के साथ तत्त्वार्थसूत्र का विशेष साम्य है। इसके १० अध्याय हैं। इन दस अध्यायो मे कुल सूत्र संख्या ३५७ है। प्रथम अध्याय के ३३ सूत्र हैं। इन सूत्रों में प्रमुखत ज्ञान के ५ भेदो का वर्णन हैं। पञ्चम अध्याय के ४२ सूत्र है। इनमे धर्म-अधर्म आदि द्रव्य विभाग का प्रतिपादन है। षष्ठ अध्याय मे २७ सूत्र है। आश्रव-तत्त्व का निरूपण है। सप्तम अध्याय के ३९ सूत्र हैं। आस्रव निरोधक तत्त्वो का वर्णन है। अष्टम अध्याय के २६ सूत्र हैं। कर्म बन्ध की व्याख्या है। नवम अध्याय के ४७ सूत्र हैं। सवर, निर्जरा धर्म की व्याख्या है। दसम अध्याय मे मोक्ष मार्ग का विवेचन है।

श्वेताम्बर परम्परा मे इसको प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार किया है। दिगम्बर परंपरा मे तत्त्वार्थ सूत्र के स्वाध्याय का उपवास के बराबर फल माना गया" है। दस लक्षण पर्व के दिनो मे इसका विशेष स्वाध्याय किया जाता है।

व्याख्या ग्रन्थ

तत्त्वार्थ के व्याख्या ग्रंथों मे तत्त्वार्थाधिगम भाष्य व्याख्या ग्रथ उमास्वाति की स्वोपज्ञ रचना है। उमास्वाति गद्यकार ही नही पद्यकार भी थे। उनकी भाष्य कारिकाए सुललित पद्यो मे सम्मिहित है। दु.खार्त एवं आगमो के गूढ़ ज्ञान को प्राप्त करने मे असमर्थ लोगो पर अनुकम्पा कर आचार्य उमास्वाति ने गुरु-परपरा से प्राप्त आर्हत् उपदेश को 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रन्थ मे निहित किया। आचार्य उमास्वाति के शब्दो मे यह ग्रन्थ अव्याबाध सुख को प्राप्त करने वाला है। इस ग्रथ की रचना कुसुमपुर मे हुई थी।

'तत्वार्थाधिगम' भाष्य मे आचार्य उमास्वाति की जीवन परिचायक सामग्री निम्नोक्त पद्यो मे उपलब्ध हैं—

वाचकमुख्यस्य शिवश्रिय· प्रकाशयशस· प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमाश्रमणस्यैकादशाङ्गविद· ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्न· प्रथितकीर्ते. ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं सम्यग्, गुरुक्रमेणागतं समवधार्य ।
दु:खार्तं च दुरागम-विहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्य प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥
(तत्त्वार्थ भाष्य कारिका)

दिगम्बरो के अभिमत से तत्त्वार्थाधिगम-भाष्य अर्वाचीन रचना है। तत्त्वार्थ सूत्र प्राचीन है। दोनो एक कर्तृक नही है।

श्वेताम्बर विद्वानो के अभिमत से तत्त्वार्थ-भाष्य प्राचीन है। टीकाकार आचार्य अकलक भट्ट, आचार्य वीरसेन आदि विद्वान आचार्य उमास्वाति की भाष्यकारिकाओ से सुपरिचित थे। उन्होने अपने ग्रन्थो मे 'उक्तंच' कहकर भाष्य कारिकाओ का उपयोग किया है। सर्वार्थ सिद्धि टीका मे भी कई वाक्य और पद भाष्य के साथ मिलते हैं। तत्त्वार्थ एक प्रथम सूत्र ग्रन्थ है। उससे पहले वैदिक और बौद्ध विद्वानो द्वारा कई सूत्र ग्रन्थ रचे गए और उन पर भाष्यो की रचना भी हुई थी अतः उमास्वाति के द्वारा भी सूत्रग्रन्थ के साथ भाष्य का लिखा जाना स्वाभाविक भी था।

पंडित सुखलालजी ने तत्त्वार्थ प्रस्तावना मे कई पुष्ट प्रमाणो का आधार देकर इसे एक कर्तृक सिद्ध किया है।

तत्त्वार्थ सूत्र जैन साहित्य मे एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इसके दो सूत्रपाठ हैं, पर दोनो सूत्रपाठो की संख्या समान नही है। भाष्य सूत्रपाठ के सूत्रो की संख्या ३४४ एवं टीका के सूत्रपाठ की सख्या ३५७ है।

दोनो ग्रन्थो के सूत्र पाठो की शब्द रचना मे भी कही-कही परिवर्तित रूप है। फिर भी इस सिद्धान्त प्रधान एव दर्शन प्रधान ग्रन्थ मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परपराओं के उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। इस ग्रन्थ की व्याख्या मे दिगम्बर विद्वान् पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, आचार्य अकलक देव ने राजवार्तिक टीका और आचार्य विद्यानन्द ने श्लोक वार्तिक टीका की रचना की है। स्थान-स्थान पर 'आप्त परीक्षा' आदि ग्रथो की रचना मे आचार्य विद्यानन्द के 'तत्त्वार्थ सूत्र' के सूत्रों का प्रामाणिक आधार भी दिया है।

अकलङ्क की राजवार्तिक और विद्यानन्द की श्लोक वार्तिक टीका इन दोनों का आधार सर्वार्थसिद्धि टीका है। राजवार्तिक (तत्त्वार्थ वार्तिक) गद्य मे है और श्लोक वार्तिक पद्य मे है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक

दोनो टीकाएं उत्कर्ष पर हैं। राजवार्तिक मे दार्शनिक बिन्दुओ का विस्तार है। श्लोकवार्तिक मे विस्तार व गहराई दोनो है।

दिगम्बर परपरा मे सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्र पाठ को एवं श्वेताम्बर परपरा मे भाष्य मान्य सूत्र पाठ को प्रमाणित माना है। श्वेताम्बराचार्यों ने तत्त्वार्थ पर व्याख्या लिखते समय भाष्य मान्य पाठ का अनुगमन किया है। दिगम्बराचार्यो ने 'सर्वार्थ सिद्धि' मान्य पाठ का अनुगमन किया हैं। तत्त्वार्थ भाष्य पर किसी दिगम्बराचार्य ने टीका नहीं की है। श्वेताम्बराचार्यों ने तत्त्वार्थ भाष्य पर टीकाए रची हैं।

तत्त्वार्थ भाष्यो पर श्वेताम्बराचार्यों ने जो टीकाएं रची हैं उनमे सबसे बडी टीका सिद्धसेन की है। प्रस्तुत टीकाकार सिद्धसेन तत्त्वार्थ भाष्य-वृत्ति की प्रशस्ति मे 'भा स्वामी' के शिष्य बताए गये है। भास्वामी दिन्नगणी के प्रशिष्य और सिंह सूरि के शिष्य थे।

आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थ भाष्य पर लघुवृत्ति की रचना की है। उनकी यह वृत्ति लगभग ५ अध्यायो पर है। शेष वृत्ति की रचना यशोभद्र और उनके शिष्य ने पूर्ण की थी। मलयगिरि ने भी तत्त्वार्थ भाष्य पर वृत्ति रचना की थी। ऐसा प्रज्ञापना वृत्ति मे उल्लेख मिलता है। वर्तमान मे वह उपलब्ध नही है।

जबूद्वीप समास प्रकरण, पूजा प्रकरण, श्रावक-प्रज्ञप्ति, क्षेत्र विचार प्रशमरति-प्रकरण आदि रचनाए उमास्वाति की बताई जाती हैं।

विशुद्ध अध्यात्म भूमिका पर प्रतिष्ठित उनका प्रशमरति-प्रकरण समता को प्रवाहित करने वाला निर्झर है।

वृत्तिकार सिद्धसेन ने प्रशमरति को भाष्यकार की कृति के रूप मे सूचित किया है। निशीथ चूर्णि में भी प्रशमरति प्रकरण की १२० वीं कारिका 'आचार्य आह' कहकर उद्धृत की गई है।

उमास्वाति ५०० ग्रन्थो के रचनाकार थे।[१२] इस प्रकार की प्रसिद्धि भी श्वेताम्बर संप्रदाय में है।

समय-संकेत

दिगम्बर विद्वान् आचार्य उमास्वाति को विक्रम की द्वितोय शताब्दी का विद्वान् मानते हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य की रचना की थी। यह रचना भाष्य युग की सूचना है।

मल्लवादी के नयचक्र और उसकी टीका मे तत्त्वार्थ सूत्र और भाष्य के उद्धरण हैं। मल्लवादी वी० नि० ८८४ (वि० ४१४) मे विद्यमान थे अतः उमास्वाति का समय इनसे पूर्व का है।

पं० सुखलालजी ने तत्त्वार्थ प्रस्तावना मे विविध शोध बिन्दुओ के आधार पर वाचक उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय वी० नि० की ५वी (वि० की प्रथम) और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय वी० नि० ८वी-९वी (वि० ३-४) शताब्दी प्रमाणित किया है।

आधार-स्थल

१. तत्त्वार्थ परिचय (पण्डित सुखलालजी द्वारा प्रस्तुत)

(पृ०-२१)

२. अभूदुमास्वातिमुनीश्वरो ऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥

(जैन शिलालेख संग्रह भाग-१ अभिलेख सं० ४३)

३. जैन साहित्य और इतिहास पृ०-५३३

४. श्री आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमलभ्रातरौ तस्य बलिस्सहस्य शिष्यः स्वाति, तत्त्वार्थादयो ग्रथास्तु तत्कृता एव सभाव्यते ॥

(पट्टावली समुच्च्य पृ०-४६)

५. हारियगोत्रं साइं च ॥१५

(नन्दी स्थविरावली)

६. कौभीषणिना स्वातितनयेन ॥३॥

(तत्त्वार्थ भाष्य कारिका)

७. बलिस्सहस्स अंतेवासी साति ॥

(नन्दी चूर्णि पृ० ८)

८. शिष्येण घोषनन्दिक्षमाश्रमणस्यैकादशागविदः ॥१॥

(तत्त्वार्थ भाष्य कारिका)

९. अभूदुमास्वाति मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रगतिशास्त्रार्थजात मुनिपुङ्गवेन ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किलगृद्ध्रपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्य शब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छम् ॥

(जैन शिलालेख संग्रह भाग-१ अभिलेख सं० १०८)

१०. श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छ: शिष्यऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्ति कीर्ति ॥

(जैन लेख सं० भाग-१ पृ० ७२)

११. दशाध्याये परिच्छन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥

१२. 'पंचशती प्रकरण प्रणयन प्रवीणौस्त्र भवदगस्मास्वाति वाचकमुख्ये"

(वादिदेव सूरि कृत स्याद्वाद रत्नाकर)

४५. कीर्ति-निकुञ्ज आचार्य कुन्दकुन्द

आचार्य कुन्दकुन्द का दिगंबर परपरा मे गरिमामय स्थान है। अध्यात्म दृष्टियो को विशेष उजागर करने का श्रेय उन्हे प्राप्त है। श्रुतधर आचार्यों की परपरा मे भी उनको प्रमुख माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उनकी उत्तरवर्ती परपरा मूल सघ और कुन्दकुन्द आम्नाय के नाम से प्रख्यात हुई है। दिगबर मुनिगण अपने को कुन्दकुन्दाचार्य की परपरा का कहलाने मे गौरव अनुभव करते है। श्वेताम्बर परंपरा मे जो महत्त्व पूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र को दिया गया, वही महत्त्व दिगबर परपरा मे आचार्य कुन्दकुन्द को मिला है। जैन धर्म का सुप्रसिद्ध एक ही श्लोक श्वेताम्बर परपरा मे आचार्य कुन्दकुन्द के नाम के साथ स्मरण किया जाता है। वह श्लोक इस प्रकार है —

मगल भगवान् वीरो, मगल गौतमप्रभुः।
मगल कुन्दकुन्दाद्या (स्थूलभद्राद्या) जैन धर्मोस्तु मगलम्॥

तीर्थङ्कर महावीर और गणधर गौतम के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का उल्लेख उनकी महनीय महत्ता का परिचायक है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द की गुरु-परपरा के सबध मे सर्व सम्मत एक विचार प्राप्त नही है। बोध प्राभृत के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य थे।[1] पर भद्रबाहु उनके साक्षात् गुरु नही थे। कुन्दकुन्द ग्रन्थो के टीकाकार आचार्य जयसेन के अभिमत से आचार्य कुन्दकुन्द कुमार नन्दी सिद्धातदेव के शिष्य थे[2]— शुभचद्र गुर्वावली मे प्राप्त उल्लेखानुसार भद्रबाहु के शिष्य माघनदी, माघनदी के शिष्य जिनचद्र, जिनचद्र के शिष्य पद्मनंदी थे।[3] पद्मनन्दी का ही दूसरा नाम कुन्दकुन्द था। नन्दी सघ पट्टावली मे भद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त, माघनदी, जिनचद्र के बाद कुन्दकुन्द का उल्लेख आया है।[4] इन दोनो पट्टावलियो मे प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु आचार्य जिनचद्र थे, दादागुरु माघ नदी थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रुतधर भद्रबाहु को अपना गमक गुरु माना है।[5]

जन्म और परिवार

आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी एवं वैश्य वंशज थे। उनका जन्म दक्षिण भारत के अंतर्गत कौण्डकुन्दपुर मे हुआ। यह स्थान आंध्र प्रदेश मे पेदथनाडु नामक जिले में बताया गया है। वर्तमान में यह स्थान कोनकोण्डल नाम से प्रसिद्ध है। कुन्दकुन्द के पिता का नाम करमण्डू और माता का नाम श्रीमती था। कौणुकुन्द निवासी करमण्डू को दीर्घ प्रतीक्षा बाद एक तपस्वी ऋषि की कृपा से पुत्र रत्न की प्राप्ति हुए थी। वह पुत्र ही अपनी जन्म स्थली के नाम पर कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जन्म स्थान का नाम कौण्डकुन्द है, उच्चारण मधुरता के कारण कौण्डकुन्द ही कुन्दकुन्द नाम से परिवर्तित हुआ।

जीवन-वृत्त

आचार्य कुन्दकुन्द उग्रविहारी थे। वे दुर्गम घाटियो और वनो मे भी निर्भीक भाव से विहरण करते थे।[६] उनके पास तप का तेज था और साधना का बल था। उनका चिन्तन अध्यात्म प्रधान था।

शुभचद्राचार्य की गुर्वावली मे टीकाकार श्रुतसागरजी की षट् पाहुड टीकाओ की पुष्पिका मे तथा विजयनगर के शक सवत् १३०७ के एक अभिलेखांश मे कुन्दकुन्द के पाच नाम आये हैं—कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ, पद्मनदी।

आचार्य कुन्दकुन्द का एक नाम पद्मनदी था। जन्मस्थली के आधार पर उनका नाम कुन्दकुन्द तथा सतत अध्ययन मे ग्रीवा झुकी रहने के कारण वक्रग्रीव हुआ। कुरल कृति के रचनाकार एलाचार्य नाम भी आचार्य कुन्दकन्द का माना गया है। किसी समय गृद्धपिच्छ धारण करने के कारण वे गृद्धपिच्छ कहलाए।

इन पांचो नामों मे अन्तिम तीन नाम संशयास्पद हैं। गृद्धपिच्छ नाम उमास्वाति के लिए प्रसिद्ध है। शिला लेखो मे प्राप्त जीवन प्रसगो की भिन्नता के कारण एलाचार्य नाम भी कुन्दकुन्द का प्रतीत नही होता। 'श्रवण बेलगोल' के अभिलेख सख्यक ३०५ के अनुसार वक्रग्रीव द्रमिल संघ के अधिपति थे।[८] आचार्य कुन्दकुन्द का द्रमिल संघ के साथ कोई सम्बन्ध नही था।

इंद्रनंदी के श्रुतावतार मे जिनसेनाचार्यकृत समयसार टीका मे एवं 'श्रवण बेलगोल' सख्यक ४० के शिलालेख मे पद्मनदी नाम का उल्लेख है।[९]

द्वादशानुप्रेक्षा मे रचनाकार का नाम कुन्दकुन्द बतलाया है ।

आचार्य पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द इन दोनो नामो मे प्रथम नाम आचार्य कुन्दकुन्द का पद्मनंदी था एवं उत्तर नाम कुन्दकुन्द था। कुन्दकुन्द को तीव्र तपश्चरण के परिणाम स्वरूप चारणलब्धि प्राप्त थी।[10]

दर्शनसार मे प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य कुन्दकुन्द को महाविदेह में सीमधर स्वामी से ज्ञानोपलब्धि हुई थी।[11] टीकाकार जयसेन ने भी आचार्य कुन्दकुन्द की विदेह यात्रा के लिए शिलालेख आदि का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द वास्तव मे अध्यात्म दृष्टियो के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभूतिपरक वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्त्वो को तर्क सुसंगत परिधान दिया।

उनकी दृष्टि मे भाव शून्य क्रियाएं सर्वथा निष्फल थी। इन्ही विचारों की अभिव्यक्ति मे उनका एक श्लोक है :—

भावरहिओ णसिज्जई, जइवि तवं-चरई कोडिकोडियो।
जम्मतराइं बहुसो लंबियहत्थोगलियवत्थो ॥

जीव दोनो हाथ लटकाकर और वस्त्र त्याग कर करोड़ जन्म तक निरन्तर तपश्चर्या करता रहे पर भाव शून्यावस्था मे उसे कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

साहित्य

अध्यात्म की भूमिका पर रचित आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रथ रत्न महत्त्वपूर्ण हैं। समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ (प्राभृत) दसभत्ति अथवा भत्ति सग्गहो (दस भक्ति अथवा भक्ति सग्रह) एवं वारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) ये ग्रंथ आचार्य कुन्दकुन्द के हैं। इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

समय सार

समयसार आर्यावृत्त मे गुम्फित प्राकृत शौरसेनी भाषा का सर्वोत्कृष्ट परमागम माना गया है। टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र के अभिमत से इस ग्रथ की ४१५ गाथाएं और टीकाकार जयसेन के अभिमत से ४३९ गाथाएं हैं। यह ग्रंथ ९ अधिकारों मे विभक्त है। अधिकारों के नाम ये हैं :—

(१) जीवाजीवाधिकार, (२) कर्ताकर्माधिकार, (३) पुण्य-पाप

अधिकार, (४) आश्रव अधिकार, (५) सवर अधिकार, (६) निर्जरा अधिकार, (७) बन्ध अधिकार, (८) मोक्ष अधिकार, (९) सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार।

आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों मे यह ग्रंथ शीर्ष स्थानीय है। इस ग्रंथ मे सर्व प्रथम सिद्धो को नमस्कार किया गया है। वह पद्य इस प्रकार है :—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥

निश्चय और व्यवहार की भूमिका पर विशुद्ध आत्म तत्त्व का मूलग्राही विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है। आचार्य अमृतचंद्र की आत्म ख्याति नामक टीका और जयसेन की तात्पर्य वृत्ति इस ग्रन्थ पर उपलब्ध है। पं० बनारसीदासजी ने इस ग्रन्थ पर समय सार नामक ग्रन्थ की रचना की है।

प्रवचनसार

यह उत्तम अध्यात्म ग्रन्थ है। इसकी शैली सरल और सुबोध है। इस ग्रन्थ पर अमृतचंद्र और जयसेन की संस्कृत टीकाएं हैं। इस ग्रन्थ मे तीन प्रकरण है—अमृतचद्र की टीका के अनुसार कुल २७५ गाथाएं है। जयसेन की टीका ३१७ गाथाएं हैं। प्रथम अधिकार मे आत्मा और ज्ञान के सम्बन्धों की चर्चा है। दूसरे अधिकार मे द्रव्य, गुण, पर्याय आदि ज्ञेय पदार्थों का विस्तृत वर्णन है तथा सप्तभङ्गी का सम्यक् प्रतिपादन है और तृतीय अधिकार मे चरित्र के स्वरूप का विवेचन बताया है। इस ग्रन्थ मे तीर्थंकर के प्रवचन का विवेचन बताया है। इस ग्रथ मे तीर्थंकर के प्रवचन का सार संग्रह है अतः इस ग्रंथ का प्रवचनसार नाम सार्थक है।

तीन अधिकारो मे परिसमाप्य यह ग्रथ जैन तत्त्व की गहनता को समझने के लिए विशेष पठनीय है। इस ग्रन्थ का द्वितीय प्रकरण सबसे बड़ा है। वह १०८ गाथाओ मे सपन्न हुआ है। दिगंबर परंपरा सबधी मुनिचर्या का वर्णन मुख्यतः तृतीय अधिकार मे है। सचेलकत्व निषेध, स्त्री मुक्ति-निषेध, केवली कवलाहार निषेध आदि विषय बिन्दु भी इस अधिकार मे चर्चित हुए है।

पञ्चास्तिकाय

इस ग्रंथ के दो प्रकरण हैं। आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार इस ग्रन्थ की

१७३ गाथाएं और जय सेनाचार्य की टीका के अनुसार १८१ गाथाएं हैं। इस ग्रंथ मे पांच अस्तिकाय का विवेचन होने के कारण ग्रन्थ का नाम पञ्चास्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पाचो अस्तिकायो के साथ काल द्रव्य की व्याख्या भी इस ग्रन्थ मे है। ग्रन्थ मे प्रथम प्रकरण मे छह द्रव्यो का वर्णन, और द्वितीय प्रकरण मे नव पदार्थों की स्वरूप व्याख्या के के साथ मोक्षमार्ग का सूचक है।

जैन दर्शन सम्मत द्रव्य विभाग की सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध व्याख्या इस ग्रन्थ से समझी जा सकती है। सप्तभङ्ग का नाम निर्देश भी ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण मे उपलब्ध है। आचार्य अमृतचद्र की पञ्चास्तिकाय टीका इस ग्रथ के रहस्यो को समझने के लिए परम सहायक है।

नियमसार

नियमसार ग्रन्थ के १२ अधिकार है। गाथा सख्या १८७ है। ग्रन्थ गत अधिकारो के नाम इस प्रकार है (१) जीव अधिकार (२) अजीव अधिकार (३) शुद्ध भाव (४) व्यवहार चरित्र (५) परमार्थ प्रतिक्रमण (६) निश्चय प्रत्याख्यान (७) परमालोचना (८) शुद्ध-निश्चय प्रायश्चित्त (९) परम समाधि (१०) परमभक्ति (११) निश्चय परमावश्यक (१२) शुद्धोपयोग।

इन अधिकारो मे ध्यान, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यक का वर्णन है। अध्यात्म बिन्दुओ को समझने के लिए ये ग्रन्थ उपयोगी है। मोक्ष मार्ग मे नियम से (आवश्यक) करणीय ज्ञान, दर्शन, चरित्र की आराधना पर बल दिया है। इनसे विपरीत आचरण को हेय बतलाया गया है। इसी ग्रन्थ के अनुसार सर्वज्ञ भी निश्चय नय से केवल आत्मा को जानता है, व्यवहार नय से सबको जानता है।

अष्टपाहुड़

आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुड़ो (प्राकृतो) के रचनाकार थे पर वर्तमान मे उनके पूरे नाम भी उपलब्ध नही हैं। पाहुड़ साहित्य मे दसण पाहुड़ आदि आठ पाहुड प्रमुख माने गए हैं। उनके रचनाकार भी कुन्दकुन्द है। पाहुड ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है —

(१) दसण पाहुड की ३६ गाथाए है। इसमे सम्यक् दर्शन का विवेचन है। (२) चारित्र पाहुड की ४४ गाथाएं है। श्रावक और मुनि धर्म का सक्षिप्त वर्णन है। (३) सुत्त पाहुड़ मे २७ गाथाएं है। आगम का महत्त्व समझाया

गया है। (४) बोध पाहुड़ की ६२ गाथाएं हैं। इनमें आयतन, देव, तीर्थ, अर्हंत और प्रव्रज्या आदि ११ विषयों का बोध दिया गया है। (५) भाव पाहुड में १६३ गाथाएं है। इनमे चित्त शुद्धि की महत्ता पर बल दिया गया है। (६) मोक्ष पाहुड की १०६ गाथाओ में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा—आत्मा की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन भी इस पाहुड में उपलब्ध है। (७) लिङ्ग पाहुड़ की २२ गाथाओं में श्रमणलिङ्ग और श्रमण धर्म का निरूपण है। (८) शील पाहुड मे ४० गाथाएं हैं। इनमे शील की महत्ता का वर्णन है।

यह पाहुड साहित्य तात्त्विक दृष्टि से उपयोगी है। इसकी शैली सुबोध है। विषय का वर्णन संक्षिप्त है। प्राभृत साहित्य के रूप मे आचार्य कुन्दकुन्द का यह साहित्य-जगत् को महान् उपहार है। प्रथम छह पाहुड़ो पर आचार्य श्रुतसागर जी की संस्कृत टीका भी है।

भक्ति संग्रह

भक्ति संग्रह मे आचार्य कुन्दकुन्द की आठ भक्तिया है। इनके नाम इस प्रकार हैं—सिद्ध भत्ति, सुद भत्ति, चारित्त भत्ति, जोइ भत्ति, आइरिय भत्ति, णिन्वाणं भत्ति, पचगुरु भत्ति, थोस्सामि थुदि और तित्थयरम।

सिद्ध भत्ति (सिद्ध भक्ति)

इस भक्ति की १२ गाथाएं है। सिद्धो के गुणो का वर्णन इस कृति मे प्रस्तुत है। इस पर प्रभाचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका है। संस्कृत की सभी भक्तिया पूज्यपाद की और प्राकृत की भक्तियां कुन्दकुन्द की हैं और प्रभाचद्राचार्य की टीका के अन्त मे इस प्रकार का उल्लेख है।

सुद भत्ति (श्रुत भक्ति)

इसमे आचाराङ्ग, श्रुतकृताङ्ग आदि १२ अंगो का भेद-प्रभेद सहित वर्णन है तथा १४ पूर्वों की वस्तु संख्या तथा प्रत्येक वस्तु के प्राभृतों की संख्या भी इसमे है। इस कृति की कुल ११ गाथाएं हैं।

चरित्त भत्ति

इस भक्ति मे सामायिक आदि पांचो चारित्रो का तथा १० धर्मों का प्रमुखतः प्रतिपादन है।

जोइ भत्ति—(योगी भक्ति)

इसकी २३ गाथाएं है। योगियो की ऋद्धि-सिद्धि का वर्णन है।

अइरिय भत्ति (आचार्य भक्ति)

इसकी १० गाथाएं हैं। आचार्य के गुणो का वर्णन है।

निव्वाण भत्ति

इस कृति के अन्तर्गत २७ गाथाओ मे निर्वाण प्राप्त तीर्थंकरो की स्तुति एव निर्वाण स्वरूप का वर्णन है।

पञ्चगुरु भत्ति

इसमे सात पद्यो मे परमेष्ठी पुरुषो को स्तवना पूर्वक नमन किया गया है।

थोस्सामि थूदि (तीर्थङ्कर स्तुति)

इस कृति का दूसरा नाम तिथ्यर भुत्ति भी है। इसमे प्रमुखत: तीर्थंकरो की स्तवना है। इसमे आठ पद्य हैं। प्रत्येक तीर्थङ्कर को नामोल्लेख-पूर्वक वंदन किया गया है।

बारसाणुपेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)

यह ६१ गाथाओ का लघु ग्रन्थ है। इसमे अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह भावनाओ का सम्यक् प्रतिपादन है। वैराग्य रस से परिपूर्ण यह कृति प्रभावक है। १२ भावनाओ का निरूपण कई श्रावकाचार ग्रन्थो मे प्राप्त है। विजयसिंह सूरि रचित शातसुधारस कृति मे इन्ही १२ भावनाओ का वर्णन है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ इन चार भावनाओ का वर्णन इस कृति मे अधिक है।

समय-संकेत

आचार्य कुन्दकुन्द के विषय मे सभी दिगम्बर विद्वान् एक मत नहीं है। पं० नाथुराम प्रेमी ने कुन्दकुन्द का समय वि० की तृतीय शताब्दी का उत्तराश स्वीकार किया है। डा० पाठक ने कुन्दकुन्द का समय शक सवत् ४५०, ईस्वी सन् ५२८ सिद्ध किया है। डा० उपाध्याय ने ई० सन् प्रथम शताब्दी को मान्य किया है। एवं नाना पक्षो पर चिन्तन करने के बाद डा० ज्योति प्रसाद जैन ने भी कुन्दकुन्द के लिए ई० सन् प्रथम शताब्दी को प्रमाण किया है।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे केवली-कवलाहार, सचेलकता, स्त्री-मुक्ति आदि

श्वेताम्बर मान्यताओं का निरसन है। अतः कुन्दकुन्द का समय दिगंबर और श्वेताम्बर संघ की स्थापना हो जाने के बाद का अनुमानित होता है।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे दार्शनिक रूप की जो विवेचना है वह उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम मे नही है। सप्तभङ्गी का रूप भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे अधिक विकासमान है। उत्तरवर्ती दार्शनिक धाराओं मे भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे उपलब्ध सप्तभङ्गी का रूप आधार बना है। अतः इन बिन्दुओ के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द वाचक उमास्वाति के बाद के विद्वान् है।

आधार-स्थल

१. सद्दवियारो हूओ भासा सुत्तेसु ज जिणे कहियं ।
सो तह कहिय णाय सीसेण य भद्दबाहुस्स ।।६०।।
(बोध पाहुड)

२ अथ श्रीकुमार नन्दिसिद्धात देव शिष्यै ....
(जनसेन टीका—पृष्ठ-२)

३ श्रीमानशेषनर नायक-वंदिता-ङ्घ्रिः श्री गुप्तिगुप्त (१) इति विश्रुत नाम धेयः यो भद्रबाहु (२)........तत्राभवत्पूर्व-पदांश्वेदी श्रीमाघनदी (३)........पट्टे तदीये मुनिमान्यवृतो जिनादिचद्र (४) स्समभूदतत्र·—ततोऽभवत्पञ्चसु नाम धाम श्री पद्मनदी मुनि चक्रवर्ती ।।३।।
(शुभचंद्रगुर्वावली)

४ (१) भद्रबाहु द्वितीय (२) गुप्तिगुप्त (३) माघनदी (४) जिनचद्र (५) कुन्दकुन्दाचार्य ।
(नदी संघ-पट्टावली)

५. बारसअंगवियाण चउदसपुव्वंगविउलवित्थरण ।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ।।६१।।
(बोधपाहुड)

६ सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
गिरि-गुह गिरिसिहरे वा भीमवणे-अहव वसिते वा ।।
(बोध प्राभृत)

७. आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो (५) वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ. पद्मनदीति तन्नुतिः ।।४।।
(शुभचंद्रगुर्वावली)

८. श्रीमद् द्रमिलसधाग्रे सरद............गतिवक्रग्रीवामि ।

९. जय उरिसिपउमणंदी जेण महातत्त्वपाहुड सेलो ।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोय रस ।।
(समयसार टीका)

१०. तस्यान्वये भू-विदिते बभूव-यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्ड कुन्दादि-मुनीश्वराख्य रसत्संयमा दुद्गत-चारणर्द्धिः ।।
(जैन शिलालेख संग्रह भाग-१ लेखन ४० पृ० २४)

४६. विमल विचारक आचार्य विमल

आचार्य विमल उच्चकोटि के कवि थे। दिग्गज विद्वान् थे और प्राकृत वाङ्मय मे चरित्र काव्य के श्रेष्ठ रचनाकार थे। साहित्यिक भाषा मे गुम्फित 'पउमचरिय' (जैन रामायण) आचार्य विमल की उत्तम पद्यमयी रचना है जो उनके कुशल कवित्व शक्ति का परिचय देती है।

गुरु-परम्परा

पउमचरिय कृति की प्रशस्ति मे आचार्य विमल की गुरु-परम्परा उपलब्ध है। इस प्रशस्ति के अनुसार आचार्य विमल नाइल कुल के आचार्य राहु के प्रशिष्य और आचार्य विजय के शिष्य थे।[1] नाइल कुल, नागिल कुल, नागेन्द्र गच्छ एक ही है। प्रारम्भ मे कुल संज्ञा से प्रसिद्ध गण कालान्तर में गच्छ कहलाने लगे हैं।[2] नाइल कुल या नागेन्द्र कुल का सम्बन्ध वज्रसेन के शिष्य नागेन्द्र (नाइल) से था अत आचार्य विमल की गुरु-परम्परा वज्रसेन शाखीय सिद्ध होती है।

पउमचरिय ग्रन्थ मे श्वेताम्बर और दिगंबर दोनो मान्यताओ का वर्णन देखकर विमलाचार्य को यापनीय सघ का माना गया है।[3]

जीवन-वृत्त

आचार्य विमल विमल प्रज्ञा के स्वामी थे एव उच्च कोटि के कवि थे। उनके वश, परिवार, माता-पिता के सबंध मे सामग्री उपलब्ध नही है। आचार्य विमल के द्वारा रचित पउमचरिय ग्रन्थ उनकी व्यक्तित्व की झांकी प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ मे प्रदत्त सामग्री के अनुसार आचार्य विमल उदार विचारो के थे। समन्वयात्मक वृत्ति के परिपोषक थे। उनमे मौलिक चेतना का विकास था। अपने काव्य मे उन्होने कपोल कल्पित कल्पनाओ को विशेष प्रश्रय नही दिया किन्तु यथार्थवाद को उभारा है और देववाद को समर्थन न देकर मानवीय पक्ष को अधिक उजागर किया है।

वाल्मीकि रामायण जैसे अद्भुत और विस्मयकारक प्रसङ्ग पउमचरिय काव्य मे नही है। न इस काव्य मे स्वर्ण मृग का ही वर्णन है और न दशकधर

सहोदर कुम्भकरण को षण्मासशायी बनाया है और न उद्दाम वीचियो से उद्धृत सागर पर वानर सेना द्वारा पुल निर्माण का प्रकरण है।

पउमचरिय के अनुसार सीता का जन्म भूखनन के समय हल की नोक से नहीं हुआ था। वह मिथिला की राजकुमारी थी और जनक की प्यारी सुता थी।[४]

लङ्का प्रवेश करते समय अजनि-सुत ने लङ्कासुन्दरी के साथ युद्ध किया था। वह लङ्का सुन्दरी देवी नही, मानव पुत्री थी और वज्रमुख उसका पिता था। वह दुर्ग रक्षक विभाग से सबंधित थी।[५]

लङ्का-विजय के लिए प्रस्थित राम के मार्ग को रोकने के लिए किसी प्रकार की देव शक्ति समुद्र के रूप मे प्रकट नही हुई थी अपितु वह लङ्का की सीमा पर लङ्केश द्वारा नियुक्त समुद्र नाम का राजा ही था।[६]

लक्ष्मणजी की चिकित्सा के लिए पवन-पुत्र द्वारा पूरा पर्वत ही कन्धो पर उठा लाने के घटना प्रसङ्ग पर विमलाचार्य ने कुशल चिकित्सक महिला विशल्या का उल्लेख किया है।[७]

इन्द्र, सोम, वरुण, मेघवाहन, दशानन, सुग्रीव, हनुमान, विराधित आदि मुख्य या गौण पात्र पउमचरिय के अनुसार न देव थे, न दैत्य थे और न वानर-वंशज थे। वे सभी मानवपुत्र थ और समाज के सुसंस्कारित शिष्ट व्यक्ति थे।

आचार्य विमल ने प्रस्तुत महाकाव्य मे यथार्थ बुद्धिवाद की प्रतिष्ठापना और मानव संस्कृति का समीचीन पल्लवन किया है। ये सारे बिन्दु आचार्य विमल के व्यक्तित्व की ऊचाई और चिन्तन की गहराई को प्रकट करते हैं।

साहित्यिक

आचार्य विमल प्राकृत भाषा के अधिकृत विद्वान् थे। उन्होने जो भी लिखा प्राकृत मे लिखा। वर्तमान मे उनकी दो रचनाए बताई जाती हैं— पउमचरिय और हरिवशचरिय। ग्रन्थ परिचय इस प्रकार है—

पउमचरिय

पउमचरिय महाराष्ट्री प्राकृत का उत्तम ग्रन्थ है। जैन पुराण साहित्य मे यह सर्वाधिक प्राचीन है। चरित्र काव्यो मे भी भारतीय वाङ्मय का यह प्राकृत भाषा मे रचित सर्वप्रथम चरित महाकाव्य है। इसके ११८ पर्व और ७ सर्ग हैं।[८] पद्य सख्या ८६५१ हैं। राम का आद्योपान्त जीवन चरित्र इन

सात सर्गों में कुशलता के साथ निबद्ध किया गया है। जैन मान्यतानुसार राम-कथा को प्रस्तुत करना कथाकार का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। राम का एक नाम पद्म भी है। पद्म नाम के आधार पर इस कृति का नाम पउमचरिय रखा गया है।

शलाका पुरुष का जीवन चरित्र प्रतिपादित होने के कारण यह जैन पुराण ग्रथ है। इसके बीसवें पर्व मे जैन सम्मत ६३ शलाका पुरुषों की नाम सूचि भी उपलब्ध है। पुराण साहित्य के अन्वय आदि आठो अङ्गो का इस ग्रन्थ मे पर्याप्त विवेचन है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वश आदि पुराण के पांचो लक्षण इस पुराण मे घटित हैं।

शैली के आधार पर यह ग्रन्थ काव्य गुणो को प्रकट करता है। भाषा मे प्रवाह है, सरसता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि विविध अलङ्कारो का पर्याप्त प्रयोग है। वर्णनानुसार रसो की अभिव्यक्ति भयानक रौद्र रस आदि का सोदाहरण प्रस्तुतीकरण एवं प्रकृति के साङ्गोपाङ्ग विवेचन से यह ग्रन्थ महाकाव्य के समकक्ष प्रतीत होता है। अर्थ व्यञ्जना अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। शिक्षात्मक सूक्तो से कथानक सरस प्रतीत होता है। ग्रन्थ की भाषा ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण से मण्डित है। देशी शब्दों के प्रयोग भी हैं। पात्रो के चरित्रचित्रण मे भी उदात्त भूमिका रही है। स्त्री पात्र को भी उदात्तीकरण के साथ प्रस्तुत किया गया है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष पठनीय है और मननीय है।

ग्रन्थ मुख्यत: मात्रिक गाथा छद में निबद्ध है। उपजाति इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा आदि सस्कृत छदो का भी उपयोग किया गया है। यह पूरा काव्य-ग्रन्थ कथाओ, उपकथाओ, नवीनकथाओ, पारम्परिक कथाओ का भण्डार है।

राम के जीवन चरित्र के साथ तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषो के सम्बन्ध की विविध सामग्री इस ग्रथ मे है। ब्राह्मण साहित्य मे जो महत्त्व वाल्मीकि रामायण का है, जैन साहित्य मे वही महत्त्व पउमचरिय का है।

रविषेण का 'पद्मचरित' ग्रन्थ पउमचरिय का ही रूपान्तरण है। विद्वान् रविषेण लक्ष्मणसेन के शिष्य और अर्हन् मुनि के प्रशिष्य थे।[१] उद्योतन-सूरि की कुवलय माला मे पउमचरिय ग्रन्थ की भान्ति इस ग्रंथ का भी उल्लेख है। पउमचरिय ग्रंथ की रचना गाथा छन्द मे हुई है और पद्मचरित ग्रथ की रचना अनुष्टुप छद मे हुई है। पद्मचरित पउमचरिय का छायानुवाद होते हुए भी पद्य परिमाण में पर्याप्त अन्तर है। पउमचरिय १० हजार श्लोक

परिमाण है और पद्मचरित १८ हजार श्लोक परिमाण है। काव्यगत गंभीरता जो पउमचरिय मे है वह पद्मचरित मे नहीं।

हरिवंशचरिय

राम-कथा का जैन रूप पउमचरिय ग्रन्थ में और कृष्ण-कथा का जैन रूप हरिवशचरिय ग्रन्थ में काव्यकार ने निबद्ध किया था। हरिवंशचरिय को विमलसूरि की रचना मानने में मूल आधार कुवलय माला का यह पद्य है—

बहुयणसहस्सदयियं हरिवंसुपत्तिकारय पढमं।
वंदामि वंदयंपि हु हरिवरिसं चेय विमलपय ॥[१०]

वर्तमान मे हरिवशचरिय अनुपलब्ध है। कई विद्वान् इसे विमल सूरि की रचना मानने से सहमत नही हैं।

आचार्य विमल के विचार विमल थे और प्रज्ञा निर्मल थी। पउमचरिय जैसी उत्तम कृति का निर्माण कर उन्होने प्रज्ञाजनो मे आदरास्पद स्थान प्राप्त किया है।

समय-संकेत

'पउमचरिय' ग्रन्थ का सर्व प्रथम उल्लेख कुवलयमाला मे हुआ है। कुवलयमालाकार 'उद्द्योतनसूरि' ने विमलाङ्क (विमलसूरि) की प्राकृत को अमृत के समान मधुर माना है।[११] कुवलयमाला मे पउमचरिय नाम का उल्लेख नही है पर संकेत उस ओर ही किया गया है, ऐसा विद्वानो का अनुमान है।[१२] कुवलयमाला का रचनाकाल रचनाकार ने शक् संवत् ७०० बताया है।[१३] इस आधार पर पउमचरिय ग्रन्थ वी० नि० १३०४ (वि० ८३४, शक् संवत् ७००) से पूर्व का है।

आचार्य रविषेण का सस्कृत काव्य पद्मचरित ग्रन्थ पउमचरिय का रूपान्तर है। पद्मचरित ग्रन्थ का रचनाकाल वी० नि० १२०३ (वि० ७३३) बताया गया है।[१४] इस आधार पर आचार्य विमल का काव्य इससे से भी पूर्ववर्ती प्रमाणित होता है।

विमल सूरि ने ग्रन्थ की प्रशस्ति मे ग्रन्थ का रचनाकाल वी० नि० ५३० बताया है।[१५] डा० हर्मन जेकोबी ने ग्रन्थ का अन्तः परीक्षण कर इसका रचनाकाल ईस्वी सन् तीसरी चौथी शताब्दी सिद्ध किया है।[१६] डा० कीथ[१७], डा० बूल्लर[१८] आदि पाश्चात्य विद्वान्, मुनि जिनविजयजी, स्व० डा० नेमीचंद शास्त्री[१९], पं० परमानद शास्त्री[२०] आदि जैन विद्वान् डा० के० एच० ध्रुव[२१]

आदि जैनेतर विद्वान् भी इस ग्रंथ को अर्वाचीन मानने के पक्ष मे हैं। विमल सूरि द्वारा ग्रन्थ की प्रशस्ति मे प्रदत्त समय संवत् को सही न मानने मे विद्वानो के मुख्य बिन्दु ये हैं :—

(१) विमलसूरि ने अपने को और अपनी गुरु परपरा को नाइल कुल से संबंधित बताया है। नाइल कुल या नाइल शाखा का जन्म वज्रसेन के शिष्य परिवार से वी० नि० ५८० और वी० नि० ६०० के लगभग हुआ था। इस शाखा मे होने वाली कई पीढ़ियो के बाद विमलसूरि हुए अतः विमलसूरि की ग्रन्थ रचना का समय वी० नि० ५३० (वि० ६०, ईसा की प्रथम शताब्दी) किसी प्रकार सभव नही है। काव्य रचना की पूर्वावधि कम से कम वी० नि० सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पहुच जाती है।

(२) परिस्कृत महाराष्ट्री प्राकृत मे काव्य रचना होने के कारण पउमचरिय का काल ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद प्रमाणित होता है। भाषा शास्त्रीयो की दृष्टि मे महाराष्ट्री प्राकृत का परिमार्जित रूप इससे पहले नही था।

(३) उज्जयिनी नरेश सिंहोदर का उनके अधीनस्थ नरेश के साथ युद्ध का प्रसङ्ग[२२] महाक्षत्रियो और राजा कुमारगुप्त के बीच हुए सघर्ष का सकेतक है। युद्ध का यह प्रकरण भी काव्य को ईस्वी सन् दूसरी शताब्दी के बाद का प्रमाणित करता है।

(४) काव्य मे ग्रीक भाषा के शब्दो का प्रयोग देखकर डा० हर्मन जेकोबी लिखते हैं[२३] :—

"Perhapes of the 3rd century A. D"

अन्यत्र वे लिखते है :—

'As it (the paumchariya) gives a lagna in which some planets are given under their greek names, the book, for example, must have been written after greek astrology had been adopted by the Hindus, and that was not before the 3rd century A. D. Therefore unless the passage which contains the lagna is a later addition the book itself may be place in the 3rd century A. D or somowhat later."

इस उल्लेख से ग्रन्थ रचना ईस्वी सन् तृतीय शताब्दी या उसके बाद की सिद्ध होती है।

(५) इस ग्रन्थ मे दीनार[२४], शक, यवन, सुरङ्ग, सीयवर[२५] (श्वेता-

बम्र) आदि शब्दो का उल्लेख है। अपभ्रंश भाषा का प्रभाव है। ग्रन्थगत प्रत्येक उद्देशक के अन्त मे गाहिनी, सरभा, आर्य, स्कघा आदि उत्तरकालीन छन्दो का प्रयोग है। पद्य खण्ड के अन्त में स्रगधरा आदि वर्ण छन्दो का प्रयोग है। गीति छन्द में यमक का प्रयोग है। प्रत्येक सर्गान्त मे रचनाकार 'विमल' नाम का निर्देश है। इन सबके आधार पर ग्रन्थ अर्वाचीन प्रमाणित होता है।[२६]

दीनार शब्द के प्रयोग से कृति गुप्तकालीन सिद्ध होती है। दक्षिण भारत के निवासी कैलकिलो, और शैलवासियों के उल्लेख से भी कृति ईस्वी सन् तीसरी शताब्दी के बाद की ज्ञात होती है। आनन्द लोगो का उल्लेख[२७] ईस्वी सन् तीसरी चौथी शताब्दी के आनदवंश से संबंधित प्रतीत होता है।

काव्य मे प्रवचनसार और तत्त्वार्थ सूत्र के वर्णन समरूपता से उमास्वाति और कुन्दकुन्द का विमलसूरि पर प्रभाव प्रतीत होना है इससे यह रचना उनसे भी बाद की ज्ञात होती है।[२८]

विद्वान् ल्यूमेन विटरनित्स, पडित हरगोविन्द, श्री प्रेमीजी, ज्योतिप्रसाद जैन, प्रो० के० वी० अभयङ्कर आदि विद्वानों ने काव्य मे प्रदत्त सवत् को ही सही माना है। उनके अभिमत से काव्य मे दीनार, सुरङ्ग आदि शब्दो के प्रयोग तथा ग्रीक शब्दो के प्रयोग हुए हैं, इसका मुख्य कारण है बहुत प्राचीनकाल से भारत पर यूनानी और रोम संस्कृति का प्रभाव छाया हुआ था।

ज्योतिष शास्त्र संबंधी काल गणना भी बराबर नही है। तत्त्वार्थ सूत्र प्रवचनसार आदि ग्रंथो की वर्णन समानता और शब्द-प्रयोगो की समानता भी काव्य तिथि निर्धारण की आधार सीमा नही हो सकती। प्राचीन महाकाव्यो के वर्णन की समानता भी इस ग्रन्थ मे है। अत: कवि द्वारा प्रयुक्त संवत् को सही मान लेने मे कोई सबल बाधा प्रतीत नही होती है।[२९]

इस संदर्भ मे डा० बी० एम० कुलकर्णी का पउमचरिय—प्रस्तावना विशेष द्रष्टव्य है।[३०]

मेरे अपने अभिमत से काव्यगत काल सवत् के निरसन मे डा० हर्मन जेकोबी आदि विद्वानो द्वारा प्रदत्त युक्तियो मे सर्वाधिक सबल आधार विमल सूरि की गुरु-परपरा का नाइल कुल से सबंधित होना है। इस शाखा का जन्म वी० नि० ५८०-६०० से पहले किसी प्रकार संभव नही है।

डा० के० आर० चंद्र ने काव्यगत वी० नि० स० ५३० को वि० सं० ५३० मान लेने का अभिमत प्रकट किया है। यह अभिमत सब दृष्टियो से

समुचित अनुभूत होता है ।

आधार-स्थल

१. राहू नामायरिओ, ससमयपरसमयगहियसब्भावो ।
विजओ य तस्स सीसो, नाइलकुलवंसनन्दियरो ॥११७॥
सीसेण तस्स रइयं, राहवचरियं तु सूरिविमलेणं ।
सोऊण पुव्वगए, नारायण-सीरिचरियाइं ॥११८॥
(पउमचरिय, पर्व ११८)

२. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना ।
(पृ० १२३)

३. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ।
(भाग-२, पृ० २२५)

४. जं एवं पुच्छिओ सो, भणइ तओ नारओ पसंसंतो ।
अत्थि मिहिलाए राया, जणओ सो इन्दकेउसुओ ॥१५॥
तस्स महिला विदेहा, तीए दुहिया इमा पवरकन्ना ।
जोव्वणगुणाणुरूवा, सीया नामेण विक्खाया ॥१६॥
(पउमचरिय उद्देशक, २८)

५. दट्ठूण पिइवह सा, अह लङ्कासुन्दरी ससोगमणा ।
कोव समुव्वहंती, अमुट्ठिया रहवरारूढा ॥१२॥
(पउमचरिय, पर्व ५२)

६. अह सो समुद्दराया, नलेण जिणिऊण रणमुहे बद्धो ।
मुक्को य निययनयरे, परिट्ठिओ राहवं पणओ ॥४१॥
(पउमचरिय, पर्व ५४)

७. सा वि य तहिं विसल्ला, सुललियसियचामरेहि विज्जंती ।
हंसीव संचरंती, सपत्ता लक्खणसमीवं ॥२३॥
सा तीए फुसिय संती, सत्ती वच्छत्थला उ निप्फिडिया ।
कामुयघरस्स नज्जइ, पदुट्ठमहिला इव पणट्ठा ॥२४॥
(पउमचरिय, पर्व ६४)

८. ठिइवससमुप्पत्ती, पत्थाणरणं लवंकुसुप्पत्ती ।
निव्वाणमणेयभवा, सत्त पुराणेत्थ अहिगारा ॥३२॥
(पउमचरिय उद्देशक, १)

९. आसादिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः ।
तस्माद्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरद शिष्यो रविस्तत्स्मृतः ॥६६॥
जहिं कए रमणिज्जे वरग-पउमाण चरियवित्थारे ।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो ॥७०॥

(पद्मचरित)

१०. कुवलयमाला ।

(पृ० ३, सि० जै० ग्र० ४५)

११. जारिसिय विमलको विमलंको तारिस लहइ अत्थ ।
अमयमइय च सरस सरसं सरसंचिय पाइअ जस्स ॥

(कुवलयमाला प्रस्तावना)

१२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास ।

(भाग-६, पृ० ३६)

१३. सगकाले वोलीणे, वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं ।
एग दिणे णूणेहिं, एस समत्ता वरण्हम्मि ॥

(कुवलयमाला)

१४. द्विशताभ्यधिके समासहस्त्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते ।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरित पद्ममुनेरिद निबद्धम् ॥

(पद्मचरित्र)

१५. पञ्चेव य वाससया, दुसमाए तीसवरिससजुत्ता ।
वीरे सिद्धिमुवगए, तओ निबद्धं इम चरिय ॥१०३॥

(पउमचरिय, पर्व ११८)

१६ एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन ऐंड एथिक्स ।

(भाग ७, पृ० ४३७)

१७. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर ।

१८. इंट्रोडक्शन टु प्राकृत ।

१९. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ।

(भाग-२, पृ० २५६-५७)

२०. अनेकात किरण ।

(भाग १०-११)

२१. जैन योग, Jain yoga, Vol. 1, Part 2, 1981, pp. 68, 69.
.........Vol. 1, Part-5, 1982, pp. 180-82.

२२. पउमचरिय, पर्व ३३, पद्य २५ से आगे।

२३. माडर्न रिव्यू, दिसम्बर १९१४।

२४. दीणारेसु हसंतो, पञ्चसु विक्केइ रक्खसाहिवई।
निययपुरिसस्स हत्थे, सवइ पुणो तिव्वसद्देण ॥३२॥
(पउमचरिय, पर्व ६८)

२५. पेच्छइ परिब्भमन्तो, दाहिणदेसे सियम्बरं पणओ ॥७८॥
(पउमचरिय, पर्व २२)

29. It so late as that : (i) Vimalasuri's use of some metres of comparatively later origin such as Gahini, sarabha and Aryaskandhaka, (ii) the employment of Sragdhara at the end of a Canto and of yamaka in Gita and of the poet's or name Vimala as a key-ward or catch-ward in the concluding stanga of every canto and the, (iii) comparatively modern prakrit of V·mala our.—K. H. Dhruva.
(Jain yoga, Vol. I, part-2, 1981. pp 68-69)

२७ पउमचरिय, पद्य स० ६६, पर्व ६८।

२८ अनेकात किरण, भाग १०-११, १९४२।

२९ (क) ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर।
(ख) पाइयसद्दमहण्णवो भूमिका।
(ग) जैन साहित्य और इतिहास (संशोधित सस्करण-१९५६, पृ० ९१)।
(घ) श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारकग्रन्थ।
(विमलार्या और उनका पउमचरिय, पृ० ४४४-४४५)
(ङ) फॉरवार्ड टू पउमचरिय।

३० पउमचरिय प्रस्तावना (Pauma-chariya Introduction.) पृ० ८ से आगे।
(प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी, १९६२)

४७-४६. भव्य जन दुःख विभञ्जक आचार्य भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणी

भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणी—तीनो विशेष श्रुतसम्पन्न आचार्य थे। आगम ग्रथो मे तीनो का सम्मानपूर्ण शब्दो मे उल्लेख हुआ है। वाचकवश परम्परा में तीनो ने गरिमामय स्थान प्राप्त किया है।

गुरु-परम्परा

नन्दी स्थविरावली मे आगमवाचनाकार नागार्जुन के बाद भूतदिन्न, लोहित्य एवं दूष्यगणी का क्रमश. उल्लेख है। अतः नन्दी स्थविरावली की वाचक गुरु-परम्परा के अनुसार नागार्जुन के उत्तरवर्ती वाचनाचार्य भूतदिन्न हुए। भूतदिन्न के उत्तरवर्ती वाचनाचार्य लोहित्य और दूष्यगणी क्रमश· हुए।

जीवन-वृत्त

भूतदिन्न लोहित्य और दूष्यगणी का ग्रन्थों में विशेष जीवन प्रसङ्ग प्राप्त नहीं है। नन्दी स्थविरावली मे आचार्य देवर्द्धिगणी द्वारा रचित स्तुति पद्यो में इन आचार्यों के विविध गुणो की सूचना है। इन गुणो के आधार पर तीनो आचार्यों के जीवन का स्वल्प-सा परिचय ज्ञात किया जा सकता है। नन्दी के वे स्तुत्यात्मक पद्य इस प्रकार हैं—

> तवियवरकणग-चपय विमउलवरकमलगब्भसरिवण्णे।
> भवियजणहिययदइए दयागुणविसारए धीरे ॥३६॥
> अड्ढभरहप्पहाणे बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे।
> अणुओगियवरवसहे णाइलकुलवसणंदिकरे ॥३७॥
> भूयहिययप्पगब्भे वदे ह भूयदिण्णमायरिए।
> भवभयवोच्छेयकरे सीसे णागज्जुणरिसीण ॥३८॥

आर्य भूतदिन्न आगम वाचनाकार नागार्जुन के शिष्य माने गए थे। उनकी देह आग मे तपाते हुए स्वर्ण की भान्ति कान्तिमान थी। वे भव्यजनों के हितैषी, करुणार्द्रहृदय, आगम-स्वाध्याय रत, मुनिगण मे प्रधान, भवमय उच्छेदक नाइल उनके वंश वृद्धिकारक महाप्रभावी आचार्य थे।

लोहित्याचार्य के सम्बन्ध में उल्लेख है—

सुमुणियणिच्चा-ऽणिच्चं सुमुणियसुत्त-ऽत्थधारयं णिच्चं ।
वंदे हं लोहिच्च सब्भावुब्भावणातच्च ।।

लोहित्याचार्य सूत्रार्थ के सम्यग् धारक, पदार्थस्थ नित्यानित्य स्वरूप के विवेचक एवं शोभन भाव मे स्थित थे ।

दूष्यगणी की देवर्द्धिगणी के द्वारा निम्नोक्त पद्यो मे अत्यन्त समीचीन शब्दो मे प्रशस्ति की कई है ।

अत्थ-महत्थक्खाणि सुसमणवक्खाणकहणणेव्वाणि ।
पयतीए महुरवाणि पयओ पणमामि दूसगणि ।।
सुकुमाल-कोमलतले तेसि पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पादे पावयणीणं पाडिच्छगसएहि पणिवइए ।।

दूष्यगणी आगमश्रुत के ज्ञाता थे, समर्थ वाचनाचार्य थे । प्रकृति से मधुरभाषी थे । तप, नियम, सत्य, सयम, आर्जव, मार्दव, क्षमा आदि उत्तम गुणो से सुशोभित थे एव अनुयोगधर युगप्रधान आचार्य थे । उनके चरण प्रशस्त लक्षणो से युक्त सुकोमल तलवे वाले थे ।

नन्दी स्थविरावली मे इन आचार्यों के जीवन गुणों के वर्णन से स्पष्ट है—जैन धर्म की व्यापक प्रभावना मे इन वाचनाचार्यों का विशिष्ट योगदान रहा है ।

समय-संकेत

आर्य भूतदिन्न की युगप्रधानाचार्यों मे भी गणना है । युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आर्य भूतदिन्न का युगप्रधान पद वी० नि० ९०४ से ९८३ (वि० ४३४ से ५१३) तक माना है । आचार्य पद का दायित्व उन्होने ७९ वर्ष तक सभाला था ।

वाचनाचार्य की परम्परा मे आर्य भूतदिन्न के बाद आर्य लोहित्य, आर्य दूष्यगणी और देवर्द्धिगणी हुए है । देवर्द्धिगणी ने आगम वाचना का कार्य वी० नि० ९८० (वि० स० ५१०) मे सम्पन्न किया था । भूतदिन्न, लोहित्य और दूष्यगणी इन तीनो आचार्यों का समय देवर्द्धिगणी से पूर्ववर्ती होने के कारण वी० नि० की ९ वी १० वी शताब्दी सम्भव है ।

जैन आगम निधि–संरक्षक आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

जैन इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों मे आचार्य देवर्द्धिगणी का नाम अङ्कित है और रहेगा। उन्होंने क्षत-विक्षत आगमज्ञान धारा को युग-युग तक स्थायित्व प्रदान करने के लिए श्रुत लेखन का जो महत्त्वपूर्ण कार्य मौलिक सूझ-बूझ से से किया है। उस कार्य को समय की घनी परतें भी ढाक न सकेगी।

गुरु-परम्परा

नन्दी सूत्र मे लोहित्याचार्य की समीचीन शब्दो मे प्रशस्ति हुई है। सूत्रार्थ के सम्यक् धारक, पदार्थस्थ नित्यानित्य स्वरूप के विवेचक एव शोभन भाव मे स्थित लोहित्याचार्य को बताकर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने हार्दिक सम्मान प्रकट किया है।[1] इस उल्लेख से प्रतीत होता है—देवर्द्धिगणी के दीक्षा गुरु लोहित्याचार्य थे।

चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने देवर्द्धिगणी (देववाचक) को दूष्यगणी का शिष्य माना है।[2] देवर्द्धिगणी के शब्दो मे आचार्य दूष्यगणी आगमश्रुत के ज्ञाता थे, समर्थ वाचनाचार्य थे, प्रकृति से मधुर भाषी थे, तप, नियम, सत्य, सयम, विनय, आर्जव, मार्दव, क्षमा आदि उत्तम गुणो से सुशोभित थे एवं अनुयोगधर युगप्रधान थे। उनके चरण प्रशस्त लक्षणों से युक्त सुकोमल तलवो वाले थे।[3]

आचार्य देवर्द्धिगणी द्वारा आर्य दूष्यगणी की ज्ञान-सम्पदा के साथ शरीर सम्पदा का भी सूक्ष्म विवेचन, दोनो का गुरु और शिष्य जैसा अत्यन्त नैकट्य स्थापित करता है।

टीकाकार मलयगिरि चूर्णिकार जिनदास महत्तर और विद्वान् मेरुतुङ्ग के द्वारा इसी मत का समर्थन किया गया है। मलयगिरि की टीका के अनुसार नन्दी स्थविरावली आर्य महागिरि की परम्परा है। देवर्द्धिगणी सुहस्ती की परपरा के नही, आर्य महागिरि की परपरा के हैं।[4]

मेरुतुङ्ग ने वृद्ध सम्प्रदाय का आधार देकर आर्य महागिरि की परपरा

को मुख्य माना है। उनके अभिमत से देवर्द्धिगणी २७वें पुरुष हैं।[1] नन्दी स्थविरावली देवर्द्धिगणी की गुरु परंपरा है। प्रस्तुत स्थविरावली मे दूष्यगणी और देवर्द्धिगणी का क्रमशः उल्लेख हुआ है। अतः इस नन्दी स्थविरावली को देवर्द्धिगणी की गुरु परंपरा मान लेने पर देवर्द्धिगणी दूष्यगणी के शिष्य होते हैं।

दूष्यगणी और देवर्द्धिगणी—दोनों का गणी पदान्त नाम गुरु-शिष्य होने की संभावना को प्रकट करता है।

जिनदास महत्तर गणी की चूर्णी और मलयगिरि की टीका मे देववाचक नाम आया है। देववाचक को देवर्द्धिगणी का ही नामान्तर बताया है।

मुनि कल्याण विजयजी ने नन्दी स्थविरावली को गुरु-शिष्य परंपरा नहीं माना है। उनकी समीक्षा के मुख्य बिन्दु हैं[1]—नन्दी स्थविरावली युग-प्रधानाचार्यों की स्थविरावली है। अपने-अपने गुरुजनो की क्रमाङ्क प्रशस्तियां ग्रन्थ के अन्त मे देने की परम्परा रही है। ग्रन्थ के आदि में उत्तम पुरुषो का विघ्न विनाशक के रूप मे स्मरण किया जाता है। देवर्द्धिगणी ने नन्दी में अनुयोगधरो को मगल रूप मे वंदन किया है। अनुयोगधरो का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध होना आवश्यक नही था। किसी भी परम्परा, गण, गच्छ से सबंधित होने पर भी युग प्रभावकता के कारण उनको कालक्रम के अनुसार अनुक्रम से इस स्थविरावली मे वंदन किया गया है।

गुरु-शिष्य परम्परा मे आचार्य सभूतविजय के बाद शिष्य स्थूलभद्र का, महागिरि के बाद बलिस्सह का उल्लेख होना चाहिये। आचार्य सुहस्ती की शाखा मे आचार्य स्थूलभद्र के बाद सुहस्ती और सुहस्ती के बाद सुस्थित-सुप्रतिबद्ध का क्रम है। इस स्थविरावली मे सम्भूतविजय के बाद भद्रबाहु का, महागिरि के बाद सुहस्ती का उल्लेख हुआ है तथा आगे के क्रम मे स्कन्दिल आदि आचार्यों का उल्लेख हुआ है, जो सुहस्ती की परम्परा के विद्याधर आम्नाय से सम्बन्धित थे। अतः अनुयोगधरो की इस परम्परा मे दूष्यगणी के बाद देवर्द्धिगणी का नाम होने मात्र से वे उनके शिष्य सिद्ध नही होते। कल्प स्थविरावली मे गुरु-शिष्य परम्परा के क्रम से आचार्यों के नाम हैं। कल्प स्थविरावली के गद्य-भाग में अन्तिम नाम षाण्डिल्य का है। देवर्द्धिगणी के नाम का उल्लेख नही है पर स्थविरावली के अन्त मे गद्य-भाग पूर्ण होने के बाद एक पद्य है जो देवर्द्धिगणी की विशेषताओ को प्रकट करता है। इस स्थविरा-वली मे आदि से अन्त तक आर्य सुहस्ती से सम्बन्धित गुरु-शिष्य परम्परा

प्रस्तुत की गई है। इस आधार पर देवर्द्धिगणी सुहस्ती की परम्परा के आचार्य षाण्डिल्य के शिष्य सिद्ध होते है। मुनि कल्याणविजयजी की यह समीक्षा अधिक शोधपूर्ण और साधार प्रतीत होती है।

जन्म एवं परिवार

देवर्द्धिगणी के गृहस्थ जीवन का परिचय प्रदान करने वाली प्रामाणिक सामग्री नही के बराबर उपलब्ध है। 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार क्षान्त, दान्त, मृदुतादि गुणो से सम्पन्न सूत्रार्थ रत्नमणियो के धारक आचार्य देवर्द्धिगणी काश्यप गोत्रीय थे। लोकश्रुति के आधार पर सौराष्ट्र नरेश अरिमर्दन के राज सेवक कामर्द्धि क्षत्रिय के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम कलावती था। माता ने ऋद्धि सम्पन्न देव को स्वप्न मे देखा था। उसी स्वप्न के आधार पर पुत्र को देवर्द्धि सज्ञा से अभिहित किया गया। देवर्द्धि को मित्र देव द्वारा उद्‌बोध प्राप्त हुआ।

आगम-कार्य

दुष्काल ने हृदय को कप-कपा देने वाले नाखूनी पजे फैलाए। उस समय अनेक श्रुतधर श्रमण काल-कवलित हो गए एव श्रुत की महान् क्षति हुई। दुष्काल परिसमाप्ति के बाद वल्लभी मे पुन जैन संघ एकत्रित हुआ। विशिष्ट वाचनाचार्य नाना गुणालकृत श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण इस महा-श्रमण सघ के अध्यक्ष थे।

श्रमण सम्मेलन मे त्रुटित-अत्रुटित समग्र आगम-पाठो का श्रमण सघ के स्मृति सहयोग से सकलन हुआ एव श्रुत को स्थायित्व प्रदान करने हेतु उन्हे पुस्तकारूढ़ किया गया। आगम-लेखन का कार्य आर्यरक्षित के युग मे भी अशतः प्रारम्भ हो चुका था। अनुयोगद्वार मे दो प्रकार के श्रुत का उल्लेख है—द्रव्य श्रुत एव भाव श्रुत। पुस्तक लिखित श्रुत द्रव्य श्रुत मे मान्य किया गया है।[७]

आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन के समय मे भी आगम लिपिबद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं[८] पर देवर्द्धिगणी के नेतृत्व मे समग्र आगमो का व्यवस्थित सकलन एव लिपिकरण हुआ वह अपने-आप मे अपूर्व था। अतः परम्परा से यह श्रेय आर्य देवर्द्धिगणी को प्राप्त होता रहा है। इस संदर्भ का प्रसिद्ध श्लोक है—

वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढियमुहेण समणसंघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ॥

—वल्लभी नगरी में देवर्द्धिगणी प्रमुख श्रमण संघ ने वी० नि० ९८० (वि० सं० ५१०) मे आगमो को पुस्तकारूढ किया था।

आगम-वाचना के समय स्कन्दिली एवं नागार्जुनीय उभय वाचनाएं देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समक्ष थीं। नागार्जुनीय वाचनाओ के प्रतिनिधि आचार्य कालक (चतुर्थ) थे। स्कन्दिली वाचना के प्रतिनिधि देवर्द्धिगणी स्वयं थे। उभय वाचनाओ में पूर्ण समानता नहीं थी। विषमाश रह जाने का कारण आर्य स्कन्दिल एव आर्य नागार्जुन का प्रत्यक्ष मिलन नही हो पाया था। अतः दोनो निकटवर्ती वाचनाओ मे भी यह भेद स्थायी रूप मे सदा-सदा के लिए रह गया।[1] देवर्द्धिगणी ने श्रुत सकलन कार्य मे अत्यन्त तटस्थ नीति से काम किया। पूर्व वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल की वाचना को प्रमुखता प्रदान कर तथा नागार्जुनीय वाचना को पाठान्तर के रूप मे स्वीकार कर महान् उदारता और गंभीरता का परिचय उन्होने दिया तथा जैन सघ को विभक्त होने से बचा लिया।

नन्दी निर्यूहणाकार्य

आगम-वाचना के इस अवसर पर नन्दीसूत्र का निर्यूहण भी आर्य देवर्द्धिगणी ने किया। इस निर्यूढ कृति मे ज्ञान की व्यवस्थित रूपरेखा के साथ-साथ आगम सूत्रो की सूची तथा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का उल्लेख भी हुआ है। आचार्य सुधर्मा से लेकर दूष्यगणी तक के वाचनाचार्यो की समीचीन परम्परा भी प्रस्तुत है। वह इस प्रकार है—

१ आर्य सुधर्मा	२ आर्य जम्बू	३. आर्य प्रभव
४. आर्य शय्यम्भव	५. आर्य यशोभद्र	६ आर्य सभूतविजय
७. आर्य भद्रबाहु	८ आर्य स्थूलभद्र	९ आर्य महागिरि
१०. आर्य सुहस्ती	११. आर्य बलिस्सह	१२. आर्य स्वाति
१३ आर्य श्याम	१४ आर्य षाडिल्य	१५ आर्य समुद्र
१६. आर्य मगु	१७. आर्य आनन्दिल	१८ आर्य नागहस्ती
१९. आर्य रेवतीनक्षत्र	२०. आर्य ब्रह्मद्वीपकसिह	२१ आर्य स्कन्दिलाचार्य
२२. आर्य हिमवन्त	२३. आर्य नागार्जुन	२४ आर्य भूतदिन्न
२५ आर्य लौहित्य	२६ आर्य दूष्यगणी	२७. आर्य देवर्द्धिगणी।

चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर टीकाकार आचार्य हरिभद्र एव मलयगिरि ने आर्यधर्म, भद्रगुप्त, वज्रस्वामी, रक्षित, गोविन्द इन पाचो आचार्यों के

नामगत पद्यो को प्रक्षिप्त मानकर इनकी गणना वाचक वश परंपरा मे नहीं की है ।

चूर्णिकार एवं टीकाकार ने नन्दीसूत्र की रचना का श्रेय आचार्य देववाचक को प्रदान किया है । देववाचक और देवर्द्धिगणी दोनो अभिन्न पुरुष थे ।

भद्रेश्वर सूरी कृत 'कहावली' मे वादी, क्षमा-श्रमण, दीवाकर, वाचक इन शब्दो को एकार्थक माना है ।[१०]

विद्वान् मुनि पुण्यविजयजी द्वारा नन्दीसूत्र की प्रस्तावना मे इस सन्दर्भ की समीचीन मीमांसा प्रस्तुत है ।[११]

देवर्द्धिगणी ने दर्शन एव न्याय के युग को आगम युग के साथ अपनी साहित्य धारा के माध्यम से जोड़ा । नन्दीसूत्र इसी दिशा का एक प्रयत्न प्रतीत होता है ।

आगम निधि का संरक्षण

जैन शासन आर्य देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण का युग-युग तक आभारी रहेगा । आगम-लेखन कार्य से उन्होने वीतराग-वाणी को दीर्घकालवत्ता प्रदान की है एव जैन आगम निधि को समुचित संरक्षण दिया है । उनके इस भव्य प्रयत्न के अभाव मे श्रुतनिधि का जो आज रूप प्राप्त है वह नही हो पाता ।

समय-संकेत

देवर्द्धिगणी के समय मे आगम-वाचना का कार्य वी० नि० ९८० (वि० स० ५१०) मे सम्पन्न हुआ । यह उल्लेख प्राप्त होता है पर उनके स्वगवास सवत् उल्लेख प्राप्त नही है ।

देवर्द्धिगणी अन्तिम पूर्वधर थे । पूर्व ज्ञान का विच्छेद वी० नि० १००० वर्ष में होने का उल्लेख आगमो मे है ।[१२] इस आधार पर पूर्वधर देवर्द्धिगणी का स्वर्गवास सवत् भी यही सम्भव है । देवर्द्धिगणी के स्वर्गस्थ होने के साथ ही पूर्वज्ञान धारा का लोप हो गया था ।

वीर निर्वाण सहस्र वर्षीय अवधि की सम्पन्नता एव अग्रिम काल के प्रारम्भ में आर्य देवर्द्धिगणी सयोजक कडी थे एव आगम-निधि के महान् सरक्षक थे ।

आधार-स्थल

(१) सुमुणियणिच्चा-ऽणिच्चं सुमुणियसुत्त-ऽत्थधारयं णिच्चं ।
वंदे हं लोहिच्चं सब्भावुब्भावणातच्चं ॥४०॥
(नन्दीसूत्र-स्थविरावली)

(२) एत्थ जाणिया अजाणिया य अरिहा ॥ एव कतमंगलोवयारो थेरावलिकमे य दंसिए अरिहेसु य दंसितेसु दुस्सगणिसीसो देव-वायगो साहुजणहितट्ठाए इणमाह ।
(नन्दी-चूर्णि, पत्र १३)

(३) अत्थ-महत्थक्खाणी सुसमणवक्खाणकहणणेव्वाणी ।
पयतीए महुरवाणी पयओ पणमामि दूसगणी ॥४१॥
सुकुमाल-कोमलतले तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पादे पावयणीण पाडिच्छगसएहिं पणिवइए ॥४२॥
(नन्दीसूत्र-स्थविरावली)

४. (क) "तत्र सुहस्तिन आरभ्य सुस्थितसुप्रतिबुद्धादिक्रमेणावलिका विनिर्गता सा यथा दशाश्रुतस्कधे तथैव द्रष्टव्या, न च तयेहाधिकारः, तस्यामवलिकाया प्रस्तुताध्ययनकारकस्य देववाचकस्याभावात्, तत इह महागिर्यावलिकयाधिकारः" —नन्दी टीका

(ख) थूलभद्दस्स अंतेवासी इमे दो थेरा महागिरि सुहत्थी सुहत्थिस्स सुट्ठित-सुपडिबुद्धादयो आवलीते जहा दसासु........तहा भाणितव्वा इह तेहिं अहिगारो णत्थि, महागिरिस्स आवलीए अधिकारो ।
(नन्दीचूर्णि, पृ० ८)

(५) अन्न चाय वृद्धसप्रदायः—स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम्—आर्यमहा-गिरि· आर्यसुहस्ती च । तत्र आर्य्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या । सा चैवं स्थविरावल्यामुक्ता—
सूरिवलिस्सह साई,...........................य देवड्ढी ॥
"असौ च श्री वीरादनुसप्तविंशतमः पुरुषो देवर्द्धिगणिः सिद्धातान् अव्यवच्छेदाय पुस्तकाधिरुढ़ानकार्षीत् ।"
(मेरुतुगीया थेरावली टीका ५)

(६) वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना, पृ० १२० १२५

(७) से किं तं................दव्वसुअं ? पत्तयपोत्थयलिहिअं
(अनुयोगद्वारसूत्र)

(८) जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्न प्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कान्दिलाचार्यप्रभृतिभि पुस्तकेषु न्यस्तम्।
(योग शास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७)

(९) परोप्परमसंपण्णमेलावा य तस्समयाओ खंदिल्ल-नागज्जुणायरिया-कालं काउं देवलोगं गया। तेण तुल्लयाए लि तद्दुधरियसिद्धंताणं जो संजाओ कथम (कहमवि) वायणाभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं।
(कहावली २९८)

(१०) वाई य खमासमणे दिवायरे वायगे ति एगट्ठा।
पुव्वगय जस्सेसं जिणागमे तमिरमे नामा॥
(कहावली)

(११) नन्दी प्रस्तावना पृ० ५

(१२) (क) एगं वाससहस्स पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ।
(भगवती-२०।८)

(ख) वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो॥८०१॥
(तित्थोगाली)

अध्याय २

उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य

(संख्या ५१ से ११२)

५१. बोधिवृक्ष आचार्य वृद्धवादी

वृद्धावस्था मे दीक्षित होकर विद्वानो मे अपना सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाले आचार्य वृद्धवादी थे। वे वाद कुशल आचार्य थे एवं संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनका श्रमप्रधान जीवन विशेष आदर्श रूप था।

गुरु-परम्परा

वृद्धवादी के गुरु अनुयोगधर आचार्य स्कन्दिल थे। आचार्य स्कन्दिल विद्याधर गच्छ के थे। विद्याधर आम्नाय के आचार्य पादलिप्त की परम्परा मे वे चिन्तामणि की तरह सकल चिन्तापहारी आचार्य थे[1]। महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन आचार्य वृद्धवादी के शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

वृद्धवादी ब्राह्मण पुत्र थे। उनका जन्म गौड़ देश के कौशल ग्राम में हुआ। माता-पिता तथा अन्य प्रसङ्ग सामग्री का उल्लेख उपलब्ध नही है। गृहस्थ जीवन मे वृद्धवादी का नाम मुकुन्द था।

जीवन वृत्त

ब्राह्मण मुकुन्द की अवस्था वृद्ध थी। वैराग्य भाव जगा। संसार से विरक्ति हुई। सर्प-कञ्चुकी सम भोगो का परित्याग कर विप्र मुकुन्द ने सुप्रसिद्ध अनुयोगधर आर्य स्कन्दिल के पास जैन मुनि दीक्षा ग्रहण की।

विकास का अनुबंध अवस्था से अधिक हार्दिक उत्साह से जुड़ा रहता है। व्यक्ति का अदम्य उत्साह हर अवस्था मे सभी प्रकार के विकास का द्वार उद्घाटित कर सकता है। मुनि मुकुन्द का जीवन इस बात को प्रमाणित करने के लिए सबल उदाहरण है।

घटना भृगुपुर की है। नव दीक्षित वृद्ध मुनि मुकुन्द मे ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कठा थी। वे प्रहर रात्रि बीत जाने के बाद भी उच्चघोष से अप्रमत्त भावेन स्वाध्याय करते रहते थे। उनकी गुणनिष्पन्नकारक यह स्वाध्याय प्रवृत्ति दूसरो की नींद मे विघ्न-विधायक थी। गुरुवर्य ने मुनि मुकुन्द को

प्रशिक्षण देते हुए कहा—"तुम्हारा यह उच्चध्वनिक स्वाध्याय अन्य लोगो की नींद मे अन्तरायभूत होने के कारण कर्म बध का कारण है। हिंस्र पशुओं के जागरण से अनर्थ दण्ड की भी संभावना है।[३] अतः नमस्कार मंत्र का जाप अथवा ध्यानमय आभ्यन्तर तप ही श्रेष्ठ मार्ग है।[४]"

सुविनीत मुनि मुकुन्द ने आचार्य देव से प्रशिक्षण पाकर दिन मे स्वाध्याय करना प्रारम्भ कर दिया। ज्ञान की तीव्र पिपासा उन्हे विश्राम नही करने देती थी। प्रतिपल अप्रमत्त भाव मे लीन दृढ़संकल्पी, महा अध्यवसायी, अनवरत जागरूक, स्वाध्याय प्रवृत्त मुनि मुकुन्द का कर्णभेदक उच्चघोष श्रावक-श्राविका समाज को अखरा। किसी व्यक्ति ने व्यंग्य कसा—"मुने ! आप इतनी स्वाध्याय करके क्या मूसल (शुष्क लकडी) को पुष्पित करोगे ?" श्रावक द्वारा कही गई यह बात मुनि मुकुन्द के हृदय मे तीर की भांति गहरा घाव कर गयी। उन्होने ब्राह्मी विद्या की आराधना मे इक्कीस दिन का तप किया। देवी प्रकट होकर बोली—'सर्व विद्या सिद्धोभव।" दैविक वरदान से मुकुन्द मुनि कवीन्द्र एवं विद्या सम्पन्न बने। शक्ति सामर्थ्य को प्राप्त कर मुनि मुकुन्द ने श्रावक के वचनो को सत्य सिद्ध करने की बात सोची। चौराहे पर बैठ सबके सामने मूसल को धरती मे थमा, मुनि मुकुन्द बोले :—

अस्मादृशा अपि यदा भारती ! त्वत्प्रसादतः ।
भवेयुर्वादिनः प्राज्ञा मुशलं पुष्यता ततः ॥३०॥[४]

—भारती ! तुम्हारे प्रसाद से हमारे जैसे व्यक्ति भी वादीजनो मे प्राज्ञ का स्थान प्राप्त कर सके हैं, अब यह मूसल भी पुष्पित हो। यह कहकर मुनि मुकुन्द ने अचित्त जल का सिंचन देकर मत्र माहात्म्य से मूसल को पुष्पवान् कर दिखाया।[५]

वृद्धावस्था मे अनवरत अध्ययन प्रवृत्त मुनि मुकुन्द को देखकर—'मूसल के फूल लगाओगे क्या ?' इस प्रकार फब्तियां कसने वाले वाचाल व्यक्तियो के मुनि मुकुन्द ने मुह बन्द कर दिये थे।

वाद-गोष्ठियो मे मुनि मुकुन्द सर्वत्र दुर्जेय बन चमके। अप्रतिमल्लवादी के रूप मे उनकी महिमा महकी।

सब प्रकार से योग्य समझकर वादजयी वृद्धवादी को आचार्य स्कन्दिल ने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे नियुक्त किया।[६]

जैन शासन सरोवर के उत्पल दल को विकसित करने वाले महाभास्कर आचार्य स्कन्दिल के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य वृद्धवादी का

शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा के महाप्रज्ञ आचार्य सिद्धसेन के साथ हुआ था । इस शास्त्रार्थ मे जय प्राप्त कर आचार्य वृद्धवादी ने सिद्धसेन को अपना शिष्य बनाया। मुनि सिद्धसेन राज्याश्रय पाकर शिथिलाचार को पनपाने लगे थे, उस समय पुनः उन्हें शुद्ध संयम मार्ग मे स्थिर करने का कार्य आचार्य वृद्धवादी ने बुद्धिबल से किया था। यह सारा प्रकरण आचार्य सिद्धसेन प्रबन्ध में प्रस्तुत है।

वृद्धावस्था में दीक्षित मुनि मुकुन्द वादकुशल आचार्य होने के कारण वृद्धवादी नाम से प्रसिद्ध हुए। जन-जन में उन्होंने बोधिवृक्ष के अध्यात्म बीजो का वपन कर जैन धर्म की महती प्रभावना की।

समय-संकेत

अनुयोगधर आचार्य स्कन्दिल के वृद्धवादी शिष्य थे एवं महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन के गुरु थे। आचार्य स्कन्दिल की आगम वाचना का समय वी० नि० ८२७ से ८४० प्रमाणित हुआ है। संस्कृत भाषा के महाप्रज्ञ आचार्य सिद्धसेन का समय पण्डित सुखलालजी ने वि० की पांचवी शदी निर्धारित किया है। आचार्य वृद्धवादी इन दोनो मे मध्यवर्ती विद्वान् थे।

आधार-स्थल :

१. विद्याधरवराम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टदः ।
आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्यः पादलिप्तप्रभो. कुले ॥५॥
(प्रभा० च० पृ० ५)

२. यतिरेको युवा तस्मै शिक्षामक्षामधीर्ददौ ।
मुने ! विनिद्रिता हिंस्रजीवा भूतद्रुहो यत ॥१६॥
(प्रभा० च० पृ० ५४)

३. तस्माद् ध्यानमय साधु विधेह्याभ्यन्तर तप ।
अर्हं सकोचितु साधोर्वाग्योगो निर्ध्वनिक्षणे ॥१७॥
(प्रभा० च० पृ० ५४)

४. प्रभावकचरित (श्री वृद्धवादिसूरिचरितम् पृ० ५५)

५. इत्युक्त्वा प्रासुकैर्नीरै सिषेच मुशलं मुनि. ।
सद्य पल्लवितं पुष्पैर्युक्त तारैर्यथा नभः ॥३१॥
(प्रभा० च० पृ० ५५)

६ तत सूरिपदे चक्रे गुरुभिर्गुरुवत्सलैः ।
वर्द्धिष्णावो गुणा अर्था इव पात्रे नियोजितः ॥३४॥
(प्रभा० च० पृ० ५५)

५२. सरस्वती-कंठाभरण आचार्य सिद्धसेन

उच्चकोटि के साहित्यकार, दिग्गजविद्वान्, प्रकृष्टवादी सिद्धसेन श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य हैं। उनके उदार व्यक्तित्व, सूक्ष्म चिन्तन-शक्ति और गभीर दार्शनिक दृष्टियो ने सम्पूर्ण जैन समाज को प्रभावित किया, जिसके परिणाम स्वरूप दिगम्बर श्वेताम्बर दोनो परम्परा के विद्वान् आचार्यो ने अपने-अपने ग्रन्थो मे आदर भाव सहित आचार्य सिद्धसेन का स्मरण किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का मस्तक आचार्य सिद्धसेन की प्रतिभा के सामने झुक गया। उन्होने अयोगव्यवच्छेदिका मे कहा—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था,
अशिक्षितालापकला क्व चैषा ॥३॥

सिद्धसेन की महान् गूढ़ार्थक स्तुतियो के सामने मेरे जैसे व्यक्ति का प्रयास अशिक्षित व्यक्ति का आलाप मात्र है।

हैम शब्दानुशासन मे हेमचन्द्र ने (उत्कृष्टेऽनूपेन २-२-३६) सूत्र की व्याख्या मे 'अनुसिद्धसेन कवयः' कहकर अन्य कवियो को सिद्धसेन का अनुगामी सिद्ध किया है।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं —

सुयकेवलिणा जओ भणियं—
आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठियजसेण
दुस्सम-णिसा-दिवाकर कप्पंतणओ तदक्खेण ॥

(हरिभद्र-पंचवस्तुक गाथा—१४०८)

हरिभद्र ने प्रस्तुत श्लोक में आचार्य सिद्धसेन को दुस्सम काल रात्रि मे दिवाकर के समान प्रकाशक माना है एव श्रुतकेवली तुल्य उनको सम्मान प्रदान किया है।

हरिवश पुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन लिखते है—

जगत्प्रसिद्ध बोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयति सतां बुद्धि सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥हरिवंश पुराण १।३०।

ऋषभदेव की सूक्तियो के समान सिद्धसेन की सूक्तियां सज्जनो की बुद्धि का विकास करती है।

राजवर्तिक के कर्त्ता भट्ट अकलक, सिद्धि विनिश्चय के कर्त्ता अनन्त-वीर्य, पार्श्वनाथ चरित्र के रचनाकार वादिराजसूरि आदि दिगम्बर विद्वानों ने तथा प्रकाण्ड विद्वान् वादिदेवसूरि, प्रभाचन्द्राचार्य, अमम चरित्र के रचनाकार आचार्य मुनिचन्द्र, प्रद्युम्नसूरि आदि श्वेताम्बर विद्वान् आचार्य सिद्धसेन की प्रतिभा के प्रशंसक रहे हैं।

जन्म एवं परिवार

आचार्य सिद्धसेन ब्राह्मण वश और कात्यायन गोत्र के थे। उज्जयिनी मे उनका जन्म हुआ। पिता का नाम देवर्षि और माता का नाम देवश्री था। उज्जयिनी पर उस समय विक्रमादित्य का राज्य था। देवर्षि राजमान्य ब्राह्मण थे।

जीवन वृत्त

सिद्धसेन अवन्ति के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वैदिक दर्शन का उन्हे गभीर ज्ञान था। न्याय, वैशेषिक, साख्य आदि विविध दर्शनो पर भी उनका आधि-पत्य था। शास्त्रार्थ करने मे उनकी विशेष रुचि थी। सिद्धसेन को अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य पर भारी अभिमान था। वे अपने को दुनिया मे सर्वथा अपराजेय मानते थे। शास्त्रार्थ मे हार जाने पर विजेता का शिष्यत्व स्वीकार कर लेने मे वे दृढ प्रतिज्ञ थे।

वादकुशल आचार्य वृद्धवादी के वैदुष्य की चर्चा सर्वत्र प्रसारित हो रही थी। उनसे शास्त्रार्थ करने की उदग्र इच्छा सिद्धसेन मे थी।

एक बार आचार्य वृद्धवादी ने अवन्ति की ओर विहार किया मार्ग मे विद्वान् सिद्धसेन का आचार्य वृद्धवादी से मिलन हुआ। परस्पर के वार्तालाप से एक दूसरे का परिचय खुला। सिद्धसेन ने वृद्धवादी के सामने शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव रखा। आचार्य वृद्धवादी शास्त्रार्थ विद्वानो की गोष्ठी मे करना चाहते थे, पर अति उत्सुक सिद्धसेन के आग्रह पर उनके प्रस्ताव को आचार्य वृद्धवादी ने स्वीकार कर लिया। गोपालको ने मध्यस्थता की। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। प्रथम वक्तव्य विद्वान् सिद्धसेन ने दिया। वे सानुप्रास संस्कृत भाषा में धारा प्रवाह बोलते गये। गोपालको की समझ मे उनका एक भी शब्द नही आया। वे उन्मुख होकर बोले—"पण्डित! कब से अनर्गल प्रलाप

कर रहा है। तुम्हारी कर्णकटूक्ति हमारे लिऐ असह्य हो रही है। चुप रह, अब इस वृद्ध को बोलने दे।"

सर्वज्ञत्व की निषेध सिद्धि विषय पर पक्ष प्रस्तुत कर विद्वान् सिद्धसेन बैठ गये। आचार्य वृद्धवादी खड़े हुए उनकी प्रतिपादन शैली सरल एवं स्पष्ट थी। वाणी मे मिश्री का मिठास था। उन्होने सर्वज्ञत्व सिद्धि पर वक्तव्य देना प्रारंभ किया और वे गोपालको को सम्बोधित करते हुए मधुर स्वरो में बोले—

"बन्धुओ! तुम्हारे गाव मे कोई सर्वज्ञ है या नही?" गोपालक बोले—

"हमारे गाव मे एक जिन चैत्य है उसमे वीतराग सर्वज्ञ विराजमान हैं।"

उनके इस उत्तर के साथ ही सर्वज्ञ निषेध सिद्धि पर विद्वान् सिद्धसेन द्वारा प्रदत्त पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन गोपालको की दृष्टि मे व्यर्थ सिद्ध हो गया। तदन्तर आचार्य वृद्धवादी ने युक्ति पुरस्सर सर्वज्ञत्व को प्रमाणित किया।

सर्वज्ञ सिद्धि के बाद वृद्धवादी कर्णप्रिय चिन्दणी छन्द मे नृत्य की मुद्रा मे बोले—

नवि मारियइ नवि चोरियइ परदारह गमणु निवारियइ।
थोवा थोव दाइयइ सग्गि टुकु टुकु जाइयई ॥६॥

(प्रबन्ध कोष पृ० १६)

हिंसा नही करने से, चोरी नही करने से, परदारा सेवन नही करने से एवं शुद्धदान से व्यक्ति धीमे-धीमे स्वर्ग पहुच जाता है।

अपने विचारो को सहज ग्रामीण भाषा मे प्रस्तुत करते हुये वे पुनः बोले—

कालउ कंबलु अनुनी चाटु छासिहिं खालडु भरिउ नि पाटु।
अई वडु पडियउ नीलइ झाड़ी अवर किसर गट सिग निम्माडि ॥८॥

(प्रबन्ध कोष पृ० १६)

प्रस्तुत दोहे का राजस्थानी रूपान्तर इस प्रकार उपलब्ध होता है—

काली कम्बल अरणी सट्ठ, छाछड भरियो दीवड मट्ठ।
एवड़ पड़ियो लीले झाड़, अवर कवण छे स्वर्ग विचार॥

शीत निवारणार्थ काली कम्बल पास हो, हाथ मे अरणि की लकड़ी हो, मटका छाछ से भरा हो और एवड को नीली घास प्राप्त हो गई हो, तो

इससे बढकर अन्य स्वर्ग क्या हो सकता है ?

सुमधुर ग्रामीण भाषा मे आचार्य वृद्धवादी द्वारा स्वर्ग की परिभाषा सुनकर गोपालक जय-जय का घोष करते हुए नाच उठे। उन्होने कहा—

"वृद्धवादी सर्वज्ञ है। श्रुति सुखद उपदेश के पाठक हैं। सिद्धसेन अर्थ-हीन बोल रहा है।"

प्रभावक चरित्र के अनुसार यह शास्त्रार्थ अवन्ति के मार्ग मे हुआ था। प्रबन्ध कोष आदि ग्रन्थो के अनुसार यह शास्त्रार्थ भृगुकच्छ (भृगुपुर) के नजदीक हुआ था।

गोपालको की सभा मे आचार्य वृद्धवादी विजयी हुऐ। आचार्य सिद्धसेन अपने संकल्प पर दृढ थे। आचार्य वृद्धवादी ने पण्डित्य का प्रदर्शन न कर समयज्ञता का कार्य किया, समयज्ञ ही सर्वज्ञ होता है। इस अभिमत पर आचार्य वृद्धवादी को सर्वज्ञ और उनकी सूझ-बूझ के सामने अपने को अल्पज्ञ मानते हुये विद्वान् सिद्धसेन ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। वे मुनि बन गये। उनका दीक्षा नाम कुमुदचन्द्र रखा गया। वृद्धवादी के शिष्य परिवार मे कुमुदचन्द्र अत्यन्त योग्य एवं प्रतिभा-वान् शिष्य थे।

स्वकुल को उजागर करने वाले सुयोग्य पुत्र को पाकर जितनी प्रसन्नता एक पिता को होती है, आचार्य वृद्धिवादी को भी कुमुदचन्द्र जैसे कुशाग्र बुद्धि के धनी, काव्य चेता शिष्य को पाकर उतनी ही प्रसन्नता थी। जैनशासन की सार्वभौम एवं व्यापक प्रभावना शिष्य कुमुदचन्द्र के व्यक्तित्व से सम्भव है यह सोचकर एक दिन वृद्धवादी ने विद्वान शिष्य सिद्धसेन की नियुक्ति आचार्य पद पर की। उनका नाम कुमुदचन्द्र से पुनः सिद्धसेन कर दिया गया जो पहले था। आचार्य वृद्धवादी ने सिद्धसेन को स्वतन्त्र विहरण का आदेश देकर स्वयं ने अन्यत्र विहार कर दिया। नीति के अनुसार गुरु अपने शिष्यो की योग्यताओं को दूर रहकर भी परखा करते हैं और देखा करते हैं।

प्रखर वैदुष्य के कारण आचार्य सिद्धसेन की प्रसिद्धि सर्वज्ञ-पुत्र के नाम से हुई।

एक दिन सिद्धसेन अवन्ति के राजपथ से कहीं जा रहे थे। जन समूह उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सर्वज्ञपुत्र की जय हो—कहकर आचार्य सिद्धसेन की विरुदावलि उच्च घोषो से मार्गवर्ती चतुष्पथो पर बोली जा रही

थी । अवन्ति-शासक विक्रमादित्य का सहज आगमन सामने से हुआ । वे हाथी पर आरूढ़ थे । सर्वज्ञता की परीक्षा के लिए उन्होने वही से आचार्य सिद्धसेन को मानसिक नमस्कार किया । निकट आने पर विक्रमादित्य को आचार्य सिद्धसेन ने उच्चघोषपूर्वक हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया । विक्रमादित्य बोले, "बिना वन्दन किए ही आप किसको आशीर्वाद दे रहे है ।"

आचार्य सिद्धसेन ने कहा, "आपने मानसिक नमस्कार किया था, उसी के उत्तर मे मैने आशीर्वाद दिया है ।"

आचार्य सिद्धसेन की इस सूक्ष्म ज्ञान शक्ति से विक्रमादित्य प्रभावित हुआ और उसने विशाल अर्थराशि का अनुदान किया ।[1] सिद्धसेन ने उस अनुदान को अस्वीकार कर दिया । उनकी इस त्यागवृत्ति ने विक्रम को और भी अधिक प्रभावित किया तथा धर्म प्रचार कार्य म उस अर्थ राशि का उपयोग हुआ ।

चित्रकूट मे सिद्धसेन ने विविध औषधियो के चूर्ण से बना एक स्तम्भ देखा । प्रतिपक्षी औषधियो का प्रयोगकर आचार्य सिद्धसेन ने उसमे एक छेद कर डाला । स्तम्भ मे हजारो पुस्तके थी । अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी आचार्य सिद्धसेन को उस छेद मे से एक ही पुस्तक प्राप्त हो सकी । पुस्तक के प्रथम पृष्ठ के पठन से उन्हे सर्षप मन्त्र (सैन्य सर्जन विद्या) और स्वर्ण सिद्धि योग नामक दो महान् विद्याए उपलब्ध हुई ।[2]

सर्षप विद्या क प्रभाव से मान्त्रिक द्वारा जलाशय मे प्रक्षिप्त सर्षप कणो के अनुपात मे चौबीस प्रकार के उपकरण सहित सैनिक निकलते थे और प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत कर वे पुन जलमे अदृश्य हो जाते थे ।

हेम विद्या के द्वारा मान्त्रिक किसी भी प्रकार की धातु को सहजत स्वर्ण मे परिवर्तित कर सकता था ।

इन दो विशिष्ट विद्याओ की प्राप्ति से आचार्य सिद्धसेन के मन मे उत्सुकता बढी । वे पूरी पुस्तक को पढ लेना चाहते थे पर देवी ने आकर उनसे पुस्तक को छीन लिया[3] और उनकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी ।

आचार्य सिद्धसेन खिन्नमन वहा से प्रस्थित हुए और जैनधर्म का जन-जन को बोध प्रदान करते हुए गावो, नगरो, राजधानियो मे विहरण करते रहे । पुगी पर डोलते हुए नाग की भाति आचार्य सिद्धसेन की कुशल वाग्मिता से उनकी यश ज्योत्स्ना विश्व मे प्रसारित हुई । मुख-मुख पर उनका नाम गूजने लगा ।

आचार्य सिद्धसेन भ्रमणप्रिय आचार्य थे । वे चित्रकूट से पूर्व दिशा की

ओर प्रस्थित हुए । अनेक ग्राम-देशो मे विहरण करते हुए पूर्व के कूर्मार में पहुंचे । कूर्मार देश का शासक देवपाल था । आचार्य सिद्धसेन से बोध प्राप्त कर वह उनका परम भक्त बन गया । देवपाल की राजसभा में नित्य नवीन एव मधुर गोष्ठियां होती । आचार्य सिद्धसेन के योग से उन गोष्ठियां की सरसता अधिक बढ़ जाती थी । राजसम्मान प्राप्तकर सिद्धसेन का मन उस वातावरण मे मुग्ध हो गया और वे वही रहने लगे । राजा देवपाल के सामने पर चक्र का भय उपस्थित हुआ ।

कामरूप (आसाम) देश के विजयवर्म नरेश ने भी सैन्यदल के साथ कूर्मार देश पर आक्रमण कर दिया । नरेश देवपाल के सैन्य दल का इनके सामने टिक पाना कठिन हो गया था। आचार्य सिद्धसेन के सामने नरेश देवपाल ने अपनी दुर्बलता को प्रकट किया और कहा—गुरुदेव ! अब आपका ही आश्रय है । चिन्तित नरेश देवपाल को धैर्य बधाते हुए आचार्य सिद्धसेन बोले—"मा स्म विह्वलो भू "—राजन, चिंतत मत बनो । जिसका मैं सखा हू विजय श्री उसी की है । सिद्धसेन से सान्त्वना पाकर देवपाल को प्रसन्नता हुई । प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत करने मे उनको आचार्य सिद्धसेन से महान् सहयोग प्राप्त हुआ । युद्ध की सकटकालीन स्थिति प्रस्तुत होने पर आचार्य सिद्धसेन ने "सुवर्ण सिद्धियोग" नामक विद्या से पर्याप्त परिमाण मे अर्थ को निष्पन्न कर तथा सर्षप मत्र के प्रयोग (सैन्य सर्जन विद्या) से विशाल संख्या मे सैनिक समूह का निर्माण कर देवपाल को सामर्थ्यसम्पन्न बना दिया । युद्ध मे देवपाल की विजय हुई ।

विजयोपरान्त राजा देवपाल ने आचार्य सिद्धसेन से कहा—"हे भव-तारक गुरुदेव ! मैं प्रतिद्वन्द्वी के द्वारा उपस्थित भय रूपी अंधकार से भ्रान्त हो गया था । आपने सूर्य के समान मेरे मार्ग को प्रकाशित किया है अत. आपकी प्रसिद्धि दिवाकर नाम से हो ।" तब से आचार्य सिद्धसेन के नाम के साथ 'दिवाकर' विशेषण जुड गया । वे लोक मे 'दिवाकर सिद्धसेन' सज्ञा मे विश्रुत हुए[४] ।

निशीथ चूर्णि के अनुसार सिद्धसेन ने अश्व रचना भी की थी[५] । देवपाल की भावभीनी मनुहार से आचार्य सिद्धसेन राज सुविधाओ का मुक्त-भाव से उपयोग करने लगे । वे हाथी पर बैठते और शिबिका का भी प्रयोग करते[६] । सिद्धसेन दिवाकर के साधनाशील जीवन मे शैथिल्य की जड़ें विस्तार पाने लगी । "श्रावका. पौषधशालायां प्रवेशमेव न लभन्ते ।" उनके

पास उपासक वर्ग का आवागमन भी निषिद्ध हो गया । आचार्य होते हुए भी राजसम्मान प्राप्त कर संघ-निर्वहण के दायित्व को उन्होने सर्वथा उपेक्षित कर दिया था। धर्म-सघ मे चर्चा प्रारम्भ हुई :—

दगपाण पुप्फफल अणेसणिज्ज गिहत्थकिच्चाइ ।
अजया पडिसेवती जइवेसविडबगा नवर ।।१३।।

प्रबन्ध कोश, पृ० १७, प० २८

सचित्तजल, पुष्प, फल, अनेषणीय आहार का ग्रहण एव गृहस्थ कार्यों का अयत्नापूर्वक सेवन श्रमण वेश की प्रत्यक्ष विडम्बना है ।

आचार्य सिद्धसेन के अपयश की यह गाथा आचार्य वृद्धवादी के कानो तक पहुची । वे गच्छ के भार को योग्य शिष्यो के कन्धो पर स्थापित कर एकाकी वहा से चले। कूर्मार देश म पहुचे । वहा राजा की भाति सुखासन (पालकी) म बैठ एव सैकड़ो जनो स घिरे हुए शिष्य सिद्धसेन को राजमार्ग म देखा। वेश परिवर्तित कर आचाय वृद्धवादी सिद्धसेन के सामने उपस्थित हुए और बोले—आप बड़े विद्वान् है। आपकी ख्याति सुनकर मै दूर देशान्तर से आया हू। मेरे मन मे सन्देह है उसे आप दूर करे ।

आचार्य सिद्धसेन ने स्वाभिमान के साथ सिर ऊचा उठाकर कहा—

जो भी तुझे पूछना हो, पूछ -

आसपास मे खड़े लोगो के सम्मुख आचार्य वृद्धवादी उच्च स्वर से बोले—'अणहुल्लीफुल्ल मतोडहु मन आरामा ममोडहु ।

मण कुसुमेहि अच्च निरजणु हिडहकाइ वणेण वणु' ।।१।।

आचार्य सिद्धसेन बुद्धि पर पर्याप्त बल लगाकर भी प्रस्तुत श्लोक का अर्थ न कर सके। उन्होने मन ही मन सोचा—ये मेरे गुरु वृद्धवादी तो नहीं है? पुन:-पुन समागत विद्वान् की मुखाकृति को देखकर आचार्य सिद्धसेन ने वृद्धवादी को पहचाना। 'पादयो' प्रणम्य क्षामिता. पद्यार्थपृष्टा' चरणो मे गिरकर अविनय की क्षमा याचना की और विनम्र होकर श्लोक का अर्थ पूछा। आचार्य वृद्धवादी बोले—'योगकल्पद्रुम'—श्रमण साधना योग कल्पवृक्ष के समान है। यम और नियम इस वृक्ष के मूल है। ध्यान प्रकाण्ड एवं समता स्कन्ध श्री है। कवित्व. वक्तृत्व, यश, प्रताप, स्तंभन, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाएं पुष्प के समान है। केवलज्ञान की उपलब्धि मधुर फल है। अभी तक साधना जीवन का कल्पवृक्ष पुष्पित हुआ है। फलवान बनाने से पहले ही इन पुष्पो को मत तोडो। महाव्रत रूपी पौधो का उन्मूलन मत

कर। प्रसन्न मन से अहंकार रहित होकर वीतराग प्रभु की आराधना कर। मोहादि तरुओ से गहन इस ससार अटवी में भ्रमण क्यो कर रहा है ?'

अथवा

अल्पायु खण्ड रूपी पुष्पो को राजसम्मान जनित गर्व की लाठी से मत तोड़। यम नियम रूपी बगीचे को नष्ट मत कर। क्षमा आदि गुणो से भूषित विशुद्ध मन रूपी कुसुमो से निरजन (अहकार आदि अञ्जन से निर्लिप्त) प्रभु की पूजा अर्चा कर। मोहादि वृक्षो से गहन इस ससार रूपी अरण्य में क्यो भटक रहा है ?

अथवा

स्याद्वाद् वचन रूपी पुष्पो को मत तोड़, पवित्र मन रूपी बगीचे को नष्ट मत कर, विशुद्ध भावना रूपी कुसुमो से राग द्वेषादि रहित निरजन आत्मा की पूजा कर, भौतिक विषयो के ससार मे क्यो भ्रमण कर रहा है ?

आचार्य वृद्धवादी की विविध अर्थ प्रदायिनी उद्बोधक वाणी से आचार्य सिद्धसेन के अन्तर् चक्षु उद्घाटित हुए। उन्होने गुरु चरणो मे नत हो, क्षमा याचना की।

किवदन्ती के अनुसार वृद्धवादी ने कूर्मार ग्राम मे पहुच कर आचार्य सिद्धसेन की पालकी के नीचे अनेक शिबिकावाही पुरुषो के साथ अपना कंधा लगा दिया। अवस्था वृद्ध होने के कारण वृद्धवादी के पाव लडखडा रहे थे एव उनकी ओर से सुख पालकी लचक रही थी। आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि कृशकाय-वयोवृद्ध वृद्धवादी पर पहुंची और दर्प के साथ वे बोले—

अयमान्दोलिका दण्ड वृद्धस्तव किन्नु बाधति।

—रे वृद्ध ! इस सुख पालकी का दण्ड तुम्हे कष्ट कर प्रतीत हो रहा है ? आचार्य सिद्धसेन द्वारा उच्चारित बाधति धातु के प्रयोग पर आचार्य वृद्धवादी चौके। सस्कृत के 'बाधृङ्' धातु का परस्मैपद व्यवहार सर्वथा अशुद्ध है। इस अशुद्ध प्रयोग को परिलक्षित कर वे बोले—

न बाधते तथा दण्ड यथा बाधति बाधते।

—मुझे इस दण्ड से नही, बाधति धातु के प्रयोग से क्लेश हो रहा है।

आचार्य सिद्धसेन जानते थे, मेरी अशुद्धि की ओर सकेत करने वाला व्यक्ति मेरे गुरु वृद्धवादी के अतिरिक्त कोई नही हो सकता, अत आचार्य सिद्धसेन तत्क्षण सुख शिबिका से नीचे उतरे, आत्मालोचन करते हुए गुरु-चरणो मे गिर पडे। आचार्य वृद्धवादी ने उन्हे प्रायश्चित्त पूर्वक सयम मे स्थिर

किया एवं अपने स्थान पर गणनायक रूप मे उनकी नियुक्ति की, तदनन्तर अनशन ग्रहण कर परम समाधि मे आचार्य वृद्धवादी स्वर्गवास को प्राप्त हुए।

आचार्य सिद्धसेन जैनधर्म का जन-जन को बोध प्रदान करते हुए गावो, नगरो, राजधानियो मे विहरण करते रहे। आचार्य सिद्धसेन की कुशल वाग्मिता से उनकी यश ज्योत्स्ना विश्व मे प्रसारित हुई। मुख-मुख पर उनका नाम गूजने लगा।

आचार्य सिद्धसेन सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उस समय सस्कृत भाषा का सम्मान बढ रहा था। प्राकृत भाषा ग्रामीण भाषा समझी जाने लगी। जैनेतर विद्वान् अपने-अपने ग्रथो का निर्माण सस्कृत मे करने लगे थे। आगमो को विद्वद्भोग्य बनाने के लिए सिद्धसेन ने भी आगम ग्रथो को प्राकृत से सस्कृत मे अनूदित करना चाहा। उन्होने यह भावना गुरुजनो के सामने प्रस्तुत की[७]। स्थिति पालक मुनियो द्वारा नवीन विचारो के लिए समर्थन पाने का मार्ग सरल नही था। सारे सघ ने आचार्य सिद्धसेन का प्रबल विरोध किया। श्रमण बोले—'कि संस्कृत कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्तः तीर्थकरा· गणधरा वा यदर्धमागधे नागमानकृपत ? तदेव जल्पतस्तव महत् प्रायश्चित्तमापन्नम्।' तीर्थंकर और गणधर संस्कृत नही जानते थे। उन्होने अर्धमागधी भाषा मे आगमो का प्रणयन क्यो किया ? अत. आगमो को सस्कृत भाषा मे अनूदित करने का विचार महान् प्रायश्चित्त का निमित्त है।

सघ के इस अन्तर्विरोध के फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन को मुनिवेश बदलकर बारह वर्ष तक गण से बाहर रहने का कठोर दण्ड मिला।[८] इस पाराञ्चित नामक दशवे प्रायश्चित्त को वहन करते समय आचार्य सिद्धसेन के लिए एक अपवाद था, बारह वर्ष की इस अवधि मे उनसे जैनशासन की महनीय प्रभावना का कार्य सपादित हो सका तो दण्ड काल की मर्यादा से पूर्व भी उन्हे संघ मे सम्मिलित किया जा सकता है।[९]

सघमुक्त आचार्य सिद्धसेन मुनिवेश परिवर्तित कर सात वर्ष तक विहरण करते रहे। तदनन्तर उनका आगमन अवन्ति मे हुआ। अवन्ति नरेश विक्रमादित्य की सभा मे पहुचकर सिद्धसेन ने राजा की स्तुति मे चार श्लोक बोले—

'अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुत।
मार्गणौघ समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम्' ॥१॥
'अमी पान कुरका भा. सप्तापि जलराशय.।

यद्यशो राजहंसस्य पंजरं भुवनत्रयम्' ॥२॥
'सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः' ॥३॥
'भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा।
ददासि तच्चते मास्ति राजंश्चित्रमिदं महत्' ॥४॥

इन श्लोको को सुनकर राजा विक्रमादित्य अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला—धन्य है वह सभा जहा आप जैसे विद्वान् विराजमान होते हैं। अब आप सदा-सदा के लिए हमारी सभा को अलंकृत करें।

राजा के आग्रह पर विद्वान् सिद्धसेन वहा रहने लगे। एक दिन सिद्धसेन राजा विक्रमादित्य के साथ शिव मदिर मे गए पर शिव प्रतिमा को प्रणाम किए बिना ही वापस मुडे। राजा विक्रमादित्य ने सिद्धसेन से नमन न करने का कारण जानना चाहा और कहा—'तुम ऐसा करके देव की अवज्ञा कर रहे हो।' तब सिद्धसेन बोले, 'राजन्! साधारण मनुष्यो के सामने कुछ बोलकर कण्ठ शोप करने से कुछ भी लाभ नही होता पर तुम पुण्यशाली भाग्यवान् पुरुप हो अत. मैं नमन करने का रहस्य तुम्हे बता रहा हू। मेरा नमस्कार ये देव सहन नही कर पाते।

प्रबन्ध कोश के अनुसार सात वर्ष अन्यत्र परिभ्रमण करने के बाद सिद्धसेन अवन्ति मे आए तथा शिवमन्दिर मे पहुचकर प्रतिमा को नमन किए बिना ही बैठ गए। पुजारी ने उनसे पुनः पुन प्रतिमा को प्रणाम के लिए कहा, पर आचार्य सिद्धसेन पर इसका कुछ भी प्रभाव नही हुआ। उन्होने पुजारी की बात को सुनकर भी अनसुना कर दिया। इस घटना की सूचना राजा के कानो तक पहुची। विक्रमादित्य स्वयं शिव मन्दिर मे उपस्थित हुआ और सिद्धसेन से बोला, 'क्षीर लिलिक्षो भिक्षो! किमिति त्वया देवो न वद्यते ?—हे दूधपान करने वाले श्रमण! देव प्रतिमा को वन्दन नही करते ?' आचार्य सिद्धसेन बोले, 'मेरा वन्दन प्रतिमा सहन नही कर सकेगी।'

राजा बोला, 'भवतु क्रियतां नमस्कार.—जो कुछ घटित होता है, होने दो। तुम वन्दन करो।'

नरेश की आज्ञा से शिव प्रतिमा के सामने बैठकर आचार्य सिद्धसेन ने काव्यमयी भाषा मे उच्च स्वर से पार्श्वनाथ की स्तवना प्रारंभ की। फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन द्वारा स्तुति काव्य के रूप मे 'महान् प्रभावक कल्याण मदिर स्तोत्र' का निर्माण हुआ। कल्याण मन्दिर स्तोत्र के ११वें

श्लोक के साथ पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई ।[१०]

आचार्य सिद्धसेन के इस कार्य से जैन शासन की महनीय प्रभावना शतगुणित होकर प्रसारित हुई। राजा विक्रमादित्य ने आचार्य सिद्धसेन का महान् सम्मान किया और उनका परम भक्त बना। राजा विक्रमादित्य की विद्वत्मण्डली मे भी आचार्य सिद्धसेन को गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ।

आचार्य सिद्धसेन के प्रस्तुत प्रयत्न को मघ अतिशय प्रभावना का महत्त्वपूर्ण अंग मान श्रमण संघ ने उन्हे दण्ड मर्यादा से पाच वर्ष पूर्व ही गण मे सम्मिलित कर लिया।[११]

सिद्धसेन प्रगतिगामी विचारो के धनी थे। उनके नवीन विचारो का विरोध होना स्वाभाविक था। द्वादश वर्षीय सघ बहिष्कार के रूप मे दण्ड की यह पद्धति अवश्य अनुसन्धान का विषय है।

आचार्य समन्तभद्र के द्वारा भी चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति करते समय चन्द्रप्रभजी का बिम्ब शिवालय मे प्रकट हुआ था अत सिद्धसेन और समन्तभद्र के जीवन की ये दोनो घटनाए एक जैसी लगती है।

इन दोनो आचार्यो के प्रस्तुत घटना प्रसङ्ग का कालान्तर मे सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

संघ मे सम्मिलित कर लिए जाने के बाद एक बार आचार्य सिद्धसेन ने गीतार्थ मुनियो के साथ अवन्ति से दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए वे भृगुकच्छ के सीमावर्ती स्थान पर पहुचे। वहां ग्रामीण गोपालको ने आचार्य सिद्धसेन से कहा, 'गुरु महाराज ! हमे भी कुछ सुनाओ।' तब आचार्य सिद्धसेन ने वृक्ष की छाया के नीचे गोरस के समान मधुर धर्मोपदेश उन्हे दिया और तत्काल प्राकृत भाषा मे श्लोक रचना कर बोले,

'नवि मारियइ नवि चोरियइ, परदारह सगु निवारियइ।
थोवमवि थोव दायइ, तनु सग्गिटु गुट्टुगुजाई इ' ॥१॥

हिंसा नही करने से, चोरी नही करने से, परदारा सेवन नही करने से, शुद्ध दान मे व्यक्ति धीमे-धीमे स्वर्ग पहुच जाता है।

प्राकृत भाषा का यह रास सुनकर ग्वाले प्रतिबद्ध हुए। उन्होने ताल रासक नामक ग्राम बसाया।

सिद्धसेन वहा से भृगुकच्छ (भृगुपुर) गए। भृगुपुर मे उस समय बलमित्र के पुत्र धनञ्जय का राज्य था। राजा ने आचार्य सिद्धसेन का भक्ति-

पूर्वक सत्कार किया। धनञ्जय शत्रुओ से आक्रान्त हुआ तब सिद्धसेन ने ही सैन्य निर्माण की कला बताकर धनञ्जय को विजयी बनाया था। सैन्य रचना मे सिद्धहस्त होने के कारण सिद्धसेन का नाम सार्थक प्रतीत हो रहा था।

अवन्ति नरेश विक्रमादित्य और बंग नरेश देवपाल की तरह भूपति धनञ्जय भी आचार्य सिद्धसेन का परम भक्त बन गया।

जीवन के सन्ध्याकाल मे आचार्य सिद्धसेन प्रतिष्ठानपुर (पृथ्वीपुर) पहुचे। आयुष्यबल को क्षीण जानकर आचार्य सिद्धसेन ने अपने योग्य शिष्य को पद पर नियुक्त किया और स्वय ने अनशन ग्रहण किया। परम समाधि मे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का स्वर्गवास हुआ।[१२]

एक समर्थ कवि, मधुर वक्ता, महान् धर्मोपदेशक, चिन्तनशील, गंभीर विचारक जैन शासन के अतिशय प्रभावी आचार्य के चले जाने से लोगो के हृदय मे तीव्र आघात लगा। सयोग से एक वैतालिक चारण कवि विशाला-गया, वहां आचार्य सिद्धसेन की भगिनी साध्वी सिद्धश्री से मिला। उस समय चारण को आचार्य सिद्धसेन की याद आ गई। वह उदासमन से श्लोक का अर्धांश बोला—

'स्फुरन्ति वादिखद्योता साम्प्रत दक्षिणापथे'

इस समय दक्षिण मे वादी रूपी जुगनू चमक रहे हैं। साध्वी सिद्धश्री आचार्य सिद्धसेन की भाति अपार बुद्धिवैभव की धनी थी। वैतालिक चारण की कविता सुनकर वह समझ गई—अब विद्वान् बन्धु आचार्य सिद्धसेन ससार मे नही रहे है। उसने वाग्मी चारण द्वारा उच्चरित श्लोक का उत्तरांश पूर्ण करते हुए कहा—

'नूनमस्तंगतो वादी, सिद्धसेनो दिवाकर' ॥१७४॥ (प्रभा०च०पृ० ६२)

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर निश्चय ही अस्त हो गए हैं। साध्वी सिद्धश्री मे भाई के स्वर्गवास से विशेष वैराग्य भाव उदय हुआ। नश्वर-धर्मा इस शरीर की अन्तपरिणति समझकर उसने अनशन ग्रहण कर लिया। गीतार्थ श्रुतधर मुनियो के निर्देशन मे अपने चारित्ररत्न की सम्यग् आराधना करती हुई वह भी सद्गति को प्राप्त हुई।

आचार्य सिद्धसेन ने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक राजाओ को बोध दिया था। सात राजाओ को अथवा अठारह राजाओ को आचार्य सिद्धसेन द्वारा बोध देने की बात अधिक विश्रुत है। प्रभावक चरित्र एवं प्रबन्धकोश मे राजाओ की सख्या का कोई उल्लेख नही है।

आचार्य सिद्धसेन का युग आरोह और अवरोह का युग था । संस्कृत भाषा का उत्कर्ष एवं प्राकृत भाषा का अपकर्ष हो रहा था । पुस्तको के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति आरम्भ हो चुकी थी । श्रमण जीवन मे शिथिलाचार प्रवेश पा रहा था । राजसम्मान प्राप्त जैनाचार्यों की दृष्टि मे व्यक्तित्व-प्रभावना का लक्ष्य प्रमुख एव साधुचर्या की बात गौण बन गयी थी । श्रमणो के द्वारा गजशिविका आदि विशेष वाहनो का उपयोग भी उस युग मे होने लगा था ।

आचार्य सिद्धसेन का जीवन-प्रसंग इन सारे बिन्दुओ का संकेतक है ।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र मे आचार्य सिद्धसेन ने जो भी दिया वह अनुपम था । आगमिक तथ्यो को तर्क की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हे है । जैन दर्शन मे न्याय के वे प्राण-प्रतिष्ठापक थे । दिग्गज विद्वान् धर्मकीर्ति, दिङ्नाग और वसुबन्धु के वे सबल प्रतिद्वन्द्वी थे ।

आचार्य सिद्धसेन मे आस्था एवं तर्क का अपूर्व समन्वय था । वे एक ओर मौलिक चिन्तन के धनी, स्वतन्त्र विचारक एव नवीन युग के प्रवर्तक थे, दूसरी ओर वे महान् स्तुतिकार थे । उन्होने मौलिक चिन्तन प्रधान दार्शनिक ग्रन्थो की रचना की । उनके ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है —

बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं

आचार्य सिद्धसेन ने द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिकाओ की रचना की । इनमे इक्कीस द्वात्रिंशिकाए उपलब्ध है । उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओ मे प्रथम पाच द्वात्रिंशिकाएं स्तुतिमय हैं । इन स्तुतियो मे भगवान् महावीर के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा के दर्शन होते है ।

अवशिष्ट द्वात्रिंशिकाओं मे विविध विषयो का वर्णन मिलता है । जैनेतर दर्शनो को समझने के लिए १३वी, १४वी, १५वी, १६वी द्वात्रिंशिका उपयोगी हैं । इनमें क्रमश· साख्य, वैशेषिक, बौद्ध एव नियतिवाद की चर्चा है । जैन तत्त्व दर्शन को समझने के लिए १९वी द्वात्रिंशिका विपुल सामग्री प्रदान करती है । आत्म-स्वरूप एवं मुक्ति मार्ग का बोध २०वी द्वात्रिंशिका मे है । प्रथम पांच द्वात्रिंशिकाओ की भाति २१वी द्वात्रिंशिका भी स्तुतिमय है । ये द्वात्रिंशिकाएं अपूर्व है, गूढ़ हैं और गम्भीरार्थक हैं । इसमे जैन, बौद्ध, वैदिक सभी दार्शनिक तत्त्वो की चर्चाए है । ये पद्यमयी हैं । इनकी भाषा-

शैली गहन एवं गम्भीर है। इनकी रचनाओ मे उन्होने अनुष्टुप, उपजाति, पृथ्वी, आर्या, पुष्पिता, वसन्ततिलका, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शालिनी आदि विविध छन्दो का उपयोग किया है। इन द्वात्रिंशिकाओ पर किसी भी समर्थ विद्वान् ने टीका नही लिखी। आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय, आचार्य हेमचन्द्र के अन्य योग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, अयोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका तथा प्रमाण मीमासा पर सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। आचार्य यशोविजयजी के न्याय ग्रन्थो पर सन्मति तर्क और इन द्वात्रिंशिकाओ की छाया है।

सन्मति तर्क

सन्मति तर्क ग्रन्थ आचार्य सिद्धसेन की प्राकृत रचना है। उस समय आगम समर्थक जैन विद्वान् प्राकृत भाषा को पोषण दे रहे थे। सम्भवत इन विद्वानो की अभिरुचि का सम्मान करने के लिए 'सन्मति तर्क' का निर्माण सिद्धसेन ने प्राकृत भाषा मे किया है। नय का विशद विवेचन, तर्क के आधार पर पाच ज्ञान की परिचर्चा, प्रतिपक्षी दर्शन का भी सापेक्ष भूमिका पर समर्थन तथा सम्यक्त्व स्पर्शी अनेकान्त का युक्ति पुरस्सर प्रतिपादन इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय है। प्रमाण विषयक सामग्री को प्रस्तुत करने वाला यह सर्वप्रथम जैन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के ३ काण्ड और १६७ गाथाए हैं। प्रथम काण्ड मे ५४ गाथाए है और इसमे नयवाद का विशद विवेचन है। नयो का गम्भीर तलस्पर्शी अध्ययन करने वालो को यह काण्ड समुचित सामग्री प्रस्तुत करता है। दूसरे काण्ड की ४३ गाथाएं हैं। पांच ज्ञान का समुचित विवेचन एव प्रत्यक्ष, परोक्षज्ञान की व्याख्या इसमे उपलब्ध है। तृतीय काण्ड की ७० गाथाए है। इसमे ज्ञेय तत्त्व की चर्चा और अनेकान्त तथा स्याद्वाद का वर्णन है। यथार्थ मे यह ग्रन्थ स्याद्वाद का अनुपम खजाना है।

इस ग्रन्थ मे आचार्य सिद्धसेन ने सर्वज्ञ के केवलज्ञान और केवल दर्शन मे अभेद सिद्ध किया है। युगपत् ज्ञानद्वयी का यह समर्थन सिद्धसेन का सर्वथा मौलिक था। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने इस मान्यता का विरोध किया, मल्लवादी ने इसका समर्थन किया और यशोविजयजी ने ज्ञान बिन्दु विवरण मे इन तीनो आचार्यों की मान्यताओं को विविध नयो के आधार पर सिद्ध कर स्याद्वाद को पुष्ट किया।

न्यायावतार

गौतम ऋषि द्वारा न्यायसूत्र की रचना के बाद न्यायशास्त्रो को

उपयोगिता बढ रही थी। इस उपयोगिता की पूर्ति मे आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार ग्रन्थ की रचना की। यह बत्तीस श्लोकों की न्याय विषयिक मौलिक रचना है। जैन न्याय ग्रन्थो मे सस्कृत भाषा का यह प्रथम ग्रन्थ है। उत्तरवर्ती ग्रन्थो पर इस न्याय ग्रन्थ का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। आचार्य सिद्धर्षि ने इस ग्रन्थ पर २०७३ श्लोको की टीका और आचार्य भद्रेश्वरसूरि ने १०५३ श्लोक का टिप्पण लिखा है। अग्रेजी संस्करण भी इस ग्रन्थ के प्रकाशित हुए हैं। जैन न्याय का यह आदिग्रन्थ है। इसकी सस्कृत भाषा शैली सुललित और प्रभावमयी है। आगमो मे बीज रूप से प्राप्त प्रमाण एव नय का आधार लेकर बत्तीस अनुष्टुप श्लोकों मे न्याय जैसे गम्भीर विषय को प्रस्तुत कर देना उनकी प्रतिभा का चमत्कार है।

कल्याण मन्दिर स्तोत्र

इस स्तोत्र की रचना शिवालय मे हुई। यह स्तोत्र वसन्ततिलका छन्द में संस्कृत भाषा मे रचा गया है। इस स्तोत्र की भाषा सुललित और प्रवाहमयी है। इस स्तोत्र मे पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। इस स्तोत्र के ४४ पद्य है। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर मे रुद्रलिङ्ग का स्फोटन कर पार्श्वनाथ के बिम्ब प्रकटन की घटना इस स्तोत्र के प्रभाव से घटित हुई थी।

आचार्य सिद्धसेन कवि थे। सिद्ध हेम शब्दानुशासन मे हेमचन्द्र ने (उत्कृष्टेऽनूपेन २।२।३९) सूत्र की व्याख्या मे "अनुसिद्धसेन कवय·" कहकर अन्य कवियो को सिद्धसेन का अनुगामी सिद्ध किया है।

आदि पुराण के कर्त्ता दिगम्बर आचार्य जिनसेन उनकी कवित्व-शक्ति से अति प्रभावित हुए और उन्होने कहा—

कवय: सिद्धसेनाद्या-वय तु कवयो मता.।
मणय· पद्मरागाद्या-ननुकाचेऽपि मेचकः ॥३९॥

(आदि पुराण, भाग-१)

हम तो गणना मात्र कवि हैं। यथार्थ मे कवि आचार्य सिद्धसेन थे।

आचार्य अभयनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण के 'उपेन' सूत्र (१।४।१६) की व्याख्या मे अनुसिद्धसेनं वैयाकरण कहकर प्रवर वैयाकरणों मे सिद्धसेन को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है।

पूज्यपाद (देवनन्दी) के व्याकरण के अंतर्गत वेत्तेःसिद्धसेनस्य (५।१।७) सूत्र की व्याख्या मे सिद्धसेन के मत को उदाहरण रूप से प्रस्तुत

किया गया है। इस सूत्र के नियमानुसार अनुपसर्ग सकर्मक धातु से रेफ का आगम होता है। सिद्धसेन की नवमी द्वात्रिंशिका २२वें पद्य में 'विद्रते' इस प्रकार की धातु का प्रयोग है। इस प्रयोग मे अनुपसर्ग सकर्मक विद् धातु से रेफ का आगम का प्रयोग हुआ है जो सिद्धसेन के द्वारा स्वीकृत है। इस प्रकार प्रयोग की विलक्षणता से आचार्य सिद्धसेन की बहुश्रुतता प्रकट होती है।

सिद्धसेन स्वतंत्रचेता व्यक्ति थे। उन्हें युक्ति के आधार पर जिस सत्य की अनुभूति हुई उसे निस्संकोच एवं निर्भय होकर जनता के सामने प्रस्तुत किया था। उनका चिन्तन प्राचीनता अथवा नवीनता के साथ बंधा हुआ नही था। पूर्वाग्रह का भाव उनमे कभी नहीं पनप सका था। निम्नोक्त द्वात्रिंशिका के श्लोको मे उनके स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन के दर्शन होते हैं—

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति स्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादऽहन्न जात प्रथयन्तु विद्विष.।

(द्वात्रिंशिका ६।२)

पुरातन पुरुषो की असिद्धव्यवस्था का समर्थन करने के लिए मैं नहीं जन्मा हूं। भले इससे विरोधीजनो की सख्या बढती है तो बढे।

बहुप्रकारा: स्थितय: परस्परं, विरोधयुक्ता कथमाशु निश्चय:।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा, पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते ।।

(द्वात्रिंशिका ६।४)

पुरातन व्यवस्थायें अनेक प्रकार की हैं और वे परस्पर विरोधी भी हैं। अत. उनके समीचीन और असमीचीन होने का निर्णय शीघ्र ही कैसे किया जा सकता है। पुरातन प्रेमी के लिए ही एक पक्षीय निर्णय उचित हो सकता है किसी परीक्षक के लिए नहीं।

जनोयमन्यस्य मृत: पुरातन:, पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु क:, पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्।

(द्वात्रिंशिका ६।५)

आज जिसे हम प्राचीन कहते हैं वह भी कभी नया था और जिसे हम नवीन कहते हैं वह भी कभी प्राचीन हो जायेगा। इस प्रकार प्राचीनता भी स्थिर नही है अत: बिना परीक्षा किए पुरानी बात पर भी कौन विश्वास कर सकता है।

यदेव किंचिद् विषमप्रकल्पित, पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत् स्मृतिमोह एव सः ।
(द्वात्रिंशिका ६।८)

जो व्यक्ति पुरातन पुरुषो द्वारा रचित होने के कारण असबद्ध शास्त्र की भी प्रशसा करते हैं एवं समीचीन ग्रन्थ की भी नवीन होने के कारण उपेक्षा करते हैं। यह उनकी स्मृति का व्यामोह मात्र है । आचार्य सिद्धसेन की उक्त पद्यावलिया उनकी स्पष्टवादिता निर्भीकता और चिन्तन की उन्मुक्तता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है । प्रत्येक पद्यावली मे पुरातन रूढ धारणाओ पर क्रान्ति का सबल घोष प्रतिध्वनित है ।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की अनेकान्तवाद मे अनन्य निष्ठा थी—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो नमो अणेगतवादस्स ।।

आचार्य सिद्धसेन ने दर्शन के क्षेत्र मे नई दृष्टिया दी, जैन न्याय का बीजारोपण किया । जैन सिद्धान्तो की युक्ति पुरस्सर सूक्ष्म चर्चा कर तात्विक मान्यताओ पर चिन्तन-मनन का द्वार उद्घाटित किया ।

एक ओर आचार्य सिद्धसेन ने आगम मे बिखरे अनेकान्त सुमनो को माला का रूप दिया दूसरी ओर उनके उर्वर मस्तिष्क से अनेक मौलिक तथ्य भी उभरे । ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता मे मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान पर मेय रूप का समर्थन, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के रूप मे प्रभावत्रयी की परिकल्पना, प्रत्यक्ष और अनुमान मे स्वार्थ और परार्थ की अनुमति और प्रमाण लक्षण मे स्वपरावभासक के साथ बाघ वर्जित स्वरूप का निश्चयी कारण सिद्धसेन की अपनी मौलिक सूझ ही थी ।

आचार्य सिद्धसेन न्यायप्रतिष्ठापक, महान् स्तुतिकार, कुशल वाग्मी, नवीन युग के प्रवर्तक, स्वतत्र विचारक एव साहित्याकाश के दिवाकर थे । उनकी नव-नवोन्मेष प्रदायिनी मनीषा जैन शासन के लिए वरदान सिद्ध हुई ।

जैन की सैद्धान्तिक मान्यताओ का भी समीक्षात्मक विश्लेषण आचार्य सिद्धसेन की दार्शनिक प्रतिभा का विशिष्ट अनुदान है ।

समय संकेत

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य मे, जिनदास की चूर्णियो मे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के ग्रन्थो के उल्लेख है । अत. इन

आचार्यों से सिद्धसेन पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

पूज्यपाद (देवनन्दी) ने जैनेन्द्र व्याकरण मे 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' वाक्य में सिद्धसेन के मत का विशेष उल्लेख किया है। पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि टीका मे भी सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओ मे श्लोक उद्धृत है। पूज्यपाद का समय विक्रम की पांचवीं शती का उत्तरार्द्ध और छठी शताब्दी का पूर्वार्ध है।

आचार्य सिद्धसेन ने देवपाल के आग्रह से हाथी और पालकी की सवारी भी की थी। जैन शासन मे इस प्रकार के शिथिलाचार का प्रवेश विक्रम की पांचवी शताब्दी मे हुआ माना गया है।

पंडित सुखलालजी ने और पण्डित बेचरदासजी ने सिद्धसेन दिवाकर को विक्रम की पांचवी शताब्दी का आचार्य माना है। पंडित दलसुख मालवणिया इस स्थिति को निर्बाध बताकर समर्थन किया है।

सिद्धसेन आचार्य वृद्धवादी के शिष्य थे। वृद्धवादी अनुयोगधर स्कन्दिल के शिष्य थे। वाचनाकार स्कन्दिल का आगम-वाचना काल वी० नि० ८२७ से ८४० (वि० ३५७ से ३७०) स्वीकृत हुआ है। दिवाकर सिद्धसेन आचार्य स्कन्दिल के प्रशिष्य होने के कारण उनका विक्रम की ५वी शताब्दी का समय लगभग सही प्रतीत होता है।

आचार्य सिद्धसेन द्वारा रचित साहित्य मे सुललित, सालंकारिक प्रवाहमयी सस्कृत भाषा स्वरूप के आधार पर भी वे वी० नि० की १० वी ११वीं (वि० की ५वी) शताब्दी के विद्वान् अनुमानित होते हैं।

आधार-स्थल

(१) धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूरादुद्धृतपाठाये।
सूरयो सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः ॥६४॥

(प्रभा० च०, पृ० ५६)

२ द्वे विद्ये लभते स्म। एका सर्षपविद्या, अपरा हेमविद्या। तत्र सर्षपविद्या सा ययोत्पन्ने कार्ये मान्त्रिको यावन्तः सर्षपान् जलाशये क्षिपति तावन्तोऽश्ववारा द्विचत्वारिंशदुपकरणसहिता निःसरन्ति। तत. परबलं भज्यते। सुभटाः कार्यसिद्धेरनन्तरमदृश्यो भवन्ति। हेमविद्या पुनरक्लेशेन शुद्धहेम-कोटीः सद्यो निष्पादयति, येन तेन धातुना। तद्विद्याद्वयं सम्यग् जग्राह।

(प्रबन्धकोश, पृ० १७)

३. सावधान. पुरो यावद् वाचयत्येष हर्षभूः ।
तत्पत्रं पुस्तकं चाथ, जह्रे श्रीशासनामरी ।।७२।।
(प्रभा० च०, पृ० ५६)

४. ततो दिवाकर इति ख्याताख्या भवतु प्रभोः ।
ततः प्रभृति गीत. श्रीसिद्धसेनदिवाकरः ।।८४।।
(प्रभा० च०, पृ० ५७)

५. सिद्धसेनाचार्येणाश्वा उत्पादिता. ।
(बृहत्कल्पसूत्र, सनि० भाष्य-वृत्तिक, वि० ३, पृ० ५३)

६ तस्य राज्ञो दृढ मान्यः सुखासनगजादिपु ।
बलादारोपितो भक्त्या गच्छति क्षितिपालयम् ।।८५।।
(प्रभा० च०, पृ० ५७)

७ सकलानप्यागमानह संस्कृतान् करोमि, यदि आदिशथ ।
(प्रबन्धकोश, पृ० १८)

८. अहमाश्रितमौनो द्वादशवार्षिकं पाराञ्चिकं नाम प्रायश्चित्त गुप्त-मुखवस्तिकारजोहरणादिलिङ्ग. प्रकटितावधूतरूपश्चरिष्याम्यु-पयुक्त ।
(प्रबन्धकोश, पृ० १८)

९. जैनप्रभावनां काचिदद्भुतां विदधाति चेत् ।
तदुक्तावधिमध्येऽपि लभते स्व पदं भवान् ।।११९।।
(प्रभा० च०, पृ० ५८)

१०. प्रभो· श्रीपार्श्वनाथस्य प्रतिभा प्रकटाऽभवत् ।।१४८।।
(प्रभा० च०, पृ० ५९)

११. वत्सराणि ततः पञ्च संघोऽमुष्य मुमोच च ।
चक्रे च प्रकट श्रीमत्सिद्धसेनदिवाकरम् ।।१५१।।
(प्रभा० च०, पृ० ६०)

१२. एव प्रभावनास्तत्र कुर्वतो दक्षिणापथे ।
प्रतिष्ठानपुर प्रापुः प्राप्तरेखाः कविव्रजे ।।१६९।।
आयु क्षय परिज्ञाय तत्र प्रायोपवेशनात् ।
योग्य शिष्य पदे न्यस्य सिद्धसेनदिवाकरः ।।१७०।।
दिवं जगाम संघस्य ददानोऽनाथताव्यथाम् ।
तादृशां विरहे को न दु खी यदि सचेतनः ।।१७१।।
(प्रभा० च०, पृ० ६०)

५३. महाप्राज्ञ आचार्य मल्लवादी

संसारवार्धिविस्तारयतु दुस्तरात् ।
श्रीमल्लवादिसूरिर्वोयानपात्रप्रभः प्रभु ॥१॥

मल्लवादी संसार सागर को पार करने के लिए यान तुल्य थे। वे महाप्रज्ञा के धनी थे। तर्कशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे एवं वाद-कुशल आचार्य थे। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्ध हेम शब्दानुशासन के "उत्कृष्टे ऽनूपेन" सूत्र की व्याख्या मे अनुमल्लवादिनं तार्किकाः कहकर आचार्य मल्लवादी को सर्वोत्कृष्ट तार्किक बतलाया है।

गुरु-परम्परा

आचार्य मल्लवादी की गुरु-परम्परा के सबंध मे विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं है। प्रभावक चरित्र के अनुमार उनके गुरु का नाम जिनानन्दसूरि था।[1] वे मल्लवादी के मामा थे। मल्लवादी के समय मे जैन परंपरा के अन्तर्गत विभिन्न गण और गच्छ विकासमान थे। उनमे मल्लवादी का सम्बन्ध नागेन्द्र गच्छ से था। गुरु जिनानन्दसूरि के लिए किसी गण गच्छ का उल्लेख प्राप्त नही है; पर मल्लवादी को प्रभावक चरित्र मल्लवादी सूरि प्रबन्ध में नागेन्द्र कुल के मस्तकमणि बनाकर उनके प्रति आदर भाव प्रकट किया है।[2] प्रबन्ध कोश के अनुसार शिलादित्य की भगिनी दुर्लभदेवी ने अष्ट वर्षीय पुत्र मल्ल के साथ सुस्थित आचार्य की सन्निधि मे संयमी जीवन ग्रहण किया था।[3]

जन्म और परिवार

प्रभावक चरित्र मे प्राप्त उल्लेखानुसार मल्लवादी का जन्म वल्लभी मे हुआ। वल्लभी सौराष्ट्र की राजधानी थी। मल्लवादी की माता का नाम दुर्लभदेवी था। दुर्लभदेवी के तीन पुत्र थे।[4] अजितयश, यक्ष और मल्ल। इन तीनों मे अजितयश और यक्ष मल्ल के ज्येष्ठ भ्राता थे। प्रबन्ध कोश के अनुसार दुर्लभदेवी वल्लभी नरेश शिलादित्य की भगिनी थी।[5] मल्लवादी शिलादित्य के भानेज थे एवं क्षत्रिय पुत्र थे।

जीवन-वृत्त

मल्लवादी का परिवार जैन धर्म के प्रति आस्थाशील था। मल्लवादी की जननी दुर्लभदेवी स्वय जैन धर्म की महान् उपासिका थी। उनके मामा जिनानन्दसूरि थे। वे भरुच मे विराज मान थे। एक बार शास्त्रार्थ मे बौद्ध भिक्षु नन्द से पराभव को प्राप्त होने के कारण उन्हे भरुच छोड़ना पड़ा। उस समय वे वल्लभी मे आए।[१] उन्होने वल्लभी की जनता को मगल कारक, धर्मोपदेश दिया। दुर्लभदेवी भी अपने तीनो पुत्रो के साथ भ्राता जिनानन्द सूरि का उपदेश सुनने के लिए वहा उपस्थित थी। उनसे प्रेरणादायी उद्बोधन सुनकर दुर्लभदेवी और तीनो पुत्र वैराग्य को प्राप्त हुए। उन्होने ससार की असारता को समझा। जननी सहित तीनो ने जिनानन्दसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की।[२] गुरु से लक्षणादि महाशास्त्रों का गभीर अध्ययन कर, पृथ्वी पर वे तीनो भाई प्रख्यात विद्वान् बने। तीनो भाइयो मे मल्लमुनि सबसे अधिक विद्वान् थे। जिनानन्दसूरि स्वय विविध विषयो के गभीर अध्येता थे। पूर्वाचार्यो द्वारा 'ज्ञानप्रवाद' नामक पचम पूर्व से उद्धृत नयचक्र नाम का ग्रन्थ उनके पास था। जिसका अध्ययन अध्यापन विशेष विधि पूर्वक ही किया और करवाया जा सकता था। एक बार तीर्थ यात्रा पर जाते समय गुरु ने सोचा—"बाल सुलभ चपलता के कारण कुशाग्रमति महाप्राज्ञ मल्लमुनि के द्वारा इस ग्रन्थ का पढ़ लिया जाने पर अनिष्ट की सभावना बन सकती है अत. इस सबध का स्पष्ट निषेधात्मक निर्देश देकर मेरा तीर्थ-यात्रा के लिए जाना उचित है। इस सदर्भ का गभीरता से चिंतन कर सूझबूझ के धनी, अनुभवी, दूरदर्शी जिनानन्दसूरि ने साध्वी दुर्लभदेवी के सामने मल्लमुनि को बुलाकर कहा—"प्रिय शिष्य ! मैं तीर्थयात्रा पर जा रहा हू, मन लगाकर अध्ययन करते रहना पर ध्यान रखना इस 'नयचक्र' ग्रन्थ को भूल से भी नही पढ़ना है, अन्यथा उपद्रव हो सकता है।" शिष्य मल्लमुनि एव साध्वी दुर्लभदेवी को सारी बात पूरी तरह से समझाकर गुरु ने यहा से प्रस्थान कर दिया।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है निषिद्ध की हुई बात को जानने का आकर्षण अधिक होता है। मल्लमुनि का मन भी 'नयचक्र' ग्रन्थ को पढने के लिए आतुर हो उठा। गुरु द्वारा ग्रन्थ को पूर्णत पढ लेने के लिए निषेध किए जाने की ध्यान मे रहने पर भी बाल मुनि मल्ल अपनी इच्छा को न रोक सके। इन्होने साध्वी दुर्लभदेवी का बिना निर्देश प्राप्त किए ग्रन्थ को खोलकर पढना प्रारभ कर दिया ग्रन्थ का आदि श्लोक था—

विधिनियमभङ्ग वृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकमवोचत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥२१॥
(प्रभा० च० पृ० ७७)

श्लोक का अर्थ समझने का मल्लमुनि प्रयत्न कर ही रहे थे। अचानक शासनदेवी ने आकर ग्रन्थ को छीन लिया। इससे मल्लमुनि का मन खिन्न हो गया। सारे संघ में भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के खो जाने की चिन्ता व्याप्त हो गई। पर उसे प्राप्त करने का कोई भी उपाय हाथ मे नहीं था। गहरे अनुताप से तापित होकर मल्लमुनि गिरि खण्ड की गुहाओ में विशेष साधना करने लगे और उन्होने घोर तप प्रारम्भ कर दिया। वे निरंतर षष्ठम् भक्त तप (दो दिनो का उपवास) करते एवं पारणक के दिन रुक्ष भोजन लेते थे। चातुर्मासिक पारणक के दिन संघ की अति आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर कठिनता से उन्होने श्रमणों द्वारा आनीत स्निग्ध भोजन ग्रहण किया था।

उनकी घोर तप साधना पर प्रसन्न होकर देवी प्रकट हुई। उसने मुनि की बुद्धि परीक्षा भी की। मल्लमुनि हर परीक्षा पर उत्तीर्ण थे। देवी साक्षात् प्रकट होकर बोली—"मुने ! मैं तुम पर प्रसन्न हूं। अब तुम कोई वर मांगो।" मल्लमुनि ने उसी ग्रन्थ को लौटा देने के लिए कहा।

देवी बोली—"यह अब असंभव है, पर नय चक्र ग्रन्थ की जो कारिका तुमने पढी है उसके आधार पर स्वयं नयचक्र ग्रन्थ के निर्माण करने में सफल बन सकोगे।" देवी इतना सा रहस्य खोलकर अदृश्य हो गई।

मल्लमुनि अत्यंत उत्साह के साथ अपने इष्टदेव का स्मरण कर ग्रन्थ रचना मे लगे। उन्होने पूर्व पठित उस एक कारिका के आधार पर दश हजार श्लोक परिमाण 'नयचक्र' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया जो आज 'द्वादशार' नयचक्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ को हाथी पर रखकर समूचे संघ ने महोत्सव मनाया और मल्लमुनि का सम्मान किया था।

कुछ समय के बाद तीर्थ-यात्रा संपन्न कर जिनानन्दसूरि वल्लभी में आए। मल्लमुनि को सर्वथा योग्य समझकर उनकी सूरिपद पर नियुक्ति की।

मल्लमुनि की दीक्षा से पहले भृगुकच्छ (भरुंच) मे जिनानन्दसूरि का बौद्ध भिक्षुनंद के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। उसमे जिनानदसूरि की भारी पराजय हुई थी। पराभव के फलस्वरूप जैन श्रमणो को महान् क्षति उठानी पड़ी। वहा से उनका निष्कासन हो गया। यह वृत्तान्त मल्लवादी ने स्थविर

मुनिजनो से जाना। मल्लवादी अवस्था से बालक थे, विचारो से नहीं। यह दुःखद वृत्तात सुनकर घनी अन्तर्वेदना उन्हे कचोटने लगी। जिनानंदसूरि की हार एवं जैन शासन का घोर अपमान उसके लिए असह्य हो गया। अपने खोये गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए उन्होने दृढ़ सकल्प किया।

पराभव का बदला लेने के लिए मल्लमुनि ने वहा से प्रस्थान किया और भरुंच पहुचे। बौद्ध भिक्षुनन्द के साथ राजसभा मे शास्त्रार्थ किया। नयचक्र महाग्रथ के आधार पर यह शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ और छह महीने तक चलता रहा। अन्त मे वाक् निपुण मल्लमुनि की विजय हुई। विजयोल्लास के प्रसग पर शासनदेवी ने पुष्प वृष्टि की। राजा ने महोत्सव मनाया और कलानिधि मल्लसूरि को 'वादी' की उपाधि दी। तब से मल्लमुनि मल्लवादी के नाम से प्रसिद्ध हुए[८]। राजा की ओर से बुद्धानन्द को निष्कासन का आदेश हुआ पर उदार हृदय मल्लवादी ने राजा को कहकर इस आदेश को स्थगित कर दिया। जिनानन्दसूरि भी ससघ वल्लभी से भृगुकच्छ (भरुच) आए। मल्लवादी ने उनका स्वागत किया। साध्वी दुर्लभदेवी भी पुत्र की शास्त्रार्थ विजय पर प्रसन्न हुई। बन्धु जिनानन्दसूरि ने उसे प्रसन्नता पूर्वक आशीर्वाद दिया। इस अवसर पर गच्छ का भार जिनानन्दसूरि ने मल्लवादी के कधो पर आरोपित किया। गच्छ नायक के रूप मे मल्लवादी हीरकोपम तेजस्वी प्रतीत होने लगे[९]।

'प्रबन्ध कोश' के अनुसार मल्लवादी का यह शास्त्रार्थ बौद्धो के साथ वल्लभी मे राजा शिलादित्य की सभा मे हुआ था[१०]। जिनानदसूरि के पराभव की बात मल्लवादी को अपनी जननी के द्वारा ज्ञात हुई और उसने यह भी जाना—

तीर्थं शत्रुञ्जयाह्वं यद्विदित मोक्षकारणम्।
श्वेताम्बराः भावतस्तद्बौद्धैर्भूतै रिवाश्रितम् ॥३२॥

प्रबन्ध कोश पृ० २२

जैनो का प्रमुख तीर्थस्थान शत्रुजय था, उस पर भी जैनो का अपना अधिकार नही रहा।

जननी से यह बात सुनकर तेजस्वी मल्लमुनि ने यह प्रतिज्ञा की—
नोन्मूलयामि चेद्बौद्धान् नदीरय इव द्रुमान्।
तदा भवामि सर्वज्ञ-ध्वंस पातकभाजनम् ॥३५॥

प्रबन्धकोश पृ० २२

इस भीषण प्रतिज्ञा के साथ मल्लमुनि ने गिरि गुहाओं में घोर तप किया। तपस्या के प्रभाव से देवी ने प्रकट होकर मल्लमुनि की बुद्धि परीक्षा ली। परीक्षोत्तीर्ण मल्लमुनि को देवी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—'भूया-परमतापहः' वत्स तुम परमत विजेता बनो'। देवी से इस प्रकार वर प्राप्त कर एवं न्यायविद्या मे प्रवीण बनकर मल्लमुनि ने बौद्ध भिक्षु नन्द के साथ शास्त्रार्थ वल्लभी मे किया एवं विजयलक्ष्मी को वरा था''। यह शास्त्रार्थ प्रभावकचरित्र के विजयसूरि प्रबन्ध के अनुसार वी०नि० ८८४ (वि० ४१४) मे हुआ था।

साहित्य

आचार्य मल्लवादी वादकुशल थे एवं समर्थ साहित्यकार भी थे। उनके द्वारा रचित तीन ग्रंथो की सूचना मिलती है—

(१) द्वादशार नयचक्र (२) पद्मचरित्र (रामायण)

(३) सन्मतितर्क टीका। इन ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है—

(१) द्वादशार नयचक्र

यह न्याय विषयक उत्तम ग्रन्थ था। इस ग्रन्थ मे चक्र के बारह अरों के समान बारह अध्याय थे। इन बारह अध्यायो मे नयो का विशद विवेचन किया गया था। कृति के तेरहवें अध्याय मे बारह अध्यायों मे वर्णित नयो का सयोजन हुआ था। आचार्य मल्लवादी ने अपने समय तक प्रचलित दार्शनिक मान्यताओ का तलस्पर्शी स्वरूप विवेचन तथा मार्मिक समालोचना भी इस कृति मे की। नय और अनेकान्त दर्शन का विवेचन करने वाला सस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ अद्वितीय था।

वर्तमान मे यह ग्रन्थ मूलरूप मे उपलब्ध नही है। आचार्य प्रद्युम्न सूरि के पट्टधर आचार्य चन्द्रसेन सूरि एव मलधारी हेमचन्द्र के समय तक यह ग्रन्थ विद्यमान था। प्रद्युम्न सूरि कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि के गुरु भ्राता थे। आचार्य मल्लवादी का यह ग्रन्थ वि० स० १३३४ से पहले विलुप्त हो गया था। वर्तमान मे इस ग्रंथ पर आचार्य सिंहगणि क्षमाश्रमण कृत न्यायगमानुसारिणी नामक अठारह हजार श्लोक परिमाण संस्कृत टीका उपलब्ध है और यशोविजयजी कृत आदर्श पाठ भी इस ग्रथ पर उपलब्ध है। इस व्याख्या ग्रन्थों के आधार पर प्रतीत होता है—आचार्य मल्लवादी की यह कृति उच्च कोटि की थी। प्रभावक चरित्र मे प्राप्त उल्लेखानुसार

आचार्य मल्लवादी ने प्रतिवाद रूपी गज कुम्भ को भेदने मे केसरी तुल्य इस ग्रन्थ का वाचन अपने शिष्य समुदाय के सम्मुख किया[११] और तर्क शास्त्र का गंभीर बोध उन्हें प्रदान किया था। यह ग्रन्थ यथार्थ मे ही अज्ञानतम को हरण करने वाला था।

२. श्रीपद्मचरित्र (रामायण)

श्री पद्मचरित्र नामक रामायण की रचना २४ सहस्र परिमाण पद्यो में मल्लवादी ने की[१२]। यह ग्रन्थ भी वर्तमान मे अप्राप्त है।

३. सन्मति तर्क टीका

सन्मति तर्क टीका आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के सम्मति तर्क ग्रन्थ पर मल्लवादी की रचना थी। वह भी आज प्राप्त नहीं है। इस टीका के अवतरण आचार्य हरिभद्र की अनेकान्त जयपताका आदि ग्रन्थो मे कही-कही उपलब्ध है। वे अवतरण ही आचार्य मल्लवादी के तार्किक ज्ञान की सूचना देते हैं।

आचार्य मल्लवादी के ज्येष्ठ भ्राता अजितयश ने अल्ल भूप की सभा के वादी श्रीनन्द की प्रेरणा से 'प्रमाण' ग्रथ रचा[१४] एव यक्षमुनि ने 'अष्टाग निमित्त बोधनी' संहिता का निर्माण किया था। दीपकलिका के तुल्य सकलार्थ प्रकाशिनी यह सहिता थी।[१५] वर्तमान मे यह ग्रंथ अप्राप्त है।

समय-संकेत

आचार्य हरिभद्र रचित अनेकान्त जयपताका मे आचार्य मल्लवादी की सन्मति तर्क टीका के कई अवतरण दिए गए हैं। इससे आचार्य मल्लवादी हरिभद्र से पूर्व सिद्ध होते हैं।

आचार्य मल्लवादी का बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ वी० नि० ८८४ (वि० स० ४१४) मे हुआ था[१६]। इस आधार पर आचार्य मल्लवादी वी० नि० की ९वी (वि० ५वी) शताब्दी के प्रमाणित होते हैं।

आचार्य मल्लवादी के ज्येष्ठ भ्राता अजितयश मुनि ने अल्लभूप की सभा के वादी श्री नन्दक की प्रेरणा से प्रमाण ग्रन्थ की रचना की थी। प्रभावक चरित्र ग्रन्थ मे प्राप्त उल्लेखानुसार नरेश अल्ल के पौत्र भुवनपाल जिनेश्वर सूरि एवं बुद्धिसागरसूरि के गुरु वर्धमानसूरि के समकालीन नरेश थे[१७]। वर्धमान सूरि वि० ९९४ मे बड़गच्छ की स्थापना करने वाले उद्योतन सूरि के शिष्य थे अत: वर्धमानसूरि के समकालीन नरेश भुवनपाल के पिता

अल्ल नरेश का एवं अल्ल नरेश की सभा के विद्वान् श्री नन्दन का समय १०वीं सदी करीब प्रमाणित है।

मल्लवादी ने बौद्ध विद्वान् आचार्य लघुधर्मोत्तर ग्रन्थ पर टिप्पण लिखा। बौद्धाचार्य लघुधर्मोत्तर का समय वि० सं० ६०४ के आसपास मान्य हुआ है।

आचार्य मल्लवादी के उक्त घटना प्रसंगो मे समय की अत्यधिक दूरी भिन्न-भिन्न मल्लवादी होने की सूचना है।

द्वादशार नयचक्र की रचना करने वाले तथा भृगुकच्छ (भरुच) मे बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करने वाले जिनानन्दसूरि के शिष्य मल्लवादी प्रथम थे। प्रभावक चरित्र मे प्राप्त उल्लेखानुसार बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ का समय वी० नि० ८८४ होने के कारण प्रथम मल्लवादी का समय वी० नि० की ६वी (वि० की ५वी) सदी प्रमाणित है।

लघुधर्मोत्तर के ग्रन्थ पर टिप्पणकार आचार्य मल्लवादी शिलादित्य के भाणेज दुर्लभदेवी के पुत्र तथा जितयश और यक्ष के लघुभ्राता संभव है। विद्वान् लघुधर्मोत्तर का समय वि० स० ६०४ के आसपास है। अल्लराजा का सत्ता समय लगभग वि० की १०वी शताब्दी एव वल्लभी नरेश शिलादित्य की मृत्यु तथा वल्लभी भग का समय भी करीब यही है। इन घटना प्रसंगो के आधार पर शिलादित्य के भाणेज दुर्लभदेवी के पुत्र एव अजितयश के लघु-भ्राता टिप्पणकार मल्लवादी १०वी शताब्दी के विद्वान् प्रमाणित होते हैं। नागेन्द्रगच्छ के मल्लवादी वि० की १२वीं १३वी शताब्दी के विद्वान् संभव है। नागेन्द्र गच्छ का सत्ता समय लगभग यही है। मल्ल गच्छ का उद्भव भी नागेन्द्र गच्छ के मल्लवादी से हुआ माना गया है।

आधार-स्थल

१ चारु चारित्रपाथोधिशम कल्लोलकेलितः।
सदानन्दो जिनानन्द सूरिस्तत्राच्युतः श्रिया ॥६॥
(प्रभावक चरित पत्राङ्क ७७)

२ श्रीनागेन्द्रकुलैकमस्तकमणि प्रामाणिकग्रामणी।
रासीदप्रतिमल्ल एव भुवने श्रीमल्लवादीगुरु ॥
(प्रभावक चरित पत्राङ्क ७६)

३. इतश्च सा शिलादित्य भगिनी भर्तृमृत्युतः।
विरक्ता व्रतमादत्त सुस्थिताचार्यसन्निधौ ॥२७॥

अष्टवर्षनिजं बालमपि व्रतमजिग्रहत् ।
सामाचारीमपि प्राज्ञं किंचित्किञ्चिदजिज्ञपत् ॥२८॥
(प्रबन्धकोश पत्राङ्क २२)

४. तत्रदुर्लभदेवीति गुरोरस्ति सहोदरी ।
तस्याः पुत्रास्त्रयः सन्ति ज्येष्ठोऽजितयशोऽभिधः ॥१०॥
द्वितीयो यक्षनामाभून्मल्लनामा तृतीयकः ।
संसारासारता चैषा मातुलै. प्रतिपादिता ॥११॥
(प्रभा० च० पृ० ७७)

५. प्रबन्धकोश पत्राङ्क २२

६. पराभवात् पुर त्यक्त्वा जगाम वलभी प्रभु. ।
प्राकृतोऽपि जितोऽन्येन कस्तिष्ठेत् तत्पुरातरम् ॥६॥

७. जनन्या सह ते सर्वे बुद्धा दीक्षामथाददुः ।
संप्राप्ते हि तरण्डे क पाथोधि न विलघयेत् ॥१२॥
(प्रभावक चरित पत्राङ्क ७७)

८ विरुद तत्र 'वादी' ति. ददौ भूपो मुनिप्रभो ।
मल्लवादी ततो जात सूरिर्भूरि कलानिधि ॥६१॥
(प्रभा० चरित, पृ० ७६)

६ एप मल्लो महाप्राज्ञस्तेजसा हीरकोपम ॥१७॥
(प्रभा० चरित, पृ० ७७)

१०. शिलादित्यनृपोपान्ते बौद्धाचार्येण वाग्मिना ।
वादिवृन्दारकश्चक्रे तर्कवर्करमुल्बणम् ॥४७॥
(प्रबन्धकोश पृ० २३)

११. प्रबन्धकोश श्लोक २६ से ४८ पृ० २२, २३

१२ नयचक्रमहाग्रन्थ शिष्याणा पुरतस्तदा ।
व्याख्यात. परवादीभकुम्भभेदनकेसरी ॥६६॥
(प्रभा० चरित, पृ० ७६)

१३. श्री पद्मचरितं नाम रामायणमुदाहरत् ।
चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानतः ॥७०॥
(प्रभा० चरित, पृ० ७६)

१४. तथाऽजितयशोनामा प्रमाणग्रन्थमादधे ।
अल्लभूप सभेवादिश्री नन्दकगुरोर्गिरा ॥३७॥
(प्रभा० च० पृ० ७८)

१५. यक्षेण संहिता चक्रे निमित्ताष्टाङ्गबोधनी।
सर्वान् प्रकाशयत्यर्थान् या दीपकलिका यथा ॥३९॥
(प्रभा० च० पृ० ७८)

१६. श्री वीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते ।
जिग्येस मल्लवादी बौद्धास्तद् व्यन्तरांश्चापि ॥८३॥
(प्रभा० च० पृ० ४४)

१७. अल्लभूपालपौत्रोऽस्ति प्राक्पोत्रीव धराधरः ।
श्रीमान् भुवनपालाख्यो विख्यातः सान्वयाभिधः ॥३२॥
(प्रभा० च० पृ० १६२)

५४. संस्कृत-सरोज-सरोवर आचार्य समन्तभद्र

श्वेताम्बर परंपरा मे जो स्थान आचार्य सिद्धसेन का है, वही स्थान दिगम्बर परम्परा मे समन्तभद्र स्वामी का है। आचार्य समन्तभद्र असाधरण व्यक्तित्व के स्वामी थे। सारस्वत आचार्यों की परंपरा में वे सर्वप्रथम थे। दिगम्बर विद्वानो ने उनको श्रुतधर आचार्यों के समकक्ष माना है।

गुरु-परम्परा

आचार्य समन्तभद्र ने अपने को कांची का नग्नाटक कहा है।[1] काञ्ची मैसूर प्रान्त मे है और वर्तमान मे वह काञ्जीवरं नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य समन्तभद्र के इस उल्लेख से स्पष्ट है—उन्होने जैन परपरा में दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। उनका संबंध दिगम्बर संप्रदाय की किस गुरु परम्परा से था, उनके दीक्षा गुरु कौन थे ? इस संबध का निर्देश उपलब्ध नही है, पर मुनि जीवन मे काञ्जी से उनका सबध किसी न किसी रूप मे अवश्य था।

जन्म एवं परिवार

आचार्य समन्तभद्र दक्षिण के क्षत्रिय राजकुमार थे। वे फणि-मण्डलान्तर्गत (तमिलनाडु) उरगपुर नरेश के पुत्र थे। 'आप्तमीमासा' कृति की प्रतिविशेष मे उनके जीवन का यह परिचायक उल्लेख उपलब्ध होता है।[2] उरगपुर चौल राजाओ की सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी[3]—ऐसा बताया गया है।

आचार्य समन्तभद्र के स्तुति विद्या नामक काव्य के अन्तर्गत ११६ वें पद्य की चित्र रचना के सातवें वलय मे 'शान्ति वर्म' नाम का एवं चतुर्थ वलय मे 'जिन स्तुति शतं' नाम का बोध होता है। इससे प्रतीत होता है—स्तुति विद्या कृति का ही दूसरा नाम जिनस्तुति और शान्ति वर्म स्वयं समन्तभद्र का ही दूसरा नाम था। मुनियो के लिए वमन्ति नामो के उल्लेख उपलब्ध नहीं हैं। अतः यह समन्तभद्र के गृहस्थ जीवन का नाम संभव है। किस प्रकार के सस्कारो मे वे पले, जैन संस्कार उन्हे कहा से प्राप्त हुए। इस संबंध के घटना प्रसंग अज्ञात हैं। मुनि जीवन में प्रवेश पाकर वे गणियो के

गणी कहलाये। स्वामी शब्द से पहचाने गये और श्रमण सघ के महान् गौरवार्ह आचार्य सिद्ध हुये।

आचार्य समन्तभद्र के जीवन मे कई विशेष क्षमताओ का विकास था, वे प्रांजल प्रतिभा के धनी थे। ज्ञान के भंडार थे। सस्कृत-भाषा पर उनका विशेष आधिपत्य था। सरस्वती की अपार कृपा उन पर बरस रही थी[४]। दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, पुराण, इतिहास आदि तत्कालीन भारतीय विद्याओ के विविध विषय उनके आत्मगत हो गये थे।

वे स्याद्वाद के सजीवक आचार्य थे। उनका जीवन दर्शन स्याद्वाद का दर्शन था। उनकी अभिव्यक्ति स्याद्वाद की अभिव्यक्ति थी। वे जब भी बोलते अपने प्रत्येक वचन को स्याद्वाद की तुला से तोलते थे। उनके उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्य ने उनको स्याद्वाद विद्यापति, स्याद्वाद[५] शरीर, स्याद्वाद विद्या-गुरु तथा स्याद्वाद अग्रणी[६] का सबोधन देकर अपना मस्तक झुकाया। भट्ट अकलक ने समन्तभद्र को भव्य जीवो के लिये अद्वितीय नेत्र कहा है एवं स्याद्वादमार्ग का विशेषण दिया है[७]—

आदि पुराण के कर्त्ता जिनसेन के शब्दो मे कवित्व, गमकत्व, वादित्व, वाग्मित्व ये चार गुण उनके व्यक्तित्व के अलकारभूत थे। अपने इन विरल गुणो के कारण वे काव्य लोक के उच्चतम अधिकारी, आगम मर्मज्ञ, सतत् शास्त्रार्थ प्रवृत्त और वाग्पटु थे। अधिक क्या ? आचार्य समन्तभद्र कवियो के लिये विधाता थे। उनके वचन वज्रपात से मिथ्यात्व के भीमकाय शैल चूर-चूर हो जाते थे[८]।

मुनिचर्या के नियमो मे आचार्य समन्तभद्र सतत जागरूक थे। कठोर तपश्चर्या के पालक थे एव महान कष्टसहिष्णु भी थे। 'राजवलिकथे' मे वर्जित घटना प्रसङ्गानुसार एक बार मणुवकहल्ली स्थान मे मुनि समन्तभद्र को भीषण भस्मक व्याधि ने आक्रान्त कर लिया था। इस व्याधि के कारण वे जो कुछ खाते वह अग्नि मे पतित अन्न कण की तरह भस्म हो जाता था। क्षुधा असह्य हो गई। कोई उपचार न देखकर उन्होने अनशन की सोची। गुरु से आदेश मागा पर मुनि समन्तभद्र की प्रभावकता व क्षमता को देखकर गुरु ने अनशन की आज्ञा प्रदान नही की।

समन्तभद्र ने रोगोपचार हेतु मुनि मुद्रा का परित्याग किया और उन्होंने सन्यासी की मुद्रा धारण कर ली। इधर-उधर भ्रमण करते हुए वे पौदपुर नगर मे पहुचे। वहा बौद्ध भिक्षु की मुद्रा मे कुछ दिन तक रहे।

पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण वहां से प्रस्थान कर वे दशपुर पहुंचे। परिव्राजक का वेश धारणकर सदावर्त के रूप मे भिक्षा ग्रहण करते हुए उन्होने अपना निर्वाह कुछ समय तक किया। वहा पर भी उन्हें यथेष्ट भोजन की उपलब्धि नहीं हुई। काशी नरेश शिव भक्त थे। उनके आदेश से भीमलिङ्ग नामक शिवालय मे षड्रस व्यंजन युक्त नैवेद्य पर्याप्त मात्रा में शिवजी को अर्पण किया जाता था। समन्तभद्र ने यह बात सुनी। उनके मन को संतोष मिला। वे काशी नरेश शिव कोटि की सभा में पहुंचे। अपने बौद्धिक बल से उन्हें प्रभावित किया और शिवजी को अर्पण किया जाने वाला सम्पूर्ण चढावा उन्हें भक्षण करा देने का वचन दिया। समन्तभद्र की इस प्रतिज्ञा से प्रसन्न होकर राजा शिव कोटि ने उन्हें शिवालय में रहने की और पूजा करने की अनुमति प्रदान कर दी। समन्तभद्र शिवालय मे पुजारी के रूप मे सानन्द रहने लगे और शिवजी को अर्पण किया जाने वाला चढावा कपाट बन्द कर स्वय भक्षण करने लगे। यथेप्सित सरस भोजन सामग्री मिलने के कारण कुछ ही महीनो मे समन्तभद्र की व्याधि शान्त होने लगी और नैवेद्य बचने लगा। यह बात नरेश के कानो तक पहुंची। यथार्थ स्थिति का पता लगाने के लिए शिवकोटि ने कुछ व्यक्तियों को मन्दिर मे छुपा दिया। नैवेद्य का भक्षण करते हुए समन्तभद्र ने मन्दिर के भीतर बिल्व पत्तो की ओट मे कुछ व्यक्तियो को छिपे देखा। तत्क्षण सारी स्थिति को उन्होने भांप लिया। अपने लिए उपसर्ग उत्पन्न हुआ जान वे तीर्थंकरो की काव्यमयी भाषा मे स्तुति करने लगे। राजा के द्वारा धमकी दिए जाने पर भी समन्तभद्र ध्यान से विचलित नही हुए। अभ्रपटल को चीरकर आने वाली सूर्य-रश्मियो की भांति भस्मावच्छन्न देह के भीतर से उनमे जैनत्व का तेज उद्भासित हो रहा था। चन्द्रप्रभ प्रभु की स्तुति प्रारम्भ होते ही भीमलिङ्ग शिवपिण्डी को विदीर्ण कर तीर्थंकर चन्द्रप्रभ नाथ का कनक कान्ति तुल्य चमकता हुआ बिम्ब प्रकट हुआ। इस प्रभोवात्पादक घटना के घटित हो जाने पर भी समन्तभद्र तन्मयता से तीर्थंकरों की स्तुति करते रहे। प्रभु वर्धमान पर्यन्त जिन स्तुति संपन्न करने के बाद समन्तभद्र प्रसन्न मुद्रा मे उठे और नरेश को उन्होने आशीर्वाद दिया। शिव भक्त नरेश शिवकोटि इस अपूर्व वृत्तान्त को देखकर आश्चर्य चकित हुए और समन्तभद्र के यथार्थ रूप को उन्होने जानना चाहा। समन्तभद्र ने भी राजा को जैनत्व का बोध दिया और पूर्व संकटकालीन स्थिति का चित्रण करते हुए बताया—

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिततनु लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्
वाराणस्या मभूवं शशधरधवल पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

राजन् ! मैं अपनी व्याधि को शान्त करने के लिए शाक्य भिक्षु बनकर पौदपुर (पुण्ड्रोड्रे) पहुंचा, परिव्राजक का रूप धारण कर दशापुर पहुंचा, कहीं मेरी व्याधि उपशान्त न हुई। वाराणसी मे आकर अब मैं रोग-मुक्त हुआ। मेरा शरीर राशि तुल्य धवल, निर्मल कान्ति वाला हो गया है। मैं जैन निर्ग्रन्थ हूं और वादी हूं। कोई भी शक्ति-संपन्न व्यक्ति मेरे साथ आकर शास्त्रार्थ करे।

शिवकोटि नरेश आचार्य समन्तभद्र की पीयूषस्रावी वाणी सुनकर और जैन धर्म के तत्त्व को समझकर प्रभावित हुए। इस घटना प्रसङ्ग का उल्लेख ब्रह्मनेमिदत्त के आराधना कथाकोष में मल्लिषेण प्रशस्ति का उल्लेख इस प्रकार है—

'वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावती देवता
दत्तोदात्तपदस्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः।
आचार्यस्य समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ,
जैनवर्त्मसमन्तभद्र मभवद्भद्र समन्तान्मुहुः ॥

जो भस्मक रोग को भस्म करने मे पटु है, पद्मावती देवी की कृपा से जिनको उदात्त पद की प्राप्ति हुई, मन्त्र प्रयोग से जिन्होने चन्द्रप्रभ का बिंब प्रकट किया और इस कलिकाल मे जिनके द्वारा जैन धर्म की प्रभावना हुई वे समन्तभद्र पुन. पुनः वन्दनीय हैं।

सेनगण की पट्टावली का उल्लेख इस प्रकार है—'नवतिलिंगदेशाभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वयन्वादिस्त्रोटकोत्कीरण ? रुद्रसान्द्रचंद्रिका विशदयशः श्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटि महाराजतपो राज्यस्थापकाचार्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्।

सेनगण की प्रस्तुत पट्टावली मे शिवकोटि को नवतिलिङ्ग का राजा बताया गया है काशी का नही। विद्वानो का अभिमत है। नवतिलिङ्ग की राजधानी सम्भवतः काञ्ची रही है जिसको दक्षिण भारत की काशी (काञ्ची) भी कहते हैं। राजवलिकथे, आराधना कथाकोष, मल्लिषेण प्रशस्ति एवं सेनगण पट्टावली इन ग्रन्थो में उपलब्ध इन सारे सन्दर्भों का सम्मिलित

निष्कर्ष यह है—आचार्य समन्तभद्र भस्मक रोग से आक्रान्त हुए। काशी के शिवालय मे शिवजी को अर्पित चढावा भक्षण करने से उनको स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हुआ। जिन स्तुति किए जाने पर लिङ्ग स्फोटन और उसके महत्त्व से चन्द्रप्रभु के बिम्ब प्रकट होने की घटना घटी। काशी नरेश शिवकोटि इस घटना से अत्यन्त प्रभावित हुए। व्याधिमुक्त होने के बाद समन्तभद्र ने पुनः मुनि दीक्षा ग्रहण की तथा संयम मे स्थिर होकर वे जैन धर्म की महती प्रभावना में प्रवृत्त हुए। आचार्य समन्तभद्र का परिचय उन्ही के द्वारा रचित एक श्लोक मे प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है—

आचार्योहं कविरहमह वादिराट् पण्डितोऽह।
दैवज्ञोऽह भिषगहमह मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽह॥
राजन्नस्या जलधिवलया मेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुनासिद्धसारस्वतोऽह॥३॥

(स्वयभूस्तोत्र)

स्वामी समन्तभद्र आचार्य, कवि, वादिराट्, पण्डित, दैवज्ञ, (ज्योतिषज्ञ), वैद्य, मान्त्रिक, तान्त्रिक, आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत थे। आसमुद्रात् पृथ्वी पर उनका आदेश अनतिक्रमणीय था और सरस्वती उनके कठो पर विराजमान थी। समन्तभद्र आचार्य कब और किन परिस्थितियो मे बने, भस्मक व्याधि द्वारा आक्रान्त होने से पहले बने या बाद मे बने, किनके द्वारा उनकी नियुक्ति आचार्य पद पर हुई—इस सम्बन्ध का प्रसग प्राप्त नही है पर अपने द्वारा दिए गए प्रस्तुत परिचय मे "आचार्योऽह" यह प्रथम विशेषण उनके आचार्य होने का समर्थन करता है। इसी श्लोक मे आज्ञासिद्ध विशेषण शब्द ससार पर उनके पूर्ण आधिपत्य का सूचक है और सिद्ध सारस्वत का विशेषण उनकी अप्रतिहतवाद शक्ति का परिचायक है। वे वादकुशल ही नही वादरसिक आचार्य भी थे। दहाडते हुए पञ्चानन की भान्ति वे सर्वत्र निर्भीक होकर विहरण करते। जैन धर्म के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करते और दर्शनान्तरीय विद्वानो से जमकर लोहा लेते। सुप्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्रो मे, जनपदो मे एव सुदूर प्रदेशो मे पहुचकर उन्होने शास्त्रार्थ किए। उनकी तर्क अकाट्य हुआ करती। प्रतिद्वंद्वी का उनके सामने टिक पाना कठिन हो जाता। उनका नाम सुनते ही प्रतिवादी काप उठते, हतप्रभ हो जाते एवं हकलाने लगते। दक्षिण के दिग् दिगन्त उनके शास्त्रार्थ विजय के उद्घोषो से ध्वनित थे।

एक बार आचार्य समन्तभद्र करहाटक पहुंचे। करहाटक उद्भट्ट

विद्वानो का प्रमुख केन्द्र था। आचार्य समन्तभद्र राजसभा मे खडे होकर बोले—हे राजन् ! सर्वप्रथम मैंने पाटलिपुत्र में भेरी वादन पूर्वक शास्त्रार्थ किया। तत्पश्चात् मालव, सिन्धु, ढक्कप्रदेश, काञ्चीपुर (काञ्जीवरम्) और वैदिश मे इसी प्रकार शास्त्रार्थ करता हुआ मैं विद्याकेन्द्र करहाटक मे पहुंचा हूं। शास्त्रार्थ हेतु मैं शार्दूल की तरह परिभ्रमण कर रहा हूं।[१]

प्रस्तुत उल्लेख मे समागत देशों के नामो से स्पष्ट है आचार्य समन्तभद्र के "वादक्षेत्र" दक्षिण के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रदेश भी थे।

आचार्य समन्तभद्र की कवित्व शक्ति विलक्षण थी। उन्होने अधिकांशत: स्तोत्र काव्यो की रचना की। स्तोत्र काव्यो मे शब्द और अर्थ दोनो की गम्भीरता परिलक्षित होती है। अलंकार वैचित्र्य भी सम्यक् प्रकार से उनकी रचना मे समाविष्ट है। काव्य चमत्कार की दृष्टि से उनकी पद्यावलिया उत्तरवर्ती रचनाकारो के लिए मार्गदर्शक बनी हैं। प्रबंधकाव्य न होते हुए भी अनके काव्य श्लोको मे अनेक स्थलो पर प्रौढ़ प्रबन्धात्मकता के दर्शन होते है। उनके स्तुति विद्या के कई पद्यो को अनुलोम प्रतिलोम किसी क्रम से पढा जा सकता है और दोनो ही प्रकार के क्रम मे शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार पाठक को मनोमुग्ध कर देता है।

आचार्य समन्तभद्र की वाद कुशलता और कवित्वशक्ति की उत्तरवर्ती आचार्यो ने मुक्त कठ से प्रशसा की है। 'श्रवणबेलगोला' के शिलालेख संख्या १०५ का उल्लेख है—

समन्तभद्रस्यचिराय जीयाद्वादीभवज्राकुशसूक्तिजाल.।
यस्य प्रभावात्मकलावनीय वन्ध्यासदुर्वादुकवार्त्तयापि ॥

आचार्य समन्तभद्र चिरायु हो जिनका सूक्ति समूह वादीरूपी उन मतगणो को वश मे करने के लिए वज्राकुश के समान है और जिनके प्रभाव से इस पृथ्वी पर दुर्वादुको की चर्चाए समाप्त प्राय. हो गई।

ज्ञानार्णव के रचनाकार आचार्य शुभचन्द्र लिखते है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वता स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मय:।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धत्ता जना: ॥१।१४॥

जहां कवीन्द्र सूर्य आचार्य समन्तभद्र की सूक्तिया स्फुरित होती हैं वहां ज्ञान कण को प्राप्त करके उद्धत बने व्यक्तियों का वाणी विलास खद्योत की तरह हास्यास्पद जैसा लगता है।

वादिराजसूरि ने यशोधर चरित मे आचार्य समन्तभद्र को "काव्य

मणियो का पर्वत" वर्धमानसूरि ने वराङ्ग चरित मे "महाकवीश्वर" तथा "सुतर्क शास्त्रामृत सागर" एवं प्रशस्त टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने "अनेकांत जयपताका मे वादिमुख्य" विशेषण से विशेषित किया है।

हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन ने "वच: समन्तभद्रस्यवीरस्येव विजृंभते" इस वाक्य में आचार्य समन्तभद्र के वचनो को वीरवाणी के समान आदर प्रदान कर उनके महत्त्व को शिखर तक पहुचा दिया है।

शिलालेख १०८ संख्यक अभिलेख मे उन्हे जिन शासन का प्रणेता लिखा है।

अजितसेनसूरि सकलकीर्ति आदि विद्वानो ने भी आचार्य समन्तभद्र की प्रतिभा का लोहा माना है।

साहित्य

आचार्य समन्तभद्र मे प्रवर प्रतिभा का विकास था। वे आद्य स्तुतिकार थे और बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त आदि विभिन्न दर्शनो के ज्ञाता थे। सभी दर्शनो की समीक्षा करते हुए उन्होने उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण किया। उनकी कृतियो का परिचय इस प्रकार है।

देवागम (आप्त मीमांसा)

आचार्य समन्तभद्र की यह प्रथम रचना है। इस कृति का प्रारम्भ देवागम शब्द से हुआ है। इस कृति के १० परिच्छेद और ११४ कारिकाएं हैं। एकान्तवादी दृष्टिकोणो का समुचित निरसन और आप्त पुरुषो के आप्तत्व की सम्यक् मीमासा की है अत. इस कृति का दूसरा नाम आप्त-मीमासा है। आचार्य समन्तभद्र पहले व्यक्ति है जिन्होने आप्त-पुरुषो के आप्तत्व को भी तर्क के निकष पर परख कर उसे मान्य किया है। यह ग्रन्थ जैन दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है। स्याद्वाद सम्बन्धी विस्तृत विवेचन सर्व प्रथम इस ग्रन्थ मे हुआ है।

आचार्य अकलंक ने इस ग्रन्थ पर अष्टशती नामक भाष्य लिखा है। अष्टशती नाम से स्पष्ट है इस भाष्य में ८०० पद्य हैं। अष्टशती भाष्य पर आचार्य विद्यानन्द ने आठ हजार पद्यो मे "अष्टसहस्री" नामक विशाल टीका लिखी है। इस टीका को आप्त मीमांसालङ्कृति एवं देवागमलंकृति संज्ञा से भी पहचाना गया है। यह टीका अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस टीका मे अष्टशती भाष्य पूर्णत. समाहित हो गया है। अष्टसहस्री टीका के माध्यम

से ही अष्टशती भाष्य के गम्भीर रहस्यों को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।

यशोविजयजी ने अष्टसहस्री पर संस्कृत टीका और आचार्य वसुनन्दी ने संक्षिप्त देवागम वृत्ति की रचना की है। पण्डित जयचंदजी छाबड़ा (जयपुर) की एक हिन्दी टीका भी प्रकाशित है।[१]

स्वयंभूस्तोत्र

इसमे चतुर्विशति तीर्थङ्करो की स्तुति होने के कारण ग्रन्थ का दूसरा नाम 'चतुर्विशति जिनस्तुति' भी है। इसके १४३ पद्य हैं। रचना शैली सरस है। ग्रन्थ की भाषा व्यङ्ग्यात्मक और अलङ्कारपूर्ण है। भक्तिरस से पूरित इस कृति में भावाभिव्यञ्जना युक्तिपूर्ण है।

न्याय एवं दर्शन विषय के मौलिक बिन्दुओ का स्पर्श भी है। दर्शन प्रधान तथा स्तुतिप्रधान ग्रन्थ में पौराणिक और ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश रचनाकार के बहुमुखी ज्ञान की सूचना है। विषय वर्णन की स्पष्टता के कारण इस कृति को पढने से पाठक को तीर्थङ्करो के प्रत्यक्ष दर्शन जैसी अनुभूति होने लगती है। स्वत: बोध होने के कारण तीर्थङ्करों को स्वयंभू कहा जाता है। प्रस्तुत स्तोत्र मे तीर्थङ्करों की स्तुति है अतः इस कृति का नाम स्वयंभूस्तोत्र है।

युक्त्यनुशासन

युक्त्यनुशासन अर्थ गरिमा से परिपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है। इसके ६४ पद्य हैं। ग्रन्थ की शैली संक्षिप्त सूत्रात्मक एवं गम्भीर है। इसमे आप्त स्तुति के साथ विविध दार्शनिक हस्तियो का पर्याप्त विवेचन एव स्व पर मत के गुण दोपो का सयौक्तिक निरूपण है। ग्रन्थकार ने युक्त्यनुशासन का कहीं नामोल्लेख ग्रन्थ में नही किया है पर युक्त्यनुशासन शब्द की स्वरूप व्याख्या समझाते हुए उन्होने कहा—

"दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।"

प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थप्रतिपादन का अनुशासित क्रम ही युक्त्यनुशासन है।

पुन्नाट सघीय आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण मे युक्त्यनुशासन का उल्लेख किया है वह श्लोक इस प्रकार है—

जीवसिद्धिविधायीह, कृतयुक्त्यनुशासनम्।

वचः समन्तभद्रस्य, वीरस्येव विजृम्भते ।।१-३०।।

हरिवंशपुराण आचार्य समन्तभद्र के वचन वीरवाणी के तुल्य हैं। उन्होने जीवसिद्धि ग्रन्थ की रचना के बाद युक्त्यनुशासन की रचना की थी। "जीयात् समन्तभद्रस्य स्तोत्र युक्त्यनुशासनम्"—टीकाकार आचार्य विद्यानन्दी के इस कथन के आधार पर आचार्य समन्तभद्र के "युक्त्यनुशासन" ग्रन्थ का बोध होता है।

आचार्य जिनसेन और विद्यानन्दी के इन उल्लेखो से स्पष्ट है आचार्य समन्तभद्र की प्रस्तुत कृति का नाम "युक्त्यनुशासन" रहा है। साहित्य क्षेत्र मे आज यही नाम अधिक प्रसिद्ध है।

ग्रन्थकार आचार्य समन्तभद्र प्रस्तुत ग्रन्थ की आदि मे वीर-स्तुति करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते है। इस कारण कृति का नाम वीर-स्तुति अथवा वीरस्तोत्र भी सभव है।

आज के युग में सर्वोदय शब्द अधिक व्यवहृत हो रहा है। इस सर्वोदय शब्द का प्रयोग सहस्राधिक वर्षो पहले आचार्य समन्तभद्र ने इस कृति मे किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सर्वान्त वत्त द्गुण मुख्य कल्प सर्वान्त शून्यं च
मिथोनपेक्षम् सर्वापदामन्तकर निरन्तसर्वोदय तीर्थमिद तवैव ।।६१।।

समानभाव से सबकी आपदाओ का अन्त करने वाला आपका तीर्थ ही सर्वोदय है।

जिन शासन के प्रति आचार्य समन्तभद्र की अगाध आस्था थी। निर्ग्रंथ प्रवचन को सर्वोत्कृष्ट गौरव प्रदान करते हुए उन्होने लिखा—

"आधृष्य मन्यैरखिलै प्रवादै जिन ! त्वदीय मतमद्वितीय जिनेश्वर देव ! अखिल प्रवादो मे अदृश्य आपका मत ही अद्वितीय है, अनुपम है।"

कृति की भावना और शब्द सयोजना को देखने से यह प्रतीत होता है—कलाकार की यह प्रौढ़ रचना है। इस कृति पर आचार्य विद्यानन्द की सस्कृत टीका है जो वर्तमान मे प्रकाशित है। इसी टीका मे परीक्षेक्षण शब्द का प्रयोग कर समन्तभद्र का परीक्षा के नेत्र से सबको देखने वाला कहा है।

स्तुति विद्या (जिन-स्तुति-शतक)

प्रस्तुत ग्रन्थ स्तवना प्रधान है। यह कृति के नाम से भी स्पष्ट है—इस ग्रन्थ मे भी तीर्थङ्करो की स्तुति है। प्रस्तुत स्तुतिविद्या काव्यान्तर्गत

११६ वें पद्य की चित्र रचना के सातवें वलय में "शान्ति वर्म" नाम का एवं चतुर्थ वलय मे "जिनस्तुतिशतं" नाम का बोध होता है। इससे प्रतीत होता है 'स्तुतिविद्या' कृति का ही दूसरा नाम जिनस्तुतिशतक है और शांति वर्म स्वयं समन्तभद्र का ही पूर्व नाम है। शब्दालङ्कार और चित्रालङ्कार दोनो दृष्टियो से यह स्तुतिविद्या ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इस कृति का प्रत्येक श्लोक ही चित्रबद्ध काव्य है। रचनाकार ने कृति की रचना काव्यरस से ओत-प्रोत होकर की है।

इस ग्रन्थ मे शब्दालंकार भी है और अर्थालंकार भी। ग्रन्थकार ने एक ही अक्षर के द्वारा पूरे श्लोक की रचना कर अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दिया है वह श्लोक इस प्रकार है—

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः।
ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततो ततः ॥१३॥

एक ही अक्षर द्वारा रचित इस श्लोक मे अनेक अर्थ प्रतिध्वनित हैं। कई पद्य ऐसे भी हैं जिनको अनुलोम क्रम से पढने पर उसका अर्थ बोध भिन्न प्रकार का होता है और प्रतिलोम क्रम से पढने पर उसका अर्थ बोध कुछ और ही हो जाता है। अनुलोम एव प्रतिलोम क्रम से पढने पर भिन्नार्थ बोधक श्लोक इस प्रकार है—

अनुलोम क्रम—"रक्षमाक्षरवामेश शमीचारुरुचानुत।
भो विभोनशजाजोरुनम्रेन विजरामय ॥८६॥

(स्तुतिविद्या)

प्रतिलोम क्रम—"यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥

शब्द चमत्कार का एक और उदाहरण निम्नोक्त श्लोक है जिसकी रचना चार अक्षरो मे हुई है। प्रत्येक चरण की समाप्ति पर अक्षर बदल जाता है यह श्लोक इस प्रकार है—

येयायायाययेयाय नानाननाननानन।
ममाममाममामामिताततीतितितीतितः ॥१४॥

इस प्रकार पूरी कृति का शब्द विन्यास ही अलङ्कृत भाषा मे प्रस्तुत है—

आचार्य समन्तभद्र प्रस्तुत ग्रन्थ के मङ्गलाचरण मे "स्तुतिविद्या" संज्ञक ग्रन्थ रचना के लिए प्रतिज्ञा बद्ध होते हैं और कृति के अन्तर्गत चित्र-

बद्ध रचना मे "जिन-स्तुति-शतं" नाम का बोध होता है। इससे लगता है— ग्रन्थकार को अपनी इस कृति के दोनो नाम अभिप्रेत थे। मूल नाम कृति का "स्तुति-विद्या" सम्भव है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

श्रावकाचार सम्बन्धी यह उत्तम ग्रन्थ है। इसके सात अध्याय हैं और १५० पद्य है। ग्रन्थ की शैली सरस है और भाषा अर्थ गरिमा से पूर्ण है। सरल है, सुबोध है। गुणरत्नो से भरा पिटारा है अत. इस ग्रन्थ का नाम रत्नकरण्ड नाम उपयुक्त है। कृति मे अपने विषय का प्रतिपादन समीचीन है। सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र—इस रत्नत्रयी का भी पर्याप्त विवेचन इस ग्रन्थ मे है।

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे अष्टाग सहित सम्यग् दर्शन का, द्वितीय अध्याय मे सम्यग् ज्ञान का, तृतीय अध्याय मे सम्यग् चारित्र का, (मुनि आचार सहिता एव श्रावक आचार सहिता) चतुर्थ अध्याय मे दिग्व्रत, अनर्थ दण्डव्रत एव भोगोपभोग व्रत—श्रावक के इन तीन गुणव्रतो का, पचम अध्याय मे सलेखना का और सातवे अध्याय मे श्रावक प्रतिमा का पर्याप्त विवेचन है।

श्रावक आचार सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थो मे यह ग्रन्थ प्राचीन माना गया है। वादिराजसूरि ने इस ग्रन्थ को अक्षय सुखावह की सज्ञा प्रदान की। आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस ग्रन्थ पर सस्कृत टीका लिखी है जो वर्तमान मे प्रकाशित है।

आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थो मे गम्भीर दार्शनिक दृष्टिया है एवं आस्था का छलकता निर्झर है। आराध्य के चरणो मे अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करके समन्तभद्र स्वामी ने अपनी श्रद्धा को सुश्रद्धा कहा है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सुश्रद्धा मम ते मतेः स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चार्पिते।
हस्तावञ्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि सप्रेक्षते॥
सुस्तुत्या व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशीयेन ते।
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृतिः तेनैव तेज.पते॥

(स्वयम्भूस्तोत्र ४)

जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र को है।

समय-संकेत

जैनेन्द्र व्याकरण में समागत 'चतुष्टयंसमन्तभद्रस्य' (सूत्र ५।४।१६८) के उल्लेख से आचार्य समन्तभद्र पूज्यपाद (देवनन्दी) से पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं। प० सुखलालजी ने समन्तभद्र पर बौद्ध विद्वान् धर्मकीति का प्रभाव मानकर उनको धर्म कीर्ति से उत्तरवर्ती माना है।

आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थो मे कुमारिलभट्ट की शैली का अनुकरण है। कुमारिलभट्ट ई० सन् ६२५ से ६८० के विद्वान् माने गए हैं। इस आधार पर आचार्य समन्तभद्र का समय बी० नि० की १२ वी सदी (वि० की ७ वीं सदी) अनुमानित होता है। स्व० पण्डित जुगलकिशोरजी आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी एवं कई इतिहासकार उनका सत्ता समय वि० की ५वी शताब्दी मानने के पक्ष मे हैं।

आधार-स्थल

१. काञ्च्या नाग्नाटकोऽहं ।

(आराधनासार, रचनाकार नेमिचन्द्र वर्णी)

२ इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनो श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।

(आप्तमीमांसा)

३. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्यपरपरा, पृ० १७४।

४. सरस्वतीस्वैरविहाभूमय· समन्तभद्रप्रमुखामुनीश्वरा. ।

(गद्यचिन्तामणि)

५ श्रीमत्समंतभद्राचार्यस्य त्रिभुवनलब्धजयपताकस्य प्रमाणलयचक्षुषः स्याद्वादशरीरस्य देवागमाख्याकृतेः संक्षेपभूतं विवरण कृत श्रुतविस्मरण-शीलेन वसुनंदिना जडमतिनाऽऽत्योपकाराय ।

(वसुनंद्याचार्यकृत देवागम वृत्ति)

(देवागमवृत्तिः समाप्ताः)

६. स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान् ।
विद्यानन्दघनप्रदोऽनघधिया स्याद्वादमार्गाग्रणी. ।।

(अष्टसहस्त्री प्रशस्ति पद्य)

७. "भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ।।"

(अष्टशती)

८. कवीनां गमकानाञ्च वादिनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीय मूर्ध्नि चूडामणीयते ।।४३।।
नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ।।४४।।
(आदिपुराण)

९. पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता ।
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकट ।
वादार्थी विचराम्यहं नरपतेः शार्दूलविक्रीडितं ।।
(श्रमणबेलगोल शिलालेख न० ५४ पृ० ३६)

५५. दिव्य विभूति आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद)

दिगम्बर परम्परा के आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) योग, दर्शन, तर्क, काव्य, सिद्धान्त, छद आदि विभिन्न विषयो के उद्भट्ट विद्वान् थे । जैन परपरा मे प्रथम वैयाकरण थे । उच्चकोटि के कवि थे एवं तपोयोग के विशिष्ट साधक थे । जैन धर्म की प्रभावना मे उनका कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण योगदान है । आचार्य समन्तभद्र के बाद दिगम्बर परम्परा के विशिष्ट आचार्यों की गणना मे आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) का स्थान प्रथम है ।

गुरु-परम्परा

शुभचन्द्राचार्य के पाण्डु पुराण मे देवनन्दी की गुर्वावली प्राप्त होती है । उसके अनुसार मूल सघ के अन्तर्गत नन्दी संघ बलात्कार गण मे नन्दी नाम के आचार्य हुए उनके बाद जिनचन्द्र, पद्मनन्दी आदि क्रमश: होने वाले कई आचार्यों के साथ एक नाम देवनन्दी का भी है । इस कथन के आधार पर पूज्यपाद देवनन्दी मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दी सघ बलात्कार संघ के आचार्य थे[1] । 'राजवलिक' ग्रन्थ मे भी देवनन्दी को नन्दी संघ का माना है । देवनन्दी के शिष्य का नाम वज्रनन्दी था ।

जन्म एवं परिवार

देवनन्दी ब्राह्मण वंशज थे । कर्णाटक के कोले नामक ग्राम के निवासी थे । उनके पिता का नाम माधव भट्ट था और माता का नाम श्रीदेवी था । 'पूज्यपाद चरिते' ग्रन्थ के अनुसार वैयाकरण पाणिनी देवनन्दी पूज्यपाद के मामा थे । छोटी बहिन का नाम कमलिनी, बहनोई का गुणभट्ट और भागिनेय का नाम नागार्जुन था ।

जीवन-वृत्त

देवनन्दी बुद्धिमान बालक थे उन्होने बालवय मे ही प्राप्त सुविधाओं को त्यागकर जैन दिगम्बर परपरा मे मुनि दीक्षा ग्रहण की । मुनिजीवन मे देवनन्दी ने बहुमुखी विकास किया । अपनी योग्यता के आधार पर वे तीन नामो से प्रसिद्ध हुए । देवनंदी, जिनेन्द्र बुद्धि और पूज्यपाद ।

श्रवणबेलगोला के शिलालेख संख्यक ४० के अनुसार आचार्यजी का प्रथम नाम देवनन्दी था, जिन तुल्य बुद्धि की विशिष्टता के कारण वे पूज्यपाद कहलाए[१]। श्रवणबेलगोला संख्यक १०५ के अभिलेख इस प्रकार हैं।

प्रागभ्यधायि गुरुणाकिल देवनन्दी बुद्धया पुनर्विपुलया स जिनेन्द्र बुद्धि.।
श्रीपूज्यपाद इति चैप बुधैं प्रचख्ये यत्पूजित पदयुगे वनदेवताभि·॥

शक सं० १३३५ मे उत्कीर्ण शिलालेख मे पूज्यपाद और जिनेन्द्र बुद्धि इन दोनों नामो का उल्लेख है। वह शिलालेख इस प्रकार है—

श्री पूज्यपादोद्धृत धर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वर पूज्यपाद।
यदीयवैदुष्य गुणानिदानी वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि॥
घृतविश्वबुद्धिरयमत्रयोगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चकैं।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्र बुद्धिरिति साधुर्वाणत॥

नन्दी संघ की पट्टावली मे देवनन्दी और पूज्यपाद—इन दोनो नामो का उल्लेख है। देवनन्दी का दूसरा नाम पूज्यपाद माना गया है। आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण मे देवनन्दी के लिए देव शब्द का प्रयोग किया है[४] और आचार्य शुभचद्र ने भी ज्ञानार्णव मे देवनन्दी शब्द का प्रयोग किया है[५]। कवि धनञ्जय की नाममाला मे लक्षण ग्रन्थ रचयिता के रूप मे पूज्यपाद नाम का उल्लेख है[६]। जैनेन्द्र प्रक्रिया मे आचार्य गुणनन्दी द्वारा पूज्यपाद नाम का स्मरण किया गया है।[७] कन्नड साहित्य मे भी आचार्यजी का पूज्यपाद नाम अधिक प्रचलित है।

आचार्यजी का जीवन विविध गुणो का समवाय था। उनके पास कई चामत्कारिक शक्तिया भी थी। श्रवणबेलगोला न० १०८ के शिलालेख के आधार पर उन्हे अद्वितीय औषध ऋद्धि प्राप्त थी[८]। एक बार उनके चरण प्रक्षालित जल के छूने मात्र से लोहा भी सोना बन गया। उनके 'विदेहगमन' की बात भी इसी शिलालेख के आधार से सिद्ध होती है।

चन्द्रय्य नामक कवि द्वारा कन्नड भाषा मे रचित पूज्यपाद चरिते नामक ग्रन्थ मे पूज्यपाद की जीवन सामग्री उपलब्ध है। उसका सक्षिप्त सार इस प्रकार है—पूज्यपाद की जननी श्रीदेवी ब्राह्मणी की प्रेरणा से उनके पिता कर्णाटक देश के निवासी माधवभट्ट ब्राह्मण ने जैन धर्म स्वीकार किया था। भट्टजी के साले का नाम पाणिनी था। उनको भी जैन धर्म स्वीकार करने की प्रेरणा दी पर उन्होने जैन धर्म स्वीकार नहीं किया। मुण्डिगुण्ड ग्राम मे वे वैष्णव सन्यासी हो गये।

पूज्यपाद की छोटी बहन कमलिनी की शादी गुणभट्ट के साथ हुई। कमलिनी के पुत्र का नाम नागार्जुन रखा गया। सांप के मुख मे फंसे मेंढक को देखकर पूज्यपाद को वैराग्य हुआ और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनी वैयाकरण ग्रन्थ की रचना कर रहे थे उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का आभास हुआ तब पूज्यपाद से कहा—मैं अब अधिक दिन का नही हूं। व्याकरण ग्रंथ अभी तक अधूरा है। अतः मेरे अवशिष्ट व्याकरण ग्रन्थ को तुम पूर्ण कर दो। पाणिनी की यह बात पूज्यपाद ने स्वीकार कर ली। पाणिनी की मृत्यु के बाद उनके अधूरे व्याकरण ग्रन्थ को संपन्न कर पूज्यपाद ने अपना वचन पूरा किया। इस रचना से पूर्व जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत् प्रतिष्ठा-लक्षण और वैद्यक आदि कई ग्रन्थो का निर्माण उन्होने कर लिया था।

पिता गुणभट्ट की मृत्यु के बाद अतिशय दरिद्रावस्था मे नागार्जुन पूज्यपाद के पास पहुचा। पूज्यपाद ने उसे पद्मावती मत्र दिया और सिद्ध करने के उपयोग भी बताए। मंत्र प्रभाव से पद्मावती ने नागार्जुन को सिद्धरस की वनस्पति का बोध दिया। सिद्धरस से नागार्जुन को सोना बनाने की कला हाथ लग गई। इतनी बडी विद्या को प्राप्त कर नागार्जुन घमण्डी हो गया। उसके घमंड को दूर करने के लिए पूज्यपाद ने साधारण सी वनस्पति से कई घड़े परिमाण सिद्ध रस कर दिखा दिए। नागार्जुन ने पद्मावती के कहने से इस विद्या का उपयोग जिनालय बनाने के लिए किया।

पूज्यपाद के पास कई विद्याएं थीं। वे पैरो पर गगनगामी लेप लगा कर विदेह क्षेत्र तक पहुंच जाया करते थे। पूज्यपाद के वज्रनन्दी नाम का एक शिष्य था। पूज्यपाद यात्रा पर थे। पीछे से साथियो के साथ विचार भेद होने के कारण शिष्य वज्रनन्दी ने द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।

पूज्यपाद ने लम्बे समय तक योगाभ्यास किया था। एक बार तीर्थ यात्रा करते समय मार्ग मे उनकी ज्योति लुप्त हो गई थी। शानयाष्टक का एक निष्ठा से जाप करने पर उनकी लुप्त नयन ज्योति पुन. लौट आई। उसके कुछ समय बाद उनका समाधि पूर्वक स्वर्गवास हुआ।

पूज्यपाद योगाभ्यास के बल पर शक्ति संपन्न और तेजस्वी आचार्य थे। वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथ चरित प्रथम सर्ग मे आपके गुणो का वर्णन करते हुए लिखा है—'अचिन्तयमहिमा देव।' आचार्य देवनन्दी की महिमा अचिन्त्य है।

देवनन्दी पूज्यपाद अपने युग के श्रेष्ठ साहित्यकार और उच्चकोटि के विद्वान् थे। राजधानी तालवनगर (तलवार) की प्रधान जैन बस्ती के वे अध्यक्ष थे। यह सस्थान दक्षिण भारत में उस काल का एक महान् विद्यापीठ था। सांस्कृतिक अधिष्ठान के रूप में प्रतिष्ठित इस महाविद्यापीठ मे दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, सिद्धान्त, चिकित्सा विज्ञान, समाज विज्ञान, राजनीति आदि विविध विषयात्मक शिक्षाओ के स्रोत खुले थे। आचार्य पूज्यपाद का दक्षिण भारत के इस प्रमुख ज्ञान केन्द्र को समुचित संरक्षण प्राप्त था।

राजवंश

आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद का गंगा राजवश से विशेष सम्बन्ध रहा है। मुक्त हस्तदानी धर्म तथा संस्कृति के संरक्षक जिनेश्वर देव के प्रति अचल मेरु की तरह सुदृढ आस्थाशील जैन शासक अविनीत कोगुणी आचार्य पूज्यपाद के समय गङ्गवश के प्रतापी नरेश थे। वे दीर्घजीवी शासक थे। शिलालेखों मे उन्हें शतजीवी भी कहा है।

अतुल पराक्रमी धर्मानुरागी गंङ्गा नरेश अविनीत कोगुणी के गुरु जैनाचार्य विजयकीर्ति थे। गुरु के मार्गदर्शन मे नरेश ने जीवन-विज्ञान का प्रशिक्षण पाया था। अविनीत कोगुणी के पिता गङ्ग नरेश माधव तृतीय भी जिनेश्वर देव के परम भक्त थे। जैन धर्म के संस्कार अविनीत कोगुणी को संभवत अपने पिता से प्राप्त थे।

धर्म की इस महागंगा का प्रवाह आगे से आगे गतिशील रखने हेतु नरेश अविनीत कोगुणी ने अपने महत्वाकाक्षी पुत्र युवराज दुर्विनीत कोगुणी को शिक्षा प्राप्त करने के लिए जैनाचार्य देवनन्दी पूज्यपाद के पास रखा था। बालवय में राजकुमार दुर्विनीत कोगुणी ने अनेक प्रकार की शिक्षाएं आचार्य देवनन्दी से प्राप्त की।

दक्षिण भारत के दुर्विनीत कोंगुणी की गणना प्रतापी नरेशो में हुई। अपने पिता की भान्ति जैन धर्म के प्रति उनकी आस्था अडोल थी। शिक्षक गुरु पूज्यपाद को पाकर वे अपने आप को धन्य मानते और गर्व की अनुभूति करते।

नरेश दुर्विनीत कोगुणी साहित्य प्रेमी और सफल अनुवादक भी थे। उन्होने अपने गुरु पूज्यपाद द्वारा रचित शब्दावतार न्यास का कन्नड अनुवाद किया तथा प्राकृत वृहद् कथा का संस्कृत अनुवाद भी इनका बताया जाता है।

नरेश दुर्विनीत कोंगुणी के द्वितीय पुत्र गंगा नरेश भुष्कर भी जैन धर्म के प्रति सुदृढ आस्थावान् थे। इनके समय मे जैन धर्म गंगवाडी का राजधर्म बन गया था। इस नरेश के महासामन्त भी जैन थे। जैनाचार्यों को अपने धर्म प्रचार कार्यों म गंग नरेशो का प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त था। आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद को अपने कार्य क्षेत्र मे गंग नरेश दुर्विनीत कोंगुणी का यथेप्सित सहयोग मिल पाया था।

साहित्य

आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे शास्त्रज्ञ थे। समीक्षक थे। दार्शनिक थे। कवि थे। वैयाकरण थे। ग्रन्थ रचनाकार थे और अपने प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करने मे निर्भीक मनोवृत्ति के थे। हरिवंश पुराण एव आदि पुराण के कर्त्ता जिनसेन द्वय, जिनेन्द्र प्रक्रिया के रचनाकार गुणनंदी, ज्ञानार्णव के रचनाकार शुभचंद्र आदि विद्वान् आचार्यों ने आचार्य देवनंदी पूज्यपाद के बुद्धि बल की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। श्रवणबेलगोल आदि के शिलालेखो मे भी उनसे संबंधित प्रशस्तियां अंकित हैं।

आचार्य देवनंदी ने अपनी विकासशील बुद्धि का उपयोग साहित्य रचना की दिशा मे भी किया। उन्होंने उत्तम कोटि के ग्रंथ रचे। उनके ग्रंथो का परिचय इस प्रकार है—

तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थ सिद्धि)

आचार्य देवनंदी पूज्यपाद की यह गद्यात्मक संस्कृत टीका है। तत्त्वार्थ के मूल सूत्रो पर इसकी रचना हुई है। इसके दस अध्याय है। यह ग्रंथ दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ मे जीव, अजीव आदि सात तत्त्वो का विस्तृत विवेचन है। पुण्य-पाप तत्त्व को बंधतत्त्व के अन्तर्गत ही मान लिया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र के प्रत्येक पद को विशद व्याख्या होने के कारण वृत्ति के लक्षण इसमे सम्यक्तया घटित है। रचनाकार ने स्वयं अपनी इस रचना को वृत्ति कहा है और वृत्ति का नाम सर्वार्थसिद्धि दिया है। ग्रन्थान्तर्गत प्रत्येक अध्याय के समाप्ति प्रसङ्ग पर वे लिखते है—

इति सर्वार्थसिद्धिसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

यह टीका सुखकर एवं परमार्थ सिद्धि का हेतु है। परमार्थ के साथ जीवन के अन्य समस्त अर्थ स्वतः सिद्ध होते हैं अतः इस टीका का नाम

सर्वार्थ सिद्धि उपयुक्त है।

प्रस्तुत वृत्ति ग्रन्थ की रचनाशैली संक्षिप्त मर्मस्पर्शी एवं अर्थ गरिमा से परिपूर्ण है। ग्रन्थ की समुचित शब्द संयोजना और प्रवाहमयी भाषा ग्रन्थकार के वैदुष्य को प्रकट करती है।

स्वर्ग और अपवर्ग के अभिलाषी व्यक्ति को मनोयोग पूर्वक अहर्निश इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करना चाहिए ऐसा इस वृत्ति की प्रशस्ति में बताया गया है।[1]

समाधि तंत्र

यह अध्यात्म विषयक उच्च कोटि का गम्भीर ग्रन्थ है। इसमे १०५ श्लोक हैं। ग्रन्थ का दूसरा नाम समाधिशतक भी है। ग्रन्थ की शैली मनोरम और हृदयस्पर्शी है। ग्रथगत विषय का प्रसन्न पद्य रचना में प्रतिपादन मनो मुग्धकारी है। ग्रथकार ने मानो स्थितप्रज्ञ जैसी स्थिति मे पहुंचकर इस अध्यात्मप्रधान गूढ ग्रन्थ की रचना की है। अध्यात्म सुधारस से ओत-प्रोत यह कृति पाठक के लिए मननीय एव पठनीय है।

इष्टोपदेश

यह ग्रथकार की लघु रचना है। इसके ५१ पद्य हैं। समाधितत्र की तरह इस ग्रथ मे भी अध्यात्म विषय का सरस विवेचन है। अध्यात्म साधक के लिए परम इष्ट पवित्र आत्म स्वरूप का बोध है। इस सम्बन्ध का मर्म स्पर्शी उपदेश होने के कारण कृति का इष्टोपदेश नाम सार्थक है। पण्डित आशाधरजी ने इस पर संस्कृत टीका लिखी है। वर्तमान मे टीका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

जैनेन्द्र व्याकरण

पूज्यपाद साहित्य रसिक और महान् शाब्दिक थे। "जिनेन्द्र व्याकरण" साहित्य जगत् की प्रतिष्ठा प्राप्त कृति है। इस व्याकरण के कर्ता देवनन्दी पूज्यपाद ही थे। यह आज अनेक विद्वानो ने विविध प्रमाणो से मान्य किया है। जैन विद्वान् द्वारा लिखा गया यह प्रथम संस्कृत व्याकरण है। शाकटायन आदि व्याकरण ग्रन्थो की रचना इसके बाद की है। इस व्याकरण ग्रंथ के पाच अध्याय हैं और बीस पाद हैं। प्रत्येक अध्याय के पाद बराबर हैं एवं सूत्र संख्या ३००० अथवा ३७०० है। इस व्याकरण में संक्षिप्त सूत्रात्मक शैली और सज्ञा प्रकरण मे सांकेतिक संज्ञाओ का प्रयोग इसकी कुछ अपनी

विशेषता है। स्त्री प्रत्यय, समास, तद्धित एवं कृदन्त प्रकरणो की भी अपनी मौलिक विशेषताए हैं। कारक प्रकरण अत्यन्त सक्षिप्त होने पर भी इसमे आवश्यक बिन्दुओ का पर्याप्त निर्देश है। व्याकरण नियमो की व्याख्या में प्रयुक्त उदाहरण तत्कालीन सास्कृतिक तत्त्वो की अभिव्यक्ति देते हैं एवं ज्योतिष, भौगोलिक आदि विविध पक्षो से सम्बन्धित मान्यताओ का बोध कराते हैं जैसे—

पुष्येण योगं जानाति, पुष्येण भोजयति—२।१।२४॥

शरदं मथुरा रमणीया—१।४।४ मथुरा पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतरा—१।४।५० आदि-आदि।

इस प्रकार पाठक के लिए विविध रूपा सामग्री इसमे उपलब्ध है। व्याकरण साहित्य मे यह व्याकरण उत्तम रचना सिद्ध हुई। इसके कारण आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद को आठ महान् शाब्दिको की गणना मे एक स्थान मिला है। इस व्याकरण पर अभयनन्दी रचित महावृत्ति, प्रभाचन्द्र का शब्दाम्भोज भास्कर न्यास श्रुतकीर्ति की पञ्च वस्तु प्रक्रिया एवं पण्डित महाचन्द्र की लघु जैनेन्द्र टीकाएं उपलब्ध हैं।

इन टीकाओं मे महावृत्ति सबसे प्राचीन टीका संभव है। इस टीका में न ग्रंथ रचना का समय है न गुरु परम्परा का उल्लेख है। प्रभाचद्र का शब्दाम्भोज भास्कर न्यास का पद्य परिमाण महावृत्ति से अधिक है। इसके शब्द प्रयोगो मे महावृत्ति का प्रभाव परिलक्षित होता है। पञ्चवस्तु टीका की रचना व्यवस्थित रूप से सुन्दर शैली मे हुई है। इसकी श्लोक सख्या ३३०० के लगभग है। पाठक के लिए यह ज्ञानवर्धक टीका है। लघु जिनेन्द्र टीका रचना मे अभयनन्दी की महावृत्ति का आधार लिया गया है। शब्दार्णव, "शब्दार्णव-चन्द्रिका" शब्दार्णव प्रक्रिया (जैनेन्द्र प्रक्रिया) ये ग्रन्थ भी जैनेन्द्र व्याकरण से सम्बन्धित हैं।

आचार्य गुणनन्दी ने इस व्याकरण की समोक्षा करते हुए लिखा—

नम श्रीपूज्यपादाय लक्षण यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥

मैं पूज्यपाद को नमस्कार करता हूं जिन्होने लक्षणशास्त्र (व्याकरण शास्त्र) की रचना की। उनका रचा यह शास्त्र इतना विशाल है जो सामग्री इसमे है वह अन्यत्र भी है। जो इसमे नही है वह अन्यत्र नही है।

कवि धनञ्जय ने इस व्याकरण को अपश्चिम रत्न माना है।

जैनेन्द्र न्यास

शिमोगा जिले की नगर तहसील ४६ वें शिलालेख मे पूज्यपाद के ४ ग्रन्थों की सूचना है।[1] उसमें सबसे पहला ग्रन्थ जैनेन्द्रन्यास है। पूज्यपाद ने स्वरचित जैनेन्द्र व्याकरण की व्याख्या मे इस न्यास की रचना की होगी। पर वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

शब्दावतार न्यास

पाणिनी व्याकरण पर शब्दावतार न्यास की रचना हुई थी। पाणिनी की अवशिष्ट व्याकरण को पूज्यपाद ने पूरा किया था। यह उल्लेख पूज्यपाद चरित मे हुआ है। इससे स्पष्ट है पूज्यपाद को पाणिनी व्याकरण का गहरा अनुभव था। अतः उस पर पूज्यपाद द्वारा न्यास भी लिखा जाना सहज सम्भव है पर जैनेन्द्र न्यास की तरह यह न्यास भी वर्तमान मे उपलब्ध नही है।

चिकित्साशास्त्र

शिमोगा जिले के शिलालेख वैद्यक ग्रंथ का उल्लेख है। ग्रन्थ का "वैद्यक" नामचिकित्सा सम्बन्धी सामग्री की सूचना देता है। पूज्यपाद का ज्ञान बहुमुखी था। चिकित्सा के सम्बन्ध मे भी उनका ज्ञान परिपक्व था। शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव मे पूज्यपाद की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए लिखा है—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचकाय वाग्चित्त सम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिना सोऽय, देवनन्दी नमस्यते ॥१।१५॥

जिनकी वाणी प्राणियो के काय, वचन और चित्त के विकारो को विनष्ट करने मे सक्षम हैं, वे देवनन्दी नमस्कार करने योग्य हैं।

इस श्लोक मे समागत काय शब्द का प्रयोग शरीर विज्ञान सम्बन्धी उनकी विशेषज्ञता को समर्थित करता है। वर्तमान मे पूज्यपाद का चिकित्सा सम्बन्धी कोई वैद्यक नामक ग्रन्थ प्राप्त नही है।

ग्रन्थान्तरों में निर्दशित ग्रंथ

धवला टोका मे पूज्यपाद के सारसंग्रह ग्रन्थ का उल्लेख है।[11] यह एक न्याय विषयक ग्रन्थ था।

कन्नड ग्रन्थ 'पूज्यपाद चरिते' मे पूज्यपाद रचित "अर्हद् प्रतिष्ठा लक्षण" और शान्त्यष्टक इन दो ग्रन्थो का उल्लेख है। शात्याष्टक का एक

निष्ठा से जाप करने पर उनकी खोई हुई नयन ज्योति पुन: लौट आई थी ऐसी भी लोकश्रुति है।

जैनाभिषेक

श्रवणबेलगोल संख्यक ४० के अभिलेख मे आचार्य पूज्यपाद के कई ग्रन्थो के साथ जैनाभिषेक ग्रन्थ का उल्लेख भी है। वह अभिलेख इस प्रकार है।

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्या तीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

जय कीर्ति के छदोनुशासन ग्रंथ मे पूज्यपाद के छदशास्त्र का निर्देश है। सार सग्रह, अर्हत्प्रतिष्ठा लक्षण, शान्त्यष्टक, जैनाभिषेक—ये चारो ग्रंथ वर्तमान मे उपलब्ध है।

भक्ति ग्रन्थ

सिद्ध भक्ति प्रकरण, श्रुत भक्ति, चरित भक्ति, योग भक्ति, आचार्य भक्ति, निर्वाण भक्ति तथा नदोश्वर भक्ति आदि दस सस्कृत प्रकरण आचार्य पूज्यपाद के माने गये हैं।[१२]

समय-संकेत

आचार्य देवनदी (पूज्यपाद) का समय आचार्य सिद्धसेन आचार्य समंतभद्र की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होंने अपने जैनेन्द्र व्याकरण मे भूतबलि, श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचंद्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र इन छह आचार्यों का उल्लेख किया है। उल्लेख करने वाले सूत्र ये हैं—

१ राद् भूतबलेः। ३-४-८३, २. गणे श्रीदत्तस्या स्त्रियाम्। १-४-३४
३. कृवृषिमृजा यशोभद्रस्य। २-१-९९
४. रात्रेः कृतिप्रभाचन्द्रस्य। ४-३-१८० ५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य। ५-१-७
६ चतुष्टयं समन्तभद्रस्य। ५-४-१४०।

इन आचार्यों द्वारा ग्रन्थो मे किए गए विशेष शब्द प्रयोगों की सिद्धि के लिए ही सम्भवतः प्रस्तुत सूत्रों की देवनंदी ने रचना की है। इन आचार्यों मे भूतबलि षट्खण्डागम के रचनाकार सम्भव हैं। आचार्य श्रीदत्त जल्प निर्णय ग्रन्थ के रचनाकार एव त्रिषष्टिवादी विजेता विद्वान् प्रतीत होते हैं। आचार्य

विद्यानन्द के तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ग्रन्थ मे इनका उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के चार आरातीय मुनियो मे एक श्रीदत्त नाम भी है। पर विद्वानो ने प्रस्तुत श्रीदत्त को उनसे भिन्न माना है। आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र जैन दर्शन के प्राण प्रतिष्ठापक आचार्य माने गए हैं। यशोभद्र और प्रभाचंद्र कौन थे—इस संबंध के तथ्य अभी तक स्पष्ट नही हैं।

जैनेन्द्र व्याकरण मे भूतबलि, सिद्धसेन, समंतभद्र आदि आचार्यों का उल्लेख होने के कारण व्याकरण ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य देवनंदी (पूज्यपाद) इनसे उत्तरवर्ती हैं।

आचार्य अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थ वार्तिक मे सर्वार्थसिद्धि के वाक्य प्रयोगो को वार्तिका के रूप मे स्थान दिया है। इससे स्पष्ट है आचार्य देवनदी भट्ट अकलङ्क से पूर्ववर्ती हैं।

आचार्य पूज्यपाद के शिष्य प्राभृतवेत्ता, महासत्वशाली, वज्रनंदी ने वी० नि० ९९६ (वि० ५२६) मे दक्षिण मथुरा मे द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।[११]

गंग नरेशो मे जैनाचार्य देवनंदी पूज्यपाद का विशेष सबध तदङ्गल माधव के पुत्र एव उत्तराधिकारी अविनीत कोगुणी एव उनके उत्तराधिकारी दुर्विनीत कोगुणी से था। दुर्विनीत कोगुणी ने पूज्यपाद देवनदी के चरणो में बैठकर विविध प्रकार की शिक्षाएं प्राप्त की थी।

नरेश दुर्विनीत कोगुणी का राज्यकाल ईस्वी सन् ४८१ से ५२२ के लगभग बताया जाता है। इस प्रमाण के आधार पर देवनंदी (पूज्यपाद) वी० नि० १००८ से १०४९ (वि० पू० ५३८ से ५७९) के मध्यकाल मे विद्यमान थे। उनका कालमान वी० नि० ११ वी (वि० छठी का पूर्वार्द्ध) शताब्दी का अनुमानित होता है।

आधार-स्थल :

१ पाण्डव पुराण-१-२

२. यो देवनन्दी प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पुज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥१०॥
(जैनशिलालेख संग्रह भाग-१ पृ० २४)
(माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला)

३. जैन शिलालेख संग्रह भाग-१

४. कवीनां तीर्थकृद्देव· ।।१।५२।।

(आदिपुराण)

५. कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते

(१।१५ ज्ञानार्णव)

६. प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्

(अमरकोश)

७. नमः श्री पूज्यपादाय लक्षणम् यदुपक्रमम् ।

जैनेन्द्र प्रक्रिया (गुणनन्दी)

८. श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषर्धार्द्धर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायस किल तदा कनकीचकार ।।

(श्रवणबेलगोल, शि० नं० १०८-२५८)

९. स्वर्गापवर्ग सुखमाप्तु मनोभिरार्यै. जैनेन्द्र शासनवरामृतसार भूता ।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरूपात्तनामा तत्वार्थवृत्तिरनिशं मनसाप्रधार्या ।।

(तत्त्वार्थ वृत्ति प्रशस्ति)

१०. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह ता भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालबन्धः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ।।

(नगरताल्लुक शि० न० ४६)

११. सार सग्रहेऽप्युक्त पूज्यपादैः अनन्त पर्यात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतम्·········

(धवला टीका)

१२. संस्कृता· सर्वाभक्तय. पूज्यपादस्वामी कृताः प्राकृतास्तु

(प्रभाचन्द्र क्रियाकल्प टीका)

१३. सिरि पुज्जपादसीसो दाविडसघस्य कारगो दुट्ठो ।
णामेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्तो ।।२४।।
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
दक्खिणमहुराजा दो दाविडसघो महामोहो ।।२८।।

(दर्शनसार)

५६ भवार्णव पारगामी आचार्य भद्रबाहु–द्वितीय (निर्युक्तिकार)

द्वितीय भद्रबाहु की प्रसिद्धि निर्युक्तिकार आचार्य के रूप मे है। श्रुत-केवली भद्रबाहु से निर्युक्तिकार भद्रबाहु भिन्न थे एव पश्चात्वर्ती भी थे। निमित्त शास्त्र का तथा मन्त्र विद्या का निर्युक्तिकार भद्रबाहु को विशेष ज्ञान था। वे आगमाधीत बहुश्रुत आचार्य थे। आगमिक निर्युक्तियो मे जैन परम्परा के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दो की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय उन्हें प्राप्त हुआ है।

जन्म एवं परिवार

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ब्राह्मण वशज थे। उनका जन्म महाराष्ट्र के अन्तर्गत प्रतिष्ठानपुर मे हुआ।[1] उनके गृहस्थ जीवन सम्बन्धी विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। न उनके माता पिता के सम्बन्ध मे कोई सूचना ग्रन्थो मे है। इतिहास मे सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् विद्वान् वराहमिहिर भद्रबाहु का लघु सहोदर था।

जीवन-वृत्त

गृहस्थ जीवन मे भद्रबाहु और वराहमिहिर दोनो सहोदर निर्धन एव निराश्रित थे। ससार से विरक्त होकर उन्होंने जैन दीक्षा ली और ज्योतिषशास्त्र के वे प्रकाण्ड विद्वान् बने। वराहमिहिर मे प्रतिस्पर्धा का भाव अधिक था। विनय आदि गुणो से सम्पन्न सुशील स्वाभावी मुनि भद्र-बाहु को सर्वथा योग्य समझकर उन्हें आचार्य पद पर अलकृत किया गया था। इससे पदाकांक्षी वराहमिहिर का अहं प्रबल हो उठा। मुनिवेश का परित्याग कर वह प्रतिष्ठानपुर मे पहुंचा तथा अपने निमित्त ज्ञान से वहा के राजा जितशत्रु को प्रभावित कर उनका अत्यन्त कृपापात्र पुरोहित बना। अपने को प्रख्यात करने के उद्देश्य से उसने विचित्र घोषणाएं की और जनता को बताया, 'सूर्य के साथ उसके विमान मे बैठकर मैंने ज्योतिषचक्र का परिभ्रमण किया है। मेरे बुद्धिबल पर प्रसन्न होकर स्वयं सूर्य ने मुझे

ज्योतिषविद्या का बोध दिया तथा ग्रहमण्डल एवं नक्षत्रों की गतिविधि से अवगत कराया है। मैं उनके आदेश से ही जनहितार्थ पृथ्वी पर चंक्रमण कर रहा हूं।[1] ज्योतिष शास्त्र की रचना मैंने स्वय की है।

ज्येष्ठ सहोदर आचार्य भद्रबाहु के व्यक्तित्व को प्रभावहीन करने के लिए उसने अत्यधिक प्रयत्न किए पर सर्वत्र वह असफल रहा। सूर्य-प्रकाश के सामने ग्रह, नक्षत्रो का ज्योतिर्मण्डल श्री हीन प्रतीत होता है, उसी प्रकार श्रावको की प्रार्थना पर भद्रबाहु का पदार्पण प्रतिष्ठानपुर मे होते ही वराह-मिहिर का प्रभाव कम होने लगा था।

ज्योतिष के आधार पर वराहमिहिर द्वारा की गई भविष्यवाणियां निष्फल गईं। अपने नवजात पुत्र के सम्बन्ध में शतायु होने की उनकी घोषणा असिद्ध हुई।

लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या, मन्त्रविद्या एवं ज्योतिषविद्या के प्रयोग का गृहस्थ के सम्मुख सम्भाषण करना साधु के लिए वर्जित है[2]। फिर जैन धर्म की प्रभावना को प्रमुख मान्कर आचार्य भद्रबाहु ने निमित्त ज्ञान से लघु सहोदर के नवजात शिशु का आयुष्य सात दिन का घोषित किया था तथा बिल्ली के योग से उसकी मौत बताई थी।[3]

वराहमिहिर के द्वारा शतश· प्रयत्न होने पर भी सात दिन से अधिक बालक बच न सका। उसकी मौत का निमित्त अर्गला थी, जिस पर बिल्ली का आकार था। भद्रबाहु का निमित्त ज्ञान सत्य के निकष पर सत्य सिद्ध हुआ। जन-जन के मुख पर उनका नाम प्रसारित होने लगा। वराहमिहिर के घर पहुंचकर लघु भ्राता के शोक-संतप्त परिवार को सांत्वना प्रदान की। आचार्य भद्रबाहु की ज्योतिष विद्या से प्रभावित होकर वहां के राजा जितशत्रु ने उनसे श्रावक धर्म स्वीकार किया था।[4]

साहित्य

आचार्य भद्रबाहु आगम मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने निर्युक्ति साहित्य के रूप मे आगमो की सूत्रस्पर्शी व्याख्याएं की। 'उवसग्गहर स्तोत्र' और भद्रबाहु संहिता भी आचार्य भद्रबाहु की रचना है। 'भद्रबाहु सहिता' वर्तमान मे उपलब्ध नही है जो उपलब्ध है; वह निर्युक्तिकार भद्रबाहु की नहीं है।

व्यंतरदेव के उपद्रव से क्षुब्ध जनमानस को शान्ति प्रदान करने के लिए उन्होने 'उवसग्गहरं पासं' इस पक्ति से प्रारम्भ होने वाला विघ्न-

विनाशक मंगलमय स्तोत्र बनाया था । यह स्तोत्र अत्यधिक चामत्कारिक सिद्ध हुआ । आज भी लोग सकट की घडियो मे हार्दिक निष्ठा से इस स्तोत्र का स्मरण करते हैं ।

ग्रन्थकारो के अभिमत से यह व्यन्तरदेव वराहमिहिर था । तपकवच-धारी मुनियो के सामने उसका कोई बल काम न कर सका । अत· वह पूर्व वैर से रुष्ट होकर श्रावक समाज को त्रास दे रहा था । भद्रबाहु से संघ ने विनती की 'आप जैसे तपस्वी आचार्य के होते हुए भी हम कष्ट पा रहे हैं ।'

'कुञ्जरस्कन्धाधिरूढोपि भषणैर्भक्ष्यते'—गजारूढ व्यक्ति भी कुत्तों से काटा जा रहा है । श्रावक समाज की इस दर्द भरी प्रार्थना पर आचार्य भद्रबाहु का ध्यान केन्द्रित हुआ । उन्होने इस प्रसग पर पच श्लोकात्मक महाप्रभावी उक्त स्तोत्र का पूर्वो स उद्धार किया था ।[1]

निर्युक्ति साहित्य का सृजन कर आचार्य भद्रबाहु ने विपुल ख्याति अर्जित की है । भद्रबाहु की अधिकाश निर्युक्तिया आगम साहित्य पर है अतः आगम के व्याख्या ग्रन्थो मे उनका सर्वोच्च स्थान है ।

निर्युक्तिया आर्या छन्द मे निर्मित पद्यमयी प्राकृत रचनाए है । काल की दृष्टि से भी वे प्राचीन है । उनकी शैली गूढ और साकेतिक है । आगमो की पारिभाषिक शब्दो की सुस्पष्ट व्याख्या करना उनका मुख्य उद्देश्य है । निक्षेप पद्धति के आधार पर प्रतिपाद्य शब्दो मे संभावित विविधार्थों की सूचना देने के बाद स्वाभिप्रेत अर्थ का ग्रहण और वर्णन इन निर्युक्तियो मे हुआ है । शब्दव्याख्या मे यह निक्षेप शैली शोध पाठको के लिए विशेष उपयोगी है और ज्ञानवर्धक भी । किसी भी विषय का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत नही करती हुई भी ये निर्युक्तिया अपने-आप मे परिपूर्ण है । स्वाभिप्रेत की अभिव्यक्ति मे सफल हैं । विषय सामग्री की दृष्टि से सम्पन्न हैं एवं मधुर सूक्तियो के प्रयोग से सरस भी । भारत की सुप्राचीन सभ्यता एव सस्कृति के दर्शन इनमे किए जा सकते है । विभिन्न घटनाओ, दृष्टातो, कथानकों के संकेतो एवं उपयोगी सूचनाओ से गर्भित निर्युक्ति-साहित्य अत्यधिक मूल्यवान् है ।

आचार्य भद्रबाहु ने १० निर्युक्तियो की रचना निम्नोक्त ग्रन्थो पर की :—[2]

(१) आवश्यक (२) दशवैकालिक (३) उत्तराध्ययन
(४) आचाराङ्ग (५) सूत्रकृताङ्ग (६) दशाश्रुतस्कन्ध

(७) बृहत्कल्प (८) व्यवहार (९) सूर्यप्रज्ञप्ति और
(१०) ऋषिभाषित

इन दसो निर्युक्तियो का रचना क्रम भी इसी प्रकार बताया गया है।

इन निर्युक्तियो के अतिरिक्त निशीथ निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, संसत्त (ससक्त) निर्युक्ति, पञ्चकल्प निर्युक्ति, गोविन्द निर्युक्ति, आराधना निर्युक्ति आदि निर्युक्तियो के नामो का उल्लेख भी है।

आचाराङ्ग आगम की पञ्चम चूलिका ही निशीथ आगम के रूप मे प्रतिष्ठित है। अतः यह स्वतत्र निर्युक्ति ग्रन्थ न होकर आचाराङ्ग निर्युक्ति मे ही समाविष्ट है। वर्तमान मे निशीथ निर्युक्ति निशीथ भाष्य की गाथाओं के साथ सम्मिश्रित अवस्था मे प्राप्त होती है। पिण्डनिर्युक्ति का विषय दशवैकालिक आगम के पञ्चम अध्ययन की निर्युक्ति में, ओघनिर्युक्ति का विषय आवश्यक निर्युक्ति मे, पञ्चकल्प निर्युक्ति विषय बृहद्कल्प निर्युक्ति मे समाहित है। ससत्तनिर्युक्ति एक स्वतत्र रचना है। ८४ आगमो मे इसको स्थान प्राप्त हुआ है। गोविन्दनिर्युक्ति में नया शास्त्र का विषय चर्चित हुआ है। इसकी रचना भी किसी आगम ग्रन्थ पर न होकर स्वतत्र रूप से हुई है। आराधना निर्युक्ति का निर्देश मूलाचार मे है। ये दोनो ही निर्युक्तिया अनुपलब्ध हैं। आराधना निर्युक्ति का विषय भी अज्ञात है।

आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति मे अन्तिम दो निर्युक्ति अनुपलब्ध हैं। टीकाकार मलयगिरि के अभिमत से उनके समय मे भी सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति का लोप हो गया था। उन्होने केवल सूर्यप्रज्ञप्ति की मूल सूत्रो के टीका रचना का कार्य किया था।

ऋषिभाषित निर्युक्ति की एक स्वतंत्र रचना ही सम्भव है पर वह भी वर्तमान मे उपलब्ध नही है।

आचार्य भद्रबाहु की उपलब्ध निर्युक्तियो का परिचय इस प्रकार हैं:—

आवश्यक निर्युक्ति :—

आचार्य भद्रबाहु की इस निर्युक्ति के प्रारम्भ मे आवश्यक आदि १० निर्युक्तियो का उल्लेख है। आवश्यक सूत्र मे निर्दिष्ट छह आवश्यक का पद्यबद्ध विस्तृत विवेचन इस निर्युक्ति में है। विषय सामग्री की दृष्टि से यह निर्युक्ति अन्य निर्युक्तियो की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। इस निर्युक्ति मे जैनशास्त्र सम्मत ६३ शलाका पुरुषो का पूर्वभव सहित जीवन चरित्र तथा उनके

माता-पिता से सम्बन्धित सामग्री भी इस निर्युक्ति से प्राप्त की जा सकती है। आर्य महागिरि सुहस्ती आदि आचार्यों का, शालिवाहन आदि राजाओं का तथा सात निह्नवो का विस्तृत वर्णन भी इसमे है।

कालिक उत्कालिका सूत्रो मे भेद-प्रभेदो के आधार पर इस निर्युक्ति की रचना नन्दी के बाद की संभव है। आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ मे ८८० गाथाओं का विस्तृत उपोद्घात है। जो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा लगता है। आगम की अन्य निर्युक्तियो मे समागत कई विषयों को विस्तार से समझने के लिए आवश्यक निर्युक्ति का अध्ययन आवश्यक है।

दशवैकालिक निर्युक्ति

दशवैकालिक निर्युक्ति के ३७१ पद्य है। धर्म, मंगल आदि अनेक पदो की इसमे निक्षेप पूर्वक व्याख्या है एव विविध प्रकार के शिक्षात्मक सूत्र हैं। लौकिक एव लोकोत्तर दोनो प्रकार की कथाओ का वर्णन इसमे उपलब्ध है। कई कथाओ के संकेत मात्र हैं जिन्हे समझने के लिए चूर्णि और टीकाओ का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यह सक्षिप्त निर्युक्ति विविध प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण है।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति

इस निर्युक्ति की ३५६ गाथाए हैं। विविध सामग्री प्रस्तुत करती हुई यह निर्युक्ति पाठक के लिए विशेष उपयोगी है। स्थूलभद्र, कालक आदि विशिष्ट पुरुषो के ऐतिहासिक संदर्भ, भद्रबाहु के चार विशिष्ट अभिग्रहधारी शिष्यो का उल्लेख इस निर्युक्ति मे प्राप्त होता है। शान्त्याचार्य ने निर्युक्ति गाथाओ पर टीका लिखी है। इस निर्युक्ति की कई गाथाएं भावपूर्ण और शिक्षात्मक हैं। इसकी एक गाथा है—

राईसरिसव मित्ताणी परिछिदाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतोऽवि न पाससि॥

आचाराङ्ग निर्युक्ति

आचाराङ्ग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। भद्रबाहु ने दोनो पर निर्युक्ति रचना की है। इस निर्युक्ति की लगभग ३४७ गाथाए है। इस निर्युक्ति की प्रसिद्ध गाथाएं हैं—

अंगाणं किं सारो? आयारो, तस्स हवइ किं सारो?
अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परुवणा सारो॥

सारो परुवणाए चरणं, तस्सवि य होइ निव्वाणं।
निव्वाणस्स उ सारो, अव्वाबाह जिणा बिंति ।।

अङ्गों का सार आचाराङ्ग, आचाराङ्ग का सार अनुयोगार्थ (व्याख्या) अनुयोगार्थ का सार प्ररूपणा, प्ररूपणा का सार चरित्र, चरित्र का सार निर्वाण और निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है। प्रस्तुत निर्युक्ति की रचना उत्तराध्ययन निर्युक्ति के बाद हुई है। इस निर्युक्ति मे रोचक कथाएं भी हैं। आगम के महत्त्वपूर्ण शब्दो की व्याख्या निक्षेप पद्धति के आधार पर की गई है।

निर्युक्तिकार ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पचम चूलिका पर बाद मे निर्युक्ति रचना करने का उल्लेख किया है।

सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति

आचाराङ्ग की भांति इस निर्युक्ति आदि अनेक शब्दो की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की गई है। इस निर्युक्ति की २०५ गाथाएं हैं। दार्शनिक और सैद्धान्तिक चर्चाओ की दृष्टि से यह निर्युक्ति महत्त्वपूर्ण है। इसमे क्रियावादी अक्रियावादी आदि ३६३ मतान्तरो का उल्लेख है। प्रस्तुत निर्युक्ति की रचना आचाराङ्ग निर्युक्ति के बाद हुई है।

दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति

ऐतिहासिक बिन्दुओ के सन्दर्भ मे यह निर्युक्ति महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। इस निर्युक्ति मे निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने छेद सूत्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु को प्राचीन गोत्रीय कहकर नमस्कार किया है। इससे छेद सूत्रकार और निर्युक्तिकार भद्रबाहु की भिन्नता का बोध होता है। उपासक के प्रकारो को समझने के लिए छट्ठे अध्ययन की निर्युक्ति, भिक्षु प्रतिमा के प्रकारो को समझने के लिए सातवें अध्ययन की निर्युक्ति सम्यक् सामग्री प्रदान करती है। अष्टम अध्ययन की निर्युक्ति मे पर्युषण कल्प की व्याख्या है। परिवसना, पर्युषण पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना, ज्येष्ठाग्रह इन शब्दो को प्रस्तुत निर्युक्ति मे एकार्थक कहकर उल्लेख किया है।

वृहद्कल्प निर्युक्ति और व्यवहार निर्युक्ति

छेद आगम पर आधारित ये दोनो निर्युक्तिया महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनो का प्रतिपाद्य विषय श्रमणाचार के विधि विधानों से सम्बन्धित होने के कारण लगभग एक जैसा ही है। वर्तमान मे ये दोनों निर्युक्तियां भाष्य मिश्रित

अवस्था मे प्राप्त हैं। स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप मे उपलब्ध नही है। वृहद्कल्प निर्युक्ति संघदासगणी लघुभाष्य की गाथाओ के साथ तथा व्यवहार निर्युक्ति व्यवहार भाष्य के साथ मिश्रित है।

इन निर्युक्तियो मे अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री के साथ सुप्राचीन विविध कथानको के निर्देश भी हैं। कहीं कही कथानको का विस्तृत रूप है। जिनमे तत्कालीन संस्कृति एव सभ्यता की झलक है। निर्युक्तियो की रचना से कथा साहित्य अत्यन्त समृद्ध बना है एवं आगमो के पारिभाषिक शब्दो की सुसगत व्याख्याओ के प्रस्तुतीकरण से जंन साहित्य के क्षेत्र में नवीन विद्या का द्वार भी उद्घाटित हुआ। इन बिन्दुओ के आधार पर निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु को जैन परम्परा मे मौलिक स्थान प्राप्त है।

समय-संकेत

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा निर्मित 'जैन परम्परा का इतिहास' मे निर्युक्ति काल विक्रम की पाचवी-छठी सदी माना है।[९] आचार्य भद्रबाहु के लघु सहोदर वराहमिहिर द्वारा रचित 'पचसिद्धान्तिका' नामक ग्रन्थ रचना का समय वी० नि० १०३२ श० स० ४२७ (वि० स० ५६२) निर्णीत है।[१०] उपर्युक्त दोनों प्रमाणो के आधार पर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय 'वीर निर्वाण की दसवी, ग्यारहवी सदी सिद्ध होता है।

आधार-स्थल

१ दक्षिणापथे प्रतिष्ठानपुरे भद्रबाहु·······

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराहप्रबन्ध पृ० २)

२ सूर्यमापृच्छ्य ज्ञानेन च जगदुपकर्तुं महीलोक भ्रमन्नसि ।।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराहप्रबन्ध पृ० ३, प० ५)

३. क—नक्खत्त सुमिण जोग, निमित्त मत-भेसज ।
गिहिणो त न आइक्खे, भूयाहिगरणं पय ।।

(दशवै ८।५०)

ख—छिन्न सरं भोम अतलिक्खं, सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्ज ।
अगवियारं सरस्स विजय जो विज्जाहिं न जीवइ सभिक्खु ।।७।।

(उत्तरा १५।७)

४. अयं बाल: सप्तमे दिवसे निशीथे विडालिकया घातिष्यते ।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराह प्रब० पृ० ३, प० २१)

५. राजा श्रावकधर्मं प्रतिपेदे ।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराह प्रब० पृ० ४, पं० १७)

६. ततः पूर्वेभ्य उद्धृत्य 'उवसग्गहरं पासं' इत्यादि स्तवनं गाथापञ्चकमयं सन्दद्रभे गुरूभिः ।

(प्र० को०, भद्रबाहु-वराह प्रब०, पृ० ४)

७ आवस्सगस्स दसवैकालिअस्स तह उत्तरज्झायारे ।
सूअगडे निज्जुत्ति वोच्छामि तहा दसाणं च ।
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमनिउणस्य ।
सूरि अपन्नत्तीए वुच्छ इसीभासिआण च ।

(आवश्यक निर्युक्ति)

८. वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणि ।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

(दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति)

९. बृहत्कल्पसूत्र-सभाष्य (षष्ठो विभाग.)

(प्रस्तावना-पत्रांक १७)

१०. सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्द्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ।।८।।

(पंच सिद्धान्तिका)

५७. जिनागम सिन्धु आचार्य जिनभद्रगणी

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आगम प्रधानाचार्य थे। वे ज्ञान के सागर, कुशलवाग्मी एवं आगमवाणी के प्रति अगाध श्रद्धाशील थे। उनका चिन्तन स्वतन्त्र नही आगम तंत्र से बंधा हुआ था। आचार्य सिद्धसेन ने युक्ति पर आगमों को परखा। आचार्य जिनभद्र ने आगम को प्रथम स्थान दिया था। आगम का आलम्बन लेकर ही उन्होने युक्त और अयुक्त का चिन्तन किया।[1] अन्य मतो की आलोचना आगम वाक्यों के आधार पर की एवं आगमिक परम्परा को सुरक्षित रखा था। इतिहास के पृष्ठो पर आगम परम्परा के पोषक आचार्यों मे आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम अग्रणी स्थान पर है।

गुरु-परम्परा

जिनभद्रगणी ने अपने ग्रन्थो मे गुरु-परम्परा का उल्लेख नही किया है। अङ्कोट्टक (अकोट) ग्राम से प्राप्त दो प्रतिमाओ पर टङ्कित लेख में निवृत्ति कुल के वाचनाचार्य जिनभद्र का उल्लेख है।[2] यह उल्लेख भाष्यकार जिनभद्रगणी से सम्बन्धित प्रतीत होता है। प्रतिमा के लेख मे वाचनाचार्य का उल्लेख है। जिनभद्रगणी की प्रसिद्धि क्षमाश्रमण के नाम से है पर वाचक क्षमाश्रमण आदि शब्दो को विद्वानो ने एकार्थक माना है। अत: वाचनाचार्य का विशेषण क्षमाश्रमणजी के लिए ही सम्भव है।

प्रस्तुत प्रतिमा लेख के आधार पर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण निवृत्ति कुल के सिद्ध होते हैं। उनके गुरु और गुरु-परम्परा के नामो की सूची प्राप्त नहीं है। नवाङ्गवृत्ति संशोधक द्रोणाचार्य, सूराचार्य, गर्गर्षि, दुर्गर्षि उपमिति-भवप्रपंचकथा रचनाकार सिद्धर्षि जैसे प्रभावशाली आचार्य इस निवृत्ति कुल मे हुए हैं।

निवृत्ति कुल का सम्बन्ध वज्रसेन के शिष्य निवृत्ति से था। अत: जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आर्य सुहस्ती की परम्परा मे होने वाले वज्रसेन शाखीय संभव है।

पट्टावलीकारों द्वारा जिनभद्र को हरिभद्र का शिष्य मानना भ्रान्त

प्रतीत होता है ।

जिनभद्र हरिभद्र से पूर्व थे । दोनो के बीच लगभग एक शतक का अन्तराल है। हरिभद्र ने जिनभद्र के अवतरणो का उपयोग अपने ग्रंथो मे किया है । जिनभद्रगणी के स्वर्गवास के बाद उनके ग्रथो की प्रभावकता के कारण पट्टावलीकारो ने अपनी गुरु-परम्परा मे उनको सम्मान पूर्ण स्थान दिया है ।

जीवन-वृत्त

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के जीवनप्रसङ्ग चूर्णि, टीका आदि प्राचीन ग्रन्थो मे विशेषत उपलब्ध नही है । विविध तीर्थकल्प मे जिनभद्रगणी से सम्बन्धित एक उल्लेख प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है[१]—

"इत्थ देवनिम्मिअथूमे पक्खक्खवमणेण देवय आराहित्ता जिणभद्-खमासमणेहिं उद्देहि आभक्खियपुन्थमपत्तत्त वृहभग्ग महानिसीह सधिअं"

इस उल्लेखानुसार १५ दिन की दीर्घ तप. साधना के द्वारा जिनभद्र-गणी क्षमाश्रमण ने मथुरा मे देवनिर्मित स्तूप के अधिष्ठित देव को आराधा था । कीटो द्वारा नष्ट प्रायः महानिशीथ सूत्र का उद्धार इसी देव के सहयोग से उन्होने किया था । यह घटना प्रसङ्ग मथुरा से जिनभद्रगणी का सबध सूचित करता है ।

वल्लभी के जैन भंडार मे विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति प्राप्त हुई है । वह शक स० ५३१ मे लिखी गई थी । इससे भी जिनभद्रगणी का वल्लभी के साथ किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अनुमानित होता है ।

जैसलमेर स्थित विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति के अन्त मे दो गाथाए उपलब्ध हैं । अन्तिम गाथा है—

रज्जे णु पालणपरे सी (लाइ) च्चम्मि णरवरिन्दम्मि ।

वलभी णमरिए इम महवि·········मिजिणभवणे ।।

इस गाथा मे वल्लभी नगर का उल्लेख है । इस आधार पर जिनभद्र-गणी क्षमाश्रमण का वल्लभी नगर मे किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव है ।

जिनभद्रगणी की चूर्णिकार सिद्धसेनगणी ने चूर्णि की छह गाथाओ द्वारा भावपूर्ण शब्दो मे प्रशसा की है । उसका सार सक्षेप मे इस प्रकार हैं— जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण अर्थागम के धारक थे । युगप्रधान थे । ज्ञानीजनो मे प्रमुख थे । श्रुत ज्ञान मे दक्ष थे । दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के विशिष्ट

ज्ञाता थे। सुवास से आकृष्ट भ्रमर जैसे कमलो की उपासना करता है उसी प्रकार ज्ञान मकरन्द के पिपासु मुनि जिनभद्रगणी के मुख से निःसृत ज्ञानामृत का पान करने के लिए उत्सुक रहते थे। ससमय परसमय आदि विविध विषयों पर प्रदत्त व्याख्यानो से उनका यश दसों दिशाओ मे व्याप्त हो गया था। उन्होंने अपने बुद्धिबल से आगमो का सार विशेषावशयक भाष्य मे निबद्ध किया है। छेद सूत्रो के आधार पर प्रायश्चित्त के विधि-विधानों से सम्बन्धित जीतसूत्र की उन्होने रचना की। इस प्रकार अनेक विशेषताओं के धनी, आगमवेत्ता, सयमशील, क्षमाश्रमणो के अग्रणी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को मैं नमस्कार करता हूं। सिद्धसेनगणी के इस वर्णन से जिनभद्रगणी के विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

मुनि चन्द्रसूरि ने जिनवाणी के प्रति अगाध निष्ठाशील जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को जिनमुद्रा के समान माना है—

वाक्यं विशेषातिशयं विश्व संदेहहारिभिः।
जिनमुद्रं जिनभद्र किं क्षमाश्रमणं स्तुवे।।
(अममचरित्र—मुनिचद्रसूरि)

जिनभद्रगणी आगम के अद्वितीय व्याख्याता थे। आचार्य हेमचन्द्र ने "उपजिनभद्र क्षमाश्रमण व्याख्यातारः" (शब्दानुशासन सूत्र ३९) कहकर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के प्रति विशेष आदर भाव प्रकट किया है एवं व्याख्याकार आचार्यों मे उनको उत्कृष्ट बताया है।

भाष्य एवं भाष्यकार

आगम के व्याख्या ग्रन्थो में निर्युक्ति के बाद भाष्य का क्रम आता है। निर्युक्तियो की भाति भाष्य पद्यबद्ध प्राकृत मे है। निर्युक्तियां सांकेतिक भाषा मे निबद्ध हैं। पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना उनका मुख्य प्रयोजन है। निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य अर्थ को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत करते हैं। बहुत बार आगमो के गूढ़ार्थ को समझने के लिए निर्युक्ति एवं निर्युक्ति को समझने के लिए भाष्य का सहारा ढूंढना पड़ता है। निर्युक्ति के पारिभाषिक शब्दो मे गुम्फित अर्थ बाहुल्य के प्रकाशनार्थ भाष्यों की रचना हुई। पर वे भी कही-कही संक्षिप्त होकर निर्युक्ति के साथ एक हो गए। अनेक स्थलों पर दोनो को पृथक् करना असम्भव सा लगता है।

वर्तमान में दो भाष्यकारो के नाम उपलब्ध होते हैं। वे ये हैं— संघदासगणी और जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण। स्वर्गीय मुनि श्री पुण्यविजय

जी ने चार भाष्कारों के होने का अनुमान किया है। उनके अभिमत से संघदासगणी और जिनभद्रगणी इन दो भाष्यकारो के अतिरिक्त तृतीय भाष्यकार व्यवहार भाष्य आदि के प्रणेता और चतुर्थ भाष्यकार बृहत्कल्प—बृहद् भाष्य के प्रणेता हुए हैं।

भाष्य ग्रन्थ

भाष्यो की रचना निर्युक्तियो पर हुई हैं। कुछ भाष्यो का आधार मूलसूत्र भी है। निम्नोक्त आगम ग्रन्थो पर भाष्य लिखे गए हैं—(१) आवश्यक (२) दशवैकालिक (३) उत्तराध्ययन (४) बृहत्कल्प (५) पंचकल्प (६) व्यवहार (७) निशीथ (८) जीवकल्प (६) ओघनिर्युक्ति और (१५) पिण्डनिर्युक्ति।

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पर जो भाष्य प्राप्त हैं, वे भाष्य अज्ञात कर्त्तृक हैं। प्रथम तीनों भाष्य परिमाण में बहुत छोटे हैं। उत्तराध्ययन भाष्य की ४५ गाथा, दशवैकालिक भाष्य की ६३ गाथा, पिण्डनिर्युक्ति भाष्य की ४६ गाथा है। इन लघुकाय भाष्यों को कण्ठाग्र भी किया जा सकता है। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं—लघु भाष्य, बृहद् भाष्य। ओघ निर्युक्ति लघु भाष्य की ३३२ गाथाएं हैं। बृहद् भाष्य की २५१७ गाथाएं बताई गई हैं। लघु भाष्य पर द्रोणाचार्य की वृत्ति भी है। उत्तराध्ययन भाष्य की गाथाएं पाइय टीका मे प्राप्त हैं। इसकी कई गाथाएं निर्युक्ति के साथ मिश्रित प्रतीत होती है।

दशवैकालिक भाष्य की गाथाए हरिभद्र की टीका के साथ प्राप्त हैं।

व्यवहार भाष्य

व्यवहार भाष्य १० उद्देशको मे विभक्त है। इसके प्रारम्भ मे विस्तृत पीठिका है। निक्षेप पद्धति के आधार पर व्यवहार और व्यवहारी का वर्णन है। पीठिका मे व्यवहार को जानने वाले को ही गीतार्थ बताया है। व्यवहार भाष्य मे आलोचना, प्रायश्चित्त, गच्छ, पदवी, विहार आदि विषयो का प्रतिपादन है। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है।

निशीथ भाष्य

जैन आचार संहिता और प्रायश्चित्त विधि का विस्तार से विवेचन निशीथ भाष्य में है। इस भाष्य मे सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विविध

विषयात्मक सामग्री है। शोध विद्यार्थी के लिए यह भाष्य विशेष उपयोगी है। निशीथ भाष्य की ६५०० गाथाएं है। व्यवहार भाष्य की ४६२६ गाथाएं हैं। ये दोनो भाष्य सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

संघदासगणी

संघदासगणी के दो भाष्य उपलब्ध है। वृहत्कल्प लघु भाष्य और पचकल्प महाभाष्य।

वृहत्कल्प लघु भाष्य

वृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं—लघुभाष्य और वृहत्भाष्य। वृहत्कल्प भाष्य उपलब्ध नही है। लघु भाष्य छ उद्देशको मे विभक्त है। इसकी गाथा सख्या ६४९० है। भाष्य के प्रारम्भ मे ८०५ श्लोको मे विस्तृत पीठिका है। जैन श्रमणो की आचार चर्या के साथ ही वृहद् सास्कृतिक सामग्री भी इस लघु भाष्य मे निहित है।

पञ्चकल्प महाभाष्य

इसकी रचना पञ्चकल्प निर्युक्ति पर है। इस भाष्य की २५७४ गाथाए है। आर्य क्षत्रिय देशो और राजधानियो की सूचना इस ग्रन्थ मे है।

वसुदेव हिण्डी के प्रथम खण्ड के प्रणेता सघदासगणी से भाष्यकार संघदासगणी भिन्न माने गए है।

भाष्यकार जिनभद्रगणी

आर्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण विशिष्ट भाष्यकार हैं। भाष्यकारो मे उन्हे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भाष्य सुधाम्भोधि, भाष्यपीयूषपाथोधि भगवान् भाष्यकार दु.षमान्धकार निमग्न जिनवचन प्रदीप प्रतिम, दलितकुवादिप्रवाद, प्रशस्यभाष्य सस्यकाश्यपीकल्प, त्रिभुवनजन-प्रथित प्रवचनोपनिषद्वेदी, सन्देहसन्दोहशैलश्रृंग भगदम्भोलि आदि का संबोधन देकर उच्च कोटिक भाष्यकार के रूप मे स्मरण किया है।

साहित्य

आचार्य जिनभद्र के ९ ग्रन्थों की सूचना मिलती है—

(१) विशेषावश्यक भाष्य (२) विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति (अपूर्ण) (३) वृहत् सग्रहिणी (४) वृहत् क्षेत्र समास (५) विशेषणवती (६) जीतकल्प (७) जीतकल्प भाष्य (८) अनुयोग द्वार चूर्णि तथा (९)

ध्यान शतक ।

इन ग्रथो मे अनुयोगद्वार चूर्णि गद्यात्मक है, शेष रचनाए पद्यात्मक हैं। विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति संस्कृत मे है, अवशिष्ट रचनाएं प्राकृत मे हैं। ध्यानशतक का कर्तृक जिनभद्रगणी को मानने मे विद्वान् संशयास्पद हैं।

साहित्यिक क्षेत्र मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का विशेष अनुदान भाष्य साहित्य को है। उनके दो भाष्य उपलब्ध है—विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य ।

विशेषावश्यक भाष्य

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य हैं। उनमे विशेषावश्यक भाष्य आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामयिक सूत्र पर है। इसमे ३६०३ गाथाएं हैं। जिन प्रवचन को प्रकाशित करने के लिए यह दीपक के समान माना गया है।

नय, निक्षेप, प्रमाण, स्याद्वाद आदि दार्शनिक विषयो पर गूढ परिचर्चा, कर्मशास्त्र का सूक्ष्म प्रतिपादन, ज्ञान पञ्चक की भेद-प्रभेदो के साथ व्याख्या, शब्दशास्त्र का विस्तार से विवेचन तथा औदारिक आदि सात प्रकार की वर्गणाओं के सम्बन्ध मे नए तथ्य इस ग्रंथ से पढे जा सकते हैं। जैन दर्शन के साथ दर्शनेत्तर सिद्धान्तो का तुलनात्मक रूप भी इस कृति में प्रस्तुत है। इसमे गणधरवाद का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन है। सिद्धो की विभिन्न अवस्थाओ का हृदयग्राही वर्णन है। आवश्यक निर्युक्ति में ७ निह्नवो का ही उल्लेख है। इसमे सात निह्नवो के साथ आठवें निह्नव 'बोटिक' का भी उल्लेख है। 'बोटिक' निह्नव को दिगम्बर बताया गया है।

आचार्य सिद्धसेन ने केवलज्ञान, केवलदर्शन को युगपद माना है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने आगमिक मान्यता का आधार देकर ज्ञान, दर्शन के युगपत सिद्धान्त का खण्डन किया है।

जिनभद्रगणी की चिन्तन विद्या अत्यन्त मौलिक थी। उन्होने प्रत्येक प्रयोग के साथ अनेकान्त और नय को घटित किया। परोक्ष की परिधि मे परिगणित इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सव्यवहार प्रत्यक्ष संज्ञा देने की पहल भी उन्होने की। ये समग्र बिंदु भाष्य साहित्य मे अधिकाशतः उपलब्ध हैं। शोध विद्यार्थियो के लिए यह कृति विशेष सहायक है।

इस भाष्य की महत्ता को प्रकट करते हुए अन्त में भाष्यकार लिखते हैं—इस सामयिक भाष्य के श्रवण, अध्ययन, मनन से बुद्धि परिमार्जित हो जाती है। शिष्य मे शास्त्रानुयोग को ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है।

विशालकाय भाष्य साहित्य में आचार्य जिनभद्र के विशेषावश्यक भाष्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह जैन आगमो के बहुविध विषयो का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे जिनभद्रगणी की अपूर्व तर्कणा एवं व्याख्या शक्ति के दर्शन होते हैं।

जीतकल्प भाष्य

इस भाष्य की रचना जीतकल्प सूत्र पर हुई। जीतकल्प सूत्र की रचना भी स्वयं जिनभद्रगणी की है। सूत्र की गाथाएं १०३ और भाष्य की गाथाएं २६०६ हैं। भाष्य के प्रारम्भ मे आगम, सूत्र, आज्ञा, धारणा, जीत व्यवहार इन पाच व्यवहारों का विस्तृत वर्णन है।

प्रायश्चित्त विधि का प्रतिपादन मुख्यत जीत व्यवहार के आधार पर किया गया है। भाष्य मे भाष्यकार का नाम नहीं है, पर विषय को विस्तार से जानने के लिए भाष्यकार ने 'हेट्ठाऽवस्सए भणियं' इस पद मे आवश्यक की सूचना दी है। इससे विशेषावश्यक के भाष्यकार ही इस भाष्य के रचनाकार सिद्ध होते हैं।[४]

टीकाकार का उल्लेख है—

जिनभद्रगणि स्तौमि क्षमाश्रमणमुत्तमम।
यः श्रुताज्जीत मुद्दध्रे शौरि सिन्धो सुधामिव ॥

(आवश्यकवृत्ति-तिलकाचार्य)

बृहत्कल्प भाष्य, व्यवहार भाष्य, पंचकल्प भाष्य गाथाओ का यह भाष्य संग्रह ग्रंथ है। जिनभद्रगणी ने दो भाष्य लिखे थे। उनका यह दूसरा भाष्य है।

बृहद्संग्रहणी

इसमे जैन दर्शन सम्मत जीवो की गति, स्थिति, देव-नारकों के उपपात भवन, अवगाहना एवं मनुष्य तथा तिर्यंचो के आयु आदि का वर्णन संग्रह है अतः यह एक तात्त्विक रचना है। ग्रंथकार ने इस कृति का नाम संग्रहणी लिखा है[५]। कई जैनाचार्यों ने इस प्रकार की संग्रहणी कृतियों की रचना की है। उनकी अपेक्षा से यह ग्रंथ पद्य परिमाण मे विस्तृत है। इस हेतु से इस

ग्रन्थ की प्रसिद्धि बृहद् संग्रहणी नाम से हुई प्रतीत होती है।

इस ग्रंथ पर आचार्य मलयगिरि ने टीका लिखी है। टीका के प्रारंभ में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को नमस्कार किया गया है[1]। मलयगिरि के अनुसार इस ग्रन्थ की मूल गाथाएं ३५३ हैं।

इस ग्रन्थ पर टीका हरिभद्र की भी है। यह जैन दर्शन के भूगोल-खगोल विषयक मान्यताओ का वर्णन करने वाला उत्तम ग्रन्थ है।

बृहद् क्षेत्र समास

इस ग्रन्थ के पांच प्रकरण हैं एवं ६५६ गाथाएं हैं। जम्बूद्वीप, लवण-समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि, पुष्करार्द्ध—इन पाच प्रकरणो मे जैन मान्यतानुसार द्वीपो तथा समुद्रो का वर्णन है। विषय वर्णन के साथ गणितानुयोग भी चर्चित हुआ है। मलयगिरि आदि आचार्यों की इस पर टीकाएं हैं। क्षेत्र समास नाम की कई कृतियां हैं उनमे 'बृहद् क्षेत्र समास' नाम से प्रसिद्ध कृति निर्विवाद रूप से जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की है। ग्रन्थकार ने अपने इस ग्रन्थ का नाम 'समय क्षेत्र समास' अथवा 'क्षेत्र समास प्रकरण' रखा है पर अन्य कृतियो से बृहद् होने के कारण इस कृति की प्रसिद्धि 'बृहद् क्षेत्र समास' नाम से है।

विशेषणवती

इस ग्रन्थ मे आगम मान्यताओ को विशेष रूप से परिपुष्ट किया गया है इसलिए विशेषणवती नाम सार्थक है। जैन सिद्धान्त सम्मत विषयों का वर्णन और असंगतियो का निराकरण इस ग्रन्थ मे है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार आगम और हेतुवाद मे आगम प्रमुख है। आगम सर्वज्ञ की वाणी है अत: आगम का स्थान सर्वोपरि है। हेतु और युक्तियो मे आगम वाणी का निरसन करने का सामर्थ्य नही है। यह बात इस ग्रन्थ में बल-पूर्वक कही गई है।[2]

यह विशेषणवती ग्रन्थ ४०० पद्य परिमाण है। इसमे वनस्पति अवगाह आदि विविध विषयो का वर्णन है। जैन कथा साहित्य का सुप्रसिद्ध प्राचीनतम कथा ग्रंथ वसुदेवहिण्डी था, इस ग्रन्थ मे उल्लेख है। वसुदेवहिण्डी गद्यात्मक एव समासान्त पदावलि मे रचित एक विशिष्ट कृति है। ऐतिहासिक कथानको का यह स्रोत है। जर्मन विद्वानों ने इसकी तुलना गुणाढ्य की बृहद्कथा से की है। परिशिष्ट पर्व की कथाओ का मूल स्रोत वसुदेवहिण्डी

है। विशेषणवती ग्रन्थ में वसुदेव हिण्डी का उल्लेख होने के कारण उसकी (विशेषणवती) प्राचीनता स्वत. सिद्ध हो जाती है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन का युगपद उपयोग मानने वाले सिद्धसेन दिवाकर का और मल्लवादी के भाष्य का विशेषणवती ग्रन्थ मे पूर्ण खण्डन किया है।

अनुयोग चूर्णि

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अनुयोग चूर्णि की रचना अनुयोग सूत्र के अगुल पद के आधार पर की थी। वर्तमान मे यह चूर्णि जिनदास महत्तर की अनुयोग चूर्णि मे एव आचार्य हरिभद्र की अनुयोग टीका मे उद्धृत है। स्वतत्र रूप से यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति

आगम के विशिष्ट भाष्यकार आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की अन्तिम कृति विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ टीका है। विशेषावश्यक भाष्य आचार्य जिनभद्रगणी की प्राकृत रचना है। सस्कृत विज्ञ पाठको के लिए इस प्राकृत ग्रथ पर सस्कृत टीका का निर्माण उन्होने प्रारभ किया। षष्ठ गणधर वक्तव्य तक टीका रचना के बाद भाष्यकर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का स्वर्गवास हो गया था। अत: कोट्याचार्य ने अवशिष्ट टीका रचना को १३७०० श्लोक परिमाण मे पूर्ण किया।

भाष्यकार स्वोपज्ञ टीका सरल एव विविध सामग्री से परिपूर्ण है। टीका का प्रारम्भ भाष्य गाथाओ से हुआ है। जिनभद्र क्षमा-श्रमण की भान्ति इस भाष्य के अवशिष्ट भाष्य पर कोट्याचार्य की टीका भी सरस एव प्रसाद गुण सपन्न है।[८]

आगमवाणी के मूर्त्त रूप

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आगमवाणी के मूर्त रूप थे। उनका जीवन आगममय ही था। उनका हर वाक्य आगम की कसौटी पर कसा हुआ होता था। उनके चिन्तन का हर पहलू आगमवाणी का अभिन्न अङ्ग ही होता था। जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण ने भाष्यो की रचना की एव आगमिक परम्परा को सुरक्षित रखा। आगमवादी आचार्यो मे उन्होने महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है। परमागम पारीण विशेषण उनकी इस विशेषता का सूचक है।

समय-संकेत

जिन भद्रगणी क्षमाश्रमण के ग्रन्थो मे आचार्य सिद्धसेन पूज्यपाद आदि

के मतो का उल्लेख है। पर उनके ग्रन्थो मे वी० नि० ११२० (वि० सं० ६५०) के बाद होने वाले आचार्यों के मतो का उल्लेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। जिनदास की वी० नि० १२०३ (वि० सं० ७३३) में बनी नन्दी चूर्णि में जिनभद्र के विशेषावश्यक का उल्लेख है। इन बिन्दुओं के आधार पर तथा इसी प्रकार के अन्य उल्लेखो के आधार पर आधुनिक शोध विद्वानों ने आगमनिष्ठ गुणनिधान आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का समय वी० नि० १०१५ से ११२० (वि० ५४५ से ६५०) तक अनुमानित किया गया है। उनका स्वर्गवास अधिक से अधिक वी० नि० ११२० (वि० ६५०) के आसपास माना गया है। अत. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण वी० नि० १२ वीं (वि० की ७वी) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१ मोत्तूण हेउवायं आगममेत्तावलंबिणो होउं।
सम्ममणुचिंतणिज्ज किं जुत्तमजुत्तमेयं ति॥

(विशेषणवती)

२. 'ओ देवधर्मोयं निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य'
'ओ निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य'

३ विविध तीर्थंकल्प पृ० १९

४. जीतकल्प सूत्र की प्रस्तावना पृष्ठ ७

५. 'ता संगहणि त्ति नामेणं'॥ गा० १॥

६. नमत जिनबुद्धितेज· प्रतिहतनि·शेषकुमधनतिमिरम्।
जिनवचनैकनिषण्णं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणम्॥

(वृहत् संग्रहणी)

७. विशेषणवती—पद्य—२७४

८. निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्यं किल दिवंगताः पूज्याः।
अनुयोगमार्य (र्ग) देशिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः॥
तानेव प्रणिपत्यातः परमवि (व)शिष्टविवरणं क्रियते।
कोट्टार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य॥ गाथा १८६३॥

(विशेषावश्यक-भाष्यस्वोपज्ञ-वृत्ति)

५८. पुण्य श्लोक पात्रकेशरी (पात्रस्वामी)

पात्रकेशरी दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्य थे । वे कवि, तार्किक शिरोमणि एवं दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे । न्याय विद्या पर भी उनका विशेष आधिपत्य था । प्रभावक आचार्यों की शृखला मे न्याय विद्या को उजगार करने वाले स्वामी नाम से दो आचार्य प्रसिद्ध हुए हैं— समन्तभद्र स्वामी और पात्रकेशरी स्वामी । इनका संक्षिप्त नाम पात्रकेशरी या पात्रस्वामी है ।

गुरु-परम्परा

पात्रकेशरी की गुरु परम्परा से सम्बन्धित विशेष सामग्री उपलब्ध नही है । आराधना कथाकोष के अनुसार एक बार पार्श्वनाथ चैत्य मे चारित्र भूषण मुनि के मुख से समन्तभद्र विरचित देवागम-स्तोत्र का पाठ पात्रकेशरी ने सुना और उस पर अर्थ चिन्तन करते-करते उन्हे जैन धर्म का बोध हो गया। इस दृष्टि से जैन धर्म की उपलब्धि मे निमित्त गुरु पात्रकेशरी के लिए चारित्रभूषण मुनि बने । चारित्रभूषण मुनि किस सघ या गण के थे तथा कौन-सी गुरु परम्परा से सम्बन्धित थे—इस सम्बन्ध का कोई उल्लेख या सकेत प्रस्तुत ग्रन्थ मे नही है ।

बेल्लूर तालुका के सख्यक १७ के अभिलेख मे पात्रकेशरी को द्रमिल संघ का प्रधान माना है । उनका नाम समन्तभद्र स्वामी के बाद आया है । पात्रकेशरी के उत्तरवर्ती नामो मे क्रमश. वक्रग्रीव, वज्रनन्दी,······· अकलङ्क प्रभृति आचार्यों के नामो का उल्लेख है । इस अभिलेख से आचार्य पात्रकेशरी का सम्बन्ध द्रमिल सघ की गुरु-परम्परा से सिद्ध होता है ।[1]

जन्म एवं परिवार

पात्रकेशरी का जन्म ब्राह्मण वश मे हुआ । उनका निवास स्थान अहिच्छत्र नगर मे था । अहिच्छत्र अपने युग का समृद्ध नगर था ।[2] जैन इतिहास के महत्त्वपूर्ण घटना प्रसङ्ग का बोध भी अहिच्छत्र नाम में होता है । यह प्रसिद्ध घटना प्रसङ्ग इस प्रकार है—तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ इस नगर

में या इस नगर के आसपास कही पाषाण खण्ड पर ध्यान कर रहे थे । पूर्व वैर का स्मरण कर कमठ के जीव ने देव भव मे बदला लेने की भावना से उन पर घनघोर वर्षा प्रारम्भ कर दी ।[3] जिन मतानुरागी धरणेन्द्र देव ने उस समय तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के मस्तिष्क पर नागफण का छत्र तान दिया था । तीर्थङ्कर के तेज से विघ्नकारक देव हतप्रभ हो गया ।[4] तत्पश्चात् तीर्थङ्कर पार्श्व को सर्वज्ञ श्री की उपलब्धि हुई । नागफण से सम्बन्धित इस घटना विशेष के कारण नगरी का नाम अहिच्छत्र प्रसिद्ध हुआ । पात्रकेशरी का जन्म अहिच्छत्र नगर मे हुआ या अन्यत्र कही ? उनके माता-पिता कौन थे ? इस सम्बन्ध मे कोई सकेत ग्रन्थो मे उपलब्ध नही है । आराधना कथाकोष के अनुसार पात्रकेशरी की आवास व्यवस्था अहिच्छत्र मे अवश्य थी ।

जीवन-वृत्त

अहिच्छत्र निवासी पात्रकेशरी वैदिक दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे । अहिच्छत्र नगर में उस समय अवनिपति का राज्य था । अवनिपति के राज्य मे वेद-वेदान्त के विशेष ज्ञाता, राज्य कार्य मे सहयोग करने वाले ५०० अहकारी विद्वान् रहते थे । उनके अध्यक्ष पात्रकेशरी थे । वे ब्राह्मण परम्परा मे प्रचलित सन्ध्या वन्दना आदि क्रियाओ को निरन्तर एक निष्ठा से सम्पादित किया करते थे ।[5] अवनिपाल के राज्य मे विप्र-वंशाग्रणी पात्रकेशरी की नियुक्ति सम्भवतः महामात्य पद पर थी । ब्राह्मण समाज के अति सम्मानित एव अति अहकारी विद्वान् होते हुए भी स्थानीय पार्श्वनाथ मन्दिर मे उनका आवागमन था । एक दिन उन्होने पार्श्वनाथ के चैत्यालय मे चारित्रभूषण मुनि के मुख से समन्तभद्र द्वारा विरचित देवागम स्तोत्र का पाठ सुना । पाठ उन्हे अत्यन्त रुचिकर लगा । मुनिराज से उन्होने स्तोत्र पाठ का अर्थ जानना चाहा, पर अर्थ समझाने मे चारित्र मुनि असमर्थ थे । शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण उनसे एक बार पुनः स्तोत्र पाठ सुनकर पात्रकेशरी ने उसे कण्ठस्थ कर लिया । स्तोत्र गम्भीर था । उस पर पात्रकेशरी एकाग्रता से चिन्तन करने लगे । जैसे-जैसे उन्हे स्तोत्र पाठ का अर्थ बोध होता गया वैसे-वैसे जैन धर्म के प्रति उनकी आस्था दृढ़ होती गई । स्तोत्र पाठ का सम्पूर्ण अर्थ जान लेने के पश्चात् उन्हे जैन धर्म का सम्यक् ज्ञान हुआ, पर अनुमान विषयक हेतु लक्षण मे वे उलझ गये । पुन. पुन. उसे समझने का प्रयत्न किया पर यथार्थ बोध नही हो पाया । पैर मे चुभे काटे की तरह हेतु लक्षण सम्बन्धी

संदिग्धता उन्हे खलने लगी एवं उनके दिल को कचोटने लगी । चिन्तन करते-करते वे नींद मे सो गए । रात्री के समय पद्मावती देवी ने प्रकट होकर कहा—"पण्डितवर्य ! खिन्न मत होओ । तुम्हारी शका का समाधान तुम्हे कल चैत्यालय मे प्राप्त होगा ।" देवी अदृश्य हो गई । प्रभात के समय पण्डित पात्रकेशरी उठे । चैत्यालय मे गए । उन्हे पार्श्वनाथ की मूर्ति के फण पर एक कारिका लिखी मिली । वह इस प्रकार थी—

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।"

इस कारिका को पढ़ लेने के पश्चात् हेतु लक्षण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से उनकी समझ मे आ गया । जैन दर्शन के प्रति उनके हृदय मे अगाध आस्था का भाव जगा । विप्रवंशाग्रणी विद्वान् पात्रकेशरी द्वारा जैन धर्म स्वीकार कर लिए जाने पर ब्राह्मण समाज मे ऊहा-पोह होना स्वाभाविक था, वह हुआ । चर्चाएं चलीं । जैन धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या देकर पात्रकेशरी ने उनको निरुत्तर कर दिया । महामात्य पद का परित्याग कर पात्रकेशरी जैन मुनि बने एवं द्रमिल संघ के प्रभावक आचार्य सिद्ध हुए ।

आचार्य जिनसेन ने आचार्य पात्रकेशरी की योग्यता को भट्टाकलङ्क के समकक्ष माना है । उन्होने आदि पुराण मे लिखा है—

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेशरीणा गुणाः ।
विदुषा हृदयारूढा हारायन्तेऽति निर्मलाः ॥१।५३।

भट्टाकलङ्क, श्रीपाल और पात्रकेशरी—इन आचार्यों के निर्मल गुण विद्वद्जनो के हृदय पर हार की तरह सुशोभित होते हैं ।

कुछ वर्षों पूर्व विद्यानन्द का ही दूसरा नाम पात्रस्वामी या पात्र-केशरी समझा जाता था पर वर्तमान में इतिहास गवेषक पण्डित जुगल-किशोर जी मुख्तार ने विद्यानन्द और पात्रकेशरी निबन्ध मे दोनो की भिन्नता को विविध युक्तियों से साधार प्रमाणित कर दिया है ।[1]

साहित्य

पात्रकेशरी गम्भीर दार्शनिक, तर्क-निष्णात, न्याय विज्ञ आचार्य थे । उनकी साहित्यिक रचना में सतुलित तर्क प्रधान मेधा के साथ आस्थामय व्यक्तित्व की झलक मिलती है । वर्तमान मे दो रचना पात्रकेशरी की मानी गई है । उनके नाम और परिचय इस प्रकार हैं—

त्रिलक्षण कदर्थन

यह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नही है पर इस ग्रन्थ की कारिकाएं उत्तरवर्त्ती आचार्यों के ग्रन्थों में यत्र-तत्र उद्धरण रूप मे मिलती हैं । इन कारिकाओ मे पात्रकेशरी की प्रौढ दार्शनिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं । त्रिलक्षण कदर्थन ग्रन्थ की रचना बौद्धाचार्य दिङ्नाग द्वारा स्थापित अनुमान विषयक हेतु 'त्रिरूप्यात्मक' लक्षण का निरसन करने के उद्देश्य से हुई थी । बौद्धाचार्य दिङ्नाग द्वारा हेतु के तीन लक्षण निर्धारित किए गए थे— (१) पक्ष धर्मत्व (२) सपक्ष सत्त्व और (३) विपक्ष व्यावृत्ति ।

बौद्धो के इस त्रैरुप्य हेतु लक्षण के स्थान पर पात्रकेशरी ने "अन्यथानुपपन्नत्व"—किसी दूसरे प्रकार से उत्पन्न न होना—हेतु का यह एक ही लक्षण स्थापित किया । हेतु लक्षण की यह व्याख्या उनके मौलिक चिन्तन का परिणाम था, जिसने न्यायविज्ञ विद्वानो को हेतु लक्षण के विषय में पुन: चिन्तन करने को विवश कर दिया और कर्णगोमि जैसे उद्भट्ट बौद्ध विद्वानो के ग्रन्थो मे समालोचना का यह महत्त्वपूर्ण विषय बन गया था ।

श्रवणबेलगोल के सख्यक ५४ के अभिलेख में त्रिलक्षण कदर्थना उल्लेख है, वह इस प्रकार है—

महिमा स पात्रकेसरिगुरो परं भवति यस्य भक्त्यासीत् ।
पद्मावती सहाया त्रिक्षलणकदर्थन. कर्तुम् ॥[१]

पात्रकेशरी गुरु की महिमा अपरम्पार है । जिन की भक्ति मे नतमस्तक पद्मावती देवी 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ रचना मे सहायक बनी थी ।

टीकाकार अनन्तवीर्य ने स्वामी पद के साथ पात्रकेशरी का और उनकी त्रिलक्षण कदर्थन टीका का उल्लेख अपनी सिद्धिविनिश्चय नामक टीका मे किया है ।[२]

पात्रकेशरी स्तोत्र (जिनेन्द्र गुण संस्तुति)

यह स्तोत्र पात्रकेशरी की लघु रचना है । इशके ५० पद्य है । प्रस्तुत कृति मे जिनेश्वर देव के गुणो की स्तुति की गई है । अत: इस कृति का नाम जिनेन्द्र स्तुति भी है । जिन गुण स्तुति का उद्देश्य बताते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

जिनेन्द्र ! गुणसस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता ।
भवत्यखिलकर्मणा प्रहतये परकारणम् ।

इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादशत् ।
स्फुटार्थनयपेशला सुगत ! सविधास्ये स्तुतिम् ॥१॥

जिनेन्द्र प्रभो ! आपकी स्वल्प स्तुति भी अखिल कर्मों का नाश करने मे परम निमित्त है । इसलिए मैं नयो से अलंकृत अर्थ परिपूर्ण स्तुति के लिए प्रवृत्त हुआ हूं ।

प्रस्तुत श्लोकान्तर्गत 'नयपेशला' वाक्यावलि से यह स्तोत्र न्याय शास्त्र का उत्तम ग्रन्थ प्रतीत होता है ।

इस कृति मे पात्रकेशरी की वीतराग प्रभु के प्रति अटूट आस्था एवं दार्शनिक विचारो का अपूर्व समन्वय है । अर्हत् गुणो की पुष्टि नाना युक्तियो के आधार पर की गई है । आत्मकर्तृत्व, पुनर्जन्म आदि अनेक दार्शनिक दृष्टियो का सुन्दर विवेचन है और जैन सिद्धांतानुरूप सर्वज्ञ सिद्धि वर्णन मे नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, मीमासक आदि जैनेतर दर्शनो से सम्मत आप्त पुरुषो की सम्यक् समीक्षा है ।

सस्कृत व्याकरण के नियमानुसार अन्य की अभिव्यक्ति के लिए परस्मैपदी धातु का प्रयोग और "स्व" की अभिव्यक्ति के लिए आत्मनेपदी धातु का प्रयोग होता है । पात्रकेशरी ने अपने इस ग्रन्थ मे स्वमत की स्थापना और परमत का निरसन करते समय स्थान-स्थान पर आत्मनेपदी धातु का प्रयोग किया है । स्वलक्ष्य सिद्धि मे इस प्रकार के प्रयोग पात्रकेशरी के व्याकरण सम्बन्धी गम्भीर ज्ञान की सूचना देते हैं ।

यह 'पात्रकेशरी स्तोत्र' पात्रकेशरी की प्रौढ़ रचना है । वर्तमान मे संस्कृत टीका सहित यह स्तोत्र प्रकाशित है । टीका अज्ञात कर्तृक है ।

पात्रकेशरी ने उपर्युक्त सारगर्भित ग्रन्थ द्वय द्वारा सुनाम अर्जित किया है । दिग्गज जैन विद्वानो द्वारा उन्हे ख्याति प्राप्त हुई । जैनेतर ग्रन्थ मे भी उनकी कारिकाओ का विशेष उल्लेख किया गया है । प्रस्तुत प्रबन्ध मे पुण्यश्लोक विशेषण पात्रकेशरी के यशस्वी जीवन का सूचक है ।

समय-संकेत

बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग द्वारा स्थापित त्रैरुप्य हेतु लक्षण का निरसन पात्रकेशरी के त्रिलक्षण कदर्थना नामक ग्रन्थ मे हुआ है । दिङ्नाग का समय ई० सन् ४२५ बताया गया है ।

आचार्य अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ मे तथा न्यायविनिश्चय

ग्रन्थ में आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे पात्रकेशरी की कारिकाओ को उद्धृत किया गया है। भट्ट अकलङ्क का समय ई० सन् ७२० से ७८० (वि० ८३७) तथा विद्यानन्द का समय ई० सन् ७७५ से ८४० तक सिद्ध किया गया है।[४]

पात्रकेशरी की कारिकाओ का सबसे अधिक पुराना उल्लेख शांतिरक्षित के तत्त्व सग्रह मे पाया गया है। बौद्ध विद्वान् कर्णगोमि ने भी इन कारिकाओ की समीक्षा की है। शांतिरक्षित का समय ई० सन् ७०५-७६३ है। विद्वान् पात्रकेशरी दिङ्नाग से उत्तरवर्ती और तत्त्व सग्रह रचनाकार शांतिरक्षित से पूर्ववर्ती होने के कारण पात्रकेशरी का समय ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सातवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध सभव है। यही समय परमानन्द शास्त्री, स्व० डा० नेमिचन्द्र शास्त्री आदि शोध विद्वानो द्वारा अनुमानित हुआ है।[५]

आधार-स्थल

१. तत्············त्थेर्यम सहस्रगुणमाडिसमन्तभद्रस्वामिगलुसन्दर अवीरं बलिकतदीय श्रीमद् द्रमिल सघाग्रेसरद् अप्पपात्रकेसरि—स्वामि गतिवक्रग्रीवामि············

२. निवासे सारसम्पत्ते देशे श्री मगधाभिधे ।
अहिच्छत्रे जगच्चित्रे नागरै नगरे वई ॥१८॥
(आराधना कथाकोष)

३. "यद्गगर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमं भ्रश्यत्तडिन्मुसलमासलघोरधारं ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारिदध्रे, तेनैव तस्य जिन! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥
(कल्याण मन्दिर)

४. पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राजकलान्वित. ।
प्रान्तं राज्यं करोत्युच्चै विप्रैः पञ्चशतैर्व्रतः ॥१६॥
विप्रास्ते वेदवेदाङ्गपारगाः कुलगर्विताः ।
कृत्वा सन्ध्या वन्दना द्वये सन्ध्या च निरन्तरम् ॥२०॥
(आराधना कथाकोष)

५. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश ।
(पृ० ६३७-६६७)

६. जैन शिलालेख संग्रह ।
(भाग-१ पृ० १०३)

७. इत्यत्राह—स्वामिन्: पात्रकेसरिण इत्येके । कुत एतत् ? तेन तद्विषय-त्रिलक्षणकदर्थनम्……………।

(सिद्धिविनिश्चय टीका)

८. सिद्धिविनिश्चय, प्रस्तावना ।

(पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य)

९. (क) जैन धर्म का प्राचीन इतिहास ।

(पृ० १३३)

(ख) तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ।

(पृ० २३६)

५६. मुक्ति-दूत आचार्य मानतुंग

स्तोत्र काव्यो मे भक्तामर स्तोत्र उत्तम रचना है। भक्ति रस का यह छलकता निर्झर है। इस स्तोत्र के रचनाकार आचार्य मानतुङ्ग थे। वे अपने युग के प्रतिष्ठित कवि थे और यशस्वी विद्वान् थे। कवित्व शक्ति का उनमें विशेष विकास था एवं संस्कृत भाषा पर उनका आधिपत्य था।

गुरु-परम्परा

आचार्य मानतुङ्ग ने श्वेताम्बर मुनि दीक्षा और दिगम्बर मुनि दीक्षा दोनो ही प्रकार की दीक्षा ग्रहण की थी। यह उल्लेख दोनो परम्पराओ के ग्रन्थो मे प्राप्त है। प्रभावक चरित्र के अनुसार श्वेताम्बर परम्परा मे आचार्य मानतुङ्ग के गुरु अजितसिंह[1] और दिगम्बर परम्परा मे उनके दीक्षा गुरु चारुकीर्ति थे।[2] आचार्य अजितसिंह और आचार्य चारुकीर्ति किस गण, गच्छ, परम्परा से सम्बन्धित थे इस सम्बन्ध का उल्लेख प्रभावक चरित्र ग्रन्थ में नही है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य मानतुङ्ग का जन्म वाराणसी मे हुआ। ब्रह्मक्षत्रिय श्रेष्ठी धनदेव के वे पुत्र थे।[3] उनकी बहिन का सम्बन्ध वाराणसी निवासी लक्ष्मीधर श्रेष्ठी के साथ हुआ था।[4] बहिन और मां के नाम की सूचना ग्रन्थ में नहीं है। लक्ष्मीधर श्रेष्ठी को आस्तिक जनो मे शीर्षस्थ स्थान प्राप्त था।

जीवन-वृत्त

मानतुङ्ग का परिवार धार्मिक संस्कारो से सस्कारित था। धर्मनिष्ठ पिता धनदेव के योग से मानतुङ्ग को धार्मिक सस्कार सहज प्राप्त हुए। जैन दिगम्बर मुनिजनो से प्रवचन सुनकर धीर, गम्भीर मानतुङ्ग को संसार से विरक्ति हुई। मा-बाप से अनुमति लेकर उन्होने आचार्य चारुकीर्ति से दिगंबर मुनि दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा जीवन मे उनका नाम महाकीर्ति रखा। मुनि-चर्या मे सजग महाकीर्ति एक दिन लक्ष्मीधर श्रेष्ठी के घर गोचरी गए। लक्ष्मीधर श्रेष्ठी की पत्नी मानतुङ्ग की बहिन थी। वह श्वेताम्बर परम्परा

को मानती थी। उसने मुनि के सामने श्वेताम्बर मुनिचर्या का वर्णन किया।

बहिन की प्रेरणा से बोध प्राप्त महाकीर्ति मुनि ने दिगम्बर मुनिचर्या का परित्याग कर श्वेताम्बराचार्य अजितसिंह के पास श्वेताम्बर मुनि दीक्षा स्वीकार की। श्वेताम्बर श्रमण बनने के बाद संप्रदाय परिवर्तन के साथ संभवतः उनका नाम परिवर्तित हुआ। वे मानतुङ्ग नाम से संबोधित होने लगे जो उनके गृहस्थ जीवन का नाम था।

गुरु के पास तपोविधि पूर्वक मुनि मानतुङ्ग ने आगम का अध्ययन किया। स्वल्प समय मे वे आगम विज्ञ मुनियों की गणना मे आने लगे। गुरु ने योग्य समझ कर उनकी नियुक्ति सूरि पद पर की[१]। गच्छ से विशेष सम्मान मानतुङ्गसूरि को प्राप्त हुआ। सरस्वती उन पर प्रसन्न थी। वे धनी ही नहीं कुशल काव्यकार भी थे।

उस समय वाराणसी में राजा हर्षदेव का राज्य था[२]। निष्कलङ्क चरित्र के धनी, विद्वद् शिरोमणी आचार्य हर्षदेव विद्वानो और कविजनो का विशेष आदर करते थे। वेद, वेदांग के पारगामी विद्वान् मयूर और बाण नामक कवियो को चामत्कारिक विद्याओ के कारण राजा हर्षदेव की सभा मे विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। पुरातन प्रबन्ध संग्रह एव प्रभावक चरित्र के अनुसार मयूर श्वसुर थे; बाण कवि दामाद थे। प्रबन्ध-चिन्तामणि के अनुसार कवि बाण और मयूर साला बहनोई थे।[३] किसी कारणवश बेटी या बहिन के द्वारा दिए गये अभिशाप से पिता[४] अथवा भ्राता[५] को कुष्ठरोग हो गया था। वस्त्र से शरीर को ढाक कर कवि बाण जब राजसभा मे उपस्थित हुए। बहनोई मयूर ने उसका उपहास किया। राजसभा मे हुए अपमान से कवि बाण दु:खी हुए। वे घर आए। सूर्योपासना मे बैठे। शार्दूलवृत्त मे श्लोक रचना कर बोलने लगे। पांचवें श्लोक की रचना पूर्ण करते समय उनका कुष्ठरोग शान्त हो गया। उसके बाद उन्होने सूर्य स्तुति मे शतक काव्य के रूप में पूर्व रचित पांच श्लोक सहित सौ पद्यो की रचना की। चण्डीशतक की रचना के द्वारा चण्डीदेवी को प्रसन्न करने से मयूर कवि के विच्छिन्न हाथ पैर यथोचित स्थान पर जुड गये।

राजा हर्षदेव का मंत्री जैन था। उसने राजा से नम्र निवेदन किया—'भूमिनाथ! यह धरा वसुन्धरा है। इसके महासाम्राज्य मे बहुमूल्य रत्नो के भंडार भरे हैं। जैनो का भी चामत्कारिक विद्याओ पर अतिशय आधिपत्य है। जैन विद्वान् महाप्रभाव सम्पन्न श्वेताम्बराचार्य मानतुङ्ग आपकी नगरी में

विराजमान हैं। आपकी कौतुकमयी जिज्ञासा को पूर्ण करने में वे समर्थ हैं। आप उनको सादर आमंत्रित करें[10]। राजा ने मंत्री को उन्हें सम्मानपूर्वक बुला लाने का निर्देश दिया। मंत्री ने आचार्य मानतुङ्ग के पास जाकर समग्र स्थिति से उन्हें अवगत किया और कहा—'कृपा कर आप अपने चरणों से राजप्रांगण को पवित्र करें और चामत्कारिक विद्या के प्रयोग का प्रदर्शन करें।' आचार्य मानतुङ्ग बोले—'समग्र सांसारिक कामनाओं से मुक्त मुनिजनों को इस प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है। मंत्री ने प्रार्थना की—'मैं जानता हूं आप निस्संग और निरासक्त हैं, पर भावना से जैन धर्म की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख है।' मंत्री की युक्ति संगत प्रार्थना को स्वीकार कर मानतुङ्ग राजसभा में पहुंचे और सबको धर्मलाभ देकर उचित स्थान पर बैठ गए। राजा हर्षदेव ने सम्मुखासीन आचार्य मानतुङ्ग से कहा—'सन्त-श्रेष्ठ ! इस पृथ्वी पर ब्राह्मण कितने प्रभावशाली हैं—

एकेन सूर्यमाराध्य स्वांगाद्रोगोवियोजितः।
अपरश्चंडिकासेवावशाल्लेभे करक्रमौ।।

एक ब्राह्मण पंडित ने सूर्य की आराधना कर अपने शरीर पर से कोढ़ जैसे महारोग को मिटा लिया। दूसरे पंडित के विच्छिन्न हाथ पैर चण्डिका देवी की उपासना करने से यथोचित स्थान पर जुड़ गए। ये अतिशय-प्रभावी ब्राह्मण विद्वान् आपके सामने हैं। अब आप भी अपनी मंत्र विद्या का प्रभाव प्रदर्शित करें।'

आचार्य मानतुङ्ग बोले—'भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति से निस्पृह मुनिजनों को लोक-रंजन से अर्थ ही क्या है? उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य मोक्षार्थ की सिद्धि है।'

आचार्य मानतुङ्ग की बात सुनकर राजा हर्षदेव गंभीर हो गए। उनके आदेश से राजसेवकों ने लोह शृंखला के ४४ निगड़ बन्ध से आपाद-मस्तक मानतुङ्ग को बांधकर घोर तिमिराच्छन्न अन्तर्गृह में बंद कर दिया।[11]

आचार्य मानतुङ्ग चामत्कारिक विद्याओं का प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। जैन धर्म की दृष्टि से विद्याओं का प्रदर्शन अविहित भी माना गया है। पर जैन शासन की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख बन गया था। आचार्य मानतुङ्ग जिन स्तुति में लीन हो गये। भक्ति रस से परिपूर्ण ४४ श्लोक रचे। प्रति श्लोक के साथ अयोमयी शृंखला की सघन कड़ियां और ताले टूटते गए[12]। सुधीर, गंभीर आचार्य मानतुङ्ग लोहशृंखला से मुक्त होकर राजसभा

मे उपस्थित हुए। उन्होने शान्त और सुमधुर स्वरो मे भूपाल को धर्मलाभ (आशीर्वचन) दिया। प्रभात के समय उदयगिरि शिखर पर उदीयमान सूर्य के तुल्य मानतुङ्ग तेजोदीप्त भाल दर्शकों को आकर्षित कर रहा था।

इस विस्मयकारक घटना को देखकर नरेश हर्षदेव अत्यन्त प्रभावित हुए और बोले—'मुने! आपका समता भाव, समपर्ण भाव अद्‌भुत है। मैं धन्य हूं, मेरा देश धन्य है और मेरा आज का दिवस धन्य है। आप जैसे त्यागी संत पुरुषो के दर्शन का शुभ लाभ मुझे प्राप्त हुआ है। आज से मैं आपके उपदेश को स्वीकार करता हूं। विष-तुल्य पदार्थ का परित्याग कर स्वादिष्ट द्रव्य को ग्रहण करता हूं। आप मेरा मार्गदर्शन करे और सद् शिक्षाओ के सुधापान से तृप्त करें।' आचार्य मानतुङ्ग के पावन उपदेश से नरेश हर्षदेव ने जैन शासन की उन्नति के लिए भी अनेक कार्य किये और स्वयं ने भी जैन धर्म स्वीकार किया[११]।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महाकवि आचार्य मानतुङ्ग श्वेताम्बर थे। एक दिगम्बराचार्य द्वारा व्याधि मुक्त होने पर उन्होने दिगम्बर मार्ग का अनुसरण किया और प्रश्न पूछा—'भगवन् किं क्रियताम्' मैं क्या करू? गुरु ने आज्ञा दी—'परमात्मनो गुणगणस्तोत्र विधीयताम्' परमात्म गुणो के स्तोत्र की रचना करो। आचार्य का आदेश प्राप्त कर मुनि मानतुङ्ग ने भक्तामर का निर्माण किया। यह उल्लेख दिगबर विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द रचित—'क्रियाकलाप' टीका के अन्तर्गत भक्तामर स्तोत्र टीका की उत्थानिका मे है। वह उत्थानिका इस प्रकार है—मानतुङ्ग नामा सिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवर्यै रपनीत महाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्रविधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादि।'

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आचार्य मानतुङ्ग ने पहले दिगम्बर और बाद मे श्वेताम्बर दीक्षा ग्रहण की। दिगंबर परम्परा के अनुसार वे पहले श्वेताम्बर बाद मे दिगबर बने। एक ही व्यक्ति के जीवन प्रसंग को लेकर दोनो परम्पराओ मे विसङ्गति और विपर्यय कैसे हुआ? इसके पीछे किसी न किसी प्रकार की मनोभावना की भूमिका अवश्य रही है। लगता है भक्तामर स्तोत्र से सबंधित इस चामत्कारिक घटना के कारण आचार्य मानतुङ्ग का व्यक्तित्व इतना युगप्रभावी हो गया था जिससे इस स्तोत्र रचना प्रसङ्ग के साथ दोनो सप्रदायो ने उन्हें अपना मानने का प्रयत्न किया है।

जिन शासन में मानतुङ्ग धर्म के महान् उद्द्योतक आचार्य हुए। उन्होने अपने शिष्यो को अनेक प्रकार से बोध देकर योग्य बनाया। गुणाकर नामक शिष्य को अपने पद पर स्थापित कर वे इंगिनी अनशन के साथ स्वर्ग को प्राप्त हुए।[१४]

साहित्य

आचार्य मानतुङ्ग की प्रतिभा प्रखर थी। काव्य रचना शक्ति उनकी विलक्षण थी। उन्होने विशाल काव्य नहीं लिखे, पर उनकी रचना का प्रत्येक श्लोक काव्य कोटि का होता था। श्लोक की प्रत्येक पंक्ति से भक्तिरस का निर्झर झलकता था। वर्तमान में मानतुङ्गाचार्य की दो रचनायें उपलब्ध हैं—१ भक्तामर और २ भयहर स्तोत्र। इन दोनों रचनाओं का परिचय इस प्रकार है।

भक्तामर स्तोत्र

सस्कृत भाषा का यह सुमधुर काव्य है। भक्तामर इस वाक्यावलि से प्रारम्भ होने के कारण स्तोत्र का नाम भक्तामर है। इस स्तोत्र की रचना 'वसन्ततिलका' छन्द मे हुई है। दिगबर परम्परा मे इस स्तोत्र की पद्य संख्या ४८ है। श्वेताम्बर परम्परा मे पद्य सख्या ४४ और ४८ दोनो मान्यताएं हैं। स्तोत्र मे पद्यो की सख्या ४४ मानने वाले प्रतिहार्य बोधक पद्यो मे से सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभि तथा छत्र इनसे सबधित ४ पद्यों को छोड़ देते हैं। रचना का मुख्य प्रतिपाद्य आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तवना है। भाव, भाषा, शैली तीनो दृष्टियो से रचना प्रभावक और गभीर है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि विविध अलंकार इसमे समाहित हैं। स्तोत्र की पद्य रचना का प्रत्येक चरण असाधारण भक्ति का मूर्त रूप है। आचार्य सिद्धसेन रचित 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' का प्रभाव इस पर स्पष्ट दिखाई देता है। कहीं-कहीं कल्पनाओ मे और शब्द संयोजनाओ मे अत्यन्त निकट का साम्य भी प्रतीत होता है।

कल्याणमन्दिर— बालोऽपि किं न निज बाहुयुगं वितत्य।
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥५॥

भक्तामर— बाल विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब।
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

कल्याण-मन्दिर—आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते,
नाम्माऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।।७।।
भक्तामर— आस्तां तव स्तवनमस्त-समस्त-दोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।।६।।

कल्याणमंदिर स्तोत्र के साथ पार्श्वनाथ के बिम्ब स्फोटन जैसे चामत्कारिक घटना संबद्ध है । भक्तामर स्तोत्र भी इसी प्रकार अतिशय चामत्कारिक है । इसके साथ भी कई चामत्कारिक आख्यान और कथाएं सम्बद्ध हैं । भक्तामर स्तोत्र का एक पद्य है—

आपाद-कण्ठमुरु-शृंखल-वेष्टितांगा, गाढं बृहन्निगडकोटि-निघृष्टजंघा: ।
त्वन्नाममन्त्रमनिश मनुजा: स्मरन्त:, सद्य: स्वय विगत-बंधभया भवन्ति ।।४२।।

इस पद्य मे आचार्य मानतुङ्ग के जीवन का चामत्कारिक प्रसङ्ग स्वयं सजीव होकर बोल रहा है ।

प्रस्तुत पद्य के आधार पर ही सम्भवत: आचार्य मानतुङ्ग के स्तुति-पाठ से लोह शृंखलाएं टूटने की कल्पना शोध विद्वानो के दिमाग मे उतरी होगी । इस स्तोत्र का एक और पद्य है—

उद्‌भूत-भीषण-जलोदर-भारभुग्ना:, शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशा: ।
त्वत्पाद-पंकज-रजोऽमृत-दिग्धदेहा, मर्त्या भवन्ति मकरध्वज-तुल्यरूपा: ।।४१।।

रुग्णावस्था मे इस पद्य का विधिवत् पुन: पुन: पाठ करने पर व्यक्ति को स्वास्थ्य वृद्धि में लाभ होता है, ऐसा माना गया है ।

आज भी यह स्तोत्र विद्यमान है[१] । पूरे जैन समाज पर इस विघ्न-विनाशक स्तोत्र का प्रभाव है । सहस्रो श्रमण-श्रमणिया, उपासक-उपासिकाएं इस स्तोत्र को कंठस्थ करते हैं, निरन्तर स्वाध्याय करते हैं । संकटकाल में श्रद्धा के साथ पुन: पुन: इसका पाठ करते हैं । भक्तिरस से ओत-प्रोत इस स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के किसी एक चरण का आधार लेकर विशेषत: प्रथम चरण का आधार लेकर कई कवियो ने समस्या पूर्त्यात्मक नये स्तोत्र तैयार किये । कवि विद्वानो ने टीकाएं रचीं । कइयो ने संस्कृत और हिन्दी मे पद्यानुवाद भी किये हैं । आचार्य मानतुङ्ग का यह एक ऐसा स्तोत्र है जिससे प्रथम तीर्थंकर के साथ सभी तीर्थंकरों की स्तुति का लाभ प्राप्त किया जा सकता है ।

भयहर स्तोत्र

यह स्तोत्र आचार्य मानतुङ्ग की प्राकृत रचना है । इस स्तोत्र के २१

पद्य हैं। स्तोत्र मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति है। स्तोत्र रचना के साथ एक विशेष घटना-प्रसंग जुड़ा हुआ है वह इस प्रकार है—

एक बार आचार्य मानतुङ्ग अस्वस्थ हो गये थे। शलाका पुरुषों को भी कर्मों का दारुण विपाक भोगना ही पड़ता है। रोगोपशान्ति न होते देख आचार्य मानतुङ्ग ने अनशन की सोची। धरणेन्द्र का स्मरण किया। धरणेन्द्र ने प्रकट होकर १८ अक्षरों का एक मंत्र उन्हें दिया। उन मंत्राक्षरों के आधार पर आचार्य मानतुङ्ग ने भयहर नामक स्तवन की रचना की। वह स्तवन आज भी विद्यमान है। उस मंत्र के प्रभाव से मानतुङ्गसूरि रोग मुक्त हो गए[११]।

भक्तामर स्तोत्र की तरह यह स्तोत्र भी चामत्कारिक और विपत्ति के समय में धैर्य प्रदान करने वाला माना गया है। सायं प्रातः शुभाशय से इस स्तोत्र का पाठ करने पर विविध प्रकार के उपसर्ग दूर होते हैं[१२]।

भक्तामर स्तोत्र हो या भयहर स्तोत्र किसी भी अध्यात्म विषयक स्तोत्र या ग्रन्थ का भौतिक उपलब्धि के लिए नहीं, अध्यात्म-शुद्धि के लक्ष्य से करना ही सर्वोत्तम होता है।

आचार्य मानतुङ्ग ने भौतिक कामना की सिद्धि के लिए स्तुति काव्यों की रचना नही की, पर वह उनकी अगाध आस्था का परिणाम था। वे जब परमात्म भक्ति मे लीन होकर श्लोक रचना करने लगे, उनकी अयोमयी शृंखलाओं के बन्धन टूट गए। वे बाह्य बन्धन से मुक्त हुए। साथ ही जन्म-जन्मान्तर की पाशबद्धता को भी शिथिल और जर्जरित करने मे भी आचार्य मानतुङ्ग सफल हुए।

समय संकेत

प्रभावक चरित्र मे आचार्य मानतुङ्ग को काशी नरेश हर्षदेव के सम-कालीन माना गया है। ब्रह्मचारी पायमल्लकृत भक्तामर वृत्ति, भट्टारक विष्णु भूषण कृत 'भक्तामर चरित' कथा आदि ग्रन्थो मे उन्हें भोज के समकालीन माना है। इन दोनो ग्रन्थो के अनुसार आचार्य मानतुङ्गसूरि ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से लोहमयी ४८ जंजीरो को तोडकर नरेश भोज को प्रभावित किया और उसे जैन धर्म का अनुयायी बनाया था।

उपर्युक्त दोनो ग्रन्थो में कालिदास, भारवि, माघ, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, धनञ्जय, वररुचि आदि विद्वानो का उल्लेख भी हुआ है। ऐतिहासिक संदर्भ में इन सब विद्वानों का एक साथ योग कालक्रम की दृष्टि से ठीक प्रतीत नहीं

होता । न इसके जीवन का कोई भी प्रसङ्ग आचार्य मानतुङ्ग के जीवन के साथ सम्बद्ध है अतः आचार्य मानतुङ्ग को भोज के समकालीन प्रमाणित नहीं किया जा सकता ।

डा० ए० बी० कोथ के अभिमत मे आचार्य मानतुङ्ग की कोठरियों के ताले या पाशबद्धता संसार बन्धन का रूपक है । इस प्रकार के रूपको का निर्माण समय छठी-सातवी शताब्दी है । इस आधार पर स्वर्गीय डॉक्टर नेमिचन्द्र शास्त्री ने भक्तामर स्तोत्र के रचनाकार का विक्रम की छट्ठी सदी का उत्तरार्द्ध या सातवी सदी का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया है[१८] ।

आचार्य मानतुङ्ग के चामत्कारिक घटना-प्रसग का सम्बन्ध किसी न किसी रूप मे कवि मयूर और बाण से अवश्य जुड़ा है । ये दोनो विद्वान् हर्ष की सभा मे सम्मान प्राप्त थे । इससे आचार्य मानतुङ्ग की समसामयिकता भी नरेश हर्षवर्द्धन के साथ प्रमाणित होती है । हर्ष का राज्याभिषेक समय ईस्वी सन् ६०८ बताया गया है ।

हर्ष के समकालीन मानतुङ्गाचार्य होने के कारण उनका समय वी० नि० की १२वी (वि० ७वी) शताब्दी सभव है ।

आधार-स्थल

१ अन्यदाऽजितसिंहाख्या सूरय पुरमाययु ॥३३॥

(प्रभावक चरित ११३)

२ तन्मयता पितरौ पृष्टाचार्यस्तस्य व्रत ददौ ।
चारुकीर्तिमहाकीर्तिरित्यस्याख्या ददौ च स ॥१२॥

(प्रभावक चरित पत्राङ्क ११२)

३ ब्रह्मक्षत्रियजातीयो धनदेवाभिध. सुधी ।
श्रेष्ठी तत्राभवद् विश्वप्रजाभूपार्थसाधक. ॥६॥

(प्रभावक चरित पत्राङ्क ११२)

४. अस्य स्वसृपतिर्लक्ष्मीधरो लक्ष्मीवरस्थिति ॥१७॥

(प्रभावक चरित पत्राङ्क ११२)

५. योग्य· सन् गुरुभि सूरिपदे गच्छादृत कृत ॥३८॥

(प्रभावक चरित पत्राङ्क ११३)

६ तत्र श्री हर्षदेवाख्यो राजा न तु कलङ्काभृत् ॥५॥

(प्रभावक चरित पत्राङ्क ११२)

७. (क) तदनुरूपबाणनामानं कविमुद्वाहिता ।

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृ० १५)

(ख) कोविदानां शिरोरत्नं मयूर इति विश्रुतः ।

.........दुहिता सुहिता......................।।४२,४३।।

(प्रभा० चा० पृ० ११३)

(ग) अथ मयूरबाणाभिधानौ भावुकशालकौ पण्डितौ ।

(प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० ४४)

८. शशाप कोपाटोपेन पितरं प्रकटारक्षम् । कुष्ठीभव.........।।६६।।

(प्रभा० च० पृ० ११४)

९ इति भ्रातृमुखात्तुर्यं पदमाकर्ण्य क्रुद्धा सा सप्रपाच कुष्ठीभवेति तं भ्रातर शशाप ।

(प्रबन्ध चिन्तामणि पत्राङ्क ४४ पक्ति ६)

१०. मन्त्रिणोक्तम्—जिनशासनेऽपि महाप्रभावोऽस्ति । यदि कौतुकं ततः श्री मानतुङ्गाख्यं सूरिमाकार्य विलोकय ।

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह पृ० १६)

११. ततो राज्ञा तमसि आपादमस्तक चतुश्चत्वारिंशल्लोहश्रृङ्खलाभि-र्नियन्त्र्यापवरके क्षिप्त्वा तालक दत्वा मोचिता ।

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह पृ० १६)

१२ ततो भक्तामरस्तव. कृत । एकैकवृत्तपाठे एकैक निगडभगे निगड सख्यया-वृत्तभणनम् । सूरयो मुत्कला जाता । तालकं भग्नम् ।

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह पृ० १६)

१३. राज्ञाऽनेक स्तुति कृत्वा सविनय नत्वा कृत्यादेशेन प्रसीदत । सूरि-णोक्तम्—अस्माक कापीच्छा नहि । परं तव हिताय ब्रूमः जिनधर्म प्रपद्यस्व । राजाङ्गीचकार ।

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह पृ० १६)

१४. इत्थं प्रभावना कृत्वाऽन्तसमयं प्राप्य श्रीगुणाकरसूरिं न्यस्य पदेऽनशन मरणेन सूरयो दिवं ययुः

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ० १६)

१५. सर्वोपद्रवनिर्नाशी भक्तामरमहास्तवः ।
तदा तैर्विहितः ख्यातो वर्ततेद्यापि भूतले ।।१५७।।

(प्रभावक चरित पृ० ११७)

१६. सूरयः सर्वोपद्रवहरं तन्मन्त्रगर्भितं भयहरस्तवं कृत्वा पुनर्नवतां प्राप्ताः ।

(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह पृ० १६)

१७. सायं प्रातः पठेदेतत् स्तवनं यः शुभाशयः ।
उपसर्गा व्रजन्त्यस्य विविधा अपि दूरतः ॥१६४॥

(प्रभा० च० पृ० ११७)

१८. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० २७३

६०. कोविद-कुलालंकार आचार्य भट्ट अकलंक

भट्ट अकलङ्क दिगम्बर परम्परा के कुशल वाग्मी, श्रेष्ठ कवि, शास्त्रार्थ प्रवीण, गम्भीर दार्शनिक विद्वान् थे। जैन न्याय के वे प्राण प्रतिष्ठापक थे। शास्त्रविज्ञ आचार्यों मे भी आचार्य भट्ट अकलङ्क अग्रणी थे। श्रवणबेलगोला के संख्यक १०८ के अभिलेख में भट्ट अकलङ्क के लिए लिखा है :—

ततः परं शास्त्रविदांमुनीना मग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः ।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचो मयूखैः[1] ॥१८॥

प्रस्तुत अभिलेख मे भट्ट अकलङ्क के वचनो को मिथ्यात्व रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य रश्मियो के समान प्रकाशक माना है।

भट्ट अकलङ्क महान् तार्किक थे एव परमत निरसन मे वे पञ्चानन के तुल्य निर्भीक थे। आचार्य प्रभाचंद्र लिखते है—

इत्थं समस्त मतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः ।
स्याद्वाद-केसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो जयत्यकलङ्कदेवः ॥

(न्याय कुमुदचद्र)

गुरु-परम्परा

भट्ट अकलङ्क के दीक्षा गुरु कौन थे। उन्होने किस गुरु-परम्परा में दीक्षा ली, इस सम्बन्ध का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। राजवलिकथे मे उनको सुधापुर के देशीय गण के आचार्य पद पर सुशोभित माना है। इस आधार पर भट्ट अकलङ्क की गुरु-परवरा देशीय गण से सम्बन्धित प्रतीत होती है। नेमिदत्त के आराधना कथाकोष मे प्राप्त उल्लेखानुसार भट्ट अकलङ्क के पिता पुरुषोत्तम कुटुम्ब सहित रविगुप्त मुनि के पास गये थे।[1] इससे प्रतीत होता है गृहस्थ जीवन मे भट्ट अकलङ्क का और उनके परिवार का सम्बन्ध गुरु रविगुप्त से था, पर ये रविगुप्त स्वय किस परम्परा से जुड़े हुए थे इसकी कोई सूचना नहीं है।

जन्म एवं परिवार

भट्ट अकलङ्क का जन्म 'राजवलिकथे' नामक ग्रन्थ में प्राप्त उल्लेखा-

नुसार कांची निवासी ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उनके पिता का नाम जिनदास था। माता का नाम जिनमति था। प्रभाचंद्र के कथाकोष एव नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष के अनुसार भट्ट अकलङ्क के पिता का नाम पुरुषोत्तम एवं माता का नाम पद्मावती था। पुरुषोत्तम मान्यखेट नरेश शुभतुङ्ग के राज्य में मत्री पद पर थे। भट्ट अकलङ्क के लघुभ्राता का नाम निष्कलङ्क था।[1] तत्त्वार्थ वार्तिक के प्रथम अध्याय की प्रशस्ति के अनुसार भट्ट अकलङ्क सभवत: लघुहव्व नरेश के श्रेष्ठ पुत्र थे।[2] लघुहव्व जैसे नाम का प्रयोग अकलङ्क के दक्षिण के होने की सूचना देता है।

जीवन-वृत्त

अकलङ्क और निष्कलङ्क युगल भ्राता असाधारण बुद्धि के स्वामी थे। अकलङ्क एक सधि और निष्कलङ्क द्विसन्धि (सस्थ) थे।[3] किसी भी पद्य अथवा सूत्र पाठ को अकलङ्क एक बार सुनकर और निष्कलङ्क दो बार सुनकर याद रख लेने मे समर्थ थे। एक बार दोनो भ्राता माता-पिता के साथ जैन गुरु रविगुप्त के पास अष्टाह्निक पर्व के अवसर पर गए। उनके उपदेश से प्रभावित होकर माता-पिता एव बन्धु-युगल ने ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया।[4] दोनों के वयस्क होने पर उनके माता-पिता ने उनको वैवाहिक सूत्र मे बाधना चाहा पर वे दोनो बालवय मे ग्रहण की हुई ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा मे दृढ थे। उन्होने शादी का प्रस्ताव नामजूर कर दिया। माता-पिता ने समझाया—पुत्रो ! वह व्रत तुम्हारे आठ दिन के लिए ही था। अत उस प्रतिज्ञा से अब तुम मुक्त हो। इस समय विवाह करने से उस समय की गृहीत प्रतिज्ञा मे किसी भी प्रकार के दोष की संभावना नही है। पिता की बातो को दोनो पुत्रो ने सुना पर उनके विचारो मे परिवर्तन नहीं हुआ। वे विनम्र होकर बाले—पूज्य पितृवर्य ! व्रत ग्रहण किया उस समय काल की कोई चर्चा नहीं थी[5] अत. हम जीवन भर के लिए इस व्रत को निभायेगे। माता-पिता का प्रयत्न असफल रहा। वे दोनो मे से एक पुत्र को भी वैवाहिक सूत्र मे न बाध सके।

अकलङ्क और निष्कलङ्क की अध्ययन के प्रति गहरी रुचि थी। दोनो भाइयो ने काचीपुरी मे बौद्ध धर्म के सरक्षक पल्लव राजा के राज्य मे बौद्ध विद्यालय मे न्याय दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया। नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष के अनुसार दोनो तर्कशास्त्र का

अध्ययन करने के लिए महोबोधि विद्यालय मे प्रविष्ट हुए[6] और एक-निष्ठा से अध्ययन करने लगे। 'राजवलिकथे' के अनुसार अकलङ्क और निष्कलङ्क युगल बन्धुओ ने भगवद्दास नामक बौद्ध गुरु से अध्ययन प्रारभ किया था। भगवद्दास गुरु के मठ मे पांच सौ शिष्य पढते थे। उस समय सम्भवत. अपने आस-पास जैनो का विद्यापीठ न होने के कारण एवं जैनो और बौद्धो की प्रतिद्वन्द्विता के कारण अकलङ्क और निष्कलङ्क को वहा बौद्ध विद्यालय मे प्रविष्ट होना पडा तथा गुप्त वेश मे रहना पडा। युगल बन्धुओ की असाधारण बौद्धिक क्षमता को देखकर अथवा "ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग·"—यह जैन वाक्य इन छात्रो द्वारा किसी पत्र पर लिखा हुआ पढ़कर गुरु भगवद्दास को उन पर जैन होने का संदेह हुआ। एक बार रात्रि के समय विभीषिका उत्पन्न करने के लिए दोनो बन्धुओ के सीने पर बुद्ध के दात शिक्षक भगवद्दास ने रख दिये। दोनो बन्धुओ ने अपने सामने सहसा कोई उपसर्ग उत्पन्न हुआ जानकर उच्च ध्वनिपूर्वक जिन बुद्ध का स्मरण किया। जिनेश्वर का नाम सुनते ही उनके जैन होने का रहस्य खुल गया।

आराधना कथाकोष के अनुसार बौद्ध छात्रो को पूर्व पक्ष के रूप मे अनेकात के अन्तर्गत सप्तभङ्गी सिद्धात समझाया जा रहा था। पाठ अशुद्धि के कारण अर्थ-बोध सम्यक् प्रकार से बुद्धिगम्य नहीं हो सका।[9] अत. उस दिन का अध्ययन स्थगित कर दिया गया। रात्रि के समय इन बन्धुओ ने वह पाठ शुद्ध कर दिया।[10] दूसरे दिन अध्ययनकाल मे शुद्ध पाठ को देखते ही धर्म गुरुओ को बौद्ध छात्रो मे किसी जैन होने का सदेह हुआ।[11] खोज प्रारम्भ हुई। एक दिन बौद्ध शिक्षको ने सब छात्रो को जैन मूर्ति को लांघने का आदेश दिया। अकलङ्क और निष्कलङ्क के सामने समस्या पैदा हुई। उन्होने चतुराई से काम लिया। मूर्ति पर स्फूर्ति से रेखा खीचकर या धागा बाधकर युगल बन्धु आगे बढ़ गये। इस परीक्षा मे वे किसी की पकड मे न आए। बौद्ध गुरुओ ने खोज का दूसरा प्रकार ढूढा। रात्रि मे एक बार कांस्य बर्तनो का भरा थैला ऊपर से नीचे गिराया। भीषण आवाज को सुनते ही अचानक छात्र जाग गए। अपने-अपने इष्ट देवो का स्मरण करने लगे। इन दोनो भाइयो ने विघ्नहारक नमस्कार महामंत्र का उच्चारण किया।[12] इस महामत्र को सुनते ही बौद्धो ने उन्हे घेर लिया और मठ की ऊपरी मंजिल पर कारागृह मे बन्द कर दिया। छतरी के सहारे किसी प्रकार से दोनो वहां से पलायन करने मे सफल हो गये। अश्वारोही व्यक्तियो ने बौद्ध गुरुओ के आदेश से उनका पीछा

किया। अपने पीछे दौड़ते हुए घुड़सवारो को देखकर निष्कलङ्क ने अकलङ्क से कहा—"बन्धुवर्य ! मेरे से आपकी बुद्धि अधिक प्रखर है। अतः मैं भागता हूं किसी प्रकार से आप अपने प्राण बचाएं। अकलङ्क ने तालाब मे घुसकर एवं कमल पत्रो से अपने को आच्छादित कर प्राणो की रक्षा की। उस समय तालाब के किनारे धोबी कपड़ो की धुलाई कर रहा था। निष्कलङ्क को भागते देखकर वह धोबी भी उसके साथ घुड़सवारों के डर से भागने लगा। घुड़सवारो ने निष्कलङ्क के साथ धोबी को ही अकलङ्क समझकर इन दोनों को मार दिया। घुड़सवारो के लौट जाने के बाद तालाब से निकलकर विद्वान् अकलङ्क निर्भय धरा पर परिभ्रमण करने लगे।

आचार्य अकलङ्क और निष्कलङ्क के जीवन का यह प्रसंग आचार्य हरिभद्र के शिष्य हंस, परमहंस के घटना चक्र से मिलता-जुलता है।

जैन मुनि बनकर विद्वान् भट्ट अकलङ्क ने सुधापुर के देशीय गण का आचार्य पद सुशोभित किया था। अपने प्रभावी व्यक्तित्व के कारण आचार्यों की शृंखला मे उन्होने उच्चतम स्थान प्राप्त किया।

आचार्य अकलङ्क वादकुशल आचार्य भी थे। वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। एक ओर नालन्दा विश्वविद्यालय के बौद्धाचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति थे, जिन्होंने तर्कशास्त्र के पिता दिङ्नाग के दर्शन को बुद्धि बल पर चमका दिया था। दूसरी ओर उद्योतकर, भट्टजयन्त, वाचस्पति मिश्र, कुमारिल, प्रभाकर, शकराचार्य, मण्डन मिश्र आदि की चर्चा-परिचर्चाओ से धर्म प्रधान भारतभूमि का वातावरण आन्दोलित था। आचार्य अकलङ्क भी इनसे पीछे नही रहे। उन्होने अनेक विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ किए। मुख्यतः अकलङ्क बौद्धो के प्रतिद्वन्द्वी थे।

धर्मकीर्ति की सबल तर्कों का निरसन करने के लिए वैदिक विद्वानो ने भी यथाशक्य प्रयत्न किया था पर शास्त्रार्थो मे बौद्धो के सबल प्रतिद्वन्द्वी भट्ट अकलङ्क थे।

नेमिदत्त के आराधना कथाकोष के अनुसार कलिङ्ग देश के रत्न सचयपुर मे भट्ट अकलङ्क का बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ नरेश हिमशीतल की सभा मे हुआ था। इस शास्त्रार्थ का पूर्व घटना-प्रसग इस प्रकार है—नरेश हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी जैन धर्म मे आस्था रखती थी। वह अष्टाह्निक पर्व के अवसर पर एक दिन बड़ी धूमधाम के साथ जैन रथयात्रा निकालना चाहती थी।[१] उस समय वहा पर बौद्ध गुरुओ का अधिक प्रभाव

था । उन्होने नरेश हिमशीतल को एक शर्त के साथ अपने विचारों से सहमत कर लिया कि किसी जैन गुरु के द्वारा बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करने पर ही यह रथयात्रा निकल सकती है । रानी राजा के इन विचारो से चिन्तित हुई । संयोग से यह बात भट्ट अकलङ्क के पास पहुंची । वे शास्त्रार्थ करने के लिए यहां आए । नरेश हिमशीतल की सभा में उनका बौद्धो के साथ छह महीनो तक शास्त्रार्थ चला ।[१४] जैन शासन की उपासिका चक्रेश्वरी देवी ने एक दिन भट्ट अकलङ्क से कहा—पर्दे के पीछे कोई बौद्ध गुरु नहीं अपितु घट मे स्थापित तारादेवी शास्त्रार्थ कर रही है ।[१५] अतः उसके द्वारा कहे गए वाक्यो को पुन. पूछने पर तारादेवी की पराजय और तुम्हारी विजय है । दूसरे दिन भट्ट अकलङ्क ने वैसा ही किया । तारादेवी अपने द्वारा कहे गए वाक्यो को अकलङ्क द्वारा पुनः पूछने पर न दोहरा सकी । अकलङ्क ने तत्काल पर्दे को खीचकर घड़े को ठोकर से तोड़ डाला ।[१६] घट का स्फोट होते ही सारा रहस्य उद्घाटित हो गया । बौद्धो की भारी पराजय और अकलङ्क की विजय हुई । जैन रथयात्रा धूमधाम से सम्पन्न हुई एव जैन शासन की महती प्रभावना हुई ।

राजवलिकथे के अनुसार अनेक सघो के विद्वान् बौद्धो से शास्त्रार्थ मे पराभव को प्राप्त कर खिन्न थे । शेष संप्रदाय के व्यक्तियो से यह सूचना आचार्य अकलङ्क को मिली । अकलङ्क ने अपने को शैव बताकर बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ किया । इस शास्त्रार्थ मे भी अकलङ्क को विजय प्राप्त हुई । बाद में उन्होने अपने को जैन घोषित कर दिया । बौद्ध इस घटना-प्रसंग से उत्तेजित हुए । उन्होने जैनियो को सदा-सदा के लिए निष्कासित कर देने हेतु नरेश हिमशीतल को उकसाया । नरेश के आमंत्रण पर भट्ट अकलङ्क ने बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ किया । पराजित दल द्वारा प्राण परित्याग कर देने जैसी हिंसात्मक योजना (शर्त) के साथ यह शास्त्रार्थ १७ दिन तक होता रहा । कुष्माण्डिनी देवी की सहायता से आखिर अकलङ्क की विजय हुई । पूर्व शर्त के अनुसार प्राणाहुति देने का निर्देश नरेश द्वारा अकलङ्क के कहने पर स्थगित कर दिया गया ।

इस महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ का उल्लेख शक सं० १०५० में उत्कीर्ण श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति मे हुआ है, वह इस प्रकार है—

चूर्णिः । यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते—
राजन्साहसतुङ्ग! सन्ति बहवः श्वेतातपत्राः नृपा
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभा. ।

तद्वत् सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ।।
राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध—
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिल मदोत्पाटने पण्डितानाम् ।
नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तु यस्यास्ति शक्ति: स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ।।
नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धया मया ।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धोघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः ।।

राजन् साहसतुङ्ग ! श्वेत आतपत्र के धारक नृप अनेक हैं पर आपके तुल्य समर विजयी और त्याग परायण (दानी) राजा दुर्लभ है। इसी प्रकार पण्डित बहुत हैं, पर मेरे समान नाना प्रकार के शास्त्रो मे दक्ष कवि, वाद कुशल एव वाग्मी इस काल मे नही है ।

राजन् ! रिपुओ के दर्प दलन मे जैसे आपकी पटुता प्रसिद्ध है वैसे ही अखिल धरा पर पण्डितो के मद को चूर्ण कर देने मे प्रख्यात हूं। आपकी सभा मे अनेक विद्वान् हैं उनमे से कोई भी शक्ति-सम्पन्न और शास्त्र का पार-गामी विद्वान् मेरे साथ शास्त्रार्थ करे ।

राजा हिमशीतल की सभा मे तारादेवी के घट का स्फोटन कर विद्वान् बौद्धो पर विजय पायी। यह सब कुछ मैंने अहकार या द्वेष की भावना से नही किया, किन्तु नैरात्म्य के प्रचार से लोगो का अहित देख करुणा बुद्धि से प्रेरित होकर मैंने ऐसा किया है ।

इस मल्लिषेण प्रशस्ति मे राजा हिमशीतल की राजसभा मे अकलङ्क की शास्त्रार्थ विजय और तारादेवी के घट स्फोटन सम्बन्धी प्रकरण एवं राजा साहसतुङ्ग की सभा मे अकलङ्क के द्वारा की आत्मश्लाघा का प्रसग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

आचार्य समन्तभद्र ने भी प्रतिपक्ष को ललकारते हुए ऐसा ही कहा था—

"राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी ।"

घट मे स्थापित तारादेवी के कारण दुर्जेय बने बौद्धो को पराजित करने मे अकलङ्क को भी जैन शासन की उपासिका चक्रेश्वरी देवी की सहा-यता मिली थी ।

विशेष समालोच्य बिन्दु

अकलङ्क का सम्बन्ध काञ्ची से अनुमानित होता है। मान्यखेट नगरी की राजधानी के रूप मे प्रतिष्ठा अमोघवर्ष के शासन काल मे हुई थी। इससे पहले के इतिहास मे मान्यखेट नगरी का कोई उल्लेख नही मिलता। अमोघवर्ष का समय आचार्य अकलंक से उत्तरवर्ती है। आचार्य जिनसेन के समय मे नरेश अमोघवर्ष विद्यमान थे।

आचार्य अकलंक के माता पिता से सम्बन्धित उल्लेख भी विवादास्पद है। आधुनिक शोध विद्वानों के अभिमतानुसार भट्ट अकलंङ्क न पुरुषोत्तम के पुत्र थे न जिनदास ब्राह्मण के पुत्र थे। तत्त्वार्थ वार्तिक मे अकलङ्क के पिता का नाम लघुहव्व बताया है। लघुहव्व जैसे नाम दक्षिण भारत मे प्रयुक्त होते रहे है। अतः दक्षिण भारत के विद्वान् अकलङ्क के पिता का नाम लघुहव्व यथार्थ के निकट है।

न्याय कुमुदचन्द्र की प्रस्तावना मे निष्कलङ्क को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नही माना हैं। शिलालेखों मे अकलङ्क के साथ निष्कलङ्क का कहीं उल्लेख नही है और न भट्ट अकलङ्क ने भी अपने लिए प्राण त्यागने वाले भ्राता निष्कलङ्क की कही चर्चा की है। अत. निष्कलङ्क की ऐतिहासिकता अकलङ्क की भाति स्पष्ट और निर्भ्रांत नही है।

साहित्य

आचार्य अकलङ्क का अगाध वैदुष्य उनके ग्रन्थो मे प्रगट होता है। उनकी ग्रन्थ रचना सूत्रात्मक शैली में निबद्ध है, सक्षिप्त है, गहन है और अर्थ बहुल है। उनके अपने ग्रन्थो पर लिखे गए भाष्य भी दुरुह है और जटिल है। आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थो को समझाने का काम अनन्तवीर्य और विद्यानन्द ने किया है। आचार्य अकलङ्क ने दो प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण किया है—भाष्य ग्रन्थ और स्वतन्त्र ग्रन्थ। उनके ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक सभाष्य

तत्त्वार्थ सूत्र पर कई टीकाओ की रचना हुई है। उनमें यह टीका अधिक महत्त्वपूर्ण अनुभूत होती है। सर्वार्थसिद्धि टीका को समझने के लिए यह टीका विशेष सहायक है। तत्त्वार्थ सूत्र के दो पाठ प्रचलित हैं…दिगम्बर सम्मत तत्त्वार्थ पाठ के आधार पर इस ग्रन्थ को रचा गया है। यह ग्रन्थ

वार्तिक प्रधान होने के कारण इसका तत्त्वार्थ वार्तिक नाम सार्थक है। राज-वार्तिक नाम से भी इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि है।

इस टीका में जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन हुआ है। यह एक ऐसा आकर ग्रन्थ है जिसमे सैद्धान्तिक, भौगोलिक, दार्शनिक सभी विषयो की चर्चा है। इस टीका का वार्तिक सूत्रात्मक एव संक्षिप्त है। भाष्य की भाषा सरल है। तत्त्वार्थ सूत्र का यह महाभाष्य है जिसे तत्त्वार्थ भाष्य के नाम से जाना जाता है।

इस टीका के वार्तिक भाग मे विशिष्ट पंक्तियो को मूल वार्तिक के रूप में समाविष्ट किया गया है। पर अकलंक की प्रतिपादन कुशलता के कारण पूज्यपाद की तत्त्वाथ वृत्ति का भाग इस तत्त्वार्थ वार्तिक का आवश्यक अंग-सा प्रतीत होता है। इस टीका मे षट्खण्डागम के सूत्र और महाबन्ध के सूत्र भी उद्धृत किए गए हैं। पाठक के लिए बहुविध सामग्री प्रदान कराने वाली अपने विषय की यह उत्तम टीका है। मूल ग्रथ के आधार पर इसके दस अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में कहीं अकलङ्क देव का नाम नहीं है। लेकिन इस ग्रंथ की प्रौढ़ शैली के कारण और सिद्धि विनिश्चय टीका के उल्लेख के आधार पर यह रचना निम्संदेह अकलङ्क की है। यह टीका अत्यन्त गहन है। आचार्य अकलङ्क का बहुश्रुतत्व इस ग्रंथ को पढ़ने से ज्ञात होता है। श्वेताम्बर सम्मत सूत्र पाठ का इस ग्रथ मे स्थान-स्थान पर निराकरण है।

अष्टशती टीका

यह आचार्य समन्तभद्र रचित आप्त मीमांसा का व्याख्या ग्रन्थ है। इसके ८०० श्लोक हैं। अतः इसे अष्टशती कहा गया है। यह संक्षिप्त, अर्थ-बहुल और गभीर टीका है। इस टीका के अध्ययन से आचार्य अकलंक की सूक्ष्म प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। इस पर विद्यानद की अष्टसहस्री टीका भी है। अष्टसहस्री के अभाव मे अष्टशती को समझना कठिन है। मूल ग्रन्थ मे अष्टशती नाम का उल्लेख नहीं है। अष्टसहस्री ग्रन्थ मे अष्टशती नाम पाया जाता है। नगर तालुक के ४६ वें शिलालेख मे इस ग्रन्थ का संकेत है। इस ग्रन्थ में अनेकान्तवाद एव सप्तभङ्गी की भी चर्चा है। ग्रन्थ की भाषा जटिल होते हुए भी मनोमुग्धकारी है। अनेकान्त के सजीव दर्शन इस टीका मे होते हैं।

लघीयस्त्रय स्वोपज्ञ वृत्ति सहित

आचार्य अकलङ्क की यह न्याय विषयक कृति है। इस ग्रन्थ के तीन

प्रवेश प्रकरण हैं। छह परिच्छेद हैं। कारिकाओ की संख्या ७८ हैं। प्रथम प्रमाण प्रकरण के चार परिच्छेद हैं। (१) प्रत्यक्ष (२) विषय (३) परोक्ष (४) आगम।

प्रथम परिच्छेद में प्रत्यक्ष, प्रमाण के लक्षणों की चर्चा, द्वितीय परिच्छेद में प्रमेय का वर्णन, तृतीय परिच्छेद मे परोक्ष प्रमाण का वर्णन, चतुर्थ परिच्छेद मे आगम प्रमाण का विवेचन है।

प्रमाण प्रवेश के इन चार परिच्छेदों के साथ नय प्रवेश और प्रवचन प्रवेश इन दोनों प्रकरणों को मिला लेने पर परिच्छेदो की संख्या छह हो जाती है। नय प्रवेश मे निगमादि नयो का एवं प्रवचन प्रवेश में प्रमाण नय की चर्चा है, एवं सकला देश तथा विकला देश का सयौक्तिक वर्णन है।

यह ग्रन्थ अकलंक की पहली दार्शनिक कृति है। मूल कारिकाओं के साथ इनका स्वोपज्ञ विवरण भी है। विवरण में कारिकाओं का व्याख्यान नहीं है पर ग्रन्थकार के प्रतिपाद्य का कुछ अंश कारिकाओं में है अवशिष्ट अंश विवरण मे प्रस्तुत हुआ है। विवरण गद्यात्मक हैं। कारिकान्तर्गत विषय का पूरक होने के कारण इस विवरण को निवृत्ति (विशेष व्याख्या) कहा है। आचार्य अकलङ्क ने समुचित प्रमाण व्यवस्था इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की है। यह ग्रन्थकार की स्वतन्त्र रचना है।

न्यायविनिश्चय

यह न्याय विषयक ग्रन्थ है। इसके तीन परिच्छेद है—प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रवचन। इन तीनो प्रकरणो में ४८१ कारिकाए है। प्रथम प्रकरण मे जैन दर्शन सम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का विवेचन है। बौद्ध दर्शन सम्मत इंद्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के निराकरण के साथ ही सांख्य और नैयायिक दर्शन सम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का निरसन भी है। प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप को समझने के लिए यह प्रथम परिच्छेद विशेष पठनीय है।

अनुमान परिच्छेद मे भी प्रत्यक्ष परिचय की भान्ति अपने-अपने विषय की सांगोपांग चर्चा है। यह ग्रन्थ कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। इसमे अकलक देव की सूक्ष्म प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। यह ग्रन्थ यथार्थ मे ही दुर्बोध है और गम्भीर है। इसकी शैली सूत्रात्मक है। इस पर सम्भवत: अकलंक देव ने टीका रचना भी की होगी पर वर्तमान मे उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ पर आ० वादिराज की एक विस्तृत टीका है। जो न्याय विषयक प्रचुर सामग्री

से सम्पन्न होने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धि विनिश्चय

न्याय विनिश्चय की भान्ति सिद्धि विनिश्चय ग्रन्थ मे न्याय विषयक उत्तम कृति है। इस ग्रन्थ के १२ प्रस्ताव हैं। आचार्य अकलंक देव की यह अत्यन्त गूढ़ और दुर्बोध कृति है। मूलत· यह ग्रन्थ स्वतंत्र रूप से उपलब्ध नहीं है। कच्छ देश के कोठायग्राम के श्वेताम्बर भडार से सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ की विस्तृत टीका उपलब्ध हुई है। उसके आधार पर इस ग्रन्थ की विषय सामग्री को समझा गया है।

इस कृति का विनिश्चयात्मक नाम धर्मकीर्ति के प्रमाण विनिश्चय का स्मरण कराता है। वस्तु तत्त्व का निरूपण इसमे अनेकान्त पद्धति के आधार पर हुआ है। स्वमत की स्थापना और दर्शनान्तरीय पक्ष का अकाट्य युक्तियो द्वारा खण्डन विशेष ज्ञानवर्द्धक है। इस ग्रन्थ पर अनतवीर्य की विस्तृत व्याख्या भी है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री मे इसका मूल भाग अन्तर्गभित है। गूढ प्रतिपादन शैली के आधार पर यह टीका अकलङ्क की प्रमाणित होती है। टीकान्तर्गत एक श्लोक है जिसके आधार पर भी यह ग्रन्थ अकलङ्कदेव का माना है।

प्रमाण संग्रह

इस ग्रन्थ के ९ प्रस्ताव है। प्रमाण सम्बन्धी सामग्री का संग्रह ग्रन्थ होने के कारण प्रमाण सग्रह नाम उपयुक्त भी है। ग्रन्थ मूलत: गद्यात्मक है। कही-कही पद्य रचना भी है। ग्रन्थ की शैली सूत्रात्मक एव दुरूह है। ग्रन्थ का विषय भी अत्यन्त गहन है। लघीयस्त्रयी और न्याय विनिश्चय से भी यह ग्रन्थ अधिक गम्भीर प्रतीत होता है। अत: इसकी रचना इन दोनो ग्रन्थो से बाद की सभव है। कई प्रस्तावो मे न्याय विनिश्चय की कारिकाएं भी उपलब्ध है। कई विद्वान् इसको अकलक देव की मानने मे सशयास्पद है पर विषय की गहनता और सूत्रात्मक शैली नि:सदेह रूप से इस कृति को अकलक की प्रमाणित करते है। प्रमेय बहुल इस कृति की ८७½ कारिकाए है। ग्रन्थ मे एकान्तवाद के विरुद्ध उपलब्ध अधिकाश प्रमाणो का सग्रह किया है। इस पर ग्रन्थकार की स्वोपज्ञवृत्ति भी है। पद्य परिमाण मे यह कृति अष्टशती के बराबर मानी गई है। इस पर अनन्तवीर्य की विस्तृत व्याख्या है। कृति के अन्तिम प्रस्ताव मे प्रकारातर से अकलक शब्द का प्रयोग भी है जो

ग्रंथकार अकलङ्क की ओर संकेत संभव है। प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रौढ शैली अतिम कृति होने का आभास कराती है। जैन न्याय को इस कृति के रूप में आचार्य अकलङ्क की अपूर्व देन है।

जैन समाज मे आचार्य अकलङ्क की साहित्य-निधि को मौलिक स्थान प्राप्त है। आचार्य अकलङ्क की कृतियो मे न्याय की रूपरेखा अकलक न्याय के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य अकलङ्क भक्ति-परायण भी थे। अपने नाम पर अकलङ्क स्तोत्र की रचना कर उन्होने भक्तिरस को चरम सीमा पर पहुंचा दिया था।

आचार्य माणिक्यनन्दि उनके ग्रन्थो के प्रमुख पाठक रहे हैं। उन्होने अपने ग्रन्थो मे अकलङ्क की न्याय पद्धति को ही विस्तार दिया है और कहीं-कही शब्दश. अनुकरण किया है। उनका परीक्षामुख ग्रन्थ आचार्य अकलक के विचारो का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

जैनाचार्यो की परम्परा मे अकलक प्रौढ दार्शनिक विद्वान् थे और जैन न्याय के प्रमुख व्यवस्थापक थे। उनके द्वारा निर्धारित प्रमाणशास्त्र की रूपरेखा उत्तरवर्ती जैनाचार्यों के लिए मार्गदर्शक बनी है। अमरकोश का यह प्रसिद्ध श्लोक है।

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसधानकवे. काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलङ्क की प्रमाण-व्यवस्था, पूज्यपाद का लक्षण और धनञ्जय का द्विसन्धान काव्य—ये अपश्चिम रत्नत्रयी हैं।

जैन तर्कशास्त्र का परिमार्जित एव परिष्कृत रूप आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थो मे प्राप्त होता है।

आचार्य विद्यानन्द, वादिराज, अनन्तवीर्य, प्रभाचद्र आदि विद्वानो ने आचार्य अकलक के अष्टशती, न्याय-विनिश्चय, प्रमाण-सग्रह, सिद्धि-विनिश्चय तथा लघीयस्त्रयी पर विस्तृत टीकाए लिखी हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के विद्वान् आचार्य अकलंक के साहित्य पर मुग्ध है।

समय-संकेत

आचार्य अकलंक ने अपने ग्रन्थो मे कही समय संकेत नही दिया है। आचार्य अकलङ्क की तत्त्वार्थ वार्तिक मे देवनदी की तत्त्वार्थ वृत्ति के बहुभाग

को मूल वार्तिक के रूप में स्थान प्राप्त है । पात्रकेशरी के त्रिलक्षण कदर्थन की कारिका "अन्यथानुपपन्नत्व" का उपयोग अकलक के न्याय विनिश्चय ग्रन्थ मे हुआ है । इस आधार पर इन दोनो विद्वानो से आचार्य अकलंक उत्तरवर्ती हैं ।

आचार्य हरिभद्र ने अनेकांत जयपताका मे अकलक न्याय शब्द का प्रयोग किया है । आचार्य जिनदास महत्तर ने निशीथचूर्णि में अकलक के सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है और उसे प्रभावक ग्रन्थ बताया है । अतः इन दोनो विद्वानो से आचार्य-अकलक पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं ।

डा० महेन्द्रकुमार आदि आधुनिक शोध विद्वानो ने अकलंक का समय ई० सन् ७२० से ७८० सिद्ध किया है ।

अकलंक चरित्र मे अकलंक के शक सवत् ७०० (ईस्वी ७७८) मे बौद्धो के साथ हुए शास्त्रार्थ का उल्लेख है ।

उल्लेख का पद्य इस प्रकार है—

विक्रमार्क शकाब्दीय शतसानप्रमाजुषि ।
काले अकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ।।

इस पद्य का अर्थ वि० सं० ७०० सम्भव है । शक संवत् के लिए कहीं विक्रम सं० का उल्लेख नहीं हुआ है ।

उपर्युक्त बिन्दुओ के अनुसार आचार्य अकलक वी० नि० १३०५ (वि० ८३५) मे विद्यमान थे । उनका समय वी० नि० की १४वी (वि० की ९वी) शताब्दी का प्रमाणित होता है ।

अजेयवाद शक्ति, अतुल प्रतिभाबल एवं मौलिक चिंतन पद्धति से आचार्य अकलक भट्ट कोविद कुल के अलकार थे एवं युग प्रवर्तक आचार्य थे ।

आधार-स्थल

१. जैन शिला लेख सग्रह भाग-१

२. पितृभ्या रविगुप्ताख्य नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम् ।।४।।

(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

३. अत्रैव भारते मान्यखेटाख्यनगरे वरे ।
राजाऽभूच्छुभतुङ्गाख्यस्तन्मंत्री पुरुषोत्तमः ।।२।।
सञ्जातावकलङ्काख्यनिष्कलंकौ गुणोस्वलौ ।।३।।

(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

४. जीयाच्चिरमकलकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलजननुतविधः प्रशस्तजनहृद्यः ॥
(तत्त्वार्थवार्तिक प्रशस्ति)

५. एकसंस्थोऽकलंकाख्यदेवोऽभूत्तद्विचक्षणः ॥१८॥
निष्कलंको द्विसंस्थञ्च चित्ते तच्चिन्तयत्परम् ॥१६॥
(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

६. नन्दीश्वरे महाष्टम्यामेकदा परया मुदा ।
पितृभ्या रविगुप्ताख्य नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम् ॥४॥
गृहीत्वाऽष्टदिनान्युच्चैर्ब्रह्मचर्यं सुशर्मदम् ।
क्रीडया पुत्रयोश्चापि दापितं तद्व्रत महत् ॥५॥
(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

७. इत्याकर्ण्य पितुर्वाक्य पुत्रौ तावूचतु पुनः ।
आवयोर्न कृता तात! मर्यादाष्ट दिनैस्तथा ॥११॥
(आराधना कथाकोष अकलंकदेव कथा)

८. धृत्वा ततो महाबोधिस्थान गत्वा गुणाकरौ ।
बौद्धमार्गपरिज्ञातुर्धर्माचार्यस्य सन्निधौ ॥१५॥
(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

९. व्याख्यान कुर्वतस्तस्य श्रीमज्जैनेन्द्रभाषिते ।
सप्तभङ्गीमहावाक्ये कूटत्वात्संशयोऽजनि ॥२०॥
(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

१०. व्याख्यानमथ सवृत्य व्यायामं स गतस्तदा ।
शुद्ध कृत्वाशु तद्वाक्यं धृतवानकलकवाक् ॥२१॥
(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

११. बौद्धानां गुरुणागत्य दृष्ट्वा वाक्य सुशोधितम् ।
अस्ति कश्चिज्जिनाधीशशासनाम्भोधिचद्रमाः ॥२२॥
(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

१२. सारं पंचनमस्कार स्मरन्तावुत्थितो तदा ॥३०॥
(आराधना कथाकोष, अकलंकदेव कथा)

१३. कलिङ्गविषये रत्नसंचयाख्य पुर परम् ॥५२॥
तत्र राजा प्रजाऽभीष्टो नाम्ना श्रीहिमशीतलः ।
राज्ञी जिनेन्द्रपादाब्जभृङ्गी मदनसुन्दरी ॥५३॥

तया श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वयं कारितमन्दिरे ।
फाल्गुने निर्मलाष्टम्यां रथयात्रामहोत्सवे ।।५४।।
प्रारब्धे जिनधर्मस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः ।।५५।।
(आराधना कथाकोष, अकलकदेव कथा)

१४. तत्समर्थयित् लग्न, समर्थो भयवर्जित ।
एवं तयोर्महावादे षण्मासा. सययुस्तराम् ।।१००।।
(आराधना कथाकोष, अकलकदेव कथा)

१५. समर्थो नरमात्रोऽसौ किन्तु वाद त्वया समम् ।
करोति तारिका देवी विनाप्येतानि धीधन ।।१०५।।
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव कथा)

१६. ततोऽकलङ्कदेवेन समुत्थाय प्रकोपत. ।
अन्तः पट विदार्योच्चै. स्फोटयित्वा च त घटम् ।।११३।।
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव कथा)

६१. जिनचरणानुगामी जिनदास महत्तर

जैन श्वेताम्बर परम्परा के आगम व्याख्याकार जिनदास महत्तर को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वे संस्कृत एवं प्राकृत के अधिकारी विद्वान् थे। पूरे जैन समाज मे उनकी प्रसिद्धि चूर्णि साहित्यकार के रूप मे है।

गुरु-परम्परा

जिनदास के धर्म गुरु का नाम गोपालगणी महत्तर था। गोपालगणी महत्तर वाणिज्य कुल, कोटिकगण एवं वज्रशाखा के विद्वान् थे। स्व-पर समय के वे ज्ञाता थे।[1] जिनदास महत्तर के विद्यागुरु प्रद्युम्न क्षमाश्रमण थे।[2] महत्तरजी को गणी पद अपने गुरु द्वारा प्राप्त हुआ और महत्तर की उपाधि उन्हे जनता द्वारा प्रदान की गई थी।[3]

जन्म एवं परिवार

चूर्णि साहित्य के अनुसार जिनदास महत्तर के पिता का नाम नाग[4] और माता का नाम गोपा[5] अनुमानित हुआ है। महत्तरजी सात सहोदर थे। देहड, सीह, थोर ये तीन उनसे ज्येष्ठ एव देउल, णण, तिउज्जग तीन उनसे कनिष्ठ सहोदर थे।[6] परिवार के अन्य सदस्यो की सूचना प्राप्त नही है।

जीवन-वृत्त

जिनदास महत्तर के जीवन-प्रसंग के सम्बन्ध मे विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। नन्दी चूर्णि के अन्त मे जिनदास महत्तर ने अपना नाम परिचय दिया है।[7] वह अत्यधिक अस्पष्ट है। उत्तराध्ययन चूर्णि मे अपने गुरु के नाम का एवं कुल, गण और शाखा का भी उल्लेख किया है, पर अपने नाम का उल्लेख नही किया है। निशीथ चूर्णि के प्रारम्भ मे प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का विद्यागुरु के रूप मे उल्लेख है। निशीथ चूर्णि के अन्त में चूर्णिकार जिनदास ने अपना परिचय रहस्यमय शैली मे प्रस्तुत किया है, वह श्लोक इस प्रकार है—

ति चउ पण अट्ठमवग्गे ति तिग अक्खरा व तेसिं।
पढमततिएहीं तिदुसरजुएहीं णामं कय जस्स॥

अकारादि स्वर प्रधान वर्णमाला को एक वर्ग मान लेने पर अ वर्ग से श वर्ग तक आठ वर्ग बनते हैं। इस क्रम से तृतीय च वर्ग का तृतीय अक्षर 'ज' चतुर्थ 'ट' वर्ग का पञ्चम अक्षर 'ण', पञ्चम त वर्ग का तृतीय अक्षर 'द' अष्टम वर्ग का तृतीय अक्षर 'स' तथा प्रथम अ वर्ग की तृतीय मात्रा इकार, द्वितीय मात्रा आकार को क्रमश: 'ज' और 'द' के साथ जोड देने पर जो नाम बनता है उसी नाम को धारण करने वाले व्यक्ति ने इस चूर्णि का निर्माण किया है। यह नाम बनता है जिनदास। अपने नाम के परिचय में इस प्रकार की शैली साहित्य क्षेत्र मे बहुत कम प्रयुक्त हुई है।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र मे जिनदास महत्तर की प्रसिद्धि चूर्णिकार के रूप में है। व्याख्या साहित्य मे चूर्णि साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। चूर्णियां गद्यमयी हैं। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। चूर्णिकाल मे सस्कृत अभ्युदय हो रहा है। अत· प्राकृत-प्रधान चूर्णि साहित्य मे संस्कृत भाषा का सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

भाष्य एव निर्युक्ति की अपेक्षा चूर्णि साहित्य अधिक विस्तृत है एवं चतुर्मुखी ज्ञान का स्रोत है। गद्यात्मक होने के कारण इस साहित्य मे भावनाभिव्यक्ति निर्बाध गति से हो पायी है। श्री जिनदास महत्तर का इस साहित्य को महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

आगम ग्रन्थो पर विशाल परिमाण मे चूर्णि साहित्य रचा गया है। वर्तमान मे जो चूर्णिया आगम साहित्य पर उपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. नन्दी २. अनुयोग ३. आवश्यक ४. दशवैकालिक ५ उत्तराध्ययन ६ आचारांङ्ग ७. सूत्रकृताङ्ग ८. निशीथ ९. व्यवहार १०. दशाश्रुतस्कन्ध ११ भगवती १२. जीवाभिगम १३. प्रज्ञापनासूत्र शरीरपद १४. जम्बूद्वीप करण १५ कल्प १६ कल्पविशेष १७ पञ्चकल्प १८. जीतकल्प १९. पाक्षिक।

इनमे प्रथम आठ चूर्णिया जिनदास महत्तर की बताई गई है। इनका रचनाक्रम सम्भवत: यही है।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

नन्दीचूर्णि

इस चूर्णि की रचना मूल सूत्रो के आधार पर हुई है। यह सक्षिप्त

चूर्णि है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह चूर्णि अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस चूर्णि में माथुरी आगम-वाचना का इतिहास है। चूर्णि के आरम्भ मे प्रदत्त भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों का नामाक्रम (नामो की सूची) जैन शासन के क्रमबद्ध इतिहास को जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी सामग्री प्रदान करता है। चूर्णि के अन्त मे चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश भी किया है।

इस चूर्णि की प्राकृत में संस्कृत का विशेष मिश्रण नही है अतः भाषा शास्त्र की दृष्टि से जिनदास महत्तर की यह चूर्णि सर्व प्रथम रचना सम्भव है।

अगस्त्य ऋषि की एक और दशवैकालिक चूर्णि उपलब्ध है। अगस्त्य ऋषि विक्रम की तृतीय शताब्दी के विद्वान् माने गए है अतः इस चूर्णि की रचना वल्लभी वाचना से बहुत पहले ही सम्भव है। इस चूर्णि की प्राकृत संस्कृत से सर्वथा अप्रभावित है।

अनुयोग चूर्णि

इस चूर्णि की रचना भी मूल सूत्रो के आधार पर हुई है। इसमें आराम, उद्यान, शिविका आदि शब्दों की व्याख्या है। सप्त स्वर और नौ प्रकार के रसो का वर्णन भी इसमे है जैन शास्त्र समस्त आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल, प्रमाणाङ्गुल आदि को समझने के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। इस चूर्णि मे नन्दी चूर्णि का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है इसकी रचना नन्दीचूर्णि के बाद हुई है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की अङ्गुलपद पर रची गई अनुयोगचूर्णि इस चूर्णि मे पूर्णत. उद्धृत है। जिनदास महत्तर के नाम का उल्लेख भी इसमे है।[८]

आवश्यक चूर्णि

इस चूर्णि में रचना और निर्युक्ति गाथाओ का अनुसरण है। विषय वर्णन मे भाष्य गाथाओं का एव संस्कृत के श्लोको का उपयोग भी किया गया है। कथा सामग्री की दृष्टि से यह निर्युक्ति अधिक समृद्ध है। इसकी ओजपूर्ण शैली और भाषा मे निर्झर की तरह छलकता प्रवाह मनोमुग्धकारी है। विषय वर्णन के आधार पर यह चूर्णि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ होने का अनुभव कराती है।

पुरातन इतिहास से सुपरिचित होने के लिए आवश्यक चूर्णि उपयोगी है। जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवनवृत्त,

भगवान् की सुविस्तृत विहार-चर्या, वज्रस्वामी, आर्यरक्षित, वज्रसेन आदि प्रभावशाली आचार्यों के विविध घटना-प्रसङ्ग, चेटक एवं कुणिक का महा-संग्राम एवं सात निह्नव का प्रमाणिक इतिहास इस चूर्णि मे उपलब्ध होता है। इस चूर्णि के अनुसार गोल्ल देश मे भगिनी एव विप्र देश मे विमाता से वैवाहिक सम्बन्ध कर लेने की परम्परा भी प्रचलित थी। लौकिक कथाओ की भी पर्याप्त सामग्री इस चूर्णि से प्राप्त की जा सकती है।

दशवैकालिक चूर्णि

दशवैकालिक चूर्णि को हरिभद्र ने वृद्ध विवरण सज्ञा प्रदान की है। इस चूर्णि की रचना मे मुख्यत· निर्यक्ति पदो का अनुसरण है। भाषा प्राकृत प्रधान है। धर्म द्रुम आदि पदो की व्याख्या निक्षेप पद्धति के आधार पर की गई है। आचार्य शय्यभव का जीवनवृत्त इस चूर्णि मे उपलब्ध होता है। विषय वर्णन मे कही-कही सस्कृत का प्रभाव प्रतीत होता है। मुनिचर्या से सम्बन्धित विविध विषयो का विवेचन है। आवश्यक चूर्णि का उल्लेख भी चूर्णि मे हुआ है। इससे स्पष्ट है इस चूर्णि की रचना आवश्यक चूर्णि के बाद हुई है। इस चूर्णि की कथाए विशेष प्रभावक है एव जोणिपाहुड ग्रथ का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व रखता है।

उत्तराध्ययन चूर्णि

इस चूर्णि की रचना निर्यक्ति पदो के आधार पर हुई है। इसमे दशवैकालिक चूर्णि का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है दशवैकालिक चूर्णि के बाद उत्तराध्ययन चूर्णि की रचना हुई है। इस चूर्णि मे अनेक शब्दो की नवीन व्युत्पत्तिया प्राकृत भाषा मे उपलब्ध है। इसमे प्रयुक्त कथानक भी हृदय-स्पर्शी हैं। सस्कृत और प्राकृत भाषा का मिश्रण चूर्णि रचना की अर्वाचीनता को प्रकट करता है। चूर्णि के अन्त मे चूर्णिकार ने वाणिज्य कुलीन, कोटिक-गणीय वज्रशाखी गोपालगणी महत्तर का गुरु रूप मे उल्लेख किया है।

आचाराङ्ग चूर्णि

आचाराङ्ग चूर्णि की रचना आचाराङ्ग निर्युक्ति पद्यो के आधार पर हुई है। प्रस्तुत चूर्णि मे आचाराङ्ग निर्युक्ति के विषय ही विशेष रूप से चर्चित हैं। विषय वर्णन निक्षेप पद्धति के आधार पर किया गया है। चूर्णि प्राकृत गद्यात्मक होते हुए भी इसमे स्थान-स्थान पर सस्कृत के महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत किये गए है। जो विषय विवेचन की दृष्टि से उपयोगी है और पाठक

के लिए विशेष ज्ञानवर्धक भी हैं। कहीं-कहीं चूर्णि मे पूर्वाचार्यों द्वारा रचित प्राकृत गाथाएं प्रयुक्त हैं। प्रत्येक शब्द की व्याख्या मे चूर्णि की विशिष्ट शैली है। नागार्जुनीय आगम वाचना के पाठ भेदों की भी सप्रमाण व्याख्या की गई है। ग्राम, नगर आदि की परिभाषाएं प्राकृत मे सम्यक् प्रकार से प्रस्तुत हुई है। स्थान-स्थान पर उपयोगी रोचक कथाओं का उपयोग भी किया गया है। जिससे पाठक को भारतीय प्राचीन सस्कृति का, नाना देशों की परम्पराओं का ज्ञान होता है। इस चूर्णि मे गोल्ल देश के रीति-रिवाजों की विशेष चर्चा है। कोकण देश का भी उल्लेख है। जहां निरन्तर वर्षा हुआ करती थी।

सूत्रकृताङ्ग चूर्णि

यह चूर्णि भी आचाराङ्ग चूर्णि की भान्ति भारतीय संस्कृति का ज्ञान कराने के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस चूर्णि में भी गोल्ल देश ताम्रलिपि आदि देशों का प्राकृतिक वर्णन वहां की परम्पराएं, रीति-रिवाज एवं मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा है। इस चूर्णि की शैली आचाराङ्ग चूर्णि से मिलती-जुलती है। तीर्थसिद्धि आदि विविध विषय चूर्णि मे चर्चित हुए हैं। वैनयिकवाद, नास्तिकमत, सांख्यमत, ईश्वरकर्तृत्व, नियतिवाद आदि विभिन्न दार्शनिक विषयों की चर्चा भी है। चूर्णि मे संस्कृत, प्राकृत दोनों का मिश्रण है। प्राकृत से संस्कृत का प्रभाव इस चूर्णि पर अधिक है।

निशीथ चूर्णि

यह चूर्णि आचार्य जिनदास महत्तर की अत्यन्त प्रौढ रचना है। चूर्णि मे चूर्णिकार की सूक्ष्मप्रज्ञा के दर्शन होते हैं। इस चूर्णि की रचना मूल सूत्र निर्युक्ति एवं भाष्य गाथाओं के आधार पर हुई है। चूर्णि के प्रारम्भ में महत्त्वपूर्ण पीठिका है। ग्रन्थगत आवश्यक विषयों की व्याख्या पीठिका मे उपलब्ध है। नमस्कार प्रसङ्ग मे अरिहंत सिद्ध श्रमणों के बाद अर्थप्रदाता के रूप मे चूर्णिकार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को विशेष प्रणाम किया है।[६] ग्रन्थ के २० उद्देशक हैं। प्रसङ्गवश अनेक अन्य विषय भी चर्चित हुए हैं। ग्रंथ रचना मे सस्कृत प्राकृत उभय भाषा का मिश्रण है। सस्कृत की अपेक्षा प्राकृत की प्रधानता है। इस चूर्णि मे पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति का उल्लेख भी है। इससे स्पष्ट है प्रस्तुत चूर्णि की रचना दोनों निर्युक्तियों के बाद की है।

जैन श्रमण आचार से सम्बन्धित विधि-निषेधों की विस्तार से परि-चर्चा और उत्सर्ग मार्ग तथा अपवाद मार्ग की पर्याप्त सूचना इस कृति में

प्राप्त होती है।

चूर्णियों का कर्तृ क

पुण्यविजयजी द्वारा संपादित नन्दी प्रस्तावना मे नन्दी, अनुयोगद्वार एवं निशीथ इन तीनों चूर्णियो का कर्तृक जिनदास महत्तर को स्वीकार किया है। इस शोध से चूर्णि साहित्य की रचना का अधिकाश श्रेय भी जिनदास महत्तर को प्रदान करने की सुप्राचीन धारणा भ्रामक सिद्ध हुई है। समग्र आगम चूर्णि साहित्य की रचना मे कई विद्वानो का योग माना है। दशवै-कालिक चूर्णि के कर्ता श्री अगस्त्यसिंहगणी एवं जीतकल्प वृहत्चूर्णि के प्रणेता श्री सिद्धसेनगणी हैं।

आचाराङ्ग चूर्णि एव सूत्रकृताङ्ग चूर्णि अज्ञात कर्तृक है। उन्होने आचाराङ्ग चूर्णि के प्रति श्री जिनभद्रगणी से पूर्व होने की संभावना प्रकट की है। आवश्यक चूर्णि को भी जिनदास महत्तर की रचना मानने मे सन्देह व्यक्त किया गया है। विधि, निषेध एवं अपवाद मार्गों की सूचना प्रस्तुत करने वाले व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध एव वृहत्कल्प इन तीन महत्त्वपूर्ण छेद सूत्रो की चूर्णिया भी अज्ञात कर्तृक मानी गई हैं।

निशीथचूर्णि निर्विवाद रूप से श्रीजिनदास महत्तर की कृति है।

अनेक विद्वानो का चूर्णि ग्रथ के सृजन मे योगदान होने पर भी जिनदास महत्तर की चूर्णिकार के रूप मे प्रसिद्धि का मुख्य निमित्त उनके चूर्णि ग्रन्थो की मौलिकता एवं चिन्तन की उच्चता है।

समय-संकेत

नन्दी चूर्णि श्री जिनदास महत्तर की मौलिक कृति है। यह शक सवत् ५९८ एव वि० स० ७३३ मे पूर्ण हुई थी। शक सम्वत् का उल्लेख स्वय जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया है। वह इस प्रकार है—

शकराज्ञो पञ्चसु वर्षशतेषु व्यक्तिक्रान्तेषु।
अष्टनवतेषु नन्द्यध्ययन चूर्णि समाप्ता।

(नन्दी चूर्णि)

नन्दी-चूर्णि के उपर्युक्त उल्लेखानुसार चूर्णिकार जिनदास महत्तर का सत्ता समय वी० नि० १२ वी शताब्दी का उतरार्द्ध एव १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (वि० स० ८ वी) सिद्ध होता है।

आधार-स्थल

१. वाणिजकुलसंभूतो कोडियगणितो य वज्जसाहीतो ।
गोवालियमहत्तरओ विक्खातो आसि लोगम्मि ॥१॥
ससमय-परसमयविऊ ओयस्सी देहिग सुगभीरो ।
सीसगणसंपरिवुडो वक्खाणरतिप्पियो आसी ॥२॥
तेसिं सीसेण इमं उत्तरज्झयणाण चुण्णिरखंडं तु ।
रइयं अणुग्गहत्थं सीसाणं मंदबुद्धीण ॥३॥
(उत्तराः चूर्णि)

२. सविसेसायरजुत्त काउ पणामं च अत्थदायिस्स ।
पज्जुण्णखमासमणस्स चरण-करणाणुपालस्स ॥२॥
(निशीथ विशेष चूर्णि पीठिका)

३. गुरुदिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं ।
तेण कयेसा चुण्णी विसेसणामा णिसीहस्स ॥२॥
(निशीथ विशेष चूर्णि)

४. सकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स ।
तस्स सुतेणेस कता विसेसचुण्णी णिसीहस्स ॥१३॥
(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १३)

५. रविकरमभिधाणक्खरसत्तमवग्गंत-अक्खरजुएणं ।
णामं जस्सित्थिए सुतेण तिसे कया चुण्णी ॥
(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १५)

६. देहडो सीह थोरा य ततो जेट्ठा सहोयरा ।
कणिट्ठा देउलो णण्णो सत्तमो य तिइज्जगो ।
एतेसिं मज्झिमो जो उ मंदेवी तेण वित्तिता ।
(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १६)

७ णि रे ण ग म त्त ण ह स दा जि या पसुपतिसखगजट्ठिताकुला ।
कमट्ठिता धीमतचिंतियक्खरा फुड कहेयतऽभिधाण कत्तुणो ॥१॥
(नन्दीचूर्णि)

८. श्री श्वेताम्बराचार्य श्री जिनदासगणिमहत्तर-
पूज्यपादनामनुयोगद्वाराणां चूर्णि ।
(अनुयोगद्वारचूर्णि)

६२. अमेय मेधा के धनी आचार्य हरिभद्र

जैन परम्परा में हरिभद्र नाम के भी कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत हरिभद्रसूरि सबसे प्राचीन है और याकिनी महत्तरा सूनु नाम से प्रसिद्ध हैं। सहस्रो वर्षों के बाद भी हरिभद्रसूरि का जीवन प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमक रहा है। उनमे जैसे उदारमानस का विकास हुआ वैसा विरलो मे हो पाता है। उन्होने प्रतिपक्षी के लिए महर्षि, महामुनि जैसे सम्मान सूचक शब्दो का प्रयोग किया है। उनका वह उदात्त घोष आज भी सुविश्रुत है—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष· कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह· ॥३८॥

(लोक तत्वनिर्णय)

वीर वचन मे मेरा पक्षपात नही। कपिल मुनियो से मेरा द्वेष नही। जिनका वचन तर्कयुक्त है—वही ग्राह्य है।

गुरु-परम्परा

प्रभावक चरित और प्रबन्धकोश के अनुसार विद्वान् हरिभद्र के दीक्षा गुरु जिनभट्ट थे।[1] 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' नामक ग्रन्थो मे हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र था[2] एव कथावली ग्रन्थ मे गुरु का नाम जिनदत्त बताया गया है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी कृतियो मे स्थान-स्थान पर जिनदत्त नाम का उल्लेख किया है। आवश्यक वृत्ति मे वे लिखते हैं—"समाप्ता चेय शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका, कृति सिताम्बराचार्यजिनभट्टनिगदानुसारिणो विद्याधर कुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरा सूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।"

प्रस्तुत टीका मे आचार्य हरिभद्र ने गुरु जिनदत्त के नामोल्लेख के साथ श्वेताम्बर परम्परा, विद्याधर कुल एव आचार्य जिनभट्ट का नाम निर्देश किया है तथा अपने को जिनदत्त का शिष्य माना है। शिष्य के द्वारा जो नाम अपने गुरु का बताया जाता है वह अधिक प्रामाणिक एव यथार्थता के निकट होता है अतः आचार्य हरिभद्र की कृतियो में प्राप्त उल्लेखानुसार उनके दीक्षा

गुरु विद्याधर कुल तिलकायमान जिनदत्त थे। जिनभट्ट अथवा जिनभद्र उनके गच्छ नायक सम्भव है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्रकूट निवासी ब्राह्मण परिवार मे हुआ चित्रकूट नगर (चित्तौड) नरेश जितारि के राज्य में उनको राजपुरोहित का स्थान मिला।[1] कथावली ग्रन्थ के अनुसार विद्वान् हरिभद्र 'पिवंगुइ' नामक ब्रह्मपुरी के निवासी थे।[2] उनकी माता का नाम गङ्गण और पिता का नाम शकरभट्ट था।[3]

जीवन-वृत्त

राजपुरोहित हरिभद्र प्रकाण्ड विद्वान् थे। चतुर्दश ब्राह्मण विद्याओ पर उनका विशेषाधिपत्य था। राजपुरोहित जैसे सम्मानित स्थान पर प्रतिष्ठित होने के कारण जन समुदाय मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

हरिभद्र को अपने विद्याबल पर अतिशय गर्व था। 'बहुरत्ना वसुन्धरा' यह वसुन्धरा विविध रत्नो को धारण करने वाली है, यह बात उन्हें अवैज्ञानिक लगी। उनकी दृष्टि मे कोई भी योग्यता उनकी तुला के फलक को उठाने मे समर्थ नही थी।

हरिभद्र पण्डितो मे अग्रणी थे एव विवाद विद्या मे भी अपने को अजेय मानते थे। शास्त्र विशारद विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। पाण्डित्य के अतिशय अभिमान ने उन्हे असाधारण निर्णय तक पहुचा दिया था। ज्ञानभार से कही उदर फट न जाए, इस भय से वे पेट पर स्वर्णपट्ट बाधे रहते थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी को धरती का उत्खनन कर निकाल लेने के लिए कुदाल, जल से खीच लेने के लिए जाल और आकाश से धरती पर उतार लेने के लिए सोपान पंक्ति प्रतिसमय अपने कन्धे पर रखते थे। जम्बूद्वीप मे भी उन जैसा कोई विद्वान् नही है, इस बात को सूचित करने हेतु वे हाथ मे जम्बूवृक्ष की शाखा को रखते थे।[1] उनका दर्पोन्नत मानस किसी भी व्यक्ति द्वारा उच्चारित वाक्य का अर्थ न समझने पर उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने को प्रतिबद्ध था। हरिभद्र अपने को इस कलियुग मे सर्वज्ञ समझते थे।

एक बार राजपुरोहित विद्वान् हरिभद्र सुखपाल (पालकी) मे बैठकर कही जा रहे थे। उनके साथ मे काफी लोग थे। राजपुरोहित के सम्मान मे

जय-जय के जोशीले नारो से वातावरण गूंज रहा था। धरा और नभमण्डल एक हो रहा था। सरस्वती कण्ठाभरण, वैयाकरण-प्रवण, न्याय विद्या विचक्षणवादि मतङ्गज केशरी आदि अतिशय प्रशंसात्मक विरुदावलियां बोली जा रही थीं। अचानक एक कृष्णकाय विशाल हाथी उन्मत्त अवस्था मे पागल की भाति सामने से आता दिखाई दिया। प्राण बचाने के लिए लोग इधर-उधर भागे। हरिभद्र भी सुखपाल से कूदे और पास के मन्दिर मे घुस गए। "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्" की बात गौण और प्राण-रक्षा की बात प्रमुख बन गई थी। मन्दिर मे उन्होने जिन प्रतिमा को देखा—'वपुरेव तवाचष्टे स्पष्ट मिष्ठान्न भोजनम्'—यह वाक्य कहकर उन्होने जिन प्रतिमा का उपहास किया था। इस घटना के बाद का प्रसङ्ग है—एक बार रात्रि को राजसभा से लौटते समय राजपुरोहित हरिभद्र जैन उपाश्रय के पास से गुजरे। उपाश्रय मे साध्वी सघ की प्रवर्तिनी 'महत्तरा याकिनी' संग्रहिणी गाथा का उच्च ध्वनिपूर्वक जाप कर रही थी—

चक्कि दुगं हरिपणगं, पणग चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसीय चक्कीया*॥

श्लोक की स्वर लहरियां हरिभद्र के कानो मे टकराई। इन्होने इसे बार-बार ध्यान-पूर्वक सुना। मन ही मन चिन्तन चला पर बुद्धि को पूर्णत: झकझोर देने के बाद भी वे अर्थ के नवनीत को न पा सके। हरिभद्र के अह पर यह पहली करारी चोट थी। अर्थबोध पाने की तीव्र जिज्ञासा उनको उपाश्रय तक ले गई। उपाश्रय मे प्रवेश करने के बाद दूर खडे होकर अभिमानी हरिभद्र ने महत्तराजी से पूछा—"इस स्थान पर चकचकाहट किस बात मे हो रहा है? अर्थहीन का पुनरावर्तन क्यो किया जा रहा है?" हरिभद्र ने यह प्रश्न अतिवक्र भाषा मे प्रस्तुत किया था।

याकिनी महत्तराजी धीर-गम्भीर, आगम-विज्ञ और व्यवहार निपुण साध्वी थी। उन्होने मृदु शब्दो मे कहा—'नूतनं लिप्तं चिगचिगायते'—नया लिपा हुआ आंगन चकचकाहट करता है। यह शास्त्रीय पाठ है। इसे गुरु निर्देश बिना समझा नहीं जा सकता।' याकिनी द्वारा दिये गए स्पष्ट और सारगर्भित उत्तर को सुनकर विद्वान् हरिभद्र प्रभावित हुए। वे झुके और बोले—'प्रसाद कृत्वा अस्य अर्थं कथयतु—साध्वीश्री जी! कृपा कर मुझे इसका अर्थ समझाइये।

अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार शिष्य दीक्षा प्रदान करने की बात भी

उन्होने साध्वी याकिनी के सामने विनम्र शब्दो मे प्रस्तुत की ।

प्रभावक चरित्र प्रबन्ध के अनुसार साध्वी याकिनी महत्तराजी ने जिनभट्टसूरि के पास से अर्थ समझने का निर्देश दिया । विद्वान् हरिभद्र की जिज्ञासा तीव्रतर होती जा रही थी । प्रात काल होते ही हरिभद्र जिनभट्टसूरि के पास पहुंचे । उससे पहले उस मन्दिर मे भी गए, जहां घुसकर सामने से आते हुए मदोन्मत्त हाथी से कभी प्राण बचाए थे । 'वपुरेव तवाचेष्टे स्पष्टं मिष्टान्न भोजनम्' कहकर जिन प्रतिमा का महान् उपहास भी उस समय उन्होने किया था । आज उस कृत्य की स्मृति भाव से उनका मन तापित हो रहा था । निर्मल भाव भूमि से इस बार प्रस्फुटित होने वाला कविता का रूप सर्वथा भिन्न था । मधुर और शिष्ट शब्दों मे हरिभद्र गुनगुनाए—

वपुरेव तवाचेष्टे भगवन् ! वीतरागताम् ।
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वल: ।।

भगवन् ! यह भव्य आकृति ही वीतरागता को प्रकट कर रही है । वह तरु कभी हरा नहीं हो सकता जिसके कोटर मे अग्नि जल रही हो ।

गुरु चरणों के निकट पहुंचते ही विद्वान् हरिभद्र को सात्त्विक प्रसन्नता की अनुभूति हुई । उन्होंने झुककर नमन किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने रखी । आचार्य जिनभट्ट ने कहा—"पूर्वापर सन्दर्भ सहित सिद्धान्तों को समझ लेने के लिए मुनि-जीवन का स्वीकरण आवश्यक है ।" विद्वान् हरिभद्र मे श्लोकार्थ को जानने की जिज्ञासा तीव्रतर थी । वे मुनि बनने को तैयार हो गए । जिनभट्ट ने हरिभद्र को मुनि दीक्षा प्रदान की । श्लोक का अर्थ समझाया और साध्वीवरा याकिनी महत्तरा का गरिमापूर्ण शब्दों में परिचय देते हुए कहा—"आगम प्रवीणा साध्वी समूह में मुकुटमणी श्री को प्राप्त महत्तरा उपाधि से अलकृत साध्वी याकिनी मेरी गुरु भगिनी है ।,'

हरिभद्र ने भी याकिनी महत्तरा के प्रति कृतज्ञ भाव प्रकट करते हुए कहा—"मैं शास्त्र विशारद होकर भी मूर्ख था । सुकृत के संयोग से निजकुल देवता की तरह धर्ममाता याकिनी के द्वारा मैं बोध को प्राप्त हुआ हूं ।"

कथावली प्रसङ्ग के अनुसार श्लोक का अर्थ पूछने पर महत्तराजी उनको अपने गुरु जिनदत्तसूरि के पास ले गई और पूर्व घटना की सारी स्थिति अपने गुरु के सामने रखी । जिनदत्त सूरि ने सविस्तार श्लोक का अर्थ-बोध दिया । विद्वान् हरिभद्र जिनदत्तसूरि से ज्ञान दान प्राप्त कर परम तुष्ट हुए । उन्होने अपनी प्रतिज्ञा की बात भी गुरु के सामने रखी । जिनदत्तसूरि ने

विद्वान् हरिभद्र से कहा —'तुम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार महत्तराजी के धर्म-पुत्र बन जाओ।' राजपुरोहित हरिभद्र ने पूछा—'धर्म क्या होता है ?' जिन-दत्तसूरि ने सम्यक् रूप से धर्म का स्वरूप समझाया। हरिभद्र सच्चे जिज्ञासु थे। उन्होंने नम्र होकर पुनः पूछा—'धर्म का फल क्या होता है ?'

जिनदत्तसूरि भी ज्ञान के अक्षय भण्डार थे। उन्होंने कहा—"पण्डितवर्य ! सकाम वृत्ति वालो के लिए धर्म का फल स्वर्गादि की प्राप्ति है। निष्काम वृत्ति वालो के लिए धर्म का फल भव-विरह (ससार सतति का विच्छेद) है। हरिभद्र बोले—"मुझे भव-विरह ही प्रिय है।"[1]

महा कारुणिक दया के सागर जिनदत्तसूरि बोले—"भद्र ! भव-विरह की उपलब्धि के लिए सर्वपाप निवारक मुनि वृत्ति को तुम ग्रहण करो।" आचार्य जिनदत्तसूरि के दर्शन से विद्वान् हरिभद्र के सासारिक वासना का संस्कार क्षीण हो गया। भव-विरह की बात उनके मानस को वेध गई। वे मुनि दीक्षा लेने के लिए प्रस्तुत हुए। ब्राह्मण समाज को बुलाकर उन्होने जैन मुनि बनने की हृदय की भावना प्रकट की। अपने सम्प्रदाय के प्रति दृढ़ आस्थाशील ब्राह्मणो द्वारा राजपुरोहित हरिभद्र के इन विचारो का विरोध होना स्वाभाविक था। वैसा ही हुआ। किसी ने भी उनको समर्थन नही दिया। विद्वान् हरिभद्र बोले—

पक्षपात परित्याज्य मध्यस्थीभूयमेव च।
विचार्य युक्तियुक्त यद् ग्राह्य त्याज्यमयुक्तिमत् ॥३०८॥
(पुरातन प्रबन्ध सग्रह—पृ० १०४)

पक्षपात को छोड़कर मध्यस्थ भावभूमि पर विचार करें। युक्तियुक्त वचन ग्राह्य है और अयुक्तिपूर्ण वचन त्याज्य है।

न वीतरागादपरोऽस्ति देवो न ब्रह्मचर्यादपर चरित्रम्।
नाभीतिदानात् परमस्ति दान चारित्रिणो नापरमस्ति पात्रम् ॥
(पुरातन प्रबन्ध सग्रह—पृ० १०४)

वीतराग से परे कोई देव नही है। ब्रह्मचर्य से श्रेष्ठ कोई आचार नहीं है। अभयदान से श्रेष्ठ कोई दान नही है। चारित्र गुण मण्डित पुरुष से उन्नत कोई पात्र नहीं है।

विवेक बुद्धि से अपने समाज को अनुकूल बनाकर तथा उनसे सहमति प्राप्त कर विद्वान् हरिभद्र जैन मुनि बने। वे राजपुरोहित से धर्मपुरोहित बन गए और साध्वी याकिनी महत्तरा को उन्होने धर्मजननी के रूप मे अपने हृदय

मे स्थान दिया। आज भी उनकी प्रसिद्धि याकिनी सुनू के नाम से है।

मुनि आचार संहिता से सम्बन्धित नाना प्रकार की शिक्षाएं उन्हें गुरु से प्राप्त हुई। अपने गण के परिचय-प्रसंग में गुरु ने हरिभद्र मुनि को बताया आगम प्रवीणा साध्वी समूह मे मुकुटमणि श्री को प्राप्त महत्तरा उपाधि से अलंकृत साध्वी याकिनी मेरी गुरुभगिनी है।"[९]

हरिभद्र ने भी याकिनी महत्तरा के प्रति कृतज्ञ भाव प्रकट करते हुए कहा—मैं शास्त्रविशारद होकर भी मूर्ख था। सुकृत के सयोग से निजकुल देवता की तरह धर्ममाता याकिनी के द्वारा मैं बोध को प्राप्त हुआ हू।[१०]

आचार्य हरिभद्र वैदिक दर्शन के पारगामी विद्वान् पहले से ही थे। जैन श्रमण दीक्षा लेने के बाद वे जैन दर्शन के विशिष्ट विज्ञाता बने। उनकी सर्वतोमुखी योग्यता के आधार पर गुरु ने उन्हें आचार्यपद पर नियुक्त किया।

आचार्य हरिभद्र के पास हस और परमहस दीक्षित हुए। वे दोनो आचार्य हरिभद्र के भगिनीपुत्र थे। हरिभद्र ने उन्हें प्रमाणशास्त्र का विशेष रूप से प्रशिक्षण दिया। दोनो शिष्यो ने एकबार बौद्ध प्रमाणशास्त्र के अध्ययनार्थ इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा—"यह अध्ययन बौद्ध विद्यापीठ में जाकर ही किया जा सकता है।"

आचार्य हरिभद्र ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् थे। उनके निर्मल ज्ञान में अनिष्ट घटना का आभास हुआ। उन्होंने इस कार्य के लिए उन्हें रोका, पर वे न रुके। गुरु के आदेश की अवहेलना कर दोनो वहा से प्रस्थित हुए। वेश बदलकर बौद्धपीठ मे प्रविष्ट हुए। विद्यार्थी दल मे युग्म सहोदर प्रतिभा-सम्पन्न छात्र थे। बौद्ध अध्यापको के पास वे बौद्ध प्रमाणशास्त्र पढ़ते व अपने स्थान पर आकर जैन दर्शन से बौद्ध दर्शन के सूत्रो की तुलना करते और स्वपक्ष-विपक्ष के समर्थन और निरसन मे तर्क-वितर्क पत्र पर लिखते थे। इस रहस्य का उद्घाटन देवीशक्ति द्वारा हुआ। बौद्ध अधिष्ठात्री 'तारादेवी' ने वायु-वेग से पत्र को उड़ाकर उसे लेखशाला मे डाल दिया। पत्र के शीर्ष स्थान पर 'नमो जिनाय' लिखा हुआ था। बौद्ध छात्रो ने उसे देखा और उसे उपाध्याय के पास ले गए। उपाध्याय ने समझ लिया—यहां छद्मवेश मे अवश्य कोई जैन छात्र पढ़ रहा है। परीक्षा के लिए वाटिका के द्वार पर जिन प्रतिमा की स्थापना कर सबको गुरुजनो ने जिन प्रतिमा पर चरण रखकर आगे बढ़ने का आदेश दिया। बौद्ध जानते थे, कोई भी जैन जिन प्रतिमा पर पैर नही रखेगा। आदेश प्राप्त होते ही विद्यार्थी प्रतिमा पर चरण-निक्षेप

करते हुए चले गए। हंस और परमहंस के सामने धर्मसंकट उपस्थित हो गया। उन्होंने समझ लिया कि यह सारा योजनाबद्ध उपक्रम हमारी परीक्षा के लिए ही किया गया है। आचार्य हरिभद्र द्वारा बार-बार निषेध किये जाने पर भी वे आग्रह-पूर्वक यहां पढ़ने आए थे। गुरुजनों के आदेश-निर्देश की अवहेलना का परिणाम अहितकर होता है, यह उन्हे सम्यक् प्रकार से अवगत हो गया। दोनो ने एकान्त मे विचार विमर्श किया। ज्येष्ठ बन्धु ने खटिका से प्रतिमा पर ब्रह्मसूत्र की रेखा खींचकर जिन प्रतिमा की प्रतिकृति को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया और उस पर चरण रखकर आगे बढ़ा। परमहंस ने हंस का अनुगमन किया। यह काम हंस ने अत्यन्त त्वरा और कुशलता से किया। वे युगल बन्धु अपने पुस्तक-पत्रो को लेकर वहां से पलायन करने में सफल हो गए। संयोग की बात थी कि हंस का मार्ग मे ही प्राणान्त हो गया। दूसरा हरिभद्र के चरणो मे आकर गिरा। पुस्तक-पत्र उनके हाथो मे सौपकर उसने अन्तःतोष की अनुभूति की। गहरी थकान के बाद शिष्य का जीवन पूर्ण विश्राम की कामना कर रहा था। आचार्य हरिभद्र के देखते-देखते परमहंस का प्राणदीप बुझ गया।

शिष्य हंस का प्राणान्त मार्ग मे ही हो गया था, या कर दिया गया था—यह उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो में समान रूप से प्राप्त है। परमहंस की मृत्यु के विषय में भी भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। प्रबन्ध-संग्रह के अनुसार किसी व्यक्ति के द्वारा चित्रकूट मे आकर निद्राधीन परमहंस का शिरच्छेद कर दिया था। प्रातःकाल मे आचार्य हरिभद्र ने शिष्य कबन्ध को देखा, वे कोपाविष्ट हो गए।[11]

दोनो प्रिय शिष्यो की मृत्यु ने उनको अप्रत्याशित निर्णय पर पहुचा दिया था। महाराज सूरपाल की अध्यक्षता में उन्होने बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ किया। इस गोष्ठी की भावी परिणति अत्यन्त भयावह और हिंसात्मक थी। परास्त दल को तप्त तेल के कुण्ड में जलने की प्रतिज्ञा के साथ इस शास्त्रार्थ का प्रारम्भ हुआ था। हरिभद्र इस समर मे पूर्ण विजयी हुए। प्रस्तुत हिंसा की सूचना आचार्य जिनदत्त को मिली। उन्होंने कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र को प्रतिबोध देने के लिए दो श्रमणों को तीन श्लोक देकर भेजा था। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

गुणसेण-अग्गिसम्मा सीहाणंदा य तह पिआपुत्ता।
सिहि-जालिणि माइ-सुआ धण-धणसिरिमो य पइ-भज्जा ॥१८५॥

जय-विजया य सहोयर धरणो लच्छी य तह पई-भज्जा।
सेण-विसेण पित्तिय उत्ता जम्मम्मि सत्तमए॥१८६॥
गुणचंद-वाणमंतर समराइच्च-गिरिसेण पाणो य।
एगस्स तओ मोक्खोऽणन्तो अन्नस्स संसारो॥१८७॥
(प्रभावक चरित्र पृष्ठ ७३)

इन श्लोकों मे गुणसेन और अग्निशर्मा के कई भवों की वैराग्यमयी घटना संकलित थी। वैर का अनुबन्ध भव-भवान्तर तक चलता रहता है। यह तथ्य इस कथा के माध्यम से स्पष्ट उभारा गया था। आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित इन श्लोको को पढते ही हरिभद्र का कोप उपशान्त हो गया।

श्रुतानुश्रुत परम्परा के अनुसार क्रुद्ध हरिभद्र को प्रतिबोध देने वाली याकिनी महत्तराजी थीं। रात्रि के समय आचार्य हरिभद्र विद्याबल से १४४४ बौद्ध भिक्षुओं को व्योममार्ग से आकृष्ट कर उनकी हिंसा का उपक्रम कर रहे थे। इस घटना की सूचना मिलते ही महत्तराजी ने तत्काल उपाश्रय में जाकर द्वार खटखटाए और कहा—"मुझे अभी प्रायश्चित लेना है।" आचार्य हरिभद्र ने भीतर से ही प्रत्युत्तर दिया—महत्तराजी ! इस समय साध्वियों का प्रवेश निषिद्ध है। प्रायश्चित्त कल कर लेना।"

महत्तराजी अपने आग्रह पर दृढ थीं। वह बोली—"इस जीवन का कोई विश्वास नही है। कल होने तक सास रुक गया तो मैं अपने दोष का प्रायश्चित्त किए बिना विराधक हो सकती हूं। कृपया द्वार अभी खुलने चाहिये।"

महत्तराजी के लिए बहुत ऊंचा स्थान आचार्य हरिभद्र के मानस में था। वे उनके कथन का प्रतिवाद न कर सके। द्वार खोल दिये गये आचार्य हरिभद्र के सामने उपस्थित होकर महत्तराजी बोली—"प्रमादवश मेरे पैर से मेढ़क की हत्या हो गई है। मुझे प्रायश्चित्त प्रदान करें।" आचार्य हरिभद्र ने दोष-विशुद्धि हेतु उन्हें तीन उपवास दिए। महत्तराजी ने निवेदन किया—"मुझे एक मेंढक की उपघात के प्रायश्चित्तस्वरूप तीन उपवास मिले हैं। आपको इस हिंसा का क्या प्रायश्चित्त करना होगा ? आचार्य हरिभद्र एक वाक्य से ही संभल गए। डूबती नैया किनारे लग गई। छूटती पतवार हाथ में थम गई।"

पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में इस प्रसङ्ग पर श्रावक का उल्लेख है। आचार्य जिनदत्त द्वारा निर्देश पाकर एक सुदक्ष श्रावक कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र के

पास पहुंचा और उसने प्रार्थना की—"आर्य ! मैं गुरुदेव जिनदत्त के पास प्रायश्चित्त लेने के लिए गया था। उन्होने मुझे प्रायश्चित्त ग्रहणार्थ आपके पास भेजा है। मेरे से पचेन्द्रिय जीव की विराधना हो गयी है, इससे मेरा मन बहुत खिन्न है। आप मुझे कृपा कर प्रायश्चित प्रदान करे।"

हरिभद्र उन्मुख होकर बोले—"सुबहुप्रायश्चित्तमेष्यति—बहुत अधिक प्रायश्चित्त तुम्हे वहन करना होगा।" श्रावक बोला—"मुझे इतना प्रायश्चित्त प्रदान कर रहे है। आपको इस हिंसात्मक कार्य के लिए कितना प्रायश्चित्त वहन करना होगा ?"

सुविज्ञ हरिभद्र ने समझ लिया—यह प्रेरणा श्रावक के माध्यम से आचार्य जिनदत्त की है। उन्होंने लज्जा से अपना मुख नीचे कर लिया।

श्रावक पुन बोला—"गुरुदेव ने कहलाया है आपने समरादित्य चरित्र को पढ़ा या नही ? वैर का कटु परिणाम जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है। आप व्यर्थ ही रोषारुण होकर इतने बडे वैर का बन्ध क्यो कर रहे है ?"

श्रावक के मुख से आचार्य जिनदत्त की शिक्षा को सुनकर आचार्य हरिभद्र का अन्तर्विवेक जागा। वे हिंसा के कार्य से सर्वथा निवृत्त हुए। प्रायश्चित्त ग्रहण कर विशुद्ध हुए। उसके बाद उन्होंने आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित श्लोको के आधार पर समरादित्य-कथा की रचना प्राकृत भाषा मे की।[१२]

हिंसात्मक योजना से सम्बन्धित ये प्रसङ्ग आचार्य हरिभद्र के चरित्र-निष्ठ व्यक्तित्व के साथ अप्रासगिक-से लगते है।

कथावली-प्रसङ्ग के अनुसार आचार्य हरिभद्र के शिष्य जिनभद्र और वीरभद्र थे। चित्रकूट मे आचार्य हरिभद्र के असाधारण प्रभाव से कुछ व्यक्तियो मे ईर्ष्या का भाव पैदा हुआ और उन्होने उनके दोनो शिष्यो को गुप्त स्थान पर मार डाला। यह प्रसङ्ग आचार्य हरिभद्र के हृदय मे सुतीक्ष्ण शस्त्र की तरह घाव कर गया। उन्होंने अनशन की सोची। उनकी निर्मल प्रतिभा से जैन शासन की प्रभावना की महान् सभावना थी अतः सबने मिल-कर उन्हे इस कार्य स रोका।

आचार्य हरिभद्र ने सघ की बात को सम्मान प्रदान कर अपने चिन्तन को मोड़ा। शिष्य-सतति के स्थान पर वे ज्ञान-सतति के विकास मे लगे। उनकी वृत्तियो का शोध हुआ, पर शिष्यो की वेदना उनके हृदय मे कम न

हुई अतः प्रत्येक ग्रन्थ के साथ उन्होंने विरह शब्द को जोड़ा है।" आज भी आचार्य हरिभद्र कृत ग्रन्थो की पहचान, अन्त में प्रयुक्त यह विरह शब्द है। आचार्य हरिभद्र के साधनाशील जीवन की उच्च भूमिका पर यह प्रसङ्ग स्वाभाविक और सत्यता के निकट प्रतीत होता है।

साहित्य

आचार्य हरिभद्र ने उच्चकोटि का विपुल परिणाम मे साहित्य लिखा। उनके ग्रन्थ जैन शासन का अनुपम वैभव है। आचार्य हरिभद्र की लेखनी विविध विषयो पर चली। आगमिक क्षेत्र मे वे सर्वप्रथम टीकाकार थे। योग विषयो की भी उन्होने नई दृष्टियां प्रदान की। ज्ञानवर्धक प्रकीर्णक ग्रन्थो की रचना भी उन्होने की। अनेक प्रमुख ग्रंथों का परिचय संक्षेप मे इस प्रकार है—

टीका-ग्रन्थ

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी और अनुयोगद्वार—इन आगमो पर टीका रचना का कार्य किया। पिण्ड निर्युक्ति की उनकी अपूर्ण रचना को वीराचार्य ने पूर्ण किया था। विविध विषयो का विवेचन करती हुई उनकी टीकाएं विशेष ज्ञानवर्धक सिद्ध हुई। भावी टीकाकारो के लिए ये टीकाएं आधारभूत बनी।

आवश्यक टीका

आवश्यक निर्युक्ति गाथाओ पर इस टीका की रचना हुई। निर्युक्ति गाथाओ की व्याख्या मे आवश्यक चूर्णि का पदानुसरण नही है। इसमे सामायिक आदि सभी पदो पर बहुत विस्तार से विवेचन है तथा विस्तृत रुचि रखने वाले पाठको के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस टीका की परिसमाप्ति मे जिनभट्ट, जिनदत्त, याकिनी महत्तराजी आदि का उल्लेख करते हुए अपने को अल्पमति कहकर परिचय दिया है। यह टीका बाईस हजार श्लोक परिमाण है।

दशवैकालिक टीका

इस टीका की रचना दशवैकालिक निर्युक्ति गाथाओ के आधार पर हुई। इसका नाम शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे बृहद्वृत्ति भी कहते हैं। इस की वृत्ति रचना का उद्देश्य स्पष्ट करने के बाद हरिभद्र ने दशवैकालिक के कर्ता शय्यंभव आचार्य का पूर्ण परिचय भी प्रस्तुत किया है।

बारह निर्जरा के भेदो में अध्ययन का सांगोपाङ्ग विवेचन, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार, वीर्याचार की व्याख्या, अठारह सहस्त्र शीलाङ्ग का प्रतिपादन श्रमण धर्म की दुर्लभता, भाषा-विवेक, व्रतषट्क, कायषट्क आदि अठारह स्थानक, आचार प्रणिधि समाधि के चारो प्रकार, भिक्षु स्वरूप, चूलिका मे आए हुए रत्तिजनक तथा अरत्तिजनक कारण और साधु-जीवन की विविध चर्या का स्पष्टीकरण इस वृत्ति के विवेच्य-स्थल हैं।

टीका के अन्त मे टीकाकार ने अपना परिचय महत्तरा धर्मपुत्र के नाम से दिया है।[१४]

जीवाभिगम

जीवाभिगम टीका जीवाभिगम सूत्र पर है। इसमे जैनागम तत्त्व दर्शन का विवेचन है। तत्त्व ज्ञान पिपासु पाठको के लिए यह टीका विशेष उपयोगी है। जीवाभिगम सूत्र पर लघुवृत्ति है।

प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या

प्रज्ञापना टीका प्रज्ञापना सूत्र के पदो पर है। यह संक्षिप्त और सरल टीका है। इसके प्रारम्भ मे जिन प्रवचन की महिमा है। भव्य और अभव्य के प्रसङ्ग म एतद् विषयक वादिमुख्य के श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं और प्रज्ञापना सूत्र के विभिन्न विषयो का सरलतापूर्वक विवेचन कर साधारण जनता के लिए जीव और अजीव से सम्बन्धित अनेक सैद्धान्तिक विषयो को भी समझाया गया है। अष्टम पद का व्याख्या मे सज्ञा स्वरूप का विवेचन मनोवज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रज्ञापना के ग्यारहवे पद के आधार पर काम-शास्त्र-सम्बन्धी सामग्री इसमे उपलब्ध होती है और स्त्री, पुरुष तथा नपुसक के स्वभावगत लक्षणो का भी सुन्दर विवेचन है।

नन्दी वृत्ति

नन्दी टीका की रचना नन्दी चूर्णि की शैली पर हुई है। नन्दी टीका २३३६ श्लोक परिमाण है और इसमे केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की परिचर्चा, नन्दी चूर्णि म वर्णित सभी विषयो का स्पष्टीकरण तथा अयोग्यदान और फल प्रक्रिया की विवेचना है।

अनुयोगद्वारवृत्ति

अनुयोग-वृत्ति की रचना अनुयोगचूर्णि की शैली पर है। अनुयोग

वृत्ति का नाम 'शिष्यहिता' है। इसकी रचना नन्दी विवरण के बाद हुई है। मंगल आदि शब्दो का विवेचन नन्दीवृत्ति मे हो जाने के कारण इसमे नहीं किया गया है। ऐसा टीकाकार का उल्लेख है। प्रमाण आदि को समझाने के लिए अगुलो का स्वरूप, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम की व्याख्या, ज्ञाननय और क्रियानय का वर्णन इस वृत्ति के मुख्य प्रतिपाद्य है।

आवश्यक सूत्र बृहद्वृत्ति भी आचार्य हरिभद्र की रचना मानी गयी है। इसका श्लोक परिमाण चौरासी हजार (८४०००) था। वर्तमान मे यह टीका उपलब्ध नही हैं। आगम साहित्य के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी आचार्य हरिभद्र ने कई टीकाएं लिखीं।

तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति (अपूर्ण टीका) पिण्डनिर्युक्ति-वृत्ति, क्षेत्र समास वृत्ति, कर्मस्तव वृत्ति, ध्यान शतक वृत्ति, लघुक्षेत्र समास वृत्ति, श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, सर्वज्ञ सिद्धि टीका, न्यायावतार वृत्ति आदि टीकाएं आचार्य हरिभद्र-सूरि की अनन्य क्षमता का बोध कराती है। योगदृष्टिसमुच्चय वृत्ति स्वनिर्मित योग दृष्टि समुच्चय की व्याख्या है। शास्त्रवार्ता समुच्चय टोका भारतीय दर्शनो का दर्पण है।

जैनेतर साहित्य पर भी टीका रचना का कार्य आचार्य हरिभद्र ने किया।

न्याय-प्रवेश ग्रन्थ बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग की रचना है। उस पर भी हरिभद्र ने टोका लिखी और जैनो के लिए बौद्ध दर्शन मे प्रवेश पाने का मार्ग सुगम किया। इस टीका से जैनेतर विषयो मे भी हरिभद्रसूरि के अगाध ज्ञान की सूचना मिलती है।

टीका साहित्य की तरह योग साहित्य के आदि-प्रणेता भी हरिभद्र-सूरि थे। उन्होने योग-सम्बन्धी नई परिभाषाएं एवं वैज्ञानिक पद्धतियां प्रस्तुत की। योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका, योगशतकम् ये ग्रन्थ योग-सम्बन्धी अपूर्व सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अष्टाग योग के स्थान पर स्थान-ऊर्ण आदि पचाग योग तथा मित्रा, तारा, बला, दीप्रा आदि आठ यौगिक दृष्टियो का प्रतिपादन उनकी मौलिक सूझ का परिणाम है।

चार अनुयोगो पर उन्होने रचना की है। द्रव्यानुयोग मे धर्म सग्रहिणी, गणितानुयोग मे क्षेत्र समासवृत्ति, चरणानुयोग मे धर्मबिन्दु, उपदेश पद और धर्म कथानुयोग में धूर्त्ताख्यान उनकी सरस कृतिया हैं।

धर्म संग्रहिणी ग्रन्थ मे पांच प्रकार के ज्ञान का वर्णन सर्वज्ञसिद्धि

समर्थन तथा चार्वाकदर्शन का युक्ति पुरस्सर निरसन है। सम्यक् दर्शन (सम्यक्त्व) का विवेचन आचार्य हरिभद्र के 'दंसण सुद्धि' (दर्शन शुद्धि) ग्रंथ मे प्राप्त होता है।

सावगधम्म (श्रावक धर्म) और सावगधम्म समास (श्रावक धर्म समास) इन दोनो कृतियो में श्रावक धर्म की शिक्षाएं तथा बारह व्रतो का विवेचन है।

अनेकान्त जयपताका व अनेकान्त प्रवेश भगवान् महावीर की अनेकांत दृष्टि को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गम्भीर रचनाए हैं। दर्शन जगत् मे ये समादृत हुई है।

षड्दर्शन समुच्चय मे भारत की प्रमुख छह दर्शन धाराओ का उल्लेख तथा उनके द्वारा सम्मत सिद्धान्तो का प्रामाणिक रूप से निरुपण है। नास्तिक धारा को भी आस्तिक धारा के समकक्ष प्रस्तुत कर उन्होने महान् उदारता, सदाशयता और तटस्थता का परिचय दिया है।

कथाकोष उनका श्रेष्ठ ग्रन्थ कथाओ का दुर्लभ भंडार था जो वर्तमान मे उपलब्ध नही है।

'समराइच्चकहा' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत रचना है। शब्दो का लालित्य, शैली का सौष्ठव, सिद्धान्त-सुधापान कराने वाली कांत-कोमल पदावली एव भावाभिव्यक्ति का अजस्त्र बहता ज्ञान निर्झर कथावस्तु की रोचकता एव सौन्दर्य-प्रसाद तथा माधुर्य इसका समवेत रूप—इन सभी गुणो का एकसाथ दर्शन इस कृति मे होता है।

लोक तत्वनिर्णय, श्रावक प्रज्ञप्ति, अष्टक प्रकरण, पंचाशक, पचवस्तु प्रकरण टीका आदि अनेक ग्रन्थो के रूप मे साहित्य-जगत् को आचार्य हरिभद्र की अमर देन हैं।

आचार्य हरिभद्र का युग पक्षाग्रह का युग था। उस समय मे भी उन्होने समन्वयात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट उद्घोष किया।—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

वीर वचन में मेरा पक्षपात नही। कपिल मुनियो से मेरा द्वेष नहीं। जिनका वचन तर्कयुक्त है वही ग्राह्य है।

आचार्य हरिभद्र बड़े स्पष्टवादी थे। सम्बोध-प्रकरण में उन्होने उस युग मे छाये शिथिलाचार के प्रति करारा प्रहार किया है।

हरिभद्र का साहित्य उत्तरवर्ती साहित्यकारो के लिए आधार बना। उनकी 'समराइच्चकहा' को पढकर आचार्य उद्योतन के मन मे भी ग्रंथ रचना की प्रेरणा जगी। उसकी परिणति कुवलयमाला के रूप में हुई। उनकी टीकाओ ने संस्कृत मे आगम व्याख्या लिखने का मार्ग प्रस्तुत किया। शीलांक, अभयदेव, मलयगिरि आदि टीकाकारो, विद्वानो के लिए प्रेरणा स्रोत उनका टीका साहित्य ही है। उनकी योग-सम्बन्धी नई दृष्टियो ने योग के संदर्भ में सोचने का नया क्रम दिया। योग पल्लवन की दिशा मे यशोविजयजी को उत्साहित करने वाली हरिभद्रसूरि की यौगिक कृतियां ही हैं।

जन्तु विशेष द्वारा भक्षित जीर्ण-शीर्ण पुस्तक से निशीथ सूत्र का उद्धार कार्य भी हरिभद्राचार्य ने किया था।[१५]

साहित्य रचना मे लल्लिग नाम के एक व्यक्ति ने उनको सहयोग दिया था। वह रात्रि के समय हरिभद्रसूरि के उपाश्रय मे एक मणि रख दिया करता था, जिसके प्रकाश मे हरिभद्रसूरि साहित्य रचना किया करते थे।[१६]

प्रबन्धकोश के अनुसार आचार्य हरिभद्र ने १४४० ग्रन्थो की रचना की थी।[१७] पुरातन प्रबन्ध-संग्रह के अनुसार उन्होने १४०० ग्रन्थो की रचना की थी।[१८] आज विद्वानो की दृष्टि मे ग्रंथो की यह संख्या संदिग्ध है।

आज आचार्य हरिभद्रसूरि का सपूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है पर जो कुछ भाग्य से प्राप्त है वह उच्च कोटि का है। उसमे आचार्य हरिभद्र की अमेय मेधा के दर्शन होते हैं। शोध लेखको के लिए उनके ग्रंथ पर्याप्त सामग्री प्रदान करने वाले हैं।

अनशन

अध्यात्म साधना मे लीन हरिभद्राचार्य ने जीवन के सध्याकाल मे अनशन की स्थिति को उल्लास से स्वीकार किया था। भावों की उच्च श्रेणी में त्रयोदश दिवस का अनशन सम्पन्न कर वे परम समाधि के साथ स्वर्गवास को प्राप्त हुए।

"अनशनमनघं विधाय निर्यामकवरविस्मृतहार्दभूरिबाधः।
त्रिदशवन इव स्थितः समाधौ त्रिदिवमसौ समवापदायुरन्ते ॥२२१॥

(प्रभा० च० पृ० ७५)

समय-संकेत

हरिभद्र ने अपने ग्रन्थो मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के ग्रन्थगत अव-

तरणो का उपयोग किया है अतः हरिभद्र इनसे उत्तरवर्ती है। युगप्रधान पट्टावलियों के अनुसार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का समय नि० सं० १०५५ से ११५५ (वि० सं० ५८५ से ६४५) तक माना गया है।

उद्योतनसूरि ने आचार्य हरिभद्रसूरि से तर्कशास्त्र का प्रशिक्षण पाया था यह उल्लेख कुवलयमाला मे प्राप्त होता है। कुवलयमाला की रचना एक दिवस न्यून शक सं० ७०० मे सम्पन्न हुई थी। इस आधार पर हरिभद्र का समय इससे पूर्व का है।

विद्वान् आचार्य जिनविजयजी ने हरिभद्र का समय वी० नि० १२२७ से १२९७ (वि० सं० ७५७ से ८२७) तक निर्णीत किया है। आधुनिक शोध विद्वानो ने इस समय को निर्विवाद रूप से मान्य किया है। इस आधार पर हरिभद्र का प्राचीन समय वि० की छठी शताब्दी और वर्तमान समय वि० की ८ वी शताब्दी है।

आधार-स्थल

१. (क) जिनभट मुनिराजराजराजत्कलशभवो हरिभद्रसूरिरुच्चैः।
वरचरितमुदोरयेऽस्य बाल्यादपि गणयन्मतितानव स्वकीयम् ॥३॥
(प्रभा० च० पृ० ६२)

(ख) ततोजिनभद्राचार्य दर्शनम् प्रतिपत्तिः। चारित्रम्
(प्रबन्धकोश पृ० २४) पक्ति-१४

२. तत्र श्री बृहद्गच्छे श्री जिनभद्रसूरयः
(पुरातन प्रबन्ध सग्रह पृ० १०३)

३. बहुतरपुरुषोत्तमेशलीलाभवनमलं गुरुसात्विकाश्रयोऽतः।
त्रिदिवमपि तृणाय मन्यते यन्नगरवर तदिहास्ति चित्रकूटम् ॥६॥
हरिरपरवपुर्विधाय यं स्वं, क्षितितलरक्षणदक्षमक्षताख्यम्।
असुरपरिवृढव्रज बिभिन्ते स नृपतिरत्र बभौ जितारिनामा ॥७॥
चतुरधिकदशप्रकारविद्यास्थिति पठनोन्नतिरग्निहोत्रशाली।
अतितरलमतिः पुरोहितोऽभून्नृपविदितो हरिभद्रनामवित्तः ॥८॥
(प्रभा० च० पृ० ६२)

४. पिवंगुईए बंभपुणीए
(कहावली पत्र-३००)

५. संकरो नाम भटो, तस्स गंगा नाम भट्टिणी तीसे हरिभद्दो नाम पंडिओ पुत्तो।

(कहावली पत्र-३००)

६. परिभवनमतिर्महावलेपात् क्षितिसलिलाम्बरवासिनां बुधानाम्।
अवदारणजालकाधिरोहण्यपि स दधौ त्रितयं जयाभिलाषी ॥९॥
स्फुटति जठरमत्रशास्त्रपूरादिति स दधावुदरे सुवर्णपट्टम्।
मम सममतिरस्ति नैव जम्बूक्षितिवलये वहते लतां च जम्ब्वाः ॥१०॥

(प्रभा० च० पृ० ६२)

७. आवश्यक निर्युक्ति—गाथा ४२९

८. हरिभद्दो भणइ भयवं पिउ मे भवविरहो ॥

(कहावली पत्र-३००)

९. गुरुखददथागमप्रवीणा यमि-यतिनीजनमौलिशेखरश्रीः।
मम गुरुभगिनी महत्तरेय जयति च विश्रुतयाकिनीति नाम्नी ॥४१॥

(प्रभा० च० पृ० ६४)

१०. अभणदथ पुरोहितोऽनयाहं भवभवशास्त्रविशारदोऽपि मूर्खः।
अतिसुकृतवशेन धर्ममात्रा निजकुलदेवतयेव बोधितोऽस्मि ॥४२॥

(प्रभा० च० पृ० ६४)

११. प्रातः श्री हरिभद्रसूरिभिः शिष्य-कबन्धो दृष्टः कोपः।

(प्रबन्धकोश पृ० २५ पंक्ति ३)

१२. पुनः सङ्घ समीक्ष्य प्रायश्चित्तं कृतवन्तः। तदनु 'समरादित्यचरित' वैराग्यामृतमयं चक्रुः ॥

(पुरा० प्रबन्ध संग्रह पृ० १०५)

१३. अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः।
निजकृतिमिहं संव्यधात् समस्ता विरहपदेन युतां सतां स मुख्यः ॥२०६॥

(प्रभा० च० पृ० ७४)

१४. महत्तरायाकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता।
आचार्य हरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ प्रशस्ति श्लोका ॥

(दशवै० हारि० वृत्तिः)

१५. चिरलिखितविशीर्णवर्णभग्नप्रविवरपत्रसमूहपुस्तकस्थम्।
कुशलमतिरिहोद्धार जैनोपनिषदिक स महानिशीथशास्त्रम् ॥२१९॥

(प्रभा० च० पृ० ७५)

१६. समप्पियं च सूरिणो ललिलगेण पुव्वागयरयणाणं मज्झाओ जच्चरयणं तदुज्जोएण य रयणीए वि दप्पेइ सूरिमित्ति पट्ठयाइ सुगंथे ।

(कहावली)

१७. बोध: शान्ति । १४४० ग्रन्था: प्रायश्चित्तपदे कृता: ।

(प्रबन्धकोश पृ० २५)

१८. तैश्चतुर्दशशतानि कृतानि सिद्धान्तरहस्यभूतानि (प्रकरणानि)

(पुरातन प्रबन्ध सं० १०४)

६३. वरिष्ठ विद्वान् आचार्य बप्पभट्टि

बप्पभट्टि अपने युग के बहुचर्चित आचार्य थे। उनका दूसरा नाम भद्रकीर्ति भी था पर उनकी प्रसिद्धि बप्पभट्टि के नाम से हुई। शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के कारण उन्हें वादि-कुञ्जर केसरी की उपाधि प्राप्त हुई।[1] अपने बौद्धिक बल से कान्य-कुब्ज नरेश 'आम' को प्रभावित कर बप्पभट्टि ने जैन शासन की महती प्रभावना की। गोड़देश (बंगप्रदेश के धर्म नरेश भी आचार्य बप्पभट्टि की चामत्कारिक काव्य प्रतिभा पर अत्यन्त मुग्ध थे।

गुरु-परम्परा

बप्पभट्टि के गुरु का नाम सिद्धसेन था। ये सिद्धसेन श्वेताम्बर परंपरा मे 'मोढ़' गच्छ के आचार्य थे एवं इतिहास प्रसिद्ध दिवाकर सिद्धसेन से भिन्न थे। प्रस्तुत सिद्धसेन की पूर्व गुरु परम्परा का उल्लेख प्रभावक चरित्र आदि ग्रन्थो मे नही है। गोविन्दसूरि और नन्नसूरि सिद्धसेन के ज्येष्ठ गुरु बन्धु (एक गुरु से दीक्षित मुनि परस्पर गुरु भाई कहलाते हैं।)

जन्म एवं परिवार

बप्पभट्टि क्षत्रिय वशज थे। बप्पभट्टि का जन्म वी० नि० १२७० (वि० स० ८००) भाद्रपद तृतीया रविवार को गुजरात प्रदेशान्तर्गत डुम्बा-उधि गाव मे हुआ।[2] उनके पिता का नाम बप्प एवं माता का नाम भट्टि था। बप्पभट्टिसूरि के वंशज सम्भवतः पाञ्चाल देश निवासी थे। स्वयं का परिचय देते समय बप्पभट्टि अपने को पाञ्चाल देश्य बप्प का पुत्र बताया करते थे।[3] बप्पभट्टि की जन्म स्थली पाञ्चाल नहीं गुजरात की धरा थी अतः पाञ्चाल उनका गोत्र भी हो सकता है। आज भी गुजरात के कुछ लोग जाति के आधार पर अपने को पाञ्चाल कहते हैं। बप्पभट्टि के बचपन का नाम सूरपाल था।

जीवन-वृत्त

सूरपाल एक स्वाभिमानी बालक था। एक बार वह रुष्ट होकर

निकल गया और सिद्धसेन के चरणो तक पहुंच गया। यहीं से सूरपाल के जीवन सुधार का द्वार खुल गया। घटना प्रसंग संक्षेप मे इस प्रकार है।

आचार्य सिद्धसेन एक बार मोढेर नगर में विराजमान थे। उन्होंने स्वप्न मे चैत्य पर छलांग भरते केशरी-शावक को देखा।[४] वे प्रातः मन्दिर में गए। उनकी दृष्टि एक षट्वार्षिक बालक पर केन्द्रित हो गई। वह आकृति से प्रभावक प्रतीत हो रहा था। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से पूछा—"तुम कौन हो? कहां से आ रहे हो?" बालक ने कहा मेरा नाम सूरपाल है। मैं पांचालदेश्य बप्प का पुत्र हूं। मेरी मां का नाम भट्टी है। मेरे मन में राजद्रोही शत्रुजनो से युद्ध करने की भावना जागृत हुई, पर पिता ने मुझे रोक दिया। निरभिमानी पिता के पास रहना मुझको उचित नहीं लगा। मैं घर के वातावरण से पूर्णतः असन्तुष्ट होकर मां-बाप को बिना पूछे ही यहां चला आया हूं।

आचार्य सिद्धसेन व्यक्ति के पारखी थे। वे आकृति को देखकर उसके व्यक्तित्व को पहचान लेते थे। आचार्य सिद्धसेन ने बालक को देखकर चिंतन किया। "अहो दिव्यरत्नं न मानवमात्रोऽयं" यह सामान्य बालक नहीं दिव्य रत्न है। "तेजसा हि न वयः समीक्ष्यते"—तेजस्विता का वय से कोई अनुबंध नहीं है। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से कहा, "वत्स! हमारे पास रहो। सन्तो का आवास घर से भी अधिक सुखकर होता है।" विकस्वर सरोरुह पर अलि का मुग्ध हो जाना स्वाभाविक है। सूरपाल गुरु के जीवन बोधकारी प्रसाद को प्राप्त कर उनके पास रहने के लिए प्रस्तुत हो गया। आचार्य सिद्धसेन बालक को लेकर अपने स्थान पर आए। उसकी भव्य आकृति को देखकर श्रमणों को प्रसन्नता हुई। गुरु ने उन्हें अध्यात्म-प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया। बालक तीव्र प्रज्ञा का धनी था। श्रवणमात्र से उन्हें पाठ ग्रहण हो जाता था। एक दिन में सूरपाल ने सहस्र श्लोक कंठस्थ कर सबको विस्मयाभिभूत कर दिया।[५] बालक की शीघ्रग्राही मेधा से गुरु को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्हें लगा—जैसे योग्य पुत्र को उपलब्ध कर पिता धन्य हो जाता है, उसी प्रकार हम योग्य शिष्य को पाकर धन्य हो गए। पूर्ण पुण्य-संचय से ही ऐसे शिष्य रत्नो की प्राप्ति होती है।

शिष्य परिवार से परिवृत्त सिद्धसेन डुबाउधी ग्राम मे गए। बालक सूरपाल भी उनके साथ था। डुंबाउधी सूरपाल की जन्मभूमि थी। राजा बप्प और भट्टि दोनो मुनिजनो को वन्दन करने आये। आचार्य सिद्धसेन ने

उनको उद्‌बोधन देते हुए कहा—"संसार अवकर में अनेक पुत्र कृमि की भांति पैदा होते हैं, उनसे क्या ! तुम्हारा पुत्र धन्य है; वह व्रत धर्म को स्वीकार करना चाहता है। तुम इस पुत्र का धर्म संघ के लिए दान कर महान् धर्म की आराधना करो। भवार्णव से तैरने की भावना रखता हुआ तुम्हारा पुत्र श्लाघनीय है।"

पुत्र के दीक्षा ग्रहण की बात सुनकर माता-पिता का मन उदास हो गया। वे बोले, "हमारे घर में यह एक ही कुलदीप है। उसे हम आपको कैसे प्रदान कर सकते हैं?"

मोह का बन्ध माता-पिता मे जितना सघन था उतना सूरपाल में नहीं था। धर्म गुरुओ के पास रहने के कारण उसका मोह और भी तरल हो गया था। उसने सबके सामने अपने विचार स्पष्ट कहे—"मैं चारित्र पर्याय को अवश्य स्वीकार करूंगा।" पुत्र की निश्चयकारी भाषा से माता-पिता को अपने विचार बदलने पड़े। सुत को गुरु-चरणो में समर्पित करते हुए उन्होंने निवेदन किया, "आर्य ! आप इसे ग्रहण करें और इसका नाम बप्पभट्टि रखें, इससे हमारा नाम भी विश्रुत होगा।"

आचार्य सिद्धसेन को बप्पभट्टि नाम रखने में कोई बाधा नहीं थी। उन्होने अभिभावको की आज्ञापूर्वक वी० नि० १२७७ (वि० सं० ८०७) वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन गुरुवार को मोढेरक नगर मे उसे दीक्षा प्रदान की।[1] मुनि जीवन मे सूरपाल का नाम भद्रकीर्ति रखा गया। बप्पभट्टि नाम उनका विशेष प्रसिद्ध हुआ। यह नाम मां-बाप की प्रार्थना पर गुरु ने पहले ही स्वीकार कर लिया था। संघ की प्रार्थना से आचार्य सिद्धसेन ने वह चातुर्मास वहीं किया।

एक बार की घटना है बप्पभट्टि बहिर्भूमि गए थे। अतिवृष्टि के कारण उन्हें देव-मंदिर मे रुकना पड़ा। वहां इतर नगर से समागत एक प्रबुद्ध व्यक्ति से उनका मिलन हुआ। वह व्यक्ति विशेष प्रभावी परिलक्षित हो रहा था। उसे मुनि बप्पभट्टि से प्रसाद गुणसम्पन्न गम्भीर काव्य के श्रवण का आस्वाद प्राप्त हुआ। वह बप्पभट्टि की व्याख्या-शक्ति से प्रसन्न हुआ और वर्षा रुकने पर उन्हीं के साथ धर्म-स्थान पर आ गया। आचार्य सिद्धसेन ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो?" उसने कहा—"कान्यकुब्ज देश के अन्तर्गत गोपाल गिरि नगर के राजा यशोवर्मा का मैं पुत्र हूं। मेरी माता का नाम सुयशा है। मैं यौवन से उन्मुक्त होकर विपुल धन का व्यय करता था। मेरी

इस आदत से प्रकुपित पिता ने मुझे शिक्षा दी—'वत्स ! मितव्ययी भव'—वत्स ! मितव्ययी बन। पिता की यह शिक्षा मुझे नीम की तरह कटु लगी। मैं उनसे रुष्ट होकर घर से निकला और इतस्ततः चक्कर लगाता यहा आ पहुंचा हू। गुरु के द्वारा नाम पूछने पर उसने खटिका से लिखकर बताया—"आम।" आम का महाजनोचित यह व्यवहार देखकर गुरु को लगा—यह कोई पुण्य पुरुष है।

आम भी आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हुआ। गुरु के आदेशपूर्वक उसने मुनि बप्पभट्टि से बहत्तर कलाओ का प्रशिक्षण पाया।* लक्षण और तर्क प्रधान ग्रन्थो को भी पढा। धीरे-२ बप्पभट्टि के साथ आम की प्रीति अस्थि-मज्जा की भाति सुदृढ हो गई।

आरम्भगुर्वीक्षयिणी क्रमेण ह्रस्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्नाछायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥४॥

(प्रबन्धकोश पृ० २८)

—खल मनुष्यो को प्रीति प्रभातकालीन छाया की भाति क्रमशः घटती जाती है, और सज्जन मनुष्यों की प्रीति मध्यान्होत्तर छाया की भाति क्रमश. बढ़ती जाती है।

आम और बप्पभट्टि की प्रीति दिन-प्रतिदिन गहरी होती गई। कुछ काल के बाद राजा यशोवर्मा असाध्य बीमारी से आक्रात हो गया। उसने पट्टाभिषेक के लिये प्रधान पुरुषो के साथ आम कुमार को लौट आने का निमंत्रण भेजा। आम की इच्छा न होते हुए भी राजपुरुष उसे ले आए। पिता-पुत्र का मिलन हुआ। पिता ने पुत्र को सबाष्प नयनो से देखा, गाढ आलिगन के साथ गद्गद् स्वरो से उपालम्भ भी दिया।

औपचारिक व्यवहार के बाद यशोवर्मा ने प्रजा पालन का प्रशिक्षण पुत्र को दिया और शुभ मुहूर्त्त मे आम का राज्याभिषेक हुआ।

राज्य चिता से मुक्त होकर यशोवर्मा धर्म चिन्ता मे लगे। जीवन के अन्तिम समय मे अरिहन्त, सिद्ध और साधु—त्रिविध शरण को ग्रहण करते हुए उनको स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

आम ने उनका औध्र्वदेहिक सस्कार किया। राज्यारोहण के प्रसंग पर प्रजा को विपुल दान दिया। आम को किसी प्रकार की चिन्ता नही थी, प्रजा सुखी थी। किन्तु परममित्र मुनि बप्पभट्टि के बिना नरेश आम को अपनी सम्पन्नता पलाल-पुलसम निस्सार लग रही थी।

राजा आम का निर्देश प्राप्त कर राजपुरुष बप्पभट्टि के पास पहुचे और प्रणतिपूर्वक बोले, "आर्य ! आम राजा ने उदग्र उत्कंठा के साथ आपको आमन्त्रण भेजा है। आप हमारे साथ चलें और आम की धरती को पावन करें।" श्रमण बप्पभट्टि ने राजपुरुषों के निवेदन को ध्यान से सुना। गुरुजनो से आदेश लेकर गीतार्थ मुनियों के साथ वे वहां से प्रस्थित हुए और शीघ्र गति से चलते हुए कान्यकुब्ज पहुंचे। बप्पभट्टि के स्वागतार्थ सेना सहित राजा आम सामने आए। नरेश आम के अत्याग्रह से बप्पभट्टि हाथी पर बैठे। राजकीय सम्मान के साथ उनका नगर प्रवेश हुआ। बप्पभट्टि के आगमन से आम को अत्यधिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही थी। गुरु के चरणो में नत होकर आम ने निवेदन किया—"आर्य ! मेरा आधा राज्य आप ग्रहण करें।"

परिग्रह के मोह से सर्वथा मुक्त बप्पभट्टि बोले—"राजन् ! निर्ग्रंथों को पापमूलक राज्य से क्या करना है ?"

अनेकयोनिसम्पातानन्तबाधाविधायिनी ।
अभिमानफलैवेय राज्यश्री सा विनश्वरी ।।६।।

(प्रबन्धकोश पृ० २९)

अनेक योनियो मे ले जाने वाली अनन्त बाधा विधायिका अभिमान फल प्रदायिनी राज्यश्री भी शाश्वत नहीं है।

श्रमण बप्पभट्टि की अर्थ के प्रति अनासक्त भावना को देखकर राजा आम बहुत प्रभावित हुए।

राजसभा मे बप्पभट्टि के लिये सिंहासन की व्यवस्था की गई और राजा ने उस पर बैठने के लिये बप्पभट्टि से आग्रह भरा निवेदन किया।

श्रमण बप्पभट्टि बोले—"राजन् ! आचार्य के बिना सिंहासन पर बैठना उचित नही है। इससे गुरुजनों की आशातना होती है।"

आम राजा बप्पभट्टि के इस कथन के सामने निरुत्तर हो गए थे। सिंहासन पर बप्पभट्टि के न बैठने से उन्हें भारी असन्तोष था। गुरु के सामने प्रार्थना रखने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। राजा ने सोच-समझकर बप्पभट्टि और उनके साथ प्रधान सचिवों को आचार्य सिद्धसेन के पास प्रेषित किया एवं उनके साथ विज्ञप्ति-पत्र भी दिया। विज्ञप्ति-पत्र में लिखा था।

योग्यं सुतं शिष्य च नयन्ति गुरवः श्रियम् ।।

(प्रबन्धकोश पृ० २९)

योग्य पुत्र और शिष्य गुरुजनों की श्री को प्राप्त करते हैं। अतः आप बप्पभट्टि को सूरि पद सुशोभित करें।

राज पुरुषों द्वारा प्राप्त विज्ञप्ति को आचार्य सिद्धसेन ने पढ़ा। राजा की प्रार्थना पर गम्भीरता से चिन्तन कर शिष्य बप्पभट्टि को उन्होने आचार्य पद पर वी० नि० १२८१ (वि० ८११) चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन नियुक्त किया था।[६] एकान्त स्थान में उन्हें प्रशिक्षण देते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"मुझे ! मेरा अनुमान है तुम्हारा विशेष राज सत्कार होगा। अनेक प्रकार की सुविधाएं भी तुम्हें प्राप्त होंगी उनमे मुग्ध होकर लक्ष्य को मत भूल जाना। 'इन्द्रियजयो दुष्कर.' इन्द्रिय जय की साधना दुष्कर है।

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते।
येषां न चेतासि त एव धीराः॥

(प्रबन्ध कोश पृ० २६)

"विकार हेतु उपस्थित होने पर भी जो कुपथ का अनुसरण नहीं करते वे धीर पुरुष होते हैं।

मेरी इस शिक्षा को स्मृति में रखना, ब्रह्मचर्य की साधना मे विशेष जागरूक रहना।

शिष्य बप्पभट्टि को उचित प्रकार से मार्ग-दर्शन देकर आचार्य सिद्धसेन ने उन्हें आम राजा के पास पुनः प्रेषित किया।

विशेष पद से अलकृत मुनि बप्पभट्टि का आगमन आम के लिये हर्ष-वर्धक था। उन्होने बप्पभट्टि का भारी स्वागत किया एवं उनसे क्लेश-विनाशिनी, कल्याण-कारिणी, सारभूत धर्म देशना को सुना।

राजा की प्रबल भक्ति के कारण बप्पभट्टि का लम्बे समय तक वहीं विराजना हुआ। दिन-प्रतिदिन दोनो का प्रीतिभाव वृद्धिगत होता गया।

आचार्य बप्पभट्टि की काव्य-रचना ने आम को अत्यधिक प्रभावित किया। कभी-कभी तत्काल पूछे गये प्रश्न के उत्तर में अथवा तत्काल प्रदत्त कवितामयी समस्या के समाधान मे बप्पभट्टि द्वारा रचित श्लोको को सुनकर आम मुग्ध हो जाते, उन्हें बप्पभट्टि में सर्वज्ञ जैसा आभास होता।

एक बार बप्पभट्टि की शृंगाररस प्रधान कविता को सुनकर 'आम' राजा ने अन्यमनस्कता का भाव प्रकट किया। अपने प्रति राजा के द्वारा किया गया यह उपेक्षा का व्यवहार आचार्य बप्पभट्टि को अच्छा नहीं लगा। उन्होने वहां से 'आम' राजा को जानकारी दिए बिना ही प्रस्थान कर दिया।

नरेश 'आम' ने बप्पभट्टि के बारे में अनेक जगह पता लगाया पर सही जानकारी नहीं मिल सकी। बहुत प्रयत्न करने के बाद नगर द्वार के कपाट पर बप्पभट्टि द्वारा लिखित एक श्लोक पढ़ने को मिला। उससे आचार्य बप्पभट्टि के विहार कर देने की बात का निश्चय हो गया।

बप्पभट्टि ने कान्य कुब्ज (कन्नौज) से गौड देश (मध्य बंगाल) की ओर प्रस्थान किया था। कई दिनो के बाद वे गौड देश की राजधानी लक्षणावती मे पहुच गए। लक्षणावती में बप्पभट्टिसूरि का परिचय विद्वान वाग्पति राज से हुआ। वाग्पतिराज धर्मराज की सभा के पण्डित थे एवं परमार वंशीय क्षत्रिय थे। वाग्पतिराज ने बप्पभट्टिसूरि के आगमन की सूचना धर्मराज को दी। धर्मराज बप्पभट्टिसूरि के नाम से परिचित ही थे। बप्पभट्टिसूरि से मिलने की उनके मन मे कई दिनों से भावना थी। धर्मराज के प्रतिद्वन्द्वी 'आम' राजा के साथ मित्रता होने के कारण बप्पभट्टि के प्रति धर्मराज का दृष्टिकोण सन्देहास्पद था। उन्होंने वाग्पतिराज से कहा— 'बप्पभट्टि को अपनी सभा मे आमंत्रित करते हैं पर 'आम' राजा का निमंत्रण आने पर वे यहां से चले जाए इसमे मैं अपना अपमान समझता हूं अतः आम राजा स्वय अपनी सभा में उपस्थित होकर अपने नगर में पदार्पण की प्रार्थना बप्पभट्टि से करे तभी उनका यहा से विहार हो सकेगा अन्यथा नहीं। यह शर्त बप्पभट्टि द्वारा स्वीकार किये जाने पर ही उनके लिए अपने यहां रहने की व्यवस्था हो सकती है।'

बप्पभट्टिसूरि ने राजा की शर्त स्वीकार कर ली। धर्मराज के राज्य में वे सानन्द ससम्मान रहने लगे।

उधर आम राजा को कुछ दिनों के बाद धर्मराज के राज्य में बप्पभट्टि के पहुंच जाने की सही जानकारी मिली। उन्होंने राजपुरुषो को उन्हें बुलाने को भेजा। राजपुरुषो ने लौटकर बताया—'राजन् आप वहां जाकर स्वय उन्हें प्रार्थना करे तभी बप्पभट्टिसूरि का यहां आना सम्भव है।' सारी स्थिति की जानकारी लेकर आम स्वयं वेश बदलकर अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्मराज की सभा में पहुंचे। कई प्रकार की वहां ज्ञान गोष्ठियां चली। बप्पभट्टिसूरि ने श्लेषोक्ति मे धर्मराज ने कहा—'भूनाथ ! यह तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी नरेश है। पर सरल स्वभावी धर्मराज श्लेषोक्ति को सूक्ष्मता से समझ न सके।

बप्पभट्टिसूरि को अपने राज्य में पदार्पण की प्रार्थना कर नरेश आम वहां से चले गए। यह कार्य इतना गुप्त रूप से हुआ। बप्पभट्टि के अतिरिक्त

इस रहस्य को कोई नही जान सका। दूसरे दिन बप्पभट्टिसूरि ने सभा के बीच नरेश आम के आगमन की बात धर्मराज को सप्रमाण बताकर बप्पभट्टि सूरि ने वहा से प्रस्थान किया। मार्गान्तर की दूरी को पारकर सांकेतिक स्थान पर वे आम राजा से मिले। वहा से सभी ऊट की सवारी से कान्य कुब्ज सकुशल पहुच गए।[१]

आचार्य सिद्धसेन इस समय तक वृद्ध हो गए थे। शिष्य बप्पभट्टि को कन्नौज से अपने पास बुलाकर गण का सारा दायित्व सौपा। अनशनपूर्वक वे स्वर्ग को प्राप्त हुए। बप्पभट्टिसूरि कुछ दिन तक वहा पर रहे। उन्होने गण की सार सभाल की। उसके बाद ज्येष्ठ गुरुबन्धु गोविन्दसूरि और नन्दसूरि को गच्छ सम्भला कर उन्होने कन्नौज की तरफ पुन विहार कर दिया। नरेश आम को बप्पभट्टिसूरि के आगमन से अत्यधिक प्रसन्नता हुई।

ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा के लिए एक बार निशाकाल मे 'आम' ने पुरुष परिधान पहनाकर गणिका को बप्पभट्टि के पास भेजा। बप्पभट्टि सानन्द सोये हुए थे। पण्याङ्गना नि.शब्द गति से चलती हुई बप्पभट्टि के शयन-कक्ष तक पहुची और उनके चरणो की उपासना (मर्दन आदि क्रिया) करने लगी। नारी के कोमल कर स्पर्श होते ही बप्पभट्टि सजग हो गए और तत्काल उठकर बोले, पण्याङ्गने ! वायु तृणो को उड़ाया जा सकता है, काञ्चन गिरि उससे नही हिलते। नखो के प्रहार से शिलाखड को नही तोड़ा जा सकता। तुम जिस मार्ग से आई हो, उसी मार्ग से सकुशल लौट जाने मे ही तुम्हारा भला है। यहा तुम्हारा कोई काम नही है।'

वरवधू के भ्रू-विक्षेप आदि के सारे प्रयास निष्फल गए। बप्पभट्टि अपने लक्ष्य से किंचित् भी विचलित नही हुए।

गणिका नरेश आम के पास जाकर बोली 'भूस्वामिन ! बप्पभट्टि अपने व्रत मे पाषाण की भान्ति दृढ हैं। तिलतुष मात्र भी उनका मन मेरे हाव-भाव पर चलित नही हुआ।'

बप्पभट्टि के दृढ मनोबल पर आम राजा को प्रसन्नता हुई और उनके दर्शन करने पर राजा को सकोच भी हुआ। बप्पभट्टि ने उन्हे तोष देते हुए कहा, 'राजन् ! विशेष चिन्तन की कोई बात नही है। राजा को सभी प्रकार की परीक्षा लेने का अधिकार होता है।'

एक बार धर्म नरेश के आमन्त्रण पर आम राजा की ओर से बप्पभट्टि का और धर्म नरेश की ओर से बौद्ध विद्वान वर्द्धन कुञ्जर का छह महीने

तक शास्त्रार्थ हुआ । इस शास्त्रार्थ में हार और विजय का प्रश्न दोनो पक्षों से सम्बन्धित राजाओं से जुड़ा हुआ था अतः यह शास्त्रार्थ जन समुदाय के बीच राजाओ की उपस्थिति मे ही हो रहा था । इस शास्त्रार्थ मे धर्म नरेश का ग्रास भोजी विद्वान् होने पर भी परमार वंशी क्षत्रिय विद्वान् कवि वाक्पतिराज का भीतरी समर्थन पूर्व मित्रता के कारण बप्पभट्टिसूरि के साथ था । अन्त में आचार्य बप्पभट्टि की विजय हुई । शास्त्रार्थ विजय के उपलक्ष में उन्हें 'वादि कुञ्जर-केशरी' की उपाधि प्राप्त हुई । शास्त्रार्थ विजय के बाद आचार्य बप्पभट्टि के समझाने से आम नरेश और धर्म नरेश के बीच चला आ रहा वर्षों पुराना वैर शान्त हो गया । जैन शासन की महिमा इस घटना प्रसङ्ग से शत गुणित होकर महकी ।

यशोवर्मा ने एक बार अचानक धर्मराज पर आक्रमण किया । इस युद्ध मे यशोवर्मा की विजय हुई । धर्मराज की सभा मे सम्मानित पण्डित वाक्पतिराज को उन्होंने कैद किया और वे अपने देश ले गए वाक्पतिराज ने बन्दीगृह मे यशोवर्मा की प्रशसा मे 'गोड-वध' काव्य की रचना की । इस काव्य मे अपना गुणानुवाद सुनकर यशोवर्मा प्रसन्न हुए । उन्होने विद्वान् वाक्पतिराज को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया ।

वाक्पतिराज वहा से 'कन्नौज' आए । नरेश आम ने वाक्पतिराज को आदर दिया और अपने राज्य मे उसके रहने की अच्छी व्यवस्था की ।

आचार्य बप्पभट्टि भी पूर्व मित्रता के कारण उनसे मिलकर अत्यधिक प्रसन्न थे ।

बप्पभट्टिसूरि का काव्य कौशल यथार्थ मे ही विलक्षण था । काव्य के माध्यम से आम नरेश को वे कभी अत्यन्त तीखी बात कह देते और उन्हें अपनी गलती का भान करवा देते । किसी समय कान्य कुब्ज (कन्नौज) में नट मण्डली आई उनके साथ एक सुमधुर गायिका भी थी । आम नरेश गायिका की संगीत कला पर आकृष्ट हुए और रात्रि में वहीं रह गए । आचार्य बप्पभट्टि को नरेश का यह आचरण लोक व्यवहार की भूमिका पर अभद्र और अनुचित प्रतीत हुआ । राजा आम को अपनी इस गलती का बोध करा देने के लिए उन्होने एक श्लोक की रचना की । इस श्लोक को उन्होने ऐसे स्थान पर लिख दिया जहां प्रभात समय राजा की दृष्टि अवश्य केन्द्रित हो ।

रात बीती सूर्योदय हुआ । गायिका के भवन से बाहर आते ही भूपाल की दृष्टि भित्ति पर लिखित श्लोक पर पहुंची । वह श्लोक इस प्रकार था—

शत्यं नाम गुणस्तवैव तदनुस्वाभाविकी स्वच्छता ।
किं ब्रूम शुचितां भवन्त्यशुचयस्त्वत्सङ्गतोऽन्ये यतः ।
किंवाऽतः परमस्ति ते स्तुतिपदं त्व जीवित देहिना,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पय. कस्त्वा निरोद्धु क्षमः ।।५२।।

(प्रबन्ध कोश पृ० ३८)

श्लोक को पढ़ते ही राजा के मन मन्दिर मे ज्ञान-विवेक का दीपक जल गया । अपनी भूल का उन्हे भान हुआ वे आगे के लिए पूर्णतः सावधान हो गए और सम्भल गए ।

मथुरा के वाक्पति नाम साख्ययोगी के मन्त्र-प्रयोग से आम राजा पहले से ही विस्मयाभिभूत थे । एक बार बप्पभट्टि ने आम राजा को जैन धर्म स्वीकार करने की प्रेरणा दी । उत्तर मे आम राजा बप्पभट्टि से बोले—'आपने अपने विद्याबल से मेरे जैसे व्यक्तियो को ही प्रभावित करने का कार्य किया है, आपके सामर्थ्य को तब पहचान पाऊगा—जब आप मथुरा के वाक्पतियोगी को बोध देकर उन्हे जैन बना सके ।' राजा आम के इस वचन पर बप्पभट्टि वहा से उठे और मथुरा की ओर प्रस्थित हुए । वहा पहुच कर ध्यानस्थ वाक्पति के सामने कई श्लोक बोले श्लोको की भावमयी शब्दावली को सुनकर वाक्पति ने नयन खोले, दोनो ने धर्मचर्चा की । बप्पभट्टिसूरि ने जिनेश्वर प्रभु का स्वरूप समझाया और विभिन्न प्रकार से अध्यात्म बोध देकर उन्हे जैन दीक्षा प्रदान की ।

बप्पभट्टिसूरि के शिष्य गोविन्दसूरि और नन्दसूरि के व्यक्तित्व से भी आम राजा अत्यधिक प्रभावित थे । इसमे मुख्य निमित्त आचार्य बप्पभट्टि ही थे ।

आम ने जब बप्पभट्टिसूरि के सामने उनके बौद्धिक बल की प्रशंसा की उस समय बप्पभट्टि ने अपने को सामान्य बताते हुए गुरु बन्धु गोविन्दसूरि एव नन्दसूरि का नाम राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया एव उनके पाण्डित्य की मुक्त कठ से प्रशसा की । इस घटना से बप्पभट्टिसूरि का निरभिमानी रूप प्रकट होता है ।

जीवन के सन्ध्या-काल मे आम राजा ने भी बप्पभट्टि से जैन दीक्षा ग्रहण की । अन्त मे उच्च परिणामो की स्थिति में नमस्कार महामंत्र का जाप करते-करते आम राजा का वी० नि० १३६० (वि० सं० ८६०) भाद्रव शुक्ला ६ शुक्रवार को देहावसान हुआ ।

आम के पुत्र का नाम दुन्दुक था। आम के स्वर्गवास के बाद दुन्दुक ने राजसिंहासन ग्रहण किया। बप्पभट्टि को दुन्दुक के द्वारा पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। दुन्दुक के पुत्र का नाम भोज था पण्डितों ने बताया—'दुन्दुक को मारकर भोजराज सिंहासन ग्रहण करेगा।' कंटी नाम की एक वैश्या की सलाह से नरेश दुन्दुक ने राजकुमार भोज को मारने की योजना सोची। नरेश बनने के बाद दुन्दुक को कंटी ने पूरी तरह से अपने मोहजाल मे फंसा लिया। एक दिन ऐसा आया नरेश दुन्दुक के कार्यों में मुख्य सलाहकार यह कंटी बन गई थी। राजकुमार भोज की माता को इस षड्यन्त्र की सूचना मिल गई। उसने बालक भोज को किसी तरह ननिहाल पाटलिपुत्र मे भेज दिया। ननिहाल से भोज के न लोटने पर दुन्दुक ने बप्पभट्टिसूरि से कहा—आप पाटलिपुत्र जाओ और भोज को यहां आने के लिए तैयार करो या अपने साथ उसे ले आओ।

बप्पभट्टिसूरि सुमधुर वचनों से स्थिति को टालते रहे। इसी क्रम में इनके पांच वर्ष व्यतीत हो गए। एक दिन राजा दुन्दुक द्वारा अत्यन्त बाधित किये जाने पर राजपुरुषो के साथ बप्पभट्टि ने वहां से विहार कर दिया। मार्ग में उन्होंने सोचा—यह एक धर्म संकट का कार्य है। भोज द्वारा दुन्दुक की मृत्यु निश्चित है अतः भोज मेरे साथ आए या न आए, मैं दोनों ओर से सुरक्षित नहीं हूं। भोज के न आने पर राजा दुन्दुक मेरे पर क्रुद्ध होगा। उसके आने पर दुन्दुक का असमय प्राणान्त होगा। मेरा हित किसी प्रकार से निरापद नहीं हैं। इधर व्याघ्र है, उधर नदी की धार। मेरा आयुष्य भी दो दिन का अवशिष्ट रहा है। कार्य के परिणाम का गंभीरता से चिन्तन कर बप्पभट्टि ने अनशन स्वीकार कर लिया। नन्दसूरि, गोविन्दसूरि आदि श्रमणों के लिए उन्होने हित कामना की। सबको अनित्य भावना का उपदेश दिया।[10] महाव्रतों मे जाने-अनजाने लगे दोषों की आलोचना की।[11] वे अदीन भाव से ८९ वर्ष तक संयम पर्याय का पालन कर वी० नि० १३६५ (वि० पू० ८९५) श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन स्वाति नक्षत्र मे ९५ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गवासी बने।[12]

बप्पभट्टि के बाद राजा दुन्दुक का भी जल्दी ही देहावसान हो गया। पिता दुन्दुक की मृत्यु-पात्र भोज के योग से घटित हुई। इस घटना के बचाव के लिए दुन्दुक ने बहुत प्रयत्न किए थे पर स्थिति टल न सकी। दुन्दुक के बाद कन्नौज के सिंहासन पर राजकुमार भोज का राज्याभिषेक हुआ।

प्रभावक चरित्र के अनुसार जैन शासन की प्रभावना में राजाभोज ने आम से अधिक महनीय कार्य किए थे। राजा दुन्दुक के द्वारा जैन धर्म प्रभावना का कोई भी कार्य सम्पन्न हुआ हो ऐसा उल्लेख नही मिलता।

बप्पभट्टि के समय में मुनि जीवन को आजीवन पाद विहार की मर्यादाएं शिथिल हो रही थी। मुनिजन स्वयं सवारी के प्रयोग करने लगे थे। बप्पभट्टि ने भी आम राजा के आग्रह पर गज और ऊंट के वाहन का उपयोग कन्नौज नगर मे आगमन के समय किया था।

आचार्य बप्पभट्टि पार्श्वपत्यानुयायी आचार्य रत्नप्रभ के समकालीन थे। इस समय ओसवाल जाति का अभ्युदय हुआ था। आचार्य रत्नप्रभ के चामत्कारिक प्रयोगो से एवं उपदेशो से प्रभावित होकर 'ओसिया' नगरी के निवासी क्षत्रिय परिवारो ने सामूहिक रूप से जैन दीक्षा ग्रहण की और वे ओसवाल कहलाए। कई इतिहासकारों के अभिमत से ओसवाल जाति का अभ्युदय वी० नि० १३ वी (वि० सं० ९वी) शताब्दी के बाद हुआ। आचार्य बप्पभट्टि का स्वर्गवास इससे कुछ वर्ष पूर्व हो गया था।

बप्पभट्टि समर्थ व्यक्तित्व के धनी थे। आचार्य रत्नप्रभ की भान्ति सामूहिक जैनीकरण का कार्य उन्होने नहीं किया पर राजाओ को प्रतिबोधित करने से बप्पभट्टि द्वारा जैन शासन की विशेष श्री वृद्धि हुई। आम राजा के साथ उनके गहरे मैत्री सम्बन्ध मानवजाति के लिए कल्याणकर सिद्ध हुए। बप्पभट्टि के गुणानुवाद मे निम्नोक्त श्लोक विश्रुत है—

बप्पभट्टिर्भद्रकीर्तिर्वादिकुंजरकेसरी ।
ब्रह्मचारी गजवरो राजपूजित इत्यपि ।।७६६।।
(प्रभा० चरित्र, पृ० ११०)

इस श्लोक मे ब्रह्मचारी और राजपूजित जैसे विशेषण बप्पभट्टि के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य की उत्तम साधना करने वाले एवं राजाओ द्वारा विशेष सम्मान प्राप्त विशिष्ट विद्वान् आचार्य बप्पभट्टि थे।

ग्रंथ रचना

बप्पभट्टि ग्रंथ रचनाकार भी थे। उन्होने ५२ प्रबन्धो की रचना की। उनमें चतुर्विंशति स्तोत्र (जिनस्तुति), सरस्वती स्तोत्र ये दो प्रबन्ध ही वर्तमान मे उपलब्ध है।

धनपाल की तिलकमंजरी मे भद्रकीर्ति निर्मित 'तारागण' नामक ग्रंथ

का उल्लेख है। भद्रकीर्ति बप्पभट्टि का ही गुरु प्रदत्त नाम था अतः तारागण ग्रन्थ भी बप्पभट्टि की मुख्य रचना सम्भव है पर यह वर्तमान मे उपलब्ध नहीं है।

समय-संकेत

बप्पभट्टिसूरि का जन्म वी० नि० १२७० (वि० स० ८००) मुनि दीक्षा संस्कार वी० नि० १२०७ (वी० ८०७) आचार्य पद प्राप्ति का काल वी० नि० १२८१ (वि० सं० ८११) है। आचार्य पद ग्रहण के समय वे मात्र ११ वर्ष के थे।[३] उनकी कुल आयु ९५ वर्ष की थी। ८४ वर्ष तक उन्होंने धर्म संघ के दायित्व को सम्भाला। उनका स्वर्गवास वी० नि० १३६५ (वि० स० ८९५) बताया गया है। इस आधार पर बप्पभट्टिसूरि वी० नि० की १३ वीं (वि० ९वी) सदी के विद्वान् आचार्य थे।

बप्पभट्टिसूरि के महत्त्वपूर्ण वर्षों के समय ज्ञापक श्लोक इस प्रकार हैं[४]—

विक्रमत शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद बप्पभट्टिगुरोः ॥७३९॥
षड्वर्षस्य व्रतं चैकादशे वर्षे च सूरिता।
पचाधिकनवत्या च प्रभोरायुः समर्थितम् ॥७४०॥
शर-नंद-सिद्धिवर्षे (८९५) नभः शुद्धाष्टमीदिने।
स्वातिभेऽजनि पंचत्वमामराजगुरोरिह ॥७४१॥

राजाओ का प्रतिबोध देकर तथा प्रबन्धो की रचना कर बप्पभट्टि ने विपुल यश का अर्जन किया था।

आधार-स्थल

१ बप्पभट्टिभंद्रकीर्तिर्वादिकुंजरकेसरी ।
ब्रह्मचारी गजवरो राजपूजित इत्यपि ॥७९९॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११०)

२. विक्रमतः शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद बप्पभट्टिगुरोः ॥७३९॥
(प्रभावकचरित, पत्राङ्क १०६)

३. पञ्चालदेश्य बप्पाख्यः पुत्रोहं भट्टिदेहभूः ॥१७॥
(प्रभा० च०, पत्राङ्क ८०)

४. श्रीसिद्धसेननामा सूरीश्वरो.........रात्रावात्मारामरतो योगनिद्रया स्थितः सन् स्वप्नं ददर्श। यथा केसरिकिशोरको देवगृहोपरि क्रीडति।
(प्रबन्धकोश, पत्राङ्क २६)

५. एकाह्नेन श्लोकसहस्रमध्यगीष्ट।
(प्रबंधकोश, पत्राङ्क २६)

६. शताष्टके च वर्षाणां गते विक्रमकालतः।
सप्ताधिके राधशुक्लतृतीयादिवसे गुरौ ॥२८॥
(प्रभावकचरित, पत्राङ्क ८०)

७. तत्रास्स्व वत्स ! निश्चिन्तो निजेन सुहृदा समम्।
शीघ्रं गृहाण शास्त्राणि सगृहाणामलाः कलाः ॥६१॥
एवंविधकलानां च द्वासप्ततिमधीतवान्।
अनन्यसदृश· कोविदानां पर्षदि सोऽभवत् ॥७३॥
(प्रभावकचरित, पत्राङ्क ८१-८२)

८. एकादशाधिके तत्र जाते वर्षशताष्टके।
विक्रमात् सोऽभवत् सूरिः कृष्णचैत्राष्टमीदिने ॥११५॥
(प्रबंधकोश, पत्राङ्क ८३)

९. इत्युक्त्वाऽतो निरीयागात् संगत्यामनृपेण च।
करभीभिरभीपुंभि· सूरभिर्यशसा गुरु ॥२६५॥
(प्रभावकचरित, पत्राङ्क ६१)

१०. वाग्लङ्घने राजाऽपि क्रुद्धो मां हन्ति तस्मादितो व्याघ्र इतो दुस्तटी इति न्यायः प्राप्तः। समाप्तं च ममायु. दिवसद्वयमवशिष्यते, तस्मादनशनं शरणम् इति विमृश्यासन्नस्थयतयो भाषिताः नन्नसूरि-गोविन्दाचार्यौ प्रति हिता भवेत। श्रावकेभ्यो मिथ्यादुष्कृत ब्रूयात्। परस्परममत्सरतामाद्रियेध्वम्। क्रियां पालयेत्। आबालवृद्धान् लालयेत्। नो वयं युष्मदीयाः, न यूयमस्मदीयाः सम्बन्धा.। कृत्रिमाः सर्वे। इति शिक्षयित्वाऽनशनस्थाः समतां प्रपन्नाः।
(प्रबन्धकोश, पत्राङ्क ४४)

११. महाव्रतानि पञ्चैव षष्ठक रात्रिभोजनम्।
विराधितानि यत्तत्र मिथ्यादुष्कृतमस्तु मे ॥७७॥
(प्रबंधकोश, पत्राङ्क ४५)

१२. शर-नन्द-सिद्धिवर्षे (८९५) नभःशुद्धाष्टमीदिने ।
स्वातिभेऽजनि पंचत्वमामराजगुरोरिह ॥७४१॥

(प्रभावकचरित, पत्राङ्क १०९)

१३. षड्वर्षस्य व्रतं चैकादशे वर्षे च सूरिता ॥७४०॥

(प्रभावकचरित पृ० १०९)

६४. उदात्त चिन्तक आचार्य उद्योतन (दाक्षिण्यांक)

कुवलयमाला के रचनाकार उद्योतनसूरि 'दाक्षिण्यांक' नाम से प्रसिद्ध है। गम्भीर रचनाकारो में *आचार्य उद्योतनसूरि का स्थान है।* उद्योतनसूरि विभिन्न दर्शनो के धुरन्धर विद्वान् थे। सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष विद्या, धातु विज्ञान आदि नाना विषयों के वे विशिष्ट ज्ञाता थे।

गुरु-परम्परा

उद्योतनसूरि की गुरु-परम्परा में हरिगुप्त नाम के आचार्य हुए हैं। हरिगुप्त इतिहास प्रसिद्ध 'तोरगाण' राजा के गुरु थे। हरिगुप्त का सम्बन्ध सम्भवतः गुप्तवंश से था। महाकवि देवगुप्त हरिगुप्त के प्रमुख शिष्य थे। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र गणी थे। शिवचन्द्र गणी के शिष्य क्षमाश्रमण यज्ञदत्त थे। यज्ञदत्त के अनेक शिष्य थे। उनके मुख्य छह शिष्यो मे एक नाम बटेश्वर का भी है। बटेश्वर के शिष्य तत्त्वाचार्य थे। जो अपनी ज्ञान सम्पदा से विशेष प्रसिद्ध थे। तत्त्वाचार्य के शिष्य प्रस्तुत उद्योतनसूरि थे। यह गुरु-परम्परा कुवलयमाला की प्रशस्ति में प्राप्त है।

उद्योतनसूरि ने सैद्धांतिक ग्रन्थो का अध्ययन आचार्य वीरभद्र से एवं न्यायशास्त्र का अध्ययन हरिभद्रसूरि से किया था।[१]

साहित्य

उद्योतनसूरि विशिष्ट व्याख्याकार थे एवं संस्कृत प्राकृत के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। कुवलयमाला उनकी चम्पू शैली में रचित प्राकृत कथा है। गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना है। पैशाची, अपभ्रंश एवं संस्कृत के प्रयोगों ने इस कथा को रोचकता प्रदान की है।

विविध अलङ्कारो की संयोजना से मंडित, प्रहेलिका एवं सुभाषितों की सामग्री से पूर्ण, मार्मिक प्रश्नोत्तरों से सुसज्जित एवं नाना प्रकार की वणिक् बोलियों के माध्यम से मधुर रस का पान कराती हुई यह कथा पाठक के मन को मुग्ध कर देने वाली है।

बाण की कादम्बरी, त्रिविक्रम की दमयन्ती कथा और प्रकांड विद्वान् आचार्य हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' का अनुगमन करती हुई ग्रन्थ की रचना शैली अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। अनेक देशी शब्दो के प्रयोग भी इस कृति में है।

कृति का आद्योपांत अध्ययन उद्योतन के विशाल ज्ञान की सूचना देता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि के दु.खद परिणाम बताने के लिए लेखक ने लघु किन्तु सरस कथाओ का व्यवहार कर इस कृति में मधु-बिंदु रस जैसा आकर्षण भर दिया था।

जबालिपुर (जालोर मे) इस ग्रन्थ को लिखकर लेखक ने सम्पन्न किया था। यह स्थान जोधपुर के दक्षिण मे है। आचार्य उद्योतन के उदात्त चिंतन का प्रतिबिम्ब इस कृति मे प्राप्त होता है।

संयम-संकेत

उद्योतनसूरि के कुवलयमाला ग्रन्थान्त में प्राप्त उल्लेखानुसार इस ग्रन्थ की रचना समाप्ति शक संवत् ७०० के पूर्ण होने के एक दिन पहले हुई थी। इस आधार पर उद्योतनसूरि का समय वी० नि० १३०४ (वि० ८३४) निर्णीत होता है।

सग-काले बोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एग दिणेणूणेहि रहया अवरण्ह-वेलाए॥
(कुवलयमाला पृ० २८३)

बड़गच्छ के संस्थापक उद्योतनसूरि से प्रस्तुत उद्योतनसूरि सौ साल से भी अधिक पूर्व के हैं।

आधार-स्थल

(१) तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयण सोहिल्ला।
जत्थ ट्ठिएण भुत्ता पुहइ सिरि-तोर राएण॥
तस्स गुरु हरिउत्तो आयरियो आसि गुत्त वसाओ।
तीए णयरीए दिण्णो जेण निवेसो तहिं काले॥
तस्स वि सिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामो त्ति।
सिवचद-गणी अह महयरो त्ति॥
सो जिनवदणहेतु कह वि भमंतो कमेण संपत्तो।
सिसि-भिन्नमाता-णयरम्मि सठिओ कप्परुक्खोव्व॥

तस्स खमासमण गुत्तो णामेण य जक्खदत्त-गणि-णामो ।
सीसो महइ-महप्पा आसि तिलोए पयइ जसो ।।
तस्स य बहुया सीसा तव-वीरिय-वयण-लद्धि संपण्णा ।
रम्मो गुज्जर-देसो जेहि कओ देवहर एहि ।।
णागो विंदो मम्मड दुग्गो आयरिय-अग्गिसम्मो य ।
छट्ठो बडेसरो छम्मुहस्स वयणव्व ते आसि ।।
तस्स विसेसो अण्णो तत्तायरिओ त्ति णाम पयड गुणो ।
सीसेण तस्स एसा हिरिदेवो-दिण्ण-दंसण मणेण ।।
रइया कुवलयमाला विलसिया दक्खिण्ण-इंधेण ।
दिण्ण जहिच्छिय फलओ बहुकिसी कुसुमरेहिरामोओ ।।
आमरिय-वीरमहो अथावरो कप्परुक्खोव्व ।
सो सिद्धंतेण गुरुजुत्ती सत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।।
बहु-सत्थ-गंथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड सव्वत्थो ।
आसि तिकम्मामिरओ महादुवारम्मि खत्तिओ पयडो ।।
उज्जोयणो त्ति णामं तच्चिय परिभुंजिरे तइया ।
तस्सुज्जोयण-णामो तणओ अह विरइया तेण ।।

(कुवलयमाला, पृष्ठ २८३)

६५. विश्रुत व्यक्तित्व आचार्य वीरसेन

दिगम्बर विद्वान् वीरसेन टीकाकार आचार्य थे। धवला, जय-धवला उनकी अत्यधिक प्रसिद्ध टीकाएं हैं। सिद्धांत, ज्योतिष, व्याकरण, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र का भी उन्हें प्रकृष्ट ज्ञान था।[1] वीरसेन के शब्दो में वे वादि-वृन्दारक (वादिमुख्य) थे। लोकविद थे, कवि थे, वाग्मी थे[2] और श्रुतकेवली के समकक्ष थे।[3] हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेन ने "कविचक्रवर्ती" का सम्बोधन देकर उनके अगाध प्रज्ञाबल की सूचना दी है।[4]

गुरु-परम्परा

आचार्य वीरसेन मूल संघान्तर्गत पञ्चस्तूपान्वयी शाखा के थे। वीरसेन की गुरु-परम्परा धवला टीका की प्रशस्ति में प्राप्त है। इस प्रशस्ति के अनुसार चन्द्रसेन के शिष्य आर्यनन्दी और आर्यनन्दी के शिष्य वीरसेन थे। इसी प्रशस्ति मे वीरसेन ने अपने को एलाचार्य का वत्स कहा है।[5] एलाचार्य की गुरु-परम्परा का उल्लेख वीरसेनाचार्य ने नहीं किया है। एलाचार्य चित्रकूट के निवासी थे। सकल सिद्धांतशास्त्र के विशेष ज्ञाता थे। इन्हीं से वीरसेनाचार्य ने सिद्धांतों का अध्ययन कर साहित्य रचना का काम किया था।[6]

इससे स्पष्ट है—एलाचार्य वीरसेनाचार्य के विद्यागुरु थे। एलाचार्य की गुरु-परम्परा का उल्लेख वीरसेनाचार्य ने नहीं किया।

वीरसेन के शिष्य परिवार में जिनसेन, दशरथ विनयसेन आदि कई शिष्यों के नाम मिलते हैं। दर्शनसार ग्रन्थ में प्राप्त उल्लेखानुसार विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा काष्ठ संघ की स्थापना हुई थी।[7]

साहित्य

साहित्यिक क्षेत्र में आचार्य वीरसेन का योगदान टीका साहित्य के रूप मे है। वर्तमान मे उनकी दो टीकाएं उपलब्ध हैं—(१) धवला (२) जय-धवला। दोनों ग्रन्थ टीकाओं का परिचय इस प्रकार है—

धवला टीका

धवला टीका षट्खण्डागम ग्रन्थ के पांच खण्डों की व्याख्या है। षट्-

खण्डागम का महाबन्ध नामक छठा खण्ड भूतबलि के द्वारा सविस्तार प्रस्तुत है अतः इस खण्ड पर वीरसेन को टीका लिखने की आवश्यकता ही अनुभूत नहीं हुई होगी। यह धवला टीका प्राकृत संस्कृत मिश्रित ७२००० श्लोक परिमाण विशाल टीका है। षट्खण्डागम ग्रन्थ पर जितनी टीकाएं लिखी गई उनमें यह टीका महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य वीरसेन ने सिद्धात मर्मज्ञ एलाचार्य के पास चित्रकूट मे सिद्धातो का गम्भीर अध्ययन किया। अध्ययन की सम्पन्नता के बाद गुरु के आदेश से वे वाटग्राम (बडौदा) आये। बप्पदेवाचार्य निर्मित टीका से प्रेरणा प्राप्त कर वीरसेन ने इस टीका का निर्माण किया था। इस टीका को पढने से आचार्य वीरसेन के व्यापक ज्ञान की सूचना मिलती है।

धवला की प्रशस्ति मे वीरसेनाचार्य ने एलाचार्य का विद्यागुरु के रूप मे उल्लेख किया है।[८]

जयधवला टीका

यह टीका गुणधर के कषाय प्राभृत ग्रन्थ पर लिखी गई है। इस टीका का निर्माण भी वीरसेन ने वाटग्राम मे किया था। प्रस्तुत टीका भी ६० सहस्र श्लोक परिमाण का बृहद् ग्रन्थ है। इसमे २० सहस्र श्लोक वीरसेन के हैं, शेष रचना आचार्य जिनसेन की है। वीरसेन का जयधवला टीका रचना को पूर्ण करने से पूर्व ही स्वर्गवास हो गया। अतः गुरु के अधूरे रचना कार्य को आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया था। जयधवला टीका रचना को आचार्य वीरसेन ने एलाचार्य के प्रसाद का परिणाम माना है। आचार्य जिनसेन ने इस टीका को वीरसेनीयाटीका लिखा है।

आचार्य वीरसेन की ये दोनो टीकाएं विविध सामग्री से परिपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक है। इन दोनो टीकाओ की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के शासन काल में हुई थी।

नरेश अमोघवर्ष प्रथम से पूर्व राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय का शासन था। नरेश गोविन्द तृतीय ने भी जैन शासन की वृद्धि मे पर्याप्त योग-दान दिया था। अमोघवर्ष का नाम धवल और अतिशय धवल भी था। इन नामों के आधार पर ही सम्भवतः वीरसेन ने अपनी टीकाओं का नाम धवला और जयधवला रखा।

समय-संकेत

अपने युग के विश्रुत विद्वान् एवं कषाय प्राभृत तथा षट्खण्डागम

जैसे गूढार्थ ग्रन्थों के आचार्य वीरसेन का समय जयधवला टीका के आधार पर निर्धारित हुआ है। आचार्य वीरसेन की अपूर्ण रचना जयधवला टीका को आचार्य जिनसेन ने शक सं० ७५६ वी० नि० १३४३ (वि० सं० ८७३) फाल्गुन शुक्ला दशमी को सम्पन्न किया था। धवला टीका का निर्माण जयधवला से पूर्व हुआ था। डा० हीरालाल जैन ने विविध शोध बिन्दुओं के द्वारा धवला टीका का समाप्ति काल शक सं० ७३८ माना है। इस आधार पर आचार्य वीरसेन वी० नि० की १४वीं (वि० ९ वी) के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१. सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण ।
भट्टारएण टोका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥

(धवला टीका की प्रशस्ति)

२. श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथ. ।
स न पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनि. ॥५५॥
लोकवित्व कवित्व च स्थित भट्टारके द्वय ॥
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥५६॥

(आदिपुराण)

३. श्रुतकेवलिन प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥२२॥

(जयधवला)

४. जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥३९॥

(हरिवंशपुराण)

५ एत्थ एलाइरियवच्छयस्स णिच्छओ ।

(जयधवला)

६ काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धाततत्त्वज्ञः ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धातमधीत्य वीरसेन गुरुः ।
उपरितमनिबन्धनाद्याधिकारानष्ट च लिलेख ॥

(इंद्रनन्दि श्रुतावतार पद्य १७७-१७८)

७. आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खयओ ।
सो सवणसघवज्झो कुमारसेणो दु समयमिच्छतो ॥
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघं परुवेदि ॥३५॥

(दर्शनसार)

८. जस्साएसेण मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुदं ।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ।।१।।

(धवलाटीका प्रशस्ति)

९. टीका श्रीवीरसेनीया शेषाः पद्धति-पञ्जिका ।।३९।।

(जयधवला प्रशस्ति)

६६. जिनवाणी संगायक आचार्य जिनसेन

दिगम्बर विद्वान् आचार्य जिनसेन द्वितीय का नाम भी सफल टीकाकारो मे हैं। आचार्य वीरसेन की भान्ति जिनसेन सिद्धान्तो के प्रकृष्ट ज्ञाता तथा कविमेधा से सम्पन्न थे। सरस्वती की उन पर अपार कृपा थी।[1] विनय नम्रता के गुणो से उनकी विद्या विशेष रूप से शोभायमान थी।[2]

गुरु-परम्परा

आचार्य जिनसेन के गुरु धवला एवं जयधवला के रचनाकार पञ्चस्तूपान्वयी आचार्य वीरसेन थे। वीरसेन के गुरु आर्य नन्दी थे। वीरसेन की गुरु परम्परा ही जिनसेन की गुरु परम्परा है। आचार्य वीरसेन के सुयोग्य शिष्य एवं सफल उत्तराधिकारी थे। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र के कथनानुसार हिमालय से गङ्गा और उदयाचल से भास्कर की भान्ति वीरसेन से जिनसेन की प्रज्ञा का उदय हुआ है।[3]

जीवन-वृत्त

जिनसेन ने कर्ण बन्ध सस्कार होने से पूर्व ही मुनि-जीवन स्वीकार कर लिया था। ज्ञानशलाका से ही उनका कर्णवेध संस्कार हुआ। शरीर से वे कृश थे। रूप मे सुन्दर नही थे पर उनका जीवन सद्गुण रूपी भूपणों से मण्डित था। गुरु के प्रति उनकी अनन्य आस्था थी। वे अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत के आराधक थे। धैर्य उनके जीवन का सहचर गुण था। ज्ञानाराधना में उनकी अप्रमत्त अवस्था तथा सतत जागरूकता आदर्शमय थी। ज्ञानाराधना की इस विशेषता के कारण इन्हे ज्ञान शरीरी (ज्ञान पिण्ड) कहा गया।[4]

जिनसेन के वर्चस्वी व्यक्तित्व की गरिमा ने लोक मानस को प्रभावित किया। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम की उनके प्रति परम आस्था थी। अतिशय धवल, श्री वल्लभ आदि उपाधियो से अलंकृत राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवर्ष का जैन धर्म सस्कृति के संरक्षक एवं परिपोषक सम्राटो में प्रमुख स्थान माना गया है। शक्ति और समृद्धि की दृष्टि से भी अमोघवर्ष की उस युग के महान् नरेशो मे गणना हुई। साठ वर्ष तक सम्राट् अमोघवर्ष ने सफल

शासन किया था। वे स्वय कवि थे और रचनाकार थे। उन्होने कन्नडी भाषा मे 'कविराजमार्ग' नामक छन्द अलंकार शास्त्र रचा एव संस्कृत मे 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' नामक नीतिशास्त्र का निर्माण किया। इस ग्रंथ के प्रारंभ मे तीर्थङ्कर महावीर को वन्दना की गई है। इससे नरेश अमोघवर्ष की जैन धर्म के प्रति गहरी भक्ति प्रकट होती है। गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण से जिनसेनाचार्य और नरेश अमोघवर्ष के निकट सम्बन्धो का परिचय मिलता है। उत्तरपुराण के प्राप्त उल्लेखानुसार जिनसेनाचार्य के चरण कमलो मे प्रणाम करके अमोघवर्ष नृपति अपने को धन्य और पवित्र मानते हैं।[१] अमोघवर्ष द्वितीय के हृदय मे भी आचार्य जिनसेन के प्रति विशेष सम्मान का भाव था।

साहित्य

अपने गुरु वीरसेन की भान्ति जिनसेन ने भी उच्चकोटि के साहित्य का सृजन किया। वर्तमान मे उनकी तीन रचनाए उपलब्ध है। पार्श्वाभ्युदय काव्य, जयधवला टीका और आदि पुराण। इन तीनो ग्रन्थो मे जयधवला टीका आचार्य वीरसेन की अधूरी रचना थी। उसे जिनसेन ने पूर्ण किया था। जिनसेन के ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है—

पार्श्वाभ्युदय काव्य

यह संस्कृत का एक खण्ड काव्य है। इसमे मदाक्रान्ता छन्द का उपयोग किया गया है। आचार्य जिनसेन की यथार्थ मे यह स्वतन्त्र रचना नही है। महाकवि कालिदास रचित काव्य की समस्या-पूर्ति है। इस काव्य मे मेघदूत के प्रत्येक चरण को किसी न किसी प्रकार से कुशलता पूर्वक समाहित कर दिया है। मेघदूत के अन्तिम चरण को समस्यापूर्ति के रूप मे कई काव्यो की रचना हुई पर अगस्त्यऋषि के सिन्धुपान की भान्ति।

जयधवला टीका

आचार्य वीरसेन की प्रारम्भ की हुई जयधवला टीका के कार्य को आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया था। जयधवला टीका आचार्य गुणभद्र के रचित कषाय प्राभृत ग्रन्थ की विशिष्ट व्याख्या है। दिगम्बर साहित्य मे विविध सामग्री से परिपूर्ण साठ हजार श्लोक परिमाण इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य वीरसेन ने इस ग्रन्थ के बीस हजार श्लोक रचे, अवशिष्ट चालीस हजार श्लोको की रचना आचार्य जिनसेन ने की।

टीकाकार ने जयधवला टीका की प्रशस्ति मे समाप्ति काल का,

स्थान का तथा तत्कालीन नरेश के नाम का उल्लेख भी किया है। पाठकों की जानकारी के लिए वे पद्य उद्धृत किये जा रहे हैं—

इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपलिने ॥६॥
फाल्गुने मासि पूर्वान्हे दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥७॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदयः।
निष्ठिता प्रचय यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥
एकोनषष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥११॥

वाटक ग्रामपुर मे राजा अमोघवर्ष के राज्यकाल मे फाल्गुन शुक्ला दशमी के पुर्वाह्न में शक स० ६५६ बाद यह टीका सम्पन्न हुई थी।

जयधवला प्राकृत बहुल टीका है। धवलाटीका की भान्ति विशद गम्भीर है। इसमे अनेक प्रकार की सैद्धान्तिक चर्चाएं हैं। दार्शनिक दृष्टियां संस्कृत भाषा मे निबद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि मे भी टीका महत्त्वपूर्ण है।

महापुराण

महापुराण भी जिनसेन का ग्रन्थ है। इसके दो भाग है—आदिपुराण व उत्तरपुराण। आदिपुराण में आदिनाथ ऋषभदेव का जीवन चरित्र प्रस्तुत किया गया है। उत्तरपुराण मे २३ तीर्थङ्करो का जीवन चरित्र का वर्णन है। आदिपुराण के ४७ पूर्व है और बारह हजार पद्य हैं। जिनसेन ने आदिपुराण के ४२ पूर्व और ४३ वे पूर्व के तीन श्लोक रचे। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया था। आदिपुराण मे अवशिष्ट भाग की रचना जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने की थी। आदिपुराण के १२ हजार श्लोको मे १०३८० श्लोकों की रचना जिनसेन ने की है। १६२० श्लोक गुणभद्र द्वारा रचित हैं।

यह आदिपुराण महाकाव्य की कोटि मे माना गया है। इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण व्याप्त हैं। सुभाषितो का यह भन्डार है। वीररस, शृंगाररस, शान्तरस आदि सभी रसो का आनन्द इस काव्य से पाठक को प्राप्त होता है। पदलालित्य, शब्दसौष्ठव, सालंकारिक भाषा और विभिन्न छन्दो के प्रयोग ने इस काव्य को अतिशय रमणीयता प्रदान की है।

समय-संकेत

आचार्य जिनसेन का समय अधिक विवादास्पद नही है। जयधवला

टीका की परिसमाप्ति आचार्य जिनसेन ने शक संवत् ७५९ मे की थी। इस आधार पर आचार्य जिनसेन का समय वी० नि० (१३६४) (वि० ८९४, इस्वी सन् ८३७) निश्चित है। वे वी० नि० १४ वी (वि० ९ वी) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१. ज्योत्स्नेव तारकाधीशे सहस्रांशाविद प्रभा।
स्फटिके स्वच्छतेवासीत्सहजास्मि सरस्वती ॥११॥

(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

२. धी: शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिका: गुणा:।

(जयधवला प्रशस्ति)

३. अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धु प्रवाहो
ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्ति:।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो
मुनिरनुजिनसेनो वीरसेनादयुष्यात् ॥८॥

(उत्तरपुराण प्रशस्ति पृष्ठ ५७३-७४)

४. जयधवला प्रशस्ति

५. यस्य प्रांशुरवांशुजालविसरद्धारन्तराविर्भवत्
पादाम्भोजरज: पिशङ्गमुकुट प्रत्यग्ररत्नद्युति:।
संस्मर्ता स्वममोघवर्ष नृपति: पूतोऽहमद्येसल
स श्रीमन्जिन तेन पूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥९॥

६ यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुति:।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति: संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥

(हरिवंशपुराण)

६७. गणनायक गुणभद्र

दिगम्बर परम्परा के प्रतिभाशाली आचार्यों में एक नाम गुणभद्र का भी है। टीकाकार वीरसेन जिनसेन की भांति आचार्य गुणभद्र भी विशिष्ट साहित्यकार थे। संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व था। उत्तरपुराण आचार्य गुणभद्र का जैन इतिहास सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य गुणभद्र ने अपने गुरुजनों की कीर्ति को विशेष उजागर किया है।

गुरु-परम्परा

आचार्य गुणभद्र के गुरु पञ्चस्तूपान्वयी टीकाकार वीरसेन के शिष्य जिनसेन थे। इनसे पूर्व की गुरु-परम्परा वही है जो वीरसेन की गुरु-परम्परा रही है। आचार्य गुणभद्र ने जिनसेनाचार्य के साथ दशरथ गुरु का भी स्मरण किया है। जिनसेनाचार्य और दशरथ गुरु इन दोनो का स्वयं को शिष्य बताया है।[1] लोकसेन नाम का उनका एक शिष्य भी था। वह उनके प्रमुख शिष्यो मे था।

जीवन-वृत्त

आचार्य गुणभद्र विनम्र स्वभाव के थे। गुरु के प्रति उनके हृदय में अगाध श्रद्धा का स्रोत छलकता था। आचार्य गुणभद्र के निम्नोक्त पद्य उनकी अनन्त गुरु-भक्ति को प्रकट करते हैं—

गुरुणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरुणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥१७॥
निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः।
ते तत्र संस्कारिष्यन्ते तत्र मेऽत्र परिश्रमः ॥१८॥

(आदिपुराण)

यह गुरु का ही महात्म्य है—मेरे वचन सरस एवं सुस्वादु बन पाये हैं। मधुर फलो को प्रदान करना वृक्ष का सहज स्वभाव ही होता है।

वाणी का प्रवाह हृदय से छलकता है। हृदय मे गुरु विराजमान हैं अतः वे मेरी मीठी वाणी को वहां बैठे स्वयं संस्कारित करेंगे। मुझे श्रम

करने की आवश्यकता ही नही होगी ।

इस प्रकार से आस्था की अभिव्यक्ति स्वयं गुणभद्राचार्य के गुरुत्व की अभिव्यक्ति है ।

आचार्य जिनसेन और दशरथ—इन दोनो गुरुओ से गुणभद्राचार्य ने विविध प्रकार की शिक्षाएं पाईं । व्याकरण आदि विषयो का उन्होने गम्भीर अध्ययन किया था । सिद्धान्त शास्त्र के वे पारगामी विद्वान् थे । नय और प्रमाणशास्त्र के सम्बन्ध में उनका ज्ञान अधिक विशिष्ट था ।

आचार्य गुणभद्र के समय अकालवर्ष का राज्य था । अकालवर्ष नरेश अमोघ वर्ष (गोविन्द तृतीय) के पुत्र थे । नरेश अकालवर्ष 'कृष्ण द्वितीय' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं ।

साहित्य

आचार्य गुणभद्र की काव्य मेधा प्रखर थी । उन्होने अधिक काव्य नही रचे हैं पर जो रचे हैं वे काव्याङ्गो से परिपूर्ण हैं । एवं उच्च कोटि के है । वर्तमान मे गुणभद्राचार्य की तीन रचनायें उपलब्ध है जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

उत्तरपुराण

आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित इस रचना की भाषा हृदयग्राही और सरल है । यह ग्रन्थ लगभग ८००० श्लोको में सम्पन्न हुआ है । इसकी रचना बंकापुर में हुई है । बंकापुर इस समय शासक अकालवर्ष (कृष्ण द्वितीय) के सामन्त लोकादित्य का राज्य था । लोकादित्य को जैन वीरबंकेय का पुत्र बताया गया है ।[1] उस समय सम्पूर्ण वनवास प्रदेश लोकादित्य के अधीन था ।

बकेय जैन धर्म का महान् उन्नायक पुरुष था एवं चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यशधारक था । वह राज्य कार्यों मे राष्ट्रकूट नरेश अकालवर्ष का सलाहकार था ।

बंकापुर स्वयं लोकादित्य ने अपने पिता बंकेय के नाम पर बसाया था । बंकेय और लोकादित्य के जैन होने के कारण बंकापुर जैनो का मुख्य नगर बन गया ।

साहित्य सृजन की दृष्टि से यह स्थान अवश्य ही गुणभद्राचार्य के अनुकूल रहा होगा । तभी उत्तरपुराण जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना गुणभद्राचार्य ने इस ग्राम मे रहकर की थी ।

शास्त्रो के ज्ञाता लोकसेन मुनि ने इस पुराण ग्रन्थ की प्रतिष्ठा करवाई थी।[1] वर्तमान मे यह ग्रन्थ आज जैन साहित्य की श्रेष्ठ कृतियो में से है।

दिगम्बर समाज मे उत्तरपुराण की रामकथा अधिक प्रचलित है। दिगम्बर विद्वानो द्वारा रचित उत्तरवर्ती रामकथाओं में उत्तरपुराण की रामकथा का अनुसरण है। पउमचरिय की रामकथा से उत्तरपुराण की रामकथा कुछ अशो मे भिन्न है। हेमचन्द्राचार्य के त्रिपष्ठीशलाकापुरुष चरित्र में जो रामकथा है वह पउमचरिय का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती है।

उत्तरपराण की रामकथा का अद्‌भुत रामायण के साथ कई अंशो में समानता है।

आदिपुराण एवं उत्तरपुराण—दोनों भागो से पूर्ण महापुराण एक उत्तम काव्य है। इसमे कल्पना का उत्कर्ष है तथा धारावाहिक पद्य रचना में अन्तः तृप्तिदायक माधुर्य है।

विविध सामग्री से सम्पन्न यह एक उत्कृष्ट कोटि का जैन पुराण ग्रंथ है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का अपना विशेष महत्व है।

आत्मानुशासन

आत्मानुशासन आचार्य गुणभद्र की अध्यात्मपरक रचना है। इस कृति मे आत्मानुशासन सम्बन्धी बिन्दुओ पर नाना प्रकार की शिक्षाएं दी गयी हैं। ग्रन्थ की भाषा सरस और हृदयग्राही है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से परम आत्मानद का अनुभव होता है। ग्रन्थ की पद्य संख्या २७२ है। हिन्दी अनुवाद सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

जिनदत्त चरित्र

इस ग्रन्थ के नौ सर्ग हैं। अनुष्टप छन्द मे इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यह एक प्रबन्ध काव्य है। इस ग्रन्थ में भी कवि का उच्च कवित्व प्रकट होता है।

वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र—इन तीनो के द्वारा अविच्छिन्न रूप से साहित्य की धारा प्रवाहित हुई। इनके द्वारा रचित आगमपरक उत्तम ग्रंथों की उपलब्धि जैन शासन साहित्य सम्पदा को विशिष्ट अनुदान है।

समय-संकेत

आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण वृद्धावस्था में प्रारम्भ किया था। वे उसके ४२ पर्व पूरे एवं ४३ वें पर्व के ३ श्लोक रच पाये थे। उसके बाद

जिनसेन का स्वर्गवास हो जाने के बाद उसके शिष्य गुणभद्र ने उसे पूर्ण किया एवं उत्तरपुराण की रचना भी गुणभद्र ने की थी। उत्तरपुराण की परिसमाप्ति का समय शक संवत् ८२० सन् ८९७ ई० माना गया है। इस आधार पर गुणभद्र का कालमान वी० नि० १४२५ (वि० ९५५ ईस्वी सन् ८९८) माना गया है।

आधार-स्थल

१. दशरथ गुरूरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा ।
शशिन इव दिनेशो विश्वलोकैकचक्षु ॥१२॥
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः ।
शिष्यः श्री गुणभद्र सूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुत ॥१४॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

२. अकालवर्षभूपाले पालयत्यखिलामिलाम् ।
तस्मिन्विध्वस्तनिश्शेषद्विषि वीध्रयशोजुषि ॥३१॥
पद्मालयमुकुलकुलप्रविकासकसत्प्रतापतत महसि ।
श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसंतमसे ॥३२॥
चेल्लपताके चेल्लध्वजानुजे चेल्लकेतनतनूजे ।
जैनेन्द्रधर्मवृद्धिविधायिनि विधुवीध्रपृथुयशसि ॥३३॥
बनवासदेशमखिल भुञ्जनि निष्कण्टकं सुखं सुचिरम् ।
तत्पितृनिजनामकृते ख्याते वङ्कापुरे पुरेष्वधिके ॥३४॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

३. विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः ।
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः ॥
सततमिह पुराणे प्रार्थ्यसाहाय्यमुच्चै. ।
गुरुविनयमनैषीन्मान्यता स्वस्य सद्भि. ॥२८॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

६२. वाङ्मय-वारिधि आचार्य विद्यानन्द

दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य विद्यानन्द विद्या के समुद्र थे। विविध विषयों मे उनका ज्ञान अगाध था। वे उच्चकोटि के साहित्यकार, प्रामाणिक, व्याख्याता, अप्रतिहतवादी, गम्भीर दार्शनिक, प्रकृष्ट सैद्धांतिक, उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि, जिन शासन के अनन्य भक्त थे। अधिक क्या ? अपने युग के वे अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी गणना सारस्वत आचार्यों मे की गई है।

विद्यानन्द नाम के कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत संदर्भ तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक एवं आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्त ग्रन्थों के निर्माता आचार्य विद्यानन्द से सम्बन्धित हैं। 'राजवलिकथे' मे उल्लिखित विद्यानंदी परम्परा पोषक माने गए है। प्रस्तुत सारस्वत विद्यानन्द उनसे भिन्न हैं।

गुरु-परम्परा

आचार्य विद्यानन्द की गुरु-परम्परा के सम्बन्ध का उल्लेख प्राप्त नहीं है। शक संवत् १३२० के उत्कीर्ण एक शिलालेख में नंदी संघ के साथ आचार्य विद्यानन्द का नाम है। इस आधार से आचार्य विद्यानन्द का नंदी संघ मे दीक्षित होना सम्भव है।

जीवन-वृत्त

सारस्वताचार्य विद्यानन्द की जीवन-परिचायिका सामग्री भी नहीं के बराबर उपलब्ध है। उनके माता-पिता, परिवार, कुल, जन्मभूमि आदि का कोई उल्लेख साहित्य धारा मे आज प्राप्त नही है और दीक्षा-स्थान और दीक्षा काल के संकेत ही मिलते हैं।

जैन दर्शन की भाति वैदिक दर्शन पर अगाध पांडित्य के आधार पर उनके ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने की सम्भावना शोध-विद्वानों ने की है। उभय दर्शनो की पारगामिता से मैसूर प्रात मे उनके उत्पन्न होने की संभावना प्रकट होती है। मैसूर प्रांत जैन और ब्राह्मण दोनो संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। आचार्य विद्यानन्द की विशाल साहित्य निधि को देखकर विद्वानों ने उनके

अविवाहित रहने का अनुमान किया है। उनके अभिमत से अखंड ब्रह्मतेज के बिना इस प्रकार का साहित्य रचना संभव नहीं है। धवला, जयधवला टीका के निर्माता वीरसेन एवं जिनसेन आचार्य भी अखंड ब्रह्मचारी थे।

आचार्य विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों मे मीमांसक विद्वान् जैमिनी शबर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, कणाद दर्शन के विद्वान् व्योमशिवाचार्य, नैयायिक विद्वान् उद्योतकर आदि के ग्रन्थो का समालोचन जिस कुशलता से अपने ग्रन्थों मे किया है उसी कुशलता से बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति, प्रभाकर, धर्मोत्तर, मण्डन मिश्र, सुरेश्वर मिश्र आदि का भी अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थो मे सम्यक् निरसन किया है। इससे प्रतीत होता है वैदिक दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन के भी वे गम्भीर-पाठी थे। जैन दर्शन सम्मत मान्यताओ का आगम उदाहरणो के साथ विशद एवं युक्ति सङ्गत प्रतिपादन उनके जैनशास्त्र ज्ञान की अगाधता को सूचित करता है। आचार्य विद्यानन्द की योग्यता को अभिव्यक्त करने मे यह एक ही वाक्य पर्याप्त है। जैन, वैदिक, बौद्ध, इन तीनो में से किसी भी धारा के दार्शनिक सैद्धान्तिक, एव न्याय विषयक बिन्दुओ का मर्मोद्घाटन करने में उनकी मेधा अतुलनीय थी।

आचार्य विद्यानन्द की उत्कृष्ट ज्ञानाराधना उनके तपोमय जीवन संयमित दिनचर्या, मनोनिग्रहात्मिका वृत्ति एव सन्तुलित चिन्तन धारा का परिणाम स्वरूप सम्भव है। सुविधानुकूल जीवन जीने की मनोवृत्ति से इस प्रकार का श्रुताराधना कठिन है।

साहित्य

जैन श्रुतधारा को प्रवाहित करने मे आचार्य विद्यानन्द की प्रखर प्रतिभा एवं सूक्ष्म प्रज्ञा का अनुपम योग था। उन्होने नौ ग्रन्थ रचे। उनमे तीन टीका ग्रन्थ और छह स्वतंत्र रचनाए मानी गई हैं।

आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र आचार्य समन्तभद्र की आप्त मीमांसा तथा देवागम स्तोत्र आचार्य भट्ट अकलङ्क की अष्टशती टीका इन ग्रन्थो से आचार्य विद्यानन्द विशेष प्रभावित थे। अतः इन ग्रन्थो पर उन्होने तीन टीका ग्रथो की रचना की। तीनों टीका ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर यह पद्यात्मक विशाल टीका है। पद्यवार्तिकों का गद्यात्मक विवेचन भी इसमें है। इस टीका ग्रन्थ का परि-

माण १८००० श्लोक है तथा दस अध्याय हैं। अध्यायो का विभाजन मूल सूत्र के अनुसार ही है। मूल सूत्रान्तर्गत प्रमेयो का विशद विवेचन होने के कारण यह प्रमेय बहुल टीका है। इससे लेखक का प्रगाढ पाण्डित्य प्रकट होता है एव गम्भीर सैद्धान्तिक ज्ञान की सूचना मिलती है। बौद्ध विद्वान् धर्मकीति आदि के आक्षेपो का सम्यक् निरसन इस टीका के द्वारा हुआ है। आत्मतत्त्व की सिद्धि मे चार्वाक दर्शन की तर्को का सबल उत्तर दिया गया है। इस ग्रंथ की शैली मीमासक मेधावी कुमारिल भट्ट की शैली से प्रतिस्पर्धा करती हुई प्रतीत होती है। इस ग्रथ के नामकरण मे भी कुमारिल भट्ट के मोमांसक श्लोकवार्तिक ग्रन्थ की प्रतिच्छाया है। यह टीका आचार्य विद्यानन्द की प्रसन्न रचना है एव गम्भीर दार्शनिक कृति है।

अष्टसहस्री (देवागमालंकार)

अष्टसहस्री की रचना आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमासा (देवागम स्तोत्र) पर हुई है। आप्तमीमासा पर भट्ट अकलक द्वारा रचित अष्टशती के प्रत्येक पद्य की व्याख्या इस अष्टसहस्री मे होने के कारण यह अष्टसहस्री अष्टशती टीका की टीका है। इस कृति को पढने से तीनो ग्रन्थो की (आप्तमीमासा, अष्टशती, अष्टसहस्री) का एक साथ स्वाध्याय हो जाता है। इस ग्रन्थ की रचना कर आचार्य विद्यानन्द ने आचार्य अकलक भट्ट के गूढ ग्रन्थ को समझने का मार्ग सुगम किया है। अत. कतिपय विद्वानो मे आचार्य विद्यानन्द को आचार्य अकलंक का शिष्य मान लेने मे भ्रांति भी हो गई थी।

अष्टसहस्री ग्रथ मे दस परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे लगभग आधा ग्रन्थ समाहित है। ग्रन्थ का अष्टसहस्री नाम इसमे आठ सहस्र पद्य होने की सूचना है। ग्रथ की रचना शैली अत्यन्त जटिल और दुरूह है। स्वयं आचार्य विद्यानन्द ने भी इस दुरूहता और जटिलता का अनुभव किया है। वे लिखते हैं—

'कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसाहस्रीयमत्र मे पुष्यात्'

यह कष्टकारी अष्टसहस्री अगाध ज्ञान का भण्डार है। इस ग्रन्थ को पढ़ लेने के बाद अन्य ग्रन्थो को पढ़ने की आवश्यकता ही आचार्य विद्यानन्द की दृष्टि मे नही रह जाती। वे लिखते हैं—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव हि स्वसमय-परसमयसद्भाव·॥

सहस्र शास्त्रों ग्रन्थों को सुनने से प्रयोजन ही क्या है ? इस एक अष्ट सहस्री का श्रवण भी स्वपर सिद्धांत का ज्ञान करवाने में पर्याप्त है।

यह टीका न्यायशास्त्र का उत्तम ग्रन्थ है। इसमें आप्त पुरुष के आप्तत्व का भी युक्ति पुरस्सर विवेचन है। इस पर लघु समन्तभद्र की अष्टसहस्री विषमपद तात्पर्य टीका और यशोविजयजी की अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण टीका है।

युक्त्यनुशासनालंकृति

युक्त्यनुशासनालंकृति आचार्य विद्यानन्द की मध्यम परिमाण टीका है। इसकी रचना आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन स्तोत्र पर हुई है। युक्त्यनुशासन स्तोत्र की ६४ कारिकाए है। प्रत्येक कारिका जटिल एवं गूढ़ है। इन जटिल कारिकाओ के कारण युक्त्यनुशासन जैसे दुरूह ग्रन्थ में प्रवेश पाने के लिए युक्त्यनुशासनालङ्कार ग्रंथ सरल राजपथ है। टीका की रचना शैली प्रौढ़ है। आचार्य विद्यानन्द की यह रचना विशेष रूप से पठनीय है। आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा मे इस ग्रन्थ का उल्लेख है अतः यह रचना उक्त दोनों परीक्षान्त ग्रन्थो के बाद की है। इस टीका पर जुगल किशोर मुख्त्यार का हिन्दी अनुवाद भी है।

स्वतंत्र रचनाएं

आचार्य विद्यानन्द की छह स्वतंत्र रचनाएं बताई गई है। टीका ग्रंथो की भांति उनकी स्वतन्त्र रचनाएं भी प्रौढ एवं गम्भीर है। सामग्री की दृष्टि से भी विशेष पठनीय तथा मननीय हैं। उनका परिचय इस प्रकार है—

विद्यानन्द महोदय

विद्यानन्द महोदय ग्रन्थ का यह नाम इसकी गुरुता को प्रकट करता है। आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि प्रायः ग्रंथों मे अनेक स्थानो पर इस ग्रन्थ का उल्लेख होने के कारण यह सर्वप्रथम रचना सम्भव है। ग्रन्थान्तर्गत प्रतिपाद्य को विस्तार से जानने के लिए भी आचार्य विद्यानन्द ने 'विद्यानन्द महोदय' ग्रंथ की सूचना दी है। इससे स्पष्ट है यह 'विद्यानन्द महोदय' विशाल ग्रन्थ था और वह नाना प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण था। ग्रन्थ में वस्तु वर्णन की विशद प्रस्तुति भी पाठक के लिए विविध दिशागामी बोध मे सहायक थी। आचार्य वादीदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में नामोल्लेखपूर्वक विद्यानन्द महोदय ग्रन्थ का एक वाक्य उद्धृत किया है—

"महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः । प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरकार्थ्यमचकथत् ।।"

दिग्गज विद्वान् वादिदेवसूरि द्वारा किया गया यह उल्लेख भी विद्यानंद महोदय ग्रन्थ की विशिष्टता का द्योतक है। आचार्य देवसूरि विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान् थे। अतः इस समय तक प्रस्तुत ग्रन्थ के होने का बोध होता है। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

आप्तपरीक्षा

परीक्षान्त कृतियो में आप्तपरीक्षा कृति सर्वप्रथम जान पड़ती है। प्रमाणपरीक्षा कृति मे इस कृति का उल्लेख भी है। इस कृति की १२४ कारिकाएं और १० प्रकरण हैं। प्रकरणो के नाम इस प्रकार हैं—

(१) परमेष्ठी गुणस्तोत्र (२) परमेष्ठी गुणस्तोत्र प्रयोजन (३) ईश्वर परीक्षा (४) कपिल परीक्षा (५) सुगत परीक्षा (६) परम पुरुष परीक्षा (ब्रह्माद्वैत परीक्षा) (७) अर्हत् सर्वज्ञ सिद्धि (१०) अर्हद्वन्द्यत्वसिद्धि।

इन प्रकरणो मे जैन दर्शन सम्मत आप्तपुरुष के स्वरूप का विस्तृत वर्णन एवं ईश्वर, कपिल, सुगत, ब्रह्माद्वैत मत का युक्ति-पुरस्सर निरसन है। सर्वज्ञाभाव वादीभट्ट अकलङ्क के मत का भी सबल उत्तर इस कृति मे दिया गया है। प्रसिद्ध दार्शनिक स्व० पं० अम्बादास जी शास्त्री के अभिमत से ईश्वर कर्तृत्व की जैसी विशद, सबल एवं तर्कपूर्ण समालोचना आचार्य विद्यानन्द ने की है वैसी अन्य किसी ने को हो अब तक देखने मे नहीं आई। आप्त-परीक्षा उनकी इस विषयक बेजोड़ रचना है।

पंडितजी का यह अभिमत अतिरिक्त जैसा नही है। आचार्य विद्यानन्द की यह कृति यथार्थ मे ही भारतीय संस्कृत वाङ्मय का अमूल्य रत्न है। दार्शनिक साहित्य की यह वह कृति है जिसमे आप्त-पुरुषों के आप्तत्व को भी तर्क कषोपल पर परखा गया है।

प्रमाणपरीक्षा

यह प्रमाण विषयक संस्कृतकृति है। इस कृति मे सम्यग्-ज्ञान को प्रमाण बताकर सन्निकर्ष आदि प्रमाण का निरसन एवं जैन दर्शन सम्मत प्रमाण स्वरूप प्रामाण्य की उत्पत्ति प्रमाण की भेद संख्या, विषय और फल की विस्तृत चर्चा है। अनुमान प्रमाण के संदर्भ मे पात्रकेशरी द्वारा निर्दिष्ट हेतु लक्षण का समर्थन बौद्ध दर्शन सम्मत त्रैरुप्यात्मक एवं पंचरुप्यात्मक लक्षण

की समीक्षा आचार्य विद्यानन्द ने की है। आचार्य-पात्रकेशरी ने हेतु लक्षण की चर्चा करते हुए लिखा है—

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किं ।
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किं ।।

आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं—

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैं किं पचभिः कृत ।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पचभिः कृत ।।

इस कृति मे आप्तपरीक्षा कृति का उल्लेख है। इससे यह कृति आप्त परीक्षा के बाद की रचना प्रमाणित होती है।

अनुमान प्रमाण का जैन दर्शन सम्मत विस्तृत, वर्णन स्वार्थानुमान परार्थानुमान—दोनो भेदो की सयौक्तिक सिद्धि उपमान एव अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव, परमार्थ प्रत्यक्ष और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) की चर्चा तथा एतत् विषयक अन्य सामग्री न्याय विषयक बिन्दुओ को समझने में बहुत उपयोगी है।

पत्र-परीक्षा

यह कृति गद्य पद्यात्मक है। इसमे जैन दर्शन सम्मत पत्र लक्षणो की चर्चा एवं पत्र लक्षण के संदर्भ मे दर्शनान्तरीय पत्र लक्षणो की मान्यताओ का निरसन है। प्रतिज्ञा और हेतु को अनुमान प्रमाण का लक्षण बताया गया है। इस ग्रन्थ की वादचर्चा ज्ञानवर्धक है। नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक, कपिल एव सुगत इन सभी के मतो की समीक्षा तर्कगर्भा शैली मे प्रस्तुत है।

सत्य शासन परीक्षा

सत्य शासन परीक्षा यह सत्य की परीक्षा ही है। वर्तमान मे यह अपूर्ण रचना ही उपलब्ध है। अत. विद्वानो का अभिमत है यह आचार्य—विद्यानद की अतिम रचना संभव है। इस ग्रंथ मे—

(१) पुरुषाद्वैत-शासन-परीक्षा। (२) शब्दाद्वैत-शासन-परीक्षा। (३) विज्ञानाद्वैत-शासन-परीक्षा। (४) चित्राद्वैत-शासन-परीक्षा। (५) चार्वाक-शासन-परीक्षा। (६) बौद्ध-शासन-परीक्षा। (७) सेश्वरसाख्य-शासन-परीक्षा। (८) निरीश्वरसाख्य-शासन-परीक्षा। (९) नैयायिक-शासन-परीक्षा। (१०) वैशेषिक-शासन-परीक्षा। (११) भाट्ट-शासन-परीक्षा। (१२) प्रभाकर-शासन-परीक्षा। (१३) तत्त्वोपप्लव-शासन-परीक्षा। (१४) अनेकान्त-शासन-परीक्षा।

इन शासनो (मतों) की परीक्षा करने के लिए आचार्य विद्यानन्द प्रतिज्ञाबद्ध जान पड़ते हैं। पर वर्तमान मे पुरुषाद्वैत शासन-समीक्षा से भट्ट शासन तक की पूर्ण समीक्षा एवं प्रभाकर शासन की अपूर्ण समीक्षा उपलब्ध है। अवशिष्ट समीक्षाए अनुपलब्ध हैं। विभिन्न मतो की समीक्षा के द्वारा आचार्य विद्यानन्द ने जैन दर्शन का उत्कर्ष सिद्ध किया है। परीक्षान्त ग्रंथों मे आचार्य विद्यानद का यह सत्य शासन परीक्षा ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

श्रीपुर पार्श्वस्तोत्र

यह आचार्य विद्यानंद की पद्यात्मक लघु रचना है। इस कृति मे ३० पद्यो द्वारा पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। मन्दाक्राता, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग है। कपिलादि मुनियो का अनाप्तत्त्व और तीर्थंकर पार्श्वनाथ का आप्तत्त्व तार्किक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र शैली का प्रभाव इस स्तोत्र की शैली पर परिलक्षित होता है।

समय-संकेत

आचार्य विद्यानद की अष्टसहस्री मे भट्ट अकलक की अष्टशती पूर्णतः समाहित है। भट्ट अकलंक का समय वि० की आठवी सदी है। इस आधार पर आचार्य विद्यानंद वि० की आठवीं शताब्दी मे होने वाले भट्ट अकलक से उत्तरवर्ती हैं।

आचार्य विद्यानद के टीकाग्रंथ और परीक्षा ग्रथो मे कुमारनदी भट्टारक के बाद न्याय ग्रन्थ की कुछ कारिकाएं उपलब्ध होती हैं। कुमारनंदी भट्टारक भट्ट अकलंक के पश्चात्वर्ती हैं पर विद्यानंद से पूर्ववर्ती हैं।

आचार्य वादिराज के न्याय विनिश्चय विवरण की प्रशस्ति मे विद्यानद का उल्लेख है। अत. विद्यानद वादिराज से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। वादिराज का समय ईस्वी सन् १०२५ है।

आचार्य विद्यानद के तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक के प्रशस्ति पद्य मे शिवमार द्वितीय का उल्लेख किया है।[१] युक्त्यनुशासनालंकार के प्रशस्ति पद्य[२] मे, आप्तपरीक्षा ग्रन्थ[३] मे तथा प्रमाणपरीक्षा मंगल पद्य[४] में राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम का उल्लेख है। सत्यवाक्य प्रथम के लिए आचार्य विद्यानंद ने अपने ग्रन्थों में सत्यवाक्याधिप शब्द का प्रयोग किया है। अष्टसहस्री के

प्रशस्ति पद्य मे भी सत्यवाक्य नरेश का निर्देश है—ऐसा अनुमानित किया गया है।

शिवमार द्वितीय ने ई० सन् ८१० एवं राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम ने ई० सं० ८१६ के लगभग राज्याधिकार प्राप्त किया था। आचार्य विद्यानंद के ग्रन्थो में इन दोनो शासको का उल्लेख होने से स्पष्ट है—इन दोनो के शासन-काल मे आचार्य विद्यानंद ने ग्रन्थ रत्नो की रचना की थी। इन शासको का समय ई० स० ९वी शताब्दी का पूर्वार्ध होने के कारण आचार्य विद्यानंद का सत्ता समय वी० नि० की लगभग १४वीं शताब्दी एव वि० की ९वीं शताब्दी का उत्तरार्ध भाग प्रमाणित होता है।

आधार-स्थल

१. जीयात्सज्जनताश्रय· शिवसुधाधारावधानप्रभु·
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्रप्रतापान्वित·।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहन कृतानन्तस्थिति मानितः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल-मल-प्रज्वालनप्रक्षमः ॥

(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-प्रशस्ति)

२. सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्री सत्यवाक्याधिप· ॥१॥
प्रोक्तं मुक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः-
विद्यानन्द बुधैरलंकृतमिदं श्री सत्यवाक्याधिपैः ॥२॥

(युक्त्यनुशासनालंकार प्रशस्ति)

३. विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै· ॥१२३॥

(आप्तपरीक्षा प्रशस्ति)

४. जयन्ति निर्जिताशेष सर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपा. शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः ॥

(प्रमाणपरीक्षा मंगल पद्य)

६९. अध्यात्मोन्मुखी आचार्य अमृतचन्द्र

आचार्य अमृतचद्र अध्यात्म के विशिष्ट व्याख्याकार दिगबर विद्वान् थे। जैनागमो का उनका ज्ञान गहरा था। आचार्य कुन्दकुन्द की दार्शनिक एव आध्यात्मिक दृष्टियो का पल्लवन तथा सम्यक् व्याख्यान आचार्य अमृतचंद्र ने किया है।

जीवन-वृत्त

आचार्य अमृतचद्र की गुरु शिष्य परपरा तथा गृहस्थ सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नही है। पण्डित आशाधरजी ने आचार्य अमृतचद्र के लिए 'ठक्कुर' शब्द का प्रयाग किया है।[1] इस शब्द का प्रयोग ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिए होता है। आचार्य अमृतचद्र ब्राह्मण या क्षत्रिय कुछ भी रहे हों पर 'ठक्कुर' शब्द उनके उच्च कुल का सकेतक अवश्य है।

साहित्य

आचार्य अमृतचद्र को सस्कृत व प्राकृत दोनो ही भाषाओ का ज्ञान था। उन्होने ग्रंथ रचना सस्कृत भाषा मे की। उनके ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है —

पुरुषर्थासिद्ध्युपाय

यह श्रावकाचार का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसका एक नाम जिनवचन रहस्य कोश भी है। इस ग्रन्थ की रचना आर्यावृत्त छन्द मे हुई है। ग्रन्थ पांच भागो मे विभाजित है। ग्रन्थ की पद्य सख्या २२६ है। ग्रन्थगत अधिकारो के नाम हैं—(१) सम्यक्त्व विवेचन, (२) सम्यक्ज्ञान व्याख्यान, (३) सम्यक् चरित्र व्याख्यान, (४) संलेखना धर्म व्याख्यान, (५) सकल चरित्र व्याख्यान; इन पांचो अधिकारो के नाम से ग्रन्थ का प्रतिपाद्य स्पष्ट है। आचार्य अमृतचद्र की यह मौलिक कृति है। इसकी रचना सरल और प्रसन्न शैली मे है।

तत्त्वसार

यह एक तात्त्विक रचना है, आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र का

सुसम्बद्ध पद्यानुवाद है। इसके नौ अधिकार हैं। इन नौ अधिकारो मे जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वो का वर्णन किया गया है। तत्त्वार्थसार, यथार्थ मे तत्त्वार्थ सूत्र का ही सार रूप है। आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, अकलंकाचार्य की तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीका के विषय भी कृति मे गृहीत है। सैद्धान्तिक तत्त्वो का विवेचन सरल और स्पष्ट भाषा मे किया गया है। इस कृति के कुल पद्य ७१८ हैं। आचार्य अमृतचद्र की यह हृदयग्राही रचना है। इस ग्रन्थ को ग्रन्थकार ने मोक्षमार्ग मे दीपक के समान प्रकाशक माना है।[२]

समयसार टीका

इस टीका का दूसरा नाम आत्मख्याति टीका है। कुन्दकुन्द के समयसार नामक अति गभीर ग्रन्थ का इस टीका मे पर्याप्त विस्तार है। मूल ग्रथ की भाति यह टीका भी गभीर और गहन है। टीका की शैली परिष्कृत और प्रौढ है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के अस्पष्ट बिन्दु भी इस टीका से स्पष्ट हुए हैं। जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि सैद्धान्तिक तत्त्वो का विवेचन करती हुई यह गद्यात्मक मार्मिक टीका ज्ञानवर्धक है एव सरस भी है। प्रस्तुत टीका नाटक के समान अको मे विभाजित है। इसे टीका रचना पद्धति का एक नया प्रयोग ही कहा जा सकता है। समयपाहुड ग्रन्थ का समयसार नामकरण भी आचार्य अमृतचद्र ने किया है।

समयसार कलश

समयसार टीका के श्लोक सग्रह से समयसार कलश नामक कृति का निर्माण हुआ है। यह ग्रंथ गभीर होते हुए भी रोचक है और अध्यात्म रस से परिपूर्ण है। इसके कुल २७८ पद्य है और १२ अधिकार हैं। इस पर कविवर बनारसीदासजी ने हिन्दी पद्यानुवाद किया है।

प्रवचनसार टीका

यह टीका भी गहन और विस्तृत है तथा तत्त्वदीपिका के नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका मे आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार का प्रतिपाद्य अत्यन्त स्पष्टता के साथ प्रस्तुत हुआ है। समयसार टीका के समान ही इस टीका की शैली प्राञ्जल और परिष्कृत है।

पञ्चास्तिकाय टीका

इस टीका की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के पचास्तिकाय ग्रन्थ के

१७३ गाथाओ पर हुई है। इस टीका का नाम भी तत्त्वदीपिका है। यह टीका चार भागो में विभक्त है। (१) पीठिका, (२) प्रथम श्रुतस्कन्ध, (३) द्वितीय श्रुतस्कन्ध और चूलिका। इस टीका मे काल के अतिरिक्त धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि पांचो अस्तिकायों का विस्तृत विवेचन है।

समयसार टीका, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका ये तीनो टीकाएं सारपूर्ण, सरस, गंभीर और धर्म स्पर्शिनी हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय इन तीनो ग्रंथों के गूढ अर्थों का प्रकाशन और सम्यक् प्रतिपादन अन्त' रहस्यो का उद्घाटन, अस्पष्ट बिन्दुओ का स्पष्टीकरण इन टीकाओ ने किया है। टीकाओ की रचना शैली प्रौढ़ है और हृदय को छूने वाली है। निश्चय और व्यवहार का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध विवेचन भी इन टीकाओ मे उपलब्ध है। इन टीकाओ के अध्ययन से पाठक को अध्यात्म रस का अनूठा आस्वाद प्राप्त होता है। समयसार टीका पर रचे गए कलश अध्यात्म रस से ओतप्रोत हैं।

अपनी साहित्यिक रचनाओ के विषय मे अपना परिचय भी उन्होंने विलक्षण ढग से दिया है। वे लिखते हैं—

वर्णै: कृतानि चित्रै: पदानि तु पदै: कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै कृत पवित्र शास्त्रमिदं न पुनरस्माभि:[१]॥

तरह-तरह के वर्णों से पद बन गए, पदो से वाक्य बन गए और वाक्यो से यह पवित्र शास्त्र बन गया है। मैंने इसमे कुछ नहीं किया।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय

महान् विद्वान् आचार्य अमृतचंद्र का यह निगर्वी व्यवहार उनकी उच्चतम महत्ता का बोध कराता है।

आचार्य अमृतचंद्र के ग्रन्थ रत्नो मे सर्वत्र अध्यात्म का मधुर नाद सुनाई देता है। उनके समयसार सहित टीका ग्रन्थ ग्रन्थकार की गहरी अध्यात्म निष्ठा और अध्यात्म रसिकता की अनुभूति कराते हैं।

समय-संकेत

आचार्य अमृतचंद्र ने अपनी कृति में कही समय का सकेत नहीं किया है। शुभचन्द्राचार्य के ज्ञानार्णव मे अमृतचंद्र के पद्य पाये जाते हैं। पंडित आशाधरजी ने भी अनगार धर्मामृत टीका मे 'ठक्कुर' पद जैसे सम्मान सूचक विशेषण के साथ आचार्य अमृतचद्र का उल्लेख किया है[२] अतः शुभचन्द्राचार्य

से एवं विक्रम की १३वीं सदी मे होने वाले विद्वान् पण्डित आशाधरजी से आचार्य अमृतचद्र पूर्ववर्ती है। जयसेन के धर्म रत्नाकर मे भी पुरुषार्थसिद्धयुपाय के ५६ पद्य हैं। जयसेन लाड़वागड़ संघ के भावसेन के शिष्य थे। राजा मुञ्ज के समकालीन महासेन जयसेन के प्रशिष्य थे।[६] जयसेन ने धर्मरत्नाकर ग्रन्थ (वि स० १०५५) मे सम्पन्न किया था[७] अत· आचार्य अमृतचन्द्र के समय की उत्तरसीमा इससे आगे नही बढ सकती। इन उपर्युक्त उल्लेखो के आधार पर परमानन्द शास्त्री आदि दिगबर विद्वानो ने आचार्य अमृतचंद्र का समय वि० की १० वी शताब्दी तृतीय चरण सिद्ध किया है। यह समय वीर निर्वाण की सार्द्ध सहस्र शताब्दी का उत्तरार्ध काल है। आचार्य अमृतचद्र के ग्रन्थो मे प्राञ्जल परिष्कृत सस्कृत भाषा के प्रयोगो को देखने से उनका यह समय ठीक ही प्रतीत होता है।

आधार-स्थल

१. 'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमाठीत्

अनगार धर्मामृत टीका पृष्ठ १६०

२ अथ तत्त्वार्थसारोऽय मोक्षमार्गैकदीपक ॥२॥

(तत्त्वार्थसार)

३. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

४ एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकाया द्रष्टव्यम्। (अनगार धर्मामृत टीका पृष्ठ ५८८)

५.

६. वाणेन्द्रियव्योम सोम-मिते सवत्सरे शुभे।
ग्रथोऽय सिद्धता यात: सबली करहाटके॥

(धर्मरत्नाकर प्रशस्ति)

७ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास द्वितीय भाग पृष्ठ २०७

७०. सिद्ध-व्याख्याता आचार्य सिद्धर्षि

श्रीसिद्धर्षिप्रभोः पान्तु वाचः परिपचेलिमा ।
अनाद्यविद्यासंस्कारा यदुपास्ते भिदेलिमाः ॥१॥
(प्रभा० च० पृ० १२१)

श्री सिद्धर्षि की अनुभवो से परिपक्व वाणी भव्यजनो का सरक्षण करे। जिस वाणी की उपासना से अनादिकालीन अविद्या के संस्कार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

प्रभाचन्द्राचार्य के उक्त श्लोक मे श्री सिद्धर्षि की वचन-सम्पदा का महत्त्व प्रकट होता है।

प्रभावक जैनाचार्यों की परम्परा मे सिद्धर्षि जैन विषय के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य थे। सस्कृत भाषा पर उनका आधिपत्य था। उनकी व्याख्यान शैली सरस थी। वे कुशल रचनाकार भी थे। उनके द्वारा रचित 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' जैन वाङ्मय का उत्तम ग्रन्थ है।

गुरु-परम्परा

प्रभावक चरित्र ग्रन्थकार के अनुसार जैनाचार्य सिद्धर्षि वज्रस्वामी की परम्परा के थे। वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन थे। वज्रसेन के नागेन्द्र, निवृत्ति, चन्द्र और विद्याधर—ये चार प्रसिद्ध शिष्य थे। द्वितीय शिष्य निवृत्ति से निवृत्ति गच्छ की स्थापना हुई। इसी निवृत्ति गच्छ मे सूराचार्य हुए। सूराचार्य के शिष्य का नाम गर्गर्षि था। गर्गर्षि सुप्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धर्षि के दीक्षा गुरु थे।[1]

प्रबन्ध कोश के अनुसार सिद्धर्षि के दीक्षा गुरु जैनाचार्य हरिभद्रसूरि थे।[2] जिन्होने 'ललित विस्तरा' नामक प्रसिद्ध वृत्ति ग्रन्थ की रचना की थी।

'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' की प्रशस्ति मे सिद्धर्षि ने हरिभद्राचार्य को धर्मबोधदायक गुरु के रूप मे स्मरण किया है।[3] उन्होने अपनी गुरु-परपरा मे 'लाट' देश मे आभूषण तुल्य सूराचार्य का सर्वप्रथम उल्लेख किया है और उनको निवृत्ति कुल का बताया है। सूराचार्य के बाद देल्लमहत्तराचार्य का उल्लेख है जो ज्योतिष शास्त्र और निमित्त शास्त्र के समर्थ विद्वान् थे। उनके

शिष्य दुर्गस्वामी थे। दुर्गस्वामी का जन्म ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था। सिद्धर्षि ने दुर्गस्वामी के बाद अपने को और अपने गुरु दुर्गस्वामी को दीक्षा देने वाले गर्गर्षि को नमस्कार किया है। आगे के पद्य मे दुर्गस्वामी की भावपूर्ण शब्दों मे स्तुति की है।

दुर्गस्वामी के सद्‌र्षि और सिद्धर्षि दो प्रमुख शिष्य थे। सिद्धर्षि ने यह कथाग्रंथ बनाया उससे पहले ही भिन्नमाल मे दुर्गस्वामी का स्वर्गवास हो गया था। गच्छ नायक के रूप में सम्भवत: उस समय सद्‌र्षि थे। अपने गुरुओ की प्रशस्ति के साथ ज्येष्ठ गुरुबन्धु सद्‌र्षि की भी सिद्धर्षि ने प्रशस्ति की है एवं सद्‌र्षि को अतुल उपशम भाव से सम्पन्न परहितकारी आगम समुद्र एवं महा-भाग्यशाली जैसे सम्बोधन देकर उनके प्रति गुरु जैसा सम्मान प्रकट किया है। अन्त में सिद्ध नामक व्यक्ति ने सरस्वती देवी की बनायी हुई कथा कही है—ऐसा कहकर सिद्धर्षि ने अपना नाम सूचित किया है और अपने को सद्‌र्षि की चरण रेणु के तुल्य माना है।[3]

इस प्रशस्ति के उल्लेखानुसार सिद्धर्षि निवृत्ति कुलोद्‌भूत सूराचार्य की परम्परा में हुए। सिद्धर्षि के गुरु दुर्गस्वामी और दीक्षा गुरु गर्गर्षि थे।

प्रस्तुत सूराचार्य 'प्रभावक चरित्र' ग्रंथ मे वर्णित द्रोणाचार्य के शिष्य सूराचार्य से भिन्न थे।

जन्म एवं परिवार

सिद्धर्षि का जन्म गुजरात मे श्रीमालपुर मे हुआ। पुरातन प्रबन्ध संग्रह के अनुसार उनका गोत्र भी श्रीमाल था। गुजरात नरेश श्री वर्मलात के मन्त्री का नाम सुप्रभदेव था। मन्त्री सुप्रभदेव के दो पुत्र थे। दत्त और शुभकर। दत्त के पुत्र का नाम माघ और शुभकर के पुत्र का नाम सिद्ध था। शिशुपाल आदि काव्यो की रचनाओ से माघ की प्रसिद्धि महाकवि के रूप में हुई। शुभकर पुत्र सिद्ध (सिद्धर्षि) की माता का नाम लक्ष्मी और पत्नी का नाम धन्या था।

प्रभावक चरित्र, पुरातन-प्रबन्ध संग्रह आदि ग्रन्थों के अनुसार कवि माघ और सिद्धर्षि दोनो मन्त्री सुप्रभदेव के पौत्र थे। कवि माघ सिद्धर्षि के बडे पिता के पुत्र थे।[1] शिशुपाल जैसे उत्तम काव्य की रचना कवि माघ ने की थी।[2]

शिशुपाल वध की प्रशस्ति मे महाकवि माघ ने अपने परिवार का परिचय देते हुए बताया है—श्री वर्मल राजा के सर्वाधिकारी मंत्री सुप्रभदेव

थे। उनके पुत्र का नाम दत्तक था। दत्तक का दूसरा नाम सर्वाश्रय भी था। दत्तक पुत्र माघ ने इस ग्रन्थ की रचना की है।[७]

नरेश वर्मल (वर्मलात) मन्त्री सुप्रभदेव, मन्त्री पुत्र दत्तक तथा दत्तक के पुत्र कवि माघ के सम्बन्ध का उल्लेख प्रभावक चरित, पुरातन-प्रबन्ध सग्रह और शिशुपाल काव्य प्रशस्ति मे समान है।

कालक्रम के आधार पर नरेश वर्मल मन्त्री सुप्रभदेव आदि के साथ उपमिति भव प्रपञ्च कथा के रचनाकार सिद्धर्षि की सम सामयिकता ठीक प्रतीत नही होती। सिरोही के पार्श्ववर्ती वसन्तगढ़ किला मे प्राप्त ताम्रपत्र पर वर्मल राजा का समय वि० सं० ६८२ बताया गया है। महाकवि माघ द्वारा रचित शिशुपाल वध का रचनाकाल वि० स० ७५० सिद्ध हुआ है। उपमित भव प्रपञ्च कथा का रचनाकाल रचनाकार के उल्लेखानुसार वि० स० ६६२ हैं।

उपर्युक्त काल गणना के अनुसार मन्त्री सुप्रभदेव और सिद्धर्षि के मध्य लगभग तीन शताब्दी का अन्तराल है। अत दोनो के बीच मे पितामह और पौत्र का सम्बन्ध सम्भव नही है।

जीवन-वृत्त

शुभकर पुत्र सिद्ध ने वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने के बाद श्रमण भूमिका मे प्रवेश पाया। श्रमण भूमिका तक पहुचाने में मुख्य निमित्त सिद्ध की दृढ अनुशासिका मा थी।

सिद्ध के जीवन मे औदार्य आदि अनेक गुण विकासमान थे पर उसे द्यूत खेलने का नशा था। माता-पिता बन्धु एवं मित्रो द्वारा रचित माग-दर्शन मिलने पर भी उससे द्यूत का परित्याग न हो सका।[८] दिन प्रतिदिन उसके जीवन मे द्यूत का नशा अधिक गहरा होता गया। वह प्रायः अर्ध-रात्रि का अतिक्रमण कर लौटता। सिद्ध की पत्नी को पति की प्रतीक्षा मे रात्री-जागरण करना पड़ता। पति की इस आदत से पत्नी खिन्न रहती थी। एक दिन सास ने वधू को उदासी का कारण पूछा। लज्जावनत वधू ने पति के द्यूत-व्यसन की तथा निशा मे विलम्ब से आगमन की बात स्पष्ट बता दी। सास बोली—"विनयिनी! तुमने मुझे इतने दिन तक क्यो नही बताया? मैं पुत्र को मीठे-कडुए वचनो से प्रशिक्षण देकर सही मार्ग पर ले आती। तुम निशा मे निश्चिन्त होकर नीद लेना, रात्री का जागरण मैं करूंगी।" सास के कथन

से वधू सो गई और पुत्रागमन की प्रतीक्षा मे लक्ष्मी बैठी थी। यामिनी के पश्चिम याम में पुत्र ने द्वार खटखटाया। माता लक्ष्मी क्रुद्ध होकर बोली—"काल-विकाल मे भटकने वाले पुत्र सिद्ध को मैं कुछ भी नही समझती। अनुचित विहारी एवं मर्यादातिक्रान्त के लिए मेरे घर मे कोई स्थान नही है। तुम्हें जहां अनावृत द्वार मिले वही चले जाओ।" सिद्ध तत्काल उल्टे पाव लौटा। धर्मस्थान के द्वार खुले थे। वह वही पहुच गया। वहां गोदोहिकासन, उत्कटुकासन, वीरासन, पद्मासन आदि मुद्रा मे स्थित स्वाध्याय-ध्यानरत मुनि जनो को देखा। उनकी सौम्य मुद्रा के दर्शनमात्र से व्यसनासक्त सिद्ध का मन परिवर्तित हो गया। सोचा—'मेरे जन्म को धिक्कार है। मैं दुर्गतिदायक जीवन जी रहा हूं। आज सौभाग्य से सुकृत बेला आई, उत्तम श्रमणों के दर्शन हुए। मेरी मा प्रकुपित होकर भी परम उपकारिणी बनी है। उनके योग से मुझे यह महान् लाभ मिला। उष्णक्षीर का पान पित्तप्रणाशक होता है।' शुभ्र अध्यवसायो मे लीन सिद्ध ने उच्च स्वरो मे मुनिजनो को नमस्कार किया। गुरुजनो के द्वारा परिचय पूछे जाने पर उन्होने द्यूत व्यसन से लेकर जीवन का समग्र वृत्तान्त सुनाया और निवेदन किया "जो कुछ मेरे जीवन मे घटित होना था, हो गया। अब मैं धर्म की शरण ग्रहण कर आपके परिपार्श्व मे रहना चाहता हूं। नौका के प्राप्त हो जाने पर कौन व्यक्ति समुद्र को पार करने की कामना नही करेगा।" गुरु ने सिद्ध को ध्यान से देखा। ज्ञानोपयोग से जाना—यह जैन शासन का प्रभावक होगा। उन्होंने मुनिचर्या का बोध देते हुए कहा—"सिद्ध ! सयम स्वीकृत किये बिना हमारे साथ कैसे रह सकता है ! तुम्हारे जैसे स्वेच्छाविहारी व्यक्ति के लिए यह जीवन कठिन है मुनिव्रत असिधारा है। घोर ब्रह्मव्रत का पालन, सामुदानिकी माधुकरी वृत्ति से आहार ग्रहण, षट्भक्त, अष्टभक्त तप की आराधना के रूप मे कठोर मुनि-व्रत का पालन लोहमय चनों का मोम के दातो से चर्वण करना है।

सिद्ध ने कहा—"मेरे इस व्यसनपूर्ण जीवन मे साधु जीवन सुखकर है।" दीक्षा जीवन की स्वीकृति मे पिता की आज्ञा आवश्यक थी। सयोगवश सिद्ध के पिता शुभकर पुत्र को ढूढते इतस्तत घूमते वहा पहुंच गये। पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए। पुत्र सिद्ध को घर चलने के लिए कहा। पिता के द्वारा बहुत समझाये जाने पर भी सिद्ध ने दीक्षा लेने का निर्णय नही बदला। पुत्र के दृढ़ संकल्प के सामने पिता को झुकना पडा। सिद्ध पिता से आज्ञा पाकर गर्गर्षि के पास मुनि-जीवन मे प्रविष्ट हुआ।

पुरातन प्रबन्ध सग्रह के अनुसार श्रीमालपुर के दत्त एवं शुभकर दो भाई थे। उनका गोत्र भी श्रीमाल था। उनके बडे भाई दत्त के पुत्र का नाम माघ एवं शुभंकर के पुत्र का नाम सीधाक था।" सीधाक बाल्यकाल से द्यूत-व्यसनी हो गया। कभी-कभी वह द्यूत मे हार जाने पर अपने ही घर में चोरी कर लिया करता था। पिता की सम्पत्ति से वह प्रच्छन्न द्रव्य खीचने लगा। इससे पारिवारिक सदस्य सीधाक से अप्रसन्न रहने लगे। जुए मे हार जाने पर पाचसौ द्रमक अथवा उनके बदले अपना मस्तक दे देने के लिए वचनबद्ध होकर एक दिन सीधाक ने जुआ खेला।"

योग की बात थी उस दिन भाग्य ने सीधाक का साथ नही दिया वह द्यूत मे हार गया। उसके लिये पांचसौ द्रमक देने की बात कठिन हो गई। निशा मे वह जुआरियो के मध्य सोया था। कपाट बन्द थे। द्वार से निकल भागने का कोई रास्ता नही था। सीधाक अर्ध-रात्रि के आसपास उठा एवं प्रासाद-भित्ति से छलाग लगाकर कूद गया। गहन अन्धकार के बाद उषा का उदय होता है। द्यूत मे हार जाने के कारण सीधाक गहरे दु:ख मे था। मौत सर पर नाच रही थी। सयोग से सीधाक के भित्ति से कूदते ही भाग्य पलट गया। भवन के पार्श्ववर्ती उपाश्रय मे वह पहुंच गया। तीव्र धमाको से श्रमणों की नीद टूटी। उन्होने सामने खडे व्यक्ति को देखकर पूछा, "तुम कौन हो ?"

सीधाक ने अपना नाम बताया और वह बोला, "आपके पास कुछ दातव्य है।" गुरु ने 'तथ्यम्' कहकर सीधाक को स्वीकृति प्रदान की। सीधाक भय की मुद्रा मे बोला, "मुझे अल्प समय के लिए भी दीक्षा प्रदान करें।"

गुरु नक्षत्र एव निमित्तज्ञान के विशेष ज्ञाता थे। उस समय शुभ नक्षत्र का योग था। इस समय मे दीक्षित होने वाला व्यक्ति अत्यन्त प्रभावक होगा, यह सोच श्रमणो ने 'सीधाक' को दीक्षित कर लिया। प्रात:काल होते ही उपासक 'सीधाक' को मुनि रूप मे देखकर बोले—"आर्य ! बिना योग्यता के भी जैसे-तैसे व्यक्ति को दीक्षित कर लेते हैं ? आपके शासन परिवार मे योग्य व्यक्तियो की कमी हो गई है ? मुनि परिवार छोटा हो गया है ?" 'सीधाक' के दीक्षागुरु गभीर आचार्य थे। उन्होने कोई उत्तर नहीं दिया। मुनि 'सीधाक' के पास मे ही उपदेशमाला ग्रथ रखा हुआ था। मुनि सीधाक ने उसे पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। शीघ्रग्राही प्रतिभा के कारण ग्रंथ के मुख्य स्थल उसे ज्ञात हो गये। उसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा को देखकर गुरु प्रसन्न थे।

सीधाक की खोज करते-करते द्यूतकार धर्मस्थान पर पहुंचे। वे उससे ५०० द्रमक लेने की कामना से आए थे। उन्होने श्रमणों से कहा—वे 'सीधाक' को छोड़ दें।" श्रावक वर्ग 'सीधाक' के बदले ५०० द्रमक देने को प्रस्तुत हुआ।

द्यूतकर बोले—"आप लोगो ने इस पर विश्वास कैसे कर लिया है ? इसने हमे धोखा दिया है, इसी प्रकार आपको भी दे सकता है।" श्रावक वर्ग ने धैर्य से उत्तर दिया, "यह ५०० द्रमक के बदले व्यसनमुक्त बनता है, यह अच्छा कार्य है।" द्यूतकारो को भी श्रावको की बात समझ में आ गई। सीधाक को श्रमण-धर्म मे प्रविष्ट जान ५०० द्रमक लिये बिना ही उसे छोड़ वहां से चले गए।

प्रबन्धकोश के अनुसार श्रीमालपुर के धनी श्रेष्ठी जैन उपासक ने द्यूत-व्यसनी युवा सिद्धार्थ के ऋण को चुकाकर उसे द्यूतकारो की मंडली से मुक्त किया। घर ले जाकर भोजन करवाया, पढा-लिखाकर उसे सब तरह से योग्य बनाया और उसका विवाह भी किया।

बालक सिद्ध के पिता नहीं थे। माता के संरक्षण का दायित्व उस पर ही था। श्रेष्ठी के सहयोग से विपुल सम्पत्ति उसके पास हो गई थी।

राजपुत्र सिद्ध महान् उपकारी श्रेष्ठी के घर रात्रि मे देर तक लेखन आदि का काम कर लौटता था। इससे उसकी पत्नी एव माता दोनो अप्रसन्न थीं।

एक दिन की घटना है। रात्रि मे अत्यधिक देर से लौटने के कारण माता और पत्नी ने द्वार नही खोले। तब वह किसी एक आपण (दुकान) मे स्थित आचार्य हरिभद्र के पास गया। उसने बोध प्राप्त किया और वहीं दीक्षित भी हो गया। प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार आचार्य सिद्धर्षि के दीक्षागुरु आचार्य हरिभद्र थे। जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन कर श्रमण आचार्य सिद्धर्षि ने बौद्धो के पास बौद्धदर्शन को पढ़ने का आदेश मांगा। आचार्य हरिभद्र जानते थे वहा जाने के बाद वह जैन धर्म से विचलित हो सकता है। उन्होने सिद्धर्षि से कहा—"शिष्य! 'तत्र मा गा येन परावर्तो भावि' तुम वहां मत जाओ, वहा जाने से लाभ नही है। तुम्हारा मन निर्ग्रंथ धर्म से बदल जाएगा।"

मुनि सिद्धर्षि नम्र होकर बोले, "युगान्तेऽपि नैवं स्यात्"—युगान्त मे भी यह सम्भव नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने शिष्य सिद्धर्षि को मार्गदर्शन देते हुए कहा—"मुने ! संयोगवश तुम्हारा मन परिवर्तित हो जाए, जैनदर्शन के प्रति रुचि न रहे और बौद्धधर्म मे प्रविष्ट होने का अवसर उपस्थित हो जाए, उससे पहले मेरे से एक बार जरूर आकर मिलना। सिद्धर्षि गुरुवचनो मे बद्ध होकर वहां से चले। बौद्ध संस्थान मे पहुंचकर उन्होने बौद्ध शास्त्रो का अध्ययन किया। जब उनके सम्मुख बौद्ध भिक्षुओ द्वारा आचार्यपद नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ उस समय वचनबद्ध होने के कारण मुनि सिद्धर्षि ने जैन मुनियो से मिलने का विचार सबके सामने प्रस्तुत किया और वे वहा से चले, आचार्य हरिभद्र के पास आ पहुचे।

श्रमण सिद्धर्षि का आचार्य हरिभद्र के साथ शास्त्रार्थ हुआ। पराभव को प्राप्त कर वे जैन हो गए। पुनः बौद्धो के पास गए बौद्ध हो गए। इस प्रकार इक्कीस बार मुनि सिद्धर्षि ने जैन और बौद्धो के बीच आवृत्ति की।" बाईसवी बार आचार्य हरिभद्र ने सोचा, "पुनः-पुनः मिथ्यात्व प्राप्ति से एवं विपरीत श्रद्धान् मे ही आयुष्य क्षीण हो जाने मे सिद्धर्षि का भवभ्रमण वृद्धिगत होगा" अतः इस बार शास्त्रार्थ न करके संस्कारो को सुदृढ करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने उन्हे 'ललित विस्तर' नामक वृत्तिग्रन्थ पढने को दिया और वे स्वय अन्यत्र चले गए। इस ग्रन्थ को पढकर सिद्धर्षि परमबोध को प्राप्त हुए। इसके बाद कभी वे जैनदर्शन से दिग्भ्रान्त नहीं हुए। इस बात का उल्लेख करते हुए स्वयं सिद्धर्षि ने लिखा है—

नमोस्तु हरिभद्राय तस्मै प्रवरसूरये।
मदर्थं निर्मिता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥

(प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० १-७)

प्रभावक चरित्र के अनुसार सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि थे। उन्हे बौद्ध संघ मे प्रविष्ट सिद्धर्षि को समझाने मे पुनः-पुन. प्रयास नही करना पड़ा था। वे एक ही बार मे सफल हो गए थे। बौद्ध भिक्षु की मुद्रा मे सिद्धर्षि को अपने सामने उपस्थित देखकर उन्होने कहा—"कोई बात नही, तुम बौद्ध भिक्षु बन चुके हो। थोड़ी देर के लिये रुको, इस ग्रन्थ को पढ़ो। मैं अभी बाहर जाकर आता हूं। ग्रन्थ को पढ़ते ही सिद्धर्षि के विचार परिवर्तित हो गए।" गर्गर्षि के आने पर वे उनके चरणो में झुके और अपनी भूल पर अनुताप करते हुए बोले—"मैं हरिभद्र को नमस्कार करता हू जिनकी कृति ने मेरे मानस की कालिमा को धो डाला है। यह ग्रन्थ (ललित विस्तरा वृत्ति) मेरे हेतु सूर्य

की भाति पथ-प्रकाशक सिद्ध हुआ है।" सिद्धर्षि के परिवर्तित विचारो से गर्गर्षि प्रसन्न हुए। उन्होने तत्काल जैन-दीक्षा प्रदान कर आचार्यपद पर उन्हें नियुक्त कर दिया।

सिद्धर्षि को हरिभद्र के ग्रंथ से बोध प्राप्त हुआ, अत उन्होने हरिभद्र को अपना महान् उपकारी माना है। उनकी भावना का प्रतिबिम्ब निम्नोक्त श्लोक से स्पष्ट है—

महोपकारी स श्रीमान् हरिभद्र प्रभुर्यत.।
मदर्थमेव येनासौ ग्रन्थोऽपि निरमाप्यत ।।१२६।।
(प्रभावक चरित्र, पृ० १२५)

आचार्य सिद्धर्षि ने अपने ग्रन्थो मे आचार्य हरिभद्र का पुन पुनः गौरव के साथ स्मरण किया है। उनका नमस्कार विषयक प्रभावक चरित्र का श्लोक है।

विषं विनीर्धूय कुवासनामय व्यचीचरद् य. कृपयामदाशये।
अचिन्त्य वीर्येण सुवासना सुधा नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ।।१३२।।

आचार्य हरिभद्र सूरि को नमस्कार है। उन्होने विशेष अनुकम्पा कर मेरे हृदय मे प्रविष्ट कुवासना-विष का प्रणाश किया और सुवासना सुधा का निर्माण किया है। यह उनकी अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव है।

आचार्य पदारोहण के बाद आचार्य सिद्धर्षि ने गुजरात के विभिन्न क्षेत्रो मे विहरणकर धर्म की गंगा प्रवाहित की।

ग्रन्थ-रचना

सिद्धर्षि धर्म, दर्शन, अध्यात्म के महान् व्याख्याकार, सिद्धहस्त लेखक एवं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होने धर्मदासगणी की उपदेशमाला पर उत्तम टीका की रचना की। साहित्य जगत् की श्रेष्ठ कृति उनकी 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' है। प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के अनुसार कुवलयमाला के रचनाकार दाक्षिण्य चन्द्रसूरि सिद्धर्षि के गुरु भ्राता थे।[1] उन्होने एक दिन सिद्धर्षि से कहा—"मुने ! समरस भाव से परिपूर्ण आकण्ठ तृप्तिदायक समरादित्य कथा की कीर्ति-सर्वत्र प्रसारित हो रही है।[1] विद्वान् होकर भी तुमने अभी तक किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया है।

दाक्षिण्य चंद्रसूरि के वचनो से सिद्धर्षि खिन्न हुए और प्रत्युत्तर में बोले—"सूर्य के सामने खद्योत की क्या गणना है ? महान् विद्वान् हरिभद्र के

कवित्व की तुलना मेरे जैसा मदमति कैसे कर सकता है ?[११]"

दाक्षिण्यचन्द्रसूरि एव सिद्धर्षि के बीच वार्तालाप का प्रसंग समाप्त हो गया; पर गुरु भ्राता के द्वारा कही गई यह बात आचार्य सिद्धर्षि के लिए मार्ग-दर्शक बनी। उन्होंने "उपमितिभव प्रपंच कथा" की रचना की।

सिद्धर्षि को ग्रन्थ रचना के लिए प्रेरणा देने वाले कुवलयमाला कथा के रचनाकार दाक्षिण्यचंद्रसूरि दाक्षिण्यांक उद्योतनसूरि से भिन्न प्रतीत होते हैं। दाक्षिण्याक उद्योतनसूरि ने भी कुवलयमाला कथा की रचना की है। उनकी कुवलयमाला कथा रचना का समय वी० नि० १३०५ (वि० ८३५) है। सिद्धर्षि की "उपमितिभव प्रपञ्च कथा" का समय वि० सं० ९६२ है। अत: दाक्षिण्य चिह्नाङ्कित उद्योतनसूरि की सिद्धर्षि के साथ समसामयिकता सिद्ध नही होती। दोनो के रचनाकाल के मध्य १२७ वर्ष का अन्तराल है। सिद्धर्षि के गुरु भ्राता दाक्षिण्यचंद्रसूरि थे। दाक्षिण्याङ्क उद्योतनसूरि नही थे। दाक्षिण्यचंद्रसूरि की प्रेरणा से "उपमितिभव-प्रपञ्च कथा" की रचना हुई। ग्रन्थ परिचय इस प्रकार है—

उपमितिभव प्रपञ्च कथा

"उपमितिभव प्रपञ्च कथा" मुख्य रूप से धर्मकथानुयोग है। पर इसके वर्णन को देखते हुए चारो अनुयोग घटित हो सकते हैं। इस कथा मे न्याय, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, निमित्तशास्त्र, धातुविद्या, व्यापार, युद्धनीति, रणनीति आदि विविध विषयो का वर्णन है। इस कथा का विषय व्यापक है। जो बातें इसमे कही गई हैं वे समग्र जीव जगत् से सम्बन्धित हैं।

इस कथा ग्रन्थ के आठ प्रस्ताव हैं। प्रथम प्रस्ताव विषय की भूमिका रूप है। दूसरे प्रस्ताव मे कर्म, जीव, संसार की अवस्थाओ का रूपककथा के रूप मे वर्णन है।

तीसरे प्रस्ताव मे क्रोध, विषयासक्ति की परिणति को कथा के माध्यम से समझाया गया है। चौथे प्रस्ताव मे अपने प्रतिपाद्य का विस्तार से वर्णन है और अनेक अवान्तर कथाएं हैं। आठ प्रस्तावो मे चार प्रस्ताव महत्त्वपूर्ण है। चार प्रस्तावों मे यह चौथा प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यह सम्पूर्ण कथाग्रन्थ भारतीय रूपक ग्रन्थो मे शिरोमणि ग्रन्थ माना गया है। इस ग्रन्थ मे भाषा का लालित्य, शैली-सौष्ठव और उन्मुक्त निर्झर

की तरह भावों का अस्खलित प्रवाह है । डा० हर्मन जेकोबी ने इस पर अंग्रेजी मे प्रस्तावना लिखी है । ग्रन्थ-गौरव के विषय मे उनके शब्द हैं ।

"I did find something still more important. The great literary value of the V. Katha and the tact that it in the upt allegorical work in Indian literature"

मुझे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु उपलब्ध हुई है, वह है "उपमितिभव प्रपञ्च कथा" जो मूल्यवान् साहित्यिक कृति है एवं भारतीय साहित्य का यह प्रथम रूपक ग्रन्थ है ।

"उपमितिभव प्रपंच कथा" ग्रन्थ पूर्ण होने के बाद इसका वाचन मारवाड़ के भिन्नमाल नगर मे किया था । इस ग्रथ की प्रतिलिपि श्रुतदेवता का अनुकरण करने वाली 'गणा' नामक साध्वी ने तैयार की थी । यह गणा नामक साध्वी दुर्ग स्वामी की शिष्या थी । यह ग्रथ वी० नि० (वि० सं० ९६२) के आसपास ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी गुरुवर पुनर्वसु नक्षत्र मे पूर्ण हुआ था । अनुष्टुपछन्द के अनुसार ६००० श्लोक परिमाण माना गया है ।[१७]

सुधिजनो के मस्तक को भी विधूनित करने वाली एव उपशम भाव से परिपूर्ण इस कथा को सिद्धर्षि द्वारा सुनकर लोग प्रसन्न हुए और धर्मसघ ने उनको 'सिद्ध व्याख्याता की उपाधि दी ।[१८]

समय-संकेत

"उपमितिभव प्रपञ्च कथा" मे उनका रचनाकाल वी० नि० १४३२ (वि० ९३२) बताया गया है । कथा के रचनाकार सिद्धर्षि के काल को जानने के लिए यह अत्यधिक पुष्ट प्रमाण है । इस आधार पर सिद्ध व्याख्याता सिद्धर्षि वी० नि० १५वी (वि० १०वी) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं ।

आचार्य सिद्धर्षि के पास विशेष वचन सिद्धि भी थी ।[१९] व्याख्यान शक्ति की विशिष्टता के कारण उनकी सिद्ध व्याख्याता के नाम से प्रसिद्धि हुई थी ।

आधार-स्थल

१. दिग्बन्धं श्रावयामास पूर्वतो गच्छसन्ततिम् ।
सत्प्रभु. शृणु वत्स ! त्वं श्रीमान् वज्रप्रभु: पुरा ॥८३॥
तच्छिष्यवज्रसेनस्याभूद् विनेयचतुष्टयी ।
नागेन्द्रो निर्वृतिश्चन्द्र· ख्यातो विद्याधरस्तथा ॥८४॥

आसान्निर्वृन्तिगच्छे च सूराचार्यो धियां निधिः ।
तद्विनेयश्च गर्गर्षिरहं दीक्षागुरुस्तव ॥८५॥
(प्रभावक चरित्र-सिद्धिर्षि प्रबंध पृ० १२३)

२. तत्रोद्घाटे हट्टे उपविष्टान् सूरिमंत्रस्मरणपरान् श्री हरिभद्रान् दृष्टवान् सान्द्रचंद्रिके नभसि देशना । बाधः । व्रतम् ।
(प्रबंधकोश हरिभद्र सूरि प्रबंध पृ० २५)

३. आचार्य हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः ।
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदितः ॥१५॥
(उपमिति भव प्रवञ्च कथाप्रशस्ति)

४ द्योतिताखिल भावार्थः सद्भव्याब्ज प्रबोधक ।
सूराचार्योऽभवद्दीप्तः साक्षादिव दिवाकरः ॥१॥
स निर्वृत्तिकुलोद्भूतो लाटदेश विभूषणः ।
आचार पञ्चकायुक्त. प्रसिद्धो जगती तले ॥२॥
अभूद्भूनहितो धीरस्ततो देल्लमहत्तर ।
ज्योतिर्निमित्त शास्त्रज्ञः प्रसिद्धोदेश विस्तरे ॥३॥
ततोऽभूदुल्लसत्कीर्ति ब्रह्म गौत्र विभूषणः ।
दुर्गस्वामा महाभाग प्रख्यातः पृथिवीतले ॥४॥
सद्दीक्षादायकं तस्य स्वस्य चाहृ गुरुत्तमम् ।
नमस्यामि महाभागं गर्गर्षिमुनि पुङ्गवम् ॥७॥
क्लिष्टेऽपि दु.षमाकाले यः पूर्व मुनिचर्यया ।
विजहारेव नि·सङ्गो दुर्गस्वामी धरातले ॥८॥
सद्देशनांशुभि र्लोके द्योतित्वा भास्करोपमः ।
श्री भिल्लमाले यो धीरः गतोऽस्तं सद्विधानतः ॥६॥
तस्मादतुलोपशमः सिद्ध (सद्) र्षिरभूदनाविलमनस्कः ।
परहितनिरतैकमतिः सिद्धातनिधि (रति) र्महाभाग. ॥१०॥
उपमितिभवप्रपञ्चा कथेति तच्चरणरेणु कल्पेन ।
गीर्देवतया विहिताभिहिता सिद्धाभिधानेन ॥१४॥
(उपमिति भव प्रवञ्च कथा प्रशस्ति)

५ तस्य श्री भोजभूपालबालमित्रं कृतीश्वरः ।
श्री माघोनन्दनो ब्राह्मीस्यन्दनः शीतचदन· ॥१५॥
(प्रभा० च० पृ० १२१)

६. ऐदयुगीनलोकस्य सारसारस्वतायितम् ।
शिशुपालवध. काव्यं प्रशस्तिर्यस्य शाश्वती ।।१६।।

(प्रभा० च० पृ० १२१)

७. सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्री धर्म्यनामस्य बभूव राज्ञः ।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा ।।१।।
कलिमितं तथ्यमुदर्कपथ्य तथागतस्येव जनः सुचेता ।
विनानुरोधात्स्वहितेच्छयैव महीपतिर्यस्य वचश्चकार ।।२।।
तस्याभवद्दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूज. ।
यवीक्ष्य वैयासमजात शत्रोर्वचो गुणग्राहि जनैः प्रतीये ।।३।।
सर्वेण सवप्रिय इत्यनिन्द्यमानन्द भाजा जनित जनेन ।
यश्च द्वितीय स्वयमद्वितीय मुख्य. सता गौणमवाप नाम ।।४।।

("शिशुपालवध महाकाव्य" प्रशस्ति)

८. पितृमातृगुरुस्निग्धबन्धुमित्रैर्निवादितः ।
अपि नैव न्यवर्त्तिष्ट दुर्वरि व्यसन यतः ।।२३।।

(प्रभा० च० पृ० १२१)

९ अमीषा दर्शनात् कोयिपन्यापि सूपकृत मयि ।
जनन्या क्षीरमुत्तप्तमपि पित्त प्रणाशयेत् ।।४७।।

(प्रभा० च० पृ० १२२)

१० अतः प्रभृति पूज्यानां चरणौशरण मम ।
प्राप्ते प्रवहणे को हि निम्तितीर्षति नाम्बुधिम् ।।५१।।

(प्रभा० च० पृ० १२२)

११ उच्यते-श्रीमालपुरे दत्त-शुभकरौ भ्रातरौ महर्द्धिकौ श्रीमालज्ञातीयौ ।
इतश्च शुभकरस्य सुत सीधक । दत्तस्य सूनुर्माघ ।

(पुरातन प्रबध संग्रह पृ० १०५ पंक्ति २८, २६)

१२. अन्यदा रममाणेनोक्तम्-द्रम्म ५०० यावत् क्रीड-यद्ध्वम् यद्ध्वम् ।
द्रम्मान् ददामि, शिरो वा ददामि ।

(पुरातन प्रबंध सग्रह पृ० १०५ पंक्ति ३०)

१३. एव वेषद्वयप्रदानेन एहिरेयाहिराः २१ कृता. ।

(प्रबन्धकोश पृ० २६)

१४. सूरिर्दाक्षिण्य चन्द्राख्यो गुरुभ्राताऽस्ति तस्य सः ।
कथा कुवलयमालां चक्रे शृङ्गारनिर्भराम् ।।८६।।

(प्रभा० च० पृ० १२३)

१५. शास्त्र श्री समरादित्यचरित कीर्त्यते भुवि ।
यद्रसोर्मिप्लुता जीवा· क्षुत्तृऽाद्यं न जानते ॥६१॥
(प्रभा० च० पृ० १२३)

१६. का स्पर्द्धा समरादित्यकवित्वे पूर्वसूरिणा ।
खद्योतस्येव सूर्येण मादृग्मन्दमतेरिह ॥६४॥
(प्रभा० च० पृ० १२३)

१७. तत्रेयतेण कथा कविना, नि शेषगुणगणाधारे ।
श्री भिल्लमालनगरे, गदिताग्रिममण्डपस्थेन ॥२०॥
प्रथमादर्शे लिखिना साध्व्या श्रुतदेवतानुकारिण्या ।
दुर्गस्वामि गुरुणा शिष्यकयेय गणाभिधया ॥२१॥
सवत्सरशतनवके द्विपष्टिसहितेऽतिलङ्घिते चास्या ।
जयेष्ठे सितपञ्चम्या पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत ॥२२॥
ग्रन्थाग्रमस्या विज्ञाय कीर्तयन्ति मनीषिण. ।
अनुष्टुभा सहस्राणि प्रायश: सन्ति षोडश ॥२३॥
(उपमितिभव प्रपञ्च कथाप्रशस्ति)

१८. रम्यामुपमिति भवप्रपञ्चाख्यां महाकथाम् ।
सुबोध कविता ¦विद्वदुत्तमाङ्गविधूननीम् ॥९६॥
(युग्मम्)
ग्रन्थ व्याख्यानयोग्य यदेन चक्रे शमाश्रयम् ।
अत. प्रभृति सङ्घोऽस्य व्याख्यातृ बिरुददौ ॥९७॥
(प्रभा० च० पृ० १२४)

१९. कारयन् धार्मिकं सिद्धा वच: ¦सिद्धि परादधौ ॥१५५॥
(प्रभा० च० पृ० १२५)

७१. सिद्धि सोपान आचार्य शीलांक

टीकाकार आचार्यो मे आचार्य शीलाङ्क का नाम सुविश्रुत है। सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ पर आचार्य शीलाङ्क का विशेष आधिपत्य था। वतमान मे उपलब्ध उनकी आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की विशाल टीका उनके प्रकाण्ड वैदुष्य को प्रकट करती है।

गुरु-परम्परा

आचार्य शीलाङ्क की गुरु-परम्परा का सम्बन्ध निवृत्ति कुल से था। टीका ग्रन्थो मे आचार्य शीलाङ्क ने अपने को निवृत्ति कुल का बताया है। आचाराङ्ग टीका के प्रथम श्रुत स्कन्ध का उल्लेख है—"निवृत्तिकुलीन श्री शीलाचार्येण तत्त्वादित्यापर नाम्ना वाहरि साधु सहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति"—इस उल्लेख से स्पष्ट है, निवृत्ति कुलीन शीलचार्य ने बाहरिगणी की सहायता से यह टीका सम्पन्न की थी। उनका अपर नाम तत्त्वादित्य भी था। टीका रचना मे सहायक बाहरिगणी किस परम्परा के थे, इस सम्बन्ध मे कोई सकेत नही है और शीलाङ्क ने अपने गुरु के नाम का निर्देश भी दिया है।

जीवन-वृत्त

टीकाकार आचार्य शीलाङ्क की गृहस्थ जीवन सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नही है। साधु जीवन के प्रसङ्ग भी अज्ञात है। जैन परम्परा मे शीलाङ्क नाम क कई आचार्य हुए है। उनमे टीकाकार आचार्य शीलाङ्क और "चउप्पन्नमहापुरिस चरिय" ग्रन्थ के रचनाकार शीलाङ्क दोनो समकालीन थे। टीका रचना का परिसमाप्ति काल शक सवत्-७७२ वि० ६०७, चउप्पन्नमहा पुरिसचरिय का रचना काल वि० ६२५ बताया गया है। दोनो ग्रन्थो मे निवृत्ति कुलीन शीलाचार्य नाम का उल्लेख है। वर्तमान मे दोनो की अधिक प्रसिद्धि शीलाङ्क नाम से है। नाम साम्य और समय समकालीनता के कारण प्रस्तुत दोनो आचार्यों का वर्षों तक एक समझा जाता रहा है। हरिभद्र की पहिचान के लिए भवविरह सूरि शब्द का उल्लेख उद्योतन सूरि के लिए दाक्षिण्याक सज्ञा का प्रयोग

अन्य हरिभद्र सूरि और उद्योतन सूरि से उनकी भिन्नता का बोध कराते हैं। इसी प्रकार टीकाकार शीलाङ्क ने टीका ग्रन्थ मे तत्त्वादित्य संज्ञा का प्रयोग किया है[१] और 'चउप्पन्नमहा पुरिसचरिय' ग्रन्थ के रचनाकार ने अपने लिए विमलमति सज्ञा का प्रयोग किया है।[२] इन नामान्तरो के उल्लेख से टीकाकार और काव्य ग्रन्थकार शीलाक पृथक-पृथक सिद्ध होते हैं। 'चऊप्पन्नमहापुरिसचरिय' ग्रन्थ के रचनाकार शीलाङ्क ने अपने को मानदेव सूरि का शिष्य बताया है।[३] टीकाकार शीलाङ्क ने टीका मे गुरु के नाम का उल्लेख कहीं नही किया है इससे भी दोनो की भिन्नता का बोध होता है।

प्रभाचन्द्राचार्य ने टीकाकार शीलाङ्क का दूसरा नाम कोट्याचार्य बताया है।[४] पर किसी अन्य ग्रन्थ मे ऐसा उल्लेख नही है। अत भाष्य वृत्तिकार कोट्याचार्य को शीलाङ्क मानने की बात सही प्रतीत नही होती। शोध विद्वानो के अभिमत से भी कोट्याचार्य का नाम शीलाङ्क नही था। सभी बिन्दुओ से प्रभावक चरित्र ग्रन्थान्तर्गत शीलाङ्क के सदर्भ मे कोट्याचार्य नाम का उल्लेख विशेष चिन्तनीय है। प्रस्तुत आचार्य शीलाङ्क की सही पहिचान तत्त्वादित्य के नाम मे है।

साहित्य

शीलाङ्क टीकाकार थे। उन्होने आगम साहित्य पर टीका रचना का कार्य किया। प्रभावक चरित्र के अनुसार शीलाङ्क ने एकादशाङ्ग आगमो पर टीका रची पर अभयदेव सूरि टीका रचना करते समय लिखते हैं "विविधार्थरत्नसारस्य देवताधिष्ठितस्य, विद्या-क्रियाबलवतापि पूर्वपुरुषेण कुतोऽपि कारणादनुन्मुद्रितस्य स्थानाङ्गस्योन्मुद्रणमिवानुयोग प्रारभ्यते"

[स्थानाङ्ग टीका]

जो स्थानाङ्ग सूत्र विविध अर्थ के रत्नों के सार से गर्भित है। देवताओ द्वारा अधिष्ठित है। विद्या और क्रिया बल से सम्पन्न होने पर भी पूर्व पुरुषो के द्वारा जिस सूत्र पर टीका रचना नही की गई। ऐसे स्थानाङ्ग सूत्र पर व्याख्यामूलक अनुयोग प्रारम्भ कर रहा हूं।

टीकाकार अभयदेव सूरि के इस उल्लेख से स्थानाङ्ग पर शीलाङ्क द्वारा टीका रची जाने की बात सिद्ध नही होती। वर्तमान मे आचार्य शीलाङ्क की आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग टीका उपलब्ध है। उपलब्ध दोनो टीकाओ का परिचय इस प्रकार है।

आचाराङ्ग टीका

अपने विषय की यह विस्तृत टीका है। दोनो श्रुतस्कन्धो पर रची गई प्रस्तुत टीका का ग्रन्थमान १२००० श्लोक परिमाण है। मूल सूत्र और निर्युक्ति के आधार पर इसकी रचना हुई है। टीका मे शब्दार्थ है। विषय का विस्तृत वर्णन है। सस्कृत प्राकृत उद्धरण भी है। टीका की रचना सरल और सुबोध भाषा मे हुई है।

गन्ध हस्ती का शस्त्र परिज्ञा विवरण टीका रचना के समय टीकाकार के सामने था। शीलाङ्क टीका के प्रारम्भ मे लिखते है—

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृत पूज्यै।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि तनोऽहमवशिष्टम् ॥

गन्ध हस्ती कृत शस्त्र परिज्ञा विवरण अति गहन है। अत. पाठको के सुखबोधार्थ इस टीका की रचना कर रहा हूं।

इस आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध का महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन टीका रचना के समय अनुपलब्ध था। यह बात शीलाङ्क के निम्नोक्त कथन से ज्ञात होती है

अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसर, तच्चव्यवछिन्नमिति कृत्वाऽतिलङ्घ्याष्टस्य सम्बन्धोवाच्य।

शीलाङ्क कहते है महापरिज्ञा नामक सातवा अध्ययन व्युच्छिन्न हो जाने से अधुना विमोक्ष नामक आठवे अध्ययन का सम्बन्ध बताया जा रहा है।"

प्रथम श्रुतस्कन्ध की टीका के अन्त मे टीकाकार का ग्रन्थ संशोधन के लिए नम्र निवेदन है* एव टीका समाप्ति की सूचना भी है। टीका रचना का समाप्ति काल भाद्रव शुक्ला पचमी गुप्त संवत् ७७२ बताया गया है।

"द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्"

सूत्रकृताङ्ग टीका :—

सूत्रकृताङ्ग टीका दार्शनिक विषय की महत्त्वपूर्ण कृति है। टीका रचना का आधार मूल आगम और उसकी निर्युक्ति है। यह वृत्ति १२८५० पद्य परिमाण विशाल है। इसमे दार्शनिक दृष्टियो का विस्तृत विवेचन है। स्वपक्ष की भान्ति पर पक्ष की मान्यताओ का भी युक्ति पुरस्सर प्रामाणिक निरूपण रचनाकार के चतुर्मुखी ज्ञान की सूचना देता है। विषय की स्पष्टता के लिए ग्रन्थान्तरों के विपुल उद्धरण है तथा स्थान-स्थान पर इस टीका मे अन्यरचित

अनेक संस्कृत प्राकृत पद्यो का प्रयोग अन्यैरप्युक्तं, उक्तं च, कहकर दिया गया है। टीका की रचना का पुण्य भव्यजनों के कल्याण के निमित्त बने ऐसा टीकाकार का टीका मे संकेत है।[८]

सूत्रकृताङ्ग टीका की परिसमाप्ति पर आचार्य शीलाङ्क लिखते हैं : "समाप्तमिदं नालन्दारव्यं सप्तमध्ययनम्। इति समाप्तेय सूत्रकृतद्वितीयांगस्य टीका। कृताचेयं शीलाचार्येण बाहरिगणिसहायेन।"

टीका निर्माण मे आचार्य शीलाङ्क को बाहरिगणी का पर्याप्त सहयोग प्राप्त था। यह बात प्रस्तुत पाठ से प्रमाणित हो जाना है।

उभयटीकाओं की विशेषता :—

आचार्य शीलाङ्क की ये दोनो टीकाए विस्तृत है। विविध सामग्री से पूर्ण है, सारगर्भित है। भाषा तथा शैली की दृष्टि से भी ये टीकाए सुग्राह्य, सुपाच्य एव सरस है। टीकाकार ने दोनो टीकाओ की रचना करते समय मूल सूत्र का शब्दार्थ करके ही सतोष नही किया अपितु अधिकाश विषयो की विस्तार से चर्चा की और निर्युक्ति गाथाओ के अर्थ को अच्छी तरह से समझाने का प्रयत्न किया है। इन टीकाओ को देखकर लगता है आचार्य शीलाङ्क सद्ज्ञान चन्द्रिका को विस्तार देने मे साहित्य जगत् के निर्मल सुधाशु थे। उन्होने जैनागम पीपासु पाठको के सुबोधार्थ विविध सामग्री से सम्पन्न टीकाओ का निर्माण कर सरस्वती के चरणो मे अनुपम उपहार भेट किया है।

समय संकेत

आचार्य शीलाङ्क की आचाराङ्ग टीका मे टीका रचना समाप्ति का समय गुप्त सवत् अथवा शक सवत् ७७२ बताया गया है। वह समय सूचक पूरा श्लोक इस प्रकार है —

द्वासप्तत्यधिकेषुहि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्।
सवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्ल पञ्चम्याम्॥१॥

शक सवत् और विक्रम स० मे १३५ वर्षो का अन्तर है। इस आधार पर सद्ज्ञान सुधाशु आचार्य शीलाङ्क वी० नि० की १३ वी (वि० सी० ९ वी) सदी के विद्वान् सिद्ध होते है।

आधार-स्थल

१. (क) "कृताचेयं शिलाचार्येण बाहरिगणिसहायेण।"
(सूत्रकृताङ्ग टीका)

ख. चउप्पण्णमहापुरिसाण एत्थ चरिय समप्पए एयं ।
सुयदेवयाए पयकमलकंतिसोहाणुहावेणं ॥१॥
सीसेण तस्स रइयं सीलारिएण पायडफुडत्थ ।
सयलजणबोहणत्थं पाययभासाए सुपसिद्ध ॥३॥
(चउप्पन्नमहापुरिसचरिय प्रशस्ति)

२. तत्त्वादित्यापरनाम्ना……………………कृता टीका ।
(आचाराङ्ग टीका श्रुतस्कंध-१)

३. यथा-अद्य त्वया कवे शीलाङ्कस्य विमलमत्यभिधानस्य कृति
(चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, पृ० १७)

४. आसि जसुज्ज (ल) जोण्हाधवलियनेव्वुयकुलंबराभोओ ।
तुहिणकिरणो व्व सूरी इहइ सिरिमाणदेवोत्ति ॥२॥
(चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, प्रशस्ति)

५. श्रीशीलाङ्क पुरा कोट्याचार्यनाम्ना प्रसिद्धिभू ॥१०४॥
(प्रभावकचरित, पृ० १६४)

६. वृत्तिमेकादशाङ्गया स विदधे धौतकल्मष ॥१०४॥
(प्रभावकचरित, पृ० १६४)

७. वर्ण पदमथ वाक्य पद्यादि च यन्मया परित्यक्तम् ।
तच्छोधनीयमत्र च व्यामोह कस्य नो भवति ॥४॥
(आचा० प्रथम श्रुतस्कन्ध टीका-पद्य)

८. क—मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथार्थी तस्योपकाराय ममैष यत्न ॥३॥
ख—………भव्य कल्याणभाग् भवतु ॥"
(सूत्रकृताग टीका पद्य)

७२. शास्त्रार्थ-निपुण सूराचार्य

सूराचार्य श्वेताम्बर चैत्यवासी विद्वान् थे। उनका नाम सूर था । सूर सूर्य को कहते हैं । सूराचार्य यथार्थत ही ज्ञान के सूर्य थे । व्याकरण न्याय साहित्य आगम आदि विषयो के वे विशेषज्ञ थे । शास्त्रार्थ कुशल भी थे । राजा भोज की सभा मे वादजयी बनकर उन्होने विशेष सम्मान प्राप्त किया था । गुर्जर नरेश भीम भी उनकी कवित्व शक्ति से विशेष प्रभावित थे ।

गुरु-परम्परा

सूराचार्य के शिक्षा एव दीक्षा गुरु द्रोणाचार्य थे । द्रोणाचार्य गुजरात नरेश भीम के मामा थे एव सूराचार्य के काका थे । प्रभावक चरित्र सूराचार्य प्रबन्ध मे दीक्षा के बाद सूराचार्य का गोविन्दाचार्य के साथ उल्लेख आया है । धाराप्रद उपाश्रय मे किसी नृत्य के प्रसग पर गोविन्दाचार्य के साथ सूराचार्य उपस्थित थे । गोविन्दाचार्य के आदेश से सूराचार्य ने नृत्य के वर्णन प्रसग पर काव्यमयी भाषा मे श्लोक रचना की थी[1] । इस श्लोक रचना से प्रभावित होकर राजकर्मचारियो ने राजा भीम के पास जाकर निवेदन किया—"राजन्! गोविन्दाचार्य पार्श्वेऽस्ति कवि प्रत्युत्तरक्षम ।" गोविन्दाचार्य के पास उत्तर प्रत्युत्तर देने मे पूर्ण सक्षम कवि सूराचार्य है ।

राजा भीम की विशेष प्रार्थना पर गोविन्दाचार्य राजसभा मे गए । उस समय भी सूराचार्य उनके साथ थे । इन प्रसगो के आधार पर गोविन्दाचार्य सम्भवत द्रोणाचार्य के गुरु थे एव सूराचार्य के दादा गुरु थे ।

जन्म एवं परिवार

सूराचार्य क्षत्रिय वशज थे । गुजरात की राजधानी अणहिल्लपुर (पाटण) मे उनका जन्म हुआ । उनके पिता का नाम संग्रामसिह था । द्रोणाचार्य संग्रामसिह के लघु भ्राता थे । गृहस्थ जीवन मे सूराचार्य का नाम महीपाल था । उस समय अणहिल्लपुर मे भीम का राज्य था[2] ।

जीवन-वृत्त

बालक महीपाल की बुद्धि वृहस्पति के समान प्रखर थी । महीपाल की

बाल्यावस्था मे ही पिता सग्रामसिंह का देहान्त हो गया। माता ने विचार किया—

"तन्माता भातृपुत्रं स्व प्रशाधीति प्रभु जगौ" ॥८॥

प्रभा० च० (पृ० १५२)

अपना भातृपुत्र समझकर बालक महीपाल को गुरु द्रोणाचार्य समुचित प्रशिक्षण देगे—यह सोच उसने गुरु के चरणो मे अपने पुत्र को समर्पित कर दिया। द्रोणाचार्य ने निमित्त ज्ञान के बल पर बालक को शासन प्रभावक समझकर अपने पास रख लिया। महीपाल की बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी। गुरु की साक्षीमात्र से उसने शब्दशास्त्र, प्रमाण शास्त्र आदि विविध विषयो का गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया। एक दिन द्रोणाचार्य ने विद्वान् महीपाल को योग्य समझकर माता के आदेश से श्रमण दीक्षा प्रदान की और कुछ समय के बाद उनकी नियुक्ति गुरु के द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप में हुई। सूर्य के समान अज्ञान तिमिर का नाश करने वाले महीपाल मुनि ही सूराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक बार राजा भोज की सभा का सचिव श्लोक लेकर राजा भीम की सभा मे उपस्थित हुआ। सूराचार्य ने उस श्लोक के प्रतिवाद मे नया श्लोक बनाकर राजा भीम को भेट किया।

राजा भीम ने वही श्लोक राजा भोज के पास प्रेषित किया। राजा भोज विद्वानो का सम्मान करता था। वह भीम द्वारा भेजे गये श्लोक को पढकर प्रसन्न हुआ और श्लोक के रचनाकार को अपनी सभा मे आने के लिए आमत्रण भेजा।

सूराचार्य महान् विद्वान् थे। वे अनेक श्रमण विद्यार्थियो को पढाया करते थे और कर्कश स्वरो मे तर्जना दिया करते थे। कभी-कभी काष्ट-दडिका से उन पर प्रहार भी कर देते थे। पुन पुन प्रहार के कारण काष्ट-दंडिका के भग्न हो जाने के भय से एक दिन उन्होने लोहे की दडिका रखने की बात सोची। शिष्य लोह-दडिका के नाम श्रवणमात्र से घबराए। यह बात शिष्यो द्वारा द्रोणाचार्य के पास पहुंची। उन्होने सूराचार्य के इस कठोर अनुशासनात्मक पद्धति के लिए उपालम्भ भी दिया और कहा—"लोहदण्डो-यमस्यैवायुध नहि चरित्रिणाम्।" लोह-दण्ड यमराज का आयुद्ध है। चरित्र गुणधारी मुनियों के लिए यह उपयुक्त नही है।

नम्र होकर सूराचार्य बोले—"मैं इनको वादकुशल बनाने की दृष्टि

से ताडना देता हूं । काष्ठ-दण्डिका की तरह लोह-दण्डिका का व्यवहार नही किया जाता है । यह प्रयाग मात्र उन्हे जागृत करने के लिए ही है ।

शिक्षार्थी श्रमणो का समर्थन करते हुए द्रोणाचार्य पुन बोले— "इनको वाद कुशल बनाने के लिए पहले तुम स्वयं राजा भोज की सभा मे विजयी बनकर आए हो[१] ?"

गुरु की यह बात मूराचार्य के हृदय मे चुभ गई । उन्होने भोज की सभा मे वादजयी बनने से पहले किसी भी प्रकार के सरस आहार (विगय) न लेने की प्रतिज्ञा ले ली[२] ।

मुनियो के द्वारा अत्यन्त आग्रह किए जाने पर भी वे अपने सकल्प से विचलित नही हुए । राजा भोज की सभा मे शास्त्रार्थ करने के लिए उन्होने गुरु के आदेश से तैयारी की । नरेश भीम की सभा मे इस बात की सूचना देने को वे गए, इसी समय नरेश भोज का सूराचार्य के लिए निमत्रण भी आ पहुचा था ।

गुरु का आदेश और महाराजा भीम का आशीर्वाद पाकर वे वहा से विदा हुए । गजारूढ होकर राजकीय सम्मान के साथ सूराचार्य ने धारानगरी मे प्रवेश किया । राजा भोज ने स्वय सामने आकर उनका गौरव बढाया ।

सूराचार्य की काव्य रचना से राजा भोज पहले ही प्रभावित थे । अब उनकी शास्त्रार्थ कुशलता ने धारानगरी के अन्य विद्वानो पर भी अपूर्व छाप अकित कर दी ।

एक बार राजा भोज ने भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदायो के धर्मगुरुओ को कारागृह मे बन्द कर उन्हे एकमत हो जाने के लिए विवश किया था । इस प्रसग पर धार्मिको के सामने भारी धर्म-सकट उपस्थित हो गया था ।

सूराचार्य ने एक युक्ति सोची । राजसभा मे पहुंचकर वे बोले—"मैंने आपकी धारानगरी का निरीक्षण किया है । यह नगरी यथार्थ मे ही दर्शनीय है पर इस विषय में मेरा आपसे निवेदन है कि यहा की सब दुकाने एक हो जाने पर ग्राहको को अधिक सुविधा होगी । उन्हे वस्तुओ का क्रय करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानो पर पहुचने का कष्ट नही करना पड़ेगा[३] ।"

राजा भोज मुस्करा कर बोले—"सतश्रेष्ठ ! सब दुकानो के एक हो जाने की बात कैसे सभव है ? एक ही स्थान पर अधिक भीड हो जाने से लोगों के लिए क्रय-विक्रय के कार्य मे अधिक बाधा उपस्थित होगी[४] ।"

सूराचार्य ने कहा—"राजन् ! भिन्न-भिन्न अभिमत रखने वाले धर्म सम्प्रदायो का एक हो जाना सर्वथा असभव है। दयार्थी जैन-दर्शन, रसार्थी कोल-दर्शन, व्यवहार प्रधान वैदिक दर्शन एव मुक्ति का कामी निरंजन सम्प्रदाय का मतैक्य कैसे हो सकता है[१] ?"

युक्तिपुरस्सर कही हुई सूराचार्य की बात राजा भोज के समझ मे आ गई। उन्होने कारागृह मे बन्द धर्म गुरुओ को मुक्त कर दिया।

विद्वान राजा भोज के धर्म निष्ठ, चिन्तनशील व्यक्तित्व के साथ यह प्रसंग अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है।

एक बार राजा भोज द्वारा रचित व्याकरण मे भी अशुद्धि का निर्देश कर सूराचार्य ने वहा की विद्वत् सभा का उपहास किया था। इस प्रवृत्ति से राजा भोज कुपित हुए। इस कोप का भयकर परिणाम सूराचार्य को भोगना पडता पर कवि धनपाल ने बीच मे आकर उन्हे बचा लया और प्रच्छन्न रूप में सकुशल वहा से विदाकर दिया था।

सूराचार्य का युग शिथिलाचार का युग था। आचार्य गजवाहन का उपयोग करने लगे थे। सूराचार्य ने भी धारा नगरी और पाटण मे प्रवेश करते समय गजवाहन का उपयोग किया था।[८]

सूराचार्य प्रशिक्षण प्रदान करने की विद्या मे सुदक्ष थे। उन्होने अपने पास अधीत शिष्यो को वादकुशल बनाया। आचार्य द्रोण के स्वर्गवास के बाद सूराचार्य ने गण का दायित्व सम्भाला। जैन प्रवचन की उन्नति की।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र मे सूराचार्य का अनुदान अत्यल्प होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। प्रभावक चरित्र मे प्राप्त उल्लेखानुसार उन्होने आदिनाथ और नेमिनाथ से सम्बन्धित एक उच्च कोटिक ज्ञानवर्धक ऐतिहासिक द्विसधान नामक काव्य का निर्माण किया था।

महोपाध्याय समय सुन्दर गणी, जिन माणिक्य सूरि आदि जैनाचार्यों द्वारा अष्ट लक्षार्थी, शतार्थी, पच शतार्थी, सप्तार्थी, षडर्थी, चतुरथी द्वयर्थी आदि अनेकार्थक चामत्कारिक कई काव्यो की रचना हुई।

सूराचार्य का वि० स० १०६० मे रचा गया यह ऋषभनेमि द्विसन्धान काव्य उसी शृखला का एक उत्तम ग्रन्थ है।

बडगच्छ के आचार्य हेमचन्द्र सूरि रचित नाभेयनेमि द्विसन्धान काव्य

का रचना काल वि० स० ११९० के लगभग है। दोनो काव्यो के रचना काल मे १०० वर्ष का अन्तर है।

समय-संकेत

सूराचार्य ने जीवन के सध्या काल मे अपने पदपर योग्य शिष्य की नियुक्ति कर अनशन की स्थिति स्वीकार की। परम समाधि की अवस्था मे ३५ दिन का अनशन सम्पन्न कर वे स्वर्गवासी हुए। प्रभावक चरित्र मे सूराचार्य प्रबन्ध २५९ पद्यो मे विस्तार से प्रस्तुत है पर उनके समय का सकेत कही नही है। सूराचार्य गुर्जर नरेश भीम, मालव नरेश भोज एव सुप्रसिद्ध कवि धनपाल के समकालीन थे। पाटण मे भीमदेव का राज्य वि० सं० १०७८ से ११२० तक का माना गया है। गुर्जर नरेश भोज के राजत्व का समय वि० स० १०६७ से ११११ तक था। कवि धनपाल ने अपनी बहिन के लिए वि० स० १०२९ मे "पाइय लच्छी नाममाला" की रचना की। इन सबके समकालीन होने मे सूराचार्य का समय वी० नि० की १६ वी (वि० की ११ वी, १२ वी) सदी प्रमाणित होती है।

आधार-स्थल

१ सूराचार्य च तत्रस्थ तदुत्कीर्तनहेतवे।
त तदा दिदिशु पूज्यास्तत्क्षणाच्चाथ सोऽब्रवीत् ॥२५॥

[प्रभावक चरित्र, पृ० १५२]

२ प्रतापाक्रान्तराजन्यचक्र क्ष्वक्रेश्वरोपम:।
श्री भीमभूपतिस्तत्राभवद् दु:शासनार्दन ॥५॥

[प्रभावक चरित्र, पृ १५२]

३. गुरव प्राहुरुत्तानमत्ते बालेषु का कथा।
किमागच्छसि लग्नस्त्व कृतभोजसभाजय ॥६१॥

[प्रभावक चरित्र पृ १५४]

४. श्रुत्वेत्याह स चादेश प्रमाण प्रभुसमित।
आदास्ये विकृती सर्वा कृत्वादेशमम् प्रभो ॥६२॥

[प्रभावक चरित्र पृ० १५४]

५. सूरि प्राहैकमेकाट्ट कुरू किं बहुभि कृते।
एकत्र सर्व लभ्येत लोको भ्रमति नो यथा ॥१३५

[प्रभावक चरित्र पृ० १५६]

६. राजाऽवदत् पृथग्वस्त्वर्थिनामेकत्रमीलने ।
महाबाधा ततश्चक्रे पृथग् हट्टावली मया ॥१३६॥
[प्रभावक चरित्र पृ० १५६]

७. दयार्थी जैनमास्थेयाद् रसार्थी कौलदर्शनम् ।
वेदाश्च व्यवहारार्थी मुक्त्यर्थी च निरजनम् ॥१३६॥
[प्रभावक चरित्र, पृ० १५६]

८. राजामात्योपरोधेन वृताचारव्यतिक्रमे ।
प्रायश्चित्तंविनिश्चित्य सूरिसरूढवान् गजम् ॥६२॥
[प्रभावक चरित्र पृ० १५५]

९. योग्य सूरिपदे न्यस्य भारमल निवेश्य च ।
प्रायोपवेशन पञ्चत्रिंशद्दिनमित दधौ ॥२५८॥
[प्रभावक चरित्र पृ० १६०[

७३. ऊर्जाकेन्द्र आचार्य उद्योतनसूरि

उद्योतन सूरि बडगच्छ के अलकार थे। धर्म के मूर्तरूप थे। शैल की तरह स्थिर गम्भीर, शशि सम शीतल, सौम्य स्वभावी, क्षमाधर आचार्य थे। प्रद्युम्न, मानदेव, सर्वदेव, आदि श्रमणो से सुशोभित थे। उद्योतन सूरि के जीवन परिचायक ये बिन्दु "उत्तराध्ययन सूत्र वृत्ति" एवं "महावीर चरिय" ग्रन्थ में प्राप्त है।

गुरु-परम्परा

उद्योतन सूरि नेमिचन्द्र सूरि के पट्ट शिष्य थे। नेमिचन्द्र सूरि वनवासी गच्छ चन्द्रकुल विहारुक शाखा के आचार्य देवसूरि के पट्ट शिष्य थे। उद्योतन सूरि का गच्छ बडगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ से अथवा उद्योतन सूरि की श्रमण परपरा से पूनमिया गच्छ तपागच्छ, नागोरी-तपागच्छ पायचन्द्रगच्छ आदि गच्छो का उद्भव हुआ।

जीवन-वृत्त

उद्योतनसूरि दीर्घजीवी आचार्य थे। उन्होने अपने जीवन मे कई तीर्थयात्राए की। आबू तीर्थ की यात्रा उन्होंने विक्रम सवत् ६६४ मे की। आबू की तलहटी मे बसे 'तेली' ग्राम मे वे रहे। ज्योतिष विद्या का उन्हे विशेष ज्ञान था। एक दिन बलवान् ग्रहनक्षत्रो के साथ सतान वृद्धि का सहज योग देखकर उन्होने वटवृक्ष के नीचे सर्वदेव, मानदेव, महेश्वर, प्रद्योतन आदि ८ शिष्यों की आचार्य पद पर एक साथ नियुक्ति की और उन्हे वट वृक्ष की तरह विस्तार पाने का आर्शीवाद दिया। तभी से उनका शिष्य परिवार वट शाखा की तरह विस्तार पाता गया और उनका गच्छ बड गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बड गच्छ को वृहद् गच्छ भी कहते है। कई विद्वानो का अभिमत है कि चौरासी गच्छो की शाखाए यही से प्रस्फुटित हुई।

शुभ नक्षत्र को देखकर वटवृक्ष के नीचे आठ व्यक्तियो को उद्योतन सूरि ने दीक्षा दी थी। आचार्यपद के लिए नियुक्ति नहीं की थी। ऐसा भी कही-कही उल्लेख मिलता है।

समय-संकेत

मालवा से शत्रुंजय जाते हुए धर्मोद्योतक आचार्य उद्द्योतन सूरि का रास्ते में ही स्वर्गवास हो गया। बड़ गच्छ की स्थापना का समय वी० नि० १४६४ (वि० सं० ९९४) माना गया है। बड गच्छ से इस आधार पर उद्द्योतन सूरि वी० नि० १५ वीं० (वि० की १० वी) शताब्दी के आचार्य नि:सन्देह प्रमाणित होते हैं।

७४. स्वस्थ परम्परा-संपोषक आचार्य सोमदेव

यशस्तिलक काव्य के रचनाकार आचार्य सोमदेव दिगम्बर विद्वान् थे। वे बचपन से ही तर्कशास्त्र के अभ्यासी विद्यार्थी थे। समय पाकर उनकी प्रतिभा का चतुर्मुखी विकास हुआ। गाय घास खाकर जैसे दूध देती है उसी प्रकार सोमदेव की तर्क प्रधान बुद्धि से काव्य धारा प्रवाहित हुई। यशस्तिलक की उत्थानिका मे सोमदेव ने स्वयं लिखा है—

आजन्म समभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्या ।
मति सुरभेरभवदिद सूक्तिपय. सुकृतिना पुण्यै. ।।

गुरु-परम्परा

दिगम्बर परम्परा के चार सघो मे से आचार्य सोमदेव देव सघ के थे। उनके गुरु का नाम नेमिदेव था। नेमिदेव यशोदेव के शिष्य थे। आचार्य सोमदेव ने यशोदेव को देव सघ तिलक का सम्बोधन देकर उनका सम्मान प्रकट किया है। गुरु नेमिदेव भी प्रकाण्ड विद्वान् उत्कृष्ट तप के आराधक एवं वाद विजेता आचार्य थे।[1] दिग्जयी विद्वान् महेन्द्रदेव आचार्य सोमदेव के लघु भ्राता थे। परभणी के ताम्र पत्र मे आचार्य यशोदेव को गौड संघ का बतलाया है और उनके शतकाधिक शिष्यो का उल्लेख है।[2]

जीवन-वृत्त

आचार्य सोमदेव मे कई असाधारण क्षमताएं थी। शास्त्रार्थ करने की कला भी उनमे विशेष विकसित थी (वाद कुशल आचार्यों मे उन्होने महान् ख्याति अर्जित की। स्याद्वाद-अचलसिंह, तार्किक चक्रवती, वादीभपञ्चानन, वाक्कल्लोल-पयोनिधि एव कवि कुशल राजकुञ्जर आदि भारी उपाधियों से वे विभूषित हुए।

आचार्य सोमदेव शब्दज्ञान के पाथोधि थे। उन्होने यशस्तिलक में ऐसी नूतन शब्दावली का प्रयोग किया जो अन्यत्र दुर्लभ है।[1] अपनी इस शक्ति का परिचय देते हुए पाचवे आश्वास के अन्त मे उन्होने लिखा—

अराण्डकाल व्यालेन ये लीढ़ा साम्प्रत तु ते ।
शब्दा श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ।।

विकराल काल व्याल के द्वारा निगल लिए गए शब्दो का सोमदेव ने प्रस्थापन किया है, इससे अद्‌भुत और क्या होगा ?

आचार्य सोमदेव विचारो से उदार थे एव स्वाभिमानी वृत्ति के थे। अपने काव्य की प्रशसा मे वे कहते हैं—

कर्णाञ्जलिपुटैं पातु चेत. सूक्तामृते यदि ।
श्रूयता सोमदेवस्य नव्या काव्योक्तियुक्तय ।।

आपका चित्त कर्णाञ्जलि पुट से सूक्तामृत पीना चाहता है तो सोमदेव के काव्योक्त युक्तियों का श्रवण करे।

एक बार शास्त्रार्थ करते समय प्रतिवादी से कहते हैं—

"सकल समयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादि,
न भवसि समयोक्तौ हंस सिद्धान्त देवः ।
न वचन विलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्व,
वदसि कथमिदानी सोमदेवेन सार्धम् ।।

न तुम महान् तार्किक विद्वान् अकलक हो, न तुम आगम उक्तियो के प्रयोग मे हस सिद्धान्त देव हो, न तुम वचन विन्यास मे पूज्य पाद हो, कहो सोमदेव के साथ शास्त्रार्थ कैसे कर पाओगे ?

आचार्य सोमदेव के अपने कथन मे अतिरजन जैसा नही था। वास्तव मे उनके व्यक्तित्व की क्षमता असाधारण थी। व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, दर्शन, काव्य आदि विद्याओ के सभी क्षेत्रो मे उनकी गति निर्बाध थी और उनका अध्ययन बहुत गहरा था। अध्यात्म, धर्म, दर्शन के साथ राजनीति का ज्ञान भी उनका उत्कृष्ट कोटि का था। कौटिल्य अर्थशास्त्र की तुलना करने वाला उनका नीतिवाक्यामृत जैन साहित्य मे राजनीति का अनूठा ग्रन्थ है। यशस्तिलक के तृतीय आश्वास मे भी राजनीति की विस्तृत चर्चा है। ये दोनो ही ग्रन्थ आचार्य सोमदेव के राजनीति सम्बन्धी विशद ज्ञान की सूचना देते हैं।

सोमदेव के समय मे चौलुक्य वशी नरेश अरिकेशरी के ज्येष्ठ पुत्र वाद्यराज (वद्दिग) की राजधानी गगधार थी। ये राष्ट्रकूटो के सामन्त थे। राष्ट्रकूट राजवंश के नरेश कृष्ण तृतीय उस समय के महाप्रतापी शासक थे। गङ्ग नरेशो के साथ मित्रता के सबंध स्थापित कर उन्होने अपने राज्य को उस ओर से निष्कटक बना लिया था। उनका प्रभुत्व दूर-दूर तक स्थापित हो गया था। इनके राज्य काल मे धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य

सस्कृति आदि के नए आयाम उद्घाटित हुए। अपने पूर्वजों की भाति नरेश कृष्णराज (तृतीय) ने जैन धर्म को भी महान् सरक्षण दिया। शान्तिपुराण और जिनाक्षर माले के रचनाकार कन्नड जैन कवि पौन्न ( ) को उभय भाषा चक्रवर्ती की उपाधि से उन्होने अलंकृत किया। अपभ्रश भाषा के जैन महाकवि पुष्पदन्त को इस राजवश से पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त था। आचार्य सोमदेव को भी राष्ट्रकूटो के सुखद शासन मे बहुमुखी प्रगति करने का शानदार अवसर मिला। यशस्तिलक (चपू काव्य) जैसे उत्तम काव्य की रचना उन्होने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के शासनकाल मे एवं वाद्यराज (वद्दिग) की राजधानी मे बैठकर की थी।

साहित्य

आचार्य सोमदेव की मनीषा विविध विषयो मे विशेषज्ञता प्राप्त थी। सस्कृत भाषा के वे अधिकारी विद्वान् एव गद्य-पद्य दोनो प्रकार की विधा के अपूर्व रचनाकार थे। वर्तमान मे सोमदेव के तीन ग्रथ उपलब्ध हैं—यशस्तिलक, नीतिवाक्यामृत, अध्यात्म तरङ्गिणी।

यशस्तिलक चम्पू

यशस्तिलक आचार्य सोमदेव की अत्यन्त गभीर कृति है। छह सहस्र श्लोक परिमाण यह ग्रन्थ एक महान् धार्मिक आख्यान है। इसमे यशोधर का सम्पूर्ण कथाचित्र अत्यन्त सुन्दर ढग से प्रस्तुत हुआ है। आचार्य सोमदेव के प्रखर पाडित्य एव सूक्ष्म अन्वेषणात्मक दृष्टि का स्पष्ट दर्शन इस कृति से पाया जा सकता है। निर्विवाद रूप से यह कृति जैन जैनेतर ग्रन्थो का सारभूत ग्रन्थ है। इसका शब्द गौरव कवि माघ के काव्यो की स्मृति कराता है।

यशस्तिलक कृति मे इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल और पाणिनीय व्याकरण की चर्चा एव महाकवि कालिदास, भवभूति, गुणाढय, बाण, मयूर, व्यास आदि अपने पूर्वज विद्वानो का उल्लेख आचार्य सोमदेव के चतुर्मुखी ज्ञान का प्रतिबिम्ब है।

विषय वस्तु एव रचना शैली की दृष्टि मे भी यशस्तिलक काव्य उच्चकोटि का है। इसका पारायण करते समय कवि कालिदास, भवभूति, भारवि तीनो को एक साथ पढ़ा जा सकता है।

यशस्तिलक के आठ आश्वास हैं। अन्तिम तीन आश्वास उपासकाध्ययन नाम से विश्रुत है। अग साहित्य मे सुप्रसिद्ध आगम 'उपासक दशा' से

प्रभावित होकर अपनी कृति का नाम उपासकाध्ययन देना आचार्य सोमदेव की मौलिक सूझबूझ का परिणाम है। यशस्तिलक का एक भाग होते हुए भी उपासकाध्ययन स्वतत्र ग्रन्थ-सा प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ ४६ कल्पो मे विभाजित है एवं प्रत्येक कल्प सारभूत बातो से गर्भित है। वैशेषिक, जैमनीय, कणाद, ब्रह्माद्वैत आदि अनेक दर्शनो की समीक्षा के साथ जैन दर्शन का विस्तार से प्रतिपादन इस कृति को जैन साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

आचार्य सोमदेव जितने आध्यात्मिक थे उससे अधिक व्यावहारिक थे। उन्होने अपने साहित्य मे धम के व्यावहारिक पक्षो को बहुत स्पष्ट किया है। उपासकाध्ययन के चौथे कल्प का नाम मूढतोन्मथन है। इसमे लोक-प्रचलित मूढताओ एव धर्म के नाम पर प्रवृन्त रुढ परम्पराओ को (धर्म भावना से नदी मे स्नान, यक्षादि का पूजन आदि) मिथ्यात्व का परिपोषक बताकर उन पर आचार्य सामदेव ने करारा प्रहार किया है। इस कृति के ३२ वे कल्प से लेकर आगे के कल्पो मे श्रावकचर्या का विशद वर्णन है।

आचार्य सोमदेव के इस उपासकाध्ययन पर आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का, आचार्य जिनसेन के महापुराण का, आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन का, आचार्य दवसेन के भाव-सग्रह का प्रभाव परिलक्षित हाता है।

उत्तरवर्ती आचार्य विद्वान् अमितगति, पद्मनन्दि, वीरनन्दि, आशाधर, यश कीर्ति आदि ने अपनी ग्रन्थ रचना मे उपासकाध्ययन से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है।

आचार्य जयसेन के धर्मरत्नाकर ग्रन्थ मे उपासकाध्ययन ग्रन्थ के अनेक श्लोको का उद्धरण रूप मे उल्लेख हुआ है। धर्म-रत्नाकर की रचना वि० स० १०५५ मे हुई थी।

विद्वान् इन्द्रनन्दि के नीतिसार मे अन्य प्रभावी जैनाचार्यों के साथ आचार्य सोमदेव का भी नामोल्लेख किया है एव उपासकाध्ययन ग्रन्थ को प्रमाणभूत माना है।

आचार्य सोमदेव से पूर्व ग्रथो मे भी श्रावकाचार-सबधी सामग्री उपलब्ध होते हुए भी इस ग्रथ को विद्वानो ने अधिक आदर के साथ ग्रहण किया है, इसका कारण आचार्य सोमदेव द्वारा प्रस्तुत मौलिक सामग्री इस ग्रथ मे है। उपासकाध्ययन सहित आठ आश्वासो से परिसमाप्त यह ग्रन्थ काव्य साहित्य

का श्रेष्ठ रत्न है ।

नीतिवाक्यामृत

नीतिवाक्यामृत राजनीति विषय का उत्तम ग्रथ है। इसमे राजनीति से सबंधित विषयों का सूत्रात्मक शैली में सागोपाग विवेचन हुआ है । इस ग्रथ मे कई ऐतिहासिक प्रसग भी हैं । ऐसे शब्दो के प्रयोग भी हैं जिनके अर्थ शब्द-कोष मे भी उपलब्ध नही है। मनु, भारद्वाज, शुक्र, बृहस्पति जैसे राजनीति विज्ञ प्राचीन आचार्यों के अभिमत भी इस कृति मे उद्धृत हैं। नीतिवाक्यो का अमृत इस कृति मे भर दिया गया है । यह कृति के नाम से ही स्पष्ट है ।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म' यह धर्म नीति की व्यापक व्याख्या भी इस राजनीति ग्रन्थ में प्राप्त है। सस्कृत भाषा मे लिखा हुआ यह अनुपम ग्रन्थ रत्न नीतिशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए पठनीय और मननीय है। सम्पूर्ण कृति ३२ अध्यायो में विभक्त है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से स्पष्ट है। यशस्तिलक चम्पू काव्य के बाद कवि ने इस कृति की रचना की है।[*] समय और स्थान का संकेत इस कृति मे नही है। ग्रंथ रचना के प्रेरणा स्त्रोत कान्य-कुब्ज नरेश महेन्द्र देव थे[१]।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने आचार्य सोमदेव का सम्बन्ध कन्नौज के प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल द्वितीय के साथ होने का समर्थन किया है। यह अभिमत काल क्रम की दृष्टि से ठीक प्रतीत होता है। महेन्द्रपाल द्वितीय का समय ईस्वी सन् ६४५-४६ माना गया है । यशस्तिलक काव्य रचना का समय ईस्वी सन् ६५६ है ।

यशस्तिलक काव्य के मङ्गलाचरण मे 'महोदय' और प्रथम आश्वास के अन्तिम श्लोक मे 'महेन्द्रामरमान्यधी' जैसे शब्दो एवं वाक्यो के प्रयोग आचार्य सोमदेव महेन्द्रदेव के पारस्परिक गहरे सबंधो की सूचना देते हैं।

प० सुन्दरलाल शास्त्री ने सन् १६५० मे हिन्दी अनुवाद सहित नीति-वाक्यामृत ग्रन्थ का प्रकाशन कराया था ।

अध्यात्म तरङ्गिणी

कृति के नाम से प्रतीत होता है कि यह अध्यात्म विषयक रचना है । यह मात्र ४० पद्यो का एक अध्याय स्तोत्र शैली मे रचा गया है । ध्यान विधियों का इसमे वर्णन है । इस पर मुनि गणधर कीर्ति की संस्कृत टीका है जिसकी रचना चौलुक्य वशीय जयसिंह सिद्धराज के राज्यकाल मे वि० स० ११८६ में

हुई थी।

आचार्य सोमदेव के उक्त तीन ग्रन्थो के अतिरिक्त षण्णवति प्रकरण, युक्ति चितामणिस्तव, त्रिवर्ग-महेन्द्रमातलि-मजल्प—इन तीन ग्रन्थो की सूचना नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति[1] मे तथा स्याद्वादोपनिषद् एव सुभाषित की सूचना नरेश बद्दिग् द्वारा प्रदत्त परभणी के ताम्रपत्रो मे प्राप्त[2] है। वर्तमान मे यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

आचार्य सोमदेव ने अपने काव्य ग्रन्थो मे रुढ मान्यताओ को नही, स्वस्थ विचारो की परम्पराओ को समर्थन दिया है अत 'स्वस्थ परम्परा पापक' विशेषण सोमदेव के लिए अतिरिक्त जैसा प्रतिभापित नही होता।

समय संकेत

ब्रिटिशकालीन हैदराबाद राज्य के परभणी क्षेत्र मे प्राप्त ताम्रपत्र मे यशस्तिलक काव्य रचना के सात वर्ष पश्चात् सोमदेव को दिए गये दान का उल्लेख[3] एव चालुक्य सामन्तो की वशावली भी है जो इस प्रकार है--युद्धमल, अरिकेशरी, नरसिंह (भद्रदेव) युद्धमल वद्दिग, युद्धमल अरिकेशरी, नरसिह (भद्रदेव) अरिकेशरी, वद्दिग (वाद्यग) और अरिकेशरी

यह चालुक्य वशावली आचार्य सोमदेव के समय निर्णायकता मे सहायक हो सकती है।

आचार्य सोमदेव ने राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय के चरण-कमलोपजीवी सामन्त चौलुक्य वशी वाद्यराज (वद्दिग द्वितीय) की राजधानी गगधारा मे शक सवत् ८८१ वी० नि १४८६ (वि० स० १०१६) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन यशस्तिलक चम्पू काव्य को सम्पन्न किया था[4]। इस समय राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण (तृतीय) पाण्ड्य, सिहल, चोल, चेर आदि राजाओ को जीतकर मेलपाटी के सैन्य शिविर मे ठहरे हुए थे।

यशस्तिलक की प्रशस्ति मे प्राप्त काव्य रचना की सम्पन्नता का यह सवत् समय आचार्य सोमदेव के काल निर्णय मे अत्यधिक पुष्ट प्रमाण है। इस आधार पर स्वस्थ परम्परा पोषक आचार्य सोमदेव वि० नि० (वि० ११वी) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के पुत्र कृष्णराज तृतीय के वे समकालीन थे। नरेश कृष्ण तृतीय का नाम अकालवर्ष भी था।

आधार स्थल

१. श्रीमानस्ति देव संघ तिलको देवो यश पूर्वक ।
शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्री नेमिदेवाह्वय ।।
तस्याश्चर्य तपः स्थितेस्त्रिनवते जैतुर्महावादिनां ।
शिष्यो भूदिह सोमदेव यतिपस्तस्येव काव्य क्रम ।।

२. श्री गौडसंघे मुनिमान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इतिप्रजज्ञे ।
बभूव यस्योग्रतप. प्रभावात्समागम. शासनदेवताभि ।।१५।।
शिष्योभवत्तस्यमर्हाद्धिभाज स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा ।
श्री नेमिदेव. पर वादिदर्प्पद्रुमावलीच्छेद कुठारनेमि ।।१६।।
तस्मात्तपःश्रियो भर्तुल्लोकाना हृदयंगमा ।
बभूवुर्बहव शिष्या रत्नानीव तदाकरात् ।।१७।।
तेपा शतस्यावरज शतस्य तयाभवत्पूर्वज एवं धीमान् ।
श्री मोमदेवस्तपस श्रुतस्य स्थानं यशोधाम गुणोर्ज्जितश्री ।।१८।।

परभणी ताम्रपत्र

३. यशस्तिलक काव्य—आश्वास २

४. नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति

५. यशस्तिलक प्रशस्ति

६. 'इतिमकलतार्किक चक्रचूडामणि चुम्बित चरणस्य, पञ्चपचाशन्महावादिवादविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रतत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरण रत्नोदन्वत , श्रीमन्नेमिदेव भगवत शिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेव भट्टारक कानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह तार्किक चक्रवादीभ पंचाननवाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजकुञ्जर प्रभृतिप्रशस्ति प्रस्तावालङ्कारेण षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणि-त्रिवर्गमलेन्द्रमातलिसजल्प-यशोधरमहाराज-चरित - महाशास्त्रवेधसा श्रीमत्सोमदेव सूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृत नाम राजनीति शास्त्रं समाप्तम् । (नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति)

७. अपि च यो भगवानादर्शस्समस्त-विद्याना विरचयिता यशोधर चरितस्य कर्ता स्याद्वादोपनिषद कवि (वयि) ता चान्येषामपि सुभाषितामखिल महासामभन्त

(परभणी ताम्रपत्र)

८. अरिकेसरिणां दत्तं कथितं कविपेद्दणेनभट्टेन।
शासनमिदमुत्कीर्णं शुभधामजिनालस्य रेवेण ॥२३॥

(परभणी ताम्रपत्र)

९. शकनृप कालातीत संवत्सरेष्वष्ट स्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अकतः (८८१) सिद्धार्थ संवत्सरान्तर्गत चैत मास मदन त्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोर चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेल्वाटी प्रवर्धमान राज्यप्रभावे श्रीकृष्ण-राजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविन समधिगत पञ्चमहाशब्दमहा समान्ताधिपतेश्चालुक्य कुल जन्मन· सामन्त चूडामणे· श्रीमदरिकेस-रिण प्रथम पुत्रस्य श्रीमद्वाग राजस्य लक्ष्मी प्रवर्धमानवसुधारायां गंगधाराया विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।

(यशस्तिलक प्रशस्ति)

७५. अमित प्रभावक आचार्य अमितगति

अमितगति (द्वितीय) दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत आचार्य थे वे माथुर मघ के थे। इस मघ का दूसरा नाम नि पिच्छिक भी था। मयूर पिच्छि न रखने के कारण यह नाम इस सघ का प्रसिद्ध हुआ। मयूर पिच्छि न रखने का उपदेश काष्ठ संघ के मुनि रामसेन ने दिया था। रामसेन मुनि माथुरो के गुरु थे। अत इस मघ का नाम माथुर संघ हुआ। रामसेन मुनि का संबन्ध काष्ठ सघ से होने के कारण माथुर संघ को काष्ठा सघ की शाखा माना जाता है। दर्शनसार के अनुसार वीरसेन के शिष्य कुमार सेन के द्वारा काष्ठा संघ की स्थापना वी० नि० १२२३ (वि० सं० ७५३) मे हुई थी।

गुरु-परम्परा

आचार्य अमितगति के गुरु माधवसेन थे। इनकी गुरु परम्परा धर्म-परीक्षा, सुभाषित रत्नसदोह, पञ्च सग्रह, आराधना के प्रशस्ति श्लोको मे प्राप्त है।

माथुर संघ के सिद्धान्त शास्त्र पारगामी विद्वान् आचार्य वीरसेन के शिष्य देवसेन उनके शिष्य अमितगति प्रथम (योगसार के रचनाकार) थे। अमितगति के शिष्य नेमिषेण थे। माथुर सघ के तिलकभूत ये नेमिषेण ही माधवसेन के गुरु थे। आचार्य अमितगति द्वितीय माधवसेन के शिष्य और नेमिषेण के प्रशिष्य थे।[1]

आचार्य अमितगति की शिष्य परम्परा मे मुनि शान्तिसेण, उनके शिष्य अमरसेन, अमरसेन के शिष्य श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति एवं क्रमश. अमरकीर्ति हुए।

आचार्य अमितगति की यह शिष्य परम्परा अमरकीर्ति-रचित "छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) कृति मे प्राप्त हुआ है। छक्कम्मोवएस कृति अपभ्रंश भाषा की वि० स० १२४७ की रचना है।

जीवन-वृत्त

आचार्य अमितगति के गृहस्थ जीवन विषयक तथा माता-पिता के सम्बन्ध की सामग्री उपलब्ध नही है। उनका जन्म वी० नि० १४६० (वि०

१०२०) आसपास अनुमानित किया है। उन्होने मुनिदीक्षा कब और किन परिस्थितियो में ग्रहण की इन तथ्यों का इतिहास के सदर्भ मे पता नही लग रहा है पर आचार्य अमितगति का विशाल साहित्य उनके और उच्चकोटि का साहित्य उनके महान् वैदुष्य की सूचना देता है। वाक्पतिराज मुञ्ज की सभा के वे विशेष सम्मानित विद्वान् रत्न थे। वाक्यपतिराज मुञ्ज मालव के परमार नरेश थे एवं लक्ष्मी और सरस्वती दोनो के अनन्य आश्रयदाता थे।[१] उज्जयिनी उनकी राजधानी थी। आचार्य अमितगति ने सुभाषित रत्न सदोह जैसे गम्भीर ग्रन्थों की रचना की उस समय नरेश मुञ्ज विद्यमान थे।[२]

पञ्च सग्रह कृति मे आचार्य अमितगति ने सिन्धुपति (सिंधुल) का उल्लेख भी किया है।[३] सिन्धुल नरेश मुञ्ज के लघु भ्राता थे। वे इतिहास प्रसिद्ध राजा भोज के पिता थे।

साहित्य

आचार्य अमितगति ने जनभोग्य और विद्वद्भोग्य दोनो ही प्रकार के ग्रन्थ रचे। उनका उपलब्ध साहित्य सस्कृत भाषा मे है। प्राकृत और अपभ्रश की एक भी रचना उपलब्ध नही है। इसमे स्पष्ट है आचार्य अमितगति का सस्कृत भाषा पर आधिपत्य था। ग्रन्थो की गम्भीरता और विविध विषयो की विवेचना से लगता है—आचार्य अमितगति न्याय, काव्य, व्याकरण आदि विषयो के विशेषज्ञ विद्वान् थे। ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है—

सुभाषित रत्न संदोह

यह रचनाकार का स्वोपज्ञ सुभाषित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे सुभाषित रत्नो का सग्रह है। यह ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। ग्रन्थ की भाषा अलकार मय है। सासारिक विषय निराकरण माया-अहकार निराकरण, इन्द्रिय निग्रहोपदेश सप्त व्यसन निषेध, ज्ञान निरूपण, चरित निरूपण आदि ३३ प्रकरण ग्रन्थ में हैं। श्रावक धर्म का निरूपण २१७ पद्यो में विस्तार से प्रतिपादित है। पूरे ग्रन्थ मे कुल ६२२ पद्य हैं। ग्रन्थ की परिसमाप्ति वी० नि० १५२० (वि० स० १०५०) पोष शुक्ला पञ्चमी के दिन मुञ्ज के राज्य काल मे हुई।[१] इस गहन एवं सरस रचना के समय रचनाकार की आयु ३० वर्ष के लगभग अवश्य होगी, ऐसा अनुमान है। ग्रन्थ की प्रशस्ति मे ग्रन्थकार को गुरु परम्परा प्राप्त है।

धर्म परीक्षा

यह सस्कृत काव्य ग्रन्थ है। इसमे पौराणिक मनगढ़न्त अविश्वसनीय

तथ्यो का निरसन किया गया है। इससे स्पष्ट है आचार्य अमितगति रूढ़ धार्मिक मान्यताओ के पक्षधर नही थे। ग्रन्थ मे १६४५ पद्य है। दो मास में इस ग्रन्थ की रचना हुई।[1] कवि ने इसे वी० नि० १५४० (वि० स० १०७०) में सम्पन्न किया था। ग्रन्थ मे व्यङ्ग्योक्तिया और अपने अभिमत के प्रकटीकरण में कथाओं का उपयोग विलक्षण ढग से रचनाकार ने किया है। पूरे ग्रन्थ पर आचार्य हरिभद्र के धूर्ताख्यान का प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रन्थ के प्रशस्ति पद्यो मे गुरु परम्परा दी गई है।

पञ्च संग्रह

यह संस्कृत पद्य रचना अज्ञात कर्तृक प्राकृत पञ्चसग्रह का सस्कृत अनुवाद है। इस ग्रन्थ मे कर्मवाद का विवेचन हुआ है। गोम्मटसार के सैद्धान्तिक विषय को इस कृति द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है। कृति मे पद्यो की कुल सख्या १३७५ है। इस कृति का समापन वी० नि० १५४३ (वि० १०७३) मे मसूतिकापुर मे हुआ।[2] इसी समय राजा भोज, नरेश मुञ्ज के सिंहासन पर आसीन हुआ था। ग्रन्थ के प्रशस्तिपद्यों के अनुसार आचार्य अमितगति के गुरु माधवसेन के समय मे सिन्धुपति (सिन्धुल) का राज्य था।[3] इस कृति की प्रशस्ति में ग्रन्थकार की गुरु परम्परा प्रस्तुत नही है। गुरु माधवसेन का नामोल्लेख अवश्य हुआ है।

उपासकाचार

आचार्य अमितगति के नाम पर इस ग्रन्थ को अमितगति श्रावकाचार भी कहते है। ग्रन्थ की श्लोक सख्या १३५२ है। १५ परिच्छेद है। पाचवा, छठा, सातवा, चौदहवा, पन्द्रहवा परिच्छेद श्रावक आचार सहिता तथा ध्यान की विधि को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। पञ्चम परिच्छेद मे मद्य, मास, मधु की भाति रात्रि भोजन परित्याग का भी उपदेश दिया गया है। छठे परिच्छेद मे सौ श्लोको मे श्रावक के बारह व्रतो का विस्तृत विवेचन है। सातवे परिच्छेद मे व्रत के अतिचारो का तथा श्रावक प्रतिमाओ का वर्णन है। चौदहवे परिच्छेद मे १२ भावनाओ का एवं पन्द्रहवे परिच्छेद के श्लोको में भेद-प्रभेद सहित ध्यान का सम्यक् प्रतिपादन है।

प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में रचनाकार ने अपना नाम दिया। रचना सरल और स्पष्ट है। श्रावकाचार सम्बन्धी साहित्य सामग्री मे उपासकाध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार आदि कृतियां विद्वानो की हैं।

उनमें यह उपासकाचार कृति भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

भावना-द्वात्रिंशिका

इस कृति के ३२ पद्य हैं। यह कृति के नाम से स्पष्ट है। इस कृति की पद्यावलिया कोमल हैं। हृदयग्राही हैं। सामायिक मे बहुत से लोग इसका विशेष स्वाध्याय करते हैं। आचार्य अमितगति की यह अत्यधिक लोकप्रिय रचना है।

आराधना

यह सस्कृत पद्यमयी रचना है। शिवाचार्य कृत प्राकृत आराधना का अनुवाद है। प्रशस्ति पद्यो में देवसेन से अमितगति (द्वितीय) तक की गुरु परम्परा है। समय और स्थान का सकेत नही है। कृति का प्रतिपाद्य ज्ञान-दर्शन-चरित्र और तप है। ग्रन्थकार ने इस रचना को चार मास मे सम्पन्न किया था।[1] प्रशस्ति पद्यो मे रचनाकार ने आराधना की विशेषता बताने के साथ अपना नामोल्लेख भी किया है।

तत्त्वभावना

इस कृति के १२० पद्य हैं। यह कृति सामायिक पाठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। कृति के अन्त मे निर्देश है — "इति द्वितीय-भावना समाप्ता" रचनाकार के इस सकेत से लगता है—यह कृति किसी बड़े ग्रन्थ की दूसरी भावना या दूसरा अध्याय है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति— ये चार ग्रन्थ भी आचार्य अमितगति रचित माने गए हैं पर वर्तमान में उपलब्ध नही है।

योगसार

इस ग्रन्थ के रचनाकार भी आचार्य अमितगति थे। विद्वानो का अनुमान है—आचार्य अमितगति द्वितीय के ग्रन्थो की विशेषता इस ग्रन्थ मे नहीं है अतः यह रचना आचार्य अमितगति प्रथम की रचना है।

आचार्य अमितगति के व्यक्तित्व में अमित प्रभावकता अनुभूत हुई अतः मैंने आचार्य अमितगति को अमित प्रभावक विशेषण से विशेषित किया है।

समय-संकेत

आचार्य अमितगति की तीन कृतियों में संवत् समय प्राप्त है।

सुभाषित रत्न सदोह—समय वी० नि० १५२० (वि० स० १०५०)
धर्म परीक्षा—समय वी० नि० १५४० (वि० सं० १०७०)
पञ्चसंग्रह—वी० नि० १५४३ (वि० सं० १०७३)

इन कृतियो मे प्राप्त सवत् समय के अनुसार आचार्य अमितगति द्वितीय वी० नि० १६ वी (वि० स० ११ वी) शताब्दी के विद्वान् प्रमाणित होते है।

आधार-स्थल

१. सिद्धान्त पाथोनिधिपारगामी श्री वीरसेनोऽजनि सूरिवर्य.।
श्री माथुराणा यमिना वरिष्ठ कषाय विध्वसविधौ पटिष्ट ॥१॥
ध्वस्ताशेषध्वान्तवृत्तिर्मनस्वी तस्मात्सूरिर्देवसेनोऽजनिष्ट।
लोकोद्योती पूर्व शैलादिवार्क शिष्टाभीष्ट स्थेपसोऽपास्तदोप ॥२॥
भासिताखिल पदार्थ समूहो निर्मलोऽमितगतिर्गणनाथ।
वासरो दिनमणेरिव तस्माज्जायते स्म कमला कर बोधी ॥३॥
नेमिषेण गणनायकस्तत पावन वृषभधिष्ठतो विभु।
पार्वतीपतिरिवास्त मन्मथो योग गोपनपरो गणार्चित ॥४॥
कोपनिवारी शमदमधारी माधवसेन प्रणतरसेन.।
सोऽभवदस्मादलितमदोस्मा यो यतिसार प्रशमितसार ॥५॥
धर्म परीक्षामकृत वरेण्या धर्मपरीक्षामखिलशरण्याम्।
शिष्यवरिष्ठोऽमितगतिनामा तस्य पटिष्टोऽनघगतिधामा ॥६॥

धर्म परीक्षा प्रशस्ति पद्य

२. लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीर श्री वीरवेश्मनि।
गते मुजे यश पुजे निरालम्बा सरस्वती॥

प्रबन्धचिन्तामणि

३. समाप्ते पञ्चम्या भवति धरणीमुञ्ज नृपतौ·······
(सुभाषित रत्नसदोह प्रशस्ति पद्य ९२२)

४. श्रीमति सिन्धुपताव कलक ॥२॥
(पंचसग्रह प्रशस्ति)

५. समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे सहस्रे वर्षाणा प्रभवति हि पचाशदधिके।
समाप्ते पचम्यामवति धरणी मुजनृपतौसिते पक्षे पौषे बुधहितमिद शास्त्रमनघम् ॥२२॥
(सुभाषितरत्न सन्दोह प्रशस्ति)

६. अमितगतिरिवेद स्वस्य मासद्वयेन। प्रथितविशदकीर्ति काव्यमुद्भूत-दोषम् ॥

(धर्म परीक्षा)

७. त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दाना सहस्र शकविद्विष, मसूतिकापुरे जातमिद शास्त्र मनोरमम् ॥६॥

८. माधवसेनगणी गणनीय शुद्धतमोऽजनि तत्र जनीय।
भूयसि सत्यवतीव शशाक श्रीमति सिन्धुपनावकलक ॥२॥

६ आराधनैषायदकारि पूर्णा मासैश्चतुर्भिर्न तदस्ति चित्रं।

(आराधना प्रशस्ति)

७६-७७. मनस्वी आचार्य माणिक्यनन्दी और नयनन्दी

परीक्षामुख ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य माणिक्य नन्दी दिगम्बर विद्वान् थे। जैन न्याय के वे आद्य सूत्रकार थे। उनकी दार्शनिक प्रतिभा बेजोड थी। न्याय विषय पर भी उनका विलक्षण आधिपत्य था। नय-नन्दी भी दिगम्बर परपरा के मनस्वी आचार्य थे।

गुरु परम्परा

आचार्य माणिक्य नन्दी नन्दी संघ के थे। विन्ध्य गिरि के शिला-लेखों मे एक शिला लेख शक सवत् १३२० ईस्वी सन् १३९८ का है। उसमे नन्दी सघ के आठ आचार्यों मे एक नाम माणिक्य नन्दी का है।[1] आचार्य माणिक्य नन्दी के प्रथम विद्या शिष्य नयनन्दी ने अपनी 'सुदंसण चरिउ' नामक अप भ्रश कृति की प्रशस्ति मे गुरु-परपरा दी है वह इस प्रकार है—सुनक्षत्र, पद्म-नन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विश्वनन्दी, विशाखनन्दी, गणीरामनन्दी, माणिक्यनन्दी, नयनन्दी आदि-आदि। उक्त गुरु-परपरा के अनुसार आचार्य माणिक्य नन्दी के गुरु जिनागम के विशिष्ट अभ्यासी तपस्वी गणीराम नन्दी थे। नयनन्दी आचार्य माणिक्य नन्दी के शिष्य थे।[1]

जीवन-वृत्त

आचार्य माणिक्यनन्दी धारानगरी के निवासी थे। परमार नरेश राजा भोज की सभा मे वे विशेष सम्मान प्राप्त विद्वान् थे। न्यायशास्त्र के विद्यार्थी उनके चरणों में बैठकर न्यायविद्या का प्रशिक्षण पाते थे। न्यायविद्या के अधि-कृत विद्वान् प्रभाचन्द्र जैसे उनकी कक्षा के विद्यार्थी थे। सुदंसण चरिउ जैसी उत्तम कृति के रचनाकार आचार्य नयनन्दी भी उनके प्रथम विद्या शिष्य थे।

माणिक्यनन्दी महान् स्वाध्यायी आचार्य थे। आचार्य अकलक के न्याय ग्रन्थो के गम्भीर पाठी थे। प्रमेयरत्नमाला के टीकाकार लघु अनन्तवीर्य ने अपने ग्रन्थ में लिखा—

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्‌ध्रे येन धीमता ।
न्यायविद्यामृत तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥२॥

आचार्य माणिक्य नन्दि को मेरा नमस्कार है जिन्होने अकलङ्क के साहित्य समुद्र का मन्थन करके विद्या रूपी-अमृत निकाला है ।

आचार्य माणिक्यनन्दि के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर विद्वान् अभिनव धर्मभूषण ने अपनी न्यायदीपिका नामक कृति मे उन्हे भगवान् शब्द से सम्बोधित किया ।[3]

आचार्य नयनन्दि ने भी माणिक्यनन्दि को अपने को ग्रन्थ मे महापण्डित और त्रैविद्य का सम्बोधन देकर उनके प्रति आदर भाव प्रकट किया था ।[4]

आचार्य माणिक्य नन्दि का वैदुष्य यथार्थ मे ही अतिशयप्रभावक था । आचार्य नयनन्दि भी सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश के अधिकारी विद्वान थे ।

साहित्य

आचार्य माणिक्यनन्दि की साहित्यिकमेधा भी विलक्षण थी । वर्तमान मे उनका परीक्षामुख नामक ही ग्रथ उपलब्ध है । यह ग्रथ न्याय साहित्य का अनुपम रत्न है । ग्रथ का परिचय इस प्रकार है —

परीक्षा मुख ग्रन्थ

यह जैन न्याय का आद्य सूत्र है । यह ग्रथ न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, मीमासकसूत्र, ब्रह्मसूत्र, योग, गृहसूत्र आदि इन सूत्रात्मक ग्रथो मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इस ग्रथ के छह समुद्देश हैं । ग्रन्थगत सूत्र, सख्या २०८ हैं । प्रथम समुद्देश के १३ सूत्र, द्वितीय समुद्देश मे १२ सूत्र, तृतीय समुद्देश के ९७ सूत्र, चतुर्थ समुद्देश के ९ सूत्र, पञ्चम समुद्देश के ३ सूत्र तथा षष्ठ समुद्देश के ७४ सूत्र है । प्रथम पाच समुद्देशो मे प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण की विस्तृत चर्चा है । षष्ठ समुद्देश मे प्रमाणाभास का विशद विवेचन है ।

आचार्य अकलक के साहित्य महार्णव का मन्थन कर आचार्य माणिक्यनन्दि ने 'परीक्षामुख' ग्रथ की रचना की थी । ग्रथ की सूत्रात्मक शैलीमाणिक्यनन्दि के गम्भीर ज्ञान की परिचायिका है । इस ग्रथ पर दिङ्नाग के न्याय प्रवेश ग्रथ का और धर्मकीर्ति के न्याय बिन्दु का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । गौतम के न्याय सूत्र की भाति जैन न्याय को सूत्र बद्ध करने वाला यह अलौकिक ग्रथ है । इसकी सक्षेपक शैली अपने ढंग की निराली और नितान्त नवीन है । वादिदेव सूरि की कृति प्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कार और हेमचन्द्र

की प्रमाण मीमांसा परीक्षामुख ग्रन्थ से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होती है। इस ग्रंथ पर आचार्य प्रभातचन्द्र, की लघु अनन्तवीर्य की, भट्टारक चारु कीर्ति की क्रमश. प्रमेयकमल मार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला और प्रमेय रत्नमालालङ्कार नामक प्रशस्त टीकाएं हैं। इन तीनों मे प्रमेय कमल मार्तण्ड १२००० श्लोक परिमाण वृहद् टीका है।

नयनन्दी

माणिक्यनन्दि की भान्ति नयनन्दि भी रचना मेधा के धनी थे। उनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं—१. सुदसण चरिउ १. सयल विहिविहाणकव्व। दोनों ग्रंथो का परिचय इस प्रकार है—

सुदंसण चरिउ

आचार्य नयनन्दि द्वारा रचित सुदसण चरिउ अपभ्रंश भाषा की कृति है। यह १२ सन्धियो मे विभक्त है। इस काव्य का मुख्य नायक धीर, गम्भीर एवं महान् कष्टमहिष्णु सेठ सुदर्शन है। सेठ सुदर्शन की मित्र पत्नी कपिला को कामविह्वल बताकर उसके जीवन को अत्यन्त कुत्सित रूप से चित्रित किया गया है। सम्पूर्ण काव्य मे सेठ सुदर्शन के निर्मल चरित्र की गरिमा बोल रही है। एव ब्रह्मचर्य व्रत मे उसकी अनन्त निष्ठा प्रकट हो रही है।

काव्यकला की दृष्टि से भी यह उत्तम ग्रथ है। इसकी शैली सरस और सालङ्कारिक है। इस काव्य मे आचार्य माणिक्यनन्दि की गुरु परम्परा दी गई है। वह ऐतिहासिक सन्दर्भ मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। काव्य लक्षणो से भूषित यह निर्दोष कृति आचार्य नयनन्दि के गम्भीर ज्ञान की सूचक है।

सयलविहिविहाण (सकल विधि विधान)

यह ५८ सधियो मे परिसमाप्त काव्य ग्रथ है। भुजंगप्रिया, मञ्जरी, चन्द्रलेखा, मौक्तिकमाला आदि नाना प्रकार के छन्दो में रचित यह कृति अत्यंत सरस है। श्रावकाचार संहिता की विपुल सामग्री इसमे प्रस्तुत है। इसकी प्रशस्ति मे कालिदास, बाण, मयूर, नरेश, हर्ष, जैनाचार्य अकलङ्क, समन्तभद्र आदि का उल्लेख इतिहास के महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं। इस काव्य की ५८ सन्धियो १६ संधिया वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।

समय-संकेत

आचार्य माणिक्यनन्दि अकलङ्क के ग्रंथों के अनन्य पाठी थे। अकलङ्काचार्य का समय विविध अनुसन्धानों के आधार ई० स० ७२० से ७८० तक

माना है अतः आचार्य माणिक्यनन्दि अकलङ्काचार्य से उत्तरवर्ती होने के कारण ईस्वी सन् ८ वी के बाद उन्हे मानने में निर्विवाद स्थिति है।

आचार्य माणिक्यनन्दि और आचार्य प्रभाचंद्र का परस्पर साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध था अत. वे प्रभाचन्द्राचार्य से पूर्ववर्ती थे। आचार्य नयनन्दि, आचार्य माणिक्यनन्दि के प्रथम विद्या शिष्य थे। नयनन्दि ने अपना काव्य परमार नरेश भोज के राज्य में धारा नगरी के महाविहार में वी० नि० १५७० (वि० ११००) मे सम्पन्न किया था।[1] आचार्य माणिक्यनन्दि गुरुस्थान पर होने के कारण नयनन्दी से भी पूर्ववर्ती हैं अत माणिक्यनन्दि का समय डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने विविध प्रमाणो के आधार पर वि० सं० ११६० ई० सन् १००३ का अनुमानित किया है।[1] आचार्य नयनन्दि का समय उनकी सुदंसण चरिउ कृति मे प्राप्त सवत् समय के अनुसार वी० नि० १६ वी (वि० ११ वी) शताब्दी स्पष्ट सिद्ध है।

आचार्य माणिक्यनन्दि और नयनन्दि के गम्भीर ग्रथ इन दोनो आचार्यों के महामनस्वी रूप को प्रकट करते हैं।

आधार-स्थल

१. जातावुभौ हरियणो हरिणाङ्कचारु-
 र्म्माणिक्कदेवइतिचार्जुनदेवकल्पः ॥५६॥

[विन्ध्यगिरि शिलालेख]

२. जिणिदस्स वीरस्स तित्थे महते महाकुदकुदण्णच एतसंते।
सुणक्खाहिहाणो तहा पोमणदी तुणो विण्हुणदो तओ णदिणदि।
जिणुद्दिट्ठ धम्म सुरासीविसुद्धो कयाणेयगथो जयंते पसिद्धो।
भव्वबोहिपोओ महाविस्सणदी खमाजुत्तु सिद्धतिओ विसहणदी।
जिणिदागमाहासणे एयचित्तो तवायारणिट्ठाए लद्धाए जुत्तो।
णरिदामरिदेहि सो णदवदी हुओ तस्स सीसोगणी रामणदी।
असेसाण गथाण पारम्मिपत्तो तवे अगवी भव्वराईवमित्तो।
गुणावास भूओ सुतिल्लोक्कणदी महा पडिओ तस्स माणिक्कणदी।

[भुजगप्पयाओ इमो णाम छदो]

घत्ता—पढमसीसु तहाँ जायउ जगं विक्खायह मुणि णायणदि अणिदिउ।
चरिउ सुदंसणणाहहाँ तेण अवाहहाँ विरइउ बुद्द अहिणदिउ ॥

[सुदसणचरिउ सधि १२ कडवक ६]

३. तथा चाह भगवान माणिक्यनन्दि भट्टारकः

[न्याय दीपिका]

४. (क) महा पंडिओ तस्स माणिक्कणंदी

[सुदंसण चरिउ प्रशस्ति]

(ख) एत्थ सुदंसणचरिउ पचणमोक्कारफलयपयासयरे माणिक्कणंदि-तइविज्जसीसणयणंदिणा विरइए............

[सुदसणचरिउ सधि स्थल का अन्तिम गद्य भाग]

५. आरामगामवरपुरणिवेमे सुप्रसिद्धअवतीणामदेसे ।
सुखइपुरिव्व विबुहयणइट्ठ तही अत्थि धारणयरी गरिट्ठ ।
रणदुद्धरअरिवरसेल्लवज्जु रिद्धिए देवासुरजणियचोज्जु ।
तिहुवणणारायणसिरिणिकेउ तहिं णखइपुगमु भोयदेउ ।
मणिगणपहदूसियरविगभत्थि तहि जिणहरु बहुविहारु अत्थि ।
णिवविक्कमकालहो ववगएसु एयारह सवच्छ रसएसु ।
तहि केवलिचरिउ अमच्छरेण णयणंदि विरइउ वित्थरेण ।
जो पढइ सुणइ भावइलिहेइ सो सासायसुहु अइरें लहेइ ।

[सुदसणचरिउ सधि १२ कडवक १०]

६. तीर्थकर महावीर और आचार्य परम्परा भा० ३ पृ० ४३

अनेकान्त विवेचक आचार्य अभयदेव

आचार्य कालक की भाति कई आचार्य अभयदेव नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत अभयदेवसूरि नवाङ्गी टीकाकार अभयदेवसूरि और मल्लधारी अभयदेवसूरि से भिन्न है। इनकी प्रसिद्ध कृति वाद महार्णव टीका है।

गुरु-परम्परा

प्रस्तुत अभयदेव राजगच्छ के आचार्य थे। इनकी गुरु परम्परा मे आचार्य नन्नसूरि, आचार्य अजित, यशोदेवसूरि, सहदेवसूरि और प्रद्युम्नसूरि हुए। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य आचार्य अभयदेवसूरि थे। आचार्य प्रद्युम्न 'चन्द्रगच्छ' के थे।

जीवन वृत्त

अभयदेव राजकुमार थे। प्रद्युम्नसूरि के पास उन्होने मुनि दीक्षा ग्रहण की। प्रद्युम्नसूरि शास्त्रार्थ निपुण आचार्य थे। जैन दर्शन के साथ वैदिक दर्शन के भी वे निष्णात विद्वान् थे। अनेक विषयो का उन्हे सम्यक् ज्ञान था। सपादलक्ष्य (ग्वालियर) एव त्रिभुवनगिरि के राजाओ को बोध देकर उन्हे जैन बनाया था। वैदिक दर्शन का विद्वान् राजा अल्ल उनका परम भक्त था। अभयदेवसूरि ने प्रद्युम्नसूरि से विविध विषयो का गहन अध्ययन किया। जैन शासन के प्रभावक आचार्य बने और राजर्षि नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई।

आचार्य अभयदेव वास्तव मे अभय थे, निर्भय थे। उनकी वादकुशल प्रतिभा के सामने प्रतिद्वन्द्वी का टिक पाना कठिन हो जाता था।

न्याय क्षेत्र मे विशेषज्ञता प्राप्त होने के कारण एव वादकुशलता के कारण उन्हे न्याय वनसिंह और तर्कपंचानन की उपाधिया प्राप्त थी।

धारा नरेश मुञ्ज के उद्बोधक धनेश्वरसूरि अभयदेवसूरि के शिष्य थे। मुज अपने समय के प्रभावक नरेश थे। उनके कारण ही चन्द्रगच्छ राजगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मुज के समकालीन अन्य राजा भी धनेश्वरसूरि को बहुमान देते थे। धनेश्वरसूरि ने अपने अठारह शिष्यो को आचार्य पद पर नियुक्त किया और उनसे अष्टापदगच्छ, चैत्रवालगच्छ धर्मघोषगच्छ आदि कई

गच्छो एवं शाखाओ का उद्भव हुआ। धनेश्वरसूरि के बहुमुखी विकास मे अभयदेवसूरि का विशेष योगदान था।

साहित्य

आचार्य अभयदेव न्याय एवं दर्शन विषय के गंभीर विद्वान् थे। उन्होंने आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सम्मति तर्क' ग्रंथ पर २५००० श्लोक परिमाण 'तत्त्व बोधिनी' नामक सुविशाल टीका रची। इसका दूसरा नाम वादमहार्णव टीका भी है। वाद महार्णव टीका की शैली प्रौढ एव गम्भीर है। यह टीका जैन न्याय और दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आत्मा-परमात्मा, मोक्ष आदि विविध विषयो को युक्तियुक्त प्रस्तुत किया गया है। अपने से पूर्ववर्ती अनेक दार्शनिक ग्रन्थो का संदोहन कर आचार्य अभयदेव ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसे पढ़ने से दर्शनान्तरीय विविध ज्ञान-बिन्दुओं का भी सहज पठन हो जाता है। आचार्य विद्यानन्द के ग्रथों का इस टीका पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

अनेकान्त दर्शन की प्रस्थापना मे विभिन्न पक्षों का स्पर्श करती हुई 'तत्त्व बोधिनी' टीका परवर्ती टीकाकारो के लिए भी सबल आधार बनी है।

आचार्य प्रभाचन्द्र कृत 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' और अभयदेव कृत 'सन्मति सूत्र टीका' मे केवली मुक्ति, स्त्री-मुक्ति आदि विषयो पर स्व सम्प्रदायगत मान्यता का समर्थन और परमत का निरसन होते हुए भी एक दूसरे द्वारा प्रदत्त युक्तियो का परस्पर कोई प्रभाव परिलक्षित नही होता। अत हो सकता है ये दोनों आचार्य समकालीन थे। इनको रचना करते समय एक दूसरे का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था।

समय-संकेत

वादि बेताल आचार्य शान्तिसूरि आचार्य अभयदेव की शिष्य मंडली मे दर्शनशास्त्र के विद्वान् थे। शान्तिसूरि का स्वर्गवास वी० नि० १५६६ (वि० १०६६) मे हुआ था।

न्यायवनसिंह निष्णात, दार्शनिक आचार्य अभयदेव का समय वी० नि० १५४५ से १६२० विक्रम की ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और १२वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध (वि० १०७५ से ११५० अनुमानित किया गया है।

वादि बेताल आचार्य शान्तिसूरि के स्वर्ग संवत् के आधार पर भी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत अभयदेवसूरि का अनुमानित समय ठीक प्रतीत होता है।

७६. वादि–गज–पञ्चानन आचार्य वादिराज (द्वितीय)

दिगम्बर परम्परा मे वादिराज की गणना विद्वान् आचार्यों मे है। वे महान् आचार्य थे एव उच्चकोटि के कवि भी थे। प्रखर वैदुष्य एव वाद कुशलता के कारण षट्तर्क सन्मुख स्याद्वादविद्यापति और जगदेक मल्लवादी जैसी उनको उपाधिया प्राप्त थी।[1]

गुरु परम्परा

वादिराजसूरि की गुरु परम्परा द्रमिल या द्राविड सघ से सम्बन्धित थी। द्राविड सघ के अन्तर्गत नन्दी सघ की अरुङ्गल शाखा के वादिराज आचार्य थे।[2] अरुङ्गल नामक किसी विशेष स्थान या ग्राम से सम्बन्धित होने के कारण नन्दी सघ की शाखा या मुनि परम्परा अरुङ्गलान्वय नाम से प्रसिद्ध हुई थी।

वादिराजसूरि के गुरु का नाम मतिसागर और दादा गुरु का नाम श्री पालदेव था। उनके गुरु भ्राता (सतीर्थ मुनि) का नाम दयालपाल था। दयालपाल मुनि ने रूप सिद्धि नामक टीका रचना की थी।[3]

अपने दादा गुरु श्री पालदेव को वादिराजसूरि ने 'सिंह पुरै के मुख्य'[4] और अपने आपको 'सिह पुरेश्वर[5]' कहा है। इससे स्पष्ट है आचार्य वादिराज का 'सिंहपुर' नामक स्थान से किसी न किसी प्रकार का विशेष सम्बन्ध था अथवा इस स्थान पर इनका प्रभुत्व था। सिह पुरैक मुख्य एवं सिंह पुरेश्वर जैसे विशेषण वादिराज को मठाधीशो की परम्परा से सम्बन्धित होने की सूचना भी देते हैं।

देवसेन रचित दर्शनसार मे द्रमिल सघ के मुनियों मे कई दोषात्मक प्रवृत्तियो का उल्लेख होने के कारण इसे जैनाभास भी कहा है।

जीवन-वृत्त

वादिराज सूरि के माता-पिता आदि की सामग्री उपलब्ध नहीं है। वे किस वश के थे यह भी सूचना प्राप्त नही है। उनका मूल नाम भी अभी तक

अज्ञात है। इतिहास के पृष्ठों पर उनकी प्रसिद्धि वादिराज के नाम से है। वादिराज की संज्ञा भी संभवत. उन्हें वाद कुशलता के कारण प्राप्त हुई है। उनकी योग्यता का परिचय नगरतालुका के शिलालेख संख्यक ४६ मे प्राप्त होता है वह इस प्रकार है—

सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्म कीर्ति-
र्वचसि सुरपुरोधान्यायवादेऽक्षपाद ।

प्रस्तुत शिलालेख के आधार पर वे सभा मे अकलङ्क, विषय विवेचन में धर्म कीर्ति, प्रवचन मे बृहस्पति और न्याय मे नैयायिक गौतम के समकक्ष थे।

वादिराजमनुशाब्दिक लोको वादिराजमनुतार्किक सिद्ध ।

उस युग के वैयाकरण और तार्किक जन वादिराज के अनुज थे। वे चामत्कारिक प्रयोग भी जानते थे। जनश्रुति के अनुसार एक बार अपने भक्त का वचन रखने के लिए उन्होने मन्त्रबल से अपने कुष्ठ रोग को छिपाकर देह को स्वस्थ कञ्चन वर्ण बना लिया था।

जनसमुदाय मे इस घटना-प्रसग की प्रसिद्धि वादिराजसूरि के एकीभाव स्तोत्र के अन्तर्गत एक श्लोक के आधार पर हुई प्रतीत होती है वह श्लोक इस प्रकार है—

ध्यानद्वार मम रुचिकर स्वातगेह प्रविष्ट ।
तत्कि चित्र जिनवपुरिद यत्सुवर्णी करापि ॥

राजवश

दक्षिण के सोलकी वश के विख्यात नरेश जयसिह (प्रथम) की सभा मे वादिराज का पर्याप्त सम्मान था। अपने ग्रथो मे वादिराजसूरि ने कई स्थानो पर जयसिह देव का उल्लेख किया है।[७] जयसिह देव महान् प्रतापी नरेश थे। धारा के परमार नरेश भोज देव के वे सबल प्रतिद्वन्द्वी थे। जिनधर्म के प्रति उनकी विशेष भक्ति थी। अनेक जैन विद्वानो और गुरुओ को उनके द्वारा विशेष सम्मान प्राप्त था। धर्म प्रचार के क्षेत्र मे और साहित्य सृजन की दिशा मे जैन मुनियो को उनकी ओर सबल सहयोग था। आचार्य वादिराजसूरि का वे बडा आदर करते थे। उनकी राजसभा मे आचार्य वादिराज ने अनेक शास्त्रार्थ किए थे।[८] पार्श्वनाथ चरित्र जैसे उत्तमकोटि काव्य की रचना वादिराज ने चालुक्य नरेश जयसिह देव की राजधानी मे रहकर की थी।

धारा नरेश भोजदेव के राज्य मे रहकर ग्रंथो की रचना करने वाले आचार्य प्रभाचन्द्र भी चालुक्य जयसिह से सम्मानित थे।

साहित्य

आचार्य वादिराज ने विविध सामग्री से परिपूर्ण कई ग्रन्थों की रचना की। वर्तमान मे उनके ५ ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

न्याय विनिश्चय विवरण

यह ग्रन्थ भट्ट अकलक के न्याय विनिश्चय ग्रन्थ का २० सहस्र श्लोक परिमाण भाष्य है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, इसके तीन परिच्छेद हैं। जैन सिद्धान्तो के निरसन मे प्रदत्त बौद्ध की युक्तियो का सबल प्रतिवाद इस ग्रन्थ में हुआ है। जैन न्याय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

प्रमाण निर्णय

इस ग्रन्थ के चार अध्याय है एवं प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाणो की समुचित सामग्री इसमे उपलब्ध है।

यशोधर चति

यह एक सर्ग का लघुकाय खण्डकाव्य है। इसमे मात्र २९६ पद्य है।

एकीभाव स्तोत्र

यह २५ पद्यो का स्तोत्र है। इसमे आचार्य वादिराज के आस्थाशील जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता है।

पार्श्वनाथ स्तोत्र

यह उच्चकोटि का काव्य है। इसके १२ सर्ग है। आचार्य वादिराज के प्रकाण्ड पाण्डित्य के दर्शन इस ग्रथ मे होते है।

अध्यात्माष्टक

इस ग्रन्थ की संज्ञा से स्पष्ट है, इस कृति मे ८ पद्य है। यह रचना निर्विवाद रूप मे आचार्य वादिराज की प्रमाणित नहीं है।

त्रैलोक्यदीपिका

यह करणानुयोग ग्रन्थ है। विद्वानो का अनुमान है—यह रचना भी आचार्य वादिराज की होनी चाहिए।

समय-संकेत

आचार्य वादिराज अपने युग के दिग्गज विद्वान् थे। कुशलवादी थे।

पार्श्वनाथ चरित्र की रचना उन्होंने शक सवत् ६४७ (ई० सन् १०२५) कार्तिक शुक्ला तृतीया के दिन सम्पन्न की थी। अत. उनका समय वी० नि० १५५२ (वि० १०८२) के आसपास का प्रमाणित होता है।

आधार-स्थल

१. ष्ट्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापतिगलु जगदेवमल्लवादिगलु एनिसिद
श्रीवादिराजदेवरूम्। (नगर ताल्लुकाइन्स्क्रप्शन न० ३६)

२. श्रीमद्द्रमिलसघेस्मिन्नन्दिसघेऽस्त्यरूंगल ।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवारीशपारग. ॥
····श्री मद्द्रमिणगण्दनन्दिसघदरूङ्गभान्वयदाचार्यावलियेन्ते····
(जैन शिलालेख संग्रह पृ० ३६७)

३ यस्य श्री मतिसागरो गुरुरसौ चञ्चद्यशश्चन्द्र स्त्र ?
श्रीमान्यस्य स वादिराज गणभृत्स ब्रह्मचारी विभो·।
एकोऽतीव कृति स एव हि दयापालव्रती यस्मन—
स्यास्तामन्य-परिग्रह-ग्रह कथा स्वे विग्रहे विग्रह. ॥
हितैषिणा यस्य नृणमुदत्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धि·।
वन्द्यो दयापाल मुनि: स वाचा सिद्धस्सातामूर्द्धनि य प्रभावैः ॥
(मल्लिषेण प्रशस्ति)

४ पार्श्वनाथ चरित प्रशस्ति

५ शिष्य श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तप श्रीभृतां,
भर्त्तु सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्या पति ॥५॥
(न्यायविनिश्चय प्रशस्ति)

६. कच्छं खेत वसदि वाणिज्ज कारिऊण जीवतो।
ण्हतो सीयलणीरे पाव पउर स सजेदि ॥२६॥
(दर्शनसार)

७. (क) 'सिहे याति जयादि के वसुमतीर्जैनींकथेयं मया'
(पार्श्वनाथ चरित्र प्रशस्ति पद्य-५)

(ख) 'व्यातन्वज्जयसिंहता रणमुखे दीर्घ दधौ धारिणीम् ॥८५॥
(यशोधर चरित सर्ग-३)

(ग) 'रणमुख जयसिहो राज्यलक्ष्मीं बभार' ॥
(यशोधर चरित्र सर्ग-४)

८. सेव्य सिह समर्च्य-पीठ-विभव· सर्वप्रवादि प्रजा—
दत्तोच्चैर्जयकार-सार-महिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥
(मल्लिषेण प्रशस्ति)

८०. शिवालय आचार्य शान्ति

शान्त्याचार्य प्रशस्त टीकाकार थे। वादियों मे वेताल के समान दुर्जेय होने के कारण उनकी प्रसिद्धि वादि-वेताल के नाम से हुई। वादि चक्रवर्ती और कवीन्द्र जैसी उपाधिया भी उन्हे प्राप्त थी। न्यायविद्या के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे।

गुरु-परम्परा

वादिवेताल शान्त्याचार्य के दीक्षा गुरु विजयसिंह सूरि थे। विजयसिंह सूरि नाम के कई प्रसिद्ध आचार्य हुए है। प्रस्तुत विजयसिंह सूरि चान्द्र-कुल एव थारापद्रगच्छ के आचार्य थे।[1] थारापद्रगच्छ का जन्म बटेश्वर सूरि से हुआ। बटेश्वरसूरि का सम्बन्ध युगप्रधान आचार्य हारिलसूरि के गच्छ मे था। विजयसिंहसूरि चैत्यवासी थे। वे पाटण मे थारापद्र गच्छ के उपाश्रय मे रहते थे।

थारापद्रगच्छ की उत्पत्ति थारापद्र स्थान मे होने कारण थारापद्र-गच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान मे यह स्थान थराद् नाम से पहचाना जाता है। गुजरातप्रदेशान्तर्गत डीसा शहर से थराद् थोडी ही दूर पर स्थित है।

जन्म एवं परिवार

शान्ति सूरि का जन्म वैश्य वश श्रीमालगोत्र मे हुआ। गुजरात प्रदेशान्तर्गत 'उन्नतायु' नामक ग्राम उनकी जन्मस्थली थी।[2] यह ग्राम उस समय पाटण के पश्चिम मे था। वर्तमान मे यह स्थान राधनपुर के पार्श्ववर्ती उण ग्राम मे है। उण नाम उन्नतायु का ही रूपातर-सा प्रतीत होता है। शान्त्याचार्य के पिता का नाम धनदेव और माता का नाम धनश्री था। धनश्री साक्षात् लक्ष्मी रूपा थी। शान्त्याचार्य का नाम बाल्यावस्था में भीम था।[3] उस समय गुजरात प्रदेश के नरेश का नाम भी भीम था। अणहिल्लपुर (पाटण) गुजरात की राजधानी थी।[4]

जीवन-वृत्त

भीम के पिता श्रेष्ठी धनदेव श्री मालजिनेश्वर देव के चरणोपासक

थे ।[१] धनश्री भी जैनधर्म के प्रति आस्थावान थी । श्रेष्ठीधनदेव का पुत्र भीम प्रज्ञाबल के साथ शरीर सम्पदा से भी सम्पन्न था । कम्बू ग्रीवा, विशाल ललाट एव जानुपर्यन्त प्रलम्बमान भुजाए उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व की संकेतक थी । हाथ और पैर छत्र, ध्वज और पद्म के चिह्नो से सहज अलंकृत थे । शुभ लक्षणों से भूषित बालक भीमपुण्यों का मूर्तरूप सा प्रतीत होता था ।[१] एक बार विजयसिंह-सूरि का उन्नतायुग्राम मे पदार्पण हुआ । वे बालक भीम को देखकर प्रभावित हुए । उन्होने श्रेष्ठी धनदेव मे बालक की माग की । धनदेव ने भी इस महान् कार्य के लिए अपने पुत्र को गुरुदेव के चरणो मे अर्पित कर दिया । विजयसिंहसूरि ने बालक भीम को सयम दीक्षा प्रदान की । प्रतिभाबल सम्पन्न भीम मिथ्यादृष्टि व्यक्तियो के लिए यथार्थत ही भीम था ।[७] विजयसिंहसूरि ने उनका नाम शान्ति रखा ।

आचार्य सर्वदेव और अभयदेव से उन्होने विविध प्रकार का प्रशिक्षण पाया । आचार्य विजयसिंहसूरि द्वारा आचार्य पद पर अलकृत होकर उनका सारा उत्तराधिकार सफलता पूर्वक शान्त्याचार्य ने सभाला ।

शान्तिसूरि दिग्गज मनीषी थे एव वादकुशल आचार्य भी थे ।

एक बार शान्त्याचार्य का पाटण मे पदार्पण हुआ । वे भीमराज की सभा मे पहुचे । उनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर नरेश भीम ने उनको कवीन्द्र तथा वादि चक्रवर्ती की उपाधि से अलकृत किया ।[८]

उज्जयिनी के महाकवि धनपाल ने तिलकमञ्जरी कथा रची और उन्होंने अपने गुरु से पूछा—"इसकी समालोचना किससे करवानी चाहिए ?" तब गुरु ने उनको शान्त्याचार्य का नाम बताया था ।[९] धनपाल शान्त्याचार्य से मिलने के लिए उज्जयिनी से पाटण आए । शान्त्याचार्य के दर्शन कर उन्हे अन्त तोप की अनुभूति हुई ।

कवि धनपाल की प्रार्थना पर शान्त्याचार्य ने मालव-प्रदेश की ओर विहार किया । वे धारा नगरी मे पहुचे । राजा भोज की सभा मे ८४ विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ कर उन्होने विजय की वरमाला पहनी ।[१०] राजा भोज शान्तिसूरि के शास्त्रार्थ कौशल से प्रभावित हुए । राजा भोज की सभा मे पण्डितों के समक्ष शान्तिसूरि बेताल की तरह अजेय लग रहे थे । अत राजा भोज ने उनको वादि-वेताल अलंकरण से मण्डित किया ।[११]

धारानगरी मे शान्तिसूरि कई दिनों तक रहे । यही उन्होने महाकवि धनपाल की तिलकमञ्जरी कथा का संशोधन किया था । वहां से विहार कर

शान्तिसूरि पुनः पाटण में आए। उस समय कवि धनपाल भी उनके साथ था।

एक बार कवि धनपाल ने कोल कवि (शक्ति उपासक) धर्म से कहा—"अस्ति श्वेताम्बराचार्य शान्तिसूरि परो न ही" श्वेताम्बराचार्य शान्तिसूरि के समान दूसरा कवि नही है।

कवि धनपाल द्वारा इस प्रकार भूरि-भूरि प्रशंसा सुनकर कौल कवि धर्म शान्त्याचार्य के पास आया और उनके साथ शास्त्रार्थ मे पराभव को प्राप्त हुआ। द्रविडदेश के एक अन्य वादरसिक विद्वान् को भी शान्त्याचार्य से शास्त्रार्थ मे करारी हार स्वीकार करनी पडी थी। द्रविड विद्वान् के नाम का उल्लेख प्रभावक चरित्र ग्रन्थ मे नही है।

शास्त्रार्थों मे उस प्रकार विजय प्राप्त कर शान्त्याचार्य ने वादि वेताल उपाधि की सार्थकता प्रमाणित कर दी।

शान्तिसूरि मंत्रो के भी ज्ञाता थे। पाटण के श्रेष्ठी जिनदेव के पुत्र पद्मदेव को सर्प ने काट लिया था। कुछ समय बाद उनकी मृत्यु घोषित कर दी गई थी। शान्तिसूरि ने मंत्र प्रयोग से जहर उतार कर उन्हे स्वस्थ बना दिया। ऐसा उल्लेख भी प्रभावक चरित्र शान्तिसूरि प्रबन्धक मे है।[१३]

शान्त्याचार्य के ३२ विद्वान् शिष्य न्याय विषय के पाठी थे।[१४] उन्हे शान्त्याचार्य स्वयं न्याय विषय का प्रशिक्षण देते थे। एक बार शान्तिसूरि अपने शिष्यो को दुर्घटप्रमेय व्यवस्था समझा रहे थे। नठूल नगर (नाडोल) से आए हुए सुविहित मार्गी मुनिचन्द्र ने दूर खडे होकर शान्तिसूरि का न्याय विषयक प्रवचन सुना। शान्त्याचार्य की अध्यापन पद्धति ने मुनिचन्द्र को प्रभावित किया। वे १५ दिन तक निरन्तर वहा आकर दूर खडे रहकर शान्त्याचार्य के द्वारा शिष्यो को प्रदीपमान पाठ वाचना को ग्रहण करते रहे।[१५] १६ वे दिन शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यो की परीक्षा ली। उनकी शिष्य मण्डली में से एक भी प्रश्नो का सतोषजनक समाधान न दे सका। मुनिचन्द्रसूरि ने शान्त्याचार्य से विनम्रता पूर्वक आदेश प्राप्त कर १५ दिनो का अध्ययन सम्यक् प्रकार से दुहरा दिया एव शान्त्याचार्य द्वारा प्रदत्त प्रश्नों को सम्यक् रूप से समाहित किया।

मुनिचन्द्र जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी को पाकर शान्त्याचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब से शान्त्याचार्य की शिष्य मण्डली मे प्रविष्ट होकर मुनिचन्द्र को प्रमाणशास्त्र अध्ययन का अवसर मिला।

सुविहित मार्गी मुनियो के लिए उस समय पाटण में स्थान प्राप्ति की

अत्यन्त कठिनता थी। चैत्यवासियो का वर्चस्व होने के कारण पाटण के आस-पास भी सुविहित मार्गी मुनियो के लिए स्थान सुलभ नही था।

मुनि चन्द्रसूरि सुविहित मार्गी होते हुए भी उनके सामने स्थान की यह कठिनाई उपस्थित नही हुई। शान्त्याचार्य के सहयोग से श्रावको ने स्थानीय टकशाला के पीछे के भाग मे मुनिचन्द्रसूरि के रहने की समुचित व्यवस्था कर दी।

यह प्रसङ्ग शान्त्याचार्य के उदार हृदय का परिचायक है। इस समय मुनिचन्द्रसूरि ने शान्त्याचार्य से न्याय-विद्या का गम्भीर प्रशिक्षण प्राप्त किया था।

ग्रन्थ रचना

साहित्य के क्षेत्र मे शान्त्याचार्य की प्रसिद्धि टीका ग्रन्थकार के रूप में है। उन्होने "पाइयटीका" की रचना की। यह उच्चकोटि की प्राकृत टीका है। इस टीका से शान्त्याचार्य के बहुमुखी ज्ञान की सूचना मिलती है। प्राकृत भाषा पर भी उनका विशेष सामर्थ्य प्रकट होता है। पाइयटीका का परिचय इस प्रकार है —

पाइयटीका (शिष्यहिताटीका)

पाइयटीका का नाम शिष्यहिता टीका है। यह टीका साहित्य मे अत्यधिक प्रसिद्ध है एवं मौलिक सामग्री से परिपूर्ण है। प्राकृत कथानको की बहुलता के आधार से इसे 'पाइयटीका' भी कहते हैं। इसमे पाठान्तरो की प्रचुरता है। कथानक बहुत सक्षिप्त शैली मे लिखे गए हैं। मूलपाठ और निर्युक्ति दोनो की व्याख्या करती हुई यह टीका १८००० श्लोक परिमाण है। इसमे ५५७ गाथाए निर्युक्ति की है। स्थान-स्थान पर विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओ का तथा दशवैकालिक सूत्र की गाथाओं का प्रयोग भी हुआ है। कही-कही भर्तृहरि के श्लोक भी उद्धृत हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह अत्युत्तम टीका मानी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र पर अब तक जितनी टीकाओं के नाम उपलब्ध हैं उनमे यह टीका शीर्ष स्थानीय है। इसे वादी रूपी नागेन्द्रों के लिए नागदमनी के समान माना है।[१५]

समय संकेत

शान्त्याचार्य का पदार्पण अंतिम समय में उपासक यश के पुत्र 'सोढ़' के साथ गिरनार पर्वत पर हुआ। उनका वही पचीस दिवसीय अनशन के

साथ वी० नि० १५६६ (वि० सं० १०६६) ज्येष्ठ शुक्ला नवमी मंगलवार को स्वर्गवास हो गया था।"

आधार-स्थल

१. श्रीचन्द्रगच्छविस्तारिशुक्तिमुक्ताफलस्थिति ।
थाराप्रद इति ख्यातो गच्छ स्वच्छधिया निधि. ॥६॥
सच्चारित्रश्रिया पात्र सूरयो गुणभूरयः ।
श्रीमद्विजयसिंहाख्या विख्याताः सन्ति विष्टपे ॥७॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

२. श्रीपत्तनप्रतीचीनो लघुरप्यलघुस्थिति ।
उन्नतायुरितिग्राम उन्नतायुर्जनस्थिति. ॥६॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

३. तत्रास्ति धनदेवाख्य श्रेष्ठी श्रीमालवशभू. ॥१०॥
धनश्रीरिव मूर्तिस्था धनश्रीस्तस्य गोहिनी ।
तत्पुत्रो भीमनामाऽभूत् सीमा प्रज्ञाप्रभावताम् ॥११॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

४. अणहिल्लपुरं तत्र नगर नगरप्रभम् ॥४॥
श्री भीमस्तत्र राजासीद् धृतराष्ट्रभवद्विषन् ॥५॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

५. अर्हद्गुरुपदद्वन्द्वसेवामधुकरः कृती ॥१०॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

६. कम्बुकण्ठच्छत्र मौलिराजानुभुजविस्तर. ।
छत्रपद्मध्वजास्तीर्णपाणिपादसरोरुहः ॥१२॥
सर्वलक्षणसपूर्णः पुण्यनैपुण्यशेवधि. ॥१३॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

७. एव तैस्तदनुज्ञातैरदीक्ष्यत शुभे दिन ।
भीमो मिथ्यादृशा भीम उदग्रप्रतिभाबल. ॥१७॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

८. अणहिल्लपुरे श्रीमद भीमभूपालसंसदि ।
शान्तिसूरिः कवीन्द्रोऽभूद् वादिचक्रीतिविश्रुत ॥१२॥
(प्रभा० च० पृ० १३३)

९. गृहीतदृढसम्यक्त्वः कथां तिलकमञ्जरीम् ।
कृत्वा व्यजिज्ञपत् पूज्यान् क एनां शोधयिष्यति ।।२४।।
विचार्य तैः समादिष्टं सन्ति श्री शान्तिसूरयः ।
कथां ते शोधयिष्यन्ति सोऽथ पत्तनमागमत् ।।२५।।
(प्रभा० च० पृ० १३३)

१०. विश्वदर्शनवादीन्द्रान् स राजः पर्षदि स्थितः ।
जिग्ये चतुरशीतिं च स्वस्वाभ्युपगमस्थितान् ।।४७।।
(प्रभा० च० पृ० १३४)

११. वा दि वे ता ल विरुदं तदैषा प्रददे नृपः ।।५६।।
(प्रभा० च० पृ० १३४)

१२. भुवमुत्खाय तस्मिंश्च दर्शिते गुरवोऽमृतम् ।
तत्त्वं समृत्वाऽस्पृशन् देहं दष्टश्चासौ समुत्थितः ।।६६।।
(प्रभा० च० पृ० १३५)

१३. अथ प्रमाणशास्त्राणि शिष्यान् द्वात्रिंशतं तदा ।
अध्यापयन्ति श्रीशान्तिसूरयश्चैत्यसंस्थिता. ।।७०।।
(प्रभा० च० पृ० १३५)

१४. अपुस्तकः स ऊर्ध्वस्थो दिनान् पञ्चदशाऽशृणोत् ।
तत्रागत्य तदध्यायध्यानधीरमनास्तदा ।।७४।।
(प्रभा० च० पृ० १३५)

१५. उत्तराध्ययन ग्रन्थ टीका श्रीशातिसूरिभि ।
विदधे वादिनागेन्द्र सन्नागदमनीसमा ।।८६।।
(प्रभा० च० पृ० १३५)

१६. श्रीविक्रमवत्सरतो वर्षसहस्रे गते सषण्णवतौ (१०९६) ।
शुचिसितिनवमीकुजकृत्तिकासु शान्तिप्रभोरभूदस्तम् ।।१३४।।
(प्रभा० च० पृ० १३७)

८१. प्रभापुञ्ज आचार्य प्रभाचंद्र

दिगम्बर परम्परा के आचार्य प्रभाचन्द्र परमार नरेश भोज की सभा मे सम्मानित विद्वान् थे। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के शासनकाल मे भी उन्होने कई ग्रन्थो की रचना की थी। वे मूलत दक्षिण के थे। मालव की राजधानी धारा नगरी उनकी विद्याभूमि थी।

गुरु-परम्परा

प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र ग्रथ की प्रशस्ति के अनुसार प्रभाचद्र के गुरु का नाम 'पद्मनदि सैद्धान्तिक'[1] था। श्रवणवेलगोल के सख्यक ४० के अभिलेख के अनुसार गोल्लाचार्य के शिष्य 'पद्मनदि सैद्धान्तिक' कुलभूषण मुनि के सधर्मा तथा प्रथित तर्क ग्रथकार, शब्दाम्भोरुह भास्कर प्रभाचद्र के गुरु थे।[2] इस अभिलेख मे प्राप्त उल्लेखानुसार 'पद्मनदि सैद्धान्तिक' ने बालवय मे ही मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रवणबेलगोल' अभिलेख सख्यक ५५ के अनुसार प्रभाचद्र के गुरु का नाम चतुर्मुखदेव था।[3] इन तीनो उल्लेखो के आधार पर ही सभव है—प्रभाचद्र के मूलत गुरु पद्मनदि सैद्धान्तिक थे। चतुर्मुखदेव के साथ उनका गुरु रूप मे सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से बाद मे जुडा है।

जीवन-वृत्त

आचार्य प्रभाचद्र उत्कृष्ट ज्ञान पीपासु थे। विद्या ग्रहण करने के लिए वे दक्षिण से धारा नगरी मे आये थे। वहां आचार्य माणिक्यनदि के व्यक्तित्व ने उन्हे प्रभावित किया, उन्ही के चरणो मे बैठकर आचार्य प्रभाचद्र की उपासना तन्मयता से करने लगे। आचार्य माणिक्यनदि न्याय-विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आचार्य प्रभाचद्र ने उनसे न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। आचार्य प्रभाचन्द्र के न्याय विषयक ग्रथो को देखने से लगता है—वर्षों तक माणिक्यनदि से प्रभाचद्र ने विद्याभ्यास किया होगा। विद्यागुरु माणिक्यनंदि के प्रति आचार्य प्रभाचद्र की गहरी निष्ठा थी। प्रमेयकमल मार्तण्ड जैसे उत्तम न्यायग्रथ की रचना करते समय कृति के मङ्गलाचरण पद्य मे आचार्य प्रभाचद्र

भक्तिभावपूर्वक गुरु माणिक्यनदि का स्मरण करते है—

शास्त्रं करोमि वरमल्पतरावबोधो
माणिक्यनदि पदपङ्कज सत्प्रसादात् ।
अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीया-
ल्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद्गवाक्ष ॥२॥

माणिक्यनदि और आचार्य प्रभाचंद्र का साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध उक्त पद्यो से सिद्ध होता है ।

साहित्य

आचार्य प्रभाचद्र का जैसा नाम था वैसी ही उनकी निर्मल साहित्यिक प्रतिभा थी । साहित्य के क्षेत्र मे उन्होने टीका ग्रथों की रचना अधिक की है । उनके ग्रथो का परिचय इस प्रकार है—

प्रमेयकमलमार्तण्ड

आचार्य माणिक्यनदि के 'परीक्षा मुख' पर ११००० श्लोक परिमाण 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' नामक यह बृहद् टीका ग्रन्थ है । प्रमेय रूपी कमलो को विकसित करने के लिए यह ग्रथ सूर्य के समान है । इस ग्रथ की रचना राजा भोज के राज्यकाल मे हुई ।[४] इस ग्रथ के अध्ययन से रचनाकार के प्रकाण्ड पाण्डित्य की सूचना मिलती है ।

न्याय कुमुदचंद्र

भट्ट अकलक की लघीयस्त्रयी पर न्याय कुमुदचद्र ग्रथ की रचना हुई । यह १६०० श्लोक परिमाण विस्तृत व्याख्या ग्रथ है । इसमे दार्शनिक विषयो की गम्भीर सामग्री उपलब्ध है । इस ग्रथ की रचना जयसिहदेव के राज्यकाल मे हुई थी ।[५]

महापुराण टिप्पण

पुष्पदन्तकृत, महापुराण ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचद्र ने महापुराण टिप्पणक लिखा ।[६] पुष्पदन्त महापुराण के दो भाग है—आदि पुराण, उत्तर पुराण । आचार्य प्रभाचद्र के आदि पुराण टिप्पण की १९५० श्लोक सख्या और उत्तर पुराण टिप्पण की १३५० श्लोक सख्या है । महापुराण टिप्पण की कुल श्लोक सख्या ३३०० हैं । इस महापुराण टिप्पण ग्रन्थ की रचना आचार्य प्रभाचद्र ने श्री जयसिहदेव के राज्य मे की थी ।[७]

आराधना कथाकोष

आचार्य प्रभाचद्र का आराधना कथाकोष गद्यरचना है। इसकी रचना भी उन्होने श्री जयसिहदेव के राज्य मे की।[८]

शब्दाम्भोज भास्कर

आचार्य प्रभाचद्र के इस शब्दाम्भोज भास्कर ग्रन्थ की सूचना श्रवण-बेलगोल के सख्यक ४० के अभिलेख मे प्राप्त है। यह ग्रथ जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है।[९] वर्तमान मे यह ग्रथ पूर्ण रूप से उपलब्ध नही है।

रत्न करण्ड टीका, क्रियाकलाप टीका, समाधितन्त्र टीका, आत्मानु-शासन तिलक, द्रव्य सग्रह पञ्जिका, प्रवचन सरोज भास्कर, सर्वार्थसिद्धि टिप्पण आदि टीका ग्रन्थ भी प्रभाचद्र के हैं।

अष्ट पाहुड-पञ्जिका, स्वयभू स्तोत्र-पञ्जिका, देवागम-पञ्जिका, समयसार टीका, पञ्चास्तिकाय टीका, मूलाचार टीका, आराधना टीका आदि टीका ग्रन्थ भी विद्वान् नाथुराम प्रेमी के अनुमान से सभवत. प्रभाचद्र के है।

समय-संकेत

आचार्य वादिदेव ने अपने "स्याद्वाद रत्नाकर" ग्रन्थ (ई० सन् १११८) मे प्रभाचद्र के प्रमेय कमल मार्तण्ड का नामोल्लेख-पूर्वक प्रतिवाद किया है अत: वादिदेव से प्रभाचद्र पूर्ववर्ती सिद्ध होते है।

आचार्य वादिराज ने अपने पार्श्वनाथ चरित्र (ई० सन् १०२५) मे विद्यानन्द आदि कई प्रभावक आचार्यों का उल्लेख किया है पर प्रभाचद्र का उसमें उल्लेख नही है अत प्रभाचद्राचार्य का समय विद्वान् वादिराज से उत्तराश मे सम्भव है।

प्रभाचद्र माणिक्यनदि के समसामयिक विद्वान् थे। माणिक्यनदी के समक्ष उन्होने प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रंथो की रचना की थी। माणिक्य-नंदि का समय ई० सन् ११ वी सदी का प्रथम चरण है। अत. आचार्य प्रभाचद्र का समय भी ई० सन् ११ वीं शताब्दी प्रमाणित होता है।

आधुनिक शोध विद्वानो ने कई प्रमाणिक स्रोतो के आधार पर प्रभाचद्राचार्य का समय ई० सन् ९८० से १०६५ तक मान्य किया है।[१०] अत. प्रभाचद्राचार्य वी० नि० १६ वी (वि० ११ वी एवं १२ वी) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१. गुरु श्री नन्दिमाणिक्यो नदिता शेष सज्जन ।
नदताद्दुरितैकातरजाजैन मतार्णवः ।।
श्री पद्मनदिसैद्धातशिष्योऽनेक गुणालयः ।
प्रभाचद्रश्चिर जीयाद्रत्ननान्दपदे रत ।।
(प्रमेयकमल मार्तण्ड प्रशस्ति पत्र पद्य सख्या ३-४)

२ इत्याद्युद्धमुनीन्द्र सन्ततिनिधौ श्री मूलसघेततो
जातेनन्दिगण-प्रभेदविलमद्देशीगणे विश्रुते ।
गोल्लाचार्य इति प्रसिद्ध-मुनिपोऽभूदगोल्लदेशाधिप
पूर्वं केन च हेतुना भवभिया दीक्षा गृहतस्सुधी ।।११।।
अवद्धि कर्णादिक पद्मनदि सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके ।
कौमारदेव-व्रतिता प्रसिद्धिर्जीयात् सो ज्ञान-निधिस्सुधीर. ।।१५।।
तच्छिष्य कुलभूषणाख्य यतिपश्चारित्रवारान्निधि-
स्सिद्धानाम्बुधिपारगो नतविनेरास्तत्सधर्मो महान् ।
शब्दाम्भोरूह भास्कर प्रथिततर्कग्रथकार. प्रभा-
चद्राख्यो मुनिराज-पण्डितवर श्री कुण्डकुन्दान्वयः ।।१६।।
(श्रवणवेलगोल शिलालेख न ४०)

३ श्रीधाराधिपभोजराज-मुकुट-प्रोताश्म-रश्मि-च्छटा-
च्छाया-कुङ्कुम-पङ्क-लिप्त-चरणाम्भोजात्-लक्ष्मीधव. ।
न्यायब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणि-
स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीक-तरणि श्री मत्प्रभाचद्रमा ।।
श्री चतुर्मुख-देवाना शिष्योऽधृष्य प्रवादिभि ।
पण्डितश्रीप्रभाचद्रो रूद्रवादि-गजाङ्कुश ।।
(जैन शिलालेख सग्रह भाग १ पृ० ११८)

४. "श्री भोजदेवराज्ये श्री मद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणा-मार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचद्रपण्डितेन निखिलप्रमाण प्रमेयस्वरूपोद्योत परीक्षा मुखपदमिदं विवृतमिति ।"
(प्रमेयकमल मार्तण्ड, प्रशस्ति)

५. श्री जयसिंहदेव राज्ये

(न्याय कुमुदचंद्र पुष्पिका)

६. प्रणम्यवीरं विषुधेन्द्रसस्तुत निरस्तदोष व्रषभं महोदयम् ।
पदार्थ संदिग्धजन प्रबोधक महापुराणस्य करोमि टिप्पणम् ।।

(महापुराण टिप्पण प्रारम्भिक पद्य)

७. श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामल पुण्य निराकृतनिखिलमलकलकेन श्री मत्प्रभाचंद्रपंडितेन आराधनासत्कथा प्रबध कृत ।

(महापुराण टिप्पण प्रशस्ति)

८. श्री जयसिंहदेवराज्ये श्री मद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामल पुण्य निराकृत निखिलमलकलकेन श्री मत्प्रभाचद्रपडितेन आराधनासत्कथा प्रबध कृत ।

(आराधना कथाकोष)

९. इति प्रभाचद्र विरचिते शब्दाम्भोज भास्करे जैनेन्द्र व्याकरण महान्यासे तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पाद समाप्त ।

(शब्दाम्भोज भास्कर, पुष्पिका)

१०. न्याय कुमुदचद्र प्रस्तावना पृष्ठ १९

८२. निष्कारण उपकारी आचार्य नेमिचंद्र

दिगम्बर परंपरा के ख्याति प्राप्त आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त विषय के पारगामी विद्वान् थे। सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती का अलंकरण प्राप्त था। गोम्मटसार नामक सैद्धान्तिक कृति उनकी अत्यधिक प्रसिद्ध रचना है। वे संस्कृत टीकाकार नेमिचन्द्र तथा द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र से भिन्न थे।

गुरु-परम्परा

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र मूलसंघ देशीय गण के विद्वान् थे। उन्होंने अभयनन्दि, वीरनन्दि इन्द्रनन्दि का अपनी कृतियो में गुरु रूप मे स्मरण किया है।[1] लब्धिसार कृति मे उन्होने अपने को वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि का वत्स और अभयनन्दि का शिष्य बताया है।[2] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के अभिमत से अभयनन्दि के वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र ये तीनो शिष्य थे।[3] वय और ज्ञान मे लघु होने के कारण नेमिचन्द्र ने वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि से अध्ययन किया होगा। इस अभिमत के आधार पर नेमिचन्द्र के अभयनन्दि गुरु थे। वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि उनके विद्या गुरु संभव है।

सत्त्वस्थान के रचनाकार आचार्य कनकनन्दि का भी गुरु के रूप में आचार्य नेमिचन्द्र ने स्मरण किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे कनकनन्दि द्वारा रचित "सत्त्व स्थान" पूर्ण रूप से सकलित है।[4]

जीवन-वृत्त

आचार्य नेमिचन्द्र दक्षिण के विद्वान् थे। उनके जन्मस्थान, वश एवं गृहस्थ जीवन सबंधी सामग्री अनुपलब्ध है। मुनि जीवन में उन्होंने सैद्धान्तिक ज्ञान गुरुजनो से ग्रहण किया। उनके गुरु आचार्य अभयनन्दि, वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि, सैद्धान्तिक विषय के निष्णात विद्वान् थे। नेमिचन्द्र ने सिद्धान्त रूपी अमृत समुद्र से चन्द्रमा की भाति वीरनन्दि का उद्भव माना है और इन्द्रनन्दि को श्रुतसमुद्र पारगामी जैसे उच्च विशेषण से विशेषित किया है। कनकनन्दि ने भी इन्द्रनन्दि से सकल सिद्धान्त को ग्रहण किया। इन्द्र-

नन्दि ने श्रुतावतार ग्रंथ की रचना की। यह ग्रन्थ जैनाचार्यों के कालक्रम को जानने मे सहायक है।

आचार्य नेमिचन्द्र की बौद्धिक क्षमता असामान्य थी। वे स्वय अपनी बुद्धि का परिचय देते हुए लिखते है—

"जह चक्केण य चक्की, अखण्डं साहिय अविग्घेण।
तह मइ-चक्केण मया, छक्खण्ड साहित्य सम्म ॥३९७॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

चक्रवर्ती जैसे अपने चक्ररत्न से निर्विघ्नतया भारत के छह खण्डो को अपने अधीन कर लेता है उसी प्रकार मैंने बुद्धि चक्र से "षट्खण्डागम" सिद्धात को सम्यक्तया अधीन कर लिया है अर्थात् ग्रहण कर लिया है।

आचार्य नेमिचद्र षट्खण्डागम, धवला, जयधवला जैसे गम्भीर ग्रन्थो के अधिकारी विद्वान् थे। इन ग्रथ सूत्रो की जो व्याख्याए उन्होने प्रस्तुत की वे ही उत्तरवर्ती विद्वानो के लिए आधारभूत बनी।

गग नरेश जगदेक वीर, धर्मावतार राजमल्ल-सत्य वाक्य चतुर्थ का प्रधानमत्री और महा सेनापति चामुण्डराय आचार्य नेमिचन्द्र का परम भक्त था। राजमल-सत्य वाक्य चतुर्थ गङ्ग नरेश मारसिंह के उत्तराधिकारी थे।

गग नरेशो ने लगभग एक सहस्र वर्ष तक उस समय मे सुप्रसिद्ध गग-बाडी स्थान (वर्तमान मे कर्णाटक का अधिकाश भूभाग) पर सफलतापूर्वक शासन किया। गङ्गवश राज्य मे आदि से अन्त तक जैनधर्म की कडी जुडी रही। गङ्गवश राज्य के सस्थापक नरेश दद्दिग और माधव का राज्यपदारोहण के समय जैनाचार्य सिंहनन्दि का आशीर्वाद एव मार्गदर्शन प्राप्त हुआ था। इस राज्य के पतन की घडियो मे एक बार पुन प्राण फूक देने वाला तथा राज्य श्री शोभा को उन्नति के शिखर पर आरूढ कर देने वाला महामात्य चामुण्डराय था। चामुण्डराय कुशल राजनीतिज्ञ, सुदक्ष सैन्य संचालक, परम स्वामी भक्त, कला मर्मज्ञ और कलाकारो का प्रश्रय दाता था। कन्नड, संस्कृत, प्राकृत भाषा का वह विद्वान् था। साथ ही जैनधर्म का महान् उपासक था। वह योद्धा था। उसे समरधुरन्धर, सुभटचूडामणि, भुजविक्रम, वीरमार्तण्ड, समरकेशरी, रणरङ्गसिंह जैसी उपाधिया प्राप्त थी। वह धर्मवीर भी था। गोम्मटसार मे उसे 'सम्मत्तरयणनिलप' (सम्यक्त्व रत्ननिलप) 'गुणरयण भूषण (गुण रत्न भूषण) जैसे विशेषणों से आचार्य नेमिचन्द्र ने विशेषित किया है। महामात्य की सत्य निष्ठा जनता के लिए आदर्श रूप थी।

चामुण्डराय अजित सेनाचार्य का शिष्य था। आचार्य अजितसेन के गुरु आर्यसेन थे। अजितसेनाचार्य ने कन्नड में त्रिषष्ठीशलाकापुरुष पुराण की रचना ईस्वी सन् ९८८ में की थी। आचार्य नेमिचन्द्र ने भी उनको गोम्मटसार में गुण समूह के धारक 'भुवन गुरु' कहकर सम्बोधित किया है। अजित सेनाचार्य को अपना धर्म गुरु मानता हुआ भी चामुण्डराय आचार्य नेमिचन्द्र के संपर्क मे आकर उनका दृढ़ निष्ठावान् उपासक बन गया।

महामात्य चामुण्डराय का एक नाम गोम्मट भी था। नरेश राजमल्ल द्वारा उसे रायसञ्जक उपाधि प्राप्त थी। अत. महामात्य चामुण्डराय का ही दूसरा नाम गोम्मटराय था। महामात्य के इस नाम के आधार पर उनके द्वारा बनवाई गई बाहुबलीजी की विशालकाय मूर्ति गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य नेमिचन्द्र ने भी अपनी एक सैद्धान्तिक कृति का नाम गोम्मटसार रखा।

चामुण्डराय स्वयं विद्वान्, सिद्धान्तो के ज्ञाता, कवि और ग्रथ रचनाकार भी था। उसने कन्नडी भाषा मे चामुण्डराय पुराण रचा। वह गद्य ग्रंथों मे सबसे प्राचीन माना गया है। यह ग्रंथ शक संवत् ९०० वी० नि० १५०५ (वि० १०३५) मे सम्पन्न हुआ।

चामुण्डराय जैसे महामात्य और सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य—दोनो के योग से जैन शासन की महती प्रभावना हुई।

साहित्य

आचार्य नेमिचन्द्र ने षट्खण्डागम, धवला, जयधवला का आधार लेकर सैद्धान्तिक ग्रथो का निर्माण किया। उनके द्वारा रचित ग्रथो का परिचय इस प्रकार है—

गोम्मटसार

यह षट्खण्डागम का सार सग्रह ग्रंथ है।[१] इसके दो भाग है। (१) जीवकाण्ड (२) कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड मे ७३४ और कर्मकाण्ड मे ९६१ पद्य हैं। सम्पूर्ण कृति के कुल पद्य १३९६ हैं। जीवकाण्ड नामक प्रथमाधिकार मे जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बंध स्वामीत्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड इन पाच विषयो के अन्तर्गत गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा आदि जीव की अनेक अवस्थाओं का वर्णन है। कर्मकाण्ड के ९ अधिकारों मे जैनदर्शन सम्मत कर्म सबंधी मान्यताओं को विस्तार से समझाया गया है।

दिगम्बर साहित्य मे गोम्मटसार सैद्धान्तिक विषय की प्रमाणिक कृति है ।

त्रिलोक सार

यह कर्णानुयोग ग्रंथ है। इस ग्रंथ के ६ अधिकार हैं—(१) लोक सामान्याधिकार (२) भवनाधिकार (३) व्यन्तर लोकाधिकार (४) ज्योति र्लोकाधिकार (५) वैमानिक लोकाधिकार (६) मनुष्यतिर्यक् लोकाधिकार ।

ग्रथ के इन अधिकारों में ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्लोक, अध लोक का वर्णन तथा भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक इन चारो प्रकार के देवों की गति, आयु तथा आवास आदि सबंध की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत है। मनुष्य, तिर्यक् लोकाधिकार मे जबूद्वीप, लवणसमुद्र धातकीखण्ड आदि मनुष्य क्षेत्र का विस्तार से प्रतिपादन है। यतिवृषभ कृत 'तिलोयपण्णति' (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) एव तत्त्वार्थ वार्तिक के आधार पर इस ग्रथ की रचना हुई है। ग्रथ की पद्य सख्या १०१८ है। गोम्मटसार की भाति यह ग्रंथ भी चामुण्डराय के लिए निर्मित हुआ बताया जाता है। पंडित टोडरमलजी की इस ग्रंथ पर हिन्दी टीका है। पडितजी ने ग्रथ गत गणित विषय को सम्यक् प्रकार से समझाया है। सस्कृत टीका सहित यह ग्रथ माणिक्यचद्र ग्रथ माला से प्रकाशित है।[1]

त्रिलोकसार आचार्य नेमिचद्र की सिद्धान्त विषयक प्रशस्त रचना है ।

लब्धिसार

इस ग्रथ की रचना कषाय पाहुड़ (कषाय प्राभृत) और जयधवला टीका के आधार पर हुई है। इस ग्रंथ के दर्शनलब्धि प्रकरण मे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पाच लब्धियो का वर्णन है। प्रथम चार लब्धियां भव्य और अभव्य दोनो मे मानी गई हैं। पाचवी करणलब्धि भव्य जीवो के ही होती है। सम्यक्त्व रत्न की उपलब्धि करणलब्धि के अभाव मे नही होती। अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनो करणो का विस्तारपूर्वक विवेचन भी इस अधिकार मे है। चरित्रलब्धि नामक द्वितीय अधिकार मे क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक चरित्र का सम्यक् प्रतिपादन है।

क्षपणासार

इसमे कर्मक्षय करने की प्रक्रिया की विधि निरूपित है। इसमे कुल ६५३ गाथाए है। यह ग्रथ गोम्मटसार का परिशिष्ट जैसा प्रतीत होता है।

समय-संकेत

सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र ने अपनी कृतियो मे कहीं सन्, संवत्, समय का संकेत नहीं किया है। सुप्रसिद्ध महामात्य चामुण्डराय के ग्रंथ के आधार पर आचार्य नेमिचंद्र के समय को जाना जा सकता है। प्रधानमंत्री चामुण्डराय ने अपना चामुण्ड पुराण शक संवत् ९०० वी० नि० १५०५ (वि० १०३५) मे सपन्न किया था। आचार्य नेमिचंद्र ने गोम्मटसार कृति की रचना महामात्य की प्रार्थना पर की थी। अत चामुण्डराय पुराण में प्राप्त संवत् समय के आधार पर गोम्मटसार कृति के रचनाकार सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचंद्र वी० नि० की १५ वी-१६ वी (वि० की ११ वी) सदी के विद्वान् है।

गोम्मटसार कृति पर जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक सस्कृत टीका के रचनाकार आचार्य नेमिचद्र ईस्वी सन् १६ वी शताब्दी के विद्वान् माने गए है। सिद्धात चक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र एव सस्कृत टीकाकार आचार्य नेमिचद्र मे लगभग ५०० वर्षों का अन्तर है। लघु द्रव्यसंग्रह और वृहद् द्रव्यसग्रह के रचनाकार आचार्य नेमिचद्र टीकाकार नेमिचद्र से भी उत्तर-कालीन है।

आधार-स्थल

१. णमिऊण अभयणंदि सुद सायरपारगिंदण दि गुरु।
बरवीरणंदिणांह पयडीण पच्चय वोच्छ ॥७८५॥
गोम्मटसार कर्मकाण्ड

२. वीरिंदणदि वच्छेण प्पसुदेणभयण दि मिस्सेण।
दसणचरितलद्धीसु सूयिया णेमिचदेण ॥६४८॥
लब्धिसार

३ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा—पृष्ठ ४१९

४. वरइदणदि गुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंत।
सिरिकणयण दि गुरुणा सत्तट्ठाण समुद्दिट्ठं ॥३९६॥
गोम्मटसार कर्मकाण्ड

५ गोम्मट संग्गहसुत्त—गोम्मटसार कर्म काण्ड ९३८

६. इदि णेमिचद मुणिणा अप्पसुदेणभयणदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमतु त बहुसुदाइरिया ॥१०१८॥
त्रिलोकसार

८३-८४. जग-वत्सल आचार्य जिनेश्वर और बुद्धिसागर

जिनेश्वरसूरि एव बुद्धिसागरसूरि युगल बन्धु सुविहितमार्गी श्वेताबर विद्वान् थे । जिनेश्वरसूरि समर्थ व्याख्याता एव प्रमाणशास्त्र प्रबन्धको के रचनाकार थे । बुद्धिसागरसूरि आगम साहित्य के विशिष्ट ज्ञाता, शास्त्र विहित क्रिया मे निष्ठाशील एवं व्याकरण शास्त्र के प्रणेता थे । पाटण नरेश दुर्लभराज को पुरोहित, सोमेश्वर को, तत्रस्थ याज्ञिको को, शैवाचार्य ज्ञानदेव को अपने वर्चस्व से विशेष प्रभावित कर पाटण मे सुविहितमार्गी मुनियो के लिए आवागमन की सुलभता प्राप्त कर लेने का श्रेय इन युगल बन्धु मुनियो को है ।

गुरु परम्परा

जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के गुरु चान्द्रकुल बडगच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि थे । वर्धमानसूरि सवाद देश कूर्चपुर मे चैत्यवासी आचार्य थे । इनका प्रभुत्व ८४ जिन मन्दिरो पर था पर विशुद्धचरित्र क्रिया का पालन करने के लिए उन्होंने चैत्यवासी परम्परा का त्याग कर बडगच्छ के सस्थापक आचार्य उद्योतनसूरि की सुविहित परम्परा को स्वीकार किया था । इसी सुविहित परम्परा मे वर्धमानसूरि से जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि ने मुनि दीक्षा ग्रहण की थी अत. इन दोनो के दीक्षागुरु वर्धमानसूरि एव वर्धमानसूरि के गुरु उद्द्योतन सूरि थे । इस समय सपाद लक्ष देश मे अल्लराजा के पुत्र भुवनपाल का शासन था ।

जीवन वृत्त

ब्राह्मण पुत्र श्रीधर और श्रीपति युगल बन्धु वेदविद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे । वे १४ विद्याओ के ज्ञाता थे । स्मृति, इतिहास, पुराण का भी उन्हे गम्भीर अध्ययन था । एक बार देश-देशान्तर की यात्रा करने के लिए दोनो ने अपनी जन्मभूमि मध्यदेश से प्रस्थान किया । घूमते-घूमते युगल विद्वान् धारा नगरी मे पहुंच गए । धारा मालव की राजधानी थी । वह अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय नगरी थी । उसका अपार वैभव शैल-शिखरों को छू रहा था । नरेश

भोज का वहा शासन था। श्री सपन्न श्रेष्ठी लक्ष्मीधर उसी नगरी का ख्याति प्राप्त नागरिक था। एक दिन श्रेष्ठी के घर मे आग लग गई। घर की दीवारों पर २० लाख के सिक्को का लेनदेन लिखा हुआ था। आग की ज्वालाओ से वह सारा लुप्त हो गया। लक्ष्मीधर इस घटना से अत्यधिक चिन्तित हुआ। सयोग से श्रीधर और श्रीपति युगलबन्धु भिक्षार्थ इधर-उधर घूमते हुए लक्ष्मीधर के घर पर पहुंच गए। ये दोनो बन्धु पहले भी कई बार इस स्थान पर आये थे। लक्ष्मीधर श्रेष्ठी ने भी इन विद्या सपन्न, रूप सम्पन्न ब्राह्मण पुत्रो को यथेप्सित भिक्षा देकर सन्तुष्ट किया था। इस बार इन दोनो ने श्रेष्ठी लक्ष्मीधर को चिन्तित देखकर उसकी उदासी का कारण जानकर उन्होंने कहा, 'महानुभाव ! आप खिन्न न बनो, हम पहले जब भिक्षा के लिए यहा आये थे तब हमने दीवालो पर लिखे हिसाब को पढा था। वह हमे पूर्णत याद है। दोनो ने तिथि, बार, सवत् सहित सारा लेखा-जोखा लिखकर श्रेष्ठी के सामने प्रस्तुत किया। लक्ष्मीधर भी उनकी स्मरण शक्ति पर प्रसन्न हुआ। भोजन, वस्त्र आदि विपुल दान देकर उनका सम्मान किया। श्रेष्ठी ने मन ही मन सोचा—शान्त प्रकृति, जितेन्द्रिय, बुद्धि-बल के धनी इन ब्राह्मण पुत्रो के योग से जैन-दर्शन की महान् प्रभावना सम्भव है। सयोग से वर्धमानसूरि का पदार्पण धारा नगरी मे हुआ। श्रेष्ठ लक्ष्मीधर इन दोनों ब्राह्मण पण्डितो को अपने साथ लेकर वर्धमानसूरि के पास गया; वन्दना की एवं हाथ जोडकर उनके उपपात मे सब बैठ गए। वर्धमानसूरि श्रेष्ठ लक्षण युक्त इन ब्राह्मण पुत्रो को देखकर प्रसन्न हुए। धर्ममूर्ति वर्धमानसूरि के दर्शन कर इन ब्राह्मण पुत्रो के हृदय मे भी वैराग्य भाव का उदय हुआ। श्रेष्ठी लक्ष्मीधर से इनका पूरा परिचय प्राप्त कर वर्धमानसूरि ने दोनो को मुनि दीक्षा प्रदान की। इन दोनो की दीक्षा मे लक्ष्मीधर श्रेष्ठी की प्रबल प्रेरणा थी। दीक्षा देने के बाद योग वहनपूर्वक इनको वर्धमानसूरि ने सिद्धान्तशास्त्र का प्रशिक्षण दिया एवं कुछ समय के बाद इनकी नियुक्ति योग्य समझ कर सूरिपद पर की।

एक बार युगलबन्धु वर्धमानसूरि का आशीर्वाद पूर्वक आदेश एव समुचित मार्गदर्शन प्राप्त कर गुजरात प्रदेशान्तर्गत पाटण पधारे। पाटण में सुविहित मार्गियो के लिए प्रवेश सुगम नही है। यह बात उन्हे वर्धमानसूरि से पहले ही ज्ञात थी। गुजरात राज्य की वि० सं० ८०२ में नींव डालने वाले वनराज चावडा चैत्यवासी श्रमणो के परमभक्त थे। राज्याभिषेक के अवसर पर उन्हे चैत्यवासी शीलगुणसूरि एव देवचंद्रसूरि से वासक्षेप पूर्वक आशीर्वाद

प्राप्त हुआ था तब से वनराज चावडा ने ताम्रपत्र मे लिखित आदेश दिया—चैत्यवासी श्रमणों की सहमति से ही अन्य श्रमण पाटण मे रह सकते हैं। उस समय से ही चैत्यवासी मुनियों का पाटण मे वर्चस्व बढ गया था और सुविहित-मार्गी मुनियों का आवागमन तब से बन्द हो गया था। जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि को भी पाटण मे कहीं उपयुक्त स्थान ठहरने को नहीं मिला। दोनों बन्धु आखिर सोमेश्वर देव पुरोहित के घर पहुंचे। पुरोहित सोमेश्वर इन दोनों के शिष्ट व्यवहार एव मधुर वचनों को सुनकर प्रसन्न हुआ एवं बैठने के लिए आसन दिया। स्वयं भी कम्बल बिछाकर उनके सामने बैठ गया। युगलबधु पुरोहित को आशीर्वाद प्रदान करते हुए बोले—

अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीतापश्यत्य चक्षु स शृणोत्यकर्ण ।
स वेत्ति विश्व नहि नस्यास्ति वेत्ता शिवो ह्यरुपीस जिनोऽवताद् व ॥५७॥

जो बिना हाथ पैर और मन के भी ग्रहण करता है। नयन बिना भी देखता है। बिना कर्ण के भी सुनता है। सकल विश्व को जानता है पर उसे कोई नही जानता। वे अमूर्त शिव जिनेश्वर देव मरक्षण दे।

वेद, उपनिषद् और जैन की मान्यता की अभिव्यक्ति देने वाले प्रस्तुत श्लोक श्रवण से पुरोहित सोमेश्वर नत मस्तक हो गया। उमने पूछा आप कहां ठहरे हैं ? युगलबधुओ ने कहा—सुविहितमार्गी मुनियो के लिए यहा स्थान सुलभ नही है। समग्र स्थिति को अच्छी तरह से जानकर सोमेश्वर ने उन दोनो की व्यवस्था अपने मकान मे की। पाटण के याज्ञिक स्मार्त और अग्निहोत्री ब्राह्मण भी इन मुनियो की ख्याति सुनकर आए और इनका उपदेश सुनकर सतुष्ट हुए। पाटण नरेश दुर्लभराज भी इन मुनियो के त्याग-तपोबल एवं प्रज्ञाबल से प्रभावित हुआ। चैत्यवासी श्रमणों ने इनका विरोध किया और कहा—

चैत्यगच्छ यतिव्रातसम्मतो वसतान्मुनि ।
नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्य तदसम्मतै ॥७६॥
राज्ञा व्यवस्था पूर्वेषां पाल्या पाश्चात्य भूमिपै ।
यदादिशसि तत्कार्य राजन्नेवंस्थिते सति ॥७७॥

हे राजन् ! हमे वनराज चावडा के समय से ही यह लिखित आदेश प्राप्त है। यहा चैत्यवासी मुनियो की सहमति के बिना अन्य गच्छ के श्रमण ठहर नही सकते। पूर्वी राजाओ का आदेश पश्चात्वर्ती राजाओ के लिए भी पालनीय होता है।

पाटण नरेश बोले—पूर्व राजाओ की आज्ञा भी हमारे लिए अलंघनीय है, पर पाटण मे समागत गुणीजनो का सम्मान करना भी हमारा कर्त्तव्य है। अत आपको भी अपनी सहमति इस कार्य के लिए प्रदान करनी चाहिए। इस प्रकार चैत्यवासी श्रमणो को सम्मानपूर्वक समझाकर और उनसे सहमति प्राप्त कर दुर्लभराज ने सुविहितमार्गी मुनियो को आवागमन की सुविधा प्रदान की और पुरोहित सोमेश्वर देव तथा शैवाचार्य ज्ञानदेव के सहयोग से उन्हे स्थान की सम्यक् व्यवस्था भी प्राप्त हुई। पट्टावलियो मे प्राप्त उल्लेखानुसार चैत्यवासियो के साथ शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करने के कारण जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि को नरेश दुर्लभराज के द्वारा खरतरगच्छ की उपाधि प्राप्त हुई थी। कई पट्टावलीकार इस घटना-प्रसंग का समय विक्रम् सवत् १०२४ और कई पट्टावलीकार वि० स० १०८० मानते है। इतिहासकारो के अभिमत से पाटण मे वि० स० १०७८ से ११२० तक नरेश भीम का शासन था अत दुर्लभराज के द्वारा पाटण में वि० सं० १०८० मे 'खरतरगच्छ' की उपाधि प्रदान करने का समय ठीक प्रतीत नही होता।

खरतरगच्छ के सस्थापक जिनेश्वरसूरि हैं या जिनदत्तसूरि इस विषय की समीक्षा 'जैन परम्परा नो इतिहास' पुस्तक पृष्ठ ४४२ पर है उसका सार-सक्षेप इस प्रकार है—

प्रभावक चरित्र मे प्राप्त उल्लेखानुसार जिनेश्वरसूरि बुद्धिसागरसूरि के त्याग-तपोबल एव प्रज्ञाबल से प्रभावित होकर एव चैत्यवासियो से सहमति प्राप्त कर सुविहितमार्गी मुनियो की आवागमन की व स्थान की सुविधा प्रदान की, पर शास्त्रार्थ विजय के कारण खरतरगच्छ की उपाधि का उल्लेख इस प्रसग पर नही है।

जिनेश्वरसूरि की शिष्य परम्परा के प्रभावी आचार्य अभयदेव ने अपने को चन्द्रकुलीन सुविहितमार्गी वर्धमानसूरि का प्रशिष्य एव जिनेश्वरसूरि का शिष्य बताया है पर उन्होने खरतरगच्छ का उल्लेख नही किया है।

पडित सुमतिगणि ने गणधरसार्धशतक की बृहद्वृत्ति मे जिनेश्वरसूरि का चरित्र वर्णन किया पर उसमें भी खरतरगच्छ का उल्लेख नही किया है।

महोपाध्याय जिनपति कृत युगप्रधानाचार्य गुर्वावली (खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली) मे भी जिनेश्वरसूरि के साथ खरतरगच्छ की उपाधि का उल्लेख नही है।

जिनेश्वरसूरि की परम्परा के सुविहितमार्गी उत्तरवर्ती देवभद्र, वर्ध-

मान, पद्मप्रभ आदि आचार्यों ने ग्रथो मे अपने को वडगच्छ का लिखा है और जिनदत्त सूरि की परम्परा के आचार्य अपने को खरतरगच्छ का कहकर परिचय देते हैं।

खरतरगच्छ की परम्परा मे वर्तमान मे भी जिनेश्वरसूरि को नहीं जिनदत्तसूरि को दादा गुरु (गच्छ के आदि पुरुष) के रूप मे सम्बोधित करते हैं। स्थान-स्थान पर दादा बाडी का निर्माण जिनदत्त सूरि के नाम पर हुआ है।

जिनदत्तसूरि वि० सं० ११६६ में विद्यमान थे उससे पहले किसी भी ग्रंथ और शिलालेख मे जिनेश्वरसूरि के साथ खरतरगच्छ का उल्लेख नही मिलता।

खरतरगच्छ के प्रथम आचार्य जिनदत्तसूरि थे। उन्होंने ही विक्रम सम्वत् १२२४ मे स्वतत्र रूप से खरतरगच्छ की स्थापना की। खरतरगच्छ आज भी उनके प्रति वफादार है और दादा गुरु कहकर उनका सम्मान करता है।"

उक्त प्रसग जानकारी की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। खरतरगच्छ का सम्बन्ध दोनो मे से किसी आचार्य के साथ रहा हो पर जिनेश्वरसूरि का स्थान प्रभावक आचार्यों की श्रेणी में महत्त्वपूर्ण है। प्रभावक चरित्र मे जैन-धर्म के विशेष प्रभावक आचार्यों का वर्णन है, उनमे जिनेश्वरसूरि और बुद्धि सागरसूरि का विस्तृत परिचय दिया गया है। नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव-सूरि भी उन्ही की शिष्य परम्परा के प्रभावी शिष्य थे।

साहित्य

जिनेश्वरसूरि एव बुद्धिसागरसूरि दोनो रचनाकार थे। जिनेश्वर-सूरि ने कथानात्मक, विवरणात्मक एव प्रमाण विषयक ग्रन्थों की रचना की। बुद्धिसागरसूरि ने व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण किया। इन युगल बन्धुओ के ग्रन्थो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

लीलावती कथा, कथानक कोष, पञ्चलिङ्गी प्रकरण, षट्स्थान प्रकरण, (छट्ठाण पयरण) प्रमालक्ष्मवृत्ति, अष्टप्रकरणवृत्ति, चैत्यवदन टीका आदि ग्रंथों की रचना जिनेश्वर सूरि की है।

(१) लीलावती कथा का निर्माण आशापल्ली मे विक्रम सम्वत् १०८२ से १०८५ तक के समय मे हुआ। यह प्राकृत पद्यमयी रचना है। इस कथा का पद लालित्य आकर्षक है। श्लेषादि विविधालकारों से मण्डित प्रस्तुत लीलावती

(लीलावईकहा) की रचना चैत्यवंदन टीका से पहले की है।

(२) कथानक कोष की रचना डीडुआणक (डीडवाना) ग्राम में वि० सं० १००८ में हुई है। यह भी प्राकृत रचना है। इसमे उपदेशात्मक ४० कथाएं हैं। इन कथाओं में उनकी प्रखर बुद्धि के दर्शन होते हैं।

(३) पञ्चलिङ्गी प्रकरण—इसमें सम्यक्त्व के लक्षणों का वर्णन है। यह भी एक सैद्धान्तिक कृति है। इसकी १०१ गाथा है।

(४) षट्स्थान प्रकरण के १०४ पद्य है। यह ग्रथ छह स्थानको में विभाजित है। (१) व्रत परिकर्मत्व, (२) शीलवत्व (३) गुणवत्व (४) ऋजु व्यवहार (५) गुरु सुश्रूषा (६) प्रवचन कौशल—इन छह स्थानको मे श्रावक के गुणों का वर्णन है। यह एक सैद्धान्तिक कृति है। इस ग्रथ पर अभयदेवसूरि ने १६३८ श्लोक परिमाण भाष्य का निर्माण किया एव धारापद्र गच्छीय शान्तिसूरि ने टीका रचना की।

(५) प्रमालक्ष्मवृत्ति—प्रमालक्ष्मवृत्ति का चार हजार ग्रन्थाग्र परिमाण है। इस कृति के मूल पद्य ४०५ है। यह प्रमाण विषयक प्रशस्त रचना है। इसमे प्रमाण और तर्क पर आधारित वाद प्रक्रिया का सम्यक् वर्णन है। यह कृति जिनेश्वरसूरि की दार्शनिक प्रतिभा का परिचय कराती है।

(६,७) अष्टप्रकरणवृत्ति एव चैत्यवदन टीका की रचना जवालिपुर (जालौर) मे हुई। अष्टप्रकरणवृत्ति हरिभद्रसूरि कृत अष्टप्रकरण की व्याख्या है। इसे हरिभद्रीया अष्टप्रकरण वृत्ति भी कहते हैं। इस कृति का रचनाकाल वि० १०८० है। चैत्यवदन टीका का पद्य परिमाण १०० पद्य है। इस टीका की रचना वि० सं० १०९२ में हुई।

जिनेश्वरसूरि और बुद्धि सागरसूरि के उपदेशो ने गुजरात प्रदेशान्तर्गत पाटण आदि क्षेत्रो मे विशेष रूप से जन-जन को प्रभावित किया अत इन्हे प्रस्तुत प्रकरण मे जगवत्सल विशेषण से सम्बोधित किया गया है।

समय-संकेत

जिनेश्वर सूरि ने हारिभद्रीय अष्टप्रकरणवृत्ति का निर्माण वी० नि० १५५० (वि० १०८०) मे, लीलावती कथा का निर्माण वी० नि० १५५२ से १५५५ (वि० १०८२ से ८५) में, पचलिङ्गी प्रकरण का निर्माण वी० नि० १५६२ वि० (१०९२) मे एवं कथाकोष का निर्माण वी० नि० १५८१ (वि० ११०८) मे हुआ बताया है। बुद्धिसागरसूरि ने भी व्याकरण की रचना वी० नि० १५५० (वि० १०८०) मे की थी। इन ग्रथो मे प्राप्त सवत् समय के आधार पर जगवत्सल जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि वी० नि० १६ वी (वि० की ११ वीं १२ वी) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते है।

८५. आस्था–आलम्बन आचार्य अभयदेव
(नवांगी टीकाकार)

अभयदेव नाम के कई आचार्य हुए है । प्रस्तुत आचार्य अभयदेव की प्रसिद्धि नवाङ्गी टीकाकार के रूप मे है । अभयदेव श्रमनिष्ठ आचार्य थे । संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व था । उनकी स्वाद-विजय की साधना दूसरो के लिए आदर्शभूत थी ।

गुरु-परम्परा

आचार्य अभयदेव चन्द्रकुली सुविहितमार्गी श्री वर्धमानसूरि के प्रशिष्य एव जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे ।[१] वर्धमानसूरि प्रारम्भ मे कूर्चपूर के चैत्यवासी थे । उनका चौरासी जिनमन्दिरो पर प्रभुत्व था । उद्योतन सूरि की परम्परा से प्रभावित होकर उन्होने चैत्यवास का परित्याग किया और सुविहितमार्गी परम्परा को स्वीकार किया ।[२]

जन्म एवं परिवार

आचार्य अभयदेव का जन्म वैश्य परिवार मे वी० नि० १५४२ (वि० १०७२) मे हुआ । इतिहास प्रसिद्ध मालव की धारानगरी उनकी जन्मभूमि थी । महीधर श्रेष्ठी के वे पुत्र थे । उनकी माता का नाम धन देवी था । उनका अपना नाम अभय कुमार था । धारा मे उस समय नरेश भोज का शासन था ।[३]

जीवन वृत्त

आचार्य अभयदेव का विवेक बचपन से अधिक प्रबुद्ध था । धार्मिक सस्कारो की निधि उन्हे अपने परिवार से सहज उपलब्ध थी । एक बार जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि का पदार्पण हुआ । पिता महीधर के साथ बालक अभय कुमार ने उनका प्रवचन सुना । वैराग्य का रंग बालक के मन पर चढ गया । माता-पिता की आज्ञा लेकर अभय कुमार ने जिनेश्वरसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की । आगमो का बालमुनि ने गम्भीरता से अध्ययन किया । ग्रहण और आसेवन रूप विविध शिक्षाओ को गुरुजनों से उपलब्ध कर महा-

क्रियानिष्ठ श्रमण अभयदेव शासन कमल को विकसित करने के लिए भास्करवत् तेजस्वी प्रतीत होने लगे।[३] आचार्य वर्धमानसूरि के आदेश से जिनेश्वर सूरि ने उन्हे आचार्य पद से अलकृत किया।

आचार्य अभय देव सिद्धान्तो के गम्भीर ज्ञाता थे। आगमेत्तर विषयों का भी उन्हे विशद ज्ञान था। वर्धमानसूरि के स्वर्गवास के बाद का घटना प्रसङ्ग है—

पत्यपद्रपुर में रात्रि के समय आचार्य अभयदेव ध्यान मे बैठे थे। टीका रचना की अन्त प्रेरणा उनके मन में उत्पन्न हुई। प्रभावक चरित्र आदि ग्रंथो के अनुसार यह प्रेरणा शासन देवी की थी। निशीथकाल मे ध्यानस्थ अभयदेव के सामने देवी प्रकट होकर बोली—"मुने ! आचार्य शीलाङ्क एवं कोट्याचार्य विरचित टीका साहित्य मे आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग आगम की टीकाएं सुरक्षित है। अवशिष्ट टीकाएं काल के दुष्प्रभाव से लुप्त हो गई। अत इस क्षतिपूर्ति के लिए संघ-हितार्थ आप प्रयत्नशील बनें एव टीका रचना का कार्य प्रारम्भ करे।[४]

अन्तर्मुखी आचार्य अभयदेव बोले—"देवी ! मेरे जैसे जडमति व्यक्ति द्वारा सुधर्मा स्वामी कृत आगमो को पूर्णत समझना भी कठिन है। अज्ञान वश कही उन्मूत्र की प्ररूपणा हो जाने पर यह कार्य उत्कृष्ट कर्मबन्धन का और अनन्त ससार की वृद्धि का निमित्त बन सकता है। शासन देवी के वचनो का उल्लघन करना भी उचित नही है। अत. तुम्हारे द्वारा प्राप्त सङ्केत पर किंकर्त्तव्यविमूढ जैसी स्थिति मेरे मे उत्पन्न हो गई है।"

आचार्य अभयदेव के असंतुलित मन को समाधान प्रदान करती हुई देवी ने निवेदन किया—"मनीषी-मान्य ! सिद्धान्तो के समुचित अर्थ को ग्रहण करने मे सर्वथा योग्य समझकर ही मैंने आपसे इस महत्त्वपूर्ण कार्य की प्रार्थना की है, आगम पाठो की व्याख्या मे जहा भी आपको सन्देह हो उस समय मेरा स्मरण कर लेना। मैं सीमंधर स्वामी से पूछकर आपके प्रश्नो को समाहित करने का प्रयत्न करूगी।"

आचार्य अभयदेव को शासनदेवी के वचनो से सन्तोष मिला। आगम जैसे महान् कार्य मे तपोबल की शक्ति आवश्यक है। यह सोच नैरन्तरिक आचाम्ल तप (आयंबिल) के साथ उन्होने टीका रचना का कार्य प्रारम्भ किया।[५] एक निष्ठा से वे अपने कार्य मे लगे रहे। अपनी श्रमपरायण वृत्ति के कारण वे नौ अङ्गागमों पर टीका ग्रंथों की रचना में सफल हुए। टीका रचना करने के

बाद आचार्य अभयदेव का धवलकपुर मे पदार्पण हुआ ।

आत्मबल अनन्त होता है, पर शरीर की शक्ति सीमित होती है । नैरन्तरिक आचाम्ल तप और रात्रि जागरण से उन्हे कुष्ट हो गया । विरोधी-जनो मे अपवाद प्रसारित हुआ—कुष्ट रोग उत्सूत्र की प्ररूपणा का प्रतिफल है । शासनदेवी रुष्ट होकर उन्हे दण्ड दे रही है ।

लोकापवाद सुनकर आचार्य अभयदेव का विश्वास भी डोला । अन्तर्चिंतन चला । रात्रि के समय उन्होंने धरणेंद्र का स्मरण किया । शासन हितैषी धरणेन्द्र ने निद्रालीन उनके शरीर को चाट कर स्वस्थ बना दिया ।

स्वप्नावस्था मे आचार्य अभयदेव को प्रतीत हुआ—विकराल काल महादेव ने मेरे शरीर को आक्रात कर लिया है । इस स्वप्न के आधार पर आचार्य अभयदेव ने सोचा—'मेरा आयुष्य क्षीणप्राय है, अत अनशन कर लेना उचित है ।'

स्वप्नावस्था मे आचार्य अभयदेव के सामने धरणेन्द्र पुन प्रकट होकर बोला—'मैंने ही आपके शरीर को चाट कर कुष्ट रोग को शात कर दिया है ।'

शासन-प्रभावना मे जागरूक आचार्य अभयदेव ने कहा—'देवराज ! मुझे मृत्यु का भय नही है, पर मेरे रोग को निमित्त बनाकर पिशुनजनो के द्वारा प्रचारित धर्मसंघ का अपवाद दु सहा हो गया था ।'

धरणेन्द्र के निवेदन पर श्रावक-संघ के साथ आचार्य अभयदेव स्तम्भन ग्राम में गए । सेढिका नदी के तट पर गव धरणेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर उन्होंने 'जयतिहुण' नामक बत्तीस श्लोको का स्तोत्र रचा । इस स्तोत्र-रचना से यहा पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई । वह प्रतिमा आज भी खम्भात मे है ।

पूर्वकाल मे किसी समय श्री काता नगरी मे धनेश श्रावक को तीन प्रतिमाए तदधिष्ठायक देवी की कृपा से समुद्र मे उपलब्ध हुई थी । श्रावक ने एक को चारूप ग्राम मे, दूसरी को पाटण मे और तीसरी को सेढ़िका नदी के तट पर वृक्षो के मध्य भूमि मे स्थापित की थी ।

नागार्जुन ने इस अन्तिम प्रतिमा के सामने बैठकर रस-सिद्धि विद्या की साधना की थी ।

अभयदेवसूरि द्वारा सेढिका नदी पर प्रतिमा प्रकटन की गौरववृद्धि-कारक घटना से जनापवाद मिट गया । लोग अभयदेव की प्रशसा करने लगे । धरणेन्द्र ने स्तोत्र की दो प्रभावक गाथाओ को लुप्त कर दिया ।

खरतरगच्छ बृहद गुर्वावलि ग्रथ के अनुसार गुजरात के खभात नगर

मे टीका रचना से पूर्व ही आचार्य अभयदेव कुष्ट रोग से आक्रांत हो गए थे। शासनदेवी के द्वारा टीका रचना की प्रार्थना किए जाने पर आचार्य अभयदेव ने कहा—'देवी! मै इस गलिताग शरीर से सूत्र टीका करने मे समर्थ नही हूं।'

शासन देवी ने कहा—'आर्य! आप चिंता न करे। नवागी सूत्रों के रचनाकार एव जैन दर्शन के महान् प्रभावक आप बनोगे।'

विविध तीर्थकल्प के अनुसार आचार्य अभयदेव को सम्भात ग्राम मे अतिसार रोग हो गया था। रोग को बढते देख उन्होंने अनशन की बात सोची। निकटवर्ती ग्रामो मे पाक्षिक प्रतिक्रमणार्थ आने वाले श्रावक-समाज को दो दिन पहले ही आने के लिए और 'मिच्छामि दुक्कड' (प्रायश्चित्त विशेष) ग्रहण करने के लिए सूचित कर दिया गया था। प्राप्त सूचना के अनुसार त्रयोदशी के दिन श्रावक एकत्रित हुए। उसी रात्रि को शासनदेवी ने प्रकट होकर आचार्य अभयदेव को टीका रचना की प्रेरणा दी।[5] देवी से प्रेरित होकर ससघ अभयदेव खम्भात गए। सेढिका नदी तट पर स्तोत्र की रचना की। पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। जैन समाज की महती प्रभावना हुई। अभयदेव का कुष्ट रोग खत्म हो गया था। शरीर स्वर्ण की तरह चमक उठा था।[6]

उक्त दोनो ग्रन्थो के अनुसार स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने के पश्चात् ही आचार्य अभयदेव ने टीका रचना का कार्य किया था।

स्तोत्र की दो चामत्कारिक गाथाओ को लुप्त कर देने का उल्लेख विविध तीर्थकल्प में भी है। कहा गया है, इन पद्यो का विधिवत् उच्चारण कर देने का आह्वान करने पर उन्हे आह्वान कर्त्ता के सामने उपस्थित होना ही पडता था। लाग इसका दुरुपयोग करने लगे थे। इसलिए देवो ने इन दो पद्यो को स्तोत्र पाठ से विलग कर दिया था।

जैन शासन की अतिशय प्रभावनाकारक यह घटना प्रबल प्रसन्नता का निमित्तभूत होने के कारण इसे मनोवैज्ञानिक भूमिका पर आचार्य अभयदेव के रोगोपशाति का प्रमुख हेतु माना जा सकता है।

प्रभावक चरित्र ग्रथ के अनुसार टीका रचना का कार्य 'पव्यपुर' नगर मे हुआ था। अभयदेवसूरि के टीका ग्रथो मे प्राप्त उल्लेखानुसार यह कार्य पाटण मे हुआ था। टीका रचना मे अभयदेवसूरि ने खटिका का उपयोग भी किया था, ऐसा उल्लेख कही-कही मिलता है।

प्रभावक चरित्र के अनुसार टीका साहित्य की प्रतिलिपियो को तैयार कराने का कार्य ताम्रलिप्ति आशापल्ली धवलक नगरी के चौरासी तत्त्वज्ञ

सुदक्ष श्रावको ने किया[१]। इस समय चौरासी प्रतिया लिखी गई थी।

प्रतिलेख कार्य मे तीन लाख द्रमक (मुद्रा विशेष) व्यय हुए थे। जिसकी व्यवस्था भीम भूपति ने की थी। शासन देवी द्वारा प्रक्षिप्त आभूषण को लेकर श्रावक नरेश भीम के पास गए थे। उसके बदले मे भीम ने तीन लाख द्रमक प्रदान किये थे। इसी द्रव्य राशि से अभयदेव के टीका ग्रंथ लिखे गए थे। ऐसा उल्लेख 'प्रभावक चरित्र' और 'पुरातन प्रबन्ध'—इन दोनों ग्रंथो मे है।

ग्रथान्तर्गत भीमदेव के सबध का यह उल्लेख विवादास्पद है। टीका रचना का कार्य वि० स० ११२० से ११२८ मे हुआ था। राजा भीम का राज्य पाटण मे वि० स० १०८४ तक माना गया है। अत टीका रचना से बहुत पहले ही भीम का देहावसान हो गया था।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि के अनुसार इस कार्य मे पाल्हउदा ग्राम के श्रावको का महत्त्वपूर्ण अनुदान रहा है। टीका साहित्य रचना का कार्य सम्पन्न करने के बाद आचार्य अभयदेव पाल्हउदा ग्राम मे विहरण कर रहे थे। वहा स्थानीय श्रावक-समाज के सामने सङ्कट की घडी उपस्थित हो गई थी। माल से भरे उनके जहाज समुद्र मे डूबने के समाचार पाकर श्रावक खिन्न थे। यथोचित समय पर वे धर्म स्थान मे नही पहुच पाए। आचार्य अभयदेव स्वय उनकी बस्ती मे दर्शन देने गए। वहा उन्होने पूछा—'श्रावको! वदन-वेला का अतिक्रम कैसे हुआ?' श्रावको ने नम्र होकर माल-भरे जहाजो के समुद्र मे नष्ट हो जाने का चिताजनक वृत्तान्त कह सुनाया।

आचार्य अभयदेव बोले—'श्रावको! चिता मत करो। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा।' आचार्य अभयदेव के इन शब्दो से सबको सतोष मिला। दूसरे दिन सुरक्षित माल मिल जाने की सूचना पाकर सबको अत्यधिक प्रसन्नता हुई। आचार्य अभयदेव के पास जाकर समवेत स्वर मे श्रावको ने निवेदन किया—'इस माल की बिक्री से हमे जो लाभ होगा, उसका अर्द्धांश टीका साहित्य के लेखन-कार्य मे व्यय करेंगे।'[१०]

इन श्रावको द्वारा प्रदत्त धनराशि से टीका साहित्य मे अनेक प्रतिलिपिया निर्मित हुई। तत्कालीन प्रमुख आचार्यों के पास कई स्थानो पर उनका टीका साहित्य पहुचाया गया।

आचार्य अभयदेव की सर्वत्र प्रसिद्धि हुई। लोग कहने लगे—'सिद्धात पारगामी, आगम साहित्य के निष्णात विद्वान् आचार्य अभयदेव हैं।'

कार्यकाल की कठिनाइयां

आगमों पर टीका लिखते समय आचार्य अभयदेवसूरि के सामने अनेक कठिनाइया थीं। स्थानाङ्ग वृत्ति की प्रशस्ति मे उन्होंने कार्यकाल की कठिनाइयों का उल्लेख निम्न शब्दो में किया है—

सत्सम्प्रदाय हीनत्वात् सदूहस्य वियोगत ।
सर्वस्व पर शास्त्राणा-मदृष्टेरस्मृतेश्च मे ।।१।।
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ।।२।।

(स्थानाङ्ग वृत्ति प्रशस्ति)

इस पद्य के वर्णनानुसार इस समय अभयदेवसूरि के सामने सत्प्रदाय का अभाव था अर्थात् अर्थ बोध की सम्यक् गुरु परम्परा उन्हें प्राप्त नही थी। अर्थ की यथार्थ आलोचनात्मक स्थितिया और तर्कपूर्ण व्याख्या भी नही थी। आगमो की अध्यापन पद्धतिया भिन्न-भिन्न थीं। आगमो की प्रतिलिपियो मे अनेक गलतिया थी। शुद्ध प्रति खोजने पर भी उपलब्ध नही हो पाती थी। आगम सूत्रात्मक होने के कारण गभीर थे। अर्थ विषयक नाना प्रकार की धारणाए थी।

आगे अभयदेव लिखते हैं

क्षूण्णान सम्भवन्तीह, केवलं सुविवेकिभि ।
सिद्धातानुगतो योऽर्थ, सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतर ।।३।।

स्थानांग वृत्ति, प्रशस्ति

इसमे अभयदेवसूरि की शुद्धनीति का परिचय मिलता है।

सिद्धातो के समुचित अर्थ प्राप्ति हेतु इन कठिनाइयो के होते हुए भी अभयदेवसूरि के गतिमान चरण आगे से आगे बढते रहे। मार्ग बनता गया।

द्रोणाचार्य का सहयोग

आचार्य अभयदेव को टीका रचना के कार्य में द्रोणाचार्य का महान् सहयोग प्राप्त हुआ था। द्रोणाचार्य चैत्यवासी आचार्य थे। वे बहुश्रुत थे। आगमधर थे एव स्व-पर दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता थे। द्रोणाचार्य की ओघ निर्युक्ति टीका के अतिरिक्त उनकी अपनी कोई टीका उपलब्ध नही है।

अभयदेवसूरि सुविहितमार्गी थे। द्रोणाचार्य का संबध चैत्यवासी

परम्परा से होते हुए भी अभयदेवसूरि के प्रति उनका विशेष सद्भाव था। अभयदेवसूरि भी द्रोणाचार्य के आगम ज्ञान से विशेष प्रभावित थे। द्रोणाचार्य जब अपने शिष्यो को आगम वाचना प्रदान करते उस समय स्वय अभयदेवसूरि उनसे आगम वाचना लेने जाते। गण भिन्नता ज्ञान ग्रहण मे बाधक नही बनी थी।

अभयदेवसूरि को द्रोणाचार्य खडे होकर सम्मान देते और उनको अपने पास आसन प्रदान करते। द्रोणाचार्य का अभयदेवसूरि के प्रति आदर भाव द्रोणाचार्य के शिष्यो मे ईर्ष्या का विषय बन गया था। शिष्य कुपित होकर कभी-कभी परस्पर मे चर्चा करते—

'अहो केनगुणेन एव अस्मभ्यमधिक येन अस्मन्मुख्याऽपिअय द्रोणाचार्य. अस्य एवविधमादर दर्शयति। (गणधर सार्ध शतक पत्र १४)

इस अभयदेव मे हमारे से अधिक कौनसी विशेषता है जिसके कारण हमारे प्रमुख नायक द्रोणाचार्य खड़े होकर इस प्रकार का समादर अभयदेव को प्रदान करते है।

शिष्यो के मन मे उठने वाले प्रश्नो को द्रोणाचार्य मनोवैज्ञानिक ढंग से समाहित करते और उनके सामने आचार्य अभयदेव के गुणो का एव विशेषताओ का खुले हृदय से व्याख्यान करते।

अभयदेवसूरि की टीकाओ का जिस विद्वन्मंडली ने सशोधन किया था उनमे द्रोणाचार्य प्रमुख थे। अभयदेवसूरि ने अपनी टीका की प्रशस्ति मे द्रोणाचार्य का आदर भाव से उल्लेख किया है।

साहित्य

अभयदेव की प्रसिद्धि नवाङ्गी टीकाकार के रूप मे है पर उन्होने अङ्गागमों के अतिरिक्त ग्रंथो पर भी टीकाएं रची। एक टीका उनकी उपाङ्ग आगम पर है। उन्होने स्वतत्र ग्रंथो की रचनाए भी की। साहित्य-क्षेत्र में उनका विशिष्ट अनुदान टीका साहित्य है।

आचार्य सुधर्मा के आगम साहित्य के गूढार्थों को समझने के लिए आचार्य अभयदेव की टीकाएं कुजी के समान मानी गई" है। ये टीकाएं सक्षिप्त और शब्दार्थ प्रधान है। यथावश्यक इनमे कही-कही विषय का पर्याप्त विवेचन, सैद्धातिक तत्त्वो की अभिव्यक्तिया, दार्शनिक चर्चाए, कथानकों के मत-मतातरो तथा पाठातरों के उल्लेख और सामाजिक, राजनयिक अनेक

शब्दो की परिभाषाए प्रस्तुत की गई हैं। टीका ग्रथों का परिचय इस प्रकार हैं—

१. स्थानाङ्गवृत्ति

मूल सूत्रों पर स्थानाङ्गवृत्ति की रचना हुई है। सूत्र सम्बद्ध विषय का इसमे विस्तार से विवेचन है। दार्शनिक दृष्टियो की विशद् व्याख्या भी है वृत्ति मे कही-कही संक्षिप्त कथानक है।

इस वृत्ति की रचना मे अभयदेवसूरि को सविग्न पाक्षिक अजितसिंह-सूरि के शिष्य यशोदेवगणी का सहयोग प्राप्त हुआ था।[११] द्रोणाचार्य का नामोल्लेख भी इस टीका में हुआ है, जिन्होने कष्टसाध्य श्रम से इस टीका का सशोधन किया था।[१३]

प्रस्तुत टीका का रचना काल वि० सं० ११२० है[१४] और इसका ग्रंथ-मान १४२५० पद्य परिमाण बताया गया है।

समवायाङ्ग वृत्ति

इस वृत्ति की रचना भी मूल सूत्रो पर है। यह मध्यम परिमाण की टीका है। इसमे प्रज्ञापना सूत्र का एव गंधहस्ति भाष्य का उल्लेख है। इस टीका की रचना भी वि० सं० ११२० मे पाटण में हुई। इसका ग्रथमान ३५७५ श्लोक परिमाण है।[१५]

व्याख्याप्रज्ञप्ति वृत्ति

यह सक्षिप्त शब्दार्थ प्रधान टीका है। इसमे एक व्याख्याप्रज्ञप्ति के दस अर्थ बताए गये हैं। जो भिन्न-भिन्न अर्थ बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं तथा टीकाकार की सक्षम व्याख्या शक्ति को प्रगट करते हैं। इस टीका मे सुधर्मा आदि को नमस्कार करने के बाद टीकाकार ने इस सूत्र की प्राचीन टीका, चूर्णि और जीवाभिगम आदि की वृत्तियो की सहायता से टीका रचना करने का संकल्प किया है।[१६] इससे स्पष्ट है टीकाकार अभयदेवसूरि के सामने भगवती सूत्र की प्राचीन टीका थी। इससे प्रभावक चरित्र मे ९ अङ्गों की टीकाओ के लुप्त हो जाने का उल्लेख[१७] भ्रामक प्रतीत होता है। टीकागत प्राचीन टीका का उल्लेख आचार्य शीलाङ्क की टीका का सकेत सभव है। शीलाङ्क ही प्रथम ९ अङ्गो के टीकाकार माने गए है। टीका के अन्त मे ग्रथकार ने जिनेश्वरसूरि से संबंधित अपनी गुरु परम्परा का भी उल्लेख किया है। इस टीका की रचना भी अभयदेवसूरि ने पाटण नगर में वी० नि० १५९८

(वि० स० ११२८) मे की थी। टीका का ग्रथमान १८६१६ श्लोक परिमाण बताया गया है।[१८]

ज्ञाता धर्मकथा वृत्ति

मूल सूत्र स्पर्शी शब्दार्थ प्रधान यह टीका ३८०० पद्य परिमाण है। इस ग्रथ की रचना सम्पन्नता पाटण नगर मे वि० स० ११२० विजयदशमी के दिन हुई[१९]। ज्ञाता धर्मकथा के दो श्रुतस्कध है। प्रथम श्रुतस्कध मे १९ कथानक है। वे कथानक अत्यन्त प्रसिद्ध एव ज्ञात होने के कारण इस श्रुत स्कध का नाम ज्ञाता है। द्वितीय श्रुत स्कध मे धर्म कथाओ की बहुलता होने के कारण इसका नाम धर्म कथा है।

उपासक दशाङ्ग वृत्ति

उपासक दशाङ्ग वृत्ति की रचना मूल सूत्रो के आधार पर हुई है। यह सक्षिप्त टीका है। इसकी रचना ज्ञाता सूत्र के बाद हुई है। इसमे टीकाकार ने विशेष शब्दो के अर्थ का स्पष्टीकरण किया है एवं अनेक स्थानो पर सूत्रगत गम्भीर अर्थ को समझने के लिए ज्ञाता धर्मकथा की वृत्ति का उल्लेख किया है। इस वृत्ति का ग्रंथमान लगभग ९०० पद्य परिमाण माना है।

अन्तकृद्दशा वृत्ति

यह वृत्ति भी मूल सूत्र स्पर्शी और शब्दार्थ प्रधान है। जिन पदो की व्याख्या ज्ञाता धर्म कथा मे है उनका पुनरावर्तन टीकाकार ने इसमे नहीं किया है।[२०] इस वृत्ति का ग्रथमान ८९९ पद्य परिमाण है।

अनुत्तरोपपातिक वृत्ति

यह भी शब्दार्थ प्रधान एवं सक्षिप्त टीका है। इसका ग्रथमान मात्र १०० श्लोक पद्य परिमाण माना है। इसमे शब्दो की सतुलित एवं सारगर्भित व्याख्या पाठक के मन को विशेष प्रभावित करने वाली है। आचार्य अभयदेव के टीका साहित्य मे यह सर्वाधिक लघु टीका है। टीकाकार का अन्त मे टीका सशोधन के लिए विद्वद्जनो को आमन्त्रण है[२१]।

प्रश्न व्याकरण वृत्ति

यह शब्दार्थ प्रधान वृत्ति लगभग ४६३० पद्य परिमाण है। इसमे ५ आश्रव और ५ संवर का युक्ति पुरस्सर वर्णन हैं। द्रोणाचार्य ने इस वृत्ति का संशोधन किया था। शुभाशुभ कर्मों की नाना रूपों मे फल परिणति को समझने

के लिए यह वृत्ति विशेष सहायक है।

विपाक वृत्ति

यह वृत्ति भी अन्य वृत्तियों की भाति सूत्रस्पर्शी वृत्ति है। पारिभाषिक पदो के संक्षिप्त एवं संतुलित अर्थ इसमे प्रस्तुत किए गये है एवं आगम सूत्र को प्रवचन-पुरुष कहा है। शुभाशुभ कर्मों की नाना रूपो मे फल परिणति को समझने के लिए विशेष सहायक है। प्रथगत त्रुटियो का संशोधन करने के लिए वृत्तिकार ने धीमान् पुरुषो को सबोधित करते हुए कहा है—

इहानुयोगे यदमुक्तमुक्तं, तद् धीघना द्राक परिशोधयत्। पृष्ठ ४१३

जिनभक्ति परायण पुरुषो के द्वारा आगम पाठ या अर्थ संबंधी अशुद्धि कभी उपेक्षणीय नही होती अत धीमान् पुरुष इस वृत्ति के अयुक्त कथन का अवश्य सशोधन करे।

टीकाकार के इस कथन से उनके विचारो की पवित्रता प्रकट होती है।

टीका के अत मे टीकाकार ने अपना नाम एव अपने गुरु के नाम का उल्लेख भी किया है। अणहिल्लपुर पाटण नगर मे श्री द्रोणाचार्य ने इसका संशोधन किया था[११]। वृत्ति का ग्रंथमान ३१२५ पद्य परिमाण बताया गया है।

औपपातिक वृत्ति

यह वृत्ति उपाङ्ग आगम पर है। टीकाकार अभयदेव की उपाङ्ग आगम पर यह एक ही टीका है। इस वृत्ति का ग्रंथमान ३१२५ पद्य परिमाण है। वृत्ति के आरम्भ मे औपपातिक शब्द की प्रशस्त व्याख्या की गई है। शब्दार्थ प्रधान टीका सैद्धांतिक सामाजिक और सास्कृतिक विविध प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण है। वृत्ति के अन्त मे टीकाकार ने गुरु जिनेश्वरसूरि का नाम और चंद्रकुल का उल्लेख भी किया है। वृत्ति की प्रशस्ति के अनुसार इस वृत्ति का अणहिल्ल पाटण नगर मे द्रोणाचार्यसूरि ने सशोधन किया।

रचनात्मक-क्षमता

इन टीकाओ मे तीन टीकाए—स्थानागवृत्ति, समवायागवृत्ति, ज्ञाताधर्म-कथा वृत्ति वि०सं० ११२० मे सम्पन्न हुई है। इन तीनो का परिमाण २१६२५ श्लोक हैं। वर्ष में इतनी विशाल साहित्य-निधि का निर्माण कर लेना उनकी शीघ्र रचनात्मक शक्ति का परिचायक है।

उपाङ्ग सहित इन वृत्तियो का ग्रंथमान ५०७६६ श्लोक पद्य परिमाण

बताया गया है। इनके यथावश्यक सशोधन करने का श्रेय टीकाकार ने आगम परम्परा के विशेषज्ञ सघ-प्रमुख, निवृत्ति-कुलीन द्रोणाचार्य को दिया है।

आगमातिरिक्त ग्रन्थों पर टीकाएं

आचार्य अभयदेव ने आगमो पर टीकाएं लिखकर ही सतोष नही लिया उन्होने अन्य ग्रथो पर भी टीकाएं रची।

आचार्य हरिभद्र विरचित षोडशक एवं पञ्चाशक ग्रथ पर टीकाकार आचार्य अभयदेव ने टीका रचना का कार्य किया था। इन दोनों टीकाओ में पञ्चाशक टीका विशाल है। इस टीका का ग्रथमान ७४८० पद्य परिमाण है। इस टीका का रचना समय वी० नि० १५६४ (वि० स० ११२४) बताया गया है। आगम टीका रचना के कार्यकाल के अन्तराल मे इस टीका की रचना हुई थी।

टीकातिरिक्त ग्रन्थ रचना

आचार्य अभयदेव ने टीका ग्रथो के अतिरिक्त प्रज्ञापना, तृतीयपद सग्रहिणी, जयतिगुणस्तोत्र, पचनिग्रथी और षट्कर्म ग्रथ सवृत्ति का भाष्य आदि ग्रंथो की रचना की। ये ग्रथ टीकाकार के विशद सैद्धातिक ज्ञान की अवगति देते हैं। प्रज्ञापना तृतीयपद सग्रहणी का ग्रथमान १३२ श्लोक परिमाण एव जयतिहुणस्तोत्र के ३० पद्य हैं। इस स्तोत्र की रचना स्तम्भन गाव मे हुई।

समय-संकेत

प्रभावक चरित्र के अनुसार अभयदेव का स्वर्गवास पाटण मे हुआ था। पाटण मे उस समय नरेश कर्णराज का राज्य था।[१] स्वर्गवास-सवत्-समय का उल्लेख इस ग्रथ मे नही हुआ।

पट्टावलियो के अनुसार अभयदेवसूरि का स्वर्गवास गुजरात के 'कपड़गज' ग्राम मे हुआ था। स्वर्गवास सवत् पट्टावलियो मे वी० नि० १६०५ (वि० स० ११३५) बताया गया है। कही-कही वी० नि० १६०६ (वि० सं० ११३६) का उल्लेख भी है। दोनो उल्लेखो मे मात्र ४ वर्ष का अन्तर है।

आचार्य अभयदेव ने टीका निर्माता का कार्य वी० नि० १५६०-१५६७ (वि० स० ११२०-११२८) मे किया था। पट्टावलियो के अनुसार टीका कार्य-काल संपन्नता के ६ वर्ष अथवा ११ वर्ष बाद ही उनका स्वर्गवास हो

जाता है। इस आधार पर अभयदेव वी० नि० १५वी १६वी (वि० स० ११वी १२वी) सदी के विद्वान् सिद्ध होते है।

जैन आगमो की सुगम व्याख्याए प्रस्तुत कर टीकाकार आचार्य अभयदेव जैन समाज की आस्था के सुदृढ आलम्बन बने।

आधार-स्थल

१. ....तथा च यदादावभिहितं स्थानाङ्गस्य महानिधानस्येवोन्मुद्रणमिवानुयोग. प्रारम्यत इति तच्चन्द्र-कुलीन प्रवचन प्रणीताप्रतिबद्धविहारहारिचरितश्रीवर्धमानाभिधानमुनिपतिपादोपसेविन प्रमाणादिव्युत्पादनप्रवणप्रकरणप्रबन्धप्रणमिन प्रबुद्धप्रतिबन्धप्रवक्तृप्रवीणाप्रतिहतप्रवचनार्थप्रधानप्रसरस्य सुविहितमुनिजनमुख्यस्य श्री जिनेश्वराचार्यस्य तदनुजस्य च व्याकरणादिशास्त्रकर्त्तु. श्रीबुद्धिसागराचार्यस्य चरणकमलचञ्चरीककल्पेन श्रीमदभयदेवसूरिनाम्ना मया........

स्थानाङ्ग ४

२. तत्रासीत् प्रशमश्रीभिर्वर्द्धमानगुणोदधि ।
श्रीवर्द्धमान इत्याख्य सूरि संसारपारभू. ॥३३॥
चतुर्भिरधिकाशीति श्वैत्याना येन तत्यजे ।
सिद्धान्ताभ्यासत सत्यतत्त्व विज्ञाय मसृते ॥३४॥

(प्रभावक चरित पृष्ठ १६२)

३. अस्ति श्रीमालवो देश. सद्‌नरसशालित ।
जंबूद्वीपाख्यमाकन्दफलं सद्वर्णवृत्तसू ॥४॥
तत्रास्ति नगरी धारा मण्डलाग्रोदितस्थिति ।
मूल नृपश्रियो दुष्टविग्रहद्रोहशालिनी ॥५॥
श्रीभोजराजस्तत्रासीद् भूपाल पालितावनि. ।
शेषस्येवापरे मूर्ती विश्वोद्धाराय यद्भुजौ ॥६॥

(प्रभावक चरित पृष्ठ १६१)

४. स चावगाढसिद्धान्त. तत्त्वप्रेक्षानुमानत. ।
बभौ महाक्रियानिष्ठ श्रीसङ्घाम्भोजभास्कर ॥६७॥

(प्रभा० च० पृ० १६४)

५. अङ्गद्वय विनाऽन्येषा कालादुच्छेदमाययु ।
वृत्तयस्तत्र सधानुग्रहायाद्य कुरूद्यमम् ॥१०५॥

(प्रभा० च० पृ० १६४)

६. श्रुत्वेत्यङ्गीचकाराथ कार्यं दुष्करमप्यद ।
आचमाम्लानि चारब्धग्रन्थसपूर्णतावधि ॥११२॥
(प्रभा० च० पृ० १६४)

७. तेरसी अड्ढरत्ते य मणिआ पहुणो सासणदेवयाय भयव ।
जग्गह सुअह वा ? तओ मन्दसरेण वुत्तं पहुणा-कओ मे निद्दा ।
देवीए भणिअं एआओ नवसुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु ।
(विविध तीर्थकल्प पत्राक १०४)

८. तप्पभावाओ अभयदेवस्स कुट्ठ गय । सुवण्णवन्नो सरीरो जाओ ।
(खर० गच्छ, बृहद् गुर्वावलि पृ० ६०)

९. पत्तने ताम्रलिप्त्या चाशापल्या धवलक्कके ।
चतुराश्चतुरशीति श्रीमन्त श्रावकास्तथा ॥१२६॥
पुस्तकान्यङ्गवृत्तीना वासनाविशदाशया ।
प्रत्येकं लेखयित्वा ते सूरीणा प्रददुर्मुदा ॥१२७॥
(प्रभा० चरित पत्राक १६५)

१०. वार्तामाकर्ण्य श्राद्धैः सर्वसम्मतेन गुरवो, भणिता यावल्लाभ ।
क्रयाणकेन भविष्यति, तदर्धेन सिद्धान्त-लेखन कारयिष्याम ॥
(खर० गच्छ, बृहद् गुर्वावलि पत्राक ७-८)

११. प्रावर्त्तन्त नवाङ्गानामेव तत्कृतवृत्तय ।
श्रीसुधर्मोपदिष्टतत्वताल्ककुञ्चिका ॥१२८॥
(प्रभा० च० पत्राक १६५)

१२. सविग्नमुनिवर्गश्रीमदजिनसिहाचार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेय-
साधोरुत्तरसाधकस्येव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम् ।
(स्थानागवृत्ति प्रशस्ति)

१३. तथा सम्भाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्य मध्यस्थया धिया ।
द्रोणाचार्यादिभि प्राज्ञैरनेकैरादृत यत ॥६॥
(स्थानागवृत्ति प्रशस्ति पद्य)

१४. श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालाच्छतेन विशत्यधिकेन युक्ते ।
समासहस्रेऽतिगते विदृब्धा, स्थानाङ्गटीकाऽल्पधियोऽपि गम्या ॥८॥
(स्थानागवृत्ति प्रशस्ति पद्य)

१५ एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम् ।
अणहिल्लपाटणनगरे रचिता समवायटीकेयम् ॥८॥

प्रत्यक्षर निरुप्यास्या, ग्रन्थमान विनिश्चितम् ।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि, पादन्यूना च षट्शती ॥६॥

(समवायांग वृत्ति प्रशस्ति पद्य)

१६. एतट्टीका-चूर्णी-जीवाभिगमादिवृत्तिलेशश्च ।
सयोज्य पञ्चमाङ्गं विवृणोमि विशेषत किञ्चित् ॥३॥

(व्याख्या प्रज्ञप्तिवृत्ति पद्य)

१७. अङ्गद्वय विनाऽन्येपा कालादुच्छेदमाययु ॥१०५॥

(प्रभावक च० पृ० १६४)

१८ अष्टाविशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके ।
अणहिल्लपाटणनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ ॥१५॥
अष्टादशसहस्राणि षट् शतान्यथ पोडश ।
इत्येव मानमेतस्या श्लोकमानेन निश्चितम् ॥१६॥

(व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति)

१९ प्रत्यक्षर गणनया, ग्रथमान विनिश्चितम् ।
अनुष्टपा सहस्राणि, त्रीण्येवाष्टशतानि च ॥११॥
एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम् ।
अणहिल्लपाटणनगरे विजयदशम्या च सिद्धेयम् ॥१२॥

(ज्ञाताधर्मकथा विवरण)

२०. यदिह न व्याख्यात तऽजाताधर्मकथाविवरणादवसेयम् ।

(अन्तकृद्दशावृत्ति)

२१. मशोध्य विहितादरैर्जिनमतोपेक्षा यतो न क्षमा ।

(अनुत्तरौपपातिकदशावृत्ति पद्य)

२२. चन्द्रकुलविपुल भूतलयुगप्रवरवर्धमानकल्पतरो ॥
कुसुमोपमस्य सूरे गुणसौरभभरितभवनस्य ॥१॥
निस्सम्बन्धविहारस्य सर्वदा श्रीजिनेश्वरादस्य ।
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणेय कृता वृत्ति ॥२॥
अणहिल्लपाटणनगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण मशोधिता चेयम् ॥३॥

(विपाकवृत्ति पद्य)

२३. श्रीमानभयदेवोऽपि शासनस्य प्रभावना (म्) ।
पत्तने श्री कर्णराज्ये धरणोपास्ति शोभित ॥१७३॥

(प्रभा० च० पृ० १६६)

८६. जिनशासनसेवी आचार्य जिनवल्लभ

जिनवल्लभसूरि जनवल्लभ थे। ये पहले चैत्यवासी परपरा मे दीक्षित हुए। बाद में सविग्न पक्ष की मुनि दीक्षा स्वीकार की। उनका जन्म आशिक नगरी मे हुआ। बचपन मे ही पिता का साया मस्तक पर से उठ गया। माता के सरक्षण मे पालन-पोषण हुआ था।

गुरु-परम्परा

जिनवल्लभसूरि का परिवार चैत्यवासी परपरा को मानता था। उस समय चैत्यवासी परपरा प्रभाव मे थी। शहरो और नगरो मे उनके मठ थे। मठाधीश मुनि विद्वान् थे, प्रभावक भी थे। चित्तौड के चैत्यवासी मठ की एक शाखा कूर्चपुर (मारवाड) मे थी। आशिका दुर्ग निवासी जिनेश्वरसूरि उस शाखा के अध्यक्ष थे। जिनवल्लभसूरि बचपन मे अपनी मा के साथ जिनेश्वरसूरि के पास धार्मिक शिक्षा लेने आते थे। अध्ययन करते-करते बालक के मन मे वैराग्य हो गया और उन्ही के पास जिनवल्लभ ने दीक्षा ग्रहण की, अत जनवल्लभसूरि के प्रथम दीक्षा-गुरु चैत्यवासी परपरा के जिनेश्वरसूरि थे। सुविहितमार्गी परपरा मे उनके गुरु वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि और टीकाकार अभयदेवसूरि थे।

जीवन-वृत्त

जिनवल्लभसूरि की बुद्धि प्रखर थी। चैत्यवासी जिनेश्वरसूरि ने उन्हे व्याकरण, काव्य, न्याय, दर्शन आदि ग्रथो का प्रशिक्षण दिया। सर्पाकर्षणी और सर्पमोचिनी जैसी चामत्कारिक विद्याए भी प्रदान की और उनकी निर्युक्ति वाचनाचार्य पद पर की।

बाल मुनि जिनवल्लभ की प्रतिभा से जिनेश्वरसूरि पहले से ही प्रभावित थे। अपना उत्तराधिकारी बनाने हेतु विशेष प्रशिक्षण देने के लिए उन्होंने बाल मुनि जिनवल्लभ को श्रमण जिनशेखर के साथ नवाङ्गी टीकाकार अभयदेवसूरि के पास भेजा। वे दोनो गुरु का आशीर्वाद पाकर अणहिल्लपुर पाटण पहुचे। अभयदेवसूरि भी स्फूर्त मनीषा के धनी जिनवल्लभ जैसे

योग्य शिष्य को पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने थोडे ही समय में जिन-वल्लभ को सिद्धात का परगामी विद्वान् बना दिया। एक पण्डित के सह-योग से ज्योतिषशास्त्र पर भी जिनवल्लभ मुनिजी ने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था।

अध्ययन की परिसमाप्ति पर वे पुन अपने दीक्षा गुरु जिनेश्वरसूरि से मिलने गए पर अब वे उनके नही रहे थे। मुनि जिनवल्लभ ने चैत्यवास को स्पष्ट अस्वीकार कर दिया और बडगच्छ की सविग्न शाखा के आचार्य वर्धमान-सूरि के पट्ट शिष्य जिनेश्वरसूरि के वे शिष्य बने। नवाङ्गी टीकाकार अभय-देवसूरि उनके विद्या गुरु थे। खरतरगच्छ के पट्टावलि रचनाकार जिनवल्लभ-गणी को नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेव का शिष्य मानते है।

जिनवल्लभ मुनि को योग्य समझते हुए भी किसी विशेष परिस्थिति वश अभयदेवसूरि ने उन्हे आचार्य पद पर नियुक्त न कर वाचनाचार्य के रूप मे स्वतत्र विहरण करने का आदेश दे दिया। जिनवल्लभ मुनि बहुत लम्बे समय तक पाटण के आसपास घूमते रहे।

एक बार वे चित्तौड गए। प्रारभ मे उनका विरोध हुआ। धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ता का प्रभाव जमने लगा और उनके अनेक अनुयायी बने। धारा नगरी के राजा नरवर्मदेव पर भी उनका अच्छा प्रभाव था। वी० नि० १६३७ (वि० स० ११६७) आषाढ शुक्ला ७ को देव भद्राचार्य ने पाटण मे जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि के स्थान पर आचार्य रूप मे नियुक्त किया। जिनवल्लभसूरि गणी अभिधा से प्रसिद्ध थे।

जिनवल्लभसूरि की शिष्य परपरा से मधुकरगच्छ रुद्रपल्लीयगच्छ और गच्छो का जन्म हुआ था।

साहित्य साधना

जिनवल्लभसूरि अपने युग के प्रसिद्ध विद्वान् थे, न्याय, दर्शन, व्याकरण आदि विविध ग्रथो के वे गभीर अध्येता थे और सफल साहित्यकार भी थे। उन्होने (१) सूक्ष्मार्थ सिद्धात विचार (२) प्रतिक्रमण समाचारी (३) धर्म शिक्षा (४) प्रश्नोत्तर षष्टिशतक (५) शृगार शतक (६) चित्रकाव्य (७) पञ्चक कल्याणक स्तोत्र (८) जिनस्तोत्र (९) पार्श्वस्तोत्र (१०) वीर-स्तव (११) भवारिवारण स्तोत्र (१२) स्वप्नाष्टक विचार सग्रह (१३) अजित-शान्ति स्तव (१४) अष्ट सप्ततिका (१५) पिण्डविशुद्धि प्रकरण आदि सार गर्भित ग्रथो की रचना की।

समय-संकेत

आचार्य जिनवल्लभ वी० नि० १६३७ (वि० सं० ११६७) कार्तिक कृष्णा द्वादशी को रात्रि के चतुर्थ प्रहर मे परमेष्ठी ध्यान में तल्लीन थे। उसी अवस्था मे द्विदिवसीय अनशन के साथ उनका स्वर्गवास हो गया। गणी रूप मे जिनवल्लभसूरि ने दीर्घकाल तक जैन शासन की प्रभावना की। आचार्य पद को वे केवल छह मास ही विभूषित कर पाये थे।

८७. अन्तर्द्रष्टा आचार्य अभयदेव (मल्लधारी)

मल्लधारी प्रभावक आचार्यों मे एक नाम अभयदेव का प्रस्तुत किया जा रहा है। मल्लधारी आचार्य अभयदेव के व्यक्तित्व का राजवंशो पर अतिशय प्रभाव था। शाकम्भरी के महाराज पृथ्वीराज और सौराष्ट्र के अधिनायक खेंगार आदि नरेश उनसे प्रतिबुद्ध हुए थे।

गुरु-परम्परा

अभयदेव हर्षपुरीगच्छ के आचार्य थे। हर्षपुरीगच्छ का सबंध प्रश्नवाहन-कुल कोटिक गण की मध्यम शाखा से था। अभयदेव के गुरु का नाम जयसिंह-सूरि था। मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य प्रस्तुत अभयदेवसूरि के शिष्य थे।

जीवन-वृत्त

अभयदेवसूरि के जीवन-प्रसग की सामग्री अधिक उपलब्ध नही है। सार्वजनिक भूमिका पर जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में अभयदेवसूरि का योग-दान महान् है। उन्होने एक ओर जैनेतर व्यक्तियो को प्रतिबोध देकर जैन बनाने का कार्य किया, दूसरी ओर कई राजाओ को अपने व्यक्तित्व से प्रभा-वित कर उनको जैन धर्म के अनुकूल बनाया था। राजवशो के द्वारा अभय-देवसूरि को अपने धर्म-प्रचार कार्य मे अनेकविध सहयोग प्राप्त हुआ था।

गुर्जराधिपति कर्णदेव ने उनको मल्लधारी की उपाधि से विभूषित किया था।

अजमेर के महाराजा जयसिह ने उनकी प्रेरणा से अपने सम्पूर्ण राज्य मे अष्टमी, चतुर्दशी और शुक्ला पंचमी के दिन 'अमारि' की घोषणा की।

भुवनपाल राजा ने जैन मन्दिर के पुजारियो से कर वसूल करना छोड दिया।

शाकंभरी के महाराजा पृथ्वीराज और सौराष्ट्र के अधिनायक खेगार भी उनका विशेष सम्मान किया करते थे।

जीवन के अंतिम समय में उन्होने अजमेर की धारा पर ४७ दिन का अनशन किया। गुर्जर नरेश सिद्धराज अनशन की स्थिति में गुजरात से चलकर उनके दर्शनार्थ वहा आए।

परम समाधि मे आचार्य मल्लधारी अभयदेव का स्वर्गवास हुआ।

शोभायात्रा (शव यात्रा) भारी जन-समूह के साथ सुबह सूर्योदय से प्रारंभ हुई और साझ तक श्मशान घाट पहुंची। मंत्रीगण सहित अजमेर महाराजा जयसिह श्मशान तक पहुचाने गए। देह-संस्कार के बाद मल्लधारी-जी की राख को रोगविनाशक समझकर लोग अपने-अपने घर ले गए।

जिनके हाथ राख न लगी उन्होने वहा की मिट्टी को भी प्रसाद रूप मे ग्रहण किया।

कई राजाओ को अपनी क्षमताओ से प्रभावित कर लेना आचार्य अभयदेवसूरि के व्यक्तित्व का वह बिंदु है जो उनके जीवन की सबल ऊर्जा को प्रकट करता है।

समय-संकेत

अभयदेवसूरि वी०नि० १६१२ (वि०स० ११४२) माघ शुक्ला पचमी के दिन अन्तरिक्ष प्रतिमा प्रतिष्ठान के समय विद्यमान थे।

अपने व्यक्तित्व का अद्वितीय प्रभाव जनमानस पर छोड कर वी० नि० १६३८ (वि०स० ११६८) मे वे स्वर्गवासी हुए। इस आधार पर ऊर्जा-केन्द्र अभयदेवसूरि का समय वी० नि० की १७ वी सदी का पूर्वार्द्ध (वि० की १२ वी सदी का उत्तरार्द्ध) सिद्ध होता है।

८८. वर्चस्वी आचार्य वीर

वीराचार्य श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा मे हुए है। वे विद्याबल और बुद्धिबल से सम्पन्न थे। योग विद्या के विशेषज्ञ थे। शास्त्रार्थ करने की कला में दक्ष थे। गुजरात नरेश जयसिह सिद्धराज उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे।

गुरु-परम्परा

चन्द्रगच्छ की पाण्डिल्ल शाखा मे भावदेवसूरि हुए। उनके पट्टधर विजयसिहसूरि श्री वीराचार्य के गुरु थे।[1] युगप्रधानाचार्य षाण्डिल्य से जिस षाण्डिल्ल गच्छ का उद्भव हुआ था वह बहुत प्राचीन है। प्रस्तुत वीराचार्य चन्द्रगच्छ से सम्बधित षाण्डिल्ल शाखा में हुए है। इस षाण्डिल्ल शाखा का सम्बन्ध चन्द्रगच्छ से होने के कारण प्राचीन षाण्डिल्ल गच्छ से भिन्न प्रतीत होती है।

जीवन-वृत्त

वीराचार्य को मैत्रीभाव के कारण पाटण नरेश सिद्धराज जयसिह की सभा मे विशेष सम्मान प्राप्त था। नरेश की भक्ति विशेष के कारण वीराचार्य लम्बे समय तक पाटण मे विहरण करते रहे। एक दिन सिद्ध नरेश ने विनोद मे वीराचार्य से कहा—"राज्याश्रय के कारण ही दुनिया मे आपका इतना महत्त्व है।"[1]

वीराचार्य के हृदय मे नरेश के द्वारा कही हुई यह बात विशेष चुभ गई। उन्होंने तत्काल नरेश के सामने अन्यत्र विहरण करने का निश्चयात्मक विचार प्रगट किया। प्रत्युत्तर मे नरेश बोले—"मुने ! मैने यह बात विनोद मे कही है। आपको मैं यहा से किसी प्रकार जाने नही दूगा।" आचार्य बोले—"राजन्! मुनि पवन की तरह अप्रतिबद्ध विहारी होते है उन्हे कौन रोक सकता है!"[1]

राजा ने अपनी बात को रखने के लिये नगर के द्वारपालो को आज्ञा दी—वे वीराचार्य को द्वार से बाहर न जाने दे। द्वारपालों ने नरेश के आदेश

का जागरूकता से पालन किया। वे अपने द्वार पर सावधानी के साथ पहरेदारी करने लगे।[१] नगर के हर द्वार पर राजा ने कड़ा पहरा लगा दिया था। वीराचार्य भी अपने विचारो मे दृढ थे। सन्ध्या प्रतिक्रमण के बाद उन्होने विशेष आसन लगाकर अध्यात्म योग के द्वारा प्राणवायु का निरोध किया और विद्याबल द्वारा आकाश मार्ग से पल्ली नामक नगरी मे वे पहुच गये।[५]

प्रभात मे राजा सिद्धराज को इस घटना की जानकारी मिली। उन्हे गहरा दुःख हुआ। कई दिनो के बाद पल्ली ग्राम से आये हुए ब्राह्मणो द्वारा वीराचार्य के वहा पहुचने की सूचना तिथि-वार सहित मिली। घटना को सुनकर नरेश को दु.ख मिश्रित आश्चर्य हुआ। मन ही मन नरेश ने सोचा—"सूरिजी अवश्य ही आकाश माग से विद्याबल द्वारा गये है अन्यथा ऐसा सम्भव नही था।" नगरी मे पुन. पदार्पण के लिये नरेश ने वीराचार्य को आमन्त्रण भेजा।

वीराचार्य ने अन्य कई गावो और नगरो मे विहरण करने के बाद वहा आने का सकेत दिया। महाबोधपुर मे उन्होने बौद्ध विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की। उसके बाद वीराचार्य गोपालगिरि (ग्वालियर) मे आए।[६] उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर स्थानीय नरेश ने उनका विशेष सम्मान किया। वहा पर उनके साथ कई शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थों मे विजयी होने के कारण गोपालगिरि नरेश ने उनको छत्र-चामर आदि कई वस्तुए उपहार मे प्रदान की।[७] वहा से विहार कर कई दिन वीराचार्य नागपुर मे विराजे तदनन्तर वे अणहिल्लपुर पाटण के निकटवर्ती चारूप गाव मे आए। पाटण नरेश ने वहा तक आकर वीराचार्य का सम्मान किया और अपने शहर मे उनका उत्सवपूर्वक प्रवेश करवाया। पाटण के वादीसिह नामक साख्य विद्वान् के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। इसमे भी वीराचार्य को विजय प्राप्त हुई।[८] सिद्धराज ने इस प्रसङ्ग पर वीराचार्य को 'जयपत्र' प्रदान किया।[९] इस विजय की घोषणा वीराचार्य के कलागुरु गोविन्दसिह ने पहले ही कर दी थी। पाटण की राजसभा मे कमलकीर्ति नामक दिगम्बर विद्वान् के साथ भी वीराचार्य का सफल शास्त्रार्थ हुआ।[१०]

समय-संकेत

वीराचार्य के जन्म, दीक्षा आदि से सम्बन्धित तिथि-मिति का उल्लेख प्राप्त नही है। पाटण नरेश सिद्धराज जयसिह की राजसभा मे वे सम्मानित विद्वान् थे। सिद्धराज जयसिह का शासनकाल वी० नि० १६१० से १६६८

(वि० सं० ११५० से ११८८) तक माना गया है। इस आधार पर वीराचार्य वी० नि० की १६ वीं (वि० सं० की १२ वीं) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

१. श्रीमच्चन्द्रमहागच्छसागरे रत्नशैलवत् ।
अवान्तराख्यया गच्छः पंडिल्ल इति विश्रुत ।।४।।
श्रीभावदेव इत्यासीत् सूरिरत्र च रत्नवत् ।।५।।
श्रीमद् विजयसिंहाख्या सूरयस्तत्पदेऽभवन् ।।६।।
तत्पट्टमानससरोहंसा श्रीवीरसूरय ।।७।।
(प्रभा० च० पृ० १६७)

२. अथ मित्रं समासीनो नृपतिर्नर्मणाऽवदत् ।
श्रीवीराचार्यमुनीन्द्रं तेजो व क्षितिपाश्रयात् ।।६।।
(प्रभा० च० पृ० १६७)

३. भूप प्राह न दास्यामि गन्त् निजपुरात् तु वः ।
सूरिराह निषिध्यामो यान्त केन वय ननु ।।१३।।
(प्रभा० च० पृ० १६७)

४. इत्युक्त्वा स्वाश्रयं प्रायात् सूरिर्भूरिकलानिधि ।
रुरोध नगरद्वारान् सर्वान् नृपतिर्नरै ।।१४।।
(प्रभा० च० पृ० १६७)

५. अध्यात्मयोगत प्राणनिरोधाद् गगनाध्वना ।
विद्याबलाच्च ते प्रापु पुरी पल्लीतिसञ्ज्ञया ।।१६।।
(प्रभा० च० पृ० १६७)

६. महाबोधपुरे बौद्धान् वादे जित्वा बहूनथ ।
गोपालगिरिमागच्छन् राज्ञा तत्रापि पूजित. ।।३१।।
(प्रभा० च० पृ० १६८)

७. परप्रवादिनस्तैञ्च जितास्तेषा च भूपति ।
छत्र-चामरयुग्मादिराजचिन्हान्यदान्मुदा ।।३२।।
(प्रभा० च० पृ० १६८)

८. न शक्तोऽहमिति प्राह वादिसिंहस्ततो नृप ।
स्वयबाहौ विधृत्याम् पातयामास भूतले ।।६१।।
(प्रभा० च० पृ० १६९)

९. जयपत्रार्पणादस्यादधे तेज. पर तदा ।
द्रव्य तु नि स्पृहत्वेन स्पृशत्यपि पुनर्न स ।।६९।।
(प्रभा० च० पृ० १६९)

१०. वादी कमलकीर्त्याख्य आशाम्बरयतीश्वर ।
वादमुद्राभृदभ्यागादवज्ञातान्यकोविद ॥७८॥
आस्थानं सिद्धराजस्य जिह्वाकण्डूयर्यादित ।
वीराचार्य स आह्वास्त ब्रह्मास्त्र विदुषा रणे ॥७९॥
भूपाल प्राह को जेता मत्सभा तपति प्रभौ ।
श्री वीरे वादिवीरेऽत्र सिद्धेऽनेकामु सिद्धिषु ॥८०॥
(प्रभा० च० पृ० १६६, १७०)

८९. जनप्रिय आचार्य जिनदत्त

जिनदत्तसूरि श्वेताम्बर सुविहितमार्गी परंपरा मे हुए। खरतरगच्छ मे उनका नाम बडे आदर से लिया जाता है। उनकी प्रसिद्धि बडे दादा संज्ञक नाम से है। 'दादा' शब्द महान् पूज्यभाव का प्रतीक है एव भक्तजनो की अनन्य निष्ठा को प्रकट करता है।

गुरु-परम्परा

जिनदत्तसूरि जिनवल्लभसूरि के पट्टधर शिष्य थे। तथा जिनवल्लभसूरि भी नवागी टीकाकार अभयदेव के पट्ट शिष्य थे। जिनदत्त के दीक्षा गुरु धर्मदेव उपाध्याय थे और जिनवल्लभसूरि के दीक्षा गुरु चैत्यवासी जिनेश्वरसूरि थे। बुद्धिसागरसूरि के ज्येष्ठ बंधु सुविहितमार्गी जिनेश्वरसूरि इनसे भिन्न थे। वे टीकाकार अभयदेवसूरि के गुरु थे। जिनवल्लभसूरि अभयदेवसूरि से प्रशिक्षण पाकर चैत्यवासी परपरा को छोड सुविहितमार्गी हो गए। जिनदत्तसूरी इन्ही जिनवल्लभसूरी के पट्ट शिष्य बने थे।

जन्म और परिवार

जिनदत्तसूरि का जन्म वैश्य वश हुम्बड गोत्र मे वी० नि० १६०२ (वि० म० ११३२) मे हुआ। धवलकनगर (धोलका) निवासी श्रेष्ठी वाच्छिग के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम वाहड देवी था।

जीवन-वृत्त

बाल्यकाल मे ही जिनदत्तसूरि को सहज धार्मिक वातावरण प्राप्त था। एक बार धोलका मे जिनेश्वरसूरि के शिष्य उपाध्याय धर्मदेव की आज्ञानुवर्तिनी साध्वियो का चातुर्मास हुआ। उनके पास अपने पुत्र को लेकर वाहडदेवी धर्म कथाएं सुनने के लिए जाती थी। धर्म कथाओ को सुनकर बालक के मन मे वैराग्य के भाव जागृत हुए। मुनि जीवन स्वीकार करने की इच्छा हुई। बालक के शरीर पर शुभ चिह्न थे, जो उसके सुन्दर भविष्य के सकेत थे। साध्वियो ने होनहार बालक को धर्मसंघ मे अर्पित कर देने के लिए वाहड देवी को प्रेरणा दी। धर्मानुरागिणी वाहड देवी भी इस कार्य के लिए प्रस्तुत हो

गई। उपाध्याय धर्मदेव ने बालक को वी० नि० १६११ (वि०स० ११४१) में संयम-दीक्षा प्रदान की। नवदीक्षित मुनि का नाम सोमचंद्र रखा गया। इस समय मुनि सोमचंद्र की अवस्था ६ वर्ष की थी।

भावडागच्छ के आचार्यों के पास बाल मुनि ने पंजिका का ज्ञान प्राप्त किया और हरिसिंहाचार्य से सैद्धान्तिक वाचना ग्रहण की तथा मन्त्रविद्या का प्रशिक्षण भी पाया।

मुनि सोमचद्र की शीघ्रग्राही मेधा पर हरिसिंहाचार्य अत्यन्त मुग्ध थे। उन्होने आगमिक ज्ञानदान के साथ अपनी निजी अध्ययन सबधी सामग्री भी विद्यार्थी बाल मुनि को प्रसन्नता पूर्वक प्रदान कर दी थी। सात वर्ष तक पाटण मे रहकर सोमचंद्र ने जैन दर्शन का गहन अध्ययन किया और दिग्गज विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ कर वे विजयी बने।

चित्तौड मे वी० नि० १६३६ (वि० स० ११६६) वैशाख कृष्णा षष्ठी शनिवार को देव भद्राचार्य ने उन्हे आचार्य पद पर नियुक्त किया और जिनदत्त के नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई। पाटण मे उन्हे युगप्रधान पद मिला।

आचार्य जिनदत्त के युग मे चैत्यवास की धारा राज्याश्रय को प्राप्त कर बडे वेग से बह रही थी। सुविहित विधिमार्ग पर चलने वाले जैनाचार्यों के लिए यह कडी कसौटी का युग था।

जिनदत्तसूरि की नई सूझबूझ ने धर्म विस्तार के लिए नये आयाम खोले। सत्य के प्रतिपादन में उनकी नीति विशुद्ध थी। उनके शासनकाल मे जैनीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ।

असत् तरीको से शिष्यो की संख्या बढाने की प्रवृत्ति का वे प्रतिकार करते और वे कहते—"चर्म रोगी पर बहुत-सी मक्खियां चिपकती हैं, इससे वेदना बढती है। अधिक परिवार से कल्याण नही होता। सूकरी के बहुत सताने होती है पर खाने को क्या मिलता है? गलत प्रकार से श्रावकों की संख्या बढाना कभी श्रेयस्कर नही है। सही प्रतिबोध से बना एक श्रावक भी अच्छा है।"

मारवाड, सिंध, गुजरात, बागड़, मेवाड़ और सौराष्ट्र उनके मुख्य विहरण स्थल थे। जैन सख्या का विस्तार उनके जीवन की अभूतपूर्व देन है। संख्या वृद्धि सुविहित विधिमार्ग की नीव को मजबूत करने मे परम सहायक सिद्ध हुई। आचार्य जिनदत्तसूरि की इस प्रवृत्ति का अनुकरण समस्त जैन समाज कर पाता तो आज जैनों की संख्या संभवतः कई करोड तक पहुंच

जाती ।

संघ व्यवस्था में जिनदत्तसूरि ने नए आयाम उद्घाटित किए । उन्होने जिनवल्लभसूरि द्वारा प्रतिपादित षट्कल्याणक विधि को प्रमुखता प्रदान की । नये नियम बनाए और स्वतंत्र खरतरगच्छ का प्रवर्तन किया । यह उल्लेख 'जैन परपरा नो इतिहास' नामक गुजराती ग्रथ पृष्ठ ४५१ पर है । इस उल्लेख के आधार पर खरतरगच्छ के सस्थापक जिनदत्तसूरि सिद्ध होते हैं ।

जिनचंद्रसूरि को जिनदत्तसूरि ने विक्रमपुर में वि० नि० १६८१ (वि० स० १२११) मे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और उसी समय खरतरगच्छीय आचार्यों के नाम से 'जिन' शब्द को जोडने की परंपरा प्रारम्भ हुई ।

साहित्य

जिनदत्तसूरि प्राकृत, अपभ्रश भाषा के अधिकारी विद्वान् थे । उन्होने गणधर सार्धशतक (प्राकृत रचना), संदेह दोहावली (प्रा०), गणधर सप्तति (प्रा०) विघ्नविनाशि स्तोत्र (प्रा०), व्यवस्था कुलक (प्रा०), प्राकृत विंशिका (प्रा०), उपदेश रसायन (अपभ्रंश), काल स्वरूप (अप), चर्चरी (अप) आदि ग्रथ लिखे । जिनदत्तसूरि की कृतिया स्तुत्यात्मक है एव उपदेशात्मक भी । उनकी कृतियो मे गणधर सार्धशतक उत्तम कृति है । इसके १५० पद्य है । गणधरो की इतिहास सामग्री इस कृति मे प्राप्त है ।

समय-संकेत

जिनदत्तसूरि का अनशनपूर्वक स्वर्गवास वी० नि० १२८१ (वि० स० १२११) अजमेर मे आपाढ शुक्ला एकादशी के दिन हुआ । जिनदत्तसूरि के नाम से बनी दादाबाडी आज भी वहा विद्यमान है ।

अपने युग मे जिनदत्तसूरि द्वारा व्यापक रूप से जैन धर्म की प्रभावना और बहुत अधिक सख्या मे जैनीकरण का कार्य उनकी जनप्रियता को समर्थित करता है ।

९०. नित्य नवीन आचार्य नेमिचंद्र

प्रस्तुत नेमिचद्र ने जैन विद्या के मनीषी टीकाकारो में स्थान पाया। वे संस्कृत-प्राकृत दोनो भाषाओ के अधिकारी विद्वान् थे। जैन दर्शन के विविध विषयो का उन्होने गहन अध्ययन किया था।

गुरु-परम्परा

नेमिचद्रसूरि की गुरु-परपरा सुखबोधा टीका प्रशस्ति, आख्यान मणि-कोश प्रस्तावना और 'रमणचूड चरिय' ग्रन्थ मे प्राप्त है।

सुखबोधा टीका प्रशस्ति के उल्लेखानुसार नेमिचद्रसूरि चद्रकुल के वृहद्गच्छीय उद्योतनसूरि के प्रशिष्य और उपाध्याय आम्रदेवसूरि के शिष्य थे। मुनि चंद्रसूरि उनके धर्म सहोदर थे। आचार्य पद प्राप्ति के पूर्व नेमिचद्र-सूरि का नाम देवगणी था।

रयण चूड ग्रन्थ के अनुसार इस गच्छ मे दुर्वहशील चर्या के पालक गुण गण सपन्न सतत् विहारी प्रभावक आचार्य देवसूरि हुए। देवसूरि के चार शिष्य थे। उद्योतनसूरि, यशोदेवसूरि, प्रद्युम्नसूरि, मानदेवसूरि।

निर्मल चेतना के धनी उद्योतनसूरि के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव और आम्रदेव के शिष्य नेमिचद्रसूरि थे।

जीवन-वृत्त

नेमिचद्रसूरि कहा और किस वश मे जन्मे, उनकी दीक्षा किस प्रदेश में हुई इस सबध की सामग्री अनुपलब्ध है।

नेमिचद्रसूरि के दो नाम मिलते है। देवेन्द्रगणी और नेमिचद्रसूरि। गणी पद प्राप्ति से पूर्व उनका नाम देवेन्द्रगणी था। प्रद्युम्नसूरि के शिष्यो के साथ उनके अच्छे सम्बन्ध थे। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य जसदेवगणी ने आख्यान मणि की प्रतिलिपि तैयार की थी।

उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका और महावीर चरिय ग्रन्थ की रचना अणहिल्ल पाटण नगर मे हुई। रयणचूड चरिय ग्रन्थ की रचना डिंडिलपद निवेश मे प्रारम्भ हुई तथा चड्डावलीपुरी मे समाप्त हुई थी।

इन दोनो ग्रन्थों मे समागत सदर्भों के आधार पर अनुमान होता है नेमिचंद्रसूरि का साहित्य साधना क्षेत्र मुख्यतः गुजरात रहा है। डिंडिलपद और चड्डावलीपुरी भी गुजरात के ही निकट प्रदेश सभव हैं।

ग्रंथ-रचना

नेमिचद्रसूरि कलाकार थे एव चरित्र ग्रन्थो के रचनाकार भी थे। पर उनकी सुखबोधा टीका इतनी महत्त्वपूर्ण रचना है जिसके कारण टीकाकार विद्वानो मे नेमिचद्रसूरि की गणना भी हुई है। मुख्य ग्रन्थो का परिचय इस प्रकार है—

आख्यान मणिकोश

नेमिचद्रसूरि की यह प्रथम रचना है। इसके ४१ अधिकार एव १४६ आख्यान है। आख्यानो मे कहीं-कही पुनरावृत्ति भी है।

सुखबोधा वृत्ति

इस ग्रथ मे १२५ प्राकृत कथाएं है। इस वृत्ति की रचना अणहिल्ल पाटण नगर मे दोहड श्रेष्ठी की वसति मे हुई। टीका रचना मे प्रेरक गुरु-भ्राता मुनिचद्र थे। टीका रचना का मूल आधार शान्तिसूरि की 'शिष्यहिता' टीका है। इस इस टीका रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए स्वय नेमिचद्रसूरि लिखते है—

आत्मस्मृतये वक्ष्ये जडमति सक्षेपरुचिहितार्थं च।
एकैकार्थनिबद्धा वृत्ति शुभस्य सुखबोधाय ॥२॥
बह्वर्थाद् वृद्धकृताद् गम्भीराद् विवरणात् समुद्धृत्य।
अध्ययनानामुत्तरपूर्णाणामेक पाठगताम् ॥३॥
अर्थान्तराणि, पाठान्तराणि सूत्रे च वृद्धटीकातः।
बोद्धव्यानि यतोऽयं प्रारंभो गमनिकामात्रम् ॥४॥

मदमति और सक्षेप रुचिप्रधान पाठको के लिए मैने अनेकार्थ गभीर विवरण से पाठान्तरो और अर्थान्तरो से दूर रहकर इस टीका की रचना की है। अर्थान्तरो एव पाठान्तरो से मुक्त सरल और सरस शैली मे लिखा गया यह ग्रन्थ सुखबोधा सज्ञा को सार्थक करता है।

टीका की इस विशेषता मे 'सरपेन्टियर' को बहुत अधिक प्रभावित किया था। उन्होंने पाठ-निर्धारण मे इसी टीका को प्रमुखता दी और टिप्पण भी लिखे।

इसी टीका की एक और विशेषता प्राकृत कथानकों का सविस्तार वर्णन है। शान्त्याचार्य ने अपनी शिष्यहिता टीका मे जिन कथानकों का एक दो पंक्ति में संकेत मात्र दिया है, नेमिचद्रसूरि ने उन कथानको के साथ अन्य ग्रन्थो से प्राप्त सामग्री जोडकर उन्हे रोचक और मदबुद्धि वालो के लिए भी सुपाच्य बना दिया है।

आचार्य नेमिचंद्रसूरि ने उत्तराध्ययन के प्रथमाशो की जितनी विस्तृत टीका की है, उत्तराशो की टीका में उतना विस्तार नही है। अतिम १२-१३ अध्ययनो की टीका अधिक संक्षिप्त होती गई है। उनमे न कोई विशेष कथाए हैं और न कोई अन्य उद्धरण ही हैं।

पर इन कथानको की सरसता ने पाश्चात्य विद्वानों का भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है।

अठारह भाषाओ के विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी ने इन कथाओं का स्वतत्र रूप से सग्रह किया। मुनि जिनविजय द्वारा भी प्राकृत कथा सग्रह के नाम से उनका प्रकाशन हुआ।

ले० जे० मेयर ने अग्रेजी भाषा मे इनका अनुवाद स० १९०९ मे किया था। ल्यूमेन भी इन कथाओ पर अवश्य मुग्ध रहे है। तभी तो इन्होने नेमिचद्रसूरि द्वारा कथा-प्रसङ्ग के साथ प्रयुक्त पूर्व प्रबध मे पूर्व शब्द को निस्सकोच भाव से दृष्टिवाद के अश का सूचक माना है।

यह टीका सक्षिप्त मूल पाठ का स्पर्श करती हुई अर्थ-गौरव से परिपूर्ण है। यह प्राकृत कथाओ की प्रचुरता के कारण हरिभद्र की शैली का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। वैराग्यरस से परिप्लावित ब्रह्मदत्त और अगडदत्त जैसी कथाओ के साहचर्य मे इस सुविशाल टीका मे प्राणवत्ता आ गई है और विभिन्न ग्रन्थों के व गाथाओ के उद्धरण तथा सोदाहरण नाना विषयो की विवेचना के कारण इसकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध हुई है। इस सुखबोधा टीका का ग्रंथमान बारह सहस्र (१२०००) पद्य परिमाण है।

आत्मबोध कुलक

नेमिचद्रसूरि का यह २२ गाथाओ का लघु ग्रथ है। इसमे आत्मा से सम्बन्धित विविध रूपो मे धर्मोपदेश दिया गया है। इस कृति का दूसरा नाम धर्मोपदेश कुलक भी है।

रयणचूड़ चरियं

यह कृति प्राकृत गद्य मे है। इस पर सस्कृत का प्रभाव प्रतीत होता है। कृति काव्य गुणों से मण्डित है एव शिक्षात्मक सूक्तियो से परिपूर्ण है। शैली पर कृत्रिमता का आवरण नही है। इस कृति का कथानक गणधर गौतम के मुख से सम्राट् श्रेणिक को सुनाया गया है। रत्नचूड इस कृति का मुख्य पात्र है। इस कृति की रचना गणीपद प्राप्ति के बाद हुई है। यह कृति ३८१ श्लोक परिमाण है।

महावीर चरियं

यह भी नेमिचद्रसूरि की प्राकृत पद्य रचना है। इसमें २३८५ पद्य हैं। कुल ग्रथाग्रमान ३००० श्लोक है। इसमे महावीर के पूर्व भवो का विस्तार मे वर्णन है। यह नेमिचंद्रसूरि की अतिम रचना मानी गई है। इसकी रचना भी अणहिल्लपुर पाटण मे दोहड श्रेष्ठी की वसति मे हुई। इसका रचना काल वी० नि० १६११ (वि० ११४१) है।

समय-संकेत

टीकाकार आचार्य नेमिचद्र का समय उनके ग्रथो के समय संवत् के आधार पर निश्चय किया जा सकता है। 'आख्यान मणिकोश' का रचना समय वी० नि० १५९९ (वि० स० ११२९) और 'महाचरिय' ग्रथ का रचना समय वी० नि० १६११ (वि० स० ११४१) बताया गया है। इस आधार पर प्रस्तुत नेमिचद्र वी० नि० की १६ वी १७ वीं (वि० १२ वी) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते है।

६१. हृदयहारी मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य

प्रस्तुत आचार्य हेमचन्द्र मल्लधारी हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। वे अपने युग के विशिष्ट व्याख्याता थे। आगम पाठी आचार्यों में उन्होंने अपना स्थान पाया। स्वाध्याय, योग और ध्यान में उनकी सहज रुचि थी। संस्कृत उनकी अधिकृत भाषा थी।

गुरु-परम्परा

मल्लधारी हेमचन्द्र प्रश्नवाहन कुल की मध्यम शाखा में हर्षपुरीय गच्छ में हुए। उनके गुरु का नाम मल्लधारी अभयदेवसूरि था। अभयदेवसूरि के गुरु का नाम जयसिंहसूरि था।[1]

जन्म एवं परिवार

मल्लधारी हेमचन्द्र की गृहस्थ जीवन सम्बन्धी सामग्री अधिक उपलब्ध नहीं है। मल्लधारी राजशेखर की प्राकृत द्वयाश्रय वृत्ति की प्रशस्ति के अनुसार मल्लधारी हेमचन्द्र राजमन्त्री थे। प्रद्युम्न उनका नाम था। चार पत्नियों को छोड़कर उन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। इससे स्पष्ट है उनका परिवार बड़ा था।

जीवन-वृत्त

मुनि जीवन में राजमंत्री प्रद्युम्न हेमचन्द्र के नाम से विख्यात हुए। प्रौढ़ अवस्था में दीक्षित होकर भी उन्होंने श्रुत की सम्यक् आराधना की। ज्ञान-महार्णव भगवती का पारायण करना भी बहु श्रमसाध्य है। आचार्यजी ने उसके नाम की भांति उसे कण्ठाग्र कर लिया। वे प्रबल स्वाध्यायी साधक थे। उनकी अध्ययन परायण रुचि ने लगभग लक्षार्ध ग्रन्थों का वाचन किया। उनकी पठन सामग्री में प्रमाणशास्त्र और व्याकरणशास्त्र जैसे गम्भीर ग्रन्थ भी थे। उनकी पैनी प्रतिभा ग्रन्थों की शब्दमयी पर्तों को चीरकर अर्थ गहराई तक पैठ जाती थी।

वे श्रेष्ठ वाग्मी थे। उनकी ध्वनि मेघ की तरह गम्भीर थी। आधुनिक युग के ध्वनिवर्धक जैसे कोई भी साधन उस समय विकसित नहीं थे, फिर भी दूर-

दूर तक उनकी आवाज स्पष्ट सुनाई देती थी। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर और आकर्षक थी। मिश्री-सा मिठास उनके स्वरों मे उभरता। बहुत बार लोग उनके वचनो को उपाश्रय के बाहर खडे होकर भी तन्मयता से सुनते। वैराग्यरस मे परिपूर्ण "उपमिति भवप्रपंचकथा" जैसा दुरूह और श्रमसाध्य ग्रन्थ भी उनके प्रवचनो मे सरल और आनन्दकारी प्रतीत होते। श्रोताओ की प्रार्थना पर निरन्तर तीन वर्ष तक वे इसी एक कथा पर व्याख्यान करते रहे। अजमेर के तत्कालीन नरेश उनके व्याख्यानो पर मुग्ध थे। शाकभरी का राजा पृथ्वीराज उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर जैन बन गया था। भुवनपाल राजा भी उनका परम भक्त था।

साहित्य

मल्लधारी हेमचन्द्र प्रवचनकार थे और साहित्यकार भी थे। विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति-प्रशस्ति मे उन्होने स्वचरित दस ग्रथो की सूचना दी है एव ग्रंथ रचना का क्रम भी दिया है। क्रम इस प्रकार है— (१) आवश्यक टिप्पण (२) शतक विवरण (३) अनुयोगद्वार वृत्ति (४) उपदेशमाला सूत्र (५) उपदेशमाला वृत्ति (६) जीवसमास विवरण (७) भवभावना सूत्र (८) भवभावना वृत्ति (९) नन्दी टिप्पण (१०) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति।

इन ग्रन्थो का कुल ग्रन्थमान अस्सी हजार पद्य परिमाण बताया गया है।

'मुनिसुव्रत चरित्र' ग्रन्थ की प्रशस्ति मे आचार्य मल्लधारी हेमचन्द्र के ९ ग्रंथो की सूचना है। नन्दी टिप्पण का उल्लेख उसमे नही है। उनके कुछ ग्रथो का परिचय इस प्रकार है —

भवभावना वृत्ति

मल्लधारी हेमचन्द्र ने मेडता और छत्रपल्ली मे भवभावना नामक ग्रथ की रचना की और इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी बनाई। भवभावना मे १२ भावनाए है एव ५२१ गाथाएं है। अधिकाश गाथाए प्राकृत मे रची गई है। कही-कही अपभ्रंश के पद्य भी प्रयुक्त हुए है। धार्मिक कथाओ के उपयोग से यह ग्रथ जनसामान्य के लिये विशेष रुचिकर बना है। सस्कृत-प्राकृत सूक्त अधिक प्रभावक है। इस ग्रथ मे तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन मुख्य रूप से हुआ।

आवश्यक टिप्पण

यह आवश्यक सूत्र का सक्षिप्त टिप्पण है[१] इस ग्रन्थ का दूसरा नाम हारिभद्रीयावश्यक-वृत्ति टिप्पण भी है। इसका एक ओर नाम आवश्यक वृत्ति प्रदेश व्याख्या है।[२] इस नाम की सूचना इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे प्राप्त है। टिप्पण मे आवश्यक वृत्ति के कठिन पाठो की सरल व्याख्या की गई है। इसका ग्रन्थमान ३६०० पद्य परिमाण है।

शतक-विवरण

[विनयहिता वृत्ति]

इसका नाम बन्धशतक वृत्ति भी है। विशेषावश्यक भाष्य की टीका मे शतक विवरण नाम से इस ग्रन्थ मे है। ग्रन्थकार ने इस ग्रथ के लिए बधशतक विवरण इस संज्ञा का उल्लेख किया है। बन्धशतक ग्रंथ एक तात्विक रचना है। इसमे गुणस्थानो और जीवस्थानो की चर्चा है। यह मूल ग्रथ शिवशर्मसूरि का बताया गया है। इस ग्रंथ पर मल्लधारी हेमचन्द्र ने विनयहिता नामक प्रस्तुत वृत्ति की रचना की है। इससे मूल ग्रथ को समझने का मार्ग सुगम हुआ है। मूल ग्रथ के सक्षिप्त वर्णन को टीका मे विस्तार से प्रस्तुत किया है। मूलग्रथ के १०६ पद्य है। इस पर मल्लधारी जी की ३७४० पद्य परिमाण विस्तृत टीका है। इस ग्रथ की अन्तिम प्रशस्ति मे मल्लधारी की गुरु-परम्परा है। ऐतिहासिक बिन्दुओ को प्राप्त करने के लिए इस टीका की प्रशस्ति महत्त्वपूर्ण है।

अनुयोगद्वार-वृत्ति

इस वृत्ति मे अनुयोगद्वार के सूत्रो की विस्तृत और सरल व्याख्या है। इस वृत्ति का ग्रथमान ५९०० पद्य परिमाण है। टीका मे उनके उद्धरण है। यह कृति ग्रंथकार की प्रौढ रचना है। कृति के अध्ययन से ग्रथकार की गहन अध्ययनशीलता का अनुभव होता है। आगम के मर्मस्पर्शी विवेचन से स्पष्ट होता है—आचार्य मल्लधारी हेमचद्र आगम के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनकी यह वृत्ति अनुयोगद्वार को गहनता को समझाने के लिए विशेष उपयोगी है। आचार्य हरिभद्र ने भी इस ग्रथ पर टीका रचना की थी वह अत्यत सक्षिप्त थी तथा अधिकाशतया प्राकृत चूर्णि का अनुवाद मात्र थी। आचार्य मल्लधारी ने इस विस्तृत टीका की रचना कर पाठक के लिए अनुयोगद्वार के प्रतिपाद्य को सुग्राह्य बना दिया है। वर्तमान मे यह टीका आधुनिक सम्पादन के साथ प्रकाशित हो गई है।

उपदेशमाला-सूत्र

यह आचार शास्त्र का विवेचक ग्रंथ है। इसमे दान, शील, तप, भावना—इन चार विषयों का विस्तार से विवेचन है। इस ग्रथ की मूल ५०५ गाथाएं है। प्राकृतभाषा मे इसकी रचना हुई है। धार्मिक एव लौकिक कथाओ का इस ग्रथ मे उपयोग किया गया है। कई कथानक सिद्धर्षि की उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा से लिए गए है। सर्वसाधारण के लिए यह ग्रथ विशेष उपयोगी है।

उपदेशमाला विवरण

यह सस्कृत टीका है। प्राकृत गद्य-पद्य कथाओ का उपयोग भी इसमें हुआ है। एक प्रकार का बृहद् जैन कथाकोष है। इसकी कई कथाएं उद्धृत हैं। कई कथाओ की रचना कथाकार की अपनी है। कई दृष्टातो के सकेत भी इसमे है। यह ग्रथ १३८६८ पद्य परिमाण बृहद् जैन कथा कोष है एवं कथा साहित्य की अमूल्य निधि है। सविवरण उपदेशमाला ग्रथ प्रकाशित होकर पाठको के हाथो मे पहुच गया है।

जीवसमास विवरण

जीवसमास किसी अन्य आचार्य का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ था। इस पर आचार्य मल्लधारी जी ने टीका रचना का कार्य किया है। इस टीका मे चतुर्दश गुणस्थानो का समग्रता के साथ विवेचन हुआ। अजीव तत्त्व का भी इसमे सक्षिप्त प्रतिपादन है। मूलत. गुणस्थानो के साथ जीव तत्व की सर्वग्राही चर्चा होने के कारण इस कृति का नाम जीवसमास सार्थक भी है। कृति की रचना वी० नि० १६३४ (वि० ११६४ से पूर्व) की है। मल्लधारी हेमचद्र से पूर्व इस ग्रथ पर टीकाए विद्यमान थी पर हेमचद्राचार्य ने इस टीका की रचना कर सैद्धातिक विषय मे प्रवेश पाने के लिए तथा जीवन तत्त्व को समझने के लिए पाठको का मार्ग सुगम किया है।

भवभावना सूत्र

यह ग्रथकार की प्राकृत रचना है। बारह भावनाओ का विवेचन है पर प्रधान रूप से ससार भावना का विवेचन है। अत. इस कृति का भवभावना नाम सार्थक है। इस कृति मे अन्य भावनाओ का विवेचन भी है। पर अधिकाश पद्यो की रचना ससार भावना से सबन्धित है। इस कृति के कुल ५०१ पद्य है। भवभावना का वर्णन ३२२ पद्यो मे है। यह कृति वैराग्य

भावना की परिवर्धक है।

भवभावना विवरण

यह संस्कृत टीका है। इसमे भी कई प्राकृत कथाए उद्धृत है, उपदेश माला विवरण की कथाओ का पुनरावर्तन इसमे विशेषत नही है। ग्रंथकार ने अपने प्रतिपाद्य को दृष्टात और कथाओ के माध्यम मे प्रस्तुत किया है। इसमे कुछ रोचक ढंग से आध्यात्मिक रूपक भी दिए गए है। इस कृति की सम्पन्नता वी० नि० १६४७ (वि० स० ११७७) श्रावण मास की पचमी रविवार के दिन हुई थी। विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति की रचना भाष्यात में प्राप्त उल्लेखानुसार वि० नि० १६४५ (वि० म० ११७५) मे हुई थी। इस आधार पर यह टीका ग्रथकार की अतिम रचना प्रतीत होती है।

नन्दी टिप्पण

इस ग्रंथ के विषय मे विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। नन्दी टिप्पण नाम के आधार पर इस टिप्पणक ग्रंथ मे ज्ञान पचक की चर्चा अनुमानित होती है। यह हरिभद्र की नन्दी टीका का टिप्पण हो सकता है।

विशेषावश्यक विवरण

विशेषावश्यक ग्रथ की रचना आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की है। इस ग्रथ मे सामायिक अध्ययन तक की व्याख्या है। ग्रन्थकार की इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है। अन्य आचार्यों ने कई टीकाए इस ग्रन्थ पर रची थी। उन टीकाओ मे मल्लधारीजी की टीका अधिक प्रभावक सिद्ध हुई। यह टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत होने के कारण इसको "बृहद् वृत्ति" भी कहा जा सकता है पर ग्रथकार ने इसे केवल वृत्ति की ही सज्ञा दी है। यह टीका २८००० पद्य परिमाण विशाल है। इस कृति का दूसरा नाम शिष्य-हिता वृत्ति भी है। यह एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमे मुख्य रूप से विविध दार्शनिक विषयो की चर्चा है। ग्रंथ की शैली सरल और सुबोध है। प्रश्नोत्तर प्रधान इसकी शैली होने के कारण यह रचना अधिक प्रभावक सिद्ध हुई। इसे पढते-पढते पाठक का मन कुछ समय के लिए कृति के साथ तन्मय हो जाता है। स्थान-स्थान पर सस्कृत कथाओ के प्रस्तुतीकरण ने इसे अधिक रुचिप्रद बना दिया है। यह एक ही वृत्ति मल्लधारीजी के व्यक्तित्व की पर्याप्त परि-चायिका है। सस्कृत टीका साहित्य की वृद्धि भी इससे सुविस्तृत हुई है। वृत्ति के अन्त मे दी गई प्रशस्ति मे ग्रन्थमान २८००० श्लोक परिमाण है। यह वृत्ति

राजा जयसिंह के राज्य में वी० नि० १६४५ (वि० स० ११७५) मे कार्तिक शुक्ला पचमी के दिन सम्पन्न हुई थी। वृत्ति ग्रन्थों मे मल्लधारी हेमचन्द्र की यह सर्वाधिक विशाल वृत्ति है।

ग्रन्थों का पद्य-परिमाण

मुनि सुव्रत चारित्र ग्रथ की प्रशस्ति मे आचार्य मल्लधारी के ६ ग्रथों की सूचना है। इस ग्रथ के अनुसार मल्लधारी हेमचन्द्र की सर्वप्रथम रचना उपदेशमालामूल और भवभावनामूल नामक ग्रंथ है। मल्लधारीजी ने इन दोनो ग्रथो पर क्रमश १४ हजार और १३ हजार पद्य परिमाण वृत्ति की रचना भी की थी। इन चार ग्रथो की रचना के बाद उन्होने अनुयोगद्वार पर ६ हजार पद्य परिमाण, जीवसमास पर ७ हजार पद्य परिमाण और शतक ग्रथ (बन्ध शतक) की ४ हजार ग्रथ परिमाण वृत्ति की रचना की। हरिभद्र कृत आवश्यक वृत्ति का ५ हजार पद्य परिमाण टिप्पण रचा। मल्लधारी जी के ग्रथो मे सर्वाधिक विशाल वृत्ति विशेषावश्यक सूत्र की है। यह वृत्ति २८ हजार पद्य परिमाण बताई गई है।

विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति

इसका दूसरा नाम शिष्यहिता वृत्ति भी है। यह एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमे मुख्य रूप से विविध दार्शनिक विषयो की चर्चा है। ग्रंथ की शैली सरल और सुबोध है। प्रश्नोत्तर प्रधान इसकी शैली होने के कारण यह रचना अधिक प्रभावक सिद्ध हुई। इसे पढते-पढते पाठक का मन कुछ समय के लिए कृति के साथ गहरा चिपक जाता है। स्थान-स्थान पर सस्कृत कथाओ के साथ प्रस्तुतीकरण ने इसे और भी रुचिप्रद बना दिया है। यह एक ही कृति मल्लधारी के व्यक्तित्व की पर्याप्त परिचायिका है। सस्कृत टीका साहित्य की श्री वृद्धि भी इससे सुविस्तृत हुई है। वृत्ति के अन्त मे दी गई प्रशस्ति में ग्रथमान २८००० श्लोक परिमाण है। यह वृत्ति राजा जयसिह के राज्य में वी० नि० १६४५ (वि० स० ११७५) मे कार्तिक शुक्ला पचमी के दिन सम्पन्न हुई थी।

वृत्ति ग्रन्थो में मल्लधारी हेमचन्द्र की यह सर्वाधिक विशाल वृत्ति है।

अनशन की स्थिति

जीवन के अन्तिम समय मे आचार्य मल्लधारी हेमचन्द्र को सात दिनों का अनशन आया। जैन धर्म की विशेष प्रभावना हुई।

राजा सिद्धराज स्वय सूक्ष्म मनीषा के धनी मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य की निर्मल प्रज्ञा से अत्यन्त प्रभावित थे। वे उनकी शव-यात्रा मे सम्मिलित हुए एव श्मशान तक गए थे।

शिष्य वर्ग

विजयसिह, श्री चन्द्र, विबुधचन्द्र नामक तीन उनके विद्वान् शिष्य थे। श्रीचन्द्रसूरि महान् साहित्यकार थे। साहित्य-साधना से इन्होने अपने गुरु हेमचन्द्र का नाम बहुत उजागर किया।

मल्लधारीजी के शिष्य विजयसिहसूरि वी० नि० १६१२ (वि० सं० ११४२) से विद्यमान थे।

समय-सकेत

मल्लधारी आचार्य हेमचन्द्र के आचार्य-पद ग्रहण और स्वर्ग सवत् का उल्लेख नही मिलता। मल्लधारीजी के गुरु मल्लधारी अभयदेव का स्वर्गवास वी नि १६३८ (वि म ११६८) मे हुआ था। इस आधार पर मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य का पद-ग्रहण समय वी०नि० १६३८ (वि० स० ११६८) हो सकता है।

मल्लधारी हेमचन्द्र द्वारा हस्तलिखित जीवसमास की वृत्ति की प्रति के अन्त मे प्रदत्त प्रशस्ति के उल्लेखानुसार यह प्रति वी० नि० १६३४ (वि० स० ११६४) मे लिखी गई है।[१] विशेषावश्यक भाष्य की वृहद्वृत्ति की सम्पन्नता मल्लधारी हेमचन्द्र द्वारा वी० नि० १६४५ (वि० स० ११७५) मे हुई थी। मल्लधारी हेमचन्द्र के ग्रथ की किसी भी प्रशस्ति मे वि० सं० ११७७ के बाद का उल्लेख प्राप्त नही है। अत मल्लधारी हेमचन्द्र का समय वी० नि० १६५० (वि० स० ११७८) से आगे का आधुनिक शोध विद्वानो की दृष्टि से सभव नही है। मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य उपर्युक्त सवतो की दृष्टि के आधार पर वी० नि० १७ वी (वि० १२ वी) सदी के विद्वान् सभव है।

आधार-स्थल

१. श्री प्रश्नवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूत क्षोणीतलप्रथितकीर्तिरुदीर्णशाख ।
विश्वप्रसाधितविकल्पितवस्तुरुच्चैश्छायाश्रितप्रचुरनिर्वृतभव्यजन्तु. ॥१॥
ज्ञानादिकुसुमनिचित फलित श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दै. ।
कल्पद्रुम इव गच्छ श्रीहर्षपुरीयनामास्ति ॥२॥

एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधि-
स्तुङ्गत्वप्रकृतिक्षमाधरपति सौम्यत्वतारापति ।
सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमतप स्वाचारचर्यानिधि,
शान्तश्रीजयसिंहसूरिभवन्नि.सगचूडामणि. ॥३॥
विस्फूर्ज्जत्कलिकालदुस्तरतम सतानलुप्तस्थिति,
सूर्येणेव विवेकभूधरशिरस्यामाद्य येनोदयम् ।
सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिक्षुण्ण समुद्द्योतितो,
मार्गो सोऽभयदेवसूरिरभवत्तेभ्य प्रसिद्धो भुवि ॥६॥
तच्छिष्यलवप्रायैरगीतार्थैरपि शिष्टजनतुष्ट्यै ।
श्रीहेमचन्द्रसूरिभिरियमनुरचिता शतकवृत्ति ॥१०॥

(बन्धशतकवृत्ति प्रशस्ति)

२. सक्षेपादावश्यकविषय टिप्पनमहं वच्मि ।

(आवश्यक टिप्पण)

३ श्रीमदभयदेवसूरिचरणाम्बुजचञ्चरीकश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितमावश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्यानकं समाप्तम् ।

(आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या प्रशस्ति)

४. सप्तत्यधिकैकादशवर्षशतैविक्रमादतिक्रान्तै ।
निष्पन्ना वृत्तिरिय श्रावणरविपञ्चमीदिवसे ॥

(भवभावना विवरण प्रशस्ति)

५. "ग्रथाग्र० ६६२७। संवत् ११६४ चैत्र सुदि ४ सोमेऽद्येह श्रीमदणपाटके समस्त राजावलिविराजितमहाराजाधिराज—परमेश्वर—श्रीमज्जयसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये एव काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायानुष्ठानरतपरमनैष्ठिकपण्डित—श्वेताम्बराचार्य—भट्टारक—श्रीहेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि० श्री"

(जीव समास वृत्ति प्रशस्ति)

६२. वादकुशल आचार्य वादिदेव

आचार्य वादिदेव दार्शनिक विद्वान् थे। प्रमाणनय तत्त्वलोकालङ्कार जैसी न्याय विषयक उत्तम कृति के वे रचनाकार थे। वादिदेवसूरि का मूल नाम देवसूरि था। पर वाद कुशलता के कारण उनकी प्रसिद्धि वादिदेव के नाम से हुई। अनेक स्थानो मे शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त कर उन्होंने जैन धर्म की विशेष प्रभावना की।

गुरु-परम्परा

वादिदेवसूरि के गुरु सुविहित परपरा के मुनिचन्द्रसूरि थे।[1] मुनिचद्रसूरि उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि के गुरु बधु थे। उपाध्याय आम्रदेव बड़गच्छ के आचार्य उद्योतनसूरि के शिष्य थे। बडगच्छ के सर्वदेवसूरि द्वारा नेमिचन्द्रसूरि की आचार्य पद पर नियुक्ति हुई थी। नेमिचन्द्रसूरि ने मुनिचन्द्रसूरि को अपना पट्टधर घोषित किया। न्याय-विद्या का अध्ययन मुनिचन्द्रसूरि ने पाटण मे वादिवेताल शान्त्याचार्य के पास किया था। वादिदेवसूरि नेमिचन्द्रसूरि के पट्टधर मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे।

जन्म एव परिवार

आचार्य वादिदेव वैश्य वशज थे। प्राग्वाट (पारवाल) उनका गोत्र था। उनके पिता का नाम वीरसेन और माता का नाम जिनदेवी था।[2] गुजरात प्रदेशान्तर्गत अष्टादशशती नामक प्रान्त का मदाहृत नामक नगर उनका जन्मस्थल था। मदाहृत नगर पर्वतमालाओ के बीच बसा हुआ दुर्गम स्थान था, जहा सूर्य की किरणो का प्रवेश भी कठिनता से हो पाता था। प्रबध पर्यालोचन मे प्राप्त उल्लेखानुसार पहाड़ के आस-पास का प्रदेश उस समय अष्टादशशती नाम से पहचाना जाता था और वह गुजरात प्रान्त का एक प्रदेश था। मदाहृत की शब्द रचना "मडार" नगर की ओर सकेत करती है पर वर्तमान का विख्यात नगर मडार पर्वत मालाओ से घिरा हुआ नही है। उसके पश्चिम भाग मे छोटी-सी पहाडी है अत मदाहृत नगर रचना सबधी वर्णन के अनुसार यह स्थान आबू की दक्षिण अपत्यका मे बसा महुआ गाव सभव है जो

वैष्णव का तीर्थस्थल है ।[१]

जीवन-वृत्त

वादिदेवसूरि के पिता वीरनाग श्रेष्ठी प्राग्वाट वंश के गुणवान् व्यक्ति थे । मुक्ता की भांति उज्ज्वल उनका चरित्र था । वादिदेवसूरि की माता जिनदेवी भी सरलाशया, विनम्र, विवेक-संपन्ना एवं साक्षात् देवी रूप थी । एक दिन जिनदेवी ने स्वप्न में चंद्रमा को अपने में प्रवेश करते हुए देखा । उसने अपने स्वप्न की बात अपने गुरु मुनिचन्द्र के सामने कही । मुनिचंद्रसूरि स्वप्न का फलादेश बताते हुए बोले—

देवेन्द्रनिभ. कोऽप्यवततार तवोदरे ।
आनन्दयिष्यते विश्वं येन ते चेत्थमादिशन् ।।१२।।
(प्रभा० च० पृ० १७१)

बहिन ! चन्द्रमा के समान कान्तिमान् तेजस्वी प्राणी का तुम्हारी कुक्षि में अवतार हुआ है । वह प्राणी भविष्य में विश्व के लिए आनन्दकारी होगा । गुरु श्री के मुख से यह बात सुनकर जिनदेवी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । गर्भकाल की सम्पन्नता पर उसने वी० नि० १६१३ (वि० सं० ११४३) में कालिकालादि को भी प्रकम्पित कर देने में वज्रोपम द्युति के समान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । चन्द्र-स्वप्न के आधार पर पिता वीरनाग ने पुत्र का नाम पूर्णचन्द्र रखा ।[२]

वीरनाग श्रेष्ठी नगर में अपने परिवार सहित आनन्द से रह रहे थे । माता-पिता के संरक्षण में चन्द्रकला की भांति बालक पूर्णचन्द्र भी दिन प्रति-दिन विकास पा रहा था । एक दिन नगर में उपद्रव हो गया । उपद्रव से बचने के लिए वीरनाग श्रेष्ठी को गांव छोड़ देना पड़ा । परिवार को लेकर वीरनाग ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया । इधर-उधर घूमता हुआ श्रेष्ठी परिवार लाट देश के प्रसिद्ध नगर भृगुकच्छ (भरूच) में पहुंच गया । पुण्योदय से व्यक्ति को दूर अनजाने प्रदेश में भी अनुकूल सहयोग मिल जाया करता है । वीरनाग श्रेष्ठी के शुभ-संयोग से अपने ही गुरु मुनिचन्द्रसूरि का आगमन भी उस समय भृगुकच्छ में हुआ । वीरनाग श्रेष्ठी को गुरू-दर्शन से अत्यन्त प्रसन्नता हुई । धर्मोपासक बन्धुओं ने वीरनाग श्रेष्ठी के रहने की व्यवस्था धार्मिक बन्धुता के कारण मुनिचन्द्रसूरि के पास धर्म स्थान पर ही कर दी । इस व्यवस्था में प्रमुख निमित्त श्रेष्ठी पर मुनिचन्द्रसूरि का विशेष वात्सल्य भाव ही था । श्रेष्ठी वीरनाग का पुत्र बालक पूर्णचन्द्र उस

समय लगभग ८ वर्ष का था। वह अपनी योग्यतानुसार वाणिज्य करने लगा। वस्तुओं को बेचने के लिए वह घर-घर मे जाया करता था। बालक की मीठी सरल वाणी सुनकर लोग प्रसन्न होते, वे उसे खुशी में खाने के लिए मधुर दाख आदि प्रदान किया करते थे।

दुर्भाग्य से किसी श्रेष्ठी के घर मे स्वर्ण मोहरे और सिक्के कोयले या पत्थर के टुकड़े बन गए थे। श्रेष्ठी उन्हे व्यर्थ समझकर अवकर पर गिरा रहा था। बालक पूर्णचन्द्र ने यह देखा और विस्मित होकर बोला—

"आप जीवनौषध के समान इस बहुमूल्य स्वर्ण जैसी द्रव्य राशि को क्यो फेक रहे है ?"

श्रेष्ठी समझदार, चतुर और विवेक सम्पन्न था। उसने सोचा—यह कोई पुण्यवान् बालक है। जो स्वर्ण सिक्के मेरी दृष्टि मे ककर, पत्थर और कोयले मात्र रह गये हैं, वे इसे अवश्य ही अपने असली रूप मे दिखाई दे रहे है। बुद्धिमान् श्रेष्ठी ने बास से बना पात्र बालक को दिया और कहा—प्रिय पुत्र! मेरे द्वारा फेका जाने वाला द्रव्य इस "पात्र" मे भरकर तुम मुझे दे दो। बालक ने वैसा ही किया। पत्थर के टुकडो की तरह दीखने वाले सिक्के और मोहरे बालक के स्पर्श मात्र से स्वर्ण सिक्को के रूप मे बदल गए। श्रेष्ठी बालक पर बहुत प्रसन्न हुआ और एक स्वर्ण सिक्का उसे प्रदान कर दिया। बालक घर लौटा। सिक्का अपने पिता के हाथ मे दिया। पिता वीरनाग ने पुत्र से सारा वृत्तान्त सुनकर मुनिचन्द्रसूरि को निवेदन किया। मुनि चन्द्रसूरि ने सोचा—यह बालक क्या कोई उत्तम पुरुष है—

दर्शयंती स्वरूपाणि लक्ष्मीर्यस्याभिलाषुका ॥२७॥

(प्रभा० च० पृष्ठ १७१)

लक्ष्मी स्वयं अपना रूप इसके सामने प्रकट कर रही है। चन्द्रमा के समान ज्योति उसके चेहरे पर चमक रही है। यह मुनि बनकर जैन शासन की उन्नति करेगा। मुनिचन्द्रसूरि ने श्रेष्ठी वीरनाग से कहा—"तुम्हारे इस पुत्र को हमारे धर्मसघ के लिए समर्पित कर दो।" श्रेष्ठी वीरनाग बोला—गुरुदेव! मेरे एक ही पुत्र है। मैं वृद्ध हो गया हूं। किसी प्रकार का व्यवसाय करने मे मैं असमर्थ हूं। इसकी माता भी वृद्ध हो गई है। हमारी वृद्धावस्था मे सहारा देने वाला यही एक कुलदीप है। अत मै इसका धर्मसंघ के लिए समर्पण कैसे कर सकता हूं ? मुनिचन्द्र बोले—मेरे पाच सौ शिष्य सब तुम्हारे पुत्र हैं। गुरु के आग्रह पर पिता वीरनाग, माता जिनदेवी ने अपने पुत्र को

गुरूदेव के चरणो मे भेंट कर दिया। मुनिचन्द्रसूरि योग्य बालक को पाकर प्रसन्न हुए। उन्होने पूर्णचन्द्र को वी०नि० १६२२ (वि०म० ११२५) में मुनि-दीक्षा प्रदान की। दीक्षा ग्रहण करते समय बालक पूर्णचन्द्र की उम्र ६ वर्ष की थी। नव दीक्षित मुनि का नाम रामचन्द्र रखा गया।[1]

रामचन्द्र मुनि प्रखर प्रतिभासम्पन्न थे। वे आचार्य मुनिचन्द्र मे न्याय-विषयक दुखबोध ज्ञान ग्रहण करने मे मफल सिद्ध हुए। जैनेतर सिद्धान्तो का उन्होने गम्भीर अध्ययन किया। शास्त्रार्थ करने मे भी वे अत्यन्त निपुण थे।

शिवाद्वैत वदन् धन्ध पुरे धवलके द्विज ।
काश्मीर मागरो जिग्ये वादात् सत्यपुरे पुरे ॥३६॥
तथा नागपुरे क्षुण्णो गुणचन्द्रो दिगबरः ।
चित्रकूटे भागवत शिवभूत्याख्यया पुन ॥४०॥
गगाधरो गोपगिरौ धाराया धरणीधर ।
पद्माकरो द्विज. पुष्करिण्या वादमदोद्धुर ॥४१॥
जितश्च श्रीभृगुक्षेत्रे कृष्णाख्यो ब्राह्मणाग्रणी ।
एव वादजयोन्मुद्रो रामचन्द्र क्षितावभूत् ॥४२॥

(प्रभा० च० पृष्ठ १७२)

धवलक नगर मे शैव मत समर्थक धन्ध नामक ब्राह्मण विद्वान् के साथ, सत्यपुर नगर मे काश्मीर निवासी सागर विद्वान् के साथ, नागपुर मे दिगम्बर मनीषी गुणचन्द्र के साथ, चित्रकूट (चित्तौड) मे भागवत मतानुयायी शिवभूति के साथ, गोपगिरि (ग्वालियर) मे गगाधर के साथ, धारा मे धरणीधर के साथ, पुष्पकरिणी मे पद्माकर ब्राह्मण पडित के साथ, भृगुकच्छ मे ब्राह्मणाग्रणी कृष्ण के साथ शास्त्रार्थ कर रामचन्द्र मुनि विजय को प्राप्त हुए थे।

विद्वान् विमलचन्द्रोऽथ हरिचन्द्र प्रभानिधि ।
सोमचन्द्र पार्श्वचन्द्रो विबुध कुलभूषण ॥४३॥
प्राज्ञ शान्तिस्तथाऽशोकचन्द्रश्चन्द्रोल्लसद्यशा ।
अजायन्त सखायोऽस्य मेरोरिव कुलाचला. ॥४४॥

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १७२)

विमलचन्द्र, हरिचद्र, सोमचद्र, पार्श्वचद्र, शान्तिचंद्र और अशोकचंद्र— ये छह विद्वान् मुनि रामचद्र के वाग्मित्व से प्रभावित होकर उनके परम सखा बन गए।

मुनिचंद्रसूरि ने शास्त्रार्थ निपुण, चर्चावादी, न्यायशास्त्र विशेषज्ञ अपने

परम योग्य शिष्य रामचद्र को वी० नि० १६६४ (वि० ११७४) में आचार्य पद पर नियुक्त किया ।[१] मुनि रामचंद्र का नाम आचार्य पदारोहण के समय देव रखा गया । इसी अवसर पर चन्दनबाला नामक साध्वी को महत्तर पद से अलकृत किया गया ।[२] साध्वी चन्दनबाला श्रेष्ठी वीरनाग की बहिन थी और मुनि रामचद्र (वादिदेवसूरि) की बुआ थी ।

आचार्य मुनिचन्द्र के आदेश मे वे स्वतन्त्र विहरण करने लगे । एक बार वे धवलक नगर मे पहुंचे[४] । वहा जैन धर्म की महती प्रभावना हुई । धवलक नगर के श्रमणोपासको मे उदय नामक श्रावक प्रमुख था और धर्म प्रचारक कार्य मे वह महान् सहयोगी था ।[१]

एक बार देवसूरि ने नागपुर (मारवाड) मे विहरण करने के उद्देश्य से यात्रा प्रारम्भ की । मध्यवर्ती ग्रामो का स्पर्श करते हुए वे आबू पहुंचे । आबू की चढाई करते समय पाटण नरेश का मत्री अम्बाप्रसाद भी उनके साथ था । मत्री अम्बाप्रसाद को साप ने काट लिया । किसी भी प्रकार की अन्य चिकित्सा का सहारा न लेकर देवसूरि के पाद प्रक्षालित जल से सर्पदशित स्थान को धोया गया । चरणोदक के स्पर्श से जहर उतर गया ।[१] लोग इस चामत्कारिक प्रयोग को देखकर विस्मित हुए । जन-जन की जबान पर देवसूरि का नाम गूजने लगा । आबू की यात्रा सानन्द सम्पन्न हुई ।

यहा से देवसूरि का विहार नागपुर की ओर होने वाला था । अम्बादेवी ने साक्षात् प्रकट होकर उनको कहा—"बहुमानपूर्वक मैं आपसे निवेदन करती हू , आपका इस समय पुन पाटण की ओर विहार उपयुक्त है । गुरुदेव का आयुष्य आठ मास का बाकी रहा है ।" यह कहकर देवी अन्तर्धान हो गई । देवसूरि ने देवी के वचनो के आधार पर नागपुर की यात्रा स्थगित कर, आबू मे गुजरात की ओर प्रस्थान किया । वे पाटण गए । गुरु-दर्शन कर प्रसन्न हुए । अम्बादेवी के वचनो को गुरु के समक्ष उन्होने यथावत् निवेदन किया ।

देवी वचनो से अपनी मृत्यु के काल का बोध प्राप्त कर अभयवृत्ति के साधक मुनिचद्रसूरि को अत्यन्त आनन्द की अनुभूति हुई ।

एक दिन पाटण नगर के भागवत दर्शन को मानने वाला उद्भट्ट विद्वान् देवबोध आया । कई शास्त्रार्थों मे विजय प्राप्त होने के कारण उसे अपनी ज्ञानशक्ति और वादशक्ति पर गर्व था । राजसभा के द्वार पर उसने एक लघुपट्टिका लटका दी जिस पर एक श्लोक लिखा हुआ था—

एकद्वित्रिचतु पचषण्मेनकमने न का ।
देवबोधे मयि क्रुद्धे षण्मेनकमनेनका ॥६३॥

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १७३)

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ करने के लिए नगर के सभी विद्वान् आमन्त्रित थे। छ महीने बीत गए। कोई भी विद्वान् श्लोक का अर्थ न बता सका। उस समय मत्री अम्बाप्रसाद ने सिद्धराज से निवेदन किया, राजन् ! सुज्ञशिरोमणि आचार्य वादिदेवसूरि प्रस्तुत श्लोक का अर्थ करने मे समर्थ है। मत्री की सलाह पर नरेश ने देवसूरि को राजसभा मे आमंत्रित किया। राजनिमत्रण पर देवसूरि आये। गिरिनन्दी का प्रवाह जैसे पर्वतशिला को भेद देता है उसी प्रकार पक्ति का भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ करके देवसूरि ने राजसभा मे नरेश के समक्ष श्लोक की स्पष्ट व्याख्या की। सभी सभासद इस प्रकार की व्याख्या सुनकर प्रसन्न हुए। राजा भी सन्तुष्ट थे, जैन धर्म की विशेष प्रभावना हुई।

मुनिचन्द्रसूरि ने मृत्युकाल नजदीक जानकर अनशन किया। परम समाधि की अवस्था मे उनका वीर निर्वाण १६८४ (वि० ११७८) मे स्वर्गवास हुआ।" शासनदेवी की बात सत्य प्रमाणित हुई।

मुनिचद्रसूरि के स्वर्गवास के बाद वादिदेवसूरि मारवाड की तरफ आए। विद्वान् देवबोध के द्वारा वादिदेवसूरि की प्रशसा सुनकर नागपुर के राजा ने उनका भारी स्वागत किया।

इस समय पाटण नरेश सिद्धराज ने नागपुर पर आक्रमण किया और चारो ओर से नरेश को घेर लिया था पर नरेश को जब यह ज्ञात हुआ देवसूरि यही विराजमान हैं—मध्यस्थितेऽत्र तन्मित्रे दुर्ग लातु न शक्यते। मित्र देवसूरि के यहा रहते विजय पाना कठिन है—यह सोच सिद्धराज ने चुपचाप अपना घेरा उठा लिया तथा अपने देश की ओर प्रस्थान कर दिया। संत जनो का प्रभाव कोई अद्वितीय ही होता है। पाटण पहुंचकर नरेश सिद्धराज ने देवसूरि को अपने देश मे बुला लिया। उसके बाद पुन आक्रमण कर पाटण नृपति ने नागपुर के किले को अपने हस्तगत किया। नागपुर यात्रा के बाद देवसूरि का प्रथम चातुर्मास पाटण मे और द्वितीय चातुर्मास कर्णावती मे हुआ। दिगम्बर विद्वान कुमुदचद्र का पावस प्रवास भी वही था। इस प्रवास के बाद दोनो पाटण आए। पाटण के अधिपति सिद्धराज की अध्यक्षता मे वी० नि० १६५१ (वि० सं० ११८१) मे वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन देवसूरि का दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ।" केशव

आदि तीन विद्वान् एवं कई नागरिकजन विद्वान् कुमुदचन्द्र के पक्ष का तथा भाभू (भानु) और महाकवि श्रीपाल आचार्य देवसूरि के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।"

'तस्मिन् महर्षिरुत्साहः सागरश्च कलानिधिः ।
प्रज्ञाभिरामो रामश्च नृपस्यैते सभासद ॥२१०॥'

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १७६)

महर्षि उत्साह, कलानिधि सागर और प्रज्ञाभिराम राम ये तीन विद्वान् राजा के प्रमुख सभासद थे।

कोषाध्यक्ष गागिल का पूरा सहयोग विद्वान् कुमुदचद्र के पक्ष को प्राप्त था।" पाटण के श्री सम्पन्न श्रेष्ठी थाहड और नागदेवसूरि के पक्ष मे थे।" इन दोनो ने देवसूरि से निवेदन किया था—आर्यदेव शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त हेतु हमारे द्वारा अर्जित धन का यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

इन दोनो की भावपूरित भावना सुनकर देवसूरि बोले—धर्मानुरागी आर्यजनो! शास्त्रार्थ मे धनबल से अधिक प्रज्ञाबल आवश्यक है। देव, गुरु की कृपा से सब ठीक होगा।

देवसूरि के शब्दो मे दृढ आत्मबल प्रकट हो रहा था। इस शास्त्रार्थ मे दोनो पक्षो द्वारा एक प्रतिज्ञा पत्र स्वीकृत किया गया था जिसका भावार्थ था—दिगम्बरो की शास्त्रार्थ मे पराजय होने पर पाटण छोडकर दक्षिण चले जायेगे, श्वेताम्बर पक्ष की पराजय होने पर अपनी मान्यता परित्याग कर दिगम्बरत्व स्वीकार कर लेगे।"

नागरिक जन भी इस शास्त्रार्थ को सुनने के लिए उत्सुकता से उपस्थित थे। दिगबर और श्वेताबर दोनो की ओर से अपनी-अपनी मान्यताओ का युक्ति पुरस्सर प्रतिपादन एव विपक्ष का निरसन किया गया था।

देवसूरि ने स्त्री-मुक्ति विषय के समर्थन मे मुक्तिगामिनी मरुदेवी माता आदि के उदाहरणो की प्रस्तुति के साथ राजमाता की ओर सकेत करते हुए कहा—राजमाता मयणल्ला महान् सत्त्वशालिनी हैं अत महिलाओ को तुच्छसत्वा कौन कह सकता है? ये महिलाएं भी अपने सत्त्व और पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति साम्राज्य को प्राप्त करने मे नि:सन्देह समर्थ है।

देवसूरि ने शान्त्याचार्य रचित उत्तराध्ययन की टीका के आधार पर इतने विकल्प प्रस्तुत किए, इन विकल्पो को श्रोताओं द्वारा ग्रहण कर पाना कठिन हो गया था।

देवसूरि की इस शास्त्रार्थ मे विजय हुई।[१७] राजा के द्वारा लिखित राजपत्र एव तुष्टि दान देकर देवसूरि का सम्मान किया गया। अपरिग्रही-देवसूरि द्वारा यह दान अस्वीकार कर दिए जाने पर अन्य धार्मिक प्रवृत्तियों मे इस अर्थ राशि का उपयोग हुआ। इस विजय के बाद देवसूरि वादिदेवसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस शास्त्रार्थ मे विद्वान् राजवैतालिक सिद्धान्त प्रवीण श्रीचद एव युवा मत हेमचद्राचार्य भी उपस्थित थे। तीनो विद्वानो ने इस शास्त्रार्थ की भूरि-भूरि प्रशसा की। हेमचन्द्राचार्य ने कहा—

यदि नाम कुमुदचद्र नाजेष्यद् देवसुरिरहिमरुचि.।
कटिपरिधानमधास्यत कतम श्वेताम्बरो जगति ॥२५१॥
(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १८०)

इस शास्त्रार्थ मे देवसूरि के हेमचन्द्राचार्य महान् सहयोगी थे। शास्त्रार्थ से पूर्व दिगम्बर मतानुयायी ने राजमाता को श्वेताम्बर मत का बोध देकर अपने पक्ष के अनुकूल बना लेने का कार्य हेमचन्द्राचार्य ने किया था।

यह सारा प्रकरण प्रभावक चरित्र ग्रथ के वादिदेवसूरि प्रबन्ध मे प्राप्त है जो उस समय की शास्त्रार्थ पद्धति एवं वादरसिक मनोवृत्ति की जानकारी देता है।

आचार्य वादिदेव ने मारवाड गुजरात आदि क्षेत्रो मे धर्मप्रचार किया। अपने पद पर उन्होने शिष्य भद्रेश्वर को नियुक्त किया।[१८]

साहित्य

आचार्य वादिदेव कुशल साहित्यकार थे। विभिन्न दर्शनो का अवगाहन कर उन्होने 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालकार' की रचना की थी। यह ग्रंथ ३७४ सूत्र और ८ परिच्छेदो मे निबद्ध न्यायविषयक मौलिक रचना है।

इस ग्रथ पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक स्वपज्ञ टीका भी है।[१९]

आचार्य वादिदेव आचार्य सिद्धसेन कृतियो के प्रमुख पाठक थे। दिवाकरजी का 'सन्मति तर्क' उनका प्रिय ग्रथ था। 'स्याद्वाद-रत्नाकर' की रचना मे स्थान-स्थान पर उन्होने 'सन्मति तर्क' का उल्लेख किया है।

आचार्य वादिदेव की शिष्य मण्डली मे भद्रेश्वर और रत्नपुत्र नामक विद्वान् श्रमण थे। 'स्याद्वाद-रत्नाकर' की रचना मे इन दोनो शिष्यो का उन्हे पूर्ण सहयोग था।

समय-संकेत

वादिदेवसूरि ६ वर्ष की अवस्था मे मुनि बने, २१ वर्ष की अवस्था मे सूरिपद पर सुशोभित हुए, कुल सयम पर्याय का ७४ वर्ष तक पालन कर एव सूरिपद को लगभग ६२ वर्ष तक अलकृत कर आचार्य वादिदेव वी० नि० १६६६ (वि० स० १२२६) श्रावण कृष्णा सप्तमी के दिन ८३ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गगामी बने ।[१]

आचार्य वादिदेव के जीवन से सबद्ध विशेष घटनाओ के काल परिचायक सवत् निम्नोक्त श्लोकों में है—

रसयुग्मरवौ वर्षे (१२२६) श्रावणे मासि सगते ।
कृष्णपक्षस्य सप्तम्यामपराह्णे गुरोर्दिने ।।२८४।।
मर्त्यलोकस्थित लोक प्रतिबोध्य पुरदरम् ।
बोधका इवते जग्मुर्दिव श्रीदेवसूरय ।।२८५।।
शिखिवेदशिवे (११४३) जन्म दीक्षा युग्मशरेश्वरे (११५२) ।
वेदाश्वशकरे वर्षे (११७४) सूरित्वमभवन् प्रभो ।।२८६।।
नवमे वत्सरे दीक्षा एकविंशत्तमे तथा ।
सूरित्व सकलायुश्च त्र्यशीतिवत्सरा अभूत् ।।२८७।।

प्रभावक चरित्र पृष्ठ १८१

आधार-स्थल

१ अन्वये गुरवस्तस्य श्रीमुनिचन्द्रसूरय ।
सन्ति शान्तिकमन्त्राणि येषा नामाक्षराण्यपि ।।१०।।

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १७१)

२ मद्वृत्ताज्जीवनच्छायो राजमान स्वतेजसा ।
प्राग्वाटवशमुक्तासीद् वीरनागाभिधो गही ।।७।।
तत्प्रिया सत्क्रियाधारा प्रियकरगुणावनि ।
जिनदेवीति देवीव मेना हिमवतो बभौ ।।८।।

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १७१)

३ प्रबन्ध पर्यालोचन पृ० ६१

४. हृदयानन्दने तत्र वर्धमाने च नन्दने ।
चन्द्रस्वप्नात् पूर्णचन्द्र इत्याख्या तत्पिता व्यधात् ।।१४।।

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १७१)

५. तदम्बा च यथादेशकारिणीमनुमान्य च ।
पूर्णचन्द्रं दृढाभक्ति प्रभव: ममदीक्षयन् ।।२५।।
रामचन्द्राभिधा तस्य ददुरानन्दनाकृते ।
दर्शनोल्लामिन: सङ्घमिन्धुवृद्धिविधायिन. ।।३६।।
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७२)

६. ततो योग्य परिज्ञाय रामचन्द्र मनीषिणम् ।
प्रत्यष्ठिपन् पदे दत्तदेवसूरिवराभिधम् ।।४५।।
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७२)

७ महत्तराप्रतिष्ठा च व्यधुर्विधुरिताहस: ।
श्रीमच्चन्दनबालेति नामास्या: प्रदधुर्मुदा ।।४७।।
(प्रभावक चरित पृ० १७२)

८. अन्यदा गुर्वनुज्ञाता. श्रीमन्तो देवसूरय ।
विहारमादधु. पूज्या: पुरे धवलकाभिधे ।।४८।।
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७२)

९ उदयो नाम तत्रास्ति विदितो धार्मिकाग्रणी: ।
श्रीमत्सीमधरस्वामिविम्बं मैष व्यधापयत् ।।४९।।
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७२)

१०. मन्त्रिणोऽम्बप्रसादस्य गिरिमारोहत सह ।
गुरुभि कर्मवैचित्र्याद् दन्दशूकोऽदशत् पदे ।।५४।।
ज्ञात्वा ते प्रेषयंस्तस्य हेतु पादोदकं तदा ।
धौतमात्रे तदा तेन दशोऽसौ निर्विषाऽभवत् ।।५५।।
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७२)

११. शतैकादशके साष्टामप्ततौ विक्रमार्कत ।
वत्सराणा व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरय ।।७१।।
आराधनाविधिश्रेष्ठ कृत्वा प्रायोपवेशनम् ।
शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिव ययु ।।७२।।
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७३)

१२. चन्द्राष्टशिववर्षेऽत्र (११८१) वैशाखे पूर्णिमादिने ।
आहूतौ वादशालाया तौ वादिप्रतिवादिनौ ।।१९३।।
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७८)

१३. देवाचार्यश्च भाभूश्च श्रीपालश्च महाकवि ।
पक्षे दैगंबरे तत्र केशवत्रितयं मतम् ॥२१२॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७६)

१४ अथाह थाहडो नाथाशाम्बरेण धनव्ययात् ।
तत्रस्थेन धनाध्यक्षाद्वशिता गागिलादय ॥१५७॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७७)

१५. एकाग्रमानसौ तत्र शासने पक्षपातिनौ ।
थाहडो नागदेवश्च सह चाजग्मतुर्मुदा ॥२०१॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७८)

१६. दिगम्बरो विजीयेत चेत् तन्यकारपूर्वकम् ।
निर्वास्योऽतः पुराद् धृत्वा परिस्पन्द स चौरवत् ॥१८२॥
अथ श्वेताम्बरो हारयेत् तत्तस्य शासनम् ।
उच्छिद्याशाम्बरत्वेनावस्थाप्य तै स्थितै किमु ॥२८३॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७८)

१७. महर्षि प्राह सपूर्णा वादमुद्राऽत्र दृश्यते ।
दिगम्बरो जित श्वेताम्बरो विजयमाप च ॥२३०॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १७६)

१८. श्रीभद्रेश्वरसूरीणा गच्छभार समर्प्य ते ।
जैनप्रभावनास्थेमनिस्तुषश्रेयसि स्थिता. ॥२८३॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १८१)

१९. स्याद्वादपूर्वक रत्नाकरं स्वादुवचोऽमृतम् ।
प्रमेयशतरत्नाढ्यममुक्त स किल श्रिया ॥२८०॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १८१)

२०. इति श्रीदेवसूरीणामसख्यातिशयस्पृशाम् ।
वर्षाणा त्र्यधिकाशीतिरत्यक्रामदतन्द्रिणाम् ॥२८२॥
(प्रभावक चरित पृष्ठ १८१)

९३. कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र

श्रीहेमचन्द्रसूरिणामपूर्व वचनामृतम् ।
जीवातुर्विश्वजीवानां राजचित्तावनिस्थितम् ।।

'आचार्य हेमचन्द्र के वचन समस्त प्राणियों के लिए अमृत तुल्य है।' प्रभाचन्द्राचार्य के इन शब्दों मे अतिरञ्जन नही है। विद्वान् हेमचन्द्र युग संस्थापक आचार्य थे। वे असाधारण प्रज्ञा से सम्पन्न थे। सार्धत्रय कोटि पद्यों की रचना कर उन्होंने सरस्वती के भण्डार को अक्षय-निधि से भरा था। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह को अध्यात्म सन्देश से प्रभावित कर एवं उन- के उत्तराधिकारी नरेश कुमारपाल को व्रत दीक्षा प्रदान कर जैन शासन के गौरव को सहस्र गुणित विस्तार प्रदान किया था। उनके ज्ञान सूर्य की किरणों के प्रसार से गुजरात संस्कृति के प्राण पुलक उठे थे। धरा का कण-कण अध्यात्म-आलोक से जगमगा उठा था। सामाजिक, राजनैतिक जीवन मे भी नव चेतना का जागरण हुआ। साहित्य संस्थान को नया रूप मिला था। कला सजीव हो गई थी। गुजरात राज्य मे यह काल जैन धर्म के परम उत्कर्ष का काल था।

गुरु-परम्परा

प्रभावक चरित्र ग्रंथ के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र के गुरु चन्द्रगच्छ के देवचन्द्रसूरि थे। देवचन्द्रसूरि के गुरु प्रद्युम्नसूरि थे।[1]

प्रबन्ध कोश के अनुसार हेमचन्द्रसूरि की गुरु-परम्परा पूर्णतल्ल गच्छ से सम्बन्धित थी। पूर्णतल्ल गच्छ मे श्रीदत्तसूरि हुए थे। श्रीदत्तसूरि के शिष्य यशोभद्र, यशोभद्र के पट्टशिष्य प्रद्युम्नसूरि, उनके पट्टशिष्य गुणसेनसूरि हुए थे। श्री गुणसेनसूरि के पट्टशिष्य देवचन्द्रसूरि तथा उनके शिष्य हेमचन्द्राचार्य थे।[2]

'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक काव्य में श्री हेमचन्द्रचार्य ने अपना सम्बंध पूर्णतल्ल गच्छ से बताया है।[3]

चन्द्रगच्छ यथार्थ मे गच्छ नहीं चन्द्रकुल था। यह चन्द्रकुल कोटिक गण से सम्बन्धित था। कोटिक गण से अनेक शाखाओ, प्रशाखाओं एवं अवान्तर

गच्छों का विकास हुआ। उसमे एक पूर्णतल्ल गच्छ भी था जिसका चन्द्र-गच्छ से उद्भव हुआ था।[५]

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र प्रशस्ति महाकाव्य मे भी हेमचन्द्रसूरि की गुरु-परम्परा के सम्बध कोटिक गच्छ वज्रशाखा के अन्तर्गत माना गया है।[६] पूर्व गुरुजनों के नामो का क्रम प्राय. सभी ग्रथो मे समान है।

श्रीदत्तसूरि कई राजाओ के प्रतिबोधक थे। यशोभद्रसूरि राजपुत्र थे एवं महान् तपस्वी सन्त थे। प्रद्युम्नसूरि समर्थ व्याख्याता थे। गुणसेन-सूरि सिद्धान्तों के विशेषज्ञ थे एव शिष्याहिता टीका रचना मे वादिवेताल शान्तिसूरि के प्रेरणास्रोत थे। गुणसेन के उत्तराधिकारी देवचद्रसूरि प्रद्युम्न-सूरि के शिष्य थे। वे गुणसेनसूरि के विद्याशिष्य थे एव हेमचन्द्रसूरि के गुरु थे। दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ करने वाले वादिदेवसूरि हेमचन्द्रसूरि के गुरु देवचन्द्रसूरि से भिन्न थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य हेमचंद्र वणिक् पुत्र थे। उनका जन्म गुजरात प्रदेशातर्गत धन्धुका नगर मे वी० नि० १६१५ (वि० सं० ११४५[१]) मे कार्तिक पूर्णिमा रात्रि के समय मोढ वश मे हुआ था। उनके पिता का नाम 'चाच' एव माता का नाम पाहिनी था। उनका अपना नाम चांदेव था। प्रबधकोश के अनुसार उनके मामा का नाम नेमिनाग था।[२]

जीवन-वृत्त

आचार्य रामचन्द्र के समय मे गुजरात प्रदेशान्तर्गत अणहिल्लपुर (पाटण) नगर मे सिद्धराज जयसिंह का राज्य था। नरेश के कुशल नेतृत्व मे राज्य भौतिक सपदा की दृष्टि से उत्कर्ष पर था। प्रजा सुखी थी। अणहिल्लपुर के अतर्गत धन्धुका भी एक समृद्ध नगर था। नगर मे अनेक वणिक् परिवार रहते थे। उनमे मोढ परिवार विख्यात था। हेमचद्रसूरि के पिता चाच श्रेष्ठी मोढ वश के अग्रणी थे। वे धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। विद्वज्जनों का समान करते थे। उनके पूर्वज मोढेरा ग्रामवासी होने के कारण ही ये मोढ़ वश कहलाते थे। हेमचद्र की माता पाहिनी भी साक्षात् लक्ष्मी रूप थी एव शील गुण सपन्ना थी। जैन धर्म मे उनकी आस्था दृढ थी। हेमचद्र जब गर्भ मे आए, उस समय पाहिनी ने स्वप्न मे अपने को चितामणि रत्नगुरु के चरणों मे भक्ति-भाव से समर्पित करते देखा। प्रबध कोश के अनुसार उसने

स्वप्न में आम्रफल देखा था। उस समय धन्धुका नगर में चांद्रगच्छ से सबधित प्रद्युम्नसूरि के शिष्य देवचद्रसूरि विराजमान थे। पाहिनी ने स्वप्न की बात उनके सामने रखी। स्वप्न का फलादेश बताते हुए गुरु ने कहा— पाहिनी ! तुम्हारी कुक्षि से पुत्र-रत्न का जन्म होगा। वह जैन शासन सागर मे कौस्तुभमणि के तुल्य प्रभावी होगा।[6]

गुरु के वचनो को सुनकर पाहिनी प्रसन्न हुई। विशेष धर्माराधन के साथ वह समय बिताने लगी। कालावधि समाप्त होने पर उसने ई० सन् ११८८ मे कार्तिक पूर्णिमा की मध्य रात्रि मे तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। आकाश पूर्णिमा के चान्द से जगमगा रहा था। धरा भी नए चाद को पाकर मुस्कराई। पाहिनी नंदन के आगमन मे हर्षित हुई। श्रेष्ठी चाच का हृदय भी प्रसन्नता मे भर गया। परिवार का हर सदस्य खुशी से नाच उठा। जन्म के बारहवें दिन उल्लासपूर्ण वातावरण मे पुत्र का नाम चङ्गदेव रखा गया। अभिभावको के समुचित सरक्षण मे बालक दिन-प्रतिदिन बढने लगा।

चङ्गदेव की अवस्था पाच वर्ष की थी उस समय एक दिन पाहिनी पुत्र को साथ लेकर धर्मस्थान पर गई। सयोग से देवचद्रसूरि वहा पधारे हुए थे। पाहिनी धर्माराधना मे व्यस्त हो गई। बाल सुलभ चपलता के कारण चङ्गदेव गुरु के आसन पर बैठ गया। अपने आसन पर स्थित बालक को देखकर गुरु बोले—"पाहिनी तुम्हे अपना वह स्वप्न स्मृत है ? इस बालक के मुख-मण्डल को देखकर तुम्हारे स्वप्न के अनुरूप ही यह तेरा कुलदीप जैन धर्म का विशेष प्रभावक होगा। अत धर्म शासन रूपी नदन वन मे कल्पवृक्ष के समान शोभायमान इस नंदन को अर्पित कर दो।

पाहिनी नम्र स्वरो मे बोली—गुरुदेव ! पुत्र की माग इसके पिता के पास करना उपयुक्त है। देवचद्रसूरि पाहिनी के इस उत्तर से मौन थे। वे बालक के पिता चाच को अच्छी तरह जानते थे। देवचद्रसूरि को मौन और गम्भीर आकृति मे देखकर पाहिनी ने पुन सोचा—गुरु के वचन अलङ्घनीय होते है। धर्म सघ के लिए इस अवसर पर पुत्र को अर्पित कर देना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। मन ही मन इस प्रकार का चिंतन और अपने पूर्व स्वप्न का स्मरण करती हुई, साथ ही अपने पति द्वारा उत्पन्न होने वाली कठिन-स्थिति का भी अनुभव करती हुई पाहिनी न अपने अङ्गज को देवचद्रसूरि के चरणो मे भेट चढा दिया।

देवचद्रसूरि सुयोग्य बालक चङ्गदेव को लेकर स्तम्भन तीर्थ पर गए।

वहा उन्होंने बालक को माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार वी० नि० १६२० (वि० स० ११५०) मे मुनि दीक्षा प्रदान् की। श्रीमान उदयन ने दीक्षा महोत्सव किया। बाल मुनि का नाम सोमचन्द्र रखा गया।[1]

बालक चङ्गदेव के पिता चाच को जब इस स्थिति की जानकारी हुई वह कुपित हुआ। वह देवचंद्रसूरि के पास पहुचा। कर्कश स्वरों में बोलने लगा। उदयन ने मधुर और शात स्वरो मे समझा कर उसके कोप को शात किया।

प्रबध कोश के अनुसार बालक चङ्गदेव मामा नेमिनाग के साथ चन्द्रदेवसूरि की धर्म सभा मे गया। प्रवचन सुना। प्रवचन के बाद श्रावक नेमिनाग ने खडे होकर कहा—मुनिवर्य ! आपका प्रवचन सुनकर मेरा यह भानेज चङ्गदेव ससार से विरक्त हो गया है। यह मुनि दीक्षा स्वीकार करना चाहता है। नेमिनाग ने यह भी बताया—प्रभो ! मेरा यह भानेज जब गर्भ मे था तब मेरी बहिन पाहिनी ने एक ऐसा आम्र-वृक्ष देखा था जिसको स्थानान्तरित करने पर फलवान् बन गया।[2]

देवचन्द्रसूरि ने श्रावक नेमिनाग की बात ध्यानपूर्वक सुनी और बोले—श्रेष्ठिवर्य ! दीक्षा प्रदान के लिए पिता की सहमति आवश्यक है।

बालक चाङ्गदेव को लेकर श्रावक नेमिनाग भगिनी पाहिनी और बहनोई चाच के पास गया। भागिनेय की व्रत ग्रहण की भावना उनके सामने रखी। माता-पिता दोनो इस बात के लिए सहमत नही हुए। उनका विरोध होने पर भी चाङ्गदेव ने मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली।

प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार जब बालक आठ वर्ष का था, तब अपने समवयस्क बालको के साथ क्रीडा करता हुआ देव मन्दिर में पहुंच गया। सयोग से वहा देवचद्रसूरि पधारे हुए थे। अपनी मस्ती मे क्रीडा करता हुआ बालक देवचद्रसूरि के पट्ट पर बैठ गया। बालक के शरीर पर शुभ लक्षणो को देखकर देवचन्द्रसूरि ने सोचा—अय यदि क्षत्रियकुले जातस्तदा सार्वभौम चक्रवर्ती, यदि वणिग्-विप्रकुले जातस्तदा महामात्य, चेद्दर्शन प्रतिपद्यते तदा युगप्रधान इव कलिकालेऽपि कृतयुगमवतारमपि। —यह बालक क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुआ है तो अवश्य ही चक्रवर्ती पद ग्रहण करेगा और वणिक् पुत्र अथवा विप्र पुत्र है तो महामात्य पद को सुशोभित करेगा। धर्मसंघ मे प्रविष्ट होकर यह बालक युग-प्रवर्तक होगा। कलिकाल मे यह कृतयुग का अवतार होगा।

बालक को प्राप्त करने के लिए उन्होने तत्रस्थ नागरिको से एव व्यापारिक बन्धुओ से सम्पर्क स्थापित किया। उनको साथ लेकर चाचिग

वणिक् के घर गए। चाचिग संयोग से वहा नही था। वह दूसरे गांव गया हुआ था। पाहिनी गुणता एवं व्यवहार-कुशल महिला थी। अपने प्राङ्गण में समागत अभ्यागतो का उसने समुचित स्वागत किया। देवचन्द्रसूरि का धार्मिक विधिपूर्वक अभिनन्दन किया। समागत बन्धुओ ने देवचन्द्रसूरि के आगमन का उद्देश्य पाहिनी को बतलाया और धर्मसंघ के लिए पुत्र अर्पण कर देने की बात कही। पुत्र की याचना के लिए ससंघ गुरु का पदार्पण घर पर हुआ है। ऐसे योग्य पुत्र की वह माता है, उसे इसका हर्ष था पर पति के विरोध की आशंका से वह चिन्तित थी। समागत बन्धुजनो के सम्मुख हर्ष मिश्रित आसुओं का विमोचन करती हुई पाहिनी बोली—"गुरुवर्य ! एतस्य पिता नितान्त मिथ्यादृष्टि ', इस बालक के पिता नितान्त मिथ्यादृष्टि हैं। वे घर पर भी नही हैं। मै धर्मसंकट की स्थिति में हूं। उनकी सहमति के बिना यह कार्य कैसे सम्भव हो सकता है !"

पाहिनी को धैर्य से समझाते हुए श्रेष्ठिजन बोले—"बहिन ! तुम अपनी ओर से उसे गुरु को प्रदान कर दो। माता का भी सन्तान पर अपना हक होता है।"

सम्मानित गणमान्य श्रेष्ठिजनो के कथन पर पाहिनी ने अपना पुत्र देवचन्द्रसूरि को अर्पित कर दिया। देवचन्द्रसूरि ने बालक की इच्छा जाननी चाही और उससे पूछा—वत्स ! तू मेरा शिष्य बनेगा ? बालक ने स्वीकृति सूचक सिर हिला कर 'आम' कहकर अपनी भावना प्रकट की और वह शिष्य बनने के लिए सहर्ष तैयार हो गया।

देवचन्द्रसूरि योग्य बालक को पाकर प्रसन्न हुए। वे इसे लेकर कर्णावती पहुंचे। वहा सुरक्षा दृष्टि से बालक को उदयन मन्त्री के पास रख दिया। मन्त्री उदयन जैन धर्म के प्रति आस्थाशील था। श्रेष्ठी चाचिग जब घर आया तब बालक को घर पर न पाकर अत्यन्त दुःखी हुआ। नाना प्रकार के विकार उसके मस्तिष्क में उभरे। पुत्र मिलन पर्यन्त भोजन ग्रहण का परित्याग कर वह वहा से चला। कर्णावती पहुंचकर वह देवचन्द्रसूरि के पास गया। गुरु व्यवहार पर रुष्ट चाचिग अच्छी तरह से वन्दन किए बिना ही अकडकर बैठ गया। देवचन्द्रसूरि मधुर उपदेश से उसे समझाने लगे। मन्त्री उदयन भी श्रेष्ठी चाचिग के आगमन की सूचना पाकर वहां पहुंच गया। मन्त्री उदयन वाक्-निपुण था। वह श्रेष्ठी चाचिग को अत्यन्त आत्मीयभाव के साथ अपने घर पर ले गया। उसके भोजन की समुचित व्यवस्था की। भोजन करा देने के

पश्चात् मन्त्री ने चाङ्गदेव को उसकी गोद मे बैठा दिया। साथ ही तीन दुकूल और तीन लाख मुद्राए भेट की। चाचिग का हृदय देवचन्द्रसूरि की मङ्गल-कारक प्रियावाणी को सुनकर पहले ही कुछ अशो मे परिवर्तित हो गया था। उदयन मन्त्री के शिष्ट और शालीन व्यवहार से वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने कहा—"मंत्रीवर! यह तीन लाख की द्रव्य राशि आपकी उदारता को नही, कृपणता को प्रकट कर रही है। मेरे पुत्र का मूल्य इतना ही नही है, वह अमूल्य है पर आपकी भक्ति भी उससे कम मूल्यवान् नहीं है। आपके द्वारा प्रदत्त मुद्राओ की यह द्रव्य राशि मेरे लिए अस्पृश्य है[११] आपकी भक्ति के सामने नतमस्तक होकर मै अपने पुत्र की भेट आपको चढाता हूं।"

उदयन मत्री ने प्रमुदित होकर श्रेष्ठी चाचिग को गले से लगा लिया और साधुवाद देते हुए कहा—"मुझे अर्पण करने से तुम्हारे पुत्र का वह विकास नही होगा जो विकास गुरु चरणो मे सम्भाव्य है। गुरु की सन्निधि में तुम्हारा यह पुत्र गुरुपद को प्राप्त कर बालेन्दु की तरह त्रिभुवन मे पूज्य होगा। मत्री उदयन के इस परामर्श को स्वीकार करता हुआ श्रेष्ठी चाचिग देवचन्द्रसूरि के पास गया और उसने अपना पुत्र गुरु को समर्पित कर दिया। देवचन्द्रसूरि ने उसे मुनि प्रव्रज्या प्रदान की। मत्री उदयन के सहयोग से श्रेष्ठी चाचिग ने दीक्षा महोत्सव किया।

मुनि दीक्षा ग्रहण का संवत् समय प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्धकोश आदि मे उल्लिखित नही हुआ है, पर इन ग्रंथो मे प्राप्त प्रसङ्गानुसार पाहिनी ने चङ्गदेव को गुरु चरणो मे समर्पित किया, उस समय बालक की अवस्था आठ वर्ष की थी।[१२] इस आधार पर मुनि दीक्षा ग्रहण का यह समय वी० नि० १६२४ (वि० ११५४) था। ज्योतिष कालगणना के आधार पर वि० सं० ११५४ माघ शुक्ला चतुर्दशी को शनिवार का योग पडता है। अत यह संवत् प्रमाणित प्रतीत होता है। प्रभावक चरित्र मे उल्लिखित मुनि दीक्षा ग्रहण का समय वि० स० ११५०[१३] माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार ज्योतिष शास्त्र दृष्टि से विवादास्पद है।

नवदीक्षित बालक चागदेव का दीक्षा नाम गुरु के द्वारा सोमचन्द्र रखा गया। मुनि सोमचन्द्र अपने शीतल स्वभाव के कारण यथार्थ मे सोमचन्द्र ही थे। उनकी प्रतिभा प्रखर थी। तर्कशास्त्र, लक्षणशास्त्र एव साहित्य की अनेक विध विधाओ का उन्होने गम्भीर अध्ययन किया। एक पद से शत-सहस्र पदो का बोध करने वाली शीघ्रग्राही बुद्धि को प्राप्त करने के लिए मुनि हेम-

चन्द्र ने सोचा—काश्मीर निवासिनी विद्याधिष्ठात्री सरस्वती देवी की आराधना करनी चाहिए। उन्होंने अपने विचार देवचन्द्रसूरि के सामने रखे। गुरु का आदेश प्राप्त कर कई गीतार्थ मुनियों के साथ उन्होंने काश्मीर की ओर प्रयाण किया। रेवतावतार नामक तीर्थ स्थान पर नेमिचैत्य मे वे रुके। रात्रि मे सोमचन्द्र मुनि ने ध्यान किया। उस समय सरस्वती देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा—"निर्मलमति वत्स ! तुम्हे देशान्तर मे जाने की आवश्यकता नही है। तुम्हारी भक्ति पर मै सन्तुष्ट हूं। तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।" यह कहकर देवी अदृश्य हो गई। सोमचन्द्र मुनि को इस प्रकार सरस्वती की महान् कृपा प्राप्त हुई। यथेप्सित वरदान की उपलब्धि हो जाने के बाद मुनि सोमचन्द्र ने आगे की काश्मीर यात्रा स्थगित कर दी। वे पुन गुरु चरणों मे लौट आए। कुछ ही वर्षों मे सोमचन्द्र मुनि दिग्गज विद्वानों की गणना में आने लगे। गुरु ने धर्मधुरा धौरेय श्रमण सोमचन्द्र को योग्य समझकर वी० नि० १६३६ (वि० ११६६) वैशाख तृतीया के दिन मध्याह्न मे आचार्य पद पर नियुक्त किया।[14]

आचार्य पद प्राप्ति के समय सब प्रकार से ग्रह बलवान थे एव लग्न वृद्धिकारक थे। इस समय उनकी अवस्था २१ वर्ष की थी। आचार्य पद प्राप्ति के बाद उनका नाम हेमचन्द्र हुआ।

उनकी माता पाहिनी ने भी श्रमण दीक्षा ग्रहण की और उन्हे प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित किया गया।[15] हेमचन्द्र की कीर्ति आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते ही विस्तार पाने लगी।

राजवंश

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन मे सिद्धराज जयसिह और भूपाल कुमारपाल का योग वरदान रूप सिद्ध हुआ। गुजरात रत्न सिद्धराज से आचार्य हेमचन्द्र का प्रथम मिलन अणहिल्लपुर पाटण मे हुआ था। गुरु देवचन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद हेमचन्द्राचार्य खंभात से पाटण आए थे। उस समय पाटण पर चौलुक्य वशी नरेश सिद्धराज जयसिह का शासन था। एक बार का प्रसङ्ग है—अणहिल्लपुर पाटण के राजमार्ग पर बडी भीड के साथ गजारूढ़ नरेश को सामने से आते हुए देखकर आचार्य हेमचन्द्र एक तरफ किसी दुकान पर खड़े हो गए थे। सयोग से नरेश का हाथी भी उनके पास आकर रुक गया। उस समय हेमचन्द्र ने एक श्लोक बोला—

कारय प्रसर सिद्ध ! हस्तिराजमशङ्कितम्।
त्रस्यन्तु दिग्गजा किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यत ॥

राजन् ! गजराज को निःसंकोच आगे बढ़ाओ। रुको मत। हाथियों के त्रास की आप चिन्ता न करें। इस धरती का उद्धार आपसे हुआ है। पाटण-नाथ हेमचन्द्र के बुद्धिबल से अत्यन्त प्रभावित हुआ। उस दिन के बाद नरेश के निवेदन पर आचार्य हेमचन्द्र का पदार्पण पुनः-पुनः राजदरबार में होने लगा।

हेमचन्द्राचार्य ने "सिद्धहेमशब्दानुशासन" नामक व्याकरण ग्रन्थ रचा। इसके साथ इतिहास का मनोरम अध्याय निबद्ध है।

गुजरात रत्न सिद्धराज जयसिंह मालव से विजय-माला पहनकर लौटे। लक्ष्मी उनके चरणों में लौट रही थी। सब ओर से बधाइयां प्राप्त हो रही थीं। स्वागत गीत गाए जा रहे थे, पर सरस्वती के स्वागत के बिना उनका मन खिन्न था। मालव राज्य का मूल्यवान् साहित्य उनके कर-कमलों की शोभा बढ़ा रहा था, पर उनके पास न कोई अपनी व्याकरण और न जीवन को मधुर रस से ओत-प्रोत कर देने वाली काव्यों की अनुपम सम्पदा थी। मालव ग्रन्थालय के एक विशाल ग्रन्थ को देखकर सिद्धराज जयसिंह ने पूछा—"यह क्या है ?" ग्रन्थालय में नियुक्त पुरुषों ने कहा—"राजन् ! यह भोज नरेश का स्वरचित सरस्वती कण्ठाभरण नामक विशाल व्याकरण है। विद्वद् शिरोमणि नरेश भोज शब्दशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, निमित्तशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, राज सिद्धान्त, वास्तु विज्ञान, अङ्कशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों के रचनाकार थे। प्रश्न चूडामणि मेघमाला, अर्थशास्त्र आदि ग्रथ भी उनके हैं।[१६]

सिद्धराज जयसिंह विद्याप्रेमी था। उसने इस कमी की पूर्ति के लिए महान् प्रतिभाओं को आह्वान किया। तत्रस्थ विद्वानों की दृष्टि महामेधावी आचार्य हेमचन्द्र पर केन्द्रित हुई। नरेश ने हेमचन्द्र को कहा—"मुनि नायक ! लोकोपकार के लिए नए व्याकरण का निर्माण करो। इसमें तुम्हारी ख्याति है और मेरा यश है।[१७]

सिद्धराज जयसिंह का निर्देश पाते ही आचार्य हेमचन्द्र ने अपने को इस कार्य के लिए नियोजित किया। हेमचन्द्राचार्य के कथन पर सिद्धराज जयसिंह ने काश्मीर प्रदेशान्तर्गत प्रवर प्रदेश के भारती कोष से आठ विशाल व्याकरणों की प्रतियां मंगवाई। प्रवर प्रदेश से व्याकरण ग्रन्थों के साथ उत्साह नाम के पण्डित को भेजा गया था।[१७] व्याकरण ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर हेम-चन्द्राचार्य ने पञ्चाङ्गपूर्ण उत्तम व्याकरण ग्रन्थ को रचा।[१८] इस व्याकरण

ग्रन्थ का नाम 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' रखा गया जो नरेश सिद्धराज और आचार्य हेमचन्द्र के सम्मिलित प्रयत्न का सूचक था।

सर्वाङ्ग परिपूर्ण सिद्ध हेमव्याकरण को पाकर गुजरात का साहित्य चमक उठा। हाथी के होदे पर रखकर उस व्याकरण ग्रन्थ का राज्य में प्रवेश कराया गया। वैयाकरणों ने इस व्याकरण ग्रन्थ का सम्यक् प्रकार से अवलोकन कर इसे प्रमाणित किया। विद्वानो और राजपुरोहितो ने तीन वर्षों तक इसका वाचन किया। तीन सौ लिहियो ने बैठकर उसकी प्रतिलिपिया तैयार की।[१०] काश्मीर तक के पुस्तकालयो मे इस व्याकरण ग्रन्थ को सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ। पाटण नरेश द्वारा बीस प्रतिया काश्मीर मे प्रेषित की गई थी।[११]

अंग, बंग, कलिंग लाट, कर्णाटक, कुकुण, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, वत्स, कच्छ, मालव, सिन्धु, सौवीर, नेपाल, पारस, मुरण्ड, हरिद्वार, काशी, गया, कुरुक्षेत्र, कान्यकुब्ज, गौड, श्री कामरूप, सपादलक्ष, जालधरी, सिहल, कौशिक आदि अनेक नगरो मे इस व्याकरण साहित्य का प्रचार हुआ।[१२] ये प्राचीन काल मे सुप्रसिद्ध नगर थे।

गुजरात के पाठ्यक्रम मे भी इसी व्याकरण की स्थापना हुई और उसके अध्यापन के लिए विशेष अध्यापको की नियुक्ति की गई। उनमे प्रमुख अध्यापक कायस्थ कुल का कवि चक्रवर्ती शब्दानुशासन-शासनाम्बुधि-पारद्रष्टा कालक नामक विद्वान् था। वह आठ सुप्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थो का विशिष्ट ज्ञाता था।[१३] छात्रो को कालक सम्यक् प्रकार से व्याकरण ग्रन्थ पढाता और प्रतिमास ज्ञान पञ्चमी के दिन उनकी परीक्षा भी लेता था। परीक्षोतीर्ण छात्रो को राज्य की ओर से कनक, भूषण, कङ्कण, रेशमी वस्त्र, सुखासन आतपत्र आदि का पुरस्कार भी दिया जाता था।[१४]

हेमचन्द्र की प्रवचन शैली भी प्रभावक थी। वे चतुर्मुख जिनालय मे नेमिनाथ चरित्र पर व्याख्यान करते। उनके व्याख्यान को सुनने के लिए जैन, जैनेतर सभी प्रकार के लोगो की उपस्थिति रहती थी। पाण्डव प्रकरण पर ब्राह्मण वर्ग मे चर्चा चली। हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह के सम्मुख ब्राह्मणों के प्रश्नो का तर्कयुक्त समाधान कर सबको निरुत्तर कर दिया।

आचार्य हेमचन्द्र व्यवहार कुशल भी थे। भागवत मत समर्थक विद्वान् देवबोध और राज सम्मानित कवि श्रीपाल में परस्पर तनावपूर्ण वातावरण था। एक बार विद्वान् देवबोध अर्थ-संकट मे उलझ गया और कर्जदार भी बन गया। सहायता के लिए हेमचन्द्राचार्य के पास आया। हेमचन्द्रसूरि ने

उसे आत्मीय भाव से सन्तुष्ट किया। कवि श्रीपाल के साथ उसके मैत्री सम्बन्ध स्थापित करवाए तथा उचित सलाह-सहयोग देकर उसको जीवन-संकट से मुक्त किया।

सिद्धराज जयसिंह के कोई पुत्र न था अत: पुत्र-प्राप्ति की भावना से उन्होने तीर्थयात्राएं की। तीर्थयात्रा मे हेमचन्द्र भी साथ थे। शत्रुञ्जय आदि क्षेत्रो की तीर्थयात्रा सम्पन्न कर गिरनार शिखर से उतर कर सोमेश्वर गए। सोमेश्वर के शिवालय मे आचार्य हेमचन्द्र ने एक श्लोक बोला—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष स चेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥

प्रबन्धकाश

—राग, द्वेष रहित वीतराग प्रभु को मेरा नमस्कार है। फिर वे किसी भी समय, किसी भी देश के हैं और किसी भी नाम से मण्डित है।

वहा से वे कोटिनगर गए। नरेश ने अम्बादेवी के दर्शन किए। हेमचन्द्रसूरि ने वहा तीन दिन का उपवास किया। अम्बादेवी प्रत्यक्ष प्रकट हुई। सिद्धराज नरेश के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध मे पूछने पर देवी ने उत्तर दिया—"पूर्व अन्तराय कर्म के कारण नरेश को पुत्र की प्राप्ति नही होगी। राजा के सम्बन्धी देवप्रसाद का पौत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल सिद्धराज जयसिह का उत्तराधिकारी होगा। देवी अदृश्य हो गई। अपने उत्तराधिकारी का नाम जानकर राजा के मन मे कोई प्रसन्नता नही हुई। प्रत्युत कुमारपाल के प्रति द्वेषाङ्कुर प्रस्फुटित हुआ। नरेश के द्वारा कुमारपाल के लिए षडयन्त्र रचा जाने लगा। स्थिति को जानकर अपने प्राणो को बचाने के लिए कुमारपाल घर से पलायन कर गया। वेश बदल कर वह गुप्त रहने लगा। कई बार वह षडयन्त्र के जाल मे बाल-बाल बच निकला।

एक बार प्राणो की सुरक्षा के लिए कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र की शरण मे पहुंच गया था। पाटण नरेश द्वारा नियुक्त राजपुरुषो को आते देखकर आचार्य हेमचन्द्र ने ताड़पत्रो मे छिपाकर कुमारपाल के प्राणो की रक्षा की थी। यह घटना पाटण नगर की है।

एक बार खम्भात मे हेमचन्द्राचार्य ने क्षुधा से पीड़ित कुमारपाल को किसी श्रावक से बत्तीस द्रमक दिलवाए। उस समय हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल की आकृति और शुभ लक्षणो को देख कर कहा था—वत्स! आज से सातवे वर्ष मे तू पाटण राज्य का अधिकारी बनेगा।"

पाटण नरेश सिद्धराज जयसिंह का देहावसान वी० नि० १६६६ (वि० स० ११८८) मे हुआ।[१५] उनके स्थान पर सुयोग्य कुमारपाल का राज्याभिषेक हुआ।

राजा वास्तव मे किसी के मित्र नही होते, पर हेमचन्द्राचार्य के विशाल एव उदार व्यक्तित्व के कारण जयसिंह नरेश के साथ उनकी मैत्री अन्तिम समय तक बढती ही रही थी।

नरेश कुमारपाल मे सिद्धराज जयसिंह जैसा विद्याप्रेम, कलाप्रेम और साहित्यानुराग नही था। वह धार्मिक वृत्ति का अवश्य था। शिव का परम भक्त था। जैन धर्म के प्रति उसके हृदय मे गहरी आस्था थी। हेमचन्द्राचार्य के व्यक्तित्व से वह अतिशय प्रभावित था। राज्यारोहण के समय कुमारपाल की अवस्था ५० वर्ष की थी[१६] और हेमचन्द्राचार्य की उम्र ५४ की थी। समवयस्क होते हुए भी उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य जैसा था। किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन मे कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य की सम्मति को मूल्यवान् मानता था।

राज्यारोहण के बाद कुमारपाल ने राज्य की स्थिति को सुदृढ करने के लिए सपादलक्ष देश के उद्धत नरेश अर्णोराज के साथ ग्यारह बार आक्रमण किया। हर बार उसे असफलता प्राप्त हुई। मत्री वाहड की सलाह से जैन धर्म की शरण स्वीकार कर १२ वी बार उसने अर्णोराज पर आक्रमण किया। इस युद्ध मे वह विजयी बना। यह समय वी० नि० १६७७ (वि० १२०७) के आसपास बताया गया है। प्रस्तुत घटना-प्रसङ्ग से नरेश की धार्मिक आस्था जैन धर्म के प्रति और अधिक दृढ हो गई। अर्णोराज पर विजय प्राप्त करने के बाद नरेश कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य की सन्निधि मे पहुचा। हेमचन्द्राचार्य ने नरेश को अनेक अहिसा प्रधान जीवनोपयोगी शिक्षाए दी। उनकी शिक्षाओ से प्रभावित होकर नरेश ने मासाहार परिहार आदि कई नियम लिए।[१८]

हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल के राज्यारोहण के सात वर्ष पूर्व ही उसके राजा बनने की घोषणा कर दी थी और उसे मौत के मुख से भी बचाया था। इस उपकार से कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य के प्रति श्रद्धावनत बना हुआ था। उसने एक बार आचार्य के चरणो में राज्य ही समर्पित कर दिया।[१९] हेमचंद्राचार्य ने राज्य के बदले अमारि की घोषणा करवायी तथा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार की प्रेरणा दी।

अमारि की घोषणा से कुछ लोगों को ईर्ष्या हुई उन्होंने कुमारपाल से निवेदन किया—राजन ! कण्टकेश्वरी राजकुल की देवी है। देवी बलि माग रही है, माग पूर्ण न होने पर उसका कोप विनाश का हेतु होगा।

कुमारपाल ने हेमचन्द्राचार्य से परामर्श किया तथा रात्रि मे देवी के सामने पशु छोड दिए और कहा, "देवी की इच्छा होने पर वह स्वयं ही उनका भक्षण ले लेगी।" रात्रि पूर्ण हुई, पशु कुशलतापूर्वक वही खडे थे। प्रतिवादी निरुत्तर हो गए। कुमारपाल के हृदय मे अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा जागृत हुई।

नरेश कुमारपाल करुणार्द्र हृदय था। हेमाचन्द्राचार्य के संपर्क ने उसे अध्यात्मोन्मुख बना दिया था। उस समय पूर्वजों से चली आ रही राज-परंपरा के अनुसार पति वियुक्ता महिला का समग्र धन राजपुरुषो द्वारा ग्रहण कर उसे राजकोष में पहुंचा दिया जाता था। नरेश कुमारपाल ने इस विधान को अवैध बताया और अमान्य ठहराया। पुत्रहीना-दीना दु.खिता विधवा महिला के धन को अग्रहणीय घोषित कर कुमारपाल ने साहस के साथ जिस स्वस्थ नीति और स्वस्थ परपरा की स्थापना की,[१] वह जैन धर्म मे प्रति-पादित अभय, अहिंसा और अपरिग्रह की दिशा मे श्रेष्ठ कदम था।

आचार्य हेमचन्द्र का बढ़ता प्रभाव कइयो के लिए असह्य हो गया। एक दिन कुमारपाल से कुछ व्यक्तियो ने कहा—"हेमचन्द्र अपने ही इष्टदेव की आराधना करता है और अपने मत को श्रेष्ठ समझता है। इतरदेव को महत्त्व प्रदान नही करता।' उदारमना कुमारपाल को यह बात अखरी। एक दिन नरेश ने हेमचन्द्र को सोमेश्वर की यात्रा मे चलने के लिए कहा। प्रत्युत्तर मे हेमचन्द्र तत्काल अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए बोले—"राजन् ! भूखे आदमी को आग्रहपूर्वक निमन्त्रण देने की बात ही कहां है। हम मुनिजनों के लिए तीर्थाटन प्रमुख है। इस कार्य के लिए मै सहर्ष तैयार हूं। राजा ने सुख-पाल आदि वाहन का प्रयोग करने के लिए कहा, पर आचार्य हेमचन्द्र ने इस सुविधा का आश्रय नही लिया। वे बोले—"राजन् ! पदयात्रा के द्वारा ही तीर्थों के पुण्य का लाभ प्राप्त करेगे।" सोमेश्वर के मंदिर मे पहुंचकर हेमचद्रा-चार्य ने श्लोको के द्वारा शिव की स्तुति की।

भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

—भव बीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेष पर जिन्होने विजय

प्राप्त कर ली है, भले वे ब्रह्मा, विष्णु, हरि और जिन किसी भी नाम से संबोधित होते हों, उन्हे मेरा नमस्कार है।

महारागो महाद्वेषो, महामोहस्तथैव च।
कषायश्च हतो येन, महादेव स उच्यते ॥

—जिसने महाराग, महाद्वेष, महामोह और कषाय को नष्ट किया है, वही महादेव है।

प्रबंध चिन्तामणि के अनुसार हेमचन्द्र ने राजा को शिव के साक्षात् दर्शन करवाए।[11] इससे कुमारपाल अत्यधिक प्रसन्न हुआ।

इस घटना के पूर्व एक बार कुमारपाल ने सोमनाथ के मंदिर का जीर्णोद्धार का कार्य प्रारभ किया। इस कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए कुमारपाल ने हेमचन्द्राचाय से मार्गदर्शन चाहा। हेमचन्द्राचार्य ने कहा—'राजन्! कार्य की निर्विघ्न संपन्नता के लिए ध्वजारोहण पर्यन्त पूर्ण ब्रह्मचारी रहो अथवा सुरापान और मासाहार का पूर्णत परिहार करो। हेमचंद्राचार्य का मार्गदर्शन पाकर कुमारपाल प्रसन्न हुआ। उसने सुरापान आदि का परित्याग कर व्रत प्रधान जीवन जीना प्रारम्भ किया।[12]

हेमाचन्द्राचार्य के योग से कुमारपाल अध्यात्म की ओर अग्रसर होता गया। वह अपने जीवन मे सातो व्यसनो से मुक्त हो गया था। नवरात्रि आदि के उत्सव-प्रसङ्गों पर उसने पूर्णत. प्रतिबध लगाए एव नागरिकजनों को व्यसन परिहार हेतु निर्देश दिए। प्रबन्ध चिन्तामणि मे प्राप्त उल्लेखानुसार कुमारपाल ने अपने अधीनस्थ अठारह देशो मे १४ वर्ष तक के लिए अमारि की घोषणा करवायी।[13] वह स्वय विक्रम सवत् १२१६ मे मृगसर शुक्ला द्वितीया के दिन सम्यक् रत्न को स्वीकार कर बारह व्रतधारी श्रावक बना था।

के० एम० मुन्शी ने कुमार की मृत्यु से चार वर्ष पूर्व तक उसे शैव माना है। मुन्शीजी ने लिखा है—"Kumar pala was a shaiva still in 1169, four years prior to his death"

शिलालेखो मे भी कुमारपाल को 'महेश्वर नृपाग्रणी' कहकर सबोधित किया है। जैन ग्रन्थो मे कुमारपाल के साथ परमार्हत विशेषण आता है।[15] यह विशेषण उसके जैन होने का सूचक है।

हेमचन्द्राचार्य ने जीवन के संध्याकाल मे शत्रुञ्जय की यात्रा की। उस समय भी नरेश कुमारपाल उनके साथ था। हेमचद्राचार्य की यह अन्तिम तीर्थयात्रा सभव है।

प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के हेमचद्र प्रबन्ध मे सिद्धराज, जयसिंह, कुमारपाल के साथ अर्णोराज, विक्रमसिंह, मल्लिकार्जुन, नवधण, खेगार आदि राजाओ का मत्री उदयन, मत्री वागभट्ट और आबड, कवि श्रीपाल, कवि देवबोध आदि विशिष्ट व्यक्तियो का उल्लेख इतिहास गवेषक विद्यार्थियो के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

उदयन सिद्धराज जयसिंह के राज्य मे अमात्य पद पर प्रतिष्ठित था। वह अत्यन्त स्वामीभक्त था। सामान्य अवस्था मे एक बार कुमारपाल मत्री उदयन से सहयोग प्राप्त करने के लिए पहुचा था। उस समय जयसिंह सिद्धराज का कोपभाजन बना हुआ होने के कारण मत्री उदयन ने कुमारपाल के साथ भी व्यवहार किया। यह सही माने मे वफादार मत्री होने का लक्षण था। नरेश बनने के बाद कुमारपाल ने मत्री उदयन के इस गुण की प्रशसा की थी। वाग्भट और अम्बड उदयन के पुत्र थे। वाग्भट कुमारपाल के राज्य मे मत्री-पद पर नियुक्त हुआ था।

उदयन, वाग्भट और अम्बड तीनो ही जैन धर्म के प्रति अगाध आस्थाशील थे। जयसिंह और कुमारपाल की भाति इन तीनो की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही है।

साहित्य

आचार्य हेमचद्र की प्रतिभा हेम-सी निर्मल थी। वे ज्ञान के विशाल कोष थे। उन्होने प्रभूत परिमाण मे मूल्यवान् ग्रथो की रचना की। यही कारण है उनकी प्रसिद्धि कलिकालसर्वज्ञ के नाम से हुई। उनके ग्रथ रत्नो को पढकर पाश्चात्य विद्वानो ने उनको ज्ञान का समदर (ocean of knowledge) कहकर संबोधित किया। हेमचद्र यथार्थ मे ही अपने युग के विलक्षण विद्वान् थे। जैन सस्कृति को जन-जन में व्याप्त करने की दृष्टि से उन्होने विविध विधाओ मे साहित्य की रचना की। व्याकरण, काव्य, कोष, छद, अलकार, न्याय, नीति, ज्योतिष, इतिहास आदि उस समय के प्रचलित विषयो मे शायद ही कोई विषय रहा हो जिस पर हेमचद्र की लेखनी न चली। उनका सृजन कार्य साहित्यिक इतिहास मे अनुपम पृष्ठ है। आज भी हेमचद्राचार्य द्वारा रचित उपलब्ध ग्रथ रत्न पाठको को महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करने वाले है। हेमचद्र के ग्रंथ रत्नो का परिचय इस प्रकार है—

सिद्ध हेमशब्दानुशासन

यह व्याकरण ग्रथ है। इसकी रचना गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह

की प्रार्थना पर हुई थी। इस ग्रथ के नामकरण मे भी हेमचद्राचार्य से पहले सिद्धराज का नाम प्रयुक्त है। इस व्याकरण के आठ अध्याय हैं। प्रथम सात अध्यायो मे संस्कृत भाषा का व्याकरण एवं आठवे अध्याय मे प्राकृत भाषा का व्याकरण है। कुल सूत्र सख्या ४६८५ है। उणादिगण के १०६ सूत्र सयुक्त कर देने पर इस व्याकरण की सूत्र संख्या ४७९१ हो जाती है। प्राकृत भाषा से सबंधित १११९ सूत्र है। अवशिष्ट सूत्र सस्कृत भाषा के हैं। व्याकरण के सूत्रों की रचना अधिक जटिल नही है। न उनमे दुरान्वय है।

वैदिक प्रयोगों से मुक्त होने के कारण इस व्याकरण की अपनी मौलिकता भी है। सूत्र रचना मे शाकटायन व्याकरण का प्रमुख आधार रहा है। उणादि पाठ, गण पाठ, धातु पाठ, लिङ्गानुशासन, वृत्ति—इन पंचाङ्गों से परिपूर्ण यह व्याकरण सुबोध्य, सुग्राह्य एव सुपाच्य है। सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यत उपयोगी है।

कोष

आचार्य हेमचद्र ने ४ कोष ग्रथो की रचना की है। १. अभिधान चिंतामणि २. अनेकार्थ संग्रह ३. निघण्टु ४. देशी नाममाला। इन चारो मे अभिधान चिंतामणि सर्वाधिक विशाल है। इसके ६ काण्ड है, एव १५४१ कुल श्लोक है। इस विशाल शब्दकोष की रचना 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' के बाद हुई। ग्रंथ के प्रारम्भ मे हेमचद्र लिखते हैं—

प्रणिपत्यार्हत सिद्धहेमशब्दानुशासन ।
रूढयौगिकमिश्राणा नाम्ना माला तनोम्यहम् ॥१॥

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है प्रस्तुत कोप ग्रथ की रचना से पूर्व व्याकरण ग्रथ की रचना हो गई थी।

इस प्रथम अभिधान चिंतामणि कोष मे एक-एक वस्तु के अनेक पर्यायवाची सस्कृत नामो का उल्लेख है। द्वितीय कोष अनेकार्थ संग्रह मे एक शब्द के अनेक अर्थ बताये गए है। तृतीय निघण्टुकोष मे वनस्पति शास्त्र सम्बन्धी विविध नामो की सामग्री प्रस्तुत है। यह एक प्रकार से वनस्पति शास्त्रकोष है। चतुर्थ देशी नाममाला कोष मे सस्कृत प्राकृत व्याकरण से असिद्ध देशी शब्दो का सग्रह है। प्राकृत अपभ्रश आदि प्राचीन भाषाओ एवं आधुनिक भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह कोष अत्यन्त उपयोगी है।

आचार्य हेमचंद्र ने इन चारो कोषो मे शब्द ससार का अपार वैभव

भर दिया है ।

काव्यानुशासन

यह आचार्य हेमचंद्र का उत्तम कोटि का ग्रथ है । काव्य के गुण दोषो की नयी एव सारगर्भित व्याख्याएं इसमे प्रस्तुत हैं । 'काव्यमानन्दाय' कह कर हेमचद्र ने काव्य के उच्चत्तम लक्ष्य का निर्धारण किया है और मम्मट के द्वारा प्रस्तुत काव्य परियोजन की परिभाषा मे एक नया क्रम जोड़ा है । इस काव्य के पठन से काव्य गुणो के विवेचन मे मम्मट की अपेक्षा हेमचद्र के चितन मे अधिक व्यापकता का अनुभव होता है । इस ग्रंथ पर ग्रंथकार की अलङ्कार चूडामणि नामक एक लघु टीका—'ग्रंथगत विषय का विस्तार से विवेचन ग्रंथकार' की विवेक नामक टीका मे उपलब्ध है ।

छन्दोनुशासन

यह ग्रथ छन्दो का ज्ञान कराने मे उपयोगी है । इस ग्रथ मे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तीनो ही प्रकार के ग्रथो से सम्बन्धित छन्दो का निरूपण किया गया है । आचार्य हेमचद्र की यह छदशास्त्र सबधी मौलिक कृति है । इसमें छदो से सम्बन्धित विविध प्रकार की सामग्री है । छदो के उदाहरण भी हेमचद्र ने अपने ग्रंथों मे प्रस्तुत किए है । इस ग्रथ पर आचार्य हेमचद्र की वृत्ति भी है । काव्यानुशासन के बाद छदोनुशासन की रचना हुई है ।

द्वात्रिंशिकाएं

अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकाओ मे भारतीय दर्शनो की अवतारणा और जैनदर्शन के साथ उनकी तुलना आचार्य हेमचद्र की मनीषा का चमत्कार है । भारतीय दर्शनो मे प्रवेश पाने के लिए ये दोनो द्वात्रिंशिकाए विशेष पठनीय हैं । दोनो कृतियों मे शब्द सयोजना भी आकर्षक है । पाठक के मन को चुम्बक की तरह प्रभावित करती है ।

द्वयाश्रय काव्य

इस काव्य का नाम कुमारपाल चरित्र भी है । इसकी रचना संस्कृत, प्राकृत दोनो भाषाओ मे हुई है । काव्य रचना का उद्देश्य कुमारपाल चरित्र वर्णन के साथ संस्कृत व्याकरण के स्वरूप का प्रशिक्षण देना भी रहा है । इस ग्रथ की सबसे बडी विशेषता भी यही है कि इस ग्रथ मे सस्कृत, प्राकृत व्याकरण के नियमो की सोदाहरण प्रस्तुति हुई है । यह अत्यन्त श्रमसाध्य

कार्य है। जिसकी अनुभूति कोई कुशल वैयाकरण ही कर सकता है। ऐसा मूल्यवान कार्य हेमचंद्र जैसी सूक्ष्म प्रज्ञा से संभव हो सका है।

इस महाकाव्य के २८ सर्ग हैं। इसके संस्कृत सर्गों की संख्या २० है। अवशिष्ट आठ सर्ग प्राकृत मे हैं। चौलुक्य वंश की परम्परा का विस्तार से वर्णन इस काव्य मे है। अध्यात्म चर्चाओ की दृष्टि से सातवा सर्ग महत्त्वपूर्ण है। कुमारपाल चरित्र के वर्णन से ही काव्यपूर्ण नही होता है। उनके अन्य शिक्षात्मक कविताएं भी इस काव्य में हैं। कुमारपाल चरित्र की प्रधानता होने के कारण काव्य की प्रसिद्धि 'कुमारपाल चरित्र' के नाम से हुई है।

योगशास्त्र

यह योग विषयक कृति है। इसके कुल १२ प्रकाश है। श्लोक संख्या १०१२ है। इस ग्रथ पर १२७५० श्लोक परिमित व्याख्या भी है। इस ग्रंथ में यम, नियम आदि योग सबन्धित विविध बिन्दुओं का विस्तृत वर्णन है तथा श्रावक के अणुव्रत नियमो की सामग्री भी इस ग्रंथ के प्रथम चार प्रकाशो मे प्रतिपादित हुई है। श्लोको की रचना अनुष्टुप छंद मे हुई है। योग के माहात्मय को तथा योग साधना की निष्पत्ति को बताने वाला यह महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। प्रस्तुत ग्रथ की रचना चौलुक्य वश भूषण परमार्हत श्री कुमारपाल नरेश की प्रार्थना पर हुई थी। इस ग्रन्थ की शैली योगशास्त्र का अनुगमन करती प्रतीत होती है। कुमारपाल इसका प्रतिदिन स्वाध्याय किया करता था।

प्रमाणमीमांसा

इसमे प्रमाण और प्रमेय का विस्तृत व्याख्यान है। यह न्याय विषयक उपयोगी कृति है। इस ग्रंथ के पाच अध्याय है। यह ग्रथ पूरा उपलब्ध नही है।

परिशिष्ट पर्व

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र की भान्ति यह भी आचार्य हेमचंद्र का एक ऐतिहासिक ग्रथ है। इसमें जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का जीवन चरित्र निबद्ध है। इस ग्रथ पर डॉ० हर्मन जेकोबी की प्रस्तावना (Parisista Parva. Introduction) विशेष पठनीय एवं मननीय है।

आचार्य हेमचंद्र का सबसे पहला व्याकरण ग्रंथ, जिसकी रचना सिद्ध-राज जयसिंह की प्रार्थना पर की गई थी। यह प्रथम रचना इतनी उच्चकोटि

की थी, जिसने व्याकरण के क्षेत्र मे शीर्षस्थ स्थान पाया। हेमचद्र की पारगामी प्रज्ञा पर दिग्गज विद्वानो के मस्तिष्क झुक गए। उन्होने कहा—

कि स्तुमः शब्दपथोधे:, हेमचंद्रयतेर्मतिम्।
एकेनापीह येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम्॥

शब्द समुद्र हेमचद्राचार्य की प्रतिभा की क्या स्तवना करे, जिन्होने इतने विशाल शब्दानुशासन की रचना की है।

प्रबध-चिंतामणि ग्रथ मे उल्लेख है—

'भ्रात: सवृणु पाणिनि प्रलपित कातत्रकन्था वृथा
मा कार्षी कटु शाकटायनवच: क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
कि कण्ठाभरणादिभिर्बठरयत्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा श्रीसिद्धहेमोक्तय:' ॥

इन पक्तियो मे हेमचद्राचार्य के इस विशाल व्याकरण ग्रथ की महनीय महत्ता प्रकट हो रही है।

अभिधान चितामणि आदि चारो कोष ग्रथो की, काव्यानुशासन की छंदोनुशासन तथा प्रमाणमीमांसा ग्रथ की रचना भी आचार्य हेमचद्र ने सिद्धराज के शासनकाल मे की। नरेश कुमारपाल के शासनकाल मे योगशास्त्र वीतरागस्तुति आदि ग्रथो की रचना कुमारपाल को उद्बोधन देने के उद्देश्य से हुई थी। आचार्य हेमचद्र की सबसे अतिम रचना त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित है। इसकी रचना भी कुमारपाल की प्रार्थना पर हो पाई थी।

'त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित' विविध विषयो को अपने मे समेटे हुए इतिहास प्रेमी पाठको के लिए अतिशय उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसी प्रकार अर्हन्नीति आदि ग्रथो की रचना उनकी हेम-सी निर्मल प्रतिभा का विशिष्ट उपकार है। प्रभावक चरित ग्रथ मे हेमचद्राचार्य की प्रमुख कृतियो का उल्लेख मिलता है।[१९]

आचार्य हेमचद्र की प्रतिभा से उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्य विशेष प्रभावित हुए थे। आचार्य सोमप्रभ ने उनकी साहित्य साधना के सबध में लिखा है—

क्लृप्त व्याकरण नव विरचित छदो नव द्वयाश्रया-
लङ्कारौ प्रथितौ नयौ प्रकटित श्रीयोगशास्त्र नवम्।
तर्क: सज्जनितो नवो जिनवरादीना चरित्र नवं
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः॥

हेमचंद्राचार्य के पास रामचंद्र गुणचंद्रसूरि, महेंद्रसूरि, वर्द्धमानगणी जैसे साहित्यकार शिष्यों की मडली थी। लोकश्रुति है—चौरासी कलमें एक साथ आचार्य हेमचंद्र के प्रशिक्षण केंद्र मे चलती थी।

समृद्ध साहित्य के रचनाकार कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य ने एक ओर सरस्वती मा के खजाने को ज्ञान की अक्षय निधि से भरा था गुजरात नरेश सिद्धराजसिंह को सुलभबोधि बनाकर तथा दूसरी ओर कुमारपाल जैसे महान् शासक को व्रतदीक्षा प्रदान कर जैन शासन के गौरव को हिमालय से भी अत्युच्चत्तम शिखर पर चढा दिया था।

शिलालेखो में कुमारपाल के साथ परमार्हत विशेषण उनके जैन होने का पुष्ट प्रमाण है।

आचार्य हेमचंद्र निस्सदेह अलौकिक प्रज्ञा से परिपूर्ण थे। उनके सुप्रयत्नो से उस युग मे एक नये प्रभात का उदय हुआ था एवं भारतीय संस्कृति प्राणवान् बन गई थी कण-कण मे अध्यात्म चेतना मुखर हो उठी थी।

समय-संकेत

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचद्र की कुल आयु ८४ वर्ष की थी। सयम साधना के ७६ वर्ष के काल मे ६३ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व कुशलतापूर्वक वहन किया। आचार्य हेमचंद्र का स्वर्गवास वी० नि० १६६९ (वि० १२२९) गुजरात प्रात मे हुआ।

आचार्य हेमचद्र का युग जैन शासन के महान् उत्कर्ष का युग था।

आधार-स्थल

१. चाद्रगच्छसर पद्म तत्रास्ते मण्डितो गुणै।
प्रद्युम्नसूरिशिष्य. श्रीदेवचंद्रमुनीश्वर ॥१४॥
(प्रभावकचरित पृष्ठ १८३)

२. पूर्णतल्लगच्छे श्रीदत्तसूरि. ......श्री यशोयसूरि इति नाम। तदीयपट्टे प्रद्युम्नसूरिर्ग्रंथकार.। तत्पदे श्री गुणसेनसूरि...... गुणसेनसूरिपट्टे श्रीदेवचंद्रसूरय:......
(प्रबंध कोश पृष्ठ ४६-४७)

३. असि भमरहिओ पुन्नतल्ल गुरु-गच्छ-दुम-कुसुम-गुच्छे।
समय मयरंद-सारी सिरिदत्त गुरु सुरहिं सालो ॥७६॥
(कुमारपाल प्रतिबोध प्रस्तावना पृ० ११५)

४. प्रभावक चरित प्रबंध पर्यालोचन पृष्ठ-१०४
५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष प्रशस्ति, ५, ८-१५ ।
६. वर-वेदेशरे (३१४५) वर्षे कार्तिके पूर्णिमानिशि ।८५०।
(प्रभावक चरित पृ० २१२)
७. एकदा नेमिनागनामा श्रावक समुत्थाय श्रीदेवचंद्रसुरीन् जगौ भगवन् ! अय मोठज्ञातीयो मद्भगिनी पाहिणिकुक्षि भू ढक्करचाचिगनंदनश्चाङ्गदेवनामा
(प्रबंध कोश, पृ० ४७ पं० ५,६)
८. जैनशासन पाथोधिकौस्तुभः सभवी सुत ।
तव स्तवकृतो यस्य देवा अपि सुवृत्ततः ॥१६॥
(प्रभावक चरित, पृ० १८३)
९. तमादाय स्तम्भतीर्थे जग्मु श्रीपार्श्वमन्दिरे ।
माघे सितचतुर्दश्या ब्राह्मे धिष्ण्ये शर्नदिने ॥३२॥
धिष्ण्ये तथाष्टमे धर्म्मस्थिते चंद्रे वृषोपमे ।
लग्ने बृहस्पतौ शत्रुस्थितयां सूर्यभौमयां ॥३३॥
श्रीमानुदयनस्तस्य दीक्षोत्सवमकारयत् ।
सोमचद्र इति ख्यात नामस्य गुरवो दधु ॥३४॥
(प्रभावक चरित पृ० १८४)
१० अस्मिश्च गर्भस्थे मम भगिन्या सहकारतरु स्वप्ने दृष्ट । स च स्थानातरे उप्तस्तत्र महती भलस्फातिमायाति स्म ।
(प्रबंध कोश पृ० ४७ पक्ति ७-८)
११. त्व तु लक्षत्रय समर्पयन्नौदार्यच्छद्मना कार्पण्य प्रादु कुरुषे । मदीयः सुतस्तावदनर्घ्यो भवदीया च भक्तिरनर्घ्यतमा, तदस्य मूल्ये सा भक्तिरेवास्तु, शिवनिर्माल्यमिवास्पृश्यो मे द्रव्यमञ्चय ।
(प्रबंध चिंतामणि पृ० ८३ पंक्ति २६ से २८)
१२ पुत्रश्चाङ्गदेवोऽभूत् । स चाष्टवर्षदेश्य ।
(प्रबंध चिंतामणि पृ० ८३ पंक्ति ६)
१३ जन्माभवत् प्रभोर्व्योम-बाण-शम्भौ (११५०) व्रत तथा ॥८५०॥
(प्रभावक चरित पृ० २१२)
१४ (क) रसषट्केश्वरे (११६६) सूरिप्रतिष्ठा समजायत ॥८५१॥
(प्रभा० च० पृ० २१२)

(ख) अथ वैशाखमासस्य तृतीया मध्यमेऽहनि ॥५५॥
श्रीदेवचंद्रगुरुव· सूरिमंत्रमचीकथन ॥५६॥
(प्रभा० च० पृ० १८४)

१५ तदा च पाहिनी स्नेहवाहिनी मुतउत्तमे।
तत्र चारित्रमादत्तविहस्ता गुरुहस्ततः ॥६१॥
प्रवर्तिनीप्रतिष्ठा च दापयामास नम्रगी.।
तदैवाभिनवाचार्यो गुरुभ्य. सभ्यसाक्षिकम् ॥६२॥
(प्रभावक चरित पृ० १८४-१८५)

१६ असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणि ।
शब्दालङ्कारदैवज्ञतर्कशास्त्राणि निर्ममे ॥७६॥
चिकित्सा-राजसिद्धात. रस-वास्तुदयानि च।
अङ्क-शाकुनकाध्यात्म-स्वप्न-सामुद्रिकान्यपि ॥७७॥
ग्रथान निमित्तव्याख्यान-प्रश्नचूडामणीनिह।
विवृति चायसद्भावेऽर्धकाण्ड मेघमालया ॥७८॥
(प्रभावक चरित पृ० १८५)

१७. यशो मम तव ख्याति पुण्य च मुनिनायक !
विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरण नवम् ॥८४॥
(प्रभावक चरित पृ० १८५)

१८ तत सत्कृत्य तान् सम्यग् भारती सचिवा नरान्
पुस्तकान्यर्पयामासु प्रैषुश्चोत्साहपण्डितम् ॥९२॥
(प्रभावक चरित पृ० १८६)

१९. श्रीहेमसूरयोऽप्यत्रालोक्य व्याकरणव्रजम्।
शास्त्रं चक्रु नवं श्रीमत्सिद्धहेमाख्यमद्भुतम् ॥९६॥
(प्रभावक चरित पृ० १८६)

२० राजा देशान्नियुक्तैश्च सर्वस्थानेभ्य उद्यतै ।
तदा चाहूय सच्चक्रे लेखकानां शतत्रयम् ॥१०४॥
पुस्तका समलेख्यन्त सर्वदर्शनिना तत ।
प्रत्येकमेवादीयन्ताध्येतृणामुद्यमस्पृशाम् ॥१०५॥
(प्रभावक चरित पृ० १८६)

२१. प्राहीयत नृपेन्द्रेण काश्मीरेषु महादरात् ॥११०॥
(प्रभावक चरित पृ० १८६)

२२ अङ्ग-बङ्ग-लिङ्गे, लाट-कर्णाट-कुङ्क ।
महाराष्ट्र-सौराष्ट्रासु, वत्से कच्छे च मालवे ।।१०६।।
सिंधु-सौवीर-नेपाले पारसीक-मुरुण्डयो ।
गङ्गापारे हरिद्वारे काशि-चेदि-गयासु च ।।१०७।।
कुरुक्षेत्रे कान्यकुब्जे गौडश्रीकामरूपयो ।
सपादलक्षवज्जालन्धरे च खसमध्यत: ।।१०८।।
सिहलेऽथ महाबोधे चौडे मालव-कौशिके ।
इत्यादि विश्वदेशेषु शास्त्र व्यास्तार्यत स्फुटम् ।।१०६।।
(प्रभावक चरित पृ० १८६)

२३ काकलो नाम कायस्थकुलकल्याणशेखर ।
अष्ट व्याकर्णाध्येता प्रज्ञाविजितभोगिराट् ।।११२।।
प्रभुस्तं दृष्टिमात्रेण ज्ञाततत्त्वार्थमस्य च ।
शास्त्रस्य ज्ञापकं चाशु विदधेऽध्यापक तदा ।।११३।।
(प्रभावक चरित पृ० १८६)

२४ प्रतिमासं स च ज्ञानपञ्चम्या पृच्छना दधौ ।
राजा च तत्र निर्व्यूढान् कङ्कणै समभूषयत् ।।११४।।
निष्पन्ना अत्र शास्त्रे च दुकूलस्वर्णभूषणै. ।
सुखासनातपत्रैश्च ते भूपालेन योजिता ।।११५।।
(प्रभावक चरित पृ० १८६)

२५. अमुत सप्तमे वर्षे पृथ्वीपालो भविष्यसि ।।३८५।।
(प्रभा० च० पृ० १९६)

२६. द्वादशस्वथ वर्षाणां शतेषु विरतेषु च ।
एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिव गते ।।३९४।।
(प्रभा० च० पृ० ३९७)

२७. कुमारपालोऽपि यथा पञ्चाशद्वर्षदेशीयो राज्ये निषण्ण ।
(प्रबंध कोश पृ० ४७)

२८. नाकृत्वा प्राणिना हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवध. स्वर्ग्यस्तस्मान्मासं विवर्जयेत् ।।५९१।।
इत्यादिसर्वहेयाना परित्यागमुपादिशत् ।
तथेति प्रतिजग्राह तेषां च नियमान् नृप. ।।५९१।।
(प्रभा० च० पृ० २०३)

२९. तुम्हाण किंकरो हृ तुम्हे नाहा भवोयहिगयस्स ।
सयलधणाइसमेओ मइं तुम्ह समप्पिओ अप्पा ।।७६८।।
व्याख्यातायामर्थस्यामर्थं सत्यापयन्नृप ।
राज्यं समर्पयामास जगद्गुरवस्तत. ।।७६९।।
(प्रभा० च० पृ० २०६)

३०. (क) नयन्मुक्तं पूर्वैरघुनघुषना भागभरत-
प्रभृत्युर्वीनाथै कृतयुगकृतोत्पत्तिभिरपि ।
विमुञ्चन् संतोषात् तदपि रुदती वित्तमधुना
कुमारक्ष्मापाल ! त्वमसि महता मस्तकमणि ।।६९९।।
(प्रभा० च० पृ० २०६)

(ख) अपुत्राणा धनं गृह्णन् पुत्रो भवति पार्थिव ।
त्व तु संतोषतो मुञ्चन् सत्य राजपितामहः ।।१९०।।
(प्रबध चिंतामणि, पृ० ८६)

३१ अत्र पुराणे दर्शनोक्तिभि श्री सोनेश्वरमेव तव प्रत्यक्षीकरोमि
(प्रब० चिन्ता० पृ० ८५)

३२. तद्वचनमाकर्ण्य मद्यमासनियममभिलषन् श्रीनीलकण्ठोपरि उदकं विमुच्य तमभिग्रह जग्राह ।
(प्रब० चिन्ता० पृ० ८४)

३३ प्रभोरादेशाच्चाज्ञाकारिष्वष्टादशदेशेषु चतुर्दशवत्सरप्रमिता सर्वभूतेषु मारिं निवारितवान् ।
(प्रब० चिंता० पृ० ८६)

३४. (क) तत प्रमोद सञ्जज्ञे । सवत् १२१६ वर्षे मार्गसुदि द्वितीयायां बलवति लग्ने सवेगमतङ्गजारूढो रत्नत्रयालङ्कृतशरीर शुभमनः परिणामवसनवान्........श्रीमदर्हत साक्षिक स नृपवरेन्द्रो अहिंसाया पाणि जग्राह ।
(प्रब० चिन्ता० परिशिष्ट, पृ० १२८)

(ख) यथा श्रीहेमसूरयो गुरुत्वेन प्रतिपन्ना ....राजा सम्यक्त्वं ग्राहित. श्रावकः कृत ।
(प्रबंध कोश पृ० ४७)

३५. सत्येन तस्य परमार्हतस्य पृथिवीपतेः ।
करिष्यति च सान्निध्यं तदा शासनदेवता ।।८२।।
(कुमारपाल चरित सग्रह पृ० १३८)

३६. व्याकरणं पञ्चाङ्ग प्रमाणशास्त्रं प्रमाणमीमांसा ।
छदोऽलंकृति चूडामणी च शास्त्रे विभुर्व्यधित ॥८३४॥
एकार्थानेकार्था देश्या निर्घण्टु इति च चत्वार: ।
विहिताश्च नामकोशा. शुचि कवितानद्युपाध्याया ॥८३५॥
श्र्युत्तरषष्टिशलाकानरेत्तिवृत्तं गृहिव्रतविचारे ।
अध्यात्मयोगशास्त्रं विदधे जगदुपकृतिविधित्सुः ॥८३६॥
लक्षण-साहित्यगुणं विदधे च द्वयाश्रयं महाकाव्यम् ।
चक्रे विंशतिमुच्चैः सवीतरागस्तवानां च ॥८३७॥
इति तद्विहितग्रंथसंख्यैव नहि विद्यते ।
नामापि न विदन्त्येषा मादृशा मन्दमेधस. ॥८३८॥
(प्रभा० च० पृ० २११)

६४. महामनीषी मलयगिरि

समर्थ टीकाकार मलयगिरि श्वेताम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। वे अपने नाम से मलयगिरि और ज्ञान से भी मलयगिरि थे। जैनागमो के वे गम्भीर पाठी थे। उनकी प्रतिभा दर्पण की तरह निर्मल थी। संस्कृत भाषा पर उनका अतिशय प्रभुत्व था।

गुरु-परम्परा

मलयगिरि ने अपने ग्रथो मे गुरु परम्परा का कही उल्लेख नही किया है और न उनके उत्तरवर्ती ग्रथो मे इस सम्बंध का कही सङ्केत किया है। आवश्यक टीका मे मलयगिरि ने तथा चाहु स्तुतिषु गुरव लिखकर हेमचन्द्राचार्य की अन्ययोगव्यच्छेदिका का पूरा पद्य उद्धृत किया है इससे स्पष्ट है—आचार्य मलयगिरि हेमचन्द्राचार्य को गुरु जैसा बहुमान प्रदान करते थे। हेमचद्राचार्य के अगाध वैदुष्य का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव था, पर हेमचद्राचार्य से विद्वान् मलयगिरि की गुरु-परम्परा का सबंध किसी भी प्रकार मे प्रतीत नही होता।

जीवन-वृत्त

मलयगिरि की न गृहस्थ सबधी और न मुनि जीवन सबंधी सामग्री उपलब्ध है। मलयगिरि को आचार्य पद अथवा सूरि पद की प्राप्ति कब और किसके द्वारा हुई, ये बिन्दु भी अज्ञात हैं। शब्दानुशासन का प्रारंभ करते समय मलयगिरि लिखते हैं—"आचार्यो मलयगिरि शब्दानुशासनमारभते"। शब्दानुशासन का यह वाक्य मलयगिरि के आचार्य पद को सिद्ध करने के लिए पुष्ट प्रमाण है। मलयगिरि द्वारा स्वयं के लिए आचार्य शब्द का व्यवहार किया गया है जो भ्रात नही हो सकता।

जिनमण्डनगणी कृत 'कुमारपाल प्रबध' के अनुमार हेमचंद्राचार्य ने गच्छातरीय देवन्द्रगणी और मलयगिरि के साथ विशेष विद्या साधना की दृष्टि से गुरु का आदेश प्राप्त कर गौड़ देश की ओर प्रस्थान किया था। मार्ग मध्यवर्ती रेवतक तीर्थ पर तीनों ने गुरु द्वारा प्राप्त सिद्धिचक्र मत्र की अम्बादेवी

के सहयोग से आराधना की। इससे मंत्राधिष्टायक देव 'विमलेश्वर' प्रकट हुआ। उसने तीनो से यथेप्सित वर मागने को कहा। उस समय मलयगिरि जैन आगमो पर टीका रचने का वरदान चाहते थे। तीनो को यथेप्सित मागो को पूर्ण करता हुआ देव तथास्तु कहकर अदृश्य हो गया।

यह घटना हेमचद्राचार्य और मलयगिरि की परम्परा और गहरे आत्मीय सबंधो को प्रकट करती है।

मलयगिरि उदार विचारो के धनी थे। यश और श्लाघा की कामना से दूर थे। लोक कल्याण की भावना उनके कण-कण मे व्याप्त थी। टीका ग्रथो की प्रशस्तियो में प्राप्त उल्लेखानुसार मलयगिरि टीका रचना से प्राप्त लाभ को जन हितार्थ अर्पित कर देते थे।

साहित्य

मलयगिरि सूक्ष्म मनीषा के धनी थे। उनकी रचना मेधा भी असाधारण थी। उन्होने आगम ग्रथो पर सहस्रो पद्य परिमाण टीका ग्रंथो का निर्माण किया। टीकातिरिक्ति ग्रथों की रचना भी की। उनकी प्रसिद्धि स्वतत्र ग्रथकार के रूप मे नही टीकाकार के रूप में है। टीकाकार आचार्यों मे आचार्य मलयगिरि का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

मलयगिरि की टीकाएं मूल सूत्रस्पर्शी है और व्याख्यात्मक भी है। जहा आवश्यक लगा, उन्होने अपना मौलिक चिंतन भी प्रस्तुत किया है। अपने प्रतिपाद्य को पुष्ट करने के लिए प्राचीन प्रमाणो के उल्लेख तथा सप्रसङ्ग विषयातरित विषयो की चर्चा उनके बहुमुखी ज्ञान की सूचना देते हैं। जैन साहित्य का बृहद् इतिहास पुस्तक में मलयगिरि के ग्रथो की जो तालिका प्राप्त है उसमे उनके २५ टीका ग्रथो एव शब्दानुशासन नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ का उल्लेख है। उन टीका ग्रंथो मे से १६ टीका ग्रंथ वर्तमान मे उपलब्ध है, शेष अनुपलब्ध है। उपलब्ध टीका ग्रथो का कुल ग्रथाग्र १६१६१२ पद्य परिमाण है।

आचार्य मलयगिरि के उपलब्ध ग्रथो मे टीका ग्रंथो के नाम तथा कतिपय ग्रथो का परिचय इस प्रकार है—

(१) भगवतीसूत्र-द्वितीय शतक वृत्ति
(२) राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका
(३) जीवाभिगमोपाङ्गटीका
(४) प्रज्ञापनोपाङ्गटीका
(५) चंद्रप्रज्ञप्त्युपाङ्ग टीका
(६) सूर्यप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका
(७) नंदिसूत्रटीका
(८) व्यवहारसूत्र वृत्ति

(६) बृहत्कल्पपीठिका वृत्ति (अपूर्ण) (१०) आवश्यक वृत्ति (अपूर्ण)
(११) पिण्डनिर्युक्ति टीका (१२) ज्योतिष्करण्डक टीका
(१३) धर्मसंग्रहणी वृत्ति (१४) कर्मप्रकृति वृत्ति
(१५) पचसग्रहणी वृत्ति (१६) षडशीति वृत्ति
(१७) सप्ततिका वृत्ति (१८) बृहत्सग्रहणी वृत्ति
(१९) बृहत्क्षेत्र समास वृत्ति (२०) मलयगिरि शब्दानुशासन

कतिपय टीका ग्रंथो का परिचय —

नन्दी वृत्ति

आचार्य मलयगिरि की नन्दिवृत्ति ७७३१ श्लोक परिमाण है। इसमे चूर्णिकार को नमस्कार करने के बाद टीकाकार हरिभद्र का स्मरण किया गया है। विविध जैन दार्शनिक मान्यताओ को जानने के लिए विशेष उपयोगी है। अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत और संस्कृत के उद्धरण एव कथानक भी इसमे प्रयुक्त है। जैन दर्शन सम्मत ज्ञान पञ्चक की विस्तृत सामग्री प्रस्तुत करने वाला यह टीका ग्रथ अतिशय ज्ञानवर्धक और आनन्दवर्धक है। टीका प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक मे मलयगिरि ने स्वल्प शब्दों मे अधिक अर्थ प्रदान करने वाली इस टीका रचना से फलित सिद्धि को लोक-कल्याण के लिए अर्पित किया है। टीका के प्रारम्भ मे वर्धमान जिनेश और जिन प्रवचन की जय बोली गई है।

प्रज्ञापना वृत्ति

इस वृत्ति का ग्रथमान १६००० पद्य परिमाण है। आचार्य हरिभद्र ने इस सूत्र पर विषमपद विवरण लिखा है। विवरण प्रज्ञापना के क्लिष्ट सूत्रों की व्याख्या के रूप मे रचा गया था। प्रस्तुत टीका मे आचार्य हरिभद्र का विषम-पद विवरण विशेष आधारभूत बना है। आचार्य मलयगिरि ने इस टीका के प्रारम्भ में तीर्थंकर महावीर की और अन्तिम प्रशस्ति मे आचार्य हरिभद्र की जय बोली है। यह सक्षिप्त टीका है। कही-कहीं आवश्यकतानुरूप विस्तार है।

सूर्यप्रज्ञप्ति वृत्ति

यह सूर्यप्रज्ञप्ति उपाङ्ग की टीका है। इसका ग्रंथमान ६५०० पद्य परिमाण है। आचार्य मलयगिरि के शब्दो मे यह सूत्रस्पर्शी टीका है। क्रूर काल के प्रभाव से आचार्य हरिभद्र की सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति नष्ट हो गई थी

अत. मलयगिरि ने मूल सूत्रो पर टीका की रचना की है । ऐसा मलयगिरि ने टीका के प्रारंभ मे उल्लेख किया है । जैन दर्शन संमत ज्योतिषज्ञान सबधी सामग्री उपलब्ध करने के लिए यह टीकाग्रथ उपयोगी है । इस टीका की प्रशस्ति क अनुसार मलयगिरि सूर्यप्रज्ञप्ति रचना से प्राप्त लाभ को जन-कल्याणाय अर्पित कर देते हैं ।

जीवाभिगम विवरण वृत्ति

यह तृतीय उपाङ्ग की टीका है । इसमे विविध रूपा सामग्री प्रस्तुत की गई है । इस टीका मे कई प्राचीन ग्रथो के और ग्रथकारो के नाम का उल्लेख भी है जो ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । टीका के अत में मलयगिरि ने कामना की है ।

ज्योतिषकरण्डक वृत्ति

यह टीका प्रकीर्णक ग्रथ पर है । इस टीका मे कालज्ञान की विशेष सामग्री है । वालभी और माथुरी वाचना का घटना पुरस्सर विस्तृत उल्लेख इस टीका मे है । टीका के अन्त मे मलयगिरि ने टीकागत अशुद्धाशो को सुधारने के लिए विद्वानो से नम्र निवेदन किया है एव टीका रचना से प्राप्त फल को लोक-कल्याण के लिए अर्पित किया है ।

व्यवहार वृत्ति

यह वृत्ति ३४६२५ श्लोक परिमाण विशाल है । मलयगिरि के उपलब्ध टीका साहित्य मे सबसे बडी वृत्ति है । इस वृत्ति की रचना निर्युक्ति, भाष्य सहित मूल सूत्रों पर हुई है । वृत्ति के प्रारम्भ में प्रस्तावना रूप विस्तृत पीठिका है । आगम, श्रुत आदि पाच व्यवहारों का वर्णन, गीतार्थ, अगीतार्थ की स्वरूप व्याख्या, प्रायश्चित्त के भेदो का विवेचन आदि विषय बिन्दु इस टीका मे सम्यक् प्रकार से चर्चित हुए हैं । टीका के अन्त में इस विवरण को श्रमण गणों के लिए अमृत-तुल्य बताया गया है ।

राजप्रश्नीय वृत्ति

राजप्रश्नीय आगम सूत्रकृताङ्ग का उपाङ्ग है । उपाङ्गागमों में इसका दूसरा क्रम है । प्रस्तुत टीका इस द्वितीय उपाङ्ग पर है । इस टीका में अङ्ग और उपाङ्ग की चर्चा करने के बाद नरेश प्रदेशी और केशीकुमार का आख्यान विस्तार से सतर्क प्रस्तुत किय. है । इस टीका का ग्रन्थमान ३७००

श्लोक परिमाण है।

पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति

प्रस्तुत कृति के नाम से ही स्पष्ट है-इसकी रचना आचार्य भद्र-बाहुकृत पिण्डनिर्युक्ति के आधार पर हुई है। दशवैकालिक सूत्रान्तर्गत पंचम अध्ययन की निर्युक्ति का नाम ही पिण्डनिर्युक्ति है।

आवश्यक वृत्ति

यह टीका आवश्यकनिर्युक्ति पर रची गई है। टीका का उद्देश्य बताते हुए टीकाकार कहते है .—इस सूत्र पर कई विवरण है। मन्दबुद्धि पाठको के लिए उन्हे समझना दुरुह हो जाता है अत उनके लिए यह विवरण अपने प्रतिपाद्य का समर्थन करने के लिए टीकाकार ने भाष्य गाथाओ का उपयोग किया है। सप्रसङ्ग कथानको की सामग्री भी इसमे है। यह टीका अपूर्ण रूप से वर्तमान मे उपलब्ध है। इसका ग्रन्थमान १८००० श्लोक परिमाण बताया गया है। टीका मे प्रयुक्त कथानक प्राकृत मे है।

बृहत्कल्पपीठिका वृत्ति

इस वृत्ति की रचना निर्युक्ति और भाष्य गाथाओ पर हुई है। निर्युक्ति गाथाए भद्रबाहु की और भाष्य गाथाए संघदासगणि की है। इस वृत्ति में भी प्राकृत कथानको का उपयोग है। मलयगिरि इस टीका के ४६०० श्लोक ही रच पाए थे। अवशेष भाग को क्षेमकीर्ति ने पूरा किया था। मलयगिरि ने चूर्णिकार को अंधकार मे दीपक की तरह प्रकाशक मानकर जय बोली है। सूत्रस्पर्शिनी निर्युक्ति और निर्युक्ति की व्याख्या मे मानते हुए मन्द बुद्धि पाठको के लिए इस टीका की रचना की गई है।

मलयगिरि शब्दानुशासन

मलयगिरि शब्दानुशासन ३००० पद्य परिमाण है। कुमारपाल के शासनकाल मे इस ग्रन्थ की रचना हुई। आचार्य हेमचन्द्र के सिद्ध हेमशब्दा-नुशासन के साथ इसके सूत्रों की अत्यधिक समानता है। पञ्चसग्रह वृत्ति, परमप्रकृति वृत्ति, धर्मसंग्रहणी वृत्ति, सप्ततिका वृत्ति, बृहद्सग्रहिणी वृत्ति, बृहद्क्षेत्रसमास वृत्ति जैसे ग्रन्थ सैद्धान्तिक चर्चाओ से परिपूर्ण है। आगम टीकाओ की भान्ति ये कृतिया भी आचार्य मलयगिरि की प्रौढ रचनाएं है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ओघनिर्युक्ति, विशेषावश्यक, तत्त्वार्थाधिगम, धर्मसार-

प्रकरण, देवेन्द्र नरकेन्द्र प्रकरण—इन छह ग्रन्थो पर भी मलयगिरि की टीकाओ के संकेत उनके ग्रंथों मे प्राप्त हैं। देशीनाममाला का संकेत जीवाभिगम सूत्र मे प्राप्त है पर वर्तमान में ये ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

मलयगिरि की टीकाएं प्रसाद और माधुर्य गुण से सम्पन्न है और सामग्री बहुल हैं। टीकाए प्रयोगो की नवीनता से पाठक वर्ग को पर्याप्त तुष्टि प्रदान करने वाली हैं। टीका साहित्य मे मलयगिरि का अवदान अनुपम है। जैन मनीषी टीकाकारो मे पच्चीस टीकाओ की रचना करने वाले और अपना अधिकाश समय टीका साहित्य की रचना मे ही समर्पित कर देने वाले आचार्य मलयगिरि इतिहास के पृष्ठों पर अकेले हैं। आज भी आगमो पर इनकी जो टीकाएं उपलब्ध हैं वे बहुमुखी सामग्री से सम्पन्न हैं।

टीकाकार जैनाचार्यों में मनीषी मान्य आचार्य मलयगिरि अग्रणी है। उनकी टीकाओं का टीका साहित्य में आदरास्पद स्थान है।

क्षेमकीर्ति ने मलयगिरि के शब्दो को चन्दन के समान तापहर माना है। वे कहतेहै—

'आगमदुर्गमपदसशयादितापो विलीयते विदुषाम्।
यद्वचनचन्दनरसे. मलयगिरिः स जयति यथार्थ ॥

(कल्पभाष्य टीका ग्रं०)

समय संकेत

टीकाकार मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास ८४ वर्ष की उम्र में वी० नि० १६६६ (वि० स० १२२६) मे हुआ था। इस आधार पर टीकाकार मलयगिरि का समय भी वी० नि० १७वी १८ वी (वि० की १२ वी १३वीं) शताब्दी सिद्ध होता है।

९५. समाधि-सदन आचार्य शुभचंद्र

जैन परंपरा में शुभचंद्र नाम के कई विद्वान् आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत शुभचंद्र ध्यान-योग के विशिष्ट ज्ञाता थे। योग एवं ध्यान के विस्तृत स्वरूप का प्रतिपादन ज्ञानार्णव ग्रंथ उनकी प्रसिद्ध रचना है। योग के विशेष व्याख्याता आचार्यों में शुभचंद्राचार्य का नाम विशेष विश्रुत है।

जीवन-वृत्त

आचार्य शुभचंद्र की गुरु-परंपरा, जन्म-भूमि अथवा माता-पिता के संबंध में भी किसी प्रकार के प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं है।

विश्वभूषण भट्टारक के भक्तामर चरित उत्थानिका में शुभचंद्र से संबंधित जो जीवन परिचायिका सामग्री उपलब्ध है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—उज्जयिनी नरेश सिंधुल के दो पुत्र थे—शुभचंद्र और भर्तृहरि। सिंधुल के बड़े भ्राता का नाम मुञ्ज था पर मुञ्ज सिंधुल का सहोदर नहीं था। सिंधुल के पिता को मूंज के खेत में एक लड़का पड़ा हुआ मिला। नरेश ने उसका नाम 'मुञ्ज' रख दिया एवं पुत्र तुल्य मुञ्ज का पालन-पोषण किया। सिंधुल का जन्म उसके बाद हुआ था अतः उम्र में मुञ्ज बड़े थे सिंधुल छोटे थे। राजकुमार शुभचंद्र और भर्तृहरि दोनों सिंधुल के सुयोग्य पराक्रमी लड़के थे। इन दोनों बालकों पर ईर्ष्यावश मुञ्ज के मन में हिंस्र भाव पनपने लगे थे। शुभचंद्र और भर्तृहरि मुञ्ज के दुर्व्यवहार को देखकर संसार से विरक्त हो गये। शुभचंद्र ने जैन दीक्षा ग्रहण की और भर्तृहरि ने तांत्रिक मत की दीक्षा ग्रहण की। अपने-अपने क्षेत्र में कुछ समय तक साधना करने के बाद एक बार दोनों भ्राता मिले। शुभचंद्र के तेजस्वी व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से भर्तृहरि प्रभावित हुए उन्होंने भी जैन दीक्षा ग्रहण की। अपने भ्राता भर्तृहरि को संयम मार्ग में दृढ़ करने के लिए शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव ग्रंथ की रचना की।

भक्तामर चरित उत्थानिका का यह घटना प्रसंग शोध विद्वानों की दृष्टि में प्रामाणिक नहीं है। मुञ्ज और सिंधुल विक्रम की ११ वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। भर्तृहरि ७ वीं, ८ वीं शताब्दी के हैं अतः इन सबका एक साथ योग किसी प्रकार से उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

शिलालेखो मे और ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे प्रस्तुत आचार्य शुभचद्र से सबधित घटना प्रसङ्ग का उल्लेख प्राप्त नही है। आचार्य शुभचद्र ने भी स्व-रचित ग्रन्थ ज्ञानार्णव मे इस सबध का कोई सकेत नही दिया है। पाठक वर्ग से स्व को अप्रकाशित रखने का यह भाव उनके निगर्वी मानस का प्रतीक हो सकता है पर इतिहास-गवेषको को अपने साथ न्याय नही लगता।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र मे आचार्य शुभचद्र का महत्त्वपूर्ण अनुदान ज्ञानार्णव ग्रन्थ है। इसका परिचय इस प्रकार है—

ज्ञानार्णव ग्रन्थ ध्यान विषय की विशिष्ट कृति है। मालिनी, स्रग्धरा, मदाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित आदि वृत्तो मे रचित तथा ४२ प्रकरणो मे विभक्त यह सुविशाल ग्रथ अपने विषय की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान की सूक्ष्मता से विश्लेषण, आग्नेयी, मारुती, पार्थिवी धारणाओ की विस्तार से परिचर्चा, धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का स्वरूप-निर्णय, आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, संस्थान-विचय का विवेचन, मन के विभिन्न स्तरो का बोध, कर्म क्षय की प्रक्रिया, उनके व्यव-स्थित क्रम का दिशा-निर्देश, बारह भावना, पाच महाव्रत आदि बहुविध विषयो का ध्यान योग के साथ स्पष्ट और सुसगत प्रतिपादन इसमे हुआ है। सरस एव प्राजल शैली मे प्रस्तुत सरल-रमणीय यह कृति आचार्य शुभचद्र के प्रगल्भ पाण्डित्य, मर्मभेदिनी प्रज्ञा तथा विभिन्न दर्शन के विमर्शन से प्राप्त बहुश्रुतता का प्रतिबिम्ब है।

ज्ञानार्णव की पीठिका मे आचार्य शुभचद्र ने समंतभद्र, देवनदी पूज्य-पाद, भट्ट अकलङ्क आदि आचार्यो का भावपूर्ण भाषा मे उल्लेख किया है। अत इन आचार्यो को जानने के लिए स्वल्प सामग्री इस ग्रंथ से उपलब्ध हो जाती है।

समय-संकेत

आचार्य शुभचद्र का समय अधिक विवादास्पद है। ज्ञानार्णव ग्रथ आचार्य शुभचद्र की एक मात्र कृति है। उसमे उन्होने अपने समय का कही भी सकेत नही किया है और न उत्तरवर्ती आचार्यो के ग्रथो मे उनके समय की सूचना है। ज्ञानार्णव मे प्राप्त कुछ सदर्भ भी आचार्य शुभचंद्र के समय को ज्ञात करने मे बिंदु का काम करते हैं। दिगम्बराचार्य जिनसेन का आचार्य

शुभचद्र ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में आदरपूर्ण शब्दों के साथ उल्लेख किया है। वह उल्लेख यह है—

जयति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवदिता ।
योगिभिर्या. समासद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥१६॥

(ज्ञानार्णव पीठिका)

अपने गुरु वीरसेन के अधूरे जयधवला टीका रचना के कार्य को आचार्य जिनसेन ने ई० सन् ८३७ (वि०स० ८६४) में सम्पन्न किया था अतः ज्ञानार्णव के रचनाकार आचार्य शुभचंद्र टीकाकार आचार्य जिनसेन से उत्तर-वर्ती होने के कारण उनका समय नवमी शताब्दी से पूर्व प्रमाणित नहीं होता ।

ज्ञानार्णव कृति मे ३ श्लोक 'उक्तं च' कहकर यशस्तिलकचंपू काव्य के छठे आश्वास मे से ज्यो के त्यों उद्धृत किए गए हैं। तीनों श्लोको में से प्रथम दो श्लोक यशस्तिलक काव्य के रचनाकार सोमदेव के अपने हैं। तृतीय श्लोक को वहा भी 'उक्त च' कहकर उद्धृत किया है। ज्ञानार्णव मे तीनों श्लोक उसी क्रम से उद्धृत हैं। यशस्तिलकचपू काव्य की रचना विक्रम स० १०१६ में सपन्न हुई थी।

इस आधार पर आचार्य शुभचद्र आचार्य सोमदेव से भी उत्तरवर्ती हैं उनका समय वि० की ११ वीं शताब्दी के बाद का है।

आचार्य हेमचद्र का योगशास्त्र और शुभचंद्र का ज्ञानार्णव दोनो योग विषयक ग्रथ हैं। इन ग्रथो के कई श्लोक बहुत कम अन्तर के साथ समान हैं। उनकी शब्दावली में और मात्रा आदि मे विशेष परिवर्तन नही है।

अत इन दोनो आचार्यों मे से एक दूसरे ने किसी का अनुकरण अवश्य किया है।

योगशास्त्र के पांचवे प्रकाश का छट्ठा और सातवा पद्य भी ज्ञानार्णव मे 'उक्त च' कहकर लिखा गया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

समाकृष्य यदा प्राणधारण स तु पूरक ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधन स तु कुंभक ॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासा ब्रह्मपुरातनै ।
बहि प्रक्षेपण वायो स रेचक इति स्मृत. ॥

इन दोनो श्लोको मे नाभिमध्य के स्थान पर नाभि पद्मे और पुरातनैः शब्द के स्थान पर पुराननै शब्द है। विद्वान् नाथूराम 'प्रेमी' ने "जैन साहित्य

और इतिहास" पुस्तक के पृष्ठ ४९६ पर उक्त आधारो का आलबन लेकर ज्ञानार्णव को योगशास्त्र के बाद की रचना अनुमानित की है। नाथूराम 'प्रेमी' की यह समीक्षा ठीक ही प्रतीत होती है। इस आधार पर आचार्य शुभचद्र आचार्य हेमचद्र से उत्तरवर्ती हैं। आचार्य हेमचद्र का स्वर्गवास (वि० सं० १२२९) में हुआ था अत आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र से उत्तरवर्ती होने के कारण वी० नि० १७ वी (वि० की १३ वी) शताब्दी के बाद के विद्वान् प्रमाणित होते हैं।

पाण्डव पुराण के रचनाकार शुभचन्द्र कुदकुदान्वयी नंदीसङ्घ एव बलात्कारगण के भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य और विजयकीर्ति के शिष्य थे। पाण्डव पुराण का रचना समय वि० स० १६०८ बताया गया है। इस आधार पर पाण्डव पुराण के रचयिता शुभचन्द्र ज्ञानार्णव ग्रथ के रचयिता शुभचन्द्र से उत्तरवर्ती प्रतीत होते हैं।

आधार-स्थल

१ समतभद्रादिकवीन्द्रभास्वता स्फुरति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जना. ।।१४।।
अपाकुर्वन्ति यद्वाच. कायवाक्चित्तसभवम्।
कलकमङ्गिनां सोऽय देवनदी नमस्यते ।।१५।।
जयंति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिता।
योगिभिर्या समासाद्य स्खलित नात्मनिश्चये ।।१६।।
श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकातमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायित यया ।।१७।।

(ज्ञानार्णव)

९६. जगत्-पूज्य आचार्य जिनचंद्र (मणिधारी)

खरतरगच्छ के श्री मणिधारी जिनचद्रसूरि भी बड़े दादा के नाम से प्रसिद्ध है। जैन श्वेताम्बर मदिरमार्गी समाज के चार दादा आचार्यों मे उनका द्वितीय क्रम है।[1] जिनचद्रसूरि के मस्तक में मणि होने के कारण उनकी प्रसिद्धि मणिधारी जिनचद्र के रूप मे हुई, ऐसी जनश्रुति है।[2]

गुरु-परम्परा

मणिधारी जिनचद्रसूरि के गुरु बड़े दादा जिनदत्तसूरि थे। प्रस्तुत जिनचद्रसूरि की जिनदत्त से पूर्व की गुरु-परम्परा वही है जो जिनदत्तसूरि की है। "जनप्रिय आचार्य जिनदत्तसूरि" नामक प्रकरण मे दी गई है।

जन्म एवं परिवार

जिनदत्तसूरि का जन्म वैश्य वश मे विक्रमपुर मे वी० नि० १६६७ (वि० सं० ११९७) भाद्र शुक्ला अष्टमी ज्येष्ठा नक्षत्र को हुआ। श्रेष्ठी रासल के वे पुत्र थे। माता का नाम देल्लण देवी था।[3]

जीवन-वृत्त

मणिधारी जिनचंद्रसूरि ने लघुवय में ही मुनि-जीवन मे प्रवेश पाया। उनकी दीक्षा जिनदत्तसूरि द्वारा वी० नि० १६७३ (वि० स० १२०३) में हुई।

मणिधारी जिनचद्रसूरि का जीवन कई विशेषताओ से मण्डित था। उनके गर्भ मे आने से पहले ही जिनदत्तसूरि को विशिष्ट आत्मा के आगमन का आभास हो गया था। विशिष्ट आत्मा का सबध उन्होने जिनदत्तसूरि के साथ जोडा।

मुनि-जीवन मे प्रवेश पाने के बाद जिनचद्रसूरि ने शास्त्रीय ग्रंथो का गभीरता से अध्ययन किया और गुरु के मार्ग-दर्शन मे उन्होंने विविध अनुभव सजोये। जिनदत्तसूरि ने वी० नि० १६८१ (वि० स० १२११) वैशाख शुक्ला छठ विक्रमपुर मे महावीर जिनालय मे अपने पद की नियुक्ति की। सूरि पद महोत्सव श्रेष्ठी रासलालजी ने उल्लास के साथ मनाया था।[4]

जिनदत्तसूरि का स्वर्गवास हो जाने के बाद वी० नि० १६८१ (वि० स० १२११) सपूर्ण गच्छ का दायित्व उनके कधो पर आया जिसे बहुत कुशलता के साथ उन्होंने निभाया था ।

उन्होने त्रिभुवन गिरि म शातिनाथ शिखर पर वी० नि० १६८४ (वि० १२१४) म धम की गङ्गा वेग स प्रवाहित की और मथुरा मे पहुंचकर वी० नि० १६७७ (वि०म० १२१७) म जिनपतिसूरि का दीक्षित किया। क्षमधर श्रेष्ठी जैस उनक भक्त बन थ।[1]

मणिधारी जिनचद्रसूरि याग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। जैन धर्म की विशष प्रभावना इनस हुइ। वचस्वी व्यक्तित्व के कारण ही जिनचद्रसूरि अपने गुरु जिनदत्तसूरि का भाति दादा नाम म प्रसिद्ध हुए।

जिनचद्रसूरि आगम ज्ञान क भण्डार थे। दिल्ली क महाराज मदनपाल जिनचद्रसूरि की असाधारण विद्वत्ता पर मुग्ध हाकर उनके अनन्य भक्त बन गए थे।[1]

चैत्यवासी पद्मचद्राचाय जैस उद्भट्ट विद्वान् का शास्त्रार्थ मे पराजित कर देन से उनकी यश. चद्रिका दिग्दिगन्त म व्याप्त हुई।

मणिधारी आचाय जिनचद्र न अपनी इस मणि की सूचना मृत्यु से कुछ समय पूव अपन भक्तो का दकर सावधान किया था कि मेर दाह सस्कार स पहले ही मरी मस्तक-मणि का पात्र म ल लना अन्यथा किसी यागी के हाथ म यह अमूल्य मणि पहुच सकती ह। वह मणि बहुत प्रभावक थी।

दादा जिनचद्रसूरि क उत्तराधिकारी जिनपतिसूरि थे।

समय-सकेत

मणिधारी आचाय जिनचद्रसूरि वी० नि० १६६३ (वि० स० १२२३) द्वितीय भाद्र शुक्ला चतुदशी का अनशन के साथ दिल्ली नगर मे स्वर्गवासी हुए। वर्तमान मे दिल्ली के महरौली नामक स्थान पर उनका चामत्कारिक स्तूप है।

आधार-स्थल

१. जैनसमाजविख्याता दादेति नामधारका ।
श्रीजिनदत्तसूरीशा　श्रीजिनचद्रसूरय ॥२॥
जिनकुशलसूरीशा　श्रीजिनचद्रसूरय ।
श्रीखरतरगच्छस्य　चतुर्ष्वेतेषु सूरिषु ॥३॥

श्रीजिनदत्तसूरीणां समागच्छत्यनन्तरम् ।
श्रीजिनचंद्रसूरीणामभिधा मणिधारिणाम् ॥४॥

(श्रीजिनचंद्रसूरिचरितम्)

२. श्रीजिनचंद्रसूरीशाः ललाटमणिधारकाः ।
शासनोद्योतका आसन् महाप्रभावशालिन. ॥१८६॥

(श्रीजिनचंद्रसूरिचरितम्)

३ जेसलमेरदुर्गस्य सौष्ठवराज्यवर्तिनि ।
श्रीविक्रमपुरद्रङ्गे चैत्य-श्राद्धजनाकुले ॥११
उवास रासलश्रेष्ठी श्राद्धधर्मपरायण ।
धर्मिष्ठा स्त्री गुणश्रेष्ठा तस्य देल्हणदे प्रिया ॥११॥
तस्या कुक्षेरभूदस्य शैलाङ्करुद्रवत्सरे ।
भाद्रशुक्लाष्टमी घस्रे ज्येष्टायां जन्म सत्क्षणे ॥१२॥

(श्रीजिनचंद्रसूरिचरितम्)

४. वैशाखे शुक्लषष्ठ्या च महावीरजिनालये ।
स जिनचद्रासूरीशै स्वपदे स्थापितो मुनि ॥३१॥
श्रीजिनचद्रसूरीति नाम्ना ख्याति गतः स च ।
अस्य पित्रा महायुक्त्या सूरिपदोत्सव. कृत ॥३२॥

(श्रीजिनचंद्रसूरिचरितम्)

५ श्राद्ध-क्षेमन्धरश्रेष्ठी पुनर्मै प्रतिबोधित. ।
ततो विहृत्य सूरीशा मरूकोट ययु क्रमात् ॥५०॥

(श्रीजिनचंद्रसूरिचरितम्)

६. राजाज्ञा प्राप्य चारुह्य तुरङ्गमान् सहस्त्रश ।
नियोगिनोऽभवन्पृष्ठे, मदनपालभूपते ॥११६॥
श्राद्धेभ्य पूर्वमेवागात्ससैन्यो भूपतिर्गुरो ।
पार्श्वसन्मानित सार्थलोकेन वस्तुठौकनात् ॥११७॥

(श्रीजिनचद्रसूरिचरितम्)

६७. रमणीय रचनाकार आचार्य रामचन्द्र

आचार्य परम्परा में रामचन्द्रसूरि भी विशेष प्रभावशाली आचार्य थे। वे प्रतिभा के धनी थे और साहित्यकार भी थे। उस युग के इने-गिने विद्वानों मे उनकी गिनती होती थी। कविकटारमल्ल की उन्हे उपाधि प्राप्त थी।

गुरु-परम्परा

आचार्य रामचद्र के गुरु 'कलिकालसर्वज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध आचार्य हेमचद्र थे।[1] हेमचद्र के गुरु देवचद्रसूरि थे। आचार्य हेमचद्र की गुरु-परम्परा ही आचार्य रामचद्र की गुरु परम्परा थी। हेमचद्र की गुरु परम्परा हेमचंद्र प्रबन्ध मे विस्तारपूर्वक प्रस्तुत है।

जीवन वृत्त

आचार्य हेमचद्र की शिष्य मण्डली मे शिष्य रामचद्र का विशिष्ट स्थान था। एक बार सिद्धराज जयसिंह ने हेमचद्राचार्य से उनके उत्तराधिकारी का नाम जानना चाहा।[2] उस समय हेमचद्राचार्य ने मुनि रामचद्र को ही उनके सामने प्रस्तुत किया था।[3]

रामचद्र मुनि दिग्गज विद्वान् थे एव बेजोड शब्द शिल्पी थे। समस्या पूर्ति मे उनकी दक्षता विस्मयकारक थी। उनकी स्फुरणशील मनीषा मन्दाकिनी में कल्पना-कल्लोले अत्यन्त वेग से हिलोरे लेती थी। एक बार का प्रसङ्ग है। ग्रीष्म ऋतु का समय था। सिद्धराज जयसिंह क्रीडा करने के लिए उद्यान मे जा रहे थे। सयोग से मुनि रामचद्र का मार्ग मे मिलन हुआ। औपचारिक स्वागत के बाद सिद्धराज ने मुनि से प्रश्न किया।

कथ ग्रीष्मे दिवसा गुरुतरा ?

ग्रीष्म ऋतु मे दिन लम्बे क्यो होते है ?

मुनि ने प्रश्न के उत्तर मे तत्काल एक सस्कृत श्लोक की रचना की।

देव ! श्रीगिरिदुर्गमल्ल ! भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे।
धावद्वीरतुरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षमामण्डलात् ॥
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सञ्जातपङ्कस्थली।
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनैव वृद्ध दिनम् ॥

गिरि-मालाओं और दुर्लंघ्य दुर्गों पर विजय-पताका फहराने वाले देव ! आपकी दिग्गज यात्रा के महोत्सव प्रसङ्ग पर वेगवान् अश्वों की दौड़ के कारण उनके खुरों से उठे पृथ्वी के धूलिकण पावन लहरियों पर आरूढ़ होकर आकाशगंगा से जा मिले । नीर और रजों के सम्मिश्रण से वहां दूब उग गई । उसी दूब के चरते-चरते चलने के कारण सूर्य के घोड़ों की गति मन्द हो गई । इसी हेतु से दिवस लम्बे हैं ।

समस्या पूर्त्यात्मक प्रस्तुत श्लोक के सुनकर सिद्धराज जयसिंह को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । उसी समय इन्हे "कविकटारमल्ल" की उपाधि से विभूषित किया गया ।

हेमचंद्राचार्य के स्वर्गवास के बाद उनके धर्म सघ के सञ्चालन का दायित्व मुनि रामचंद्र के कन्धो पर आया । मुनि रामचद्र इस गुरुतर कार्य के लिए अत्यन्त योग्य भी थे ।

आचार्य हेमचद्र के प्रति महाराज सिद्धराज जयसिह जैसा ही धार्मिक अनुराग महाराज कुमारपाल मे भी था । आचार्य हेमचद्र के स्वर्गवास की सूचना पाकर कुमारपाल का हृदय शोक-वेदना से विक्षुब्ध हो उठा । उस संकट की घडी को धैर्यपूर्वक पार करने मे मुनि रामचद्र का योग अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ ।

एक अन्य और घटना आचार्य हेमचद्र के शासनकाल की है। वाराणसी के विश्वेश्वर कवि-किसी समय पाटण मे आए । हेमचद्र की सभा मे पहुंचे । नरेश पाल भी वही थे । विश्वेश्वर कवि ने नरेश कुमारपाल को आशीर्वाद देते हुए व्यंग्य पूर्ण भाषा मे कहा[१]—

'पातु वो हेमगोपाल दण्ड-कम्बलमुद्वहन्'

दण्ड, कम्बलधारी हेमगोपाल आपकी रक्षा करे ।

नरेश कुमारपाल को हेम सम्बोधन देकर कही गई यह बात उचित लगी नही, उनकी भौहे वक्र हो गई ।[१] तभी रामचद्र श्लोकार्द्ध की पूर्ति करते हुए बोले—

"षड्दर्शनपशुग्राम चारयन् जैनगोचरे"

नरेश कुमारपाल मुनि रामचंद्र की आशु रचना पर अत्यन्त प्रसन्न हुए । विश्वेश्वर कवि को मुनि की प्रत्युत्पन्न मति व प्रतिभा से सबके सामने लज्जित होना पडा ।

सिद्धराज जयसिंह वि० स० ११८१ में मालव विजय प्राप्त करके लौटे

थे। उस समय जैनों के प्रतिनिधि रूप मे हेमचन्द्राचार्य ने विजयी सिद्धराज को आशीर्वचन दिया था।[1] इस घटना प्रसङ्ग के बाद ही रामचन्द्राचार्य का सिद्धराज जयसिंह से परिचय मुनि अवस्था मे हुआ था। परिचय वृद्धि का यह काल एक दशक से भी कम रहा है। विक्रम् की १२ वी शताब्दी के सम्पन्न होने से पूर्व ही नरेश जयसिह का देहावसान हो गया था।[2]

साहित्य

आचार्य रामचद्र की साहित्य साधना विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होने मौलिक एव लोकोपयोगी ग्रथो का सृजन किया है। उस समय गुजरात मे लगभग बहुर्चचित दो दर्जन सस्कृत नाटको की रचनाएं हुई।

उनमे ग्यारह नाटकों के रचनाकार स्वय रामचद्र थे। संस्कृत नाटक रचना की कई विधाए उस समय प्रचलित थी। उनमें नाटक प्रकरण और व्यायोग इन चार प्रकारों मे सस्कृत नाटक कृतियो की रचना आचार्य रामचद्र ने की थी। 'नाट्यदर्पण आचार्य रामचद्र के ग्रथों में अधिक प्रसिद्ध रचना है। कुमार विहार शतक, द्रव्यालकारग्रथ, ये भी रामचद्राचार्य के प्रमुख ग्रथ हैं। कतिपय मुख्य ग्रथों का परिचय इस प्रकार हैं—

नाट्यदर्पण

आचार्य रामचद्र ने कई नाटक ग्रथ रचे। उनमे नाट्यदर्पण ग्रथ की रचना से उनको विशेष ख्याति प्राप्त हुई।

नाट्यदर्पण मे उन्होने कई नवीन दृष्टिया प्रदान की हैं। नाटक के प्रकारो एव रसो के वर्णन मे उनका अपना मौलिक चिंतन प्रकट हुआ। किसी अन्य नाटक से किञ्चित् भी उधार लिया हुआ प्रतीत नही होता। भरत नाट्य शास्त्र से भी उनका अपना वर्णन पृथक् है।

बहुविध सामग्री से परिपूर्ण लोकोपयोगी यह ग्रथ अत्यन्त सरस भी है। इसमे चालीस से भी अधिक नाटकों के उद्धरण प्रस्तुत है। सस्कृत के भी उपलब्ध, अनुपलब्ध कई नाटको के उल्लेख हैं। इसमें उनकी गहन अध्ययन-शीलता का भी परिचय मिलता है। अभिनव कलाओं की व्यञ्जना और मौर्य-काल के इतिहास की झाकी भी इस ग्रथ मे प्रस्तुत है। विशाखदत्त के देवी-चन्द्रगुप्त नामक नाटक के कई उद्धरणो की प्रस्तुति से गुप्तकाल की घटनाओं का इतिहास भी इससे ज्ञात होता है। विशाखदत्त का यह नाटक वर्तमान मे अनुपलब्ध है।

सामान्य कथावस्तु को भी नाटकीय रूप में परिवर्तित कर देने की उनमे अद्भुत क्षमता थी।

रामचन्द्र ने अपने इस नाटक में जिन ग्यारह नाटकों का उल्लेख किया है। उनमें "सत्यहरिश्चंद्र नाटक" एक ऐतिहासिक कथा से सबन्धित है। यह कृति सरस शिक्षात्मक सुभाषितों एवं मुहावरो से मडित है। इटालियन भाषा में भी इसका अनुवाद है।

"नलविलास' नाटक में सात अंक है। इस कथावस्तु का मूल का आधार महाभारत है। इस कृति मे भी अनेक शिक्षात्मक सुभाषित हैं।

"मल्लिकामकरन्द" एक सामाजिक भूमिका पर आधारित सुखात नाटक है। इसकी कथा काल्पनिक है।

"कौमुदी मित्राणन्द" यह नाटक भी सामाजिक है। इसके दस अङ्क हैं। इसे कौमुदी नाटक भी कहते हैं। डा० कीथ के अभिमत से यह कृति पूर्ण रूप से अनाटकीय है। रचनाकार ने भी इसको एक प्रकरण माना है।

"रघुविलास" नाटक का मूल आधार जैन-रामायण है। इसके आठ अक हैं।

"निर्भयभीम व्यायोग" इस रूपक का आधार भी महाभारत है। यह रचना प्रमादगुण से सम्पन्न है।

रोहिणीमृगाङ्क, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, वनमाला ये चारों रचनाएं अनुपलब्ध हैं। 'सुधा-कलश' सुभाषितो का कोश ग्रथ माना जाता है।

लौकिक विषयो पर सागोपाग विवेचन करने हेतु आचार्य रामचद्र जैसा साहस गुण विरले ही आचार्यों मे प्रकट हुआ है।

द्रव्यालंकार-कृति

न्याय व सिद्धात विषय पर आधारित तथा प्रमेय विषय की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करने वाली इस कृति का स्याद्वाद-मञ्जरी में तथा च "द्रव्यालङ्कारे" कहकर उल्लेख किया है। कृति के प्रकाशात मे मुनि रामचंद्र और गुणचंद्र का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है इन दोनो में गहरी मित्रता थी पर इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत कृति के तृतीय प्रकाश के अन्त मे श्लोक है—

नोत्प्रेक्षा बहुमानतो न च परस्पर्द्धा समुल्लासतो,
नापीन्दुद्युतिनिर्मलाय यशसे नोवाकृते संपदा।

आवाभ्यामयमाहत किमु बुधा द्रव्यप्रपंचश्रम ।
सन्दर्भान्तिरनिर्मिता वननमं प्रज्ञा प्रकर्षश्रिये ।।

इति श्री रामचद्रगुणचद्रविरचिताया स्वोपज्ञद्रव्यालङ्कारटीकाया तृतीयोऽकं प्रकाश इति सवत् १२०२ सह निगेन (ना) लिखे ।

प्रस्तुत श्लोक मे ग्रथकार के द्वारा रचना का उद्देश्य निर्दिष्ट हुआ है। इस ग्रथ के शीर्षक से यह अपने विषय की उत्तम रचना आभासित होती है ।

आचार्य रामचद्र के साथ प्रबधशतकर्तृक विशेषण भी आता है । यह विशेषण उनके सौ ग्रंथो का सूचक हो सकता है या इसी नाम के किसी एक ग्रथ का परिचायक है ।

रामचद्राचार्य की कृतियो से तथा समस्यापूर्ति के घटना प्रसगों से स्पष्ट है—न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, काव्यशास्त्र और शब्दशास्त्र ये अधिकृत विषय थे । नाटकशास्त्र सबंधी उनका ज्ञान सर्वाधिक विशिष्ट था ।

समय-संकेत

विपुल ख्याति प्राप्त होने पर भी रामचद्राचार्य के गृहस्थ जीवन का परिचय पर्याप्त रूप मे उपलब्ध नही है । रामचद्राचार्य द्वारा रचित "नल विलास" नाटक के सपादक पडित लालचद्र गाधी के अभिमत मे उनका जीवन वी० नि० १६१५ (वि० स० ११४५) सूरि पद वी० नि० १६३६ (वि० स० ११६६) आचार्य पदारोहण वी० नि० १६६६ (वि० स० १२२६) मे हुआ । उनका स्वर्गवास इतिहास की अत्यन्त दु खान्त घटना है ।

हेमचद्राचार्य का उत्तराधिकार शिष्य रामचंद्र को मिला । इससे उनके गुरुभ्राता बालचद्र मुनि मे ईर्ष्या का विषाक्त अकुर फूट पडा । आचार्य हेमचद्र के बाद महाराज कुमारपाल की मृत्यु बत्तीस दिन के बाद ही हो गई थी । कुमारपाल का भतीजा अजपाल सिंहासन पर आरूढ हुआ । बालचंद्र मुनि की अजपाल के साथ गाढ मित्रता हो गई । मुनिजी ने रामचद्र के विरुद्ध अजपाल के कान भर दिये थे । आचार्य हेमचद्र के साथ अजपाल का पूर्व वैर भी था। उस वैर का बदला रामचद्र के साथ लिया गया उन्हे मरवाने के लिए लोमहर्षक योजना बनी । अभय आदि श्रेष्ठी जनो ने इस योजना को विफल करने हेतु बहुत प्रयत्न किए । उनका कोई प्रयत्न रामचंद्रसूरि को इस षड्यंत्र से मुक्त न कर सका । हेमचद्राचार्य के स्वर्गवास से एक वर्ष बाद ही वी० नि० १७०० (वि० स० १२३०) मे मर्मान्त वेदना को सहते हुए उन्हे मृत्यु से आलिगन

करना पड़ा था।

ग्रंथो में उल्लेख है—राजाज्ञापूर्वक रामचद्रसूरि को तप्त ताम्र पट्टिका पर बैठाकर उनका अन्त कर दिया गया था।[६]

कुमारपाल का शासनकाल वि० स० ११९९ से १२३० तक ३१ वर्ष का बताया गया है। कुमारपाल के बाद अजयपाल वि० १२३० में राज्य सिंहासन पर आसीन हुआ था।[७] उसके राज्यकाल के प्रथम वर्ष मे ही रामचंद्रसूरि के देहावसान की यह क्रूर घटना घटी।

धर्मसघ को रामचद्रसूरि के आचार्यकाल के कुशल शासन एव प्रवचनो का लाभ अल्प समय के लिए ही प्राप्त हो सका। पर यशस्वी व्यक्तित्व स्फुरणशील मनीषा का वैभव एवं रचनाओ का रमणीय रूप आज भी उनके साहित्य दर्पण मे प्रतिबिम्बित है।

आधार-स्थल

१. "श्रीमदाचार्यहेमचद्रस्थशिष्येण रामचद्रे न विरचितं नलविलासाभिधान माद्यं"......

(नलविलास, नाटक पृ० १)

२. राजा श्रीसिद्धराजेनान्यदानुयुयुजे प्रभु।
भवता कोऽसि पट्टस्य योग्य शिष्यो गुणाधिक ॥१२९॥
तमस्माक दर्शयत् चित्रोत्कर्षाय मानिव।
अपुत्रमनुकम्पार्हं पूर्वं त्वा मा स्म शोचयन् ॥१३०॥
(प्रभा० च० हेम० सूरि प्रबध पृ० १७८)

३. अस्त्यामुष्यायणो रामचद्राख्य. कृतिशेखर।
प्राप्तरेख प्राप्तरूप सघे विश्वकलानिधि ॥१३३॥
(प्रभा० च० हेम० सूरि प्रबध पृ० १७८)

४. कस्मिन्नप्यऽवसरे विश्वेश्वरनामा कविर्वाराणस्या श्रीपत्तनमुपागतः प्रभु श्री हेमसूरीणा संसदि प्राप्त। तत्र कुमारपालनृपतौ विद्यमाने सः-
(प्रबधचिंतामणि. कुमारपालादिप्रबध पृ० ८९)

५. नृपेण सक्रोधं निरैक्ष्यत।
(प्रबधचिंतामणि कुमार······· पृ० ८९)

६. गणधरवाद प्रस्तावना पृ० ४८

७. द्वादशस्वथवर्षणां शतेषु विरतेषु च।
एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिव गते ॥३९४॥
(प्रभा० च० हेम० सूरि प्रबंध पृ० १९७)

८. "इति श्री रामचंद्र गुणचद्र विरचिताया स्वोपज्ञ द्रव्यालङ्कारटीकायां द्वितीय पुद्गल प्रकाशः समाप्त ।"

(द्रव्यालङ्कार टीका प्रकाश-२)

९. अथप्रबधशतकर्त्ता "रामचंद्रस्तु तेन भूपासदेन तप्तताम्रपट्टिकायां निवेश्यमान. ।

(प्रबंधचिंतामणि पृ० ९७)

१०. सं० ११९९ वर्षपूर्वं ३१ श्रीकुमारपालदेवेन राज्यं कृतम् ।
स० १२३० वर्षेऽजयदेवो राज्येऽभिषिक्त: ।

(प्रबधचिंतामणि पृ० ९५)

६८. अप्रमत्त विहारी आचाय आर्यरक्षित

आर्यरक्षितसूरि सुविहितमार्गी परम्परा के पक्षधर थे। अञ्चल गच्छ के प्रवर्तक थे एव अनुयोग व्यवस्थापक, पूर्वधर आचार्य आर्यरक्षित से भिन्न थे।

गुरु-परम्परा

प्रस्तुत आर्यरक्षितसूरि के गुरु नाणावाल गच्छ के आचार्य जयसिंहसूरि थे। इनकी पूर्ववर्ती गुरु परम्परा मे धर्मचन्द्रसूरि, गुणसमुद्रसूरि, विजयप्रभसूरि, नरचन्द्रसूरि, वीरचन्द्रसूरि आदि आचार्य हुए। नाणावाल गच्छ का जन्म प्रभाचन्द्रसूरि से हुआ अतः आर्यरक्षितसूरि के आदि गुरु प्रभाचन्द्रसूरि थे।

जन्म एवं परिवार

आर्यरक्षित वैश्य वश और पोरवाड़ गोत्र के थे। उनके पिता का नाम द्रोणा था, माता का नाम देदी था। उनका जन्म दन्ताणी ग्राम में वी० नि० १६०६ (वि० स० ११३६) मे हुआ। बालक का नाम गोदुहकुमार रखा गया।

जीवन-वृत्त

गोदुहकुमार बालक ही थे, उनका परिवार जैनधर्म के प्रति अगाध आस्थाशील था। एक बार नाणावाल गच्छ के आचार्य जयसिंहसूरि का दन्ताणी मे पादार्पण हुआ। श्रेष्ठी द्रोण ने भक्ति भाव से अपने पुत्र गोदुहकुमार को गुरु के चरणो मे समर्पित कर दिया। जयसिंहसूरि गोदुहकुमार को साथ लेकर खंभात की ओर गए और वहा उन्होने वी० नि० १६१६ (वि० सं० ११४६) पौष शुक्ला तृतीया के दिन बालक गोदुहकुमार को मुनि दीक्षा प्रदान की। मुनि जीवन मे बालक का नाम आर्यरक्षित रखा गया।

मुनि आर्यरक्षित ने आगम-ज्ञान जयसिंहसूरि से और मत्र-तन्त्र का प्रशिक्षण यति रामचन्द्र से पाया। यति रामचन्द्र जयसिंह, आर्यरक्षितसूरि के शिष्य थे। पाटण मे आर्यरक्षितसूरि की आचार्य पद पर नियुक्ति वी० नि० १६२६ (वि०स० ११५६) माघ शुक्ला तृतीया के दिन हुई। आगम पाठो का

मंथन करते-करते उन्हे लगा—वर्तमान मे मुनि-जीवन मे शिथिलाचार पनप रहा है। वे अपने मामा शीलगुणसूरि के साथ पूनमिया गच्छ मे प्रविष्ट हुए। इसी गच्छ मे रहते हुए उन्होने भालेजग्राम के श्रेष्ठी यशोधवल भन्साली को कुटुम्ब सहित जैन दीक्षा प्रदान की। पूनमिया गच्छ मे आर्यरक्षितसूरि विजयचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। कुछ वर्षो के बाद पुन वे नाणावाल गच्छ मे आये और उनकी ख्याति फिर से आर्यरक्षित नाम से होने लगी। पुन: पुन: गच्छ परिवर्तन करने के बावजूद भी उन्हे सन्तोष नही था। मुनि जीवन की आचार शिथिलता उनके मन को कचोट रही थी। अत नाणावाल गच्छ मे रहते हुए उन्होने क्रियोद्धार किया। नए नियम बनाए तथा वी० नि० १६२६ (वि० स० ११५६) मे उन्होने विधिपक्ष गच्छ की और वी० नि० १६०३ (वि० स० १२१३) मे अञ्चल गच्छ की स्थापना की।

अञ्चल गच्छ चैत्यवासियो के द्वारा पोषित शिथिलाचार के विरुद्ध क्रान्ति चरण था। दीपपूजा, फलपूजा, बीजपूजा, तण्डुलपूजा, पत्रपूजा का आर्यरक्षितसूरि ने घोर विरोध किया एव पर्व दिन पर श्रावको को पौषध करने का तथा सामायिक और धार्मिक क्रिया करते समय यत्ना के लिए वस्त्र विशेष (मुख वस्त्रिका के रूप मे अञ्चल विशेष रखने का निर्देश दिया गया। अञ्चलगच्छ की समाचारी का वर्णन धर्मघोषसूरि ने वि० स० १२६३ मे 'शतपदिका' प्राकृत ग्रन्थ मे किया था, पर वह वर्तमान मे उपलब्ध नही है। इसी ग्रन्थ के आधार पर महेन्द्रसूरि ने वि० स० १२६४ मे सस्कृत मे शतपदी ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ वर्तमान मे उपलब्ध है और अञ्चलगच्छ की समाचारी का ज्ञान इस ग्रन्थ से किया जा सकता है।

अञ्चल गच्छ की समाचारी को पूर्णिमा गच्छ, सार्ध-पूर्णिमा गच्छ और आगम गच्छ से भी स्वीकृति प्राप्त थी। नाडोल गच्छ, बल्लभी गच्छ, आदि ने इनकी समाचारी का अनुसरण भी किया था।

नामकरण

सिद्धराज जयसिंह ने आर्यरक्षितसूरि की वचनदृढता के कारण उनके गच्छ को अचलगच्छ कहकर सम्बोधित किया था। पट्टावलियों मे प्राप्त उल्लेखानुसार पाटण मे गुर्जर नरेश कुमारपाल की सभा मे विराजमान आर्यरक्षितसूरि को उनके भक्त ने अपने उत्तरासग (वस्त्र विशेष) के एक छोर से भूमि का परिमार्जन करने के बाद वहा विधिपूर्वक बैठकर वन्दन किया था तब से नरेश कुमारपाल के द्वारा इस सघ का नाम अञ्चल गच्छ के नाम से प्रसिद्ध

हुआ।

अञ्चल गच्छ मे महत्तरा के पद पर साध्वी समयश्री प्रतिष्ठित हुई। समयश्री ने श्री सम्पन्न परिवार को छोड़कर पूर्ण वैराग्य से २५ बहिनो के साथ आर्यरक्षित के पास दीक्षा ग्रहण की।

आर्यरक्षितसूरि ने गुजरात, सिंध, सौराष्ट्र, मध्यप्रदेश (मलय) आदि प्रदेशो मे विहरण किया। जैन दर्शन की प्रभावना हेतु उन्होने कई चामत्कारिक (परकाय-प्रवेश) कार्य किए।

आर्यरक्षित के प्रमुख भक्त यशोधन भंसाली ने इस गच्छ के प्रचार-प्रसार मे तन-मन-धन से योगदान दिया था। अञ्चल गच्छ की पट्टावलियो मे प्राचीन ग्रन्थ और शिलालेखों मे यशोधन भसाली का गौरवपूर्ण शब्दो मे उल्लेख है।

आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी जयसिंहसूरि थे। उनके पिता का नाम द्रोण था माता का नाम नेढी था। जम्बू का आख्यान सुनकर बालक जयसिंह को वैराग्य हुआ। अठारह वर्ष की उम्र मे थराद मे दीक्षा ग्रहण की। आगमों का गम्भीर अध्ययन कर वे विद्वानों की श्रेणी मे पहुंचे। अञ्चल गच्छ का भार आर्यरक्षित के बाद उन्होने कुशलता से सम्भाला।

आर्यरक्षित ने अञ्चल गच्छ की स्थापना की। उसका व्यापक रूप से प्रचार करने वाले, और गच्छ को सुव्यवस्थित तथा संगठित रूप देने वाले जयसिंहसूरि ही थे।

समय-संकेत

आर्यरक्षितसूरि का स्वर्गवास वी० नि० १६६६ (वि० स० १२२६) मे ६१ वर्ष की उम्र मे हुआ। महेन्द्रसूरि की शतपदी और लघु शतपदी मे इसी संवत् का उल्लेख है। मेरुतुङ्गसूरि की पट्टावलि के अनुसार आर्यरक्षितसूरि सौ वर्ष की उम्र मे वी० नि० १७०६ (वि० स० १२३६) पावागढ़ मे ७ दिन के अनशन के साथ स्वर्गवासी हुए थे। मुनि लाखारचित गुरु पट्टावलि के अनुसार आर्यरक्षित का स्वर्गवास १०० वर्ष की उम्र मे रेणा नदी के तट पर हुआ था।

आर्यरक्षितसूरि के उत्तराधिकारी जयसिंहसूरि का स्वर्गवास वी० नि० १७२८ (वि० सं० १२५८) मे हुआ था।

इन उक्त संवतों के आधार पर आर्यरक्षितसूरि वी० नि० १७ वी० १८ वीं० (वि० की १२ वीं, १३ वी) शताब्दी के मध्यवर्ती विद्वान् प्रमाणित होते हैं।

६६. जिनधर्मानुरागी आचार्य जयसिंहसूरि

अञ्चल गच्छ में धर्मघोषसूरि, महेन्द्रसूरि, भुवनतुङ्गसूरि, मेरुतुङ्गसूरि, कल्याणसागरसूरि आदि अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं उनमे एक नाम जयसिंहसूरि का भी है। जयसिंहसूरि की स्मरणशक्ति प्रखर थी। सैकडो पद्य वे एक दिन मे कठस्थ कर लेते थे। व्याकरण, न्याय, साहित्य, छन्द, अलकार, आगम आदि विविध विषयो के वे विद्वान् थे।

गुरु-परम्परा

जयसिंहसूरि के गुरु आर्यरक्षितसूरि थे। आर्यरक्षित स्वय अञ्चल गच्छ के संस्थापक थे अतः जयसिंहसूरि की गुरु परम्परा आर्यरक्षितसूरि से ही प्रारम्भ मानी जा सकती है। आर्यरक्षितसूरि के प्रथम उत्तराधिकारी आचार्य जयसिंहसूरि ही थे।

जन्म एवं परिवार

जयसिंहसूरि का जन्म ओसवाल परिवार मे हुआ उनके पिता का नाम द्रोण और माता का नाम नेढी था। श्रेष्ठी द्रोण सपरिवार सोपारक नगर मे रहते थे।

जीवन-वृत्त

जयसिंहसूरि ने एक बार कक्कसूरि से 'जम्बूचरित्र' व्याख्यान सुना। उनका मन ससार से विरक्त हो गया। संयम ग्रहण करने की भावना जगी। वैराग्य भावपूर्वक उन्होंने थराद मे वी० नि० १६६७ (वि० स० ११६७) में आर्यरक्षितसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। इस समय जयसिंहसूरि की उम्र अठारह वर्ष की थी। मुनि जीवन में उनका नाम यशेसचन्द्र रखा गया। गुरु की सन्निधि मे रहकर उन्होने विद्याभ्यास किया, आगमो का अध्ययन किया। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण कुछ ही वर्षों मे वे अनेक विषयों के ज्ञाता बन गए।

योग्यता के आधार पर वी०नि० १६७२ (वि०सं० १२०२) मे उनकी नियुक्ति आचार्य पद पर हुई। आचार्य पद की नियुक्ति के बाद उनका नाम

जयसिंहसूरि रख दिया गया।

जयसिंहसूरि मेवाड़, मारवाड, कच्छ, सौराष्ट्र आदि क्षेत्रों मे विचरे अनेक व्यक्तियों को जैन धर्म का बोध दिया। कइयों को जैन दीक्षा भी प्रदान की।

आर्यरक्षितसूरि ने अञ्चल गच्छ की स्थापना की थी। उनका व्यापक प्रचार-प्रसार करने वाले जयसिंहसूरि थे। अपने गच्छ को सगठित करने का उन्होने महान् प्रयत्न किया था।

समय संकेत

जयसिंहसूरि वि० की १२ वी शताब्दी के अन्तिम शतक में दीक्षित हुए तथा १३ वी शताब्दी के प्रथम दशक में आचार्य बने। उन्होंने अपने धर्म-संघ का लगभग ५६ वर्ष तक कुशलतापूर्वक दायित्व सम्भाला। उनका स्वर्ग-वास वी० १७२८ (वि०सं० १२५८) मे हुआ। अञ्चल गच्छ के प्रभावी आचार्य जयसिंहसूरि वी० नि० की १८ वी (वि० की १३ वीं) शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे।

१००. उदारमना आचार्य उदयप्रभ

उदयप्रभ नागेन्द्र गच्छ के प्रभावी आचार्य थे। उनके वर्चस्वी व्यक्तित्व का जनता पर विशेष प्रभाव था। गुजरात के महामात्य वस्तुपाल और तेजपाल उनके दृढ आस्थावान भक्त थे।

गुरु-परम्परा

उदयप्रभसूरि की गुरु परम्परा मे शान्तिसूरि के शिष्य अमरचन्दसूरि, उनके शिष्य हरिभद्र, हरिभद्र के शिष्य विजयसेन और विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ थे।

जीवन-वृत्त

उदयप्रभसूरि ने लघुवय मे मुनि दीक्षा ग्रहण की। प्रसिद्ध आख्यानकार माणभट्ट का व्याख्यान सुनकर उन्होने व्याख्यान देने की कला सीखी थी। उदयप्रभसूरि की इच्छानुसार ही महामात्य वस्तुपाल ने छ मास तक उपाश्रय के निकट माणभट्ट के व्याख्यान आदि की व्यवस्था की थी।

उदयप्रभसूरि का नाम मत्र की तरह प्रभावक माना जाता था। आचार्य मल्लिषेन का उदयप्रभसूरि के विषय मे उल्लेख है —

मातर्भारति ! सनिधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते—
निर्मातु विवृति प्रसिद्धयति जवादारम्भसभावना।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयो. स्फुरति मत् सारस्वत शाश्वतो—
मन्त्र श्री उदयप्रभेति रचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥४॥

गुजरात के राजा वीरधवल पर उदयप्रभसूरि का अप्रतिहत प्रभाव था। वीरधवल के महामात्य पुत्र वस्तुपाल एवं तेजपाल दोनो भाई जैन थे। वीरधवल को दिगान्तव्यापी बनाने मे दोनो का अपूर्व योगदान था।

युगल बन्धु एक ओर महामात्य, सेनापति एव अर्थव्यवस्थापक थे दूसरी ओर प्रचण्ड योद्धा, महादानी एव धार्मिक भी थे।

एक बार शक्तिशाली म्लेच्छ सेना के आगमन की सूचना पाकर गुर्जर नरेश श्री वीरधवल चिन्तित हुआ। सने अमात्य वस्तुपाल को बुलाकर

कहा—"गर्दभी विद्यासिद्ध गर्दभिल्ल राजा भी म्लेच्छों के द्वारा पराभूत हो गया था। महाशक्तिशाली राजा शिलादित्य का राज्य भी इनसे ध्वस्त हो गया। म्लेच्छ समुदाय दुर्जेय है। हमे अपनी सुरक्षा के लिए क्या करना चाहिये?" वस्तुपाल ने कहा—"राजन्! आप चिन्ता न करे। म्लेच्छों के सामने रणभूमि मे खडा होने के लिए मुझे प्रेरित करें।" राजा ने वैसा ही किया। वस्तुपाल और तेजपाल युगल बन्धुओ की शक्ति के सामने म्लेच्छ जाति पराजित हो गई।

वणिक्पुत्र व्यापार-कुशल ही नहीं होते, क्षत्रिय जैसा उद्दीप्त तेज भी उनमे होता है। यह बात दोनो अमात्यो ने सिद्ध कर दी।

महायशोभाग वस्तुपाल का व्यक्तित्व कई विशेषताओ से सम्पन्न था। उनके जीवन मे लक्ष्मी, सरस्वती एवं शक्ति का आश्चर्यजनक समन्वय था। हिन्दुस्तान मे पूर्व से पश्चिम एव उत्तर से दक्षिण पर्यन्त दूर-दूर तक महामात्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त थी। वाग्देवी सूनु तथा सरस्वती-पुत्र की उपाधियो से वह विभूषित था। राजा भोज की तरह वह विद्वानो का आश्रय-दाता था। वस्तुपाल ने विद्यामण्डल की स्थापना की थी, जिससे संस्कृत साहित्य की महान् वृद्धि हुई।

असाधारण व्यक्तित्व के धनी, महादानी, सबल योद्धा, कवि, लेखक, साहित्य रसिक, विद्वानो का सम्मानदाता, उदारहृदय एव सर्वधर्मसमदर्शी जैन महामात्य वस्तुपाल को पाकर गुजरात की धरा धान्य हो गयी थी। उसका भाग्याकाश श्रीशशिसम्पन्न होकर चमक उठा था। मध्यकाल की धर्मप्रभावक जैन श्रावक मण्डली मे अमात्य वस्तुपाल का स्थान सर्वोत्तम था। सरस्वती कण्ठाभरणादि चौबीस उपाधियो से अलङ्कृत एव सग्राम-भूमि मे तिरेसठ बार विजय प्राप्त करने वाला वस्तुपाल अमात्य धर्म-प्रचार कार्य मे भी सतत प्रयत्नशील रहता था। धर्म प्रभावना के हेतु उसने (३१४१८८००) रूप्य राशि का व्यय किया था।

श्री वस्तुपाल का यश दक्षिण दिशा मे श्रीपर्वत तक, पश्चिम मे प्रभास तक, उत्तर मे केदार पर्वत तक और पूर्व मे वाराणसी तक विस्तृत था।

इतिहास-प्रसिद्ध इस महामात्य को प्रभावित करने वाले धर्माचार्यो मे जयसिंहसूरि, नरचंद्रसूरि, शान्तिसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयसेनसूरि, बालचद्र-सूरि आदि कई आचार्यों के नाम हैं। उनमे एक नाम आचार्य उदयप्रभसूरि का

भी है।

साहित्य

उदयप्रभाचार्य धर्म प्रचारक थे एव यशस्वी साहित्यकार भी थे। उन्होंने सघपति चरित्र, आरम्भ सिद्धि, सुकृत कीर्ति कल्लोलिनी, नेमिनाथ चरित्र, षड्शीति टिप्पण, कर्मस्तव टिप्पण, उपदेशमाला, उपदेश-कर्णिका वृत्ति—इन ग्रथो की रचना की थी।

सघपति चरित्र ग्रथ का दूसरा नाम धर्माभ्युदय है। यह महाकाव्य है। इस ग्रथ की रचना वी० नि० १७५७ (वि० स० १२८६) मे हुई थी।

नेमिनाथ चरित्र संस्कृत भाषा की प्रशस्त रचना है।

सुकृत कीर्ति कल्लोलिनी नामक ग्रथ भी उत्तम कोटि का है। यह वस्तुपाल, तेजपाल के धार्मिक कार्यो का प्रशस्ति काव्य है। इसके १८६ श्लोक हैं। इसमे चावडा वश नरेशो के शौर्य का वर्णन, वस्तुपाल की वंशावली, उनकी सघ यात्राए, चालुक्य नृपो का वर्णन, वीर धवल और उनके पूर्वजो की प्रशंसा है। नागेन्द्रगच्छ के आचार्यो की पट्टावली भी है। शत्रुजय पर्वत पर आदिनाथ मदिर के किसी शिलापट्ट पर उत्कीर्ण कराने के पवित्र उद्देश्य से इस प्रशस्ति काव्य को रचा गया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रथ महत्त्वपूर्ण है।

समय-संकेत

सुकृत कीर्ति कल्लोलिनी काव्य की रचना वी० नि० १७४५ (वि० स० १२७५) मे हुई थी।

धर्माभ्युदय काव्य की रचना वी० नि० १७५७ (वि० १२८७) मे हुई थी। धर्माभ्युदय महाकाव्य को महामात्य वस्तुपाल ने वी० नि० १७६० (वि० स० १२९०) मे खभात के प्रस्तर पर खुदवाया था। इस आधार पर आचार्य उदयप्रभसूरि का समय वी० नि० की १७ वी शताब्दी (वि० की १३ वी) का उत्तरार्द्ध है।

१०१. सरस व्याख्याकार आचार्य रत्नप्रभसूरि

रत्नप्रभसूरि सुविहित मार्गी श्वेताम्बर आचार्य थे। न्याय और दर्शन-शास्त्र के वे विशेषज्ञ थे। कुशल रचनाकार थे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनो भाषाओं पर उनका आधिपत्य था।

गुरु-परम्परा

रत्नप्रभसूरि के गुरु बडगच्छ के प्रभावी आचार्य वादिदेवसूरि थे। वादिदेवसूरि के गुरु सुविहितमार्गी मुनिचंद्र थे। वादिदेवसूरि के शिष्य-परिवार मे भद्रेश्वरसूरि, रत्नप्रभसूरि, विजयचद्रसूरि, परमानन्दसूरि और माणिक्य नन्दसूरि प्रमुख थे।

जीवन-वृत्त

रत्नप्रभसूरि वादिदेवसूरि के सुयोग्य पट्टधर थे। रत्नप्रभसूरि के मित्र मुनि उनको रत्नाकर नाम से सम्बोधित करते थे। यह नाम सम्भवत उनका विनय आदि गुणो के कारण प्रसिद्ध हुआ। इतिहास के पृष्ठो पर वे रत्नप्रभ-सूरि नाम से प्रसिद्ध हैं। वादिदेवसूरि ने अपने कई शिष्यो की नियुक्ति आचार्य पद पर की थी। उनके मुख्य पट्टधर भद्रेश्वरसूरि थे। भद्रेश्वर मुनि रत्नप्रभ-सूरि के सम्भवत. सहपाठी मुनि थे। स्याद्वादग्रन्थरत्नाकर के निर्माण मे वादिदेवसूरि को भद्रेश्वरसूरि एवं रत्नप्रभसूरि का असाधारण सहयोग प्राप्त था। वादिदेवसूरि ने अपने इन दोनो शिष्यो का विशेष उल्लेख निम्नोक्त श्लोक मे इस प्रकार किया है—

किं दुष्करं भवतु तत्र मम प्रबन्धे,
यत्राभिनिर्मलमतिः सतताभिमुख्य ।
भद्रेश्वर· प्रवरसूक्तसुधा प्रवाहो,
रत्नप्रभ· स भजते सहकारिभावम् ॥

साहित्य

साहित्य क्षेत्र में रत्नप्रभसूरि का प्रयत्न विशेष प्रशसनीय है। उन्होने जो ग्रंथ रचे, वे संख्या की दृष्टि से कम हैं पर सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

नेमिनाह-चरिय (नेमिनाथ-चरित्र)

नेमिनाह-चरिय की रचना उन्होंने वी० नि० १७०२ (वि० स० १२३२) मे की थी। यह उनकी प्राकृत रचना है। प्राकृत भाषा मे भी आचार्य रत्नप्रभ का ज्ञान अगाध था।

दोघट्टीवृत्ति

धर्मदासकृत 'उपदेशमाला' पर आचार्य रत्नप्रभ की ११११५० श्लोक परिमाण दोघट्टीवृत्ति (उपदेशमाला विशेष वृत्ति) वी० नि० १७०८ (वि० स० १२३८) की रचना है। इस कृति का निर्माण विजयसेनसूरि की प्रेरणा से भरूच मे बोधतीर्थ महावीर मदिर मे हुआ था। विजयसेनसूरि ख्याति प्राप्त आचार्य थे और वादिदेवसूरि के भाई थे। इस कृति मे विपुल इतिहास सामग्री प्रस्तुत है। आचार्य भद्रेश्वरसूरि ने इस कृति का सशोधन किया था।

रत्नाकरावतारिका

रत्नाकरावतारिका रत्नप्रभसूरि की अनुपम कृति है। यह स्याद्वाद रत्नाकर का प्रवेश मार्ग है। तार्किक शिरोमणि आचार्य वादिदेव द्वारा निर्मित 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' ग्रथ की व्याख्या स्वरूप चौरासी हजार श्लोक परिमाण स्याद्वाद-रत्नाकर अत्यन्त गूढ टीका ग्रंथ है। समासो की दीर्घता एव कठिन शब्द सयोजना के दुर्ग को भेदकर इस ग्रंथ के शब्दार्थ एव पदार्थ तक पहुच पाना बहुत श्रम-साध्य है।

आचार्य रत्नप्रभ रत्नाकरावतारिका की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कृति के प्रारम्भ मे लिखते हैं—"क्वापि तीर्थक्रग्रथग्रन्थि-सार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानप्लवमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदय, सैद्धान्तिक-तार्किकवैयाकरण-कविचक्रवर्तिहिसुविहितगृहिननामधेयास्मद् गुरु श्रीदेवसूरिभिविरचिते-स्याद्वाद-रत्नाकरे न खलु कतिपयतर्क भाषा तीर्थ, मजानन्तोऽपाठीना अधीवराश्च प्रवेष्टु प्रभविष्णव इत्यतस्तेषाभवतारदर्शन कर्तुमनुरूपम्।"

"दर्शनान्तरीय मन्तव्यो का निरसन एव अपने मतव्य का प्रतिपादन करती हुई यह स्याद्वाद-रत्नाकर टीका क्लिष्ट है। तर्क की भाषा को नहीं जानने वाले अकुशल पाठको का अकुशल तैराक की भांति उसमे प्रवेश पाना कठिन है। उनकी सुगमता के लिए मैंने इस ग्रंथ की रचना की है।"

आचार्य रत्नप्रभ ने उक्त पाठ मे सहृदय, सैद्धांतिक, तार्किक, वैयाकरण

कवि, चक्रवर्ती जैसे गौरवमय विशेषण प्रदान कर अपने गुरु वादिदेव के प्रति अपार सम्मान प्रकट किया है।

स्याद्वाद-रत्नाकर का अवगाहन करने के लिए आचार्य रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका यथार्थ में ही रत्नाकरावतारिका सिद्ध हुई है। उपमा की भाषा मे स्याद्वाद-रत्नाकर महाशैल है। उसके उच्चतम शिखर पर पहुंचने के लिए रत्नाकरावतारिका सुगम सोपान-पंक्ति है।

जगत् कर्तृत्व निरसन प्रकरण त, थ आदि तेरह वर्णों मे तथा ती, ते, सी, टा, तम् इन पाच प्रत्ययो मे प्रस्तुत कर रत्नप्रभसूरि ने विलक्षण क्षमता का परिचय दिया है।

मधुर स्वरो मे संगीयमान संगीत, भावमयी कविता एवं आकठ तृप्ति-प्रदायक सुधा-बिन्दु जैसा आनन्दकारी यह ग्रंथ है। इस ग्रंथ में कान्तपदावली का प्रयोग एवं मनोमुग्धकारी शब्द-सौष्ठव काव्य जैसी प्रतीति कराता है।

मतपरीक्षा, पञ्चाशत, अन्तरंगसंधि, अपभ्रंशकुलक आदि रत्नप्रभसूरि की रचनाएं विविध सामग्री प्रदान करने वाली हैं।

समय-संकेत

आचार्य रत्नप्रभ की नेमिनाहचरिय कृति का रचना-समय वी० नि० १७०२ (वि० सं० १२३२) एवं दोषट्टीवृत्ति का रचना समय वी० नि० १७०८ (वि० सं० १२३८ है। इन दोनो कृतियों के आधार पर रत्नप्रभसूरि वी० नि० १८ वी (वि० १३ वी) शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे।

१०२. जगद्नायक आचार्य जगच्चंद्र

जगच्चद्रसूरि त्याग, वैराग्य और तप के मूर्त रूप थे। अपनी विशिष्ट साधना के द्वारा वे विश्व मे चद्र की तरह चमके। 'यथा नाम तथा गुण' इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर उन्होने अपना नाम सार्थक किया।

गुरु-परम्परा

जगच्चद्रसूरि के गुरु बडगच्छ के मणिरत्नसूरि थे। मणिरत्नसूरि के गुरु विजयसिहसूरि थे। विजयसिहसूरि के गुरु अजितदेवसूरि थे। विजयदेवसूरि के तीन पट्टधरो मे मणिरत्नसूरि सबसे छोटे थे। उनका स्वर्गवास सभवत वी० नि० १७४४ (वि० स० १२७४) मे हुआ। शतार्थी नाम से प्रसिद्ध सोमप्रभसूरि मणिरत्नसूरि के गुरु वधु थे।

जन्म एवं परिवार

जगच्चद्रसूरि का जन्म प्राग्वाट् (पोरवाल) वश मे हुआ। उनके पिता का नाम पूर्णदेव था। श्रेष्ठी पूर्णदेव के तीन पुत्र थे—सलखण, वरदेव और जिनदेव। तीनो पुत्रो मे जिनदेव सबसे छोटे थे। उनको धार्मिक प्रभावों ने प्रभावित किया। वैराग्यवृत्ति से उन्होने जैन मुनिदीक्षा ग्रहण की और जगच्चद्रसूरि नाम से वे प्रसिद्ध हुए।[1]

जीवन-वृत्त

जगच्चद्रसूरि के बचपन का नाम जिनदेव था। यह जिनदेव नाम जैन सस्कृति का प्रतीक है। इससे स्पष्ट है कि जगच्चंद्रसूरि का परिवार जैन धर्म के प्रति निष्ठावान था। पूर्णदेव के कनिष्ठ पुत्र जिनदेव ने मुनिदीक्षा ग्रहण करने के बाद शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन कर चतुर्मुखी योग्यता का विकास किया। अपने गुरु मणिरत्नसूरि के बाद वे आचार्य बने तथा उन्होंने प्रभावक आचार्यों की श्रेणी मे स्थान पाया। पूर्ण श्रेष्ठी के बड़े पुत्र वरदेव के चार सन्तान थी। उनमे बडे पुत्र का नाम साढल था। श्रेष्ठी साढ़ल के धीणाक आदि पांच पुत्रों में से क्षेमसिह और देवसिह ने भी जगच्चंद्रसूरि के पास मुनिदीक्षा ग्रहण की।[1] साढल के बडे पुत्र धीणाक की पत्नी का नाम कडू और पुत्र का नाम मोढ़ था।

धीणाक जैन धर्म का महान् उपासक बना।* उसने जैन साहित्य की सुरक्षा में तन-मन-धन से विशेष योगदान दिया।

जगच्चंद्रसूरि विद्वान् थे और महान् तपस्वी भी थे। एक बार चैत्रवाल गच्छ के देवभद्रगणी उनके सम्पर्क मे आए। सूरिजी की चरित्रनिष्ठा और शुद्ध समाचारी का प्रबल प्रभाव देवभद्रगणी पर हुआ। संघ मे छाये शिथिलाचार को कडी चुनौती देकर आचार्य कक्कसूरि की भाति जगच्चंद्रसूरि क्रियोद्धार करने के लिए पहले से उत्सुक थे। देवभद्रगणी का योग उनके इस कार्य को सम्पादित करने हेतु बहुत सहायक सिद्ध हुआ। सूरिजी के अपने शिष्य देवेन्द्र मुनि भी उनके इस कार्य मे निष्ठापूर्वक साथ रहे। इस श्रेष्ठ कार्य मे प्रवृत्त सूरिजी ने प्रवृत्ति की सफलता के लिए यावज्जीवन आयम्बिल तप का अभिग्रह ग्रहण किया। उस समय उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई और सूरिजी को आचार्यपद से सम्मानित किया गया। उनकी उत्कृष्ट तप. साधना ने साधारण जन से लेकर शासक वर्ग तक को अतिशय प्रभावित किया। मेवाड नरेश जैत्रसिहजी ने महातप के आधार पर उन्हे वी० नि० १७५५ (वि० सं० १२८५) मे तपा नामक उपाधि प्रदान की।

कभी-कभी एक व्यक्ति की साधना समग्र समूह को अलंकृत कर देती है। जगच्चद्रसूरि की तप साधना से ऐसा ही फलित हुआ। उनके नाम के साथ जुडी उपाधि गच्छ के साथ प्रयुक्त होने लगी। बडगच्छ का नाम "तपागच्छ" हो गया। बडगच्छ का 'तपागच्छ' के रूप मे नामकरण जगच्चद्रसूरि के गच्छ के साथ हुआ। उनके गुरुभाई शिष्यो ने इस नाम को स्वीकार नही किया। उनके गण की प्रसिद्धि अपने मूल नाम 'बडगच्छ' के रूप मे ही रही।

इन दोनों गच्छो मे नामभेद अवश्य बना, पर सिद्धात, मान्यता, आचार-सहिता एक थी। सिसोदिया राजवंश ने इस 'तपागच्छ' को मान्य किया। वस्तुपाल और तेजपाल दोनो अमात्य इस युग की महान् हस्तिया थी। वस्तुपाल ने एक बार सूरिजी को गुजरात के लिए आमंत्रित किया। महामात्य के गुरु बनकर वे वहा गए। गुजरात की जनता ने हृदय बिछा कर उनका स्वागत किया।

जगच्चद्रसूरि तप के ही धनी नही, विद्या-वैभव से भी सम्पन्न थे। सरस्वती उनके चरणो की उपासिका थी। मेवाड़ में एक बार तीस जैन विद्वानों के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। उसमे आचार्यजी के तर्क हीरे की तरह अभेद्य

(अकाट्य) रहे। आचार्यजी के बौद्धिक कौशल से प्रभावित होकर चित्तौड़ नरेश ने उन्हे 'हीरक' (हीरला) की उपाधि दी।

समय-संकेत

जगच्चंद्रसूरि का मुख्य विहरण क्षेत्र मेवाड़ था। वही पर उनका स्वर्गवास वी० नि० १७५७ (वि० स० १२८७) वीरशालि नामक ग्राम मे हुआ था।

जगच्चंद्रसूरि के शिष्य परिवार मे मे वी० नि० १८५६ (वि० सं० १३८६) मे खम्भात मे तपावृद्ध पोषाल तथा लघुपोषाल का उद्भव हुआ।

आधार-स्थल

१ प्राग्वाटवशतिलकोऽजनि पूर्णदेवस्तस्यात्मजास्त्रय इह प्रथिता बभूवु.।
दुर्वारमारकरिकुम्भविभेदसिंहस्तत्रादिम सलखणोऽभिधया बभूव ॥१॥
द्वितीयकोऽभूद् वरदेवनामा, तृतीयकोऽभूज्जिनदेवसज्ञ।
सोऽन्येद्युरादत्तजिनेन्द्रदीक्षां निर्वाणसौख्याय मनीषिमुख्य ॥२॥
निर्वेदाम्भोधिभग्नो भविककुवलयोद्बोधनाधानचद्र।
कालेनाऽऽचार्यवर्य स समजनि जगच्चद्र इत्याख्यया हि ॥३॥
(आख्यानमणिकोष मवृत्ति, प्रस्तावना पृष्ठ १)

२. क्षेमसिंहाभिधो देवसिंहश्च भवभीरुकः।
श्री जगच्चंद्रसूरीणा पार्श्वे व्रतमाशिश्रियन् ॥८॥
(आख्यानमणिकोष सवृत्ति, प्रस्तावना पृ० १)

३. धीणाकस्य कडुर्नाम पत्नी मोढाभिधः सुन।
अन्येद्यु सुगुरोर्वाक्यं धीणाक श्रुतवानिति ॥६॥
(आख्यानमणिकोष सवत्ति, प्रस्तावना पृ० १)

१०३. रश्मिवितान आचार्य मेरुतुङ्ग

अञ्चल गच्छ के मेरुतुङ्गसूरि भी उच्चकोटि के विद्वान् आचार्य थे। वे कवि थे, साहित्यकार थे एवं मंत्र विद्या के प्रयोक्ता भी थे। वर्तमान में उनकी अधिक प्रसिद्धि जैन महाकाव्य मेघदूत के रचनाकार के रूप मे है।

गुरु-परम्परा

मेरुतुङ्गसूरि की गुरु-परम्परा मे जयसिंहसूरि, धर्मघोषसूरि, महेन्द्रसिंहसूरि, सिंहप्रभसूरि, अजितसिंहसूरि, देवेन्द्रसिंहसूरि, धर्मप्रभसूरि, सिंहतिलकसूरि, महेन्द्रप्रभसूरि आदि आचार्य हुए। मेरुतुङ्गसूरि के गुरु महेन्द्रप्रभसूरि थे। उनके आदि गुरु अञ्चलगच्छ के प्रवर्तक आर्यरक्षितसूरि थे। महेन्द्रप्रभसूरि के तीन शिष्य थे—मुनिशेखर, जयशेखर और मेरुतुङ्ग। इन तीनों शिष्यों में मेरुतुङ्ग कनिष्ठ थे।

जन्म एवं परिवार

मेरुतुङ्गसूरि रास के अनुसार मेरुतुङ्गसूरि (प्राग्वाट्) पोरवाल थे। उनके पिता का नाम वैरसिंह और माता का नाम मालदेवी था। मारवाड (राजस्थान) के अन्तर्गत 'नाणी' ग्राम मे उनका जन्म वि० स० १४०३ में हुआ। बालक का नाम वस्तिग रखा गया। श्री धर्ममूर्ति पट्टावली के अनुसार मेरुतुङ्गसूरि का जन्म वि० सं० १४०५ मे बोहरा परिवार मे हुआ था।

जीवन-वृत्त

बालक वस्तिग धार्मिक प्रवृत्ति का था। उसने लघुवय में आचार्य महेन्द्रप्रभसूरि के पास वी० १८८० (वि०स० १४१०) मे दीक्षा ग्रहण की। इस गणना के आधार पर दीक्षा ग्रहण के समय वस्तिग की उम्र मात्र सात वर्ष की थी। श्री धर्ममूर्ति पट्टावली के अनुसार मेरुतुङ्गसूरि की दीक्षा वी० १८८८ (वि० १४१८) में हुई थी। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने विविध विषयों का तन्मयता से अध्ययन किया। वे वी० नि० १९१५ (वि० १४४५) में गच्छ-नायक बने।

मेरुतुङ्गसूरि के जीवन मे कई विशेषताएं थीं। वे योग के अभ्यासी

थे। वे प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाएं करते और नियमित ध्यान करते थे। ग्रीष्मऋतु के समय धूप में और शीतकाल के समय ठंडे स्थान पर आसन जमाकर कायोत्सर्ग करते थे।

वे मन्त्रवादी आचार्य भी थे। उन्होने मन्त्र शक्ति से प्रभावित कर कई राजाओ को प्रतिबोध दिया। धर्म प्रचार की दिशा मे भी उनका विशेष प्रयत्न था। शिष्य परिवार भी उनका विशाल था। गुजरात, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदि अनेक स्थानो मे विहरण कर उन्होंने जैन धर्म का सदेश जनता तक पहुंचाया।

साहित्य

साहित्य-क्षेत्र मे भी मेरुतुङ्गसूरि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होने विविध विषयात्मक उपयोगी ग्रंथो का निर्माण किया। उनकी ग्रथ राशि मे से कुछ कृतियों का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

षड्दर्शनसमुच्चय

यह दर्शन विषयक कृति है। इसका दूसरा नाम षड्दर्शन निर्णय भी है। इस ग्रथ मे बौद्ध मीमासक, साख्य, न्याय, वैशेषिक और जैन इन छह दर्शनों की सक्षिप्त तुलना है।

रसाध्याय टीका

यह वैदिक ग्रथ पर टीका ग्रथ है। इसकी रचना मेरुतुङ्गसूरि ने वि० स० १४४३ मे पाटण मे की थी।

मेघदूत

यह ग्रथ तीर्थंकर नेमिनाथ-जीवन की विषयक सस्कृत रचना है। इसके चार सर्ग हैं और यह 'मदाक्रांता' छद मे रचा गया है।

सप्तति भाष्य टीका

यह कर्म विषयक ग्रथ है। इस ग्रथ की रचना मुनिशेखरसूरि की प्रेरणा से हुई थी।

शतपदी सारोद्धार

इस कृति का दूसरा नाम शतपदी समुद्धार भी है। इसकी रचना मेरुतुङ्गसूरि ने ५३ वर्ष की अवस्था में की।

कामदेव चरित

यह ग्रथ ७४८२ श्लोक परिमाण गद्यात्मक है। ग्रथ की प्रशस्ति के अनुसार इस ग्रंथ की रचना वि० सं० १४६१ मे हुई थी।

विविध सामग्री

नेमिदूत काव्य, नाभिवंश-संभव-काव्य आदि कई काव्य ग्रथ, कल्पसूत्र वृत्ति आदि कई टीका ग्रंथ, धातुपारायण आदि व्याकरण ग्रथ, ऋषि मण्डल-स्तव आदि स्तवना प्रधान ग्रथ—इन ग्रंथो मे विविधात्मक सामग्री प्रस्तुत है।

समय-संकेत

आचार्य मेरुतुङ्ग का जन्म वी० नि० १८७३ (वि० स० १४०३)तथा स्वर्गवास वी० नि० १६४१ (वि० स० १४७१) मे हुआ। उनकी कुल आयु ६८ वर्ष की थी। यह गणना मुनि लाखागुरु पट्टावली के अनुसार है।

अञ्चलगच्छ के आचार्य मेरुतुङ्गसूरि वी०नि० १६ वी (वि० १५वी) शती के विद्वान् थे।

आधार-स्थल

इग्यारमा गच्छनायक पदे श्री मेरुतुङ्गसूरि। नाणीग्रामि। श्रेष्ठि वइरसीह पिता। नाल्हणपदे माता। संवत् १४०३ वर्षे जन्म संवत् १४१० दीक्षा। सं० १४२६ सूरिपद। म० १४४५ गच्छ नायकं पदं। पत्ने। संवत् १४७१ वर्षे निर्वाण स्तंभतीर्थे सर्वायु वर्ष ६८॥

(मुनि लाखा गुरू पट्टावली)

१०४. दयार्द्रहृदय आचार्य देवेंद्र

देवेन्द्रसूरि का तत्त्व निष्णात आचार्यो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है । सस्कृत भाषा के देवेन्द्रसूरि अधिकृत विद्वान् थे । सैद्धान्तिक एव आगमिक ग्रथो का उन्हे गम्भीर ज्ञान था । जैन दर्शन सम्मत कर्मवाद सिद्धान्त के वे विशिष्ट ज्ञाता थे ।

गुरु-परम्परा

देवेन्द्रसूरि के गुरु जगच्चद्रसूरि थे । जगच्चद्रसूरि मणिरत्नसूरि के शिष्य थे । देवेन्द्रसूरि के भी कई शिष्य थे । उनमे विद्यानदसूरि और धर्मघोषसूरि उनके विद्वान् शिष्यो में से थे ।

जीवन-वृत्त

देवेन्द्रसूरि ने शैशवावस्था मे दीक्षा ग्रहण की और एकनिष्ठा से विद्या की आराधना कर अपने मे विशिष्ट शक्तियो को सजोया । उनकी व्याख्यान शैली रोचक एव प्रभावक थी । श्रोता उनकी वाणी को सुनकर मुग्ध हो जाते थे । उनके उपदेशो से बोध प्राप्त कर कई व्यक्ति सयम पथ के पथिक बने थे ।

उनके विद्वान् शिष्यो मे से विद्यानन्दसूरि और धर्मघोपसूरि द्वारा लघुपौषधशाला का निर्माण हुआ । बडी पौपधशाला के प्रारम्भ का श्रेय विजयचद्रसूरि के शिष्यो को है ।

देवेन्द्रसूरि ने मालव मे धर्म-प्रचार का विशेप कार्य किया था ।

ग्रंथ-रचना

देवेन्द्रसूरि तात्त्विक ग्रन्थो के रचनाकार थे । उन्होने अधिकाशत. सिद्धातपरक साहित्य की रचना की थी । कर्मग्रंथो जैसी अत्यन्त उपयोगी कृतियां देवेन्द्रसूरि के गम्भीर आगमिक ज्ञान की सूचक हैं । कर्मग्रथो की सख्या पाच है । प्रथम कर्मग्रथ की ६० गाथाए, द्वितीय कर्मग्रथ की ३४ गाथाए, तृतीय कर्मग्रथ की २४ गाथाए, चतुर्थ कर्मग्रथ की ८६ गाथाए एव पाचवें कर्मग्रथ की १०० गाथाए हैं । प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर इन कर्मग्रथो मे कर्मों का स्वरूप और उनके परिणाम को अच्छी तरह से समझाया गया है ।

इनमें गुण-स्थानों का भी विवेचन है। कर्मग्रंथो पर देवेन्द्रसूरि का स्वोपज्ञ विवरण है।

सिद्धपंचाशिका सूत्रवृत्ति, धर्मरत्न वृत्ति, श्रावक दिनकृत्य सूत्र, सुदर्शन चरित्र आदि उनकी कई सरस रचनाएं हैं। इसमे विविध सामग्री प्रस्तुत है।

वे कवि भी थे। उन्होने दार्शनिक ग्रथो के अतिरिक्त कुलक आदि विविध मधुर स्तवनों की रचना की। उनकी 'वन्दारु वृत्ति ग्रथ' श्रावकानुविधि के नाम से प्रसिद्ध है।

समय-संकेत

देवेन्द्रसूरि का वी० नि० १७९७ (वि० सं० १३२७) मे स्वर्गवास हुआ। इस आधार पर देवेन्द्रसूरि वी० नि० की १८ वी और वि० की १४ वी शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

१०५-१०६. शब्द-शिल्पी आचार्य सोमप्रभद्वय

जैन श्वेताम्बर मदिर मार्गी परपरा मे सोमप्रभसूरि नाम के भी कई आचार्य हुए है । लोकप्रिय कृति सूक्तिमुक्तावली (सिंदूरप्रकर) काव्य के रचनाकार सोमप्रभसूरि बडगच्छ के आचार्य थे । तपागच्छ मे भी सोमप्रभसूरि नाम के विद्वान् आचार्य हुए है । दोनो मे एक शताब्दी से भी अधिक का अन्तर है । बडगच्छ के आचार्य सोमप्रभसूरि की प्रसिद्धि शतार्थी के रूप मे हुई । वे तपागच्छ के आचार्य सोमप्रभसूरि से पूर्वकालीन थे ।

गुरु-परम्परा

बडगच्छ सोमप्रभसूरि के गुरु विजयसिंहसूरि थे । विजयसिंहसूरि से पूर्व अजितदेवसूरि हुए । विजयसिंहसूरि समर्थवादी आचार्य थे । वे वी० नि० १७०५ (वि० स० १२३५) तक विद्यमान थे । विजयसिंहसूरि के पट्टधर तीन आचार्य थे । उनमे एक नाम प्रस्तुत सोमप्रभसूरि का था । तपागच्छीय सोमप्रभसूरि धर्मघोषसूरि के शिष्य एवं पद्मानदसूरि आदि मुनियो के गुरु थे ।

जन्म एवं परिवार

बडगच्छ के सोमप्रभसूरि का जन्म वैश्य वश पोरवाल (प्राग्वाट्) जैन परिवार मे हुआ । महामत्री जिनदेव उनके दादा थे । पिता का नाम सर्वदेव था । तपागच्छीय सोमप्रभसूरि का जन्म वी० नि० १७८० (वि० १३१०) में हुआ था ।

जीवन-वृत्त

बड़गच्छ सोमप्रभसूरि का परिवार धर्म के प्रति आस्थाशील था । अत सोमप्रभ को धर्म के सस्कार सहज प्राप्त हुए । आचार्य विजयसिंहसूरि से उन्होंने मुनि-दीक्षा ग्रहण की । गुरु चरणो मे बैठकर आगम शास्त्रो का गहन अध्ययन किया तथा व्याकरण, न्याय आदि विविध विषयो के निष्णात विद्वान् बने ।

विजयसिंहसूरि सोमप्रभ मुनि की योग्यता से प्रभावित हुए और उनको

नियुक्ति गच्छनायक के रूप मे की ।

तपागच्छीय सोमप्रभसूरि ने ग्यारह वर्ष की अल्पावस्था मे मुनि दीक्षा ग्रहण की और बाइस वर्ष की लघुवय में वे सूरि पद पर आरूढ़ हुए । उनकी बहुश्रुतता और शास्त्रार्थ-निपुणता प्रसिद्ध थी । उन्होंने चित्तौड़ में ब्राह्मण पण्डितों के सामने विजय प्राप्त कर अपने बुद्धि कौशल का परिचय दिया । जैनागमो का गंभीर ज्ञान भी उनके पास था । एक बार उन्होंने ज्योतिष विद्या के बल पर भीमपल्ली मे घटित होने वाली अनिष्ट घटना को जाना और उसका पूर्व संकेत देकर सघ को खतरे से बचा लिया था ।

साहित्य

बडगच्छ के सोमप्रभसूरि कुशल कवि, मधुर वक्ता एवं समर्थ साहित्य-कार थे । उनकी रचनाएं सख्या मे कम हैं पर लोकोपयोगी सामग्री से पूर्ण हैं । कृतियो का परिचय इस प्रकार है ।

सुमतिनाह चरिय (सुमतिनाथ चरित्र)

यह रचना ६५०० श्लोक परिमाण है । इसका निर्माण सोमप्रभसूरि ने पाटण मे महामात्य सिद्धपाल की पोषाल मे किया था ।

कुमारपाल पडिबोहो (कुमारपाल प्रतिबोध)

इस ग्रंथ की रचना ग्रंथ की प्रशस्ति के अनुसार वी० नि० १७११ (वि० स० १२४१) पाटण मे हुई थी । यह आचार्य सोमप्रभ की प्राकृत रचना है । इसमे छप्पन कथाएं हैं । कृति का भाषा-सौन्दर्य अनुपम है । इस कृति का कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचद्र के शिष्य महेन्द्रसूरि, वर्धमानगणी आदि ने आद्योपात श्रवण किया था । मोढ परिवार के श्रावक अभयकुमार और उसकी पत्नी पद्मा, पुत्र हरिश्चद्र भी इस ग्रंथ को सुनकर अत्यत प्रसन्न हुए थे । कुमारपाल के निधन के ग्यारह वर्ष बाद इस ग्रथ की रचना की थी । कुमार-पाल को हेमचद्राचार्य द्वारा समय-समय पर दी गई नाना प्रकार की जैन शिक्षाओ का वर्णन इस ग्रथ मे है ।

शृंगार वैराग्य तरङ्गिनो

यह वैराग्य रस प्रधान कृति है । इसमे ४६ श्लोक है ।

सिन्दूरप्रकर

यह सोमप्रभसूरि की लघु रचना सस्कृत मे है । इस कृति मे बीस प्रक-रण है । सौ श्लोक हैं । श्लोक रचना में मंदाक्रांता, उपजाति शिखरिणी,

शार्दूलविक्रीडित आदि कई छदो का उपयोग किया गया है। इस कृति का एक नाम सोमशतक भी है। जीवनोपयोगी सूक्तियां भी इस कृति मे उपलब्ध होती हैं अत इसे मुक्तावलि भी कहते हैं। कृति मे शब्द सौष्ठव एवं सानुनासिक धातु प्रत्ययो के प्रयोग कवि के महान् शब्द शिल्पी होने की अभिव्यक्ति देते हैं। अध्यात्म शिक्षाए और वैराग्य रस से परिपूर्ण यह कृति सपूर्ण जैन समाज मे अधिक लोकप्रिय रही है। इस कृति पर खरतरगच्छीय चरित्रवर्धनसूरि ने वी० नि० १६७५ (वि० स० १५०५) मे ४८०० श्लोक परिमाण टीका रची थी और हर्षकीर्तिसूरि ने वी० नि० २१३० (वि० स० १६६०) मे टीका रची। पंडित बनारसीदासजी ने वी० नि० २१६१ (वि० स० १६९१) मे इसका हिंदी पद्यानुवाद किया था।

शतार्थ काव्य (कल्याणसार)

सोमप्रभसूरि की यह कृति बुद्धि कौशल की परिचायक है। इसमे उन्होंने एक श्लोक की रचना करके १०० अर्थ किए। यह श्लोक इस प्रकार है—

'कल्याणमारमवितानहरेक्षमोहकानारवारणसमानजयाद्यदेव।
धर्मार्थकामद महोदयवीरधीर सोमप्रभावपरमागमसिद्धसूरे.॥

इस श्लोक मे दुग्धछंद, शुभ्रछद, वसनतिलकाछद आदि कई छद प्रयुक्त हुए हैं। इस श्लोक पर सोमप्रभ की स्वोपज्ञवृत्ति भी है जिसमे १०० नाम देकर १०० अर्थ घटित किए है। बप्पभट्टि ने अष्टशतार्थी काव्य रचा। उपाध्याय लाभविजयगणीजी ने योगशास्त्र के एक श्लोक पर पचशतार्थी विवरण रचा। महोपाध्याय समयसुन्दरगणि ने "राजानो ददते सौख्यम्" इस एक चरण पर लाहौर मे वी० नि० २१२२ (वि० स० १६५२) मे अष्टलक्षार्थी विवरण रचा। महोपाध्याय मेघविजयजी ने सप्त सधान महाकाव्य रचा। इन काव्यो की शृंखला मे सोमप्रभसूरि का यह शतार्थी-कल्याण-सार काव्य है।

तपागच्छीय सोमप्रभसूरि ने २८ चित्रबध-स्तवनो की रचना की। इन स्तवनो को पढ़ने से लेखक की शब्द सयोजन की विशेष क्षमता का परिचय मिलता है।

समय-संकेत

कुमारपाल पडिबोहो कृति की रचना का समय वी० नि० १७११

(वि० सं० १२४१) है। इस कृति के प्राप्त मवत् के आधार पर बडगच्छ के सोमप्रभसूरि वी० नि० की १८ वी (वि० स० की १३ वी) शताब्दी के आचार्य सिद्ध होते है।

तपागच्छ के आचार्य सोमप्रभसूरि का स्वर्गवास वी० नि० १८४३ (वि० स० १३७३) मे हुआ था।

१०७. मननशील आचार्य मल्लिषेण

स्याद्वाद-मञ्जरी टीका के रचनाकार आचार्य मल्लिषेण श्वेताम्बर विद्वान् थे। व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विभिन्न विषयो के वे गभीर अध्येता थे। नैयायिक-वैशेषिक, साख्य, मीमासक, बौद्ध प्रभृति अनेक दर्शनों के अध्ययन मनन से उनकी चितन शक्ति प्रौढता प्राप्त थी। यह तथ्य उनकी रचना को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। वर्तमान मे स्याद्वाद-मञ्जरी के अतिरिक्त उनकी अन्य रचना उपलब्ध नही है।

गुरु-परम्परा

मल्लिषेण के गुरु नागेन्द्रगच्छीय उदयप्रभसूरि थे। उदयप्रभसूरि के गुरु विजयसेनसूरि थे। उदयप्रभसूरि की गुरु परपरा ही सभवत मल्लिषेण की गुरु-परपरा थी, जो उदयप्रभसूरि प्रकरण मे प्रस्तुत है। स्याद्वाद-मञ्जरी टीका की रचना करते समय आचार्य मल्लिषेण ने अपने गुरु उदयप्रभसूरि का श्रद्धाभिक्त स्वरो मे वर्णन किया है, पर उनसे पूर्व की गुरु-परपरा से संबधित सकेत नही है। वे श्लोक इस प्रकार है—

मातर्भारति ! सनिधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते—
निर्मातु विवृति प्रसिद्धयति जवादारम्भसभावना।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयो. स्फुरति यत् सारस्वत शाश्वतो
मत्र श्रीउदयप्रभेति रचनारम्भो ममाहर्निशम् ॥

जीवन-वृत्त

आचार्य मल्लिषेण की गृहस्थ जीवन सबधी सामग्री उपलब्ध नही है। मुनि जीवन मे भी उनके विद्या गुरु कौन थे—स्पष्टत यह उल्लेख भी आचार्य मल्लिषेण ने कही नही किया है सम्भवत उदयप्रभसूरि ही उनके प्रशिक्षक रहे है।

आचार्य मल्लिषेण के जीवन विषय की यत्किंचित् प्रामाणिक सामग्री स्याद्वाद-मञ्जरी के प्रशस्ति श्लोको मे प्राप्त है। वे श्लोक इस प्रकार है—

नागेन्द्रगच्छ गोविंदवक्षोऽलङ्कारकौस्तुभा.।
ते विश्ववद्या नंद्यासुरुदयप्रभसूरय ॥

श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः ।
वृत्तिरियं मनुरवि मितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥

इन श्लोकों में नागेन्द्रगच्छ, गुरु उदयप्रभसूरि स्याद्वाद-मंजरी वृत्ति रचना का समय संवत् और रचना मे सहयोगी जिनप्रभसूरि का उल्लेख है।

साहित्य

आचार्य मल्लिषेण द्वारा निर्मित स्याद्वाद-मञ्जरी आचार्य हेमचंद्र की अन्य-योग-व्यवच्छेदिका की टीका है। प्रसाद और माधुर्य गुण से मण्डित यह टीका रत्नप्रभसूरि की स्याद्वाद रत्नावतारिका से अधिक सरल और सरस है। इनकी कमनीय पदावलिया एवं कांत, कोमल शब्द संयोजना पाठक के मानस को मुग्ध कर देती हैं। विविध दर्शनों का मर्मस्पर्शी विवेचन और युक्तिपुरस्सर स्याद्वाद का प्रतिष्ठापन मल्लिषेण की सतुलित मेधा का परिचायक है। दर्शनान्तरीय मत के प्रकाशन मे जैनेतर विद्वानों के प्रति प्रामाणिक, प्रकाण्ड, परमर्षि जैसे शालीन शब्दो का प्रयोग किया गया है जो मल्लिषेणसूरि के हृदय की विशालता को प्रकट करता है।

विपुल साहित्य न होने हुए भी मल्लिषेण की प्रसिद्धि अपनी इस एक मात्र रचना स्याद्वाद-मञ्जरी के आधार पर है।

इस कृति ने जैन जैनेतर सभी विद्वानों को प्रभावित किया। माधवाचार्य ने सर्व-दर्शन-संग्रह मे इसका सकेत किया और यशोविजयजी ने इस पर स्याद्वाद-मञ्जूषा लिखा है।

स्याद्वाद-मञ्जरी की रचना मे आचार्य मल्लिषेण को सहयोग करने वाले जिनप्रभसूरि लघु खरतरगच्छ के थे और स्तोत्रसाहित्य रचनाकार थे।

समय-संकेत

स्याद्वाद-मञ्जरी के प्रशस्ति श्लोको में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य मल्लिषेण ने यह कृति शक स० १२१४, वी० नि० १८१६ (वि० स० १३४६) दीपमालिका शनिवार के दिन संपन्न की थी। आचार्य मल्लिषेण के कालक्रम को जानने के लिए यह सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण है।

१०८. जन-हितैषो आचार्य जिनप्रभसूरि

जिनप्रभ नाम के भी कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत जिनप्रभ **विविध** तीर्थकल्प नामक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति के रचनाकार हैं एवं स्तोत्र साहित्य के विशिष्ट निर्माता हैं।

गुरु-परम्परा

जिनप्रभसूरि की गुरु-परंपरा मे जिनेश्वरसूरि अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। उनके दो पट्टधर थे—जिनप्रबोधसूरि और जिनसिहसूरि। जिनप्रबोधसूरि जिनसिहसूरि के गुरु भ्राता थे। जिनप्रबोधसूरि ने ओसवाल समुदाय मे एवं जिनसिहसूरि ने श्रीमाल सघ में धर्म प्रचार का विशेप कार्य किया था। जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास वि० स० १३३१ मे हुआ। जिनसिहसूरि के द्वारा वि० स० १३३१ अथवा १३३३ के लगभग लघु खरतरगच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। इस गच्छ का दूसरा नाम श्रीमालगच्छ भी है। जिनसिहसूरि स्वय श्रीमाल परिवार के थे। इनके शिष्य परिवार मे भी कई श्रीमाल थे। जिनप्रभसूरि इन्ही जिनसिहसूरि के शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

जिनप्रभसूरि वैश्य वशज थे। ताम्बी उनका गोत्र था। हीलवाडी के निवासी श्रेष्ठी महीधर के वे पौत्र और रत्नपाल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम खेतल था। खेतल देवी के पाच पुत्र थे, उनमे जिनप्रभसूरि बीच के थे, नाम उनका सुहडपाल (सुभटपाल) था।

जीवन-वृत्त

जिनप्रभसूरि बचपन से ही समझदार थे। अपने भाइयो मे वे सबसे अधिक योग्य प्रतीत होते थे। एक बार श्रेष्ठी रत्नपाल के परिवार से जिनसिहसूरि का परिचय हुआ। उन्होने पाच पुत्रो मे से बीच के पुत्र को धर्म संघ हितार्थ समर्पित कर देने के लिए रत्नपाल को कहा। गुरु के निर्देशानुसार श्रेष्ठी रत्नपाल ने अपने पुत्र की भेट उनके चरणो में चढ़ा दी। जिनसिहसूरि इस विशेष उपलब्धि से प्रसन्न हुए। उन्होने वि० सं० १३२६ मे बालक को

मुनि दीक्षा प्रदान की । किढ़वाणा नगर मे वि० सं० १३४१ में उनको आचार्य पद पर नियुक्त किया तथा अपने गण का दायित्व सोंपा । उनका नाम जिनप्रभ रखा गया ।

जिनप्रभसूरि ने अपने गुरु के उत्तराधिकार को कुशलतापूर्वक संभाला, धर्म प्रचार क्षेत्र मे भी वे विशेष प्रयत्नशील बने । कहा जाता है उनके पास चामत्कारिक विद्याएं थी । दिल्ली के बादशाह के समक्ष उन्होंने कई चमत्कार दिखायं थे । बादशाह की सभा मे किसी साई फकीर के द्वारा टोपी को आकाश मे चढ़ाना और जैन मत द्वारा आकाश मे प्रेषित रजोहरण से उस टोपी को पीटते हुए नीचे ले आने का घटना प्रसग जिनप्रभसूरि से संबंधित बतलाया जाता है । बादशाह मुहम्मद तुगलक को धर्म बोध देने का और उन्हे जैन धर्म का अनुरागी बना लेने का श्रेय भी जिनप्रभसूरि को है । धर्म प्रतिबोध देने का यह घटना प्रसग वि० स० १३८२ से १४०७ के लगभग का है । इस कार्य मे जैन धर्म की अतिशय प्रभावना हुई । बादशाहो को प्रतिबोध देने की शृखला मे जिनप्रभसूरि का नाम सभवत. सर्वप्रथम है ।

साहित्य

जिनप्रभसूरि ने धर्म प्रचार के साथ साहित्य साधना भी की । स्तोत्र साहित्य निर्माण मे उनकी विशेष रुचि थी । प्रतिदिन भोजन से पूर्व पाच नये श्लोको की रचना करने हेतु वे प्रतिज्ञाबद्ध थे ।[1] कहा जाता है, उन्होने सैकड़ों स्तोत्र रचे और तपागच्छ के नवोदीयमान सोमतिलकसूरि के चरणो में इस स्तोत्र साहित्य की भेट कर उनके प्रति बहुमान प्रदर्शित किया था ।

स्तोत्र साहित्य के अतिरिक्त ऐतिहासिक मौलिक ग्रथो की रचना भी उन्होने की । जिनप्रभसूरि द्वारा रचित ग्रन्थ राशि में से चुनी हुई कुछ कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. विविध तीर्थकल्प (सस्कृत प्राकृत रचना)
२. कातन्त्र-विभ्रम-टीका वि० १३५२ (ग्र० २६१)
३. द्वयाश्रय काव्य वि० सं० १३५६ (श्रेणिक चरित्र सस्कृत रचना)
४. विधिमार्गप्रपा वि० १३६३ (अयोध्या)
५ सिद्धांत आगम रहस्य
६. संदेह विषौषधि वि० स० १३६४ (अयोध्या)
७ भयहरस्तोत्र टीका वि० स० १३६५ (अयोध्या)
८. उवसग्गहरवृत्ति वि० सं० १३६५ (अयोध्या)

९. अजितशांतिवृत्ति वि० सं० १३६५ (अयोध्या)
१०. वीरस्तुति वि० स० १३८०
११. द्वयक्षर नेमिस्तव
१२ पंचपरमेष्ठिस्तव
१३ महावीरगणधरकल्प (वि स० १३८९)

इन कृतियो मे विविधतीर्थकल्प एक ऐतिहासिक कृति है। इस कृति के अध्ययन से उनकी प्रलबमान यात्राओ का परिचय भी मिलता है। उन्होंने गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, कर्णाटक, आध्रप्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश, पजाब आदि विभिन्न क्षेत्रो मे विहरण किया था। इन यात्राओं मे उन्हे विभिन्न देशो, प्रातो, क्षेत्रो का जो इतिहास उपलब्ध हुआ और जो विशेषताए उन्होने देखी अथवा जो भी घटनाए जनश्रुति के आधार पर परपरा से उन्होंने सुनी, उनको सस्कृत-प्राकृत भाषा में निबद्ध कर तीर्थकल्पग्रन्थ की रचना की है। अत ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ अतीव महत्त्व-पूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रथ मे ६२ कल्प है एव तीर्थ स्थानो का वर्णन है। भगवान् महावीर के अस्थिग्राम, चम्पा, पृष्ठचपा, वैशाली आदि ४२ चातुर्मासिक स्थलों का नाम पुरस्सर उल्लेख और पालक, नद, मौर्यवंश, पुष्यमित्र, बलमित्र, भानु-मित्र, नरवाहन, गर्दभिल्ल, शक, विक्रमादित्य आदि राजाओ की काल सबधी जानकारी इस ग्रथ से प्राप्त की जा सकती है।

इस ग्रन्थ के महावीर कल्प मे पादलिप्त, मल्लवादी, सिद्धसेन दिवा-कर, हरिभद्र, हेमचंद्र आदि के उल्लेख भी हुए हैं।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना वी० नि० १८५९ (वि० १३८९) में की थी।

विधिमार्गप्रपा की रचना आचार्य जिनप्रभ ने अयोध्या मे की थी। यह ग्रथ क्रियाकाण्ड प्रधान है। इसके ४१ द्वार हैं। पौषध विधि-प्रतिक्रमण आदि अनेक धार्मिक क्रियाओं की विधि को इसमें समझाया गया है। योग विधि में आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग आदि आगम विषयो का वर्णन भी है।

पिण्डविशुद्धिप्रकरण, श्रावकव्रत कुलक, पौषधविधि प्रकरण, द्वादश कुलक, सघ पट्टक आदि ४२ कृतियों के नाम "शासन प्रभावक जिनचंद्रसूरि और उनका साहित्य" नामक कृति मे प्रस्तुत हैं। वे सारी कृतिया वर्तमान मे उप-

लब्ध बताई गई हैं।

जिनप्रभसूरि का सबध कई गच्छो से था। मल्लधार गच्छ के आचार्य राजशेखरसूरि उनसे न्यायकंदली ग्रंथ का प्रशिक्षण पाते थे। स्याद्वाद-मंजरी की रचना में नागेन्द्रगच्छीय आचार्य मल्लिषेण का उन्होंने सहयोग किया था। तपागच्छ से उनका अत्यधिक निकट का संबंध था। यह स्तोत्र साहित्य के समर्पण उल्लेख से स्वय स्पष्ट है।

जिनप्रभसूरि वे आचार्य थे जिन्होने मानव कल्याणार्थ अपनी चामत्कारिक प्रतिभा का खुलकर उपयोग किया तथा प्रज्ञाबल से सैकडो स्तोत्रमयी कृतियो का निर्माण कर जन-जन को उपकृत किया, अत' जन-जन हितैषी विशेषण जिनप्रभसूरि के लिए सार्थक प्रतीत होता है।

समय-संकेत

विविधतीर्थकल्प, विधिमार्गप्रपा, वीरस्तुति, महावीरगणधरकल्प आदि ग्रंथों मे प्राप्त सवत् समय के आधार पर जन-जन हितैषी आचार्य जिनभद्रसूरि वी० नि० १९वी (वि० स० १४वी) शताब्दी के प्रभावक विद्वान् थे।

आधार-स्थल

१. येन (जिनप्रभसूरिणा) प्रतिदिन नव्यस्तोत्रादिकरणानतरमेवाहारग्रहणाभिग्रहेण नैकानि स्तोत्राणि विरचितानि। पद्मावतीदेवीवचनात् तपागच्छमभ्युदयवत समीक्ष्य श्रीसोमतिलकसूरये (स० १३७३—१४२४) ६०० स्तोत्राणि समर्पितानि।

१०९. कुशलशासक आचार्य जिनकुशलसूरि

जिनकुशलसूरिजी भी जैन श्वेताम्बर मदिरमार्गी खरतरगच्छ परपरा में दादा नाम से प्रसिद्ध है। चार दादा-गुरुओ में इनका क्रम तृतीय है। जिनदत्तसूरि और मणिधारी जिनचद्रसूरि बड़े दादा नाम से पहचाने जाते हैं। इनकी पहचान छोटे दादागुरु नाम से है।

गुरु-परम्परा

जिनकुशलसूरि की गुरु-परपरा मे जिनप्रबोधसूरि, लघुसिह खरतरगच्छ के सस्थापक जिनसिहसूरि, खरतरगच्छ के द्वारा 'कलिकाल केवलि' उपाधि प्राप्त जिनचद्रसूरि आदि प्रभावक आचार्य हुए। जिनचद्रसूरि ने चार राजाओ को प्रतिबोध दिया था अत. इनके समय मे खरतरगच्छ 'राजगच्छ'—इस नाम से भी यह गच्छ पहचाना जाने लगा।

दादा गुरुओ मे जिनकुशलसूरि का नाम मणिधारी जिनचद्रसूरि के बाद आया पर जिनकुशलसूरि के दीक्षागुरु मणिधारी जिनचद्रसूरि नही थे। मणिधारी जिनचद्रसूरि और जिनकुशलसूरि, इन दोनो दादागुरुओ के बीच मे शताब्दी से भी अधिक समय का अतर है। प्रस्तुत जिनकुशलसूरि कलिकाल केवली के विरुद को प्राप्त जिनचद्रसूरि के पट्ट शिष्य थे। जिनचद्रसूरि जिन-प्रबोधसूरि के पट्ट शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

जिनकुशलसूरि वैश्य वशज थे। छाजेड परिवार मे वी० नि० १८०७ (वि० १३३७) मे उनका जन्म हुआ। समियाणा के यशस्वी मत्री जेसल के वे पुत्र थे। माता का नाम जयतश्री था। जिनकुशलसूरि का जन्म नाम करमण रखा गया है।

जीवन-वृत्त

जिनकुशलसूरि ने पूर्ण वैराग्य के साथ 'कलिकाल केवली' विरुद प्राप्त जिनचद्रसूरि से वी० नि० १८१७ (वि० १३४७) मे मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन मे उनका नाम कुशलकीर्ति रखा गया। शास्त्रो का गम्भीर

अध्ययन कर कुशलकीर्ति मुनि ने बहुश्रुतता प्राप्त की तथा शास्त्रेतर साहित्य का अनुशीलन कर वे प्रगल्भ विद्वान् बने ।

श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य ने पाटण में कुशलकीर्ति मुनि को वी० नि० १८४७ (वि० स० १३७७) ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी के दिन 'कलिकाल केवली' विरुद प्राप्त आचार्य जिनचन्द्रसूरि के स्थान पर नियुक्त किया । उनका नाम कुशलकीर्ति से जिनकुशलसूरि हुआ । सिंध और राजस्थान (मारवाड) उनके धर्म प्रचार के प्रमुख क्षेत्र थे ।

वे चामत्कारिक आचार्य भी थे एव भक्तो की मनकामना पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष के समान माने जाते थे । लोग अत्यत आदर के साथ प्रवचनो का ग्रहण करते एव उनका आशीर्वाद पाकर पुलक उठते थे । आज भी अनेक स्थानो पर उनकी पादुकाए भक्ति भाव से पूजी जाती है । सकट की घड़ियो मे लोग बडी निष्ठा से उनका स्मरण करते हैं । उनके नाम पर अनेक स्तवन और स्मारक बने हैं ।

जिनपद्मसूरि, विनयप्रभ, विवेकसमुद्र आदि उनके शिष्य परिवार मे थे । तरुणप्रभ उनके पट्ट शिष्य थे ।

वाठिल, डागा, सघवी, जडिया आदि कई गोत्रों की स्थापना का श्रेय भी प्रस्तुत जिनकुशलसूरि को दिया जाता है ।

साहित्य

साहित्य रचना मे आचार्य जिनकुशलसूरि की प्रमुख रचना 'चैत्य वदन कुलक' वृत्ति है । इसकी रचना वी० नि० १८३३ (वि० स० १३६३) मे हुई थी । 'चैत्यवदन कुलक' कृति २७ पद्यो की लघु रचना है । इस लघु कृति की व्याख्या मे रचित प्रस्तुत चैत्य वदन कुलवृत्ति का ग्रथमान ४००० श्लोक परिमाण है । साहित्य के क्षेत्र मे इस रचना का विशेष समादर हुआ है । कविता, विनोद, विद्या, विनोद, भाषा, विनोद आदि कई ग्रथ जिनकुशलसूरि द्वारा रचित बनाए गए हैं ।

समय-संकेत

जिनकुशलसूरि का स्वर्गवास पाकिस्तानान्तर्गत देवराजपुर मे (देवा-उर) मे वी० नि० १८५९ (वि० स० १३८९) फाल्गुन कृष्णा अमावस्या के दिन अनशनपूर्वक समाधि के साथ हुआ ।

आचार्य जिनकुशलसूरि का जैसा नाम था, वैसे ही वे थे । उनके शासनकाल मे सघ सब तरह से कुशल बना रहा । जैन धर्म की महती प्रभावना हुई ।

११०. मेधावी आचार्य मेरुतुंग

प्रबन्ध चिंतामणि के रचनाकार आचार्य मेरुतुग नागेन्द्रगच्छ के आचार्य थे। वे परम प्रभावी आचार्य चंद्रप्रभ के शिष्य थे। मेघदूत काव्यके टीकाकार आचार्य मेरुतुग उनसे भिन्न थे। टीकाकार मेरुतुग का जन्म वी० नि० १८७३ (वि० स० १४०३) मे एव स्वर्गवास वी० नि० १९४१ (वि० सं० १४७१) में हुआ था। प्रस्तुत आचार्य मेरुतुग इनसे पूर्व थे। वे वी० नि० १८३२ (वि० स० १३६२) मे विद्यमान थे।

साहित्य

आचार्य मेरुतुग का वैदुष्य इतिहास-लेखन मे प्रकट हुआ है। उन्होने महापुरुष चरित्र नामक ग्रथ का निर्माण किया था। प्रबंध चिंतामणि की तरह यह कृति भी इतिहास से सबंधित है। इस कृति में जैन शासन के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ, सोहलवे तीर्थंकर शाति, बाइसवें नेमिनाथ, तेइसवे पार्श्वनाथ एवं अंतिम तीर्थंकर महावीर का संक्षिप्त जीवन परिचय है। इतिहास-रसिक पाठकों के लिए यह अत्यत उपयोगी ग्रथ है।

आचार्य मेरुतुग का प्रबध-चिंतामणि ग्रथ जैन इतिहास की विपुल सामग्री से परिपूर्ण है। जैन इतिहास की सामग्री को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने वाले मुख्य चार ग्रथ माने गए हैं—
१ प्रभावक चरित्र, २ प्रबंध चिंतामणि, ३ प्रबध कोश, ४ विविध तीर्थ कल्प। ये ग्रंथ परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। कार्यक्रम की दृष्टि से इनमे प्रभावक चरित्र सर्वप्रथम एवं प्रबध चिंतामणि का स्थान द्वितीय है।

प्रबंध चिंतामणि का विवेचन सक्षिप्त एवं सामाजिक शैली मे है। इस ग्रंथ के निर्माण मे विद्वान धर्मदेव का सराहनीय सहयोग आचार्य मेरुतुग को प्राप्त था। विद्वान धर्मदेव वृद्ध गुरु भ्राता या अन्य स्थाविर पुरुष थे।

आचार्य मेरुतुग के गुणचद्र नाम का शिष्य था। वह लेखन कला मे प्रवीण था। उसने इस ग्रथ की पहली प्रतिलिपि तैयार की थी। राजशेखर के प्रबंध कोश मे प्रबध चिंतामणि का उपयोग हुआ है।

समय-संकेत

प्रस्तुत ग्रंथ का निर्माण काठियावाड में हुआ था। ग्रंथ-रचना की सपन्नता का समय वी० नि० १८३० (वि० १३६०) है। इस आधार पर महामेधावी आचार्य मेरुतुग वी० नि० की उन्नीसवी सदी के विद्वान् थे।

१११. गुणनिधि गुणरत्नाचार्य

तपागच्छ मे गुणरत्न नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमें एक प्रस्तुत गुणरत्नाचार्य भी थे। वे संस्कृत के विद्वान् थे। वे दर्शन शास्त्र एवं तर्कशास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता थे। 'क्रियारत्नसमुच्चय' उनकी प्रसिद्ध रचना है। कर्मग्रंथों पर उनका अवचूरी साहित्य कर्म सिद्धांतो की मर्मज्ञता को प्रकट करता है।

गुरु-परम्परा

'क्रियारत्नसमुच्चय' की प्रशस्ति में आचार्य गुणरत्न की गुर्वावली प्राप्त है। षड्दर्शनसमुच्चय की तर्क रहस्य दीपिका टीका मे कई स्थानो पर गुणरत्न ने देवसुन्दरसूरि को अपना गुरु बताया है तथा उन्हे तपागच्छ के सूर्य जैसे उच्च विशेषण से विशेषित किया है। इससे स्पष्ट है गुणरत्नसूरि तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य थे।[1] देवसुन्दरसूरि के कई शिष्य सूरि पद से अलङ्कृत थे। उनमे गुणरत्नसूरि का भी नाम था।

जीवन-वृत्त

गुणरत्नसूरि के जीवन मे कई विशेषताए थी। वे वाद-विद्या मे निपुण थे। किसी भी स्थिति मे रोष न करने की उनकी प्रतिज्ञा थी। जैन-जैनेतर ग्रथो का उन्हे गहरा ज्ञान था। व्याकरण, आगम, ज्योतिष आदि विविध विषयो के वे ज्ञाता थे। षड्दर्शनसमुच्चय टीका उनके गम्भीर दार्शनिक ज्ञान को प्रकट करती है।

गुणरत्नसूरि का आचार्य पद महोत्सव वी० नि० १६१२ (वि० (१४४२) मे मनाया गया था। धर्म प्रचार की दृष्टि से गुणरत्नसूरि ने गुजरात और राजस्थान मे विहरण किया तथा जन-जन को अध्यात्म बोध देकर जैन शासन की प्रभावना की।

ग्रंथ-रचना

गुणरत्नसूरि ने जैन दर्शन के विविध विषयात्मक ग्रथों की रचना की। उनका अवचूरी साहित्य सिद्धांत विषयक व्याख्यात्मक साहित्य की दिशा मे एक प्रशस्त प्रयत्न है। ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

कल्पान्तर्वाच्य

गुणरत्नसूरि की सभवत. यह सर्वप्रथम रचना है। इस ग्रथ मे पर्युषण पर्वाराधना एवं कल्पसूत्र श्रवण की उपयोगिता बतायी गई है। ग्रथगत कथाए रोचक हैं एवं मर्मस्पर्शी भी हैं। गुणरत्नसूरि ने इसकी रचना वी० नि० १९२७ (१४५७) मे की थी।

अवचूरी ग्रंथ

चतु शरण आतुरप्रत्याख्यान, सस्तारक, भक्तपरिज्ञा–इन चार प्रकीणक ग्रथो पर गुणरत्नसूरि ने जो व्याख्याए लिखी वे अवचूरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हे विषमपद विवरण सज्ञा से भी पहचाना गया है।

देवचद्रसूरि के कर्म विपाक, कर्मस्तव आदि पाच ग्रथो पर एव चद्रर्षि महत्तर के सप्ततिका ग्रथ पर गुणरत्नसूरि ने वी० नि० १९२९ (वि० स० १४५९) मे अवचूरी की रचना की थी।

आचार्य सोमतिलक के क्षेत्रसमास ग्रथ पर गुणरत्न ने जिस अवचूरी की रचना की,[१] वह सक्षिप्त अवचूरी है। गुणरत्न सोमतिलक के क्षेत्र समास ग्रथ से अधिक प्रभावित थे। उन्होने इस क्षेत्र समास को नव्य क्षेत्र समास की अभिधा मे भी सम्बोधित किया है।

अचलमत निराकरण

इस ग्रथ मे अचलमत की मान्यताओ का भी निरसन है। यह इस कृति के नाम मे ही स्पष्ट है। यह तर्क प्रधान कृति है। इसमे गुणरत्नसूरि की तार्किक क्षमता का परिचय मिलता है।

तर्करहस्य दीपिका

हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय ग्रथ पर इस टीका ग्रथ की रचना हुई है। यह गुणरत्नसूरि का दार्शनिक ग्रथ है। विविध दर्शनो की सामग्री इस ग्रथ से प्राप्त होती है। दर्शन शास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह ग्रथ उपयोगी है।

क्रियारत्न समुच्चय

यह ग्रथ व्याकरण ग्रथो मे अपना विशेष स्थान रखता है। इस ग्रथ मे आचार्य हेमचद्र के शब्दानुशासन के आधार पर महत्त्वपूर्ण धातुओ का सकलन किया गया है। प्रयोगो और उदाहरणों के साथ धातुओ के रूपों की प्रस्तुति से यह ग्रथ विशेष उपयोगी बना है। संस्कृतपाठी विद्यार्थी के लिए

इस ग्रथ से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। प्रस्तुत ग्रथ वी० नि० १९३६ (वि० स० १४६६) में सपन्न हुआ था। यह उल्लेख इस ग्रंथ की प्रशस्ति मे है। काव्यमयी भाषा में देवसुन्दरसूरि का परिचय एव गुर्वावली भी इस ग्रथ की प्रशस्ति मे हैं।

समय-संकेत

आचार्य गुणरत्न को वी० नि० १९१२ (वि० १४४२) मे आचार्य पद प्राप्त हुआ। आचार्य पद प्राप्ति के बाद वी० नि० १९२७ (वि० स० १४५७) मे कल्पान्तर्वाच्य, वी० नि० १९२९ (वि० १५४९) मे कर्म ग्रथो पर अवचूरी साहित्य की रचना और वी० नि० १९३६ (वि० स० १४६६) में क्रियारत्न समुच्चय की रचना की थी। इस आधार पर उनका काल वी० नि० की १९ वीं २० वी (वि० की १५ वी) सदी है।

आधार-स्थल

(१) इति श्रीतपागणनभोङ्गणदिनमणि श्रीदेवसुन्दरसूरि क्रमकमलोपजीवि शिष्य श्रीगुणरत्नसूरिविरचिताया तर्करहस्यदीपिकाभिधानाया षड्दर्शनसमुच्चयटीकाया बौद्धमयप्रकटनो नाम प्रथमोऽधिकार.।

[षड्दर्शन-समुच्चय-टीका)

(२) इति पूज्याराध्यभट्टारकराज श्रीसोमतिलकसूरिभिरचितस्य नव्यबृहद्क्षेत्रसमासस्यातिगम्भीरार्थस्य श्रीगुणरत्नसूरिकृतावचूर्णि सम्पूर्णा। [गुणरत्नसूरिकृत अवचूर्णि]

अध्याय ३

नवीन युग के प्रभावक आचार्य

[संख्या ११२ से १२३]

११३. हितचिन्तक आचार्य हीरविजय

जैन परम्परा के इतिहास में हीरविजयजी का नाम प्रसिद्ध है। बादशाहो को बोध देने वाले आचार्यों में उनकी गणना है। योग्यता के आधार पर उनको 'पण्डित', वाचक आदि कई उपाधियां प्राप्त हुई। अपने युग में उन्हे राज-सम्मान भी मिला।[१]

गुरु-शिष्य-परम्परा

हीरविजयजी तपागच्छ की परम्परा के थे। उनके गुरु का नाम विजयदानसूरि था। हीरविजय के कई शिष्य थे। उनमें विजयसेन प्रमुख थे।

जन्म एवं परिवार

हीरविजयजी पालनपुर के थे। ओसवाल परिवार मे उनका जन्म २०५३ (वि० १५८३) में हुआ था। उनके पिता का नाम 'कुरा' और माता का नाम 'नाथाबाई' था।

जीवन-वृत्त

हीरविजयजी का जीवन-वृत्त कई घटनाओं से संबंधित था। उन्होंने वी० नि० २०६६ (वि० १५९६) में तपागच्छ के आचार्य विजयदानसूरि के पास श्रमण दीक्षा ली। धर्मसागरमुनि के साथ न्यायशास्त्र-विशेषज्ञ ब्राह्मण पण्डित से न्याय विद्या का विशेष अध्ययन किया। उन्हे वी० नि० २०७७ (वि० १६०७) मे पण्डित की उपाधि तथा वी० नि० २०७८ (वि० १६०८) मे 'वाचक' की उपाधि प्राप्त हुई। मुनि-जीवन का उनका नाम हरिहर्ष था। वे वी० नि० २०८० (वि० १६१०) मे आचार्य बने। आचार्यकाल में उनका नाम हीरविजय रखा गया।

आचार्य विजयदानसूरि के स्वर्गवास के बाद उन्होंने वी० नि० २०९२ (वि० १६२२) में तपागच्छ का दायित्व सम्भाला। पुण्य परिमल की तरह आचार्य हीरविजयजी के सद्गुण मण्डित व्यक्तित्व की प्रभा सर्वत्र प्रसारित होने लगी।

एक बार बादशाह अकबर का आमंत्रण मिलने पर हीरविजयजी गाधार से फतेहपुर सीकरी आए, उस समय उन्हे भारी राज-सम्मान प्राप्त हुआ था।

अकबर की सभा का उद्भट्ट विद्वान् अब्दुल फजल भी हीरविजयजी के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ। उनके निवेदन पर एक बार अकबर ने हीरविजयजी को सभा में आमत्रित किया और उनके आने पर सभासदो सहित अकबर ने खड़े होकर उनका सम्मान किया था।

हीरविजयजी ने तीन-चार वर्ष तक फतहपुर सीकरी और आगरा के आस-पास विहरण किया तथा पुन. पुन अकबर से सम्पर्क स्थापित कर उन्हे प्रतिबोध देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनके इस विशेष सम्पर्क का ही प्रभाव था—अकबर ने पर्युषण पर्व पर शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली। राज्य मे अमारि की घोषणा करवायी तथा जैन धर्म के पवित्र स्थानो पर किसी के द्वारा हानि न पहुंचाई जाए, इस प्रकार के आदेश भी बादशाह ने लागू किए। हीरविजयजी को वी० नि० २११० (वि० १६४०) मे "जगद्गुरु" की उपाधि मिली।

अकबर बादशाह को धर्म-बोध प्रदान करने हेतु अपने शिष्य उपाध्याय शातिचंद्रसूरि आदि की वहा व्यवस्था कर वृद्धावस्था मे हीरविजयजी गुजरात गये।

भानुचद्र, सिद्धिचंद्र आदि हीरविजयजी के शिष्य थे। उन्होने भी गुरु के गुजरात चले जाने के बाद अकबर बादशाह को जैन धर्म के अनुकूल बनाये रखने का और पुनः पुनः उनसे सम्पर्क स्थापित करने का जागरूकतापूर्वक सफल प्रयत्न किया था।

लोकश्रुति के अनुसार हीरविजयजी के जीवन-प्रसग के साथ बादशाह अकबर को प्रभावित कर देने वाली कई चामत्कारिक घटनाएं संबद्ध है पर उनका कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है।

हीरविजयजी का स्वर्गवास गुजरात प्रदेशातर्गत "ऊना" ग्राम मे हुआ था। उस समय उनके उत्तराधिकारी विजयसेनसूरि दूर प्रदेश मे रह गए थे, उनसे मिलन नहीं हो सका था।

हीरविजयजी ने अकबर जैसे समर्थ बादशाह को अपने चरणों में झुकाया और अमारि घोषणा जैसे अहिंसा प्रधान आदेशो को राज्य मे उनसे लागू करवाया। इन कार्यों मे हीरविजयसूरि की हितचिंतक वृत्ति परिलक्षित होती

है।

समय-संकेत

हीरविजयजी ने १३ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ग्रहण की। वे २७ वर्ष की अवस्था मे आचार्य बने। उनकी कुल आयु ६९ की थी। उनका स्वर्गवास वी० नि० २१२३ (वि० १६५२) मे हुआ। इस आधार पर हीरविजयजी का काल वी० नि० २१ वी २२ वी (वि० की १७ वी) शताब्दी सिद्ध होता है।

आधार-स्थल

१. अथ श्रीमान् मुनीशोऽभूत् श्री हीरविजय प्रभुः।
आसीद् यस्मिन् महःकीर्तिरूभयं तद् महस्विनि ॥४६॥
(देवानद महाकाव्य सर्ग-२)

११४. जिनधर्म उपासक आचार्य जिनचंद्र

जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ परम्परा मे एक और जिनचंद्रसूरि हुए जो मणिधारी जिनचंद्रसूरि से भिन्न थे। उनकी प्रसिद्धि भी वर्तमान मे दादा नाम से है। चार दादा गुरुओ मे उनका क्रम जिनकुशलसूरि के बाद है।

गुरु-परम्परा

प्रस्तुत जिनचद्रसूरि के गुरु जिनमाणिक्यसूरि थे। जिनमाणिक्यसूरि से पूर्व गुरु-परम्परा मे जिनचद्रसूरि, जिनहससूरि, जिनदेवसूरि आदि आचार्य हुए।

जन्म एवं परिवार

जिनचद्रसूरि वैश्य वशज थे। रीहड उनका गोत्र था। शाह श्रीवत के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम श्रीदेवी था। उनका जन्म बडली मे वी० नि० २०६५ (वि० स० १५६५) मे हुआ।

जीवन-वृत्त

जिनचद्रसूरि धार्मिक वृत्ति के बालक थे। उन्होने नववर्ष की लघुवय मे वी० नि० २०७४ (वि० १६०४) मे मुनि दीक्षा स्वीकार की। आठ वर्ष तक वे सामान्य मुनिजीवन मे रहे। विविध अनुभवो को उन्होंने बटोरा। जैसलमेर मे वी० नि० २०८२ वि० स० १६१२) भाद्र शुक्ला नवमी के दिन उनकी नियुक्ति आचार्य पद पर हुई। इस समय उनकी अवस्था लगभग १७ वर्ष की थी। प्रवचन शैली जिनचद्रसूरि की गभीर और प्रभावक थी।

एक बार जैन प्रभावक आचार्यों के विषय मे अकबर द्वारा प्रश्न उपस्थित होने पर किसी सभासद् ने जिनचद्रसूरि का नाम प्रस्तुत किया।

कर्मचद बच्छावत आचार्य जिनचद्र का परम भक्त था। अकबर के सकेत और उपासक कर्मचंद्र की प्रार्थना पर आचार्य जिनचद्रसूरि ने लाहौर चातुर्मास किया। इस चातुर्मास मे आचार्य जिनचद्र के प्रवचनो से प्रभावित होकर अकबर बादशाह ने उन्हे युगप्रधान पद से अलकृत किया।

आचार्य जिनचद्र के प्रति बादशाह की हार्दिक निष्ठा थी। उन्होने

कश्मीर जाते समय आचार्य जिनचद्र से आशीर्वाद पाया और सात दिन तक सारे राज्य मे हिंसा न करने की घोषणा की।

बादशाह के द्वारा कृत सम्मान का प्रभाव अन्यत्र भी हुआ। अनेक राज्यो मे कही दस दिन, कही पन्द्रह दिन, कही बीस दिन तक पशुबलि बद रही।

बादशाह अकबर के बाद जहागीर सिंहासन पर आरूढ हुआ। किसी विशेष परिस्थिति के कारण जिनचंद्रसूरि के परम भक्त श्रावक कर्मचंद पर बादशाह जहागीर रुष्ट थे। बादशाह की इस रुष्टता का परिणाम खरतरगच्छ के मुनिवर्ग को भी भोगना पडा था ऐसा उल्लेख मिलता है। जिनचंद्रसूरि इस समय वृद्धावस्था मे थे। उन्होने जहागीर को अनुकूल बनाने के कई प्रयत्न किए और उनके प्रयत्न किसी सीमा तक सफल भी हुए।

समय-सकेत

जैन गगनागण मे जिनधर्म प्रभावक आचार्य जिनचंद्रसूरि चद्र की तरह चमके। उनका स्वर्गवास विलाडा मे वी० नि० २१४० (वि० १६७०) आसोज कृष्णा द्वितीया के दिन हुआ।

११५. वाक्पटु आचार्य विजयसेन

मुगल बादशाहो को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित करने वाले आचार्यों मे एक नाम विजयसेनसूरि का भी है। गुरु का नाम उजागर करने वाले शिष्य ही सुयोग्य शिष्य होते हैं। हीरविजयजी के कई शिष्य थे। उनमे बादशाह अकबर को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित कर जैन धर्म के प्रति उनकी आस्था को सुदृढ़ करने का तथा हीरविजयजी की ख्याति को अधिक विस्तृत करने का श्रेय विजयसेनसूरि को है।

गुरु-परम्परा

विजयसेनसूरि के गुरु तथा गच्छीय आचार्य हीरविजयजी थे। हीरविजयजी के गुरु विजयदानसूरि थे। विजयसेनसूरि के शिष्य परिवार में विद्याविजय, नदीविजय आदि प्रमुख थे। शिष्य विद्याविजय की नियुक्ति विजयसेन ने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे की और उनका नाम विजयदेव रखा गया था।

जीवन-वृत्त

विजयसेनसूरि के जीवन का निर्माण हीरविजयजी के द्वारा हुआ था। धर्म-प्रचार के कार्यो में विजयसेनसूरि हीरविजयसूरि के सबल सहायक थे एवं सफल उत्तराधिकारी थे। हीरविजयजी ने आचार्य पद पर विजयसेनसूरि की नियुक्ति अहमदाबाद मे की थी।

हीरविजयसूरि के गुजरात पदार्पण के बाद बादशाह अकबर का एक सदेश उनके पट्टशिष्य विजयसेनसूरि के पास पहुंचा, जिसमे विजयसेनसूरि को अकबर के दरबार मे पहुचने का निमन्त्रण था पर वे लाहौर पहुंचे। उनकी अध्यात्ममयी वाणी को सुनकर अकबर प्रसन्न हुआ। इस अवसर पर विजयसेनसूरि को सवाई हीरजी की उपाधि प्रदान की गई। विजयसेनसूरि वादविद्या मे निपुण थे। अकबर की सभा मे ब्राह्मण विद्वानो के साथ उन्होने कई शास्त्रार्थ किए और वे सफल रहे। बादशाह के निवेदन पर विजयसेनसूरि ने दो चतुर्मास लाहौर मे ही किए। हीरविजयजी की अस्वस्थता का समाचार

सुनकर विजयसेनसूरि ने अतिशीघ्र लाहौर से गुजरात की ओर प्रस्थान किया परन्तु मार्ग की लम्बाई के कारण गुजरात पहुंचने से पहले उन्हे एक चातुर्मास सादडी में करना पड़ा।

विजयसेनसूरि के हृदय मे गुरु दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा थी परन्तु सभी इच्छाएं फलीभूत नही हुआ करती हैं। विजयसेनसूरि सादड़ी मे चातुर्मास बिता रहे थे। तभी हीरविजयसूरि का गुजरात प्रदेशातर्गत ऊना ग्राम में स्वर्गवास हो गया। विजयसेनसूरि अपने गुरु के अन्तिम दर्शन न कर सके।

हीरविजयसूरि के स्वर्गवास के बाद इतने बड़े गच्छ के नायक विजयसेनसूरि अकेले थे। उन्होने अपने गच्छ का सञ्चालन सफलतापूर्वक किया। गुजरात प्रदेश मे विहरण कर धर्मसघ की प्रभावना की एवं बादशाह अकबर पर भी अपना प्रभाव वैसा ही बनाए रखा जैसा हीरविजयजी के युग मे था।

विजयसेनसूरि के जीवन मे कई विशेषताएं थी। वे प्रचारक थे, व्याख्याता थे, उग्र विहारी थे, आस्थाशील थे। भक्ति स्रोत विशेषण गुरु के प्रति उनके अगाध आस्थाभाव का आविर्भावक है।

समय-संकेत

जिनमतानुरागी विजयसेनसूरि का स्वर्गवास वी० नि० २१४२ (वि० १६७२) मे हुआ। इससे उनका काल वी० नि० २२ वी (वि० १७ वीं शताब्दी प्रमाणित है।

आधार स्थल

१ श्रीमान् विजयसेनाख्यस्तत्पट्टे सूरि राड् वभौ।
क्षणाद् येनान्तरा क्षिप्ता द्रूप्यास्ते शत्रुसज्ञिता ॥५८॥
(देवानद महाकाव्य-सर्ग-२)

११६. विशदमति आचार्य विजयदेव

जैन श्वेताम्बर तपागच्छ के आचार्यों मे विजयदेवसूरि भी एक थे। धर्म-प्रचार के साथ उनका तपोमय जीवन जनता के लिए विशेष आकर्षण का विषय था। बादशाह जहागीर द्वारा उन्हे 'महातपा' उपाधि प्राप्त थी। उदयपुर नरेश जगत्सिह उनके परम भक्त थे।

गुरु-परम्परा

विजयदेवसूरि के दीक्षा गुरु विजयसेनसूरि तथा विजयसेनसूरि के गुरु हीरविजयजी थे। हीरविजयजी के गुरु विजयदानसूरि थे।

जन्म एवं परिवार

विजयदेवसूरि का जन्म गुजरात प्रदेशान्तर्गत इलादुर्ग (ईडर) गाव निवासी महाजन परिवार मे वी० नि० २१०४ (वि० १६३४) पौष शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ। उनके पिता का नाम स्थिर, दादा का नाम माधव और माता का नाम रूपा देवी था। विजयदेवसूरि का गृहस्थ जीवन का नाम वासुदेवकुमार (वासकुमार) था।

जीवन-वृत्त

वासुदेव कुमार का जन्म-स्थान इलादुर्ग (इडर) उस समय का श्रेष्ठ नगर था। इलादुर्ग का राज्य राठौरवंशी नरेश नारायण के हाथ मे था। नरेश नारायण के पिता का नाम पुञ्ज एवं पितामह का नाम भाण था। वासुदेव के माता-पिता धार्मिक विचारो के थे। वासुदेव कुमार को उनसे धार्मिक विचार सहज ही प्राप्त हुए। बालक का मन उत्तरोत्तर त्याग की ओर झुकता गया। एक दिन वासुदेव ने मुनि जीवन में प्रवेश पाने का निर्णय लिया। माता रूपा भी साध्वी बनने के लिए तैयार हुई। दोनो की दीक्षा अहमदाबाद मे हाजा पटेल की पोल मे विजयसेनसूरि द्वारा वी० नि० २११३ (वि० १६४३) माघ शुक्ला दशमी के दिन हुई।[1] दीक्षा के बाद मुनि जीवन मे उनका नाम विद्याविजय रखा गया। विद्या विजय अपने नाम के अनुरूप विद्या अर्जन मे सदैव तत्पर रहते थे। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर विजयसेनसूरि ने

अहमदाबाद के उपनगर मे वी० नि० २१२५ (वि० १६५५) मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमी के दिन उनको पण्डित पद प्रदान किया। बैशाख शुक्ला चतुर्थी वी० नि० २१२७ (वि० १६५७) को उन्हे सूरिमंत्र देकर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रसङ्ग पर खम्भात के श्रावक श्रीमल्ल ने उत्सव मनाया था। पाटण में वी० नि० २१२८ (वि० १६५८) पोष कृष्णा षष्ठी को विजयदेवसूरि को गच्छानुज्ञा प्रदान की गई एवं वदन-महोत्सव मनाया गया।[१] वंदन महोत्सव की व्यवस्था श्रावक सहस्रवीर ने की थी।

उन दिनो उपाध्याय धर्मसागरजी द्वारा प्रसारित सैद्धान्तिक मतभेद के कारण वातावरण तनावपूर्ण था। विजयदानसूरि और विजयवीरसूरि ने शास्त्र विरुद्ध बातों का समर्थन करने के कारण धर्मसागरजी का सम्बन्ध गच्छ से विच्छिन्न कर दिया था। धर्मसागरजी विजयदेवसूरि के मामा थे। विजयदेवसूरि भविष्य मे मामा का साथ दे सकते है, यह भ्रान्त धारणा लोगो के मानस मे बन गई थी। उसी भ्रान्त धारणा के कारण विजयसेनसूरि ने अपना नया उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

विजयदेवसूरि के मन मे किसी प्रकार का अन्यथा भाव अपने गुरु के प्रति और सघ के प्रति न था और न बना। न कभी उन्होने धर्मसागरजी के प्रति साथ देने की बात सोची पर अन्तरङ्ग सघर्ष एव भ्रान्त धारणा बन जाने के कारण विजयसेनसूरि और विजयदेवसूरि की गच्छ परम्परा भिन्न-भिन्न हो गई।

विजयदेवसूरि विद्वान् थे एव तपस्वी भी थे। वे आयम्बिल, नीवी, उपवास, दो दिन के उपवास आदि किसी प्रकार की तपस्या करते ही रहते थे। पारणक के दिन एकासन करते थे। उनके वर्चस्वी व्यक्तित्व की ख्याति जन-जन मे प्रसारित होने लगी। बादशाह जहांगीर ने विजयदेवसूरि की तप साधना से प्रभावित होकर वी० नि० २१३४ (वि० १६६४) मे माडवगढ मे उनको "महातपा" नामक उपाधि प्रदान की।[२] उदयपुर नरेश राणा जगत्सिंह पर भी विजयदेवसूरि के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव था। महाराणा ने उनकी प्रेरणा से नगर मे अहिंसा की प्रतिपालना करवाई। इडर नरेश रायकल्याण मल आदि भी विजयदेवसूरि को विशेष आदर प्रदान करते थे।

विजयदेवसूरि के मुख्य विहरण स्थल—मारवाड, मेवाड, सौराष्ट्र आदि प्रदेश थे। इन क्षेत्रो मे उन्होने विशेष श्रमपूर्वक धर्म का प्रचार किया और जन-जन को अध्यात्म का रहस्य समझाया।

विजयदेवसूरि के प्रमुख शिष्य थे—कनकविजय और लावण्य विजय।[1] अपने विद्वान् शिष्य कनकविजय को विजयदेवसूरि ने वी० नि० २१५२ (वि० १६८२) वैशाख शुक्ला षष्ठी को आचार्य पद देकर पट्टधर बनाया। उनका नाम विजयसिंहसूरि दिया गया। संयोग से अपने द्वारा घोषित उत्तराधिकारी विजयसिंहसूरि का स्वर्गवास उनके जीवनकाल मे ही हो गया था अत वी० नि० २१८० (वि० १७१०) को उन्होंने विजयप्रभसूरि को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इनका सघ 'देवसूरिसघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

'विजयदेवमहात्म्य' नामक ग्रन्थ मे विजयदेवसूरि के जीवन प्रसङ्ग की सामग्री उपलब्ध है। इस कृति के निम्न श्लोको मे तपागच्छ और विजयदेव के यशवृद्धि की कामना की गई है—

एधता श्री तपागच्छो दीप्यता सवितेव च।
तेजसा सूरि मञ्चास्य त्वदीयस्य (विजयदेव) च सर्वदा॥

विजयदेवसूरि हृदय मे उदार थे। उन्होने सकीर्ण भावनाओ को अधिक प्रश्रय नही दिया और न व्यक्तिगत सम्बन्धो का अनुचित पोषण किया। अपने गच्छ का अन्तरंग विरोध होने पर भी उनकी व्यापक और विशाल विचार-धारा ने उनको जनप्रिय बनाया और मुगल सम्राट् जहागीर द्वारा विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। अत विजयदेवसूरि को 'विशालहृदय' विशेषण से विभूषित किया गया।

समय संकेत

विजयदेवसूरि लगभग ६ वर्ष की अवस्था मे मुनि बने। वे २४ वर्ष की अवस्था मे आचार्य बने। उनकी कुल आयु ७६ वर्ष के लगभग थी। उनका स्वर्ग वी० नि० २१८३ (वि० १७१३) मे आषाढ शुक्ला एकादशी को गुजरात प्रदेशान्तर्गत 'ऊना' ग्राम मे हुआ। यही पर हीरविजयजी का स्वर्गवास हुआ था। विजयदेवसूरि का समाधिस्थल भी हीरविजय जी की समाधिस्थल के पास ही बनाया गया था।

आधार-स्थल

(१) "चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे षोडशस्य शतस्य हि।
पौषे मासे सिते पक्षे त्रयोदश्यां दिने खौ" ॥१८॥

[विजयदेवसूरिमहात्म्य, सर्ग १]

(२) उवास तत्र व्यवहारिणा वर स्थिराभिधो माधवदेह सम्भव ।।५६।।

[देवानन्द महाकाव्य सर्ग]

(३) "षोडशस्य शतस्यास्मिन् त्रिचत्वारिंशवत्सरे ।
दशम्या माघशुक्लस्य दीक्षाभूद् यस्य सोवतात्" ।।५२।।

[विजयदेवसूरि महात्म्य, सर्ग-५]

(४) "षोडशस्य शतस्यास्मिन् अष्ट पञ्चाशवत्सरे ।
षष्ठ्या पौषस्य कृष्णाया गुरुवारे शुभावहे" ।।८४।।

[विजयदेवसूरिमहात्म्य, सर्ग-७]

(५) महातपा इति क्षोणी-भर्तास्याख्या तदाभ्यधात् ।।१२७।।

[देवानन्द महाकाव्य, सर्ग-१]

(६) अजातदोषैर्दोज्ञैः कनकाद्विजयादिकैं ।
विनेयैरसुरत् सूरिस्तारकैरिव चन्द्रमा ।।१२१।।
ख्याता कनकविजया लावण्यविजया परे ।
वाचका श्रीप्रभोर्हष्टा शासने सामवायिका ।।१२२।।

[देवानंद महाकाव्य, सर्ग-२]

११७. लोकोद्धारक आचार्य ऋषिलव

जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा मे ऋषिलवजी ऋषि-सप्रदाय के प्रभावक आचार्य थे। वे क्षमाशील, धृतिमान, सहज शांतस्वभावी एवं महान् कष्टसहिष्णु थे। शुद्धाचार परम्परा को पुष्ट करने वे प्रारभ से ही प्रयत्नशील थे। क्रियोद्धारक आचार्यों मे स्थानकवासी परम्परा के आधार पर सम्भवत उनका स्थान अग्रिम रहा है।

जन्म एवं परिवार

ऋषिलवजी का जन्म गुजरात प्रदेशांतर्गत सूरत मे हुआ। उनकी माता का नाम फूलाबाई था। ऋषि लवजी की बाल्यावस्था मे ही उनके पिता का वियोग हो गया था। उनके नाना वीरजी बोरा थे। वीरजी बोरा सूरत के समृद्ध श्रेष्ठी थे। उनका गोत्र श्रीमाल था। फूलाबाई उनकी एक मात्र पुत्री थी। पति वियोग हो जाने के कारण वह पुत्र के साथ अपने पिता के यहा रहने लगी थी। ऋषिलवजी को नाना से ही पिता का प्यार मिला। यही उनका पालन-पोषण हुआ था।

जीवन-वृत्त

ऋषि लवजी रूप से सुन्दर और बुद्धिमान बालक थे। ऋषि बजरगजी सूरत के प्रसिद्ध यति थे। वे लोंकागच्छ के थे। बोराजी का परिवार धर्म-श्रवणार्थ उनके आश्रम मे आया-जाया करता था। फूलाबाई की प्रेरणा से लवजी ने बजरगजी यति के पास जैनागमो का अभ्यास किया। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग आदि सूत्रो का अध्ययन किया। शास्त्रो के अध्ययन से लवजी को ससार से विरक्ति हुई।

बोराजी के पास करोडो की सम्पत्ति थी। उसके अधिकारी लवजी होते थे। वैभव का व्यामोह उन्हे अपने पथ से विचलित नही कर सका। नाना बोराजी से आज्ञा प्राप्त कर उनकी इच्छा के अनुसार लवजी ने बजरंगजी यति के पास वी० नि० २१६२ (वि० स० १६९२) में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उन्होंने यतिजी को वचनबद्ध किया—"आचार विचार में

भेद न होने तक मै आपके साथ रहूंगा ।" यति जी ने इसके लिए पूर्ण स्वीकृति प्रदान कर दी । दीक्षा लेने के बाद दो वर्ष तक उनके साथ रहे । यतिवर्ग में छाए हुए शिथिलाचार को देखकर उनका मन ग्लानि से भर गया । उन्होंने यतिजी के साथ कई बार इस सम्बध मे चर्चा की । बजरगजी यति का आखिरी उत्तर था—मेरी वृद्धावस्था है, मैं कठिन क्रिया का पालन नही कर सकता ।"

लवजी ने उनसे क्रियोद्धार करने की आज्ञा मागी । बजरंगजी यति ने प्रसन्न मन से कहा—"तुम सुखपूर्वक क्रियोद्धार करो । मेरा आशीष तुम्हारे साथ है ।"

बजरंगजी का आदेश प्राप्त कर लवजी ऋषि ने थोमनजी ऋषि और भानुऋषिजी के साथ सूरत से खम्भात की ओर विहार किया । उन्होंने ऋषि सम्प्रदाय के अभिमत से खम्भात मे वी० नि० २१०४ (वि० स० १७०४) मे नवीन दीक्षा ग्रहण की ।

लवजी ऋषि जैनागमो के गम्भीर ज्ञाता थे । साध्वाचार का अत्यंत निर्मल नीति से पालन करना उनका लक्ष्य था ।

लवजी का धर्म प्रचार कार्य दिन प्रतिदिन बढ़ता गया । उनके आचार कौशल की सर्वत्र चर्चा होने लगी । यतियो के शिथिलाचार का सिंहासन डोलने लगा । यति उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गए । लवजी ऋषि के नाना बोराजी से उन्होने जाकर कहा—"श्रेष्ठीवर्य ? लवजी गच्छ मे भेद उत्पन्न कर रहे हैं । ये अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए हमारी निंदा करते हैं । उनकी गति को न रोका गया तो लोंकागच्छ का अस्तित्व ही डगमागा जायगा ।"

यतियो के विचार सुनकर बोराजी उनसे सहमत हो गए । उन्होंने खम्भात के नवाब को निवेदन कर लवजी को कारागृह मे बद करा दिया । लवजी के मुख पर बंदीगृह मे भी वही प्रसन्नता थी जो पहले थी । वे वहां पर भी शांत वृत्ति से साधना और ध्यान मे लगे रहे । उनकी सौम्यवृत्ति का प्रभाव नवाब की पत्नी पर हुआ । उनके कहने से नवाब ने लवजी आदि संतो को निर्दोष घोषित कर मुक्त कर दिया, इससे लवजी की प्रशंसा नगर भर मे प्रसारित हुई । लवजी को जनता ने पूज्य पद से मंडित किया ।

लवजी ऋषि की शुद्ध नीति और विशुद्ध आचार पद्धति का प्रभाव एक दिन बोराजी पर हुआ और वे भी ऋषि लवजी के परम भक्त बन गए ।

गुजरात के खम्भात, अहमदाबाद आदि नगर उनके विशेष प्रचार के क्षेत्र थे। गुजरात के अतिरिक्त राजस्थान प्रात मे भी उन्होंने विचरण किया था।

ऋषिलवजी ने वी० नि० २१८० (वि० १७१०) मे दो व्यक्तियो को दीक्षा प्रदान की थी। उनमे एक दीक्षा ऋषि सोमजी की थी। दीक्षा ग्रहण करते समय सोमजी २३ वर्ष के नवयुवक थे। उन्हे कुछ शास्त्रीय ज्ञान भी था।

लोकागच्छीय यति शिवजी ऋषि के शिष्य धर्मसिंहजी से भी उनकी कई बार चर्चा वार्ता हुई। आचार्य धर्मसिंहजी और ऋषिलव जी भी क्रियोद्धार करने के लिए तत्पर हो गए थे। इससे यतियो मे विद्रोहाग्नि सुलगने लगी।

एक बार ऋषि लवजी के शिष्य भानुऋषिजी को एकात मे पाकर विद्वेष के कारण किसी व्यक्ति ने उनका प्राणात कर दिया था। ऋषिलवजी अत्यन्त गम्भीर और क्षमाशील आचार्य थे। उन्होने इस हृदयविदारक दुर्घटना को समता से सहन किया। किसी प्रकार का प्रतिकार उन्होने नही किया।

ऋषि लवजी की उन्नति को देखकर बुरहानपुर मे ईर्ष्यावश किसी ने उनको विष मिश्रित मोदक का दान दिया। बेले (दो दिन का व्रत) के पारने मे उन्होंने भिक्षा में प्राप्त विष मिश्रित मोदक को खाया। उनका मन मिचलाने लगा। तीव्र वेदना की अनुभूति होने लगी। उन्हे ज्ञात हो गया—किसी ने मुझे भोजन में अवश्य जहर दिया है।

सोमजी ऋषि को उन्होंने कहा—"पता नहीं मै कब अचेत हो जाऊ जीवन का कोई विश्वास नहीं है।" समताभाव मे घोर वेदना को सहते हुए ऋषिलवजी ने अनशन स्वीकार कर लिया। परम समाधि मे उनका स्वर्गवास हुआ।

सोमजी ऋषि उनके सफल उत्तराधिकारी बने।

गुजरात की खम्भात सम्प्रदाय और दक्षिण की ऋषि सम्प्रदाय ऋषिलवजी की शाखाएं मानी गई हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय मे आगमों का हिन्दी अनुवाद करने वाले अमोलक ऋषिजी ऋषिलव जी की परम्परा के थे।

ऋषि लवजी की सहनशीलता और क्षमाभाव मे उनकी लोक मे विशेष प्रसिद्धि हुई। जन-जन के वे श्रद्धास्पद बने।

समय-संकेत

ऋषि लवजी ने बजरंग यतिजी के पास वी० नि० २१६२ (वि० १६६२) में दीक्षा ग्रहण की। खम्भात में उन्होने वी० नि० २१७४ (वि० स० १७०४) मे नवीन दीक्षा ग्रहण की और सोमजी ऋषि आदि दो व्यक्तियो को वि० नि० २१८० (वि० सं० १७१०) में उन्होंने दीक्षा प्रदान की। इन उक्त संवतों के आधार पर क्षमास्रोत ऋषि लवजी का सत्ता समय वी० नि० २१ वी शताब्दी का उत्तरांश (वि० १७ वी का उत्तराश व १८ वी पूर्वांश) सिद्ध होता है।

लोकोद्धार की दिशा मे ऋषि लवजी का श्रम और समर्पण असाधारण था।

११८. धर्म-ध्वज आचार्य धर्मसिंह जी

आचार्य धर्मसिंहजी स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। यथा नाम तथा गुण के अनुसार धर्म की धुरा को वहन करने में वे सिंह की भांति निर्भीक थे। लोंकाशाह की धर्म-क्रांति को प्रज्वलित करने वाले वे महान् आचार्य थे एव तृतीय क्रियोद्धारक थे।

जन्म एवं परिवार

धर्मसिंहजी उत्तर गुजरात के 'सखानिया' ग्राम के थे। वैश्य परिवार में उनका जन्म हुआ। श्रीमाली उनका गोत्र था।

जीवन-वृत्त

आचार्य धर्मसिंह जी मे कई विशिष्ट योग्यताए थी। उनकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। एक सहस्र श्लोक दिन भर मे कण्ठस्थ कर लेना उनकी बुद्धि को वरदान था। वे अवधानकार भी थे। दो हाथ एव दो पैरो के सहारे चार कलमो से एक साथ लिख लेना उनकी विरल विशेषता थी।

बचपन से ही उनका सहज आकर्षण धर्म के प्रति था। पन्द्रह वर्ष की छोटी सी अवस्था मे ही वे रत्नसिंहजी के शिष्य यतिदेवजी ऋषि के पास पिता के साथ दीक्षित हुए। आगमो का उन्होने गम्भीरता से अध्ययन किया।

धर्मसिंह जी यथार्थ मे धर्मसिंह सिद्ध हुए। वे बहुत निर्भीक साधक थे। लोकाशाह की धर्मक्राति ने उनके मन मे चिनगारी सुलगा दी थी। उनके द्वारा प्रस्तुत नये पथ पर चलने के लिए दीक्षा गुरु से अलग होते समय यक्ष के मदिर मे रहकर धर्मसिंह जी को अत्यन्त कडी परीक्षा देनी पडी थी पर उनके चरण अपने लक्ष्य पर अविचल थे। उन्होने वी० नि० २१६२ (वि० सं० १६९२) में दृढ़ता के साथ अहमदाबाद जनता के बीच लोंकाशाह की नीति का बिगुल बजा दिया। उनके पास तलस्पर्शी-शास्त्रीय-अध्ययन था और वाणी मे ओज था। सैकडो चरण उनके चरणों का अनुसरण करते हुए बढ़ते रहे।

आचार्य धर्मसिंहजी का मुख्य विहरण क्षेत्र गुजरात व सौराष्ट्र था। श्रमण जीवराज जी ने लोंकाशा॰ के मत का अनुगमन करते हुए संयम

साधना हेतु नियमोपनियम बनाए और आचार्य धर्मसिंह जी ने उनमे दृढ़ता प्रदान की ।

साहित्य

धर्म प्रचार के साथ आचार्य धर्मसिंह जी साहित्य साधना क्षेत्र मे भी प्रवृत्त हुए । उन्होंने २७ *जैन आगमों पर टब्बों की रचना की । जैन आगम* साहित्य को उनका यह महत्त्वपूर्ण योगदान है । उनके टब्बे दरियापुरी टब्बे के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

समय-संकेत

आचार्य धर्मसिंह जी ने ४३ वर्ष तक संयम पर्याय का पालन किया वे वी० नि० २१९८ (वि० सं० १७२८) में आश्विन कृष्णा चतुर्थी के दिन स्वर्गवासी बने ।

स्थानकवासी सम्प्रदाय मे अपने विशेष गुणों के कारण आचार्य धर्मसिंह ने धर्मध्वज की भाति उन्नत एवं सम्माननीय स्थान पाया ।

११६. धर्मोद्योत आचार्य धर्मदासजी

प्रस्तुत धर्मदासजी जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। वे सत्य के गवेषक थे। कुशल व्याख्याता थे और अपने धर्मसघ के वे सफल सचालक थे। क्रियोद्धारक आचार्यों की गणना मे उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

जन्म एवं परिवार

धर्मदासजी गुजरात के थे। अहमदाबाद जिलान्तर्गत सरखेज ग्राम मे उनका जन्म वी० नि० २१७१ (वि० १७०१) चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ था। जाति से वे भावसार थे। उनके पिता का नाम जीवनदास और माता का नाम हीराबाई था। घर का वातावरण धार्मिक था। धार्मिक सस्कारो के अनुरूप बालक का नाम धर्मदास रखा गया था।

जीवन-वृत्त

बालक धर्मदास धर्म का दृढ उपासक बन गया। लोकागच्छ के विद्वान् यति तेजसिहजी से बालक ने धर्म की प्राथमिक शिक्षा पाई। धर्म का शुद्ध रूप प्राप्त करने की उसमे आतरिक जिज्ञासा जागृत हुई। इसी हेतु बालक ने अनेक व्यक्तियो से सपर्क साधा। श्रावक कल्याणजी के साहचर्य मे दो वर्ष तक पोतिया-बध धर्म की साधना की। ऋषिलवजी और धर्मसिह से भी धार्मिक चर्चाए हुई पर बालक को कही सतोष नही हुआ।

साहस का सबध कभी अवस्था के साथ जुडा हुआ नही है। बालक की अवस्था करीब सोलह वर्ष की ही थी, पर उसमे सोचने-समझने और कार्य करने की उन्मुक्त शक्ति प्रबल वेग धारण कर रही थी। माता-पिता का आदेश प्राप्त कर वी० नि० २१७० (वि० १७००) मे अदम्य उत्साह के साथ बालक ने सात व्यक्तियो के साथ स्वय जैन मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली।

धर्मदास मुनि को प्रथम भिक्षा मे एक कुम्भकार के घर से भस्म प्राप्त हुई। यह शुभ शकुन था। भस्म हवा के साथ उडी। इसी तरह धर्मदास मुनि की धर्मोपदेशना भी विस्तार पा गई। धर्मसघ की वृद्धि हुई। उनके

पास ९९ व्यक्तियो ने दीक्षा ग्रहण की। उनको वी० नि० २१९१ (वि० १७२१) मे सघ ने आचार्य पद से विभूषित किया।

वे उग्र विहारी, तीव्र तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी और स्वाध्यायी थे। धर्मदासजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ग्वालियर के महाराज उनके परम भक्त बने। उन्होने वी० नि० २२३४ (वि० १७६४) आषाढ शुक्ला सप्तमी के दिन शिकार और मास-मदिरा का सर्वथा परित्याग कर दिया। इससे जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

धर्मसघ की सुव्यवस्था हेतु धर्मदासजी ने वी० नि० २२४२ (वि० स० १७७२) मे धार नगर मे अपने २२ विद्वान् शिष्यो के २२ दल बना दिए। तब से यह सघ बाईस सम्प्रदाय के नाम से भी पहचाना जाने लगा।

इसी वर्ष धर्मदासजी के लूणकरण नामक एक शिष्य ने यावज्जीवन अनशन व्रत (सथारा) लिया था। उत्तम कार्य को सबल व्यक्ति ही सफल कर पाते है, निर्बल नही। धर्मदासजी के शिष्य मे मनोबल की उच्चता नही थी। क्षुधावेदना की तीव्रता ने मुनि को अपने सकल्प से विचलित कर दिया। आचार्य धर्मदासजी यथार्थ मे ही धर्म के दास थे। धर्म प्रभावना के लिए अपने प्राणो की भेट चढाने वाले अद्भुत बलिदानी आचार्य थे। उन्होने उस समय जैन धर्म के मस्तक का ऊचा रखने के लिए अपना उत्तराधिकार शिष्य मूलचद को सौपकर शिथिल मुनि का आसन अनशनपूर्वक ग्रहण कर लिया।

किसी भी व्रत के ग्रहण की सफलता उसका जागरूकता के साथ अतिम क्षण तक पालन करना होता है। धर्मदासजी इस कसौटी पर पूर्णत खरे उतरे। उनका अनशन अत्यन्त उल्लास के साथ सानद सपन्न हुआ। इससे जैन शासन की महती प्रभावना हुई।

धर्मदासजी सकल्प शक्ति के धनी थे। धर्मसघ को लोकोपवाद से बचाने के लिए अनशनस्थ शिष्य का आसन ग्रहण कर उन्होने ससार को बता दिया—'पणया वीरा महावीहि' धीर और वीर व्यक्ति ही त्याग के महापथ पर प्रणत (समर्पित) हो सकते है। आचार्य धर्मदासजी के जीवन का यह महाप्रभावी घटना-प्रसग नि सदेह उन्हे धर्ममूर्ति के रूप मे प्रस्तुत करता है।

समय-संकेत

धर्मदासजी का दीक्षा ग्रहण समय वी० नि० २१७० (वि० स० १७००) बताया गया है। दीक्षा ग्रहण के इक्कीस वर्ष बाद वी० नि० २१९१

(वि० सं० १७२१) मे उनकी आचार्य पद पर नियुक्ति हुई थी। उन्होंने लगभग ५१ वर्ष तक आचार्य पद का वहन किया। तीन दिन का उन्हे अनशन आया। वे वी० नि० २२४२ (वि० स० १७७२) मे धर्मसघ की प्रभावना हेतु देह का उत्सर्ग कर अपने नाम को अमर कर गए।

१२०. भव्य जनबोधक आचार्य भूधरजी

प्रस्तुत प्रबध मे स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य भूधरजी को प्रस्तुत किया जा रहा है। भूधरजी निर्भीक अनुभवी एव व्यवहार कुशल आचार्य थे। गृहस्थ जीवन मे भी उन्होंने सम्मान का जीवन जीया। सामाजिक कार्यों में उनकी विशेष रुचि थी। दूसरों की भलाई के लिए वे सदा तैयार रहते थे। मुनि जीवन में भी उन्होने जन-कल्याण के लिए उल्लेखनीय कार्य किए। उनके साधनामय एव तपोमय जीवन का धार्मिक जनता पर विशेष प्रभाव है।

गुरु-परम्परा

भूधरजी के दीक्षा गुरु स्थानकवासी परम्परा के आचार्य धन्नाजी थे। पोतियाबध सप्रदाय से प्रभावित होकर भूधरजी ने कुछ समय तक उनके सप्रदाय का अनुगमन किया था। वहा उन्हे पूर्ण सतोष नही मिल सका। एक बार आचार्य धन्नाजी से उनका सम्पर्क हुआ। भूधरजी को आचार्य धन्नाजी के विचारो ने विशेष प्रभावित किया। सम्यक् प्रकार से चिंतन कर लेने के बाद भूधरजी ने पोतियाबध सम्प्रदाय को छोडकर आचार्य धन्नाजी की परपरा को स्वीकार कर लिया था।

जन्म एवं परिवार

राजस्थानान्तर्गत नागौर क्षेत्र (मारवाड) मे भूधरजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम माणकचंदजी और माता का नाम रूपादेवी था। शाहदलालजी रावडिया मूथा के यहा उनका विवाह हुआ था।

जीवन-वृत्त

भूधरजी का बाह्य व्यक्तित्व भी विशेष प्रभावशाली था। उनके शरीर का गठन सुदृढ था। रूप सम्पदा उनको प्रकृति से सहज प्राप्त थी। उनकी आखो में लाल झाई दिखाई देती थी। बात करने में भी वे चतुर थे। बचपन से ही उन्हे सैनिक शिक्षा प्राप्त करने की रुचि थी। अपनी रुचि के अनुसार ही उन्होंने युद्ध कला मे प्रशिक्षण पाया। उत्तरोत्तर वे अपने क्षेत्र में विकास करते रहे। योग्यता के आधार पर एक दिन उनकी फौज के ऊचे अधिकारी पद पर नियुक्ति हुई। सोजत में फौज के अधिकारी पद पर रहकर उन्होंने काम किया था।

भूधरजी साहसी थे। फौज मे रहने के कारण उनके इस गुण का और विकास हो गया था। कठिन से कठिन परिस्थिति का वे निर्भयता से सामना कर लेते। एक बार कटालिया ग्राम पर आए हुए ऊट पर सवार ८४ डाकुओं से भूधरजी को सघर्ष करना पडा। इस कठिन परिस्थिति मे भी भूधरजी ने हिम्मत नही हारी। दृढ मनोबल के साथ डाकुओ से युद्ध कर विजय प्राप्त की। यह घटना वी० नि० २२१० (वि० स० १७४०) की है। इस संघर्ष मे डाकू की तलवार से भूधरजी का घोडा घायल होकर गिर पडा। भूधरजी ने घायल घोडे को तडफ-तडफ कर मरते देखा, उनको ससार से विरक्ति हो गई।

इस घटना के बाद मालवा प्रदेश मे स्थानकवासी परम्परा के आचार्य धन्नाजी से भूधरजी का सम्पर्क हुआ। उनका प्रेरणादायी धार्मिक प्रवचन सुना। सत धर्मदासजी से भी उनकी आध्यात्मिक चर्चाए हुई। सतो के पुन-पुन सपर्क से भूधरजी की जीवन धारा को अध्यात्म की ओर उन्मुख बना दिया, मुनि जीवन स्वीकार करने का भाव जगा। आचार्य धन्नाजी के पास उन्होंने वी० नि० २२२१ (वि० १७५१) फाल्गुन शुक्ला पचमी के दिन सयमी दीक्षा ग्रहण की।

भूधरजी स्वभाव से सरल थे एव सबके प्रति उनका नम्र व्यवहार था। लोगो को व अत्यन्त सरल एव मधुर भाषा मे उपदेश दिया करते थे एव ग्रामानुग्राम विहरण करते रहते थे। एक बार उनका विरोधी पक्ष ने ऐसे स्थान पर ठहरा दिया जहा भूत और प्रेतो का भय था। लोगो के दिमाग में उस स्थान के प्रति कई भ्रान्तिया थी। भूधरजी वहा रात को निश्चिन्त होकर सोए। लोगो ने उनको सुबह प्रतिदिन की भाति स्वस्थ एवं हसते मुस्कराते देखा। इस स्थिति से सभी लोग आश्चर्यचकित रह गए।

भूधरजी भाग्यवान आचार्य थे। उनके ९९ शिष्यो का परिवार था। स्थानकवासी परम्परा के सुविश्रुत आचार्य रघुनाथजी प्रस्तुत आचार्य भूधरजी के शिष्य थे।

समय संकेत

प्रभावशाली आचार्य भूधरजी का डाकुओ के साथ युद्ध वि० स० १७४० मे हुआ था। तथा उन्होंने मुनि दीक्षा वी० नि० २२२१ (वि० स० १७५१) में ग्रहण की थी। इस आधार पर आचार्य भूधरजी का सत्ता समय वी० नि० की २२वी (वि० १८वी) शताब्दी का सिद्ध होता है।

१२१. प्रबल प्रचारक आचार्य रघुनाथ

प्रस्तुत आचार्य रघुनाथजी का जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान था। जनता पर उनके व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव था। उस समय के प्रभावी यतियो के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। इन शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त कर आचार्य रघुनाथजी ने अपने धर्मसंघ का नाम उजागर किया।

गुरु-परम्परा

रघुनाथजी के दीक्षागुरु भूधरजी थे। जैतसिंहजी, जयमलजी, कुशलोजी आदि नौ श्रमण उनके गुरुबंधु थे। टोडरमलजी, नगराजजी आदि उनके प्रमुख शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य रघुनाथजी का जन्म सोजत निवासी ओसवाल परिवार में वी० नि० २२३६ (वि० स० १७६६) माघ के शुक्लपक्ष में हुआ। जाति से वे बलावत थे। उनके पिता का नाम नथमलजी एव माता का सोमादेवी था।

जीवन-वृत्त

रघुनाथजी बचपन से ही अध्ययनशील थे। पुराण, उपनिषदो के ज्ञाता थे। धार्मिक विषयों मे वे अधिक रुचि रखने थे। एक बार अपने मित्र की मृत्यु मे उन्हे गहरा धक्का लगा। वे अत्यधिक मानमिक वेदना से व्यथित हो चामुण्डादेवी के मदिर मे प्राणार्पण करने जा रहे थे। मार्ग मे सत भूधरजी का योग मिला। तीन दिन उनके साथ चर्चा की। चर्चा का प्रतिफल बोध-प्राप्ति के रूप मे प्रकट हुआ। रघुनाथजी ने साधु-जीवन स्वीकार करने का निश्चय किया। रत्नवती कन्या से उनका सबध किया हुआ था। उस सबध को छोड़-कर रघुनाथजी वी० नि० २२५७ (वि० स० १७८७) ज्येष्ठ कृष्णा बुधवार को आचार्य भूधरजी के पास दीक्षित हुए।

दीक्षा लेने के बाद श्रमण रघुनाथजी ने विशेषरूप से तप साधना प्रारम्भ की। वे पाच-पाच (५ दिन का उपवास) दिन का तप करते और पारणक मे विगय का सयम रखते। तीन विगय से अधिक नही लेते। दीक्षा

लेने के कुछ ही वर्षों बाद उनका नाम प्रभावक मुनियो मे गिना जाने लगा।

आचार्य पद का दायित्व रघुनाथजी ने कुशलतापूर्वक सम्भाला। उनके धर्म-प्रचार के प्रमुख क्षेत्र जालौर, समदडी, सादड़ी, पाली, मेड़ता आदि लगभग ७०० ग्राम थे। धर्म-प्रचार कार्य मे उन्हे कई बार कठिन परिस्थितियो का सामना करना पडा। बताया जाता है—उनके विरोधियों ने उनका प्राणांत तक कर देने का विफल प्रयास भी किया। उस विरोध को भी वे समता से सह गए थे।

आचार्य रघुनाथजी ने लगभग ५२५ व्यक्तियों को मुनिदीक्षा प्रदान की। अनेको को जैनदीक्षा दी। अनेको को अध्यात्म सस्कार देकर उन्हे सुलभ-बोधि बनाने का प्रयत्न किया। उनकी इन प्रवृत्तियो से लगता है—तपस्वी होने के साथ-साथ आचार्य रघुनाथजी धर्मप्रचार के क्षेत्र मे भी विशेष गतिशील थे।

समय-संकेत

जीवन के संध्याकाल मे आचार्य रघुनाथजी पाली में थे। उनको १७ दिन का अनशन आया। वे ८० वर्ष की अवस्था मे वी० नि० २३१६ (वि० स० १८४६) माघ शुक्ला एकादशी के दिन स्वर्ग को प्राप्त हुए।

१२२. जितेन्द्रिय "जयमल्लजी"

स्थानकवासी परम्परा के प्रभावक आचार्यों की गणना मे आचार्य जयमल्लजी का नाम बहुत चर्चित रहा है। वे तपोनिष्ठ, स्वाध्याय प्रेमी, जितेन्द्रिय एव महान् वैरागी साधक थे।

गुरु-शिष्य-परम्परा

आचार्य जयमल्लजी के दीक्षागुरु स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य भूधरजी थे। आचार्य रघुनाथजी उनके गुरु वधु (एक गुरु से दीक्षित) थे। पट्ट-शिष्य परम्परा मे आचार्य जयमल्लजी के बाद क्रमश रायचदजी, आसकरणजी, शबलदासजी, हीरादासजी, किस्तूरचदजी आदि आचार्यों ने कुशलतापूर्वक उनके सघ का नेतृत्व किया।

जन्म एवं परिवार

आचार्य जयमल्लजी का जन्म राजस्थातर्गत 'लाम्बिया' ग्राम मे हुआ। वे बीसा ओसवाल थे एव गोत्र से समदडिया महत्ता थे। पिता का नाम मोहनदासजी, माता का नाम महिमादेवी एव अग्रज का नाम रीडमलजी था। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मी था।

जीवन-वृत्त

बाईस वर्ष की अवस्था मे जयमल्लजी का विवाह कुमारी लक्ष्मी के साथ हो गया था। वैवाहिक सूत्र मे बध जाने के बाद वे एक व्यापारिक प्रयोजन मे मेडता गए। स्थानकवासी परम्परा के आचार्य भूधरजी से उन्होने सुदर्शन सेठ का व्याख्यान सुना। ब्रह्मचर्य-व्रत की अतिशय महिमा का प्रभाव उनके मानस मे अङ्कित हो गया। उन्होने जीवन की गहराइयो को झाका। भोग-विलास को निस्सार समझ आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा मे प्रतिबद्ध हो गए। उनके हृदय में वैराग्य की तरंगे तीव्रगति से तरगित हुई। अंतर्मुखी प्रवृत्ति की प्रबलता ने जीवन की धारा को बदला, वे सयमपथ पर बढने के लिए तत्पर बने। उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मी गौना लेकर ससुराल लौट ही नही पायी थी। विवाह के अभी छह मास ही सम्पन्न हुए थे। जयमल्लजी

वी० नि० २२५७ (वि० स० १७८७) अगहन कृष्णा द्वितीया के दिन आचार्य भूधरजी के पास दीक्षित हो गए। ज्येष्ठ शुक्लपक्ष मे उनका विवाह हुआ। कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को उन्होंने उपदेश सुना एव मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया के दिन वे संयम मार्ग में प्रविष्ट हो गए। धर्मपत्नी लक्ष्मी, नाम से लक्ष्मी और गुणो से भी लक्ष्मी ही थी। वह अपने पति के साथ सयम-धर्म को स्वीकार कर अलौकिक लक्ष्मी के रूप मे प्रकट हुई। जयमल्लजी का जन्म वी० नि० २२३५ (वि० स० १७६५) है। दीक्षा लेने के बाद उन्होने तप साधना को अपने जीवन का प्रमुख अंग बनाया। तेरह वर्ष तक निरंतर एकातर तप किया। दीक्षागुरु आचार्य भूधरजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् सोकर नींद न लेने का महासकल्प लिया एव पचास वर्ष तक पूर्ण जागरूकता के साथ इस दुर्धर सकल्प को निभाया। "निद्द च न बहुमन्नेज्जा" भगवान् महावीर की वाणी का यह पद्य उनकी जीवन-साधना का प्रमुख अग बन गया था।

दिल्ली, आगरा, पजाब, मालवा एव राजस्थान उनके प्रमुख विहार-क्षेत्र, स्वधर्म प्रचार क्षेत्र थे। बीकानेर मे सर्वप्रथम धार्मिक बीजवपन का श्रेय स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से उन्हे ही है।

तेरापथ के आद्य प्रवतक आचार्य भिक्षु के क्रान्तिकारी विचारो के वे प्रबल समर्थक थे। आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी परम्परा मे दीक्षा आचार्य रुघनाथजी के पास ग्रहण की थी। आचार्य जयमल्लजी तथा आचार्य रुघनाथजी गुरु भाई थे। दोनो मे आचार्य रुघनाथजी बडे थे। अत आचार्य भिक्षु के आचार्य जयमल्लजी चाचा गुरु थे।

स्थानकवासी सघ से सबध-विच्छेद हो जाने के बाद भी आचार्य भिक्षु से जयमल्लजी का कई बार सौहार्दपूर्ण मिलन हुआ। शास्त्रीय आधार पर चिन्तन-मनन भी चला। विचार-सरिता की दो धाराएं अत्यधिक निकट आ गई थी पर किसी परिस्थितिवश वे एक न हो पायी। आचार्य जयमल्लजी की हार्दिक सहानुभूति उनके साथ बनी रही।

तेरापंथ के द्वितीय आचार्य भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी कई दिन आचार्य भिक्षु के पास रहे। किसनोजी की प्रकृति कठोर थी। सघर्षमय स्थिति मे उनका निभ पाना कठिन था। तेरापथ सघ की नवीन दीक्षा ग्रहण करते समय आचार्य भिक्षु ने उन्हे जयमल्लजी को सोप दिया था। जयमल्लजी द्वारा भी उनका सहर्ष स्वीकरण प्रकारातर से आचार्य भिक्षु के प्रति सहानुभूति का ही एक रूप था। प्रस्तुत घटना का उल्लेख जयमल्लजी के शब्दो मे

इस प्रकार हुआ है—"भीखणजी बडे चतुर व्यक्ति है, उन्होने एक ही काम से तीन घरो मे 'बधावणा' कर दिया। हमने समझा कि एक शिष्य बढ गया, किसनोजी ने समझा स्थान जम गया और स्वयं भीखणजी ने समझा कि चलो बला टल गई।"

आचार्य जयमल्लजी की प्रभावना के कारण उनका सम्प्रदाय जयमल्ल सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

साहित्य

आचार्य जयमल्लजी तपस्वी थे, धर्म-प्रचारक थे एव साहित्यकार भी। उनके जीवन मे तप साधना एवं श्रुतसाधना का अनुपम योग था। उनकी साहित्य रचना सरस एवं सजीव थी। जिस किसी विषय को उठाया उसका मुक्तभाव से विवेचन किया है। स्तवन-प्रधान, उपदेश-प्रधान एवं जीवन-चरित्र प्रधान गीतिकाओ से गुम्फित जयवाणी आचार्य जयमल्लजी की विविध रचनाओ का सुदर सकलन है।

संयमभाव का विकास

आचार्य जयमल्लजी ने दीक्षा लेने के बाद तेरह वर्ष तक निरतर एकातर तप (एक दिन भोजन और एक दिन उपवास) की साधना की एव सोकर नीद न लेने के दृढ प्रण को पचास वर्ष तक निभाया। इन प्रसङ्गो से स्पष्ट हे जयमल्लजी के जीवन मे अपने मन और इन्द्रिय पर सबल नियमन एव साधना का विशेष विकास था।

समय-संकेत

वृद्धावस्था मे आचार्य जयमल्लजी का सान्निध्य तेरह वर्ष तक नागौर-वासियो को प्राप्त हुआ। उनका इकतीस दिवसीय अनशन के साथ वी० नि० २३२३ (वि० स० १८५३) वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन स्वर्गवास हुआ।

१२३. सत्य संधित्सु आचार्य भिक्षु

तेरापथ के आद्य प्रवर्तक भिक्षु थे। वे युग सस्थापक, क्रातद्रष्टा, आत्म सगीत के उद्गाता एव सत्य के महान् अनुसधाता थे। उनके जीवन का सर्वस्व ही सत्य था। आगम मथन करते समय प्राप्त सत्य की स्वीकृति में सम्प्रदाय का व्यामोह, सुविधावाद का प्रलोभन एव पद सम्मान का आकर्षण उनके लिए बाधक नही बन सका। जहा भी जब भी उन्हे सत्य की जिस रूप मे अनुभूति हुई, दुनिया के सामने उन्होने निर्भीकतापूर्वक उस सत्य की अभिव्यक्ति की। उनके सार्वभौमिक अहिसात्मक घोष से धार्मिक जगत मे एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ।

गुरु-शिष्य-परम्परा

आचार्य भिक्षु तेरापथ धर्मसघ के स्वय ही आद्य प्रवर्तक थे। अत तेरापथ धर्मसघ की गुरु परम्परा उनसे ही प्रारम्भ हुई। उनकी शिष्य-उत्तराधिकारी-परम्परा मे क्रमश आचार्य भारीमालजी, ऋषिरायजी, जयगणी मघवागणी, माणकगणी, डालगणी, कालूगणी हुए। वर्तमान मे युगप्रधानाचार्य श्री तुलसी इस धर्मसघ का कुशल नेतृत्व कर रहे है। युवाचार्य पद पर प्रज्ञाधर महाप्रज्ञ श्री आसीन हैं।

जन्म एवं परिवार

आचार्य भिक्षु का जन्म वी० नि० २२५३ (वि० १७८३) आषाढ शुक्ला त्रयोदशी के दिन जोधपुर प्रमण्डल मे कटालिया ग्राम के सकलेचा परिवार मे हुआ। उनके पिता का नाम शाह बल्लूजी व माता का नाम दीपाबाई था। आचार्य भिक्षु का प्रारम्भिक नाम 'भीखण' था।

जीवन-वृत्त

दीपा मा की कुक्षि से जन्मा सकलेचा परिवार का यह कुलदीप यथार्थ ही कुलदीप सिद्ध हुआ। पुत्र की गर्भावस्था मे माता ने सिंह का स्वप्न देखा था। यह स्वप्न शिशु के शुभ भविष्य का सकेत था। आचार्य भिक्षु संयम-साधना-पर सिंह की भाति निर्बाध गति से अविरल बढते रहे।

आचार्य भिक्षु का शिशु-जीवन विविध जिज्ञासाओ से भरा हुआ उभरा और वैराग्य रस से परिपूर्ण होकर धार्मिकता की ओर ढलता गया। विविध धर्म-सम्प्रदायो के सम्पर्क ने आचार्य भिक्षु को सत्य का अनुसंधित्सु बना दिया। स्थानक-वासी परम्परा ने जिज्ञासु हृदय को अधिक प्रभावित किया।

एक कुलीन कन्या के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। गृहस्थ जीवन में आबद्ध होकर भी वे कमलतुल्य निर्लेप थे। उनके अंत स्थल मे विरक्ति का निर्झर बह रहा था। पूर्ण सयमी जीवन स्वीकार कर लेने की भावना उनमें लम्बे समय तक परिपाक पाती रही। पत्नी के स्वर्गवास से विरक्ति की धारा और तीव्र हो गई। मा के लिए सतोषप्रद व्यवस्था का निर्माण कर वे वी० नि० २२७८ (वि० १८०८) मे स्थानकवासी परम्परा के आचार्य रघुनाथजी से दीक्षित हुए।

आठ वर्ष तक उनके साथ रहे। आगम ग्रंथो का उन्होने गंभीर अध्ययन किया। उनके सत्यान्वेषी मानस को प्रचलित परम्पराओ से कही संतोष न मिल सका। विचार भेद के कारण २२८७ (वि० १८१७) चैत्र शुक्ला नवमी के दिन वे चार साथियो सहित स्थानकवासी परम्परा से संबंध विच्छेद कर पृथक् हो गए। पहला विश्राम उन्होने श्मशान भूमिका में जैतसिहजी की छतरी मे किया।

आचार्य भिक्षु ने इसी वर्ष केलवा मे सायकाल ७ से ८ बजे तक के समय मे आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के दिन बारह साथियो सहित नई दीक्षा ग्रहण की। यही तेरापथ स्थापना का प्रथम दिवस था।

चोंतीस वर्ष की अवस्था मे चिंतनपूर्वक उठाया हुआ उनका यह कदम पूर्व परम्पराओ को चुनौती व अध्यात्मक्रांति का सूत्रपात था।

आचार्य भिक्षु के सामने अनेक सघर्ष आए। संकटमयी विकट परिस्थितिया चट्टान की भांति उनके पथ मे उपस्थित हुई पर सयम के पथ पर बढते हुए उनके चरणो को काल व देशजनित कोई बाधा अवरुद्ध न कर सकी।

आचार्य भिक्षु के इस क्रांतिकारी निर्णय का लक्ष्य विशुद्ध आचार परम्परा का वहन था। उन्होने नाम व सम्प्रदाय निर्माण करने की कोई भी योजना पहले नहीं सोची थी और न अपने दल का कोई नामकरण किया।

उनकी संख्या अन्य श्रमणो के साथ और मिल जाने से तेरह हो गई थी। जोधपुर के तत्कालीन दीवान फतेहचदजी सिंघवी ने आचार्य भिक्षु के

विचारो के अनुसार तेरह श्रावकों को दुकान मे सामायिक करते देखा। उनमे आचार्य भिक्षु के संबध की जानकारी प्राप्त करते समय पता लगा—उनके साथ श्रमणो की संख्या भी तेरह ही है। पार्श्व में खड़े एक भोजक कवि ने तत्काल एक पद की रचना कर तेरह की संख्या के आधार पर आचार्य भिक्षु के दल को 'तेरापंथी' दल सम्बोधित किया। भोजक कवि के मुख से दिया हुआ यह नाम मुख-मुख पर चर्चित होता हुआ आचार्य भिक्षु के कानो तक पहुंचा। उनकी अर्थप्रधान मेधा ने तेरापथी शब्दावली के साथ व्यापक अर्थ योजना घटित की। तेरापथ को प्रभु का मार्ग बताकर उस नाम को स्वीकार कर लिया। तात्त्विक भूमिका पर तेरापंथ शब्द की व्याख्या मे पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति—इन तेरह नियमो की साधना का संबध जोडा।

दीर्घदर्शी, सुविनीत श्रमण थिरपालजी व फतेहचदजी इन युगल सतो की विशेष प्रार्थना पर वे तप-आराधना के साथ जन-उद्बोधन कार्य मे प्रवृत्त हुए। उनके आगम-आधारित उपदेशो का जनमानस पर अप्रत्याशित प्रभाव बढता गया। लोगो के चरण उनके पीछे डार से खींचे पतग की भाति बढते चले आए। कई व्यक्ति श्रावक भूमिका मे प्रविष्ट हुए। कई श्रमण बने। चार वर्ष तक किसी बहिन की श्रमण दीक्षा नही हुई। एक व्यक्ति ने आकर भिक्षु से कहा—"भिक्षुजी ! तुम्हारे सघ मे तीन तीर्थ है।" आचार्य भिक्षु मुस्कराते हुए बोले—"इस बात की मुझे कोई चिता नही, मोदक खण्डित है पर शुद्ध सामग्री से बना है।"

तेरापथ स्थापना-काल मे साधुओ की सख्या तेरह थी। उसी वर्ष मे यह सख्या कम होकर छह के अक पर पहुंच गई। आगम विशेषज्ञ हेमराजजी स्वामी की दीक्षा वी० नि० २३२३ (वि० १८५३) म हुई। उसमे पहले सतो मे १३ की सख्या पुन कभी पूर्ण नही हो पाई थी। हेमराजजी स्वामी की दीक्षा के समय तेरह का अक पूर्ण हुआ तथा उसके बाद आगे बढता गया।

आचार्य भिक्षु के शासनकाल मे १०४ दीक्षाए हुई। उनमे से ३७ व्यक्ति पृथक् हो गए पर आचार्य भिक्षु के सामने सख्या का व्यामोह नही, आचार-विशुद्धि का प्रश्न प्रमुख था।

अनुशासन की भूमिका पर उनकी नीति स्वस्थ व सुदृढ थी। उन्होंने पाच साध्वियो को एक साथ सघ मुक्त कर दिया पर अनुशासनहीनता व आचारहीनता को प्रश्रय नही दिया।

तेरापथ सघ के द्वितीय आचार्य भारीमलजी स्वामी को उन्होंने वी० नि० २३०२ (वि० १८३२) मे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसी समय सर्वप्रथम उन्होने सघीय मर्यादाओ का निर्माण भी किया। एक आचार्य ने सघ की शक्ति को केन्द्रित कर उन्होंने सुदृढ सगठन की नीव डाली। इसमे अपने-अपने शिष्य बनाने की परम्पराओ का मूलोच्छेद हो गया। भावी आचार्य के चुनाव का दायित्व भी उन्होंने वर्तमान आचार्य को सौपा।

आज तेरापथ सघ सुसगठित और सुव्यवस्थित है, इसका प्रमुख श्रेय आचार्य भिक्षु की उन मर्यादाओ को तथा एक आचार्य, एक समाचारी और विचार इस महत्त्वपूर्ण त्रिपदी को है।

आचार्य भिक्षु का सर्वोत्कृष्ट मौलिक कार्य नए मूल्यो की स्थापना है। अहिंसा व दान-दया की व्याख्या उनकी सर्वथा वैज्ञानिक थी।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा सार्वभौमिक क्षमता पर आधारित थी। बडो के लिए छोटो की हिंसा व पचेंद्रिय जीवों की सुरक्षा के लिए एकेन्द्रिय प्राणियो के प्राणो का हनन आचार्य भिक्षु की दृष्टि मे जिनशासनानुमोदित नही था।

अध्यात्म व व्यवहार की भूमिका भी उनकी भिन्न थी। उन्होंने कभी और किसी प्रसग पर दोनो को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नही किया। उनके अभिमत से व्यवहार व अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना, समसूल्य के कारण घृत व तम्बाकू को समिश्रित करने जैसा है।

दान-दया के विषय मे भी आचार्य भिक्षु ने लौकिक एव लोकोत्तर की भेद-रेखा प्रस्तुत कर जैन समाज मे प्रचलित मान्यता के समक्ष नया चितन प्रस्तुत किया। उस समय सामाजिक सम्मान का मापदण्ड दान-दया पर अवलबित था। स्वर्गोपलब्धि और पुण्योपलब्धि की मान्यताए भी दान-दया के साथ सबद्ध थी। आचार्य भिक्षु ने लौकिक दान-दया की व्यवस्था को कर्त्तव्य व सहयोग बताकर मौलिक सत्य का उद्घाटन किया। साध्य-साधन के विषय मे भी आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण स्पष्ट था। उनके अभिमत से शुद्ध साधन के द्वारा ही साध्य की प्राप्ति सभव है। रक्त-सना वस्त्र कभी रक्त से शुद्ध नही होता, हिसा प्रधान प्रवृत्ति कभी अध्यात्म के पावन लक्ष्य तक नही पहुचा सकती।

दुनिया मे नए चिंतन का प्रारभिक स्वागत प्रायः विरोध से होता है। आचार्य भिक्षु के जीवन में भी अनेक कष्ट आए। पाच वर्ष तक पर्याप्त भोजन

भी नहीं मिला। स्थानाभाव की असुविधाओ से भी उन्हे भूझना पडा। स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् होकर सबसे पहला विश्राम श्मशान भूमिका मे एवं प्रथम चातुर्मास केलवा की अधेरी कोठरी मे उन्होंने किया था। आचार्य भिक्षु महान् कष्ट सहिष्णु, दृढसंकल्पी एवं स्वलक्ष्य के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। किसी भी विरोध की चिन्ता किये बिना वे कुशल चिकित्सक की भाति सत्य की कटु घूट जनता को पिलाते रहे और आगम पर आधारित साधना का रूप अनावृत करते रहे।

साहित्य

आचार्य भिक्षु सहज कवि थे व गभीर साहित्कार भी थे। उन्होंने लगभग अडतीस हजार पद्यो की रचना कर जैन साहित्य को समृद्ध किया। उनकी रचना राजस्थानी भाषा में एवं राजस्थानी मे प्रचलित राग रागिनियो मे गेय रूप है। कुछ रचनाए गद्यमयी हैं।

आचार्य भिक्षु का विहरण क्षेत्र राजस्थानान्तर्गत प्राचीन सज्ञा से अभिहित मारवाड-मेवाड-ढूढाड़ था। अत उनकी रचनाओ मे मारवाड़ी मेवाडी भाषा का सम्मिश्रण है। राजस्थान का यह भूभाग गुजरात के नजदीक होने के कारण कही-कही गुजराती शब्दों के प्रयोग भी हैं।

आचार्य भिक्षु कवि थे, पर उन्होंने जीवन मे कवि बनने का प्रयत्न नही किया और न उन्होने कभी भाषाशास्त्र, छदशास्त्र, अलंकारशास्त्र एवं रसशास्त्र का प्रशिक्षण पाया पर उनके द्वारा रचे गये पद्यो मे सानुप्रासिक आलंकारिक प्रयोग पाठक को मुग्ध कर देते हैं। मिश्र धर्म के निरसन मे उनके पद्य हैं—

'माभर केरा सीग मे सींग-सीग मे सीग।
ज्यू मिश्र परूपे त्यारी बात में धींग-धीग मे धीग ॥
चोर मिले उजाड मे, करे झपट-झपट मे झपट।
ज्यू मिश्र परूपे त्यारी बात मे कपट कपट मे कपट ॥
बाजर खेत बावै जरे बूट-बूट मे बूट।
ज्यू मिश्र परूपे त्यारी बात मे झूठ-झूठ मे झूठ ॥

आचार्य भिक्षु की साहित्य रचना का प्रमुख विषय शुद्ध आचार परपरा का प्रतिपादन, तत्त्व-दर्शन का विश्लेषण एवं धर्म-सघ की मौलिक मर्यादाओं का निरूपण था। उनकी रचनाओं मे प्राचीन वैराग्यमय आख्यान भी निबद्ध हैं, जो व्यक्ति को अध्यात्म-बोध प्रदान कर जीवन काव्य के मर्म को सम-

झाते हैं ।

आचार्य भिक्षु के क्रांत विचार उनकी पद्यावलियों मे स्पष्ट रूप से उभरे हैं ।

आचार्य भिक्षु जिनवाणी के प्रति अटूट आस्थावान् थे । आगम के प्रत्येक विधान पर उनका सर्वस्व बलिदान था । एक बार किसी व्यक्ति ने उनसे कहा—"आपकी बुद्धि अत्यत प्रखर है । गृहस्थ जीवन मे रहकर आप विशाल राज्य के संचालक बन सकते थे ।" उसके उत्तर में आचार्य भिक्षु तत्काल बोले—

बुद्धि वाहि सराहिए, जो सेवे जिन धर्म ।
वा बुद्धि किण काम री, जो पडिया बाधे कर्म ।।

"मैं उसी बुद्धि की प्रशसा करता हूं जो जिन धर्म का सेवन करे । मुझे उस बुद्धि से कोई प्रयोजन नही है जिससे कर्मों का बन्धन होता है ।"

आचार्य भिक्षु के साहित्य ने साध्वाचार की शिथिलता, शिष्यों की जागीरदारी प्रथा पर तीव्र प्रहार किया है ।

आचार्य भिक्षु की सत्यस्पर्शी, स्पष्टोक्तिया, गम्भीर तत्त्व का प्रतिपादन, सार्वभौम अहिंसा का सदेश उनके अतर्मुखी विराट् व्यक्तित्व का सूचक था । आचार्य भिक्षु के साहित्य को पढकर आधुनिक विद्वान् उन्हे हेगल और कॉट की तुला मे तोलते है ।

समय-संकेत

आगमनिष्ठ, सत्य के अनुसधित्सु आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी परपरा मे पच्चीस वर्ष की अवस्था मे श्रमण दीक्षा ग्रहण की एवं केलवा मे पुन भाव-दीक्षा ३२ वर्ष की अवस्था मे ग्रहण की । वे ७७ वर्ष तक एकनिष्ठ होकर जैन-धर्म की प्रभावना मे प्रवृत्त रहे । सर्वप्रथम साध्वियो की दीक्षा उन्होने वी० नि० २३६१ (वि० सं० १८११) मे प्रदान की तथा तेरापथ धर्म-संघ व प्रथम विधान वी० नि० २३०२ (वि० १८३२) मे बनाया । उनका स्वर्ग-वास सिरियारी मे वी० नि० २३३० (वि० १८६०) भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को त्रिदिवसीय अनशन के साथ हुआ ।

१२४-२५. भवाब्धिपोत
आचार्य भारमलजी और आचार्य रायचन्दजी

तेरापंथ धर्मसघ के द्वितीय आचार्य भारमलजी एव तृतीय आचार्य रायचन्दजी थे। इन दोनो आचार्यो को तेरापथ धर्मसघ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का सान्निध्य प्राप्त हुआ। आचार्य भारमलजी आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति मे भी साथ थे। आचार्य रायचन्दजी आचार्य भिक्षु के स्वर्गवास के समय तरुण मुनि थे। इन दोनो आचार्यों ने विविध अध्यात्म प्रवृत्तियो से तेरापंथ धर्मसंघ की नीव को सुदृढ किया तथा जैनधर्म को विस्तार दिया था।

गुरु-परम्परा

आचार्य भारमलजी एव आचार्य रायचन्दजी दोनो के दीक्षागुरु आचार्य भिक्षु थे। आचार्य भारमलजी आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी थे एवं आचार्य रायचंदजी आचार्य भारमलजी के उत्तराधिकारी थे। इन दोनो आचार्यों की गुरु परम्परा आचार्य भिक्षु से प्रारम्भ होती है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य भारमलजी एवं आचार्य रायचन्दजी दोनो की जन्मभूमि मेवाड है। आचार्य भारमलजी का जन्म मुहाग्राम मे ओसवाल वंश के लोढा परिवार मे वी० नि० २२७३ (वि० स० १८०३) मे हुआ। आपके पिता का नाम किसनोजी तथा माता का नाम धारिणी था।

आचार्य रायचदजी का जन्म रावलिया ग्राम मे वी० नि० २३१७ (वि० स० १८४७) मे हुआ था। उनके पिता का नाम चतरोजी एव माता का नाम कुशलांजी था।

जीवन-वृत्त

आचार्य भारमलजी बचपन से सरल एवं विनम्र प्रकृति के थे। धार्मिक रुचि उनमे सहज थी। वे जब दस वर्ष के थे तभी उनके मन में मुनि बनने की भावना जागृत हुई। पुत्र की वैराग्य भावना से पिता के विचारो मे भी परिवर्तन आया। वे भी दीक्षा लेने के लिए उत्सुक बने। भाग्य से कभी-कभी

चाह के अनुसार राह भी मिल जाती है। पिता-पुत्र दोनों को संत भीखणजी की उपासना का योग मिला। सतो के सान्निध्य से उनकी वैराग्य भावना ने बल पकडा, विचार सकल्प मे परिवर्तित हो गए। दोनों ने आचार्य भिक्षु के पास स्थानकवासी परम्परा मे सयम दीक्षा ग्रहण की।

संयमी जीवन मे प्रवेश पाकर मुनि भारमलजी ने आगमो का गम्भीर अध्ययन किया। विचार भेद के कारण संत भीखणजी जब स्थानकवासी परम्परा से मुक्त हुए, उन्होने धर्मक्रान्ति का बिगुल बजाया, उस समय मुनि किशनोजी एव भारमलजी आचार्य भिक्षु के साथ रहे थे।

आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति के समय मुनि भारमलजी चौदह वर्ष के बालक ही थे। पर उनके भीतर मे अनुभवी व्यक्तियो जैसा विवेक जागृत था। आचार्य भिक्षु के प्रति उनके मन मे अनन्य भक्ति थी। पिता का मोह भी उनको गुरु-भक्ति से विचलित न कर सका।

सत्य का मार्ग कठिनाइयो से भरा हुआ होता है। आचार्य भिक्षु सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। उनके मार्ग मे अनेक प्रकार के सघर्ष और तूफान खडे थे। सामान्य व्यक्ति का उन सघर्षों के सामने स्थिर रह पाना बस की बात नही होती, पर बालक मुनि भारमलजी का आत्मबल अतुल था। वे किसी भी परिस्थिति म नहीं घबराए। गुरु चरणो का सदा उन्होने निर्भीक भाव से अनुगमन किया। आचार्य भिक्षु ने शिष्य भारमल की कई कठोर परीक्षाए ली। मुनि भारमलजी गुरु द्वारा ली गई परीक्षाओ मे सदा उत्तीर्ण हुए।

घटना वि० स० १८१७ की है—आचार्य भिक्षु का चातुर्मास केलवे की अन्धेरी ओरी मे था। भारमलजी स्वामी भी उनके साथ थे। रात्रि के समय देह चिन्ता के लिए वे मकान से बाहर गए। लौटते समय मुनि भारमलजी के पैरो को नागराज ने अपने पाश मे बाध लिया। सर्प की छाया मात्र से ही लोगो के पैर धूजने लगते है। पर बालक मुनि किंचित् मात्र भी भयभीत नहीं हुए। सर्प के द्वारा पैरो को मजबूती से पकड लिए जाने पर भी वे निश्चल खड़े रहे। अपने शिष्य मुनि भारमलजी को बाहर खडे देख आचार्य भिक्षु उठे, सारी स्थिति अवगत कर लेने के बाद उन्होने उच्च ध्वनि पूर्वक नमस्कार महामंत्र का दूर से ही उच्चारण किया। नमस्कार महामत्र के प्रभाव से नागराज बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये ही दूर हो गया। प्राणान्तकारी इस समय शिष्य की स्थिरता देखकर आचार्य भिक्षु अत्यन्त प्रसन्न हुए।

अहिंसक वही होता है जो अभय होता है। युवाचार्य भारमलजी की

अभय साधना का यह एक उदाहरण है ।

आचार्य भिक्षु ने वी० नि० २३०२ (वि० स० १८३२) के मृगसर मास मे मुनि भारमलजी की युवाचार्य पद पर नियुक्ति की । वे चौदह वर्ष तक युवाचार्य पद पर रहे । आचार्य भिक्षु के स्वर्गवास के बाद उन्होने वी० नि० २३३० (वि० स० १८६०) मे आचार्य पद का दायित्व सम्भाला ।

आचार्य भारमलजी स्थिरयोगी, स्वाध्यायी एवं आगम रुचिक आचार्य थे । सायकालिक प्रतिक्रमण के बाद उत्तराध्ययन सूत्र की दो हजार गाथाओ का पुनरावर्तन खडे-खडे कर लिया करते थे । आगम स्वाध्याय के समय उन्हे अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती थी । लिपिकला मे भी उनका कौशल अद्भुत था । मुक्ताकार के समान उनके अक्षर गोल एव सुन्दर थे ।

आचार्य भिक्षु ने जिन ग्रथो की रचना की हउन ग्रन्थो की शुद्ध प्रतिलिपि कर आचार्य भारमलजी ने तेरापथ धर्मसघ का अनुपम उपहार भेट किया है । उन्होने लगभग ६ लाख गाथाओ का लेखन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है । आपकी वक्तृत्व कला भी असाधारण थी । आवाज बुलद थी । व्याख्यान देते समय आपकी आवाज दूर-दूर तक सुनाई देती थी ।

आचार्य भारमलजी ने ६२ व्यक्तियो को दीक्षा प्रदान की उनम १८ भाई एव १४ बहिने थी । युवाचार्य पद के लिए आचार्य भारमलजी ने दो नाम लिख दिए थे । एक मुनि की प्रार्थना पर एक ही नाम रखा यह उनकी अनाग्रह वृत्ति का सफल उदाहरण है ।

धर्मसघ को उन्होने चतुर्मुखी विकास दिया । अनुशासन की दृष्टि से भी सुदृढ बनाया ।

आचार्य रायचंदजी

आचार्य रायचदजी को धार्मिक सस्कार वशानुगत धरोहर के रूप मे अपने परिवार मे प्राप्त हुए । साध्वी श्री बरजुजी के वैराग्यमय व्याख्यानो को सुनकर उनक मन मे वराग्य के बीज अकुरित होने लगे । एक दिन उन्होने अपनी भावना मा क सामने प्रकट की । मा ने पुत्र के विचारो का विरोध किया । नाना प्रकार के प्रयत्न करने पर भी पुत्र के भावना मे मोड नही आया तब मा स्वयं पुत्र के साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गई । मा और बेटे की दृढ भावना ने पिता चतरोजी को झुका लिया । उनकी अनुमति प्राप्त कर दोनो ने वी० नि० २३२७ (वि० स० १८५७) चैत्र पूर्णिमा को आचार्य भिक्षु के पास सयम दीक्षा ग्रहण की ।

मुनि रायचंदजी को आचार्य भिक्षु का सान्निध्य कुल तीन वर्ष तक प्राप्त हुआ। मुनि रायचदजी अल्प समय में ही एक होनहार मुनि के रुप मे प्रतिभासित होने लगे। आचार्य भिक्षु ने स्वय एक बार कहा था—"शिष्य रायचद आचार्य पद के योग्य दिखाई देता है।"

महापुरुषो के सहज शब्द भी सत्य को समाहित किए होते हैं। आचार्य भिक्षु का अनुमान सही था। आचार्य भारमलजी के बाद मुनि रायचंदजी तेरापंथ धर्मसघ के तृतीय आचार्य बने।

बालवय मे मुनिरायचदजी का चिन्तन अन्तर्मुखी था। आचार्य भिक्षु ने अनशन की स्थिति में शिष्य रायचंद को सम्बोधित करते हुए कहा—बाल मुने! मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना। मुनि रायचदजी ने तत्काल नम्र होकर निवेदन किया। "गुरुदेव! आप इतना श्रेष्ठ काम कर रहे हैं, मैं मोह क्यो करूगा!" मुनि रायचद ने मोह विह्वल व्यक्तियो के अन्त-विवेक को जागृत कर दिया।

आचार्य भिक्षु के स्वर्गवास के बाद ऋषिरायचदजी ने अनेक प्रकार की शिक्षाए आचार्य भारमलजी से प्राप्त की। राजनगर वी० नि० २३४७ (वि० स० १८७७) मे आचार्य भारमलजी ने उनकी नियुक्ति युवाचार्य पद पर की। आचार्य भारमलजी के स्वर्गवास के बाद उन्होने वी० नि० २३४७ (वि० स० १८७८) मे धर्मसंघ का दायित्व सम्भाला।

आचार्य रायचदजी निर्भीक आचार्य थे। एक बार की घटना है—विहार करते समय सतो को डाकू मिले और उन्होने सतो को अपना सब सामान दे देने को कहा। सतो ने बचाव का अन्य कोई रास्ता न देखकर अपना कम्बल बिछाकर उस पर बैठ गए और अपना सामान आस-पास रख लिया। डाकू पैरो के नीचे से कम्बल खीचने लगे। पीछे से रायचंदजी स्वामी आए और उन्होने दूर से ही आवाज दी—इन डाकुओ मे सब गोले ही गोले है या कोई राजपूत भी है। सूझ-बूझ से समय पर कही हुई यह बात डाकू राजपूत के मन पर चोट कर गई। उसने नजदीक आकर कहा—"बोलिए, महाराज! आपको राजपूत से क्या काम है?" रायचंदजी स्वामी तत्काल बोले—राजपूत के होते हुए भी सतो को लूटा जा रहा है। जिनके पास याचित वस्त्र-पात्र हैं और सीमित उपकरण है। राजपूत शर्म से झुक गया। उसने अपनी भूल स्वीकार की और अपने साथियो मे से एक को सतो के पास भेजा। वह अगले गाव तक संतो को पहुंचाकर आया।

आचार्य रायचदजी के जीवन के अनेक प्रसग हैं। जो प्रेरक हैं और दुर्बल मन को सबलता प्रदान करने वाले है।

आचार्य रायचदजी ने धर्म प्रचार की दृष्टि से लम्बी यात्राए की। उनके १२ चातुर्मास पाली मे, ७ चातुर्मास जयपुर और ४ चातुर्मास उदयपुर मे हुए। सिरियारी, केलवा आदि क्षेत्रो मे आपके चातुर्मास हुए। सर्वाधिक चातुर्मास पाली मे हुए हैं।

आचार्य रायचदजी के शासनकाल मे तपस्याओ की भी वृद्धि हुई। तीन सतो ने आछ के आगार पर ६ मासी तप किया। आचार्य भारमलजी और रायचदजी का विशेषत मारवाड-मेवाड मे विहरण हुआ। अनेक लोग सुलभबोधि बने। कइयो ने सम्यक्त्व दीक्षा भी ग्रहण की। धर्म की महान प्रभावना हुई।

समय-संकेत

आचार्य भारमलजी एव आचार्य रायचदजी तेरापथ धर्म-सघ के यशस्वी आचार्य थे। आचार्य भारमलजी ने १८ वर्ष तक और आचार्य रायचदजी ने ३० वर्ष तक धर्मसघ का कुशलतापूर्वक सचालन किया। आचार्य भारमलजी का स्वर्गवास वी० नि० २३४८ (वि० स० १८७८) माघ कृष्णा अष्टमी के दिन हुआ। आचार्य रायचदजी का स्वर्गवास वी० नि० २३२६ (वि० स० १६०८) माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन हुआ। आचार्य भारमलजी की कुल आयु ७५ वर्ष की और आचार्य रायचदजी की कुल आयु ६२ वर्ष की थी।

१२६. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य

तेरापंथ के चतुर्थ अधिनायक जयाचार्य थे। वे आगम के प्रकाण्ड विद्वान् थे। जन्मजात साहित्यकार, प्रभिभाशाली कवि, सधे हुए योगी, दीर्घ पादविहारी, अध्यात्म के प्राणवान् साधक थे। उनके विराट् व्यक्तित्व मे एक साथ कई क्षमताओ का विकास था। कुशल व्यवस्थापक, मनोवैज्ञानिक अनुशास्ता एवं संविधान के प्रणेता भी जयाचार्य थे। उन्होंने आचार्य भिक्षु की परम्परा को सवारा और सवर्धन दिया, संगठन को सुदृढ़ बनाया। जैन श्रुत की विलक्षण उपासना की एव आगमपरक ग्रथो की रचना कर जैन-ज्ञान-कोप को साहित्य संपदा से भरा था।

गुरु-परम्परा

जयाचार्य की दीक्षा तेरापथ के तृतीय आचार्यश्री रायचदजी द्वारा हुई। इस धर्म-सघ के आद्यप्रवर्तक आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी आचार्यश्री भारमलजी जयाचार्य की दीक्षा के समय विद्यमान थे। उनके आदेश से ही युवाचार्य रायचदजी ने ही जयाचार्य को दीक्षा प्रदान की। तेरापथ धर्म-सघ की गुरु-परम्परा आचार्य भिक्षु से ही प्रारम्भ होती है। जयाचार्य तृतीय आचार्य रायचदजी के उत्तराधिकारी थे।

जीवन-वृत्त

जयाचार्य का पूरा परिवार जैन-सस्कारों से ओत-प्रोत था। उनकी बुआ अजबूजी ने वी० नि० २३१४ (वि० स० १०४४) मे आचार्य भिक्षु के चरणो मे पहले ही भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली थी। सस्कारो की बात है—जयाचार्य सात वर्ष के थे तभी उन्होंने दीक्षा लेने की मन मे ठान ली। कभी-कभी वे झोली मे पात्रियो के स्थान पर कटोरियां रख गोचरी जाने का अभिनय भी किया करते थे। जयपुर मे आचार्य भारीमालजी के उपपात में उन्होंने पच्चीस बोल, चर्चा, तेरह द्वार आदि कई तात्त्विक ग्रन्थो को कण्ठस्थ कर मुनि जीवनोचित भूमिका का पूर्णत निर्माण कर लिया था। मुनि बनने की भावना उनमे अत्यधिक तीव्रगति से बढती गई। उनका दीक्षा

संस्कार वी० नि० २३३९ (वि० स० १८३९) को जयपुर मे वटवृक्ष के नीचे माघ कृष्णा सप्तमी के दिन द्वितीय आचार्यश्री भारमाल के आदेश से ऋषि-रायचन्दजी द्वारा सम्पन्न हुआ। दीक्षा ग्रहण के समय जयाचार्य का दसवे वर्ष में प्रवेश था। ऋषिरायचद उस समय मुनि अवस्था मे थे। उनकी अवस्था २२ वर्ष की थी।

जयाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता स्वरूपचन्दजी स्वामी की दीक्षा इसी वर्ष पौष शुक्ला नवमी को जयपुर में आचार्य भारमलजी द्वारा सम्पन्न हुई थी। दोनो भाइयो की दीक्षा से जयाचार्य के द्वितीय ज्येष्ठ भ्राता भीमराजजी का मन भी वैराग्य की ओर झुका। जयाचार्य की माता कल्लुजी पहले से ही दीक्षा के लिए तैयार थी। इन दोनो की दीक्षा भी इसी वर्ष फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन आचार्य भारमलजी द्वारा सम्पन्न हुई। पौने दो मास की अवधि मे आईदानजी के परिवार से चार दीक्षाए हुई। जयाचार्य का पूरा परिवार ही तेरापथ धर्मसघ मे अर्पित हो गया। तेरापथ धर्मसघ को यह एक विशिष्ट उपलब्धि थी एव उज्ज्वल भविष्य का शुभारम्भ था।

हेमराजजी स्वामी तेरापथ धर्मसघ के विशिष्ट आगमविज्ञ सत थे। उनके पास लगभग बारह वर्ष तक रहकर जयमुनि ने विविध योग्यताओ का अर्जन किया। आगमो का गम्भीर अध्ययन कर उन्होने आगमविज्ञ मुनियो मे विशिष्ट स्थान पाया। जयमुनि की प्रतिभा को प्रकृति का वरदान था। उन्होने ग्यारह वर्ष की उम्र मे 'सत गुणमाला' कृति की रचना की एव १८ वर्ष की उम्र मे पन्नवणा जैसे गम्भीर ग्रन्थ का राजस्थानी भाषा मे सफल पद्यानुवाद किया।

जयमुनि का कद छोटा था। पर उनके काम महान् थे। उनका वर्ण श्याम था पर विचारो मे शशि चद्रिका की भाति उज्ज्वलता और निर्मलता थी। उनका दीप्तिमान ललाट और ओजस्वी मुखमण्डल प्रथम बार मे ही व्यक्ति को प्रभावित कर लेता था और उनके जीवन व्यवहार मे सधे हुए योगी की-सी गम्भीरता प्रकट होती थी।

जयमुनि की मानसिक एकाग्रता भी विलक्षण थी। पाली की वी० नि० २३४५ (वि० स० १८७५) की घटना है—जयमुनि बाजार के मध्य किसी एक दुकान मे बैठे लेखन कार्य कर रहे थे। उनके ठीक सामने नृत्य-मंडली द्वारा नाटक का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जा रहा था। सैकड़ों लोग उस कार्य-क्रम को देखने मे मग्न थे। निकट दुकान पर बैठे १५ वर्षीय बाल मुनि जय

का मन एक क्षण के लिए भी उस मनोरजक कार्यक्रम को देखने हेतु विचलित नही हुआ। दर्शक-मडली मे खडे एक वृद्ध व्यक्ति का ध्यान बालमुनि की स्थिरता पर केन्द्रित था। कार्यक्रम की सम्पन्नता पर उसने लोगो के बीच में कहा—तेरापथ की नीव १०० वर्ष तक सुदृढ जम गई। जिस मंघ मे ऐसे निष्ठावान् स्थिरयोगी मुनि विराजमान हो उस सघ की उम्र १०० वर्ष से कम हो नही सकती। कोई भी व्यक्ति उसका अनिष्ट नही कर सकता।

साहस और बुद्धि ये दो गुण न दिये जाते है और न लिये जाते हैं। इनका जन्म-जन्म के साथ ही होता है। जयाचार्य के पास एक ओर अतुल बुद्धि सम्पदा थी, तो दूसरी ओर उनके पास असीम साहस भी था।

द्वितीयाचार्य भारीमालजी द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप मे दो नामो का लिखित किये जाने पर जयाचार्य ने ही पूज्य श्री के पास पहुंचकर एक नाम रखने का साहस भरा निवेदन किया था। जयाचार्य की उस समय अवस्था अट्ठारह वर्ष की थी पर उनकी विनम्र प्रार्थना मे शतवर्षीय वृद्धावस्था का-सा गहरा अनुभव प्रकट हो रहा था। भारमालजी स्वामी ने बालमुनि की इस बात पर विशेष ध्यान दिया और एक ही नाम उन्होने पत्र मे रखा।

गुरु के प्रति जयाचार्य की अनन्य भक्ति थी। घटना वि० स० १८७५ की है—जयाचार्य ने सकल्प किया—जब तक भारीमालजी स्वामी के दर्शन नही होगे तब तक विगय का सेवन नही करूगा। कुछ परिस्थितिया ऐसी बनी, प्रतिज्ञा करने के बाद लगभग तेरह महीनो के बाद जयमुनि का सकल्प फला। गगापुर मे भारीमालजी स्वामी के दर्शन हुए उस समय उनकी मानसिक प्रसन्नता देखने ही बनती थी। कण-कण मे भक्ति का अजस्र-स्रोत प्रवाहित हो रहा था।

विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी के प्रति भी उनकी भक्ति आदर्श रूप थी। अपने जीवन-निर्माण मे विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी का जयाचार्य ने अनन्य उपकार माना है।

हेमराजजी स्वामी का वि० स० १८८१ का चातुर्मास जयपुर मे था। इस चातुर्मास काल की सम्पन्नता के बाद हेमराजजी स्वामी ने पाली मे तृतीय आचार्य श्री रायचदजी स्वामी के दर्शन किए। जयमुनि भी उनके साथ थे। जयमुनि की विकासशील क्षमताओ को देखकर आचार्यदेव प्रसन्न हुए। उन्होने पाली मे ही पौष शुक्ला तृतीया के दिन जयमुनि को अग्रगण्य बनाया। सहवर्ती रूप मे उनके साथ तीन सतो की नियुक्ति की एव मेवाड विहरण का उन्हे

आदेश दिया। इस समय जयमुनि की उम्र २१ वर्ष की थी। उनका वी० नि० २३५२ (वि० स० १८८२) का चातुर्मास उदयपुर के लिए घोषित हुआ।

जयमुनि की अग्रगण्य अवस्था मे प्रथम मेवाड यात्रा एव प्रथम चातुर्मास धर्मसघ प्रभावना की दृष्टि से विशेष लाभप्रद रहा। इस मेवाड यात्रा मे जयमुनि को सघ के लिए उपयोगी, अतिदुर्लभ धार्मिक ग्रन्थो की उपलब्धि हुई। उदयपुर चातुर्मास में वहा के महाराजा भीमसिहजी एव युवराज जवानसिहजी आपके पुन· पुन सम्पर्क मे आए। आपके कल्याणकारी प्रवचनो से तथा समय-समय पर होने वाले अध्यात्म चर्चाओ से शहर का वातावरण गूज उठा। धर्म की बहुमुखी व्यापक प्रभावना हुई।

धर्म प्रचार की दृष्टि से जयमुनि ने प्रलम्बमान यात्राए की। उनकी वि० स० १८८४ की मालवा यात्रा और वि० स० १८८६ की गुजरात यात्रा ऋषिराय महाराज के साथ हुई थी।

मालवा यात्रा के बाद जयमुनि का उदयपुर की ओर पदार्पण हुआ उस समय धर्म की विशेष प्रभावना हुई। किशनगढ के सैकडो लोग तेरापथ के अनुयायी बने। जयपुर मे ५२ व्यक्तियो ने उनसे सम्यक्त्व दीक्षा ग्रहण की। वहा के स्थानीय प्रसिद्ध जौहरी मालीरामजी लूणिया भी जयाचार्य के परम-भक्त बन गए थे। दिल्ली का चातुर्मास जयमुनि का विशेष लाभदायी सिद्ध हुआ। चातुर्मास के बाद दिल्ली मे जयपुर निवासी कृष्णचद्रजी ने जयाचार्य के पास मुनि दीक्षा ग्रहण की थी।

जयाचार्य की सर्वाधिक लम्बी यात्रा वी० नि० २३५६ (वि० स० १८८६) की है। जयमुनि ने इस यात्रा मे दिल्ली से प्रस्थान किया, जयपुर होते हुए मेवाड पहुचे। गोगुन्दा मे ऋषिराय के दर्शन किए। वहा गुजरात यात्रा का चिन्तन चला, ऋषिराय ने गुजरात यात्रा के लिए वहा से प्रस्थान किया। जयमुनि को भी अपने साथ लेने का निर्णय हो गया था। उस समय हेमराजजी स्वामी सिरियारी (मारवाड) मे विराज रहे थे। जयमुनि की गुजरात यात्रा मे पहले विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी के दर्शन करने की भावना थी। ऋषिराय महाराज का आदेश प्राप्त कर वहां से जयमुनि छह दिन मे मारवाड आए। सिरियारी मे हेमराजजी स्वामी के दर्शन किए। पुन मेवाड गए। गुजरात के लिए प्रस्थान किया। मध्यवर्ती मार्ग को शीघ्रातिशीघ्र गति से पारकर ऋषिराय महाराज के चरणो मे पहुचे।

आगे की यात्रा प्रारम्भ हुई। सौराष्ट्र और कच्छ की धरती का स्पर्श

करते हुए गुरुदेव मारवाड पधारे। जयमुनि भी बराबर साथ मे थे। यात्रा की सम्पन्नता के बाद गुरुदेव का चातुर्मास पाली मे हुआ। जयमुनि का चातुर्मास बालोतरा मे हुआ। दिल्ली से लेकर बालोतरा तक की जयमुनि की यह लगभग २००० कि० मी० की यात्रा आठ महीनो मे सम्पन्न हुई थी। बीकानेर और हरियाणा प्रदेश की यात्रा भी जयमुनि की काफी प्रभावक रही थी।

जयाचार्य की युवाचार्य पद पर नियुक्ति आचार्य ऋषि रायचदजी द्वारा वी० नि० २३६४ (वि० स० १८६४) मे हुई थी। युवाचार्य पद पर वे लगभग १४ वर्ष तक रहे। तृतीय आचार्य रायचदजी के स्वर्गवास के बाद वी० नि० २३७८ (वि० १६०८) मे उन्होने तेरापंथ धर्म-सघ का दायित्व संभाला, उस समय धर्म-सघ मे ६७ साधु और १४३ साध्विया थी।

आचार्य ऋषि रायचदजी के स्वर्गवास के समाचार दस दिन पश्चात् जयगणी के पास पहुचे थे। ऋषिराय महाराज का स्वर्गवास माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन हुआ। जयाचार्य का पट्टाभिषेक दिवस माघ पूर्णिमा बृहस्पतिवार को पुष्य नक्षत्र मे चतुर्विध धर्मसंघ के समक्ष मनाया गया था।

जयाचार्य के मन मे मुनि सतीदास जी के प्रति विशिष्ट स्थान था। सतीदासजी मृदुभाषी एवं विनम्र संत थे। जयाचार्य के शब्दो मे उन जैसा स्वभाव हजारो व्यक्तियो मे खोजने पर भी नही मिलता। जयमुनि आचार्य बने। बालसखा मुनि सतीदासजी के दर्शन करने के लिए लाडनू पधारे। प्रथम दर्शन के अवसर पर ही जयाचार्य ने उनको अपने पट्ट पर स्वय के बराबर बिठाकर उनका विशेष सम्मान किया था तथा उनके आगमन के अवसर पर मुनि स्वरूपचदजी आदि संतो को उनकी अगवानी के लिए सामने भेजा था।

गुणीजनो का आदर करना जयाचार्य की शासन कुशलता का यह प्रथम उदाहरण था।

जयाचार्य के शासनकाल मे तेरापथ सघ एक शताब्दी को पारकर दूसरी शताब्दी मे चरणन्यास कर रहा था। वह युग विचारो के संक्रमण का युग था। तेरापथ की आतरिक व्यवस्थाएं परिवर्तन मांग रही थीं। जयाचार्य का आगमन उपयुक्त समय पर हुआ। उन्होंने इस धर्म-सघ मे अनेक नई व्यवस्थाओं को जन्म दिया।

वर्तमान मे समाजवाद की विशेष चर्चा है। जयाचार्य ने एक शताब्दी पूर्व धर्म-संघ में सम-व्यवस्थाए स्थापित कर समाजवाद का सक्रिय उदाहरण

प्रस्तुत किया था।

समाजवाद मे पूजी का विकेन्द्रीकरण होता है। धन एवं वैभव से दूर अपरिग्रही अकिंचन सतों के पास पूजी का प्रश्न ही नही। उनके पास जीवन के लिए अत्यावश्यक मात्र उपकरण होते है। वे उपकरण किसी साधक के हृदय मे ममत्व का निमित्त न बने तथा जीवन-चर्या के अनुकूल उपलब्ध सामग्री का सभी उपयोग कर सके इस दृष्टि से जयाचार्य ने संघ की वर्तमान व्यवस्थाओं को एक नया रूप दिया।

उस समय पुस्तको पर स्वामित्व सभी सतो का अपना था। जयाचार्य ने सबकी उपयोगिता के लिए उनका सघीकरण किया। पुस्तको की सामग्री के लिए प्रति अग्रगामी पर गाथा-प्रणाली का कर लागू किया। इस प्रकार आहार और श्रम-प्रदान की सम-व्यवस्थाए भी जयाचार्य के शासनकाल मे हुई।

मुनिगण एव साध्वीगण के ग्रुपो मे भी पहले सहगामी साधु एव साध्वियो की सख्या का सम-विभाजन नही था। जयाचार्य ने मनोवैज्ञानिक ढग से सबके मानस को तैयार कर इस व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन किया। यह परिवर्तन नही, आज की भाषा मे एक क्राति थी। इसके परिणामस्वरूप मुनियो एव साध्वियो के ग्रुपो (दल या समूह, जैन पारिभाषिक शब्द सघाटक 'सिघाडा') की सम-व्यवस्था का जो रूप सामने आया वह सघ मे उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त हितकारक सिद्ध हुआ। महासती सरदारांजी भी इन क्रातिकारी प्रवृत्तियो मे निमित्त बनी है।

जयाचार्य द्वारा प्रस्तुत यह समाजवाद मार्क्स के समाजवाद से अधिक प्रशस्त था।

मर्यादा-महोत्सव अपने आप मे अनूठा महोत्सव है। इस अवसर पर विभिन्न स्थलो मे विहरण करने वाले सैकडो साधु-साध्वियो का आचार्य की सन्निधि मे मिलन और सघीय मर्यादाओ का वाचन होता है। आगामी चातुर्मास के आदेश-निर्देश भी प्राय. इस प्रसग पर मिलते है। इसलिए चातुर्मास सम्पन्न होते ही सबका ध्यान इस महोत्सव के साथ जुड जाता है। सहस्रो नर-नारी इस सम्मेलन मे एकत्रित होते हैं। तेरापथ धर्म-सघ मर्यादित अनुशासित धर्म-सघ है। मर्यादा-महोत्सव अनुशासन, दृढ़ता और मर्यादा की दिशा मे एक सबल कदम है। इस अवसर पर अनेक गोष्ठियां होती हैं। साधना और धर्म-सघ के विकास से संबधित चर्चाए चलती हैं। विचारो का विनिमय होता है।

आचार्यदेव द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षाए प्राप्त होती हैं। साधु-साध्वियों की योग्यताओ के अकन का भी सुन्दर अवसर होता है। माघ शुक्ला सप्तमी के दिन चतुर्विध धर्म-संघ के समक्ष यह मर्यादा-महोत्सव मनाया जाता है। विशिष्ट उपलब्धिया धर्म-मच को होती हैं। एकता के प्रतीक इस मर्यादा-महोत्सव के प्रारभीकरण का श्रेय जयाचार्य को है। एकसूत्रता सबल संगठन की दृष्टि से ऐसे पर्वो की महती अपेक्षा एव उपयोगिता है।

जयाचार्य के जीवन का साधना पक्ष भी अतिशय सबल था। वे परम स्वाध्यायी पुरुष थे। प्रतिदिन प्राय ५००० पद्यो की स्वाध्याय करते थे। उनमे आगम ग्रथों की स्वाध्याय अधिक होती थी। उत्तराध्ययन सूत्र की उन्होने सहस्रो-सहस्रो बार स्वाध्याय की थी। कई बार रात्रि के समय खडे-खडे सपूर्ण उत्तराध्ययन सूत्र की स्वाध्याय कर लिया करते थे। उन्होने जीवन के अन्तिम आठ वर्षो मे वी० नि० २४०० से २४०८ (वि० १९३० से ३८) तक के काल मे ८६६७४५० पद्यो का स्वाध्याय किया था।

जयाचार्य आगम पुरुष थे। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचार चूला, प्रज्ञापना के प्रथम दश पद तथा अन्य कई आगमो के हजारो पद्य और मुक्त पाठ उनको कठस्थ थे। आगमो की पद्यावलिया उनके मुख पर ध्वनित होने लगी थी। वे बात-बात मे आगम पाठ को पुरस्कृत करते थे। उनकी वाणी आगम पाठों का पुन:-पुन उच्चारण करते-करते सहज सस्कारित हो गई थी। उनका जीवन आगम वाणी का साक्षात् प्रतीक बन गया था। वे बारह वर्ष तक हेमराजजी स्वामी के पास रहे थे। अग्रणी पद पर १३ वर्ष एव युवाचार्य पद पर लगभग १४ वर्ष तक रहे। सभी भूमिकाओ मे उनका आगम रूप उत्तरोत्तर विकासमान होता गया था। आगमो का अवगाहन करते-करते उनकी मेधा इतनी प्रखर हो गयी थी कि वे जिस किसी विषय को छूते उसकी पुष्टि में आगम-प्रमाणो की लम्बी शृखला खडी कर देते थे।

जैन दर्शन में संयमी जीवन का जितना महत्त्व है उससे भी कही अधिक महत्त्व पण्डित मरण का है। जैन शासन की महान प्रभावना करते हुए जयाचार्य ने जितना सुन्दर ढंग से संयमी जीवन जीया उससे कही अधिक उन्होने अन्तिम क्षणो को सवारा।

वे प्रतिक्षण जागरूक थे। देहशक्ति क्षीण होने का आभास होते ही उन्होने अनशन की स्थिति को स्वीकारा। पूर्ण जागरूक अवस्था मे तीन हिचकी के साथ आंख खुलते ही उनका स्वर्गवास वी० नि० २४०८ (वि० सं० १९३८) भाद्रव कृष्णा द्वादशी को हो गया था।

१२७-२८. मंगल प्रभात आचार्य मघवागणी और आचार्य माणकगणी

आचार्य मघवागणी एव आचार्य माणकगणी तेरापथ धर्म के विशिष्ट प्रज्ञावान एव यशस्वी आचार्य थे। मघवागणी फूल की तरह कोमल प्रकृति के थे। माणकगणी के व्यक्तित्व मे माणक जैसी चमक थी। मघवागणी के सौम्य स्वभाव और माणकगणी की नई विचारधारा ने धर्म-सघ को बहुमुखी प्रगति दी। अहिंसा एव अध्यात्म के पथ को विशेष उजागर किया था।

गुरु-परम्परा

मघवागणी एव माणकगणी दोनो के दीक्षा-गुरु जयाचार्य थे एव शिक्षा गुरु भी जयाचार्य थे। जयाचार्य से पूर्व की गुरु-परम्परा मे आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी भारमलजी, भारमलजी के उत्तराधिकारी रायचदजी थे एव रायचदजी के उत्तराधिकारी जयाचार्य थे।

जन्म एव परिवार

मघवागणी का जन्म बीदासर मे वी० नि० २३६७ (वि० स० १८६७) चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन हुआ। उनके पिता का नाम पूर्णमलजी और माता का नाम बन्ना देवी था। छोटी बहन का नाम गुलाब था। मघा नक्षत्र मे जन्म होने के कारण उनका (मघवागणी) नाम मघराज रखा गया था।

माणक का जन्म राजस्थान की राजधानी नगर जयपुर मे वी० नि० २३८१ (वि० स० १९१२) भाद्रव शुक्ला चतुर्थी के दिन जौहरी परिवार मे हुआ। खारड उनका गोत्र था। उनके पिता का नाम हुकमीचदजी एव माता का नाम छोटाजी था। उनके बाबा का नाम लक्ष्मणदास जी था।

जीवन-वृत्त

मघवागणी एव गुलाब दोनो रूप-सम्पन्न थे एव बुद्धि-सम्पन्न भी थे। युवाचार्य जीतमलजी का बीदासर मे चातुर्मास हुआ। बीदासर के लोगो को युवाचार्य के प्रवचनो ने मत्रमुग्ध कर दिया। पूरणमलजी की पत्नी बन्नाजी, पुत्र मघराज, एव पुत्री गुलाब के मन मे भी जयाचार्य के प्रवचनो से एक नया

परिवर्तन आया। ये तीनो व्यक्ति सयमी जीवन ग्रहण करने के लिए तैयार हुए। संयमी जीवन स्वीकार करने के लिए कम से कम नौ वर्ष की आयु होना आवश्यक है। गुलाब की आयु इससे भी कम होने के कारण महान् त्याग के पथ पर बढने में बाधा थी। पुत्री को साथ रखने के लिए मा बन्नाजी को कुछ समय के लिए अपने विचार स्थगित करने पडे। मघवागणी के मन मे मुनि बनने की अत्यधिक उत्सुकता थी। उन्हे अपने इस कार्य मे स्वल्प समय का विक्षेप भी भारी अनुभूत हो रहा था। अत मां से अनुमति प्राप्त कर दीक्षा के लिए तैयारी करने लगे। युवाचार्य जीतमलजी के सामने अपनी भावना प्रस्तुत की। तत्त्वज्ञान सीखा, बालक मघवा के व्यक्तित्व मे अप्रतिम योग्यता प्रतिभासित हो रही थी। जयाचार्य बालक के जीवन से प्रभावित हुए। उन्होंने चातुर्मास समाप्ति के बाद मृगसर कृष्णा पचमी के दिन मघराज को दीक्षा प्रदान करने की घोषणा की। इस घोषणा से मघराज के मन मे खुशिया उछलने लगी। परिवार वालो ने नाना प्रकार के उत्सव मनाए। दीक्षा तिथि जैसे नजदीक आ रही थी, वैरागी के मन का उल्लास बढता जा रहा था।

दीक्षा के दिन घटना चक्र ने विचित्र मोड लिया। लोगो के बहकाने से दीक्षार्थी मघवा के चाचा का मानसिक सन्तुलन बिगड गया। वैरागी का जुलूस दीक्षा स्थल की ओर बढ रहा था। मार्ग में ही काका ने घोडी पर सवार मघराज को हाथ पकडकर नीचे उतार लिया, उसे गढ मे ले गए और कहने लगे मुझे मघराज को दीक्षा नही देना है। लोगों ने उनको समझाने का बहुत प्रयत्न किया पर सफलता नही मिली।

मुनि किसी व्यक्ति को दीक्षा प्रदान करने के लिए अथवा रोग आदि की विशेष स्थिति मे ही चातुर्मास काल समाप्ति के बाद वहा रुक सकते है। चातुर्मासिक स्थिति की इस मर्यादा के अनुसार युवाचार्य जीतमलजी ने दीक्षा न होते देख तत्काल बीदासर से लाडनू की तरफ विहार कर दिया।

काका की इन हरकतो से दीक्षार्थी के मन मे उदासी का होना स्वाभाविक था पर स्थिति निरुपाय हो गई थी। घर-घर मे सर्वत्र इस घटना की चर्चा थी। परिवार वाले भी इस स्थिति से चिन्तित थे। गुरुदेव का विहार हो जाने के बाद वैरागी मघराज ने नाना प्रकार के प्रयत्नो से काका को अपने विचार से सहमत किया। लाडनू जाकर काका सहित परिवार वालो के द्वारा पुन. प्रार्थना किए जाने पर युवाचार्य जीतमलजी ने वी० नि० २३७६ (वि० स०-१९०६) मृगसर कृष्णा द्वादशी के दिन बालक महाराज को सहस्रो के

बीच मुनि दीक्षा प्रदान की।

तेरापंथ शासन के तृतीय आचार्य ऋषि रायचदजी उस समय मेवाड़ मे विराज रहे थे। मुनि मघराज की दीक्षा के समाचार उनके पास पहुंचे उस समय उन्हे तत्काल तीन छीके आई। प्रथम छींक के समय उन्होने कहा—यह साधु होनहार होगा, दूसरी बार छीक के समय उन्होने कहा—यह मुनि अग्रणी बनकर विचरेगा। तीसरी बार पुन छीक आने पर उनके सहज शब्द निकले यह मुनि जीतमल मुनि का भार सभालने वाला होगा।

उत्तम पुरुषो की वाणी अफल नही होती। मघवागणी के सम्बन्ध मे ऋषि रायचदजी द्वारा कहे गए शब्द साकार हुए। तेरापथ धर्मसघ मे जयगणी के बाद मघवागणी आचार्य बने थे।

संयमी जीवन मे मुनि मघराज ने जयाचार्य की सन्निधि मे रहकर बहुमुखी विकास किया। नम्रता, सहनशीलता, गम्भीरता, पापभीरुता आदि गुण मघवागणी के स्वभावगत हो गए थे। जयाचार्य के प्रति मघवागणी की अनन्य आस्था थी। गुरुसेवा का वियोग उन्हे एक दिन के लिए भी असह्य हो जाता था। जयाचार्य भी शिष्य मघवा को एक दिन के लिए भी दूर रखना नही चाहते थे। कालू गाव मे एक बार मुनि मघवा को चेचक ने आक्रान्त कर दिया था। ग्राम छोटा था। मर्यादा महोत्सव सन्निकट होने के कारण साधु-साध्वियो की संख्या बढती जा रही थी। आहार-पानी की असुविधा का होना स्वाभाविक था। आस-पास के बारह गावो मे गोचरी की जाती थी। इन सभी कठिनाइयो के होते हुए भी जयाचार्य यहा २७ रात तक रुके। मुनि मघवागणी के स्वस्थ हो जाने के बाद वहा से उन्होंने विहार किया था। गुरु-शिष्य की ऐसी अभिन्नता तेरापथ धर्मसंघ के इतिहास मे वात्सल्य एवं समर्पण का प्रेरक पृष्ठ है।

ज्ञानार्जन की दिशा में भी मुनि मघराज अप्रमत्त भाव से प्रवृत्त थे। जयाचार्य से प्रेरणा पाकर उन्होने सस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। सारस्वत व्याकरण का पूर्वार्द्ध तथा चन्द्रिका का उत्तरार्द्ध कंठाग्र किया। अनेक काव्य भी पढे। किरातार्जुनीय, दुर्घटकाव्य, समाधितत्र, योगशास्त्र आदि ग्रंथो का गम्भीर अध्ययन कर संस्कृत भाषा पर प्रभुत्व स्थापित किया। तेरापंथ धर्मसघ के वे प्रथम सस्कृत विद्वान् थे। व्याख्यान में भी कई बार संस्कृत काव्यो का वाचन किया करते थे। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगम, रामचरित्र, शालिभद्र आदि कई आख्यान उन्हें अच्छी तरह से कंठस्थ थे। आगम

ज्ञान मे आपकी विशेष रुचि थी। बत्तीस आगमों का उन्होंने कई बार पुनः-पुन. स्वाध्याय किया था। मघवागणी की स्मरण शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। एक बार उन्होंने पण्डित दुर्गादासजी के समक्ष सारस्वत व्याकरण के कुछ अशों को २६ वर्ष के बाद ज्यो का त्यो दुहरा दिया था। पडित दुर्गादासजी मघवागणी की स्मरण शक्ति पर आश्चर्यचकित रह गए थे।

मघवागणी को १४ वर्ष की अवस्था में जयाचार्य ने सरपच बना दिया था, यह मघवागणी की प्रभावकता का सबल उदाहरण है।

एक बार की घटना है—वी० नि० २३८२ (वि० स० १९१२ में जयाचार्य की आखो मे तकलीफ हो गई थी) मर्यादा पत्र वाचन का अवसर आया। जयाचार्य ने यह गुरुत्तर कार्य मुनि मघजी को सौपा था। उस समय मघवागणी की अवस्था लगभग १६ वर्ष की थी।

जयाचार्य के द्वारा वी० नि० २३९० (वि० स० १९२०) मे मुनि मघराजजी की नियुक्ति युवाचार्य पद पर हुई। इस समय युवाचार्य मघराज २४ वर्ष के थे।

युवाचार्य अवस्था में 'मघवा' ने धर्म शासन के कई गुरुत्तर कार्य सम्भाल लिए थे। जयाचार्य युवाचार्य के कार्य से अत्यन्त प्रसन्न थे। वे कई कार्यों से निवृत्त होकर साहित्य सरचना मे प्रवृत्त हो गए।

मघवागणी १८ वर्ष तक युवाचार्य पद पर रहे थे पर उन्हे कभी अहकार बोझिल नही कर सका था। वे पहले भी नम्र थे, सरल थे, युवाचार्य बनने के बाद वैसे ही सरल और नम्र बने रहे।

जयाचार्य का वी० नि० २४०८ (वि० स० १९३८) मे स्वर्गवास हो जाने के बाद जयपुर मे मघवागणी ने तेरापथ धर्मसघ का दायित्व सम्भाला।

मघवागणी ३० वर्ष तक जयाचार्य के पास रहे थे। अत विविध अनुभव उन्हे अपने गुरु से प्राप्त थे। आचार्य काल मे मघवागणी ने राजस्थान मे ह विहरण किया था। जयपुर चातुर्मास समाप्त कर जब मघवागणी आचार्य बनने के बाद पहली बार थली प्रदेश मे पधारे उस समय धर्मसंघ ने आपका अभूतपूर्व स्वागत किया। धर्म की भी विशेष प्रभावना हुई। सहस्रो व्यक्तियो ने सम्यक्त्व दीक्षा ग्रहण की। सरदारशहर के सैकड़ो व्यक्ति तेरापंथ धर्मसंघ के अनुयायी बने थे।

मघवागणी का शासनकाल प्रारम्भ हुआ उस समय साध्वी प्रमुखा पद पर साध्वी गुलाब थी। वी० नि० २४१० (वि० सं० १९४०) के पौष महीने

से भगिनी महासती गुलाब का स्वर्गवास हो गया था। मघवागणी ने साध्वी नवलांजी को प्रमुखा पद पर नियुक्त किया था।

उदयपुर आदि क्षेत्रों में मघवागणी के चातुर्मास विशेष प्रभावक रहे। तत्कालीन महाराजा फतेहसिंहजी ने मघवागणी के सम्पर्क मे आकर जीवन का बोध प्राप्त किया था। उदयपुर के सुविश्रुत कविवर सावलदासजी भी मघवागणी के व्यक्तित्व से प्रभावित थे।

मघवागणी के शासनकाल में ११६ दीक्षाएं हुईं, उनमे सन्तों की सख्या ३६ एवं साध्वियो की संख्या ८३ थी।

धर्मसंघ के संचालन मे मघवागणी की कोमल अनुशासना सामूहिक जीवन में अहिंसा का अभिनव प्रयोग था।

माणकगणी

माणकगणी का जन्म लम्बी प्रतीक्षा के बाद हुआ था अत. परिवार मे सहज उल्लास का वातावरण बना। घर के हर सदस्य के मन मे खुशिया नाचने लगी थी। माता-पिता का हृदय भी हर्षातिरेक से भर गया, पर सहयोग बात थी शिशु माणक को पिता का वात्सल्य एवं मा की ममता अधिक समय तक प्राप्त नही हो सकी। शिशु की अल्पायु में ही माता-पिता दोनों का देहावसान हो गया था। लाला लिछमणदासजी [माणक के पिता के बडे भ्राता] ने अत्यन्त स्नेह के साथ माणकगणी का पालन-पोषण किया एव धार्मिक संस्कारो से भी संस्कारित किया। माणकगणी बचपन से ही सहज विनम्र एवं स्थिर योगी थे। शहरी बालको जैसी चचलता उनमे नही थी। लाला लिछमणदासजी के प्रति माणक का विशेष आदर भाव था एव लालाजी की दृष्टि का माणक के मन मे सकोच भी था।

जयाचार्य का वी० नि० २३९८ (वि० स० १९२८) का चातुर्मास जयपुर मे था। इस समय माणकगणी १६ वर्ष के युवक हो गए थे। धार्मिक सस्कार उसको लाला लिछमणदासजी से पहले ही प्राप्त थे। जयाचार्य की सन्निधि से माणकगणी के जीवन में धार्मिक सस्कारों की ओर अभिवृद्धि हुई। अधिकांश समय धार्मिक स्थान में बीतने लगा। जयाचार्य के प्रति उनके मन में अनन्त आस्था का भाव जागृत हुआ। साधु-साध्वियों की दिनचर्या ने भी उनके मन को प्रभावित किया। जयाचार्य के वैराग्य रसवर्धक प्रवचनों ने माणकगणी के जीवन की धारा ही बदल दी। संयमी जीवन स्वीकार करने के लिए उनका मन उत्सुक हो गया था। चातुर्मास काल सानन्द सम्पन्न हुआ।

कुछ दिन जयपुर के उपनगरों मे विचरण करने के बाद जयाचार्य विहार की तैयारी करने लगे। तब तक लिछमणदासजी को माणक के वैराग्य भाव की जानकारी बिलकुल नही थी। माणकगणी ने अपनी भावना को लालाजी के सामने रखने का प्रयत्न ही नही किया।

जयाचार्य ने जयपुर से लाडनू की ओर प्रस्थान किया इस यात्रा में लाला लिछमणदासजी के साथ माणकगणी को भी गुरुदेव की उपासना का लाभ प्राप्त हुआ था।

जयाचार्य ने माणक के वैराग्य की बात लाला लिछमणदासजी के सामने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रगट की तथा अनुमति देने के लिए तैयार किया। कुचामन की घटना है—लाला लिछमणदासजी जयाचार्य के पास बैठे थे। जयाचार्य ने कहा—"लालाजी ! माणक सुयोग्य बालक है। यह मुनि बनकर धर्मसंघ की विशेष प्रभावना करने वाला हो सकता है।"

माणक की मुनि दीक्षा के शब्द सुनने मात्र से लालाजी गद्गद् हो गए और बोले—"दीक्षा लेने के लिए पहले अपनी वैराग्य भावना भी होनी चाहिए। दीक्षा मार्ग कठोर है। माणक प्रकृति से कोमल है और शरीर से भी कोमल है। शीत, गर्मी आदि के कितने परिषह मुनि जीवन मे सहने पडते हैं। पुस्तक पन्ने उपकरण आदि का भार भी अपने कंधों पर उठाकर पैदल चलना पडता है। मेरे कमल से कोमल माणक के द्वारा संयम के इस दुर्वहमार्ग पर बढ पाना कैसे सम्भव है ?

प्रत्युत्तर में जयाचार्य ने मधुर स्वरों में कहा—"लालाजी ! व्यक्ति का मनोबल और संकल्पबल कठिनाइयो की दुरूह घाटियो को पार कर देता है। माणक के लिए चिन्ता की बात ही क्या हैं? तुम्हारा कोमल माणक अधिक भार नही उठा सकेगा वह रजोहरण को लेकर तो चल ही सकता है ? धर्मसंघ के दायित्व को सम्भालने के लिए मेरे सामने मघजी है। मघजी को भी संघ दायित्व को वहन करने वाले किसी योग्य व्यक्ति की आवश्यकता होगी।

जयाचार्य के द्वारा कहे गए इन शब्दो ने लालाजी को भाव-विह्वल कर दिया। गुरुदेव के शब्दों में माणक के उज्ज्वल भविष्य का संकेत भी झलक रहा था। लालाजी विनम्र होकर बोले "आचार्यदेव ! आपकी कृपा के सामने मैं प्रणत हूं। माणक को आपके चरणो मे समर्पित कर रहा हूं।" लालाजी से अनुमति प्राप्त होते ही माणक का मन उल्लास से भर गया। जयाचार्य ने तत्काल साधु प्रतिक्रमण सीखने के साथ ही दीक्षा का आदेश दिया। लालाजी

जयपुर गए । परिवार को साथ लेकर गुरुदेव के चरणो मे पहुंचे ।

लाडनू मे वी० नि० २४६८ (वि० स० १६२८) मे फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन जन समूह के समक्ष जयाचार्य द्वारा माणकगणी का दीक्षा सस्कार सम्पन्न हुआ ।

मुनि माणक स्वभाव से विनम्र एव सरल थे । अध्ययन की भी उनमे सहज रुचि थी । दीक्षा लेने के बाद उन्होने सर्वप्रथम आगमो का गम्भीर, तलस्पर्शी अध्ययन किया । जयाचार्य का विशेष कृपाभाव उन पर था । उनकी पटुप्रवृत्ति, नियमित प्रवृत्ति, सेवा वृत्ति एव विनय वृत्ति से जयाचार्य प्रभावित हुए । उन्होने दीक्षा जीवन के तीन वर्ष बाद उनको अग्रगण्य बनाया एव धर्म प्रचार करने का आदेश दिया ।

मघवागणी का वी० नि० २४१३ (वि० स० १६४३) का चातुर्मास जयपुर मे था । वहा उन्होने सस्कृत का अध्ययन भी प्रारम्भ किया । शब्दबोध, सिद्धान्त चन्द्रिका आदि को कठस्थ कर व्याकरण क्षेत्र मे प्रगति की । थोड़े ही वर्षों मे उनका सबल व्यक्तित्व सबके सामने आया । वे प्रभावक मुनि के रूप मे प्रतिभाषित हुए ।

जयाचार्य के स्वर्गवास के बाद मघवागणी की अनुशासना मे उन्होने अपने जीवन का विकास किया । अनेक जीवनोपयोगी शिक्षाए मघवागणी से ग्रहण की । जयाचार्य की भान्ति मघवागणी का भी उन पर विशेष कृपा भाव था ।

उदयपुर की घटना है । वहा के महाराजा फतहसिहजी द्वारा सम्मानित कविवर सावलदास ने मघवागणी से उत्तराधिकारी का नाम जानना चाहा था, उस पर मघवागणी ने माणकगणी का नाम उनके सामने प्रकट किया था ।

मघवागणी वी० नि० २४१६ (वि० स० १६४६) मे सरदारशहर के मर्यादा महोत्सव के बाद फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी के दिन युवराज पद पर माणकगणी का नाम पत्र पर लिखकर साध्वी प्रमुखाश्री नवलाजी के हाथ मे सौपा ।

चैत्र शुक्ला पचमी की रात्रि मे मघवागणी ने आपको नाना प्रकार की शिक्षाए प्रदान की एव शासन की स्थिति के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की जानकारी दी थी ।

मघवागणी के स्वर्गवास के बाद माणकगणी ने वी० नि० २४१६ (वि० सं० १६४६) मे आचार्य पद का दायित्व सम्भाला उस समय उनकी अवस्था

३८ वर्ष की थी। इसी चैत्र शुक्ला ८ के दिन आचार्य पद महोत्सव उल्लास के साथ मनाया गया था।

माणकगणी के जीवन मे कई विरल विशेषताए थीं। उनका कद लम्बा था। गर्दन भी लम्बी थी। लम्बी यात्रा करना वे पसन्द करते थे। एक साथ वे सात कोश (मारवाडी कोश) का विहार आसानी से कर लेते थे। डग भी उनकी लम्बी थी, सामान्य आदमी की तीन डग जमीन को माणकगणी दो ही डग मे माप लेते थे।

हरियाणा के वासियों को पूर्वाचार्यों की अपेक्षा माणकगणी का सान्निध्य अधिक प्राप्त हुआ था।

माणकगणी का चिन्तन परम्परा पोषित एवं रुढ़ नही था। उनके द्वारा धर्मसंघ मे कई नये उन्मेष आने की सम्भावना थी। आचार्य पद पर उन्होंने पाच चातुर्मास किए। सरदारशहर, चूरू, जयपुर, बीदासर,—इन चार क्षेत्रो के चातुर्मास माणकगणी के धर्म प्रचार की दृष्टि से बडे प्रभावक रहे थे। माणकगणी का वी० नि० २४२४ [वि० स० १९५४] का चातुर्मास सुजानगढ में था। यह चातुर्मास आपका अन्तिम चातुर्मास था। महामनस्वी माणकगणी का ४२ वर्ष की अल्पायु मे ही स्वर्गवास हो जाने के कारण युवाचार्य की नियुक्ति माणकगणी नही कर पाये थे।

मघ विकास की दृष्टि से उन्होंने अपना समय उन क्षेत्रों मे अधिक दिया जहा पूर्वाचार्यों का कम समय तक विराजना हो सका था।

मघवागणी एव माणकगणी दोनो के शासनकाल मे तेरापंथ धर्मसघ का चतुर्मुखी विकास हुआ एवं जैन धर्म की प्रगति हुई।

समय-संकेत

मघवागणी एव माणकगणी दोनो पुण्यवान एव भाग्यशाली आचार्य थे। उनके आचार्य पद काल मे सर्वत्र शान्ति का वातावरण बना रहा। मघवागणी ११ वर्ष की उम्र में मुनि बने। जयाचार्य द्वारा २४ वर्ष की उम्र में उनकी युवाचार्य पद पर नियुक्ति हुई। उन्होने ११ वर्ष आचार्य पद का कुशलतापूर्वक दायित्व सम्भाला। सरदारशहर मे मर्यादा महोत्सव सम्पन्न होने के बाद वी० नि० २४१८ [वि८ स० १९४९] मे चैत्र कृष्णा पचमी के दिन अनशन की स्थिति मे पूर्ण समाधिमय क्षणो मे तेरापंथ की राजधानी सरदारशहर में मघवागणी का स्वर्गवास हुआ। तेरापथ धर्मसंघ मे उस समय ७१ साधु थे एवं १९३ साध्वियां थी।

माणकगणी ने १६ वर्ष की उम्र मे सयम दीक्षा ग्रहण की। धर्मसघ को आचार्य अवस्था मे मात्र साढे चार वर्ष तक आपका मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। प्रगतिशील माणकगणी का स्वर्गवास वी० नि० २४२४ [वि० स० १९५४] में हुआ था।

मघवागणी और माणकगणी का आगमन मानवता के मंगल प्रभात का आगमन था।

१२६. व्याख्यान वाचस्पति आचार्य विजयानन्द (आत्माराम)

आचार्य विजयानदसूरिजी को विद्यानदसूरि कहना अधिक उपयुक्त होगा। विजयानदसूरि वेद, वेदाङ्ग और भारतीय दर्शनों के ज्ञाता थे। जैन दर्शन के गम्भीर विद्वान् थे। विविध विषयात्मक ग्रंथो का अध्ययन कर ज्ञान के क्षेत्र मे उन्होने बहुमुखी विकास के स्रोत उद्घाटित किए।

गुरु-शिष्य परम्परा

मंदिरमार्गी सम्प्रदाय मे विजयानदजी के दीक्षा गुरु बुद्धिविजयजी (बुटेरायजी) थे। इससे पूर्व विजयानदजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय मे दीक्षा ली। विजयानदसूरि के शिष्य समुदाय मे लक्ष्मीविजयजी, चरित्रविजयजी आदि मुनि थे। विजयानदसूरिजी के पट्टधर शिष्य विजयवल्लभसूरिजी थे।

जन्म एव परिवार

विजयानदसूरि का जन्म पजाब मे झेलम नदी के किनारे 'कलश' नामक ग्राम मे वी० नि० २३६२ (वि० म० १८९३) मे चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को हुआ। उनके पिता का नाम गणेशचद्रजी और माता का नाम रूपा बाई था। विजयानदसूरिजी का बाल्यकाल का नाम दित्ता और दूसरा नाम देवदास रखा गया था।

जीवन-वृत्त

विजयानंदजी के बाल्यकाल मे ही मस्तक पर से पिता के सरक्षण का साया उठ गया। मा रूपांबाई ने अपने पुत्र दित्ता के साथ गणेशचद्रजी के मित्र जोधमलजी के घर पर आश्रय लिया। जोधमलजी जैन थे। उनके घर पर स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधु-साध्वियो का आवागमन होता रहता था। साधु-साध्वियो के सम्पर्क से बालक दित्ता (विजयानद) जी को धार्मिक संस्कारो का बल मिला और वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। मुनि जीवन मे उनका नाम आत्माराम रखा गया। मुनि आत्मारामजी की शीघ्र-ग्राही स्मरण शक्ति थी। एक दिन मे वे ३०० श्लोक कंठस्थ कर लेते थे।

स्थानकवासी सम्प्रदाय मे रहकर विविध अनुभवो को बटोर लेने के बाद आत्मारामजी का धीरे-धीरे मदिरमार्गी सम्प्रदाय की ओर झुकाव होने लगा। एक दिन बुद्धिविजयजी के पास वी० नि० २४०२ (वि० स १९३२) मे उन्होने मंदिरमार्गी दीक्षा स्वीकार कर ली। यहा सम्प्रदाय परिवर्तन ही नही नाम भी परिवर्तित हुआ। पहला नाम उनका आत्माराम था। दूसरा नाम आनंदविजय हुआ।

आनदविजयजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनको वी० नि० २४१३ (वि० स० १९४३) मे जैनाचार्य पद से अलकृत किया। आचार्य बनने के बाद वे आनदविजय से विजयानद हो गए।

विजयानदसूरिजी समर्थ आचार्य थे। ये ही वे आचार्य थे, जिन्होने भारत मे अध्यात्म का शंखनाद फूका और विदेशो तक अपने शिष्य वीरचद राघव को प्रेषित कर आत्मज्ञान की पीयूष-स्रोतस्विनी प्रवाहित की।

शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर राघवजी का वक्तव्य सुनकर विदेशी लोग जैन धर्म की वैज्ञानिकता पर मुग्ध हुए और उन्होने पहली बार अनुभव किया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। जैन धर्म प्रचारार्थ युरोपीय देशों मे कई सस्थाओ को स्थापित करने का श्रेय भी आचार्य विजयानदजी को है।

पाश्चात्त्य देशो से भी निकट सम्पर्क साधने वाले वे प्रथम आचार्य थे। विदेशो मे उन्हे बुलाने के लिए कई निमत्रण भी आये उनका जाना नही हुआ, पर जैन धर्म के प्रचारार्थ उनके व्यापक प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय बन पाए है।

साहित्य

विजयानदसूरिजी ने धर्म प्रचार के साथ साहित्य सृजन का कार्य भी किया। तत्त्वनिर्णयप्रसाद, अज्ञानतिमिर भास्कर, शिकागो-प्रश्नोत्तर सम्यक्त्व शल्योद्धार, जैन प्रश्नोत्तर, नवतत्त्व सग्रह, आत्म-विलास, आत्म बावनी, जैनमत वृक्ष आदि विभिन्न ग्रथो की रचना कर उन्होंने श्रुतसम्पदा को बढाया था। इन ग्रथो मे जैन दर्शन एव आत्मबोध को समझाने का प्रशस्त प्रयत्न किया गया है।

समय संकेत

विजयानंदजी ने जागरूक जीवन जिया तथा भौतिक देह का विसर्जन

भी जागरूक क्षणों में किया।

उन्होंने वी० नि० २४२३ (वि० १६५३) ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण किया। प्रतिक्रमण क्रिया के बाद परिपार्श्व में बैठे मुनियों से क्षमत-क्षामना किया। तदनन्तर वे बोले—हम जा रहे हैं। इतना कहकर वे रुके ही थे, अर्हंत्, अर्हंत् की ध्वनि का उच्चारण करते हुए वे स्वर्गवासी हो गए।

१३०. अज्ञान तिमिरनाशक आचार्य डालगणी

तेरापथ धर्मसघ के सातवे आचार्य डालगणी थे। वे आगम मर्मज्ञ, शास्त्रार्थ निपुण, तार्किक प्रतिभा के धनी, कष्टसहिष्णु, दृढ सकल्पी, उग्रपाद विहारी, अनत मनोबली एव महान् तेजस्वी आचार्य थे। दीप्तिमान भाल, विकस्वर नयन, गम्भीर दृष्टि एव बुलन्द स्वर उनके बाह्य व्यक्तित्व के असाधारण गुण थे। उनका अन्तरग व्यक्तित्व भी विरल विशेषताओ से सम्पन्न था। स्वय के कर्तृत्व ने उनके व्यक्तित्व मे विलक्षण क्षमताओ का विकास दिया। कच्छ भूमि मे लम्बे समय तक विहरण कर धर्म सरिता को प्रवाहित करने का कठिन श्रमसाध्य कार्य उन्होंने किया था।

गुरु-परम्परा

डालगणी की दीक्षा जयाचार्य के निर्देश मे मुनिश्री हीरालालजी द्वारा हुई। जयाचार्य की सन्निधि मे ज्ञानार्जन किया। जयाचार्य के बाद मघवागणी से उन्होने नाना प्रकार की शिक्षाए प्राप्त की। छठे आचार्य माणकगणी के वे उत्तराधिकारी बने। मघवागणी माणकगणी की जो गुरु परम्परा है वही डालगणी की है। तेरापथ धर्मसघ मे सब आचार्यों की एक ही गुरु परम्परा है।

जन्म एवं परिवार

डालगणी का जन्म ओसवाल परिवार मे वी० नि० २३७६ (वि० स० १९०६) में आषाढ शुक्ला चतुर्थी के दिन हुआ। भारत की ऐतिहासिक नगरी उज्जयिनी को उनकी जन्म भूमि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके पिताश्री का नाम कानीरामजी एव माता का नाम जडावाजी था। पीपाडा उनका गोत्र था।

जीवन-वृत्त

डालगणी का जन्म एक धार्मिक परिवार मे हुआ था। पिता का वात्सल्य डालगणी को अधिक समय तक नहीं मिल सका। उनकी बाल्यावस्था मे ही कानीरामजी का देहावसान हो गया था। मा जडावांजी ने ही पिता और माता दोनो की भूमिका का दायित्व कुशलता से निभाया। अत्यन्त स्नेह

से बालक का पालन-पोषण किया। धार्मिक संस्कार डालगणी को अपनी माता से सहज प्राप्त हुए।

जड़ावाजी एक धार्मिक महिला थी। पति के देहावसान के बाद जड़ावाजी का मन भोगप्रधान जीवन से विरक्त सा हो गया था। सासारिक व्यवहारो को वह कर्त्तव्य भाव से निभा रही थी। डालगणी के जीवन का एक दशक पूरा हुआ, दूसरा दशक प्रारभ हुआ। इस उम्र मे हर बालक कुछ समझदार हो जाता है। डालगणी ग्यारह वर्ष के थे। वे इस समय समझदार बालक बन गए थे। जड़ावाजी को पुत्र के पालन पोषण की अब उतनी चिंता नही रह गई थी जितनी पहले थी अत. पारिवारिकजनो के सरक्षण मे पुत्र की व्यवस्था कर जडावा जी सयमी जीवन ग्रहण करने की तैयारी मे लगी। गुरुदेव के आदेश की प्रतीक्षा थी वह भी प्राप्त हुआ। पूर्ण वैराग्य भावना के साथ जडावाजी ने साध्वी गोमाजी से वि० स० १९२० मे पेटलावाद मे सयम दीक्षा ग्रहण की।

मा जडावाजी की दीक्षा ने पुत्र डालमचन्द को सयमी जीवन ग्रहण करने हेतु उत्सुक बना दिया। उनकी वैराग्य भावना दिन प्रतिदिन वृद्धिगत होती गई। परिवारवालो ने उनको इस त्याग-पथ से विचलित करने का प्रयास किया। डालगणी अपने निर्णय मे दृढ रहे। इन्दौर मे डालगणी को मुनि श्रीहीरा की उपासना का अवसर मिला। अपनी भावना बालक डालचद ने मुनिश्री के सामने प्रगट की। उनसे तात्त्विक ज्ञान का प्रशिक्षण पाया। बालक की योग्यता से मुनिश्री हीरालालजी प्रभावित हुए। परिवार वालो को भी डालगणी की तीव्र भावना के सामने अनुमति देने के लिए झुकना पडा। जयाचार्य के आदेश से मुनिश्री हीरालालजी ने वी० नि० २३९३ (वि० स० १९२३ मे भाद्र कृष्णा द्वादशी के दिन सयमोत्सुक बालक को भागवती दीक्षा प्रदान की। मा जडावाजी की दीक्षा इससे तीन वर्ष पूर्व हुई थी।

मुनि जीवन मे डालगणी को चार वर्ष तक जयाचार्य का निकट सान्निध्य प्राप्त हुआ। यह चार वर्ष का काल वि० स० १९२५ से २८ तक का था। डालगणी के लिए यह समय ज्ञानार्जन की दिशा मे वरदान सिद्ध हुआ। उन्होने आगमो का गम्भीर अध्ययन किया। उनकी पैनी प्रतिभा आगम के गहन रहस्यो को एव सूक्ष्मताओ को ग्रहण करने मे सक्षम सिद्ध हुई। दसवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी कई सूत्र डालमुनि को कण्ठाग्र थे।

डालगणी शास्त्रार्थ करने में भी निपुण थे। डालगणी की तार्किक

प्रतिभा ने उनको अप्रतिहत चर्चावादी बना दिया था। शास्त्र विशारद संतों, पंडितों एवं श्रावकों के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। वे सदा शास्त्रार्थ मे अजेय बने रहे। उनकी तर्क इतनी अकाट्य होती थी, विपक्षी का उनके सामने टिक पाना कठिन हो जाता। शास्त्रार्थ के मध्य में अन्य व्यक्ति का हस्तक्षेप उन्हे सह्य नही था। किसी भी व्यक्ति के द्वारा इस प्रकार की हरकतें होती तो वे इतनी करारी चोट करते कि सामने वाला व्यक्ति पुन: बोलने का साहस भी नही कर सकता था।

जयाचार्य ने डालगणी को वी० नि० २४०० (वि० स० १६३०) में अग्रणी बनाया। धर्म-प्रचार के लिए उनको दूर-दूर तक भेजा गया। कच्छ देश की डालगणी ने अग्रणी काल मे तीन यात्राएं की। वहा उन्होंने पाच चतुर्मास किए। कच्छ की जनता आपके तेजोमय व्यक्तित्व से अभिभूत थी। उनके प्रवचनो को सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक लोग शास्त्रार्थ के लिए आते और निरुत्तर हो जाते। डालगणी ने कच्छ मे अनेक व्यक्तियो को सुलभ बोधि बनाया। कई लोग तेरापथ के अनुयायी बने। धर्म की विशेष प्रभावना कच्छ प्रदेश मे हुई। वहा के लोग डालगणी को कच्छी पूर्वज कहते थे।

आचार्य माणकगणी के स्वर्गवास के बाद (वि० स० १६५४) मे डालगणी तेरापथ धर्म सघ के सप्तम आचार्य बने। तेरापंथ संघ मे भावी आचार्य का निर्वाचन आचार्य द्वारा होता है। डालगणी के अतिरिक्त सभी आचार्यों का निर्वाचन आचार्य द्वारा हुआ हैं। माणकगणी का ४२ वर्ष की अल्पायु में ही स्वर्गवास हो जाने पर उनके द्वारा भावी आचार्य का निर्णय नही हो पाया था। अत डालगणी का धर्म सघ द्वारा निर्विरोध निर्वाचन हुआ। यह तेरापंथ धर्म सघ की असाधारण सफलता थी। निर्विरोध चयन डालगणी के व्यक्तित्व की सबल प्रभावकता का उदाहरण है।

डालगणी के पास जयाचार्य, मघवागणी, माणकगणी—तीन आचार्यों के अनुभवो का सबल प्राप्त था। उन्होंने अत्यन्त कुशलता से तेरापंथ धर्म संघ का सचालन किया। अनुशासन, सगठन और मर्यादा की भूमिका पर उसे तेजस्विता प्रदान की।

डालगणी के जीवन मे कठोरता का एव कोमलता का अपूर्व सगम था। वे इतने तेजस्वी थे कि कभी-कभी उनके पास मे रहने वाले मत भी

सामान्य सी बात को निवेदन करने मे सकुचाते थे। कोमल इतने थे कि भक्तों की प्रार्थना को पूर्ण करने के लिए वे अपने शरीर की परवाह न करके कभी-कभी यात्रा में लम्बा घुमाव भी लेते थे।

डालगणी का नाम लोग मंत्र की तरह स्मरण करने लगे थे। एक बार सीकर मे मुसलमान गुलाबखा को साप ने काट लिया था। परिवार वाले जीवन की आशा छोड चुके थे। उस समय एक तेरापंथी श्रावक ने कागज पर डालगणी का नाम लिखकर उसके हाथ पर बाध दिया। डालगणी के नाम से मंत्रित जल भी पिलाया, साप का जहर उतर गया। गुलाबखा ने डालगणी के बीदासर मे दर्शन किए। कुछ दिन तक वही रुककर उसने डालगणी से शिक्षामृत का पान किया। डालगणी की प्रेरणा से आजीवन मद्य-मास का परित्याग कर वह एक श्रावक की भाति सात्विक जीवन जीने लगा था।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण अन्तिम दो चातुर्मास लाडनू मे हुए। लाडनू की जनता को डालगणी के प्रवचनो का विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ।

समय-संकेत

महातेजस्वी आचार्य डालगणी १४ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। मुनि जीवन के ४३ वर्ष के काल मे उन्होंने १२ वर्ष तक तेरापंथ धर्म सघ के दायित्व का सचालन किया। युवाचार्य का नाम पत्र मे गुप्त रूप से लिखकर अपने इस कर्त्तव्य के दायित्व को भी पूर्ण किया। उनका (वि० स० १९६६) भाद्र शुक्ला द्वादशी के दिन स्वर्गवास हुआ।

१३१. रचनामेधा सम्पन्न आचार्य विजयराजेन्द्र

आचार्य विजयराजेन्द्रसूरिजी सौधर्म बृहद् तपोगच्छीय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य थे। वे कई भाषाओ के ज्ञाता थे एवं महान् साहित्यकार भी थे। आभिधान राजेन्द्र कोष उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

साहित्य

विजयराजेन्द्रसूरि आगम कोष के अनन्य पाठी थे। आगम की विविध सामग्री से परिपूर्ण अभिधान राजेन्द्र कोष की उन्होने रचना की। अभिधान राजेन्द्र कोष आज समग्र जैन वाङ्मय में अनूठा स्थान प्राप्त है।

उनकी शिष्य मंडली में इतिहास-प्रेमी, व्याख्यान-वाचस्पति यतीन्द्र-विजयजी भी थे। यतीन्द्रविजयजी की दीक्षा वी० नि० २४२४ (वि० १९५४) आषाढ कृष्णा द्वितीया सोमवार को खाचरोद मे हुई थी। उन्होने विजयराजेन्द्रसूरिजी की सन्निधि मे बैठकर सस्कृत, प्राकृत भाषा का अध्ययन किया और अभिधान राजेन्द्र कोष की रचना मे आठ वर्ष तक सह-सम्पादन के रूप मे रहकर उन्होंने सफलता पूर्वक काम किया।

काल किसी के लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नही करता। विजयराजेन्द्र-सूरीश्वरजी कोष निर्माण मे निष्ठा से लगे थे। कोष-निर्माण का कार्य पूरा भी नही हो पाया उससे पहले ही काल ने आकर उनके जीवन-द्वार पर दस्तक लगा दी और उनका महान् स्वप्न अधूरा ही रह गया।

उनके स्वर्गवास के पश्चात् कोष-निर्माण का कार्य विद्वान् मत दीप-विजयजी और यतीन्द्रविजयजी की देख-रेख मे चलता रहा। सात भागो मे पूर्ण वह राजेन्द्र कोष वी० नि० २४६२ (वि० स० १९९३) मे 'राज सस्करण' की अभिधा से अलंकृत होकर जनता के सामने आया और शोध पाठको के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

समय-संकेत

विजयराजेन्द्रसूरिजी का स्वर्गवास वी० नि० २४३३ पोष शुक्ला षष्ठी (वि० स० १९६३) को हुआ था। इससे स्पष्ट है कि वे वी० नि० की २५ वीं (वि० की० २० वी) सदी के विद्वान् थे।

१३२. करुणास्रोत आचार्य कृपाचन्द्र

जैन श्वेताम्बर मन्दिर मार्गी परम्परा में कई शाखाएं और गच्छ हैं उनमे एक खतरगच्छ भी है। इस खतरगच्छ में जिनदत्तसूरि आदि कई प्रभावक आचार्य हुए हैं। उन प्रभावक आचार्यों की शृखला में कृपाचन्द्रसूरि का भी गरिमामय स्थान है। प्रस्तुत प्रबन्ध कृपाचन्द्रसूरि से सम्बंधित है।

गुरु-परम्परा

कृपाचन्द्रसूरि ने पहले अमृतजी से वी० नि० २४०६ (वि० स० १९३६) मे यति सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। बहुश्रुत बनने के बाद वे यति से मुनि बने थे।

जन्म एवं परिवार

कृपाचन्द्रसूरि का जन्म चान्सू (जोधपुर) ग्राम में वी० नि० २३८३ (वि० स० १९१३) मे हुआ। उनका गोत्र बाफणा और पिता का नाम मेघरथजी था।

जीवन-वृत्त

कृपाचन्द्रसूरि आगमज्ञ थे और व्याकरणशास्त्र तथा न्यायशास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता थे। बम्बई मे वी० नि० २४४२ (वि० सं० १९७२) मे उनका आचार्य पद पर नियुक्त किया गया। आचार्य पदारोहण के समय उनकी अवस्था लगभग ५९ वर्ष की थी।

मारवाड़, गुजरात, काठियावाड और मालव मे विहरण कर जैन शासन के उपवन को उन्होने अपनी सदुपदेश धारा से सीचा। कई पाठशालाओ और पुस्तकालयो की स्थापना भी उनकी प्रेरणा मे हुई।

मुनि सब जीवो के प्रति अकारण कारुणिक होते हैं। कृपाचन्द्रसूरि के प्रचार कार्य को देखकर लगता है यह गुण उनमे विशेष रूप से उभरा था। आज भी खरतरगच्छ मे कृपाचन्द्रसूरि का नाम विशेष रूप से स्मरण किया जाता है।

समय-संकेत

कृपाचन्द्रसूरि का आचार्य काल वी० नि० २४४२ (वि० स० १९७२) है। इस आधार पर वे वी० नि० २५ वी (वि० स० २० वी) सदी के विद्वान् होते हैं।

१३३. धर्मदीप आचार्य विजयधर्म

विजयधर्मसूरि श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा में तपागच्छ के ख्याति-प्राप्त आचार्य थे। उन्होंने कई व्यक्तियो को जैन दीक्षा दी। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कई विदेशी विद्वान् भी उनके भक्त बन गये थे। भारत के उस पार जैन-धर्म के सन्देश को पहुंचाने का विशेष कार्य उन्होने किया था।

गुरु-शिष्य-परम्परा

विजयधर्मसूरिजी के दीक्षा गुरु वृद्धिचन्द्रजी थे। वे वृद्धिविजयजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। वृद्धिविजयजी के शिष्य समुदाय मे श्री केवलविजयजी, गम्भीर विजयजी, उत्तमविजयजो आदि कई शिष्य थे। उनमे विजयधर्मसूरीश्वरजी भी एक थे। विजयधर्मसूरिजी के शिष्य विजयेन्द्रसूरिजी थे।

जन्म एवं परिवार

विजयधर्मसूरिजी का जन्म 'महुआ' गाव मे बीसा श्री माली परिवार मे वी० नि० २३०४ (वि० स० १९३४) मे हुआ। उनके पिता का नाम रामचन्द्रजी एव माता का नाम कमलादेवी था। विजयधर्मजी का नाम मूल-चन्द था।

जीवन-वृत्त

बालक मूलचन्द स्वतन्त्र मनोवृत्ति का था। पिता रामचन्द्र उसे पढ़ा-कर सुयोग्य मानव बनाना चाहते थे। उन्होंने इस हेतु प्रयत्न भी किए। पर बालक मे पढने की रुचि नहीं थी। प्रतिव्यक्ति के मानस परमाणु भिन्न-भिन्न होते हैं और प्रतिव्यक्ति की रुचियां भी भिन्न-भिन्न होती है। पिता ने बालक मूलचन्द को व्यापारी बनाना चाहा पर उसका मन सट्टा करने के दुर्व्यसन में फस गया। पिता भी अपने बच्चे की इस प्रवृत्ति से चिन्तित थे।

'सत्सगति. कथय कि न करोति पुसाम्' दुनिया का कौन सा भला कार्य सत्सगति के द्वारा नही होता। पतित से पतित व्यक्ति सत्संगति से पावन बन-जाते हैं। भाग्य से मूलचन्द बालक को सन्तो का पावन सान्निध्य मिला। विचारो की धारा बदली। सट्टे के व्यसन से मुक्त होकर बालक वैरागी बना।

मुनि श्री वृद्धिचन्दजी के पास वैरागी बालक मूलचन्द ने वी० नि० २४१३ (वि० स० १६४३) मे मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में मूलचन्द को धर्मविजय के नाम से सम्बोधित किया गया।

मुनि धर्मविजयजी सयम-साधना के साथ श्रुत की आराधना मे विशेष प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त हुए। उन्होने आगम ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया। ज्ञान कणो को बटोरने मे उनकी रुचि दिन प्रतिदिन वृद्धिगत होती रही। गृहस्थ जीवन में उन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में अधिक विकास नहीं किया था पर मुनि जीवन मे शास्त्रो के विशिष्ट ज्ञाता बने। उनका नाम धुरन्धर विद्वानो की श्रेणी मे आने लगा।

काशी नरेश के सभापतित्व मे उनको वी० नि० (२४३४ वि० १६ ६४ मे अनेक विद्वानो के बीच 'शास्त्र विशारद' की उपाधि से अलङ्कृत कर जैनाचार्य के पद मे विभूषित किया गया।

आचार्य वनने के बाद धर्मविजय के स्थान पर वे विजयधर्मसूरिजी के नाम मे सम्बोधित होने लगे। धर्म प्रचारार्थ गुजरात, बिहार, बगाल, बनारस, इलाहाबाद, और कलकत्ता आदि क्षेत्रो मे विहरण किया एव जनता को धर्म का बोध दिया।

समय-संकेत

विजयधर्मसूरिजी वृद्धावस्था मे शिवपुरी (ग्वालियर) गए। उस समय उनकी देह शक्ति काफी क्षीण हो गई थी। अपनी साधना मे रत आचार्य विजयधर्मसूरिजी का वी० नि० २४४६ (वि० स० १६७६) मे स्वर्गवास हो गया।

१३४. बुद्धिनिधान आचार्य बुद्धिसागर

योगियो की परम्परा मे बुद्धिसागरसूरिजी का नाम प्रख्यात है। बुद्धिसागरजी शरीर सम्पदा से सम्पन्न थे तथा भरपूर मस्ती का उनका जीवन था। उनकी अगुलियो मे अठारह चक्र थे। प्रतिभा उनकी अत्यन्त प्रखर थी।

गुरु-परम्परा

बुद्धिसागरजी तपागच्छीय आचार्य सुखसागरजी के शिष्य थे। सुख-सागरजी के गुरु का नाम रविसागरजी से प्राप्त हुआ था। उनका दीक्षा सस्कार सुखसागरजी द्वारा हुआ। रविसागरजी श्रीमयासागरयी के शिष्य और नेमसागरजी के प्रशिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

बुद्धिसागरजी का जन्म बडोदरा राज्यान्तर्गत 'बीजापुर' गाव मे वी० नि० २४०० (वि० स० १९३०) माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ। जाति मे वे पटेल थे। उनके पिता का नाम शिवजी भाई तथा माता का नाम अम्बा बाई था। बुद्धिसागरजी का गृहस्थ जीवन का नाम 'बहेचर' था।

जीवन-वृत्त

बुद्धिसागरजी के पिता शिवजी भाई पटेल 'शिव' के उपासक थे। माता अम्बा बाई 'वैष्णव' थी। बुद्धिसागरजी रविसागरजी महाराज मे जैन धर्म का बोध प्राप्त कर जैन धर्म के अनुयायी बने। पालनपुर मे उन्होने रविसागरजी महाराज के शिष्य सुखसागरजी महाराज से वी० नि० २४२७ (वि० सं० १९५७) मे मुनि दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था २७ वर्ष की थी।

बुद्धिसागरजी वास्तव मे बुद्धि के सागर ही थे। रसनेन्द्रिय पर उनकी विशेष विजय थी। प्रवचन शैली भी उनकी प्रभावक थी। 'पेथापुर' में वी० नि० २४४० (वि० सं० १९७०) मे बुद्धिसागरजी की आचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

जैन धर्म को बुद्धिसागरजी वीरो का धर्म मानते थे। जैन अहिंसा को वीरों की अहिंसा मानते थे। जब-जब भी उनके सामने सकट की घड़ी आई

उन्होंने हिम्मत और धैर्य से सामना किया ।

वे उग्र विहारी थे और प्रबल स्वाध्यायी थे । उन्होने अपने जीवन मे लगभग २५०० पुस्तको का वाचन किया । एक आगमसार नामक पुस्तक को उन्होंने सौ बार पढा था । ध्यान-योग साधना मे उनकी विशेष रुचि थी । जीवन का सर्वोपरि पथ वे ध्यान और योग साधना को मानते थे ।

साहित्य

बुद्धिसागरजी हिन्दी, सस्कृत एव गुजराती भाषा के विद्वान् थे । इन तीनो भाषाओं मे उन्होने साहित्य रचना की । उनके ग्रथों की कुल सख्या १०८ बताई गई है । उनमे २२ ग्रथ संस्कृत मे है । हजार पृष्ठों का विशालकाय 'महावीर ग्रथ' लिखकर उन्होने अध्यात्म साहित्य को गौरवमय उपहार भेट किया । आनंदघनजी के अध्यात्म परक पद्यो के विवेचन का श्रेय भी इन्हे दिया गया है । वे अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या (डायरी) भी लिखते थे ।

बुद्धिसागरजी प्रमुख रूप मे साहित्यकार नहीं योग साधक थे । साहित्य रचना उनकी योग साधना की स्थूल निष्पत्ति थी । उनके निर्मित ग्रथो मे भी योग साधना के स्वर अधिक मुखरित हुए हैं ।

समय-संकेत

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी एवं ध्यानयोगी बुद्धिसागरजी ने ११ वर्ष तक अपने संघ का सफलतापूर्वक सचालन किया । उनका वी० नि० २४५१ (वि० सं० १९८१) ज्येष्ठ कृष्णा तीज के दिन स्वर्गवास हुआ ।

१३५. कमनीय कलाकार आचार्य कालूगणी

जैन श्वेताम्बर तेरापथ धर्म सघ मे अष्टमाचार्य श्री कालूगणी थे । वे सफल अनुशास्ता, निस्पृह कर्मयोगी, कुशल मनोवैज्ञानिक, न्याय के पक्षधर, अनाग्रह वृत्तिक, बहुमुखी विकास के प्रेरणास्रोत, शातिप्रिय एव श्रमनिष्ठ आचार्य थे ।

हेमव्याकरण के समकक्ष, भिक्षु शब्दानुशासनम् नामक सर्वांग पूर्ण ग्रथ की रचना उनके शासनकाल मे हुई । जैन धर्म की प्रभावना मे उनका अवदान विविध रूपो मे है ।

गुरु-परम्परा

तेरापथ धर्मसघ मे आचार्य भिक्षु की उत्तराधिकारी परम्परा मे चतुर्थ जयाचार्य के उत्तराधिकारी मघवागणी आचार्य कालू के दीक्षा गुरु थे । मघवागणी के बाद माणकगणी और डालगणी के मार्गदर्शन म कालूगणी ने विविध दिशाओ मे विकास किया । तेरापथ धर्मसंघ का उत्तरदायित्व उन्होंने डालगणी के बाद सभाला ।

जन्म एवं परिवार

आचार्य कालूगणी का जन्म वी० नि० २४०३ (वि० १९३३) को छापर निवासी कोठारी परिवार मे हुआ । छापर वर्तमान मे चूरु जिले के अन्तर्गत है । श्री कालूगणीजी मूलचदजी के इकलौते कुलदीप थे । उनकी माताजी का नाम छोगाजी था ।

जीवन-वृत्त

कालूगणीजी की मा छोगाजी निर्भय और धर्मनिष्ठ महिला थी । कालूगणी जब तीन दिन के थे छोगाजी को भयकर दैत्याकार काली छाया अपनी ओर बढती हुई दिखाई दी । एक हाथ मे उन्होने पुत्र की रक्षा की तथा दूसरे हाथ मे उस डरावनी कायाकृति को पछाडकर सिंहनी की तरह निर्भयता का परिचय दिया था ।

मातृगुणो का सहज सक्रमण सतान मे होता ही है । छोगाजी के गुणो का विकास कालूगणी के व्यक्तित्व मे हुआ । शिशु-अवस्था मे ही उनके जीवन

मे धार्मिक संस्कारो की नीव गहरी हो गई।

कालूगणी स्वाभिमानी बालक थे। घटना बीदासर की है—जब कालूगणी बैरागी बने हुए थे। दीक्षा के समय उनकी शोभा-यात्रा निकाली जा रही थी। बीदासर के शोभाचंद बैगानी ने बैरागी कालू को बहुमूल्य हार पहनने को दिया। स्वाभिमानी बालक कालू ने उसे अस्वीकृत कर दिया। पुन: पुन: मनुहार करने पर भी उसे नही पहना। क्या घर मेरे लिए जरूरी है। हार के बिना क्या मैं अच्छा नही लगता। जो आभूषण अपने घर मे है उनका भी परित्याग करने जा रहा हूं फिर दूसरो का हार पहनकर शरीर का सौन्दर्य बढाने का अर्थ ही क्या है? बालक के विचारो से पराई वस्तु से स्वगौरव बढाने की बात व्यर्थ थी और उनके स्वाभिमान के प्रतिकूल थी। कालूगणी के उत्तर से लोग अवाक् रह गए।

माता छोगाजी के एव मौसी-पुत्री बहिन कानकवर जी के साथ वे ग्यारह वर्ष की उम्र में वी० नि० २४१४ (वि० १९४४) आश्विन शुक्ला तृतीया को बीदासर मे आचार्य मघवागणी मे दीक्षित हुए। मघवागणी तेरापथ धर्मसघ के पचम आचार्य थे। प्रकृति से वे अत्यन्त कोमल थे। उनकी सन्निधि मे रहकर कालूगणी ने साधना-शिक्षा के क्षेत्र मे बहुमुखी विकास किया। तेरापथ धर्मसघ के सप्तम आचार्य डालगणी के बाद वी० नि० २४३६ (वि० १९६६) मे वे आचार्य पद पर आसीन हुए। दीक्षा-जीवन से आचार्य पद पर आरूढ होने तक का बाईस वर्ष का काल उनके लिए व्यक्तित्व-निर्माण का सर्वोत्तम था। इस प्रलम्बमान अवधि मे शिक्षा-साधना के साथ अनेक अनुभवो का सबल उन्हे प्राप्त हुआ।

तेरापथ धर्मसघ के छठे आचार्यश्री माणकगणी के स्वर्गवास के बाद कालूगणी को आचार्य पद पर आरूढ करने की अनरग चर्चाए चली। पर कम उम्र होने के कारण वैसा नही बन सका। यह भेद उस दिन खुला जब सप्तमाचार्य डालगणी ने एक दिन मगन मुनि (मत्री) से कहा—'सघ ने मेरा नाम मेरी अनुमति के बिना कैसे चुना? मैं इस पद को नही स्वीकारता तो दूसरा नाम किसका सोचा था?' मगन मुनि इस अवसर पर डालगणी के सामने विकल्प मे कालूगणी का नाम प्रस्तुत किया। डालगणी का ध्यान तब से ही भावी आचार्य के रूप मे कालूगणी पर केन्द्रित हो गया था।

डालगणी ने वी० नि० २४३६ (वि० स० १९६६) श्रावण कृष्णा एकम के दिन कालूगणी का नाम आचार्य पद के लिए पत्र पर लिख दिया था,

पर यह भेद लगभग दो महिने तक जनता के सामने नही खुला था। युवाचार्य पद पर कालूगणी गुप्त रूप मे रहे, ऐसा होना कालूगणी की प्रकृति के अनुकूल ही था। वे कभी अपना प्रदर्शन नही चाहते थे और पद लालसा से भी सर्वथा दूर थ।

आचार्य कालूगणी शरीर सम्पदा से भी सम्पन्न थे। लम्बा कद, सुडौल देह, गोलाकार मस्तक, प्रशस्त ललाट, चमकीली आखे, उन्नत गर्दन, गेहुआ वर्ण और प्रसन्न आकृति उनके बाह्य व्यक्तित्व की झाकी है। उनका अतरग व्यक्तित्व मघवागणी का वात्सल्य, माणकगणी की उपासना और डालगणी के कठोर अनुशासन के निकष पर उत्तीर्ण निर्दोष कनक था।

तेरापथ धर्मसघ की उनके शासनकाल मे अभूतपूर्व प्रगति हुई। साधना, शिक्षा, कला, साहित्य आदि विविध धर्म पक्षो मे उन्होने नये कीर्तिमान स्थापित किए।

श्रमण-श्रमणी परिवार की भी तेरापथ धर्मसघ मे उस समय अभूत-पूर्व वृद्धि हुई। आचार्य डालगणी के स्वर्गवास के वक्त ६८ साधु २३१ साध्विया थी। उनमे अधिकतर श्रमण-श्रमणियो की दीक्षाए थी। कई दम्पती दीक्षार्थी भी थे।

आचार्य कालूगणी ने जयाचार्य जितनी लम्बी यात्राए नही की पर जहा भी उनके चरण टिके और जिन क्षेत्रो मे उनके चातुर्मास हुए, वहा धर्म की गगा सी प्रवाहित हो जाया करती थी।

आचार्य कालूगणी ने अधिक चातुर्मास थली प्रदेश मे किये। उनका वि० स० १९७२, ९२ का चातुर्मास उदयपुर मे ७७ का चातुर्मास भिवानी मे, ७९ का चातुर्मास बीकानेर मे, ८० का चातुर्मास जयपुर ९३ का चातुर्मास गगापुर मे हुआ था।

बीकानेर का चातुर्मास धर्म प्रचार की दृष्टि से विशेष प्रभावी रहा। वहा स्थानीय लोगो के द्वारा उग्र विरोध भी हुआ पर कालूगणी की शातिपूर्ण नीति से विरोध स्वत निरस्त होता गया। मार्ग आगे से आगे बनता रहा। कालूगणी के सौम्य स्वभाव से विरोधी स्वय नतमस्तक हो गये। बीकानेर मे उनका प्रथम पदार्पण वि० १९७० मे हुआ। उनकी वि० स० ७६-७७ की हरियाणा यात्रा एव ८० की ढूढाड़ प्रदेश यात्रा भी काफी सफल रही। कालूगणी की अतिम यात्रा धर्म प्रभावना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। गुरुदेव इस यात्रा मे मारवाड, मेवाड, मालवा देश का स्पर्श कर पुन. मेवाड पधारे थे। उनका

इस यात्रा का ९१ का चातुर्मास जोधपुर मे, ९२ का उदयपुर मे एवम् ९३ का चातुर्मास गंगापुर मे हुआ। जैन-जैनेतर अनेक लोगो ने समय-समय पर गुरुदेव के संपर्क में आकर सदुपदेशो से लाभ प्राप्त किया था। मालवा प्रदेश में होने वाला विरोध भी आचार्यप्रवर के सौम्य व्यवहार से शात होता गया था।

जैन धर्म का प्रचार करने हेतु सुदूर प्रदेशो मे साधु-साध्वियो के विहार क्षेत्र को कालूगणी ने विस्तृत बना दिया था। डालगणी के समय तक साधु-साध्वियो का मुख्य विहरण क्षेत्र राजस्थान तथा हरियाणा प्रदेश ही था कुछ चुने हुए ग्रूपो को मालवा तथा कच्छ की तरफ भी भेजा जाता था। कालूगणी के शासनकाल मे साधु-साध्वियो की प्रलम्बमान यात्राए प्रारम्भ हुई। गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत मे साधु-साध्वियो को प्रेषित करने का श्रेय उनको है। पूर्वाचार्यो के समय मे मध्य-प्रदेश की यात्रा भी सुदूर यात्रा मानी जाती थी।

सस्कृत भाषा का तेरापथ धर्मसघ मे विकास देने का प्रमुख श्रेय भी आचार्य कालूगणी को है। जयाचार्य ने सस्कृत का बीज बोया। मघवागणी ने उसे परिसिचन दिया पर अनुकूल परिस्थितियो के सहयोगाभाव मे उसका विकास अवरुद्ध हो गया था। वह आचार्यश्री कालूगणी के समय मे शतशाखी वटवृक्ष के रूप मे फलित हुआ।

कालूगणी को सस्कृत भाषा के विकास के लिए अति कठिन परिश्रम करना पडा था। सुना है—आचार्य काल के अति व्यस्त कार्यक्रम मे भी वे एकान्त मे बैठकर व्याकरण के सूत्रो को स्वय कठस्थ करते एवम् शिष्य समुदाय को इस ओर गतिशील बनाने मे सदा प्रयत्नशील रहते थे।

एकबार कालूगणी ने स्वप्न मे सूखे पादप को अपनी आखो के सामने पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते देखा। कालूगणी के चितन मे सूखा वृक्ष एक दिन अवश्य हरा भरा होगा।

स्वप्न भी कभी-कभी सत्य होते है और भविष्य के सकेतक होते हैं। कालूगणी का यह स्वप्न उनके जीवन मे साकार हुआ। कई मुनि उनके प्रयत्न और प्रेरणाओ से सस्कृत के दिग्गज विद्वान् बनकर सामने आए। इस दिग्गज मुनि मडली मे एक नाम आचार्य श्री तुलसी का भी है।

कई प्रतिभा-संपन्न श्रमण-श्रमणी सफल साहित्यकार, प्रवर वैयाकरण कुशलवाग्मी, प्रबल प्रचारक के रूप मे व्यापक धर्म प्रभावना मे निमित्त बने। उन सबके विकास पथ में ऊर्जाकेन्द्र आचार्य कालूगणी थे।

संस्कृत के पारगामी विद्वान्, आशु कविरत्न, आयुर्वेदाचार्य पण्डित रघुनन्दनजी का तेरापथ धर्मसघ मे संस्कृत विकास हेतु असाधारण योग रहा है। पण्डित रघुनन्दनजी धीर, गम्भीर एवम् सहज विनम्र स्वभावी विद्वान् थे। वाक् सयम और दृष्टि सयम दोनो ही गुण उनके जीवन मे विकासमान थे। साधु-साध्वियो को वे संस्कृत व्याकरण एवम् दुरुह काव्य ग्रथो को बहुत सरलता से पढाते थे। व्याकरण के कठिन सूत्रों को उदाहरण व दृष्टान्तो से सुग्राह्य और सुपाच्य बना देते थे। शिक्षार्थी मुनियो की उनके पास पढने की तीव्र उत्सुकता बनी रहती थी। प० रघुनदनजी को आचार्य कालूगणी के सम्पर्क मे लाने का काम चूरू के रावतमलजी यति ने किया था।

सरदारशहर का वि० स० १९७४ का चातुर्मास सपन्न होने के बाद जब गुरुदेव चूरू पधारे, उस समय प्रथम बार पण्डित रघुनदनजी तेरापथ धर्मसघ की गतिविधियो तथा मुनियो की जीवन-चर्या से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होने उस प्रसग मे साधु-शतक नामक लघुकृति की रचना भी की थी।

साधु-साध्वियो का संस्कृत अध्ययन पडित रघुनंदनजी के पास प्राचीन व्याकरण ग्रथो के आधार पर होता था। परतु कालूगणी को प्राचीन व्याकरण ग्रंथो से पर्याप्त सतोष न था। उनकी दृष्टि मे प्राचीन व्याकरण ग्रथो के सूत्र-आवश्यकता से अधिक जटिल तथा विस्तृत थे। कालूगणी से प्रेरणा पाकर मुनिश्री चौथमलजी तथा आयुर्वेदाचार्य पडित रघुनदनजी ने सर्वाग सम्पन्न भिक्षु शब्दानुशासन नामक व्याकरण की रचना की। यह व्याकरण १८ सहस्र श्लोक परिमाण है। इस बृहद् व्याकरण ग्रथ की रचना के पश्चात् शैक्ष मुनियो के लिए कालू कौमुदी नामक लघु प्रक्रिया की रचना भी उन्होने की। कालूगणी के वरद्-आशीर्वाद से दोनो ग्रथ सफलतापूर्वक सपन्न हुए। ये दोनों ग्रथ आचार्य कालूगणी के सघन विद्यानुराग की स्मृति कराते है।

आचार्य कालूगणी भाग्यशाली आचार्य थे। उनकी प्रगति के लिए प्रकृति ने स्वय द्वार खोले। विकास योग्य साधन सामग्री उन्हे सहज प्राप्त हो जाती थी। भगवती सूत्र जैसे दुर्लभ ग्रथ की ३६ प्रतियों की उपलब्धि सघ को उनके शासनकाल मे हुई।

कालूगणी सूझ-बूझ के धनी थे। उनमे सही निर्णय लेने की अदभुत् क्षमता थी। एक बार वि० स० १९८३ मे थली के ओसवाल समाज मे विदेश यात्रा को लेकर अति जटिल विवादास्पद स्थिति पैदा हो गई थी। ओसवाल

समाज "श्री संघ" और "विलायती" इन दो वर्गों मे विभक्त हो गया था। पारस्परिक कटुता ने भीषण रूप धारण कर लिया था। यह सघर्ष सामाजिक भूमिका पर था, पर कुछ लोग इस स्थिति को धर्म का रग चढाकर और अधिक उलझाने का प्रयत्न कर रहे थे ऐसी स्थिति में कालूगणी ने गहरी सूझ-बूझ से काम लिया।

यह संघर्ष एक सामाजिक पहलू था। कालूगणी इस प्रसग से सबंधित चर्चा न स्वयं करते थे न ही साधु-साध्वियो को इसमे उलझने देते थे। कालूगणी की इस तटस्थ तथा निरपेक्ष नीति के कारण समाज बहुत बड़े खतरे से बच गया।

कालूगणी को न प्राचीनता से व्यामोह था, न नवीनता के प्रति उनका उपेक्षा भाव था। वे समय के पारखी थे। स्वस्थ परम्परा एव संस्कृति के संरक्षक थे पर आवश्यकता एव उपयोगिता के अनुसार नई परम्परा को जन्म देने मे भी उन्हे तनिक झिझक नही थी।

एकबार उदयपुर चातुर्मास मे राजलदेसर निवासी चपालालजी बैद की प्रेरणा से स्थानीय रेजीडेंट ने गुरुदेव कालूगणी के दर्शन किए। नीचे बैठने मे रेजीडेंट को कठिनाई थी। इसलिए गुरुदेव के सामने उनके बैठने के लिए कुर्सी की व्यवस्था की गई। तेरापथ धर्मसघ मे आचार्य देव के सामने इस प्रकार की व्यवस्था करने का यह प्रथम अवसर ही था। कार्यक्रम सम्पन्न होने के बाद चपालालजी ने अपने द्वारा की गई नई व्यवस्था के सबंध मे गुरुदेव से क्षमा मागी। गुरुदेव प्रसन्न मुद्रा मे बोले—चपालालजी! "वगत देख नही वरतै बो बाणियो गंवार" जो समय देखकर कार्य नही करता वह बनिया भी गवार बुद्धि का होता है। सारे वातावरण को आचार्य श्री कालूगणी के एक ही वाक्य ने बदल दिया।

आचार्यश्री कालूगणी सक्षम व्यक्तित्व के धनी थे। एकबार सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी ने उनके दर्शन किये। यह घटना वी० नि० २४४० फाल्गुन शुक्ला दशमी वि० (१६७०) की है। डा० जेकोबी १८ भाषाओ के विज्ञ विद्वान् थे। जैन दर्शन एव आगमो के गम्भीर अध्येता थे। कल्पसूत्र, आचारांग, सूत्रकृताग और उत्तराध्ययन का उन्होने आग्ल भाषा में अनुवाद किया था। तेरापथ धर्मसंघ की एकात्मकता ने उन्हे अत्यधिक प्रभावित किया। कालूगणी के समक्ष अपनी अन्तर जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा—"अहिंसा अपरिग्रह के संदेशवाहक जैन तीर्थंकर मांस भक्षण करते हैं

यह बात मेरे अन्तर्मन ने कभी स्वीकार नही की थी पर आचाराग का अनुवाद करते समय "मंसं वा मच्छं वा" पाठ देखकर मेरी प्राचीन धारणा उलट गई।

आचार्य कालूगणी ने 'भगवती' आदि के आगमिक आधार पर चूर्णिकारो तथा टीकाकारो का सदर्भ प्रस्तुत करते हुए 'मसं वा मच्छ वा' पाठ का विवेचन किया और पन्नवणा सूत्र मे आए हुए वनस्पति के साथ इस पाठ का उद्धरण देते हुए बताया 'मंसं वा मच्छं वा' नाम वनस्पति विशेष से संबंधित है।

आचार्यश्री कालूगणी से प्रामाणिक आधार पाकर डा० हर्मन जेकोबी की भ्रांति दूर हो गई और वे परम सतुष्ट होकर लौटे। जूनागढ की एक सभा मे आचार्यश्री कालूगणी की सन्निधि का वर्णन करते हुए उन्होने कहा—"मै इस यात्रा मे भगवान् महावीर की विशुद्ध परम्परा के वाहक श्रमण और श्रमणियो को देख पाया हू। तेरापथ धर्मसघ के आचार्य कालूगणी से मुझे 'मस वा मच्छ वा' पाठ का सम्यक् अर्थ बोध हुआ है और उससे मेरी भ्रान्त धारणा का निराकरण हो गया है।

डॉ० जेकोबी जैसे विद्वान् को प्रभावित कर देना जैन दर्शन का अतिशय प्रभावना कारक कार्य था, जो आचार्यश्री द्वारा सभव हो सका।

डॉ० हर्मन जेकोबी के अतिरिक्त इटालियन विद्वान् डॉ० एल० पी० टेस्सीटोरी, प्रो० ग्लेसी शिकागो के डॉ० गिल्की आदि विदेशी विद्वान् तथा जयपुर के रेजीडेंट पिटरसन उसके प्रधानमन्त्री ग्लेसी आबू के ए० जी० जी० के० जी आर० होलेण्ड आदि राजकीय क्षेत्र से सम्बन्धित व्यक्ति आचार्य कालूगणी के सम्पर्क एव उनके कल्याणकारी प्रवचनो से प्रभावित हुए थे। धर्म विषयक कई बातो की विशेष अवगति उन्हे आचार्य देव से मिल पायी थी।

बाव क्षेत्र (गुजरात) के राणा ने कालूगणी के दो बार दर्शन किये थे। गुरुदेव की सौम्य मुद्रा एव उच्च कोटिक अध्यात्म साधना ने राणाजी को मंत्र-मुग्ध बना दिया था। राणाजी की विशेष प्रार्थना पर बाव क्षेत्र मे साधु-साध्वियो के चातुर्मास होने लगे।

बीकानेर के महाराजा गगासिहजी के साथ भी तेरापथ धर्मसघ का घनिष्ठ सम्बन्ध आचार्य कालूगणी के शासनकाल मे बना था।

उदयपुर के महाराणा भोपालसिहजी ने भी (वि० स० १९९२) में

फतेहसिंहजी की बाडी मे कालूगणी के दर्शन किए। गुरुदेव की पावन सन्निधि पाकर उन्हे परम प्रसन्नता की अनुभूति हुई।

कालूगणी राजा-महाराजाओ, प्रशासको, नरेशो, ठाकुरो तथा प्रभु-सत्ताधारी व्यक्तियो के ही नही थे। सामान्य स्थिति मे रहने वाले व्यक्ति भी आपके चरणो मे घटों बैठकर अपने जीवन की समस्याओ को सुलझाया करते थे।

कालूगणी के पास मुनि पृथ्वीराजजी, मुनि फोजमलजी, मुनि छबीलजी, मुनि घासीरामजी, मुनि चौथमलजी, मुनि मोहनलालजी, मुनि नथमलजी आदि वाद-कुशल सिद्धान्त के विशिष्ट ज्ञाता, सस्कृत के धुरन्धर विद्वान् प्रभावी मुनियों की मण्डली थी। साध्वी प्रमुखाश्री जेठाजी, झमकूजी के अतिरिक्त साध्वी गगाजी, रायकवरजी आदि व्याख्यानी, चर्चावादी, तत्त्वज्ञा, आगम-विशेषज्ञा तथा शास्त्रार्थ करने मे निपुण व हिम्मतधर साध्विया भी थी।

कालूगणी ने अपने कार्यक्रमो से धर्म-सघ को तेजस्विता प्रदान की; जिससे उनके युग मे अध्यात्म की व्यापक प्रभावना हुई एव तेरापथ धर्मसघ एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप मे गिना जाने लगा था।

कालूगणी का जीवन अनेकान्त दर्शन का उदाहरण था। वे विनम्र होते हुए भी स्वाभिमानी थे। पापभीरु होते हुए भी अभय थे। अनुशासन की प्रतिपालना मे दृढ होते हुए भी सौम्य स्वभावी थे। आगमो के प्रति अगाध आस्थाशील होते हुए भी प्रगतिगामी विचारो के धनी थे। जैन-धर्म की प्रभावना मे अनवरत जागरूक थे।

महाप्रयाण

वीर प्रसविनी मेवाड धरा पर विहरण करते समय एक बार आचार्य कालूगणी की तर्जनी अगुली मे छोटी सी फुन्सी हो गयी थी। प्रारम्भ मे उसका आकार नगण्य-सा ही था पर स्वल्प समय मे ही वह सामान्य सी फुन्सी विकराल बन गई। भीलवाड़े मे आचार्यदेव ६४ दिन तक विराजे। नाना उपचार किए गए पर सफलता नही मिली। इसी वर्ष का चातुर्मास गगापुर के लिए पहले ही घोषित था अत भीलवाडा के श्रावकों का सत्याग्रह होने पर भी पूर्व घोषणा के अनुसार गुरुदेव ने वहा से प्रस्थान कर दिया। एक ओर मेवाडी धरा का वह उतार-चढ़ावो वाला दुरुह पथरीला पथ था इधर हस्त व्रण की भयकर वेदना थी पर कालूगणी की सहिष्णुता असीम थी व धैर्य परम

उत्कर्ष पर था। हस्त व्रण के विकराल रूप को देखकर दर्शकों की आखो में आसू छलक पडते पर कालूगणी के मन में खिन्नता नही थी। उनके चेहरे पर अनुपम समता का भाव झलकता था। गंगापुर मे गुरुदेव का पदार्पण आषाढ़ शुक्ला १२ के दिन हुआ। वहा पर भी आयुर्वेदाचार्य व डॉ० अश्विनी कुमार द्वारा नाना प्रकार के उपचार किए गए। पूरा सावन महीना बीत गया पर रोग शान्त नही हुआ। तन की दुर्बलता बढ़ती गई। भाद्रव के प्रथम सप्ताह मे गुरुदेव ने प्रवचन देना स्थगित कर दिया। दिन-प्रतिदिन शारीरिक स्थिति को गिरते देख सघ की भावी व्यवस्था के बारे मे गुरुदेव ने गम्भीरता से चिन्तन किया एवम् वी० नि० २४६३ (वि० १९९३) भाद्रव शुक्ला तृतीया के दिन मुनि तुलसी की उत्तराधिकारी के रूप मे नियुक्ति की। युवाचार्य की नियुक्ति के तीन दिन बाद षष्ठी के सायकाल मे अचानक श्वास का प्रकोप वेग से बढा। अपने सामने मन्त्री मुनि को खडा देख कालूगणी ने फरमाया अबै.... आगे वाणी रुक गई। मन्त्री मुनि मगनलालजी ने गुरुदेव की आन्तरिक भावना को समझकर छह बजकर दो मिनट पर यावज्जीवन चौविहार प्रत्याख्यान करवा दिया। छह बजकर नौ मिनट पर परम समाधि के क्षणों मे गुरुदेव का अनशन सानन्द सम्पन्न हुआ। युवाचार्य, मत्री मुनि, साध्वीप्रमुखा श्री झमकूजी एवम् तटस्थ प्राय साधु-साध्वियो की उपस्थिति मे देखते-देखते एक महान् ज्योति, आखो मे अदृश्य हो गई। महान् आत्मा का अनशन की स्थिति में यह महाप्रयाण तप और त्याग के पुजीभूत रूप को प्रकट कर रहा था।

समय-संकेत

कालूगणी ने ११ वर्ष की उम्र मे सयमी जीवन मे प्रवेश पाया। वे २२ वर्ष तक सामान्य मुनि पर्याय मे रहे। चारित्रिक जीवन के कुल ४९ वर्ष के काल मे २७ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व सफलता-पूर्वक निभाया। उनकी कुल उम्र लगभग ६० वर्ष की थी। वे सयमी यात्रा को सानन्द सम्पन्न कर वी० नि० २४६३ (वि० १९९३) भाद्र पद शुक्ला षष्ठी के दिन स्वर्गवास को प्राप्त हुए।

प्रभावक आचार्यों की परम्परा मे कमनीय कलाकार आचार्य कालूगणी का नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

१३६. समता-सागर आचार्य सागरानंद

जैन श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा मे कई सागरानन्द नाम के आचार्य हुए है। उनमे तपागच्छ के सागरानन्दसूरिजी विशेष प्रसिद्ध हैं। आगमोद्धारक आचार्यों मे उनका नाम आता है। आगमो को चिरकाल तक स्थायित्व प्रदान करने के लिए उन्होने कई प्रयत्न किए। ताम्रपत्र पर आगमों को लिखाने का कार्य उनके द्वारा किया जाने वाला इस दिशा का एक प्रेरक प्रयत्न है।

गुरु-शिष्य-परम्परा

तपागच्छ मे सागरानन्दजी की गुरु-परम्परा मे श्री मयासागरजी हुए। मयासागरजी के प्रमुख दो शिष्य थे—गोतमसागरजी एव नेमसागरजी। नेमसागरसूरिजी के शिष्य रविसागरजी, रविसागरजी के शिष्य सुखसागरजी तथा सुखसागरजी के शिष्य बुद्धिसागरजी हुए। गौतमसागरजी के शिष्य झवेरसागरजी, झवेरसागरजी के शिष्य सागरनन्दसूरिजी थे। सागरानन्दसूरि की दीक्षा झवेरसागरजी के द्वारा हुई थी।

जन्म एवं परिवार

सागरानदजी का जन्म वी० नि० २४०१ (वि० १९३१) मे कप्पडगज मे हुआ। वे श्रेष्ठी मगनलाल गाधी के पुत्र थे। मणिलाल गाधी उनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम था।

जीवन-वृत्त

सागरानन्दजी का गृहस्थ जीवन सुखी था। उनके पारिवारिक जनो में गहरे धार्मिक सस्कार थे। जैनधर्म के प्रति अगाध निष्ठा थी। सागरानन्दजी के बडे भाई मणिलाल गाधी का धर्म के प्रति विशेष आकर्षण था। दोनों बन्धुओ ने साथ-साथ धार्मिक प्रशिक्षण पाया। उत्तरोत्तर विकास पाती हुई अध्यात्म भावना ने उनको मुनि बनने के लिए प्रेरित किया। ज्येष्ठ बन्धु मणिलाल ने सागरानन्द से कुछ समय पहले दीक्षा ग्रहण की। मणिलाल मुनि जीवन मे मणिविजय के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वैवाहिक सम्बन्ध होने के बाद सागरानदजी ने मुनि दीक्षा लेने का निर्णय लिया। उनके इस कार्य मे कई प्रकार की बाधाए आई। ससुराल वालो ने विरोध किया। स्थिति कोर्ट तक पहुंच गई। पर सागरानंदजी अपने निर्णय मे दृढ थे। उन्होने सारी बाधाओ को पारकर वी० नि० २४१७ (वि० १९४७) मे मुनि दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था १७ वर्ष की थी। दीक्षा नाम आनन्दसागर रखा गया। ज्ञान के क्षेत्र मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त कर विद्यासागर बने।

उनको वी० नि० २४३० (वि० १९७४) मे पन्याम पद तथा गणीपद और वी० नि० २४४४ (वि० १९७४) मे विमलकमलसूरि द्वारा आचार्य पद से अलकृत किया गया।

सूरत में उनके नाम पर 'आनन्द पुस्तकालय' अध्यात्म-साहित्य-प्रधान सुविशाल पुस्तकालय है।

आगमोद्धार के लक्ष्य से उन्होने उदयपुर, सूरत आदि शहरो मे लगभग पन्द्रह समितियो की स्थापना की एव आगमों को ताम्रपत्रों पर अङ्कित करा-कर आगम वाणी को लम्बे समय तक स्थायित्व प्रदान करने का कार्य किया है। आचार्य सागरानन्द की इस प्रवृति का जनता मे अच्छा सम्मान बढा और उन्हे आगमोद्धारक उपाधि से भूषित किया गया उन्होंने अपने जीवन मे अनेक सत्प्रयत्नों से जैन शासन की श्री वृद्धि की।

समय-संकेत

सागरानन्दजी का स्वर्गवास कुछ वर्षो पहले ही हुआ है। आचार्यपद की प्राप्ति सम्वत् वी० नि० २४३० (वि० १९६०) के अनुसार वे वी० नि० २५ वी (वि० २० वी) सदी के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

आगमोद्धार के लिए विशेष प्रयत्नशील रहने के कारण आज सागरा-नन्दजी की आगमोद्धारक आचार्य के रूप मे विशेष प्रसिद्धि है।

१३७. जनकल्याणकारी आचार्य जवाहर

इस प्रबन्ध में जवाहरलालजी का जीवन प्रस्तुत किया जा रहा है। जवाहरलालजी जैन स्थानकवासी परम्परा के विद्वान् आचार्य थे। उनकी प्रवचन शैली प्रभावक थी, वाणी मे ओज था। जैन जैनेतर सभी प्रकार के लोगो से उनका विशेष सम्पर्क था। देश तथा समाज की सामयिक समस्याओ पर भी वे अपना चिन्तन समय-समय पर प्रस्तुत करते थे।

गुरु-परम्परा

जवाहरलालजी स्थानकवासी परम्परा के आचार्य हुकमीचदजी के पाचवे पट्ट पर विराजमान आचार्य श्रीलालजी के उत्तराधिकारी थे। हुकमीचंदजी के तीसरे पद पर उदयसागरजी, उनके बाद चौथमलजी, उनके बाद श्री लालजी और उनके बाद आचार्य जवाहरलालजी हुए।

जीवन-वृत्त

जवाहरलालजी की दीक्षा बडे घासीलालजी के द्वारा वी० नि० २४१७ (वि० स० १९४७) मार्गशीर्ष शुक्ला २ को हुई थी। मदनलालजी महाराज के वे शिष्य कहलाए। उनमे साधुजीवनोचित अनेक प्रकार की शिक्षाए पाई। अपनी दीक्षा के डेढ मास बाद ही गुरु मगनलालजी का स्वर्गवास हो गया था। उसके बाद मोतीलालजी के समक्ष जवाहरलालजी के जीवन का नाना दिशाओ मे विकास हुआ। मोतीलालजी सेवाभावी, तपस्वी और गम्भीर सत थे।

जवाहरलालजी की श्रीलालजी महाराज ने अपने बाद रतलाम मे युवाचार्य पद पर नियुक्ति वी० नि० २४४५ (वि० १९७५) चैत्र कृष्णा ९ बुधवार को की थी। श्रीलालजी महाराज का वी० नि० २४४७ (वि० सं०-१९७७) मे स्वर्गवास हुआ। उसके बाद जवाहरलालजी ने आचार्य पद का दायित्व सभाला था। उन्होने राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आदि कई क्षेत्रो मे विहरण किया। कई दीक्षाए दी।

वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। जैन श्वेताम्बर तेरापथ धर्मसघ के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। धर्म चर्चाए चली। विशाल आगम सागर का इस

निमित्त आशातीत मथन हुआ। सैद्धान्तिक विषयो का पुन. पुनः आर्वतन, परार्वतन, प्रत्यावर्तन हुआ। चिन्तन, मनन एव निदिध्यासन हुआ। जन-साधारण के लिये ये शास्त्रार्थ ज्ञानवर्धक सिद्ध हुए एव विद्वद् वर्ग को भी जैन दर्शन की गम्भीर दृष्टियो को समझने का अवसर मिला।

आचार्य जवाहरलालजी की साहित्य सेवाए भी उल्लेखनीय हैं। उनके तत्त्वावधान मे सूत्रकृताग जैसे गंभीर सूत्र की सस्कृत टीका का हिंदी अर्थ सहित सम्पादन हुआ। इससे प्रस्तुत आगम के कठिन पाठो के अर्थ हिंदी पाठकों के लिए सुगम हो गए हैं।

जनकल्याणोपयोगी, विविध सामग्री से परिपूर्ण उनके अनेक प्रवचन जवाहर किरणावली नामक कृति कई भागों मे प्रस्तुत है।

आचार्यजी के नाम पर समाज मे अनेक प्रवृत्तियो का सचालन हुआ। बीकानेर जिलान्तर्गत भीनासर मे प्राचीन एव नवीन सहस्रो ग्रथो का भडार जवाहर पुस्तकालय उनके कर्मनिष्ठ जीवन की स्मृति करा रहा है।

स्थानकवासी सघो की एकता के लिये अजमेर श्रमण सम्मेलन पर उन्होंने अपने श्रम और समय का यथेष्ट योगदान दिया।

स्थानकवासी परम्परा मे मुख्य दो शाखाए है—श्रमण सघ और साधुमार्गी। आचार्य जवाहरलालजी साधुमार्गी परम्परा से सबन्धित थे।

आचार्य जवाहरलालजी के उत्तराधिकारी आचार्य गणेशीलालजी थे। वे भी अपन युग के प्रभावी आचार्य थे। विविध आयामो से उन्होंने अपने सघ की चतुर्मुखी प्रगति की।

समय-संकेत

जवाहरलालजी ने आचार्य पद के दायित्व का तीन दशक से भी अधिक कुशलतापूर्वक वहन किया। उनका स्वर्गवास वी० नि० २४७० (वि० स० २०००) आषाढ शुक्ला अष्टमी का भिनासर मे हुआ।

आचार्य गणेशीलालजी का स्वर्गवास वी० नि० २४८६ (वि० स० २०१६) मे हुआ। उनके उत्तराधिकारी आचार्य नानालालजी है।

१३८. जनवल्लभ आचार्य विजयवल्लभ

मंदिरमार्गी परम्परा के प्रभावक आचार्यों मे विजयवल्लभसूरि का नाम विश्रुत है। वे गम्भीर विचारक थे एव समन्वय वृत्ति के पोषक थे। उनके प्रवचन का मुख्य प्रतिपाद्य था, 'मेरी आत्मा चाहती है—साप्रदायिकता से दूर रहकर जैन समाज श्री महावीर स्वामी के झण्डे के नीचे एकत्रित होकर महावीर की जय बोले।' इस दिशा मे उन्होंने समय-समय पर स्तुत्यात्मक प्रयत्न भी किए।

गुरु-शिष्य-परम्परा

विजयवल्लभसूरिजी हर्षविजयजी के शिष्य थे। उनके दीक्षा प्रदाता गुरु विजयानन्दसूरि थे। विजयवल्लभजी की शिष्य परम्परा मे विजयसमुद्र-सूरि आदि प्रभावक शिष्य हुए हैं। वर्तमान मे इस परम्परा मे इन्द्रदिन्न-सूरि है।

जन्म एवं परिवार

विजयवल्लभसूरि का जन्म वी० नि० २३९७ (वि० स० १९२७) मे बड़ौदा (गुजरात) मे हुआ। उनके पिताश्री का नाम दीपचद भाई व माता का नाम इच्छाबाई था। बचपन मे उन्हे छगन के नाम से पुकारते थे। उनका गोत्र बीमा श्रीमाली था।

जीवन-वृत्त

विजयवल्लभसूरि के पिता दीपचद भाई और श्रीमति इच्छाबाई दोनो आस्था-निष्ठ श्रावक थे। विजयवल्लभसूरि के जीवन मे प्रारभ काल से ही सद्संस्कारो का बीजारोपण हुआ। वे अध्यात्म की ओर उन्मुख होते गए। उन्होने वी० नि० २४१४ (वि० स० १९४४) मे राधनपुर मे श्रीमद् विजयानंदसूरिजी द्वारा मुनि दीक्षा ग्रहण की। वे हर्षविजयजी के शिष्य बने। उनका नाम 'वल्लभविजय' रखा गया। दीक्षा लेने के बाद उन्होने आगमों का गहरा अध्ययन किया। तर्कशास्त्र का ज्ञान करने के लिए दार्शनिक ग्रंथ भी पढे। कुछ ही समय में वे संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, पजाबी, उर्दू आदि कई भाषाओ के ज्ञाता बने।

लाहौर मे श्री सघ ने उनको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य पदारोहण के बाद वे वल्लभविजय से विजयवल्लभ हो गए। आचार्य पद-ग्रहण का समय वी० नि० २४५१ (वि० १९८१) है।

आचार्य विजयवल्लभसूरिजी की प्रवचन शैली सरस, सरल एव आकर्षक थी। जनता जनार्दन को जैन संस्कारो से संस्कारित करने के लिए वे विशेष प्रयत्नशील थे। जैनों को प्रभावशाली बनाने के लिए स्वावलबन, संगठन, शिक्षा और जैन साहित्य का निर्माण—इन चारों बातों पर अधिक बल देते थे।

विजयवल्लभसूरिजी व्यवहार कुशल भी थे। सम्पर्क मे आने वाले जैन-जैनेतर सभी से समव्यवहार करते थे। उनके विशद विचारो ने और जन कल्याणकारी व्यापक भावनाओ ने उनको विजयवल्लभ से जनवल्लभ बना दिया था।

समय-संकेत

बम्बई में तेरापथ के प्रभावी आचार्यश्री तुलसी के साथ जैन एकता के समन्वय मे उनका विचार-विमर्श भी हुआ। उस चर्चा-प्रसङ्ग की जैन समाज मे सुन्दर प्रतिक्रिया रही। इस घटना-प्रसंग के थोडे समय बाद शीघ्र ही बम्बई मे वी० नि० २४८० (वि० स० २०१०) मे उनका स्वर्गवास हो गया।

१३६. 'वैराग्य के मूर्तरूप' 'आचार्य वीरसागरजी'

दिगम्बर परम्परा के आचार्य वीरसागरजी वीर वृत्ति के थे। सागर की भान्ति वे गम्भीर विचारक थे। बालब्रह्मचारी थे। गृहस्थ-जीवन मे भी वे अपना अधिकाश समय जिन भक्ति, पूजा-पाठ और स्वाध्याय योग मे बिताते। मुनि-जीवन मे प्रवेश पाकर उन्होंने शातिसागरजी की परम्परा को अधिक गतिमान बनाया एव दिगम्बर धर्मसघ को विविध रूपो मे विकास दिया।

गुरु-शिष्य-परम्परा

वीरसागरजी के गुरु शातिसागरजी थे। शान्तिसागरजी के नेमिसागरजी, चद्रसागरजी, पायसागरजी, कुन्थुसागरजी, सुधर्मसागरजी, वर्धमानसागरजी आदि कई शिष्य थे। उनमे वीरसागरजी प्रमुख थे। प्रमुख रूप से शातिसागरजी की गुरु-परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द एव मूल सघ से सम्बन्धित है।

जन्म एवं परिवार

वीरसागरजी का जन्म निजाम हैदराबाद स्टेट औरगाबाद जिले के अन्तर्गत वीर ग्राम मे वी० नि० २४०२ (वि० १६३२) आषाढी पूर्णिमा के दिन हुआ। जाति से वे खण्डेलवाल थे। गोत्र उनका गङ्गवाल था। श्रेष्ठी रामसुखजी उनके पिता थे। गृहस्थ जीवन मे उनका अपना नाम हीरालाल था।

जीवन-वृत्त

वीरसागरजी के माता-पिता दोनो धार्मिक वृत्ति के थे अत. उन्हे सहज धार्मिक सस्कार प्राप्त हुए। उम्र वृद्धि के साथ धार्मिक रुचि बढ गई। वे स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियो मे अधिक रस लेते थे। सासारिक कार्य मे वे उदासीन रहते थे। माता-पिता ने उनका वैवाहिक सबध करना चाहा पर उन्होंने एकदम अस्वीकार कर दिया। इस समय उनकी अवस्था १६ वर्ष की थी। सयोग से चाह के अनुसार बालक को राह मिल गयी। एक दिन एलक श्री पन्नालालजी महाराज से उनको व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। वीरसागरजी ने उस समय सप्तम प्रतिमा व्रत उनसे स्वीकार किया।

बच्चो को धार्मिक सस्कार देने के लिए उन्होंने नि शुल्क पाठशाला की प्रवृत्ति प्रारम्भ की, इससे बालक-बालिकाओ मे जैन धर्म के संस्कारो का विशेष विकास हुआ। वीरसागरजी की श्रमशीलता के कारण यह पाठशाला निरंतर गति करती रही। वीरसागरजी के शिष्य शिवसागरजी इसी पाठशाला के विद्यार्थी रहे थे।

उन्होने शातिसागरजी के पास वी० नि० २४५० (वि० स० १९८०) भाद्रव शुक्ला सप्तमी के दिन क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। क्षुल्लक जीवन मे उनका नाम वीरसागर रखा गया। उनके साथ नाद गाव के श्रेष्ठी कुशालचद्रजी पहाड़े की भी क्षुल्लक दीक्षा हुई। उनका नाम चद्रसागरजी रखा।

क्षुल्लक दीक्षा के सात माह बाद समडोली नगर मे वी० नि० २४५१ (वि० स० १९८१) मे वीरसागरजी ने दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन म उन्होने १२ चातुर्मास गुरु के साथ किए। अनेक प्रकार की शिक्षाओ का ग्रहण कर जीवन को सवारा और गुरु के सान्निध्य से आत्मबल का परम ताप प्राप्त किया। उसके बाद वीरसागरजी और आदिसागरजी दोनो का साथ मे स्वतत्र विहरण करने का गुरु से आदेश मिला। गुरुवर्य से पृथक् उन्होने वि० स० १९९३ का चातुर्मास इडर मे किया। इन्दौर, उज्जैन, जयपुर सवाइ माधोपुर आदि क्षेत्रो मे भी यथा समय चातुर्मासिक काल की स्थिति सम्पन्न कर धर्मसघ की प्रभावना की। वीरसागरजी द्वारा मुनि जीवन के इस काल म कई क्षुल्लक दीक्षाए, क्षुल्लिका दीक्षाए, आर्यिका दीक्षाए एव मुनि दीक्षाए सम्पन्न हुई।

कुन्थलगिरि पर शातिसागरजी महाराज के यम सल्लेखना (अनशन) के समय वी० नि० २४८२ (वि० स० २०१२) म वीरसागरजी को आचार्य-पद प्रदान करने की घोषणा की गई। इस समय वीरसागरजी वहा उपस्थित नही थे।

शातिसागर के द्वारा प्रदत्त कमण्डलु आदि के समर्पण का तथा आचार्य पद नियुक्ति का भव्य आयोजन जन-समूह के समक्ष जयपुर मे मनाया गया था।

राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्तो मे वीरसागरजी ने धर्म प्रचार किया। उनकी सद्वाणी से प्रेरणा प्राप्त कर कई व्यक्ति व्यसन मुक्त बने। कई मासाहारी से शाकाहारी बने।

समय-संकेत

वीरसागरजी का वी० नि० २४८४ (वि० स० २०१४) का चातुर्मास

जयपुर 'खानिया' मे था। मन से स्वस्थ होने पर भी तन की शक्ति क्षीण होती गई। आश्विन अमावस्या के प्रातःकाल १० बजे अचानक वीरसागरजी का स्वर्गवास हो गया।

वीरसागरजी का जीवन सहज विरक्ति प्रधान था अतः वे वैराग्य के मूर्तरूप से प्रतीत होते थे।

१४०. शान्तिस्रोत आचार्य शान्तिसागर

दिगम्बर परम्परा मे आचार्य शान्तिसागरजी अतिशय प्रभावक आचार्य हुए है। उनकी प्रख्याति योगीराज एवं महान् तपस्वी के रूप मे आज भी है। स्वाध्याययोग एव भक्तियोग मे भी उनकी गहरी निष्ठा थी। दिगम्बर शाखा मे लुप्त प्रायः मुनि परम्परा का पुनरुद्धार करके उसे प्राणवान् बनाने का श्रेय उन्हे प्राप्त हुआ।

गुरु-शिष्य-परम्परा

शातिसागरजी के दीक्षा गुरु देवप्पास्वामी (देवेन्द्र कीर्तिस्वामी) थे। उनकी शिष्य परम्परा मे वीरसागरजी, शिवसागरजी विद्वान् आचार्य हुए। वर्तमान मे इस परम्परा मे धर्मसागरजी कुशलतापूर्वक दिगम्बर मुनि परपरा का वहन करते हुए जैन धर्म की प्रभावना मे प्रवृत्त है।

जन्म एवं परिवार

शातिसागरजी का जन्म दक्षिण भारत के बलगाव जिले के अतर्गत 'येलगुल गाव मे नाना के घर वी० नि० २३९९ (वि० १९२९) सन् १८७२ आषाढ कृष्णा षष्ठी बुधवार को हुआ। उनका वश क्षत्रिय था। वे भीम गौडा पाटिल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सत्यवती था। गृहस्थ जीवन मे शातिसागरजी का नाम सातगौडा था। आदिगौडा और देवगौडा नाम के उनके ज्येष्ठ बधु थे। उनके अनुज का नाम कुम्भगौडा था। बहिन का नाम कृष्णा बाई था। उनके पूर्वज श्री पद्मगौडा देसाई बीजापुर जिले के 'शालविद्री' स्थल के अधिपति थे।

जीवन-वृत्त

शातिसागरजी का परिवार सुखी एव समृद्ध था। माता-पिता विशेष धार्मिक रुचि के थे। पिता भीमगौडा बलवान, रूपवान एव प्रभावशाली क्षत्रिय थे। उन्होने ब्रह्मचारी रहकर १६ वर्ष पर्यन्त एकाशन किए। शाति-सागरजी की मा सत्यवती भी धार्मिक महिला थी।

शान्तिसागरजी होनहार बालक दिखाई देते थे। ज्योतिषियो ने उनकी जन्म पत्रिका बनाई और उज्ज्वल भविष्य की घोषणा करते हुए बताया—यह

बालक अत्यन्त धार्मिक होगा । दुनियां मे प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा तथा संसार के प्रपञ्च मे नही फंसेगा ।

शान्तिसागरजी शरीर से स्वस्थ एव हृष्टपुष्ट थे । व्यायाम मे थोडी-सी शक्ति लगाकर चार-पाच व्यक्तियो को पछाड देते थे । बलवान् बैलो द्वारा जो पानी खीचा जाता है उसे वे अकेले ही आसानी से खीच लेते थे । दूर-दूर छलाग मारने मे वे अत्यन्त दक्ष थे ।

बाल्यकाल मे ही उनके जीवन मे साध्वोचित गुणो का विकास होने लगा था । वे मितभाषी थे । वृद्ध जनो जैसी उनमे गम्भीरता और विवेक था ।

परिवार का वातावरण धार्मिक होने के कारण शान्तिसागरजी के हृदय मे धर्म के प्रति गहरी निष्ठा प्रकट हुई । मुनियो की भक्ति मे उनका मन विशेष प्रसन्न रहता था । कभी-कभी मुनियो को अपने कन्धे पर बैठाकर वेद गङ्गा और दूध गङ्गा के सगम स्थल के पार ले जाया करते थे । विनय और नम्रता के गुण उनके हर व्यवहार मे अभिव्यक्त होते थे ।

निर्ग्रन्थ बन जाने की भावना उनमे १८ वर्ष की उम्र मे ही जागृत हो गई थी पर पिता के आग्रह पर वे गृहस्थ जीवन मे रहे । पिता का पुत्र पर अत्यन्त अनुराग था । सातगौडा (शान्तिसागरजी) घर मे रहकर भी कमल तुल्य निर्लेप थे । लौकिक कार्यों मे उनका जरा भी रस नही था । बहिन कृष्णा और भाई कुम्भगौडा की शादी के उत्सव मे भी वे सम्मिलित नही हुए थे । उनके साथी जहा खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, के कार्यो मे आनन्द लेते थे वहा वे धार्मिक उत्सवो मे पहुंचते एव धार्मिक प्रवृत्तियो को सम्पादित करने मे प्रवृत्त होते थे ।

उनके कपडे की दुकान थी । जिसे उनका छोटा भाई मुख्य रूप से सम्भाला करता था । आवश्यकतावश दुकान पर बैठने पर इस कार्य मे उनकी रुचि नही थी । भाई की अनुपस्थिति मे माल बेचने का प्रसङ्ग आता वे उस समय अपने ग्राहको से कहते—"कपडा माप कर ले लो और बही (खाता) में लिख दो ।" दुनियादारी के प्रति यह निरपेक्ष भाव सहज विरक्ति का सूचक था ।

शातिसागरजी का विवाह नौ वर्ष की अवस्था मे कर दिया गया था । संयोग से विवाह के कुछ समय बाद ही पत्नी की मृत्यु हो गई । माता-पिता ने उनका विवाह पुन कराना चाहा; पर वे पूर्णत अस्वीकृत हो गए थे । मुनिजनो के प्रसङ्ग से उनकी धार्मिक भावना उत्तरोतर विकास पाती रही ।

ब्रह्मचर्य का आजीवन व्रत स्वीकार कर तथा भोजन मे घृत आदि का परिहार कर उन्होने गृहस्थ जीवन मे तपस्वी जैसा जीवन जीना प्रारम्भ कर दिया है।

माता-पिता के प्रति अपने सेवा-भाव के दायित्व को उन्होने अच्छी तरह से निभाया। उनकी समाधिपूर्ण मृत्यु मे वे आत्मना सहयोगी बने रहे, पर उनका देहावसान हो जाने पर शातिसागरजी ने आसू नही बहाए। लगता है उन्होने आत्मा और देह के भेदज्ञान को अच्छी तरह से समझ लिया था और भेदज्ञान का यह बोध उनके आत्मगत हो गया था।

माता-पिता के स्वर्गवास के बाद देवप्पास्वामी (देवेन्द्रकीर्ति स्वामी) से उन्होने 'उत्तूर' ग्राम मे वी० नि० २४४२ (वि० स० १९७२) ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन क्षुल्लक दीक्षा स्वीकार की। सातगौंडा का नाम शान्तिसागरजी रखा गया। क्षुल्लक दीक्षा के समय उनकी अवस्था ४१ वर्ष की थी। कुछ समय बाद क्षुल्लक साधना के बाद एलक दीक्षा स्वीकार की। उनकी पूर्ण दिगम्बरी मुनि दीक्षा पञ्च कल्याणक महोत्सव के प्रसङ्ग पर 'यरनाल' गाव मे वी० नि० २४४७ (वि० स० १९७७) मे हुई।

उनके बडे भाई आदि गौंडा ने भी दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। उनका नाम वर्धमानसागर रखा गया था। छोटे भाई कुम्भगौडा की भी भावना दीक्षा लेने की थी पर असमय मे ही उनका निधन हो जाने के कारण भावना सफल न हो सकी थी।

आचार्य शान्तिसागरजी के व्यक्तित्व का बहिरङ्ग पक्ष जितना सबल था इससे अधिक सबल अन्तरङ्ग पक्ष भी था। लोगों के जीवन पर उनके साधना शील जीवन का दिन-प्रतिदिन प्रभाव बढता गया। गृहस्थ जीवन मे भी वे विशेष तप-साधना किया करते थे। क्षुल्लक, एलक, एव मुनि जीवन स्वीकार करने के बाद उन्होने कठोर योग-साधना एव ध्यान-साधना प्रारम्भ कर दी। कोन्नूर प्रदेश की भयानक गुफाओ मे भी वे एकाकी ध्यान साधना किया करते थे। एक बार गिरि-कन्दरा में फणिधारी नागराज ने ध्यानस्थ शान्तिसागरजी पर आक्रमण किया, पर वे अपनी साधना से तिलमात्र भी विचलित नही हुए। उनकी भावना में अहिसा और अभय की सरिता प्रवाहित होती रही। मन ही मन चिन्तन चला मैंने इसे पूर्व भव मे कोई हानि पहुंचाई है तो यह मुझे काटेगा अन्यथा नही। मुनिजी के मन मे इस प्रकार का चिंतन चलता रहा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार तरङ्गे, विद्युत् तरङ्गो से भी अधिक प्रभावकारक होती हैं। मुनिजी की आखो से प्रवहमान अहिंसात्मक रश्मियों का प्रभाव ही हुआ होगा। नागराज अपने आप दूर खिसक गया। उपसर्ग शात हो गया। उनके अभयी जीवन की यह एक घटना है। जंगली खूखार पशुओ से सम्बन्धित उनके कई जीवन प्रसङ्ग हैं जो आज के वैज्ञानिक युग मे विस्मयकारक से ही लगते है।

शान्तिसागरजी समता, क्षमा आदि गुणो से सम्पन्न, सुयोग्य मुनि थे। चतुर्विध संघ के समक्ष समडोलो नगर में वी० नि० २४५१ (वि० सं० १९८१) मे उनकी आचार्यपद पर नियुक्ति हुई। गजपन्था मे उन्हें 'चरित्र चक्रवर्ती' पद से अलकृत किया गया।

शान्तिसागरजी के आचार्य पद ग्रहण के समय नेमिसागरजी ने एलक दीक्षा और शिवसागरजी ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी।

धर्म प्रचार की दृष्टि से भी आचार्य शान्तिसागरजी ने महान् कार्य किया। दक्षिण भारत से उत्तर भारत मे उनका आगमन हुआ। यह उनकी दिगम्बर इतिहास मे उल्लेखनीय यात्रा थी। इस यात्रा से पूर्व कई शताब्दियों तक दिगम्बर मुनियों का मुख्य विहरण स्थल दक्षिण भारत ही बना हुआ था। अत उत्तर भारत मे वर्षो से अवरुद्ध दिगम्बर मुनियों के आवागमन के मार्ग को उद्घाटित करने का श्रेय आचार्य शान्तिसागरजी को है।

शिष्य परिवार

मुनिजन-वीरसागरजी, नेमिसागरजी, चंद्रासागरजी, पायसागरजी, नेमिमागरजी, कुथुसागग्जी, धर्मसागरजी, सुधर्मसागरजी, आदिसागरजी, वर्धमानसागरजी, क्षुल्लक साधक-विमलसागरजी, अजितसागरजी, पायसागरजी, समतभद्रजी, चद्रकीर्तिजी, अर्हद्‌वलिजी, आर्यिका-चद्रमतिजी, क्षुल्लक साधिकाए-जिनमतिजी, सुमतिमतिजी. अनतमतिजी, विमलमतिजी ये आचार्य शातिसागरजी के शिष्य परिवार में हुए हैं।

वृद्धावस्था मे उनकी नेत्र ज्योति क्षीण हो गई थी पर उनकी आत्म-ज्योति अधिक प्रकाश के साथ प्रकट हुई।

जीवन के संध्याकाल में कुथलगिरि पर सन् १९५५ अगस्त के तृतीय सप्ताह मे उन्होंने यम सलेखना ग्रहण की। अपने प्रथम शिष्य वीरसागरजी को यम सलेखना के अवसर पर शुक्रवार २६ अगस्त को आचार्य पद पर नियुक्त किया। उस समय वीरसागरजी खानियां जयपुर मे थे। उनके लिए

शांतिसागरजी ने शिक्षात्मक एवं आशीर्वादात्मक सदेश दिया वह इस प्रकार था—"आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी तरह ही समाधि धारण करना, सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना जिससे दिगम्बर परंपरा चले।" सघ का भार वीरसागरजी को सौप देने के बाद वे योग्य-साधना मे समभाव से लीन हो गए। इनका ३६ दिन का अनशन सानन्द सम्पन्न हुआ।

शांतिसागरजी शाति के सागर नही महासागर थे। ध्यानयोग, तपोयोग, समत्वयोग—तीनो का उनके जीवन मे सुन्दर समन्वय था। उनकी ध्यानयोग और तपोयोग की साधना में जन-जन को अध्यात्म बल प्राप्त हुआ और संयम साधना तथा ममता की साधना से मानव के अन्तर्मन मे समरस परिपूर्ण भावधारा का सचार हुआ।

समय और स्थान

शान्तिसागरजी ने ३१ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व कुशलतापूर्वक सभाला। कुथुलगिरि पर ८३ वर्ष की अवस्था मे उन्होने आहार-मात्र का परित्याग कर देहाशक्ति पर विजय पाई। परम-समाधि के साथ शातिसिंधु आचार्य शान्तिसागर का ३६ दिवसीय अनशन की स्थिति मे वी० नि० २४८२ (वि० स० २०१२) मे स्वर्गवास हुआ।

१४१. आगम-स्वाध्यायी आचार्य अमोलकऋषि

जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परंपरा मे ऋषि सप्रदाय के आचार्य अमोलकऋषि अपने युग के विश्रुत विद्वान् थे। वे श्रम परायण आचार्य थे। सद्ग्रंथो का चिंतन, मनन और निदिध्यासन करने मे वे विशेष सलग्न रहते थे। जैन आगमो को हिन्दी मे अनुदित करने का श्रेय सर्वप्रथम सभवत उन्हे प्राप्त हुआ है।

जन्म एवं परिवार

अमोलकऋषि का जन्म वी० नि० २४०४ (वि० सं० १९३४) को राजस्थानान्तर्गत भोपाल मे ओसवाल परिवार मे हुआ। वे कस्तूरचदजी के पौत्र और केवलचदजी के पुत्र थे। उनकी माता का नाम हुलासी था। उनके छोटे भाई का नाम अमीचद था।

जीवन-वृत्त

अमोलकऋषिजी को बाल्यावस्था मे मातृ-वियोग की सङ्कटमयी घडी का सामना करना पडा। पिता केवलचदजी ने मुनि जनों से बोध प्राप्त कर सयम-दीक्षा स्वीकार कर ली।

धार्मिक वातावरण अमोलकऋषि को परिवार से सहज प्राप्त था। पिता की दीक्षा ने उन्हे संयम-मार्ग के प्रति आकृष्ट किया। उन्होने वीर नि० २४१४ (वि० स० १९४४) में भागवती दीक्षा ग्रहण की।

अमोलकऋषिजी बुद्धिवल से संपन्न श्रमण थे एव गुरुजनो के प्रति विनम्र भी थे। उन्होंने शास्त्रो का गंभीर अध्ययन श्रीरत्नऋषिजी के पास किया और उनके साथ गुजरात आदि अनेक देशो मे वे विचरे। रत्नऋषिजी के साथ अमोलकऋषि सात वर्ष तक रहे थे।

उन्हे ज्येष्ठ शुक्ला १२ गुरुवार, वी० नि० २४५६ (वि० १९८६) मे आचार्य पद से विभूषित किया गया। पिछले कई वर्षों से ऋषि सप्रदाय में आचार्य पद रिक्त था।

साहित्य

आगमों का अमोलकऋषिजी को गंभीर ज्ञान था। सिकन्दराबाद

(हैदराबाद) मे तीन वर्ष तक विराजकर उन्होंने बत्तीस सूत्रो का सरल हिन्दी अनुवाद किया था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करते समय वे निरन्तर एकातर तप करते और सात-सात घण्टों तक अबाध गति से लिखते थे। प्राकृत भाषा को न जानने वाले आगमार्थ पिपासु साधको के लिए यह अनुवाद उपयोगी सिद्ध हुआ।

आगमो के अतिरिक्त उन्होने विशाल जैन-साहित्य की रचना की। जैन तत्त्व प्रकाश आदि ७० ग्रंथ उनके कई गेय आख्यान हैं। कई ग्रन्थ जैन तत्त्व-ज्ञान से संबंधित भी है। उनमे कुल ग्रंथो की सख्या आगमो को सम्मिलित कर देने पर १०२ हो जाती है। उनके ग्रन्थो की आवृत्तिया गुजराती, मराठी, कन्नड और उर्दू भाषा मे भी प्रकाशित है।

अमोलकऋषिजी आगम रुचिक आचार्य थे। उन्होने बत्तीस आगमो का हिन्दी मे अनुवाद किया। यह कार्य उनके विशेष आगम स्वाध्याय गुण को प्रकट करता है अत. प्रस्तुत प्रबध मे 'आगम-स्वाध्यायी' विशेषण से उन्हे अलकृत किया गया है।

समय-संकेत

अमोलकऋषिजी का स्थानकवासी समाज पर अच्छा प्रभाव था। धर्म-प्रचार की दृष्टि से उन्होने मालव आदि क्षेत्रों मे विशेष रूप से विहरण किया। वृद्धावस्था मे भी उन्होने पंजाब की यात्रा की। उनकी कुल आयु ५६ वर्ष की थी। आचार्य पद का दायित्व उन्होने करीब चार वर्ष तक कुशलतापूर्वक वहन किया। उनका वी० नि० २४६२ (वि० स १९९२) चातुर्मास दिल्ली मे था। कोटा, बूदी, रतलाम आदि क्षेत्रों मे विहरण कर वी० नि० २४६२ (वि० स० १९९३) का चातुर्मास उन्होने खानदेश मे किया। इस चातुर्मास मे उनके कर्ण वेदना हुई। उपचार करने पर भी वेदना उपशात नही हुई। जीवन के अन्त समय मे भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी के दिन उन्होने अनशन किया। परम समता-भाव मे वे स्वर्गवासी बने।

१४२. सौम्य स्वभावी आचार्य विजयसमुद्र

विजयसमुद्रसूरि जैन श्वेताम्बर मदिरमार्गी परपरा के प्रभावक आचार्य थे। विजयवल्लभसूरिजी के वे उत्तराधिकारी थे। उनके जीवन मे विविध योग्यताओ का विकास हुआ। सघ ने उनको 'जिनशासन रत्न' अलकार से विभूषित किया था।

गुरु-परंपरा

विजयसमुद्रसूरिजी के गुरु विजयवल्लभसूरिजी थे। विजयवल्लभसूरिजी की गुरु-परपरा ही विजयसमुद्रसूरिजी की गुरु-परपरा है। जो विजयवल्लभ-सूरि प्रबन्ध मे प्रस्तुत है।

जन्म एवं परिवार

विजयसमुद्रसूरिजी का जन्म वी० नि० २४१८ (वि० स० १९४८) मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को राजस्थान के 'बाली' नगर मे हुआ। उनके पिता का नाम शोभाचदजी एव माता का नाम धारिणी देवी था। गृहस्थ जीवन म विजयसमुद्रसूरि का नाम सुखराज था।

जीवन-वृत्त

विजयसमुद्रसूरिजी १९ वर्ष गृहस्थ जीवन मे रहे। यौवन के आरोहण काल मे उन्होने वी० नि० २४३० (वि० स० १९६७) फाल्गुन कृष्णा षष्ठी के दिन सूरत मे दीक्षा ग्रहण की। बड़ौदा मे वी० नि० २४७८ (वि० सं २००८) मे उनको उपाध्याय पद पर नियुक्त किया। बम्बई उपनगर थाना मे वी० नि० २४७९ (वि० स० २००९) मे वे आचार्य पद पर पदासीन हुए।

ग्राम नगरो मे विहरण कर उन्होने अहिंसा के सदेश को जन-जन तक पहुंचाने का विशेष प्रयत्न किया उनकी सुमधुर कल्याणकारी वाणी को सुनकर कइयो ने माम-मदिरा का परिहार किया। एव शुद्ध शाकाहारी जीवन जीने के लिए वे प्रतिबद्ध हुए।

समय-संकेत

विजयसमुद्रसूरि का स्वर्गवास अभी कुछ वर्षों पहले हुआ है। वर्तमान मे उनके स्थान पर इन्द्रदिन्नसूरि जैन-धर्म की प्रभावना मे सलग्न है।

१४३. श्रमनिष्ठ आचार्य विजयशान्ति

मदिरमार्गी परपरा के एक और प्रभावक आचार्य को प्रस्तुत कर रही हूं। उनका नाम है विजयशातिसूरि। विजयशातिसूरि अपने युग के विशेष विश्रुत आचार्य रहे हैं। योगजन्य चामत्कारिक विद्याओ का अद्भुत बल उन्हे प्राप्त था।

जीवन-वृत्त

विजयशातिसूरि का जन्म वी० नि० २४१५ (वि० १९४५) मे हुआ। धर्मविजयजी और तीर्थविजयजी उनके शिक्षक थे। तीर्थविजयजी से १६ वर्ष की अवस्था मे दीक्षित होकर १६ वर्ष तक उन्होने विभिन्न प्रातो मे धर्म-प्रचारार्थ यात्राए कीं।

माउन्टआबू उनकी विशेष साधना-स्थली था। उनका वी० नि० २४४७ (वि० १९७७) मे सर्वप्रथम पदार्पण वहा हुआ था।

उनको वी० नि० २४६० (वि० म० १९९०) मे 'जीवदया-प्रतिपालक योगलब्ध राजराजेश्वर' की उपाधि से अलकृत किया गया।

वीर वाटिका मे उनको 'जगत्-गुरु' का पद मिला। इसी वर्ष के मार्ग-शीर्ष महीने मे उन्होने आचार्य पद का दायित्व सभाला।

उदयपुर मे नेपाल राजवशीय डेपुटेशन द्वारा 'नेपाल राजगुरु' सबोधन देकर अपने राज्य की ओर से उनका सम्मान किया था। नेपाल के अतिरिक्त अन्य विदेशी लोग भी उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। एक अग्रेज ने उनका पूर्णत शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था।

उनकी उपदेशामृत-वाणी से अनेक व्यक्तियो ने शराब और मास का परित्याग किया तथा सैकडो राजाओ और जागीदारो ने पशुबलि तक बन्द कर दी।

आबू का सुरम्य-शान्त वातावरण उनके मन को अधिक पसद आ गया था। वे विशेषत वही रहे।

समय-संकेत

विजयशातिसूरि का स्वर्गवास 'माण्डोली' स्थान पर हुआ। उन्हे आचार्य पद प्राप्ति वी० नि० २५४७ (वि० म० १९७७) मे हुई एवं जीव-दया प्रतिपालक उपाधि वी० नि० २४६० (वि० म० १९९०) मे प्राप्त हुई थी। इस आधार पर विजयशातिसूरिजी वी० नि० २५ वी (वि० स० २०वी) शताब्दी के प्रभावक आचार्य थे।

१४४. आत्मसंगीत उद्‌गाता आचार्य आत्मारामजी

आत्मारामजी स्थानकवासी श्रमण सघ के प्रथमाचार्य थे। वे अपने युग के प्रकाण्ड विद्वान् थे। समाज मे उनके व्यक्तित्व के प्रति गहरी आस्था थी। पजाब उनका प्रमुखत प्रचार क्षेत्र था।

गुरु-परम्परा

स्थानकवासी परपरा के त्यागी वैराग्य मत गणपतरायजी आत्मारामजी के दीक्षा गुरु थे। मोतीरामजी उनके विद्या गुरु थे। आगमविज्ञ सत मोतीरामजी के उत्तराधिकारी सोहनलालजी थे। उनका उत्तराधिकारी काशीरामजी को मिला। प्रस्तुत आत्मारामजी काशीरामजी के उत्तराधिकारी थे।

जन्म एवं परिवार

आत्मारामजी का जन्म 'राहो' नगर-निवासी क्षत्रिय चौपडा परिवार मे हुआ। जन्म समय वी० नि० २४०६ (वि० स० १६३६) भाद्रव शुक्ला द्वादशी का दिन था। उनके पिता का नाम मनसाराम एव माता का नाम परमेश्वरी था।

जीवन-वृत्त

आत्मारामजी का गृहस्थ जीवन सघर्षों मे बीता। शिशु अवस्था मे माता-पिता को खो देना बालक के लिए सकट की घडी होती है। आत्माराम जी दो वर्ष के थे तभी माता का वियोग हो गया। आठ वर्ष की अवस्था मे पिता के विरह का भयकर आघात लगा। माता-पिता से निराश्रित बालक का पालन-पोषण कुछ समय तक दादी मा ने किया। दस वर्ष की अवस्था मे उनका यह सहारा भी टूट गया। कुछ दिन तक मामा के यहा रहे। चाची का सरक्षण भी उन्हे मिला पर उनका मन कही नही लगा। सौभाग्य से एक दिन वे सतो की सन्निधि मे पहुच गए। "सत्सगति. कथय कि न करोति पुसाम्" कवि की यह उक्ति उनके जीवन मे साकार हुई। तत्त्वज्ञान का प्रशिक्षण पाकर उन्होने एक दिन सत की भूमिका मे प्रवेश पाया। श्रमण दीक्षा

स्वीकरण का यह समय वी० नि० २४२६ (वि० स० १९५९) था। इस समय उनकी अवस्था बीस वर्ष की थी। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" इस उक्ति के अनुरूप युवक सत आत्मारामजी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। सत गणपतरामजी से उन्होने दीक्षा ग्रहण की। एव सतत स्वाध्यायी जीवन मे रत, आगम मथन करने मे जागरूक आचार्य मोतीरामजी के वे विद्या शिष्य बने। ज्ञान-मुक्ता मणियो को उनसे प्राप्त कर सत आत्मारामजी ने प्रकाण्ड वैदुष्य वरा।

पजाब सम्मेलन के अवसर पर वी० नि० २४३८ (वि० स० १९६८) फाल्गुन मास अमृतसर मे सत आत्मारामजी को उपाध्याय पद से विभूषित किया गया।

काशीरामजी के स्वर्गवास के बाद वी० नि० २४७३ (वि० स० २००३) मे महावीर जयति के दिन श्रमण संघ ने मिलकर सत आत्मारामजी को आचार्य पद का दायित्व सौपा।

ज्योतिषविद्या के मेधावी आचार्य सोहनलालजी का पाण्डित्य एव काशीरामजी का गम्भीर व्यक्तित्व आत्मारामजी मे समन्वित होकर बोल रहा था।

सादडी सम्मेलन के अवसर पर विशाल श्रमण समाज उपस्थित हुआ था। सघ-एकता की दिशा मे स्थानकवासी समाज की ओर से वह आयोजन किया गया था। यह समय वी० नि० २४७९ (वि० स० २००९) था। इस आयोजन मे सबकी दृष्टि एक ऐसे विश्वास पात्र सक्षम व्यक्ति की खोज रही थी जो समूचे श्रमण-सघ का समर्पण निगर्वी भाव से झेल सके और सबको सतोषजनक नेतृत्व दे सके। एक साथ सबकी दृष्टि अनुभवसिद्ध, वयोवृद्ध आत्मारामजी पर जा टिकी। तत्काल श्रमण-सघ के नाम पर सघ एकता का प्रस्ताव पारित हुआ और उल्लासमय वातावरण मे आत्मारामजी को वैशाख शुक्ला नवमी के दिन श्रमण-सघ का नेता चुन लिया गया। यह समस्त स्थानकवासी समाज का मनोनीत चयन था।

साहित्य

आचार्य आत्मारामजी आगम के विशिष्ट व्याख्याता थे। उनके वक्तव्य मे प्रभावकता थी। लोकरजन के लिए ही उनके उपदेश नहीं होते थे। प्रवचन मे शास्त्रीय आधार भी रहता था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जर्मन विद्वान् गेथ, डा० बुल्नर आदि विशिष्ट व्यक्ति उनके सपर्क मे आए थे।

साहित्य

आचार्य आत्मारामजी प्रशस्त रचनाकार थे। दशाश्रुतस्कध, अनुत्तरौपपातिक दशा, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक आदि कई सूत्रो का उन्होंने हिन्दी अनुवाद किया। उत्तराध्ययन सूत्र का हिन्दी अनुवाद एव सपादन जैन-समाज में बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ।

उन्होंने जैन ग्रथों का गभीरता से अध्ययन कर तुलनात्मक साहित्य भी लिखा। 'तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय' नामक कृति तुलनात्मक दृष्टि से लिखी गई ज्ञानवर्द्धक रचना है। सचित्र अर्धमागधी कोष ग्रन्थ, भगवती, ज्ञाता सूत्र एव दशवैकालिक इन तीनो सूत्रो का सकलन है। "कई सतो ने मिलकर इस कोष को तैयार किया था। इसमे आत्मारामजी का प्रमुख सहयोग था। "जैनागमों मे स्याद्वाद" उनकी एक और कृति है। इसमें स्याद्वाद से संबधित आगम-पाठो का सुन्दर सकलन है। आगम-साहित्य के अतिरिक्त सामयिक साहित्य पर भी उनकी लेखनी चली। आठ भागो मे जैन धर्मशिक्षावली इसी ओर बढता चरण था।

जैनागमो मे अष्टाग योग, जैनागम न्यायसग्रह, वीरत्थुई, जीवकर्म सवाद आदि-आदि स्वनिर्मित पच्चासो ग्रथो का मूल्यवान् उपहार सरस्वती के चरणो मे उन्होंने समर्पित किया।

सियाल कोट मे उन्हे 'साहित्यरत्न' की उपाधि प्राप्त हुई। जैनो के प्रमुख केन्द्र रावलपिंडी मे स्थानकवासी समाज ने उन्हे 'जैनागम-रत्नाकर' पद से विभूषित किया।

समय-संकेत

आत्मारामजी का जन्म सवत् वी० नि० २४०६ (वि० १९३९), दीक्षा ग्रहण समय वी० नि० २४२६ (वि० स० १९५९) एव आचार्य पदारोहण समय वी० नि० २४७३ (वि० स० २००३) बताया गया है। इस आधार पर ख्याति प्राप्त आचार्य आत्मारामजी वी० नि० २५ वी (वि० स० १९ वी, २० वीं) शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आत्मारामजी की बहुमुखी साहित्य साधना एव श्रमण-सघ को उनके द्वारा प्राप्त सफल नेतृत्व इतिहास की भव्य कडी है।

१४५. सद्संस्कार संजीवक शिवसागरजी

दिगंबर परम्परा शिवसागरजी आचार्य वीरसागरजी की भांति प्रभावक आचार्य थे। वे परम तपस्वी थे। बालब्रह्मचारी थे। स्वाध्याय योग मे उनकी सहज रुचि थी। उनकी मातृभाषा महाराष्ट्री थी। हिंदी भाषा बोलने का भी उन्हे अच्छा अभ्यास था।

गुरु-परम्परा

शिवसागरजी के दीक्षा गुरु वीरसागरजी थे। वीरसागरजी की गुरु परम्परा ही शिवसागरजी की गुरु परम्परा है। शातिसागरजी, वीरसागरजी इन तीनो का क्रम दिगम्बर परम्परा के इतिहास मे गुरु-परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण शृखला है।

जन्म और परिवार

शिवसागरजी का जन्म महाराष्ट्र प्रात के अन्तर्गत औरंगाबाद जिले के अडगाव मे वी० नि० २४२८ (वि० स० १९५८) मे खण्डेल परिवार मे हुआ। रावका उनका गौत्र था। उनके पिता का नाम नेमिचद्रजी एव माता का नाम दगडा बाई था। शिवसागरजी के दो भाई और दो बहिने थी। उनका अपना नाम हीरालाल था।

जीवन-वृत्त

पिता नेमिचंद्रजी, माता दगडा बाई दोनो के सरक्षण मे शिवसागरजी (बालक हीरालाल) के शैशव जीवन का विकास हुआ। जैन विद्यालय मे शिक्षक हीरालालजी गगवाल (वीरसागरजी) के द्वारा उन्होने अनेक प्रकार की धार्मिक शिक्षाए पाई। हिन्दी भाषा का भी अध्ययन किया। योग की बात थी प्लेग के आक्रमण से शिवसागरजी के माता-पिता का एक ही दिन मे निधन हो गया। कुछ समय के बाद बडे भाई पत्नी को छोडकर काल के मेहमान बन गए। प्रियजनों का ु वियोग शिवसागरजी के शिक्षा विकास मे भी विघ्न रूप सिद्ध हुआ। गृहस्थी के सचालन का दायित्व-भार भी उनके कधो पर आया।

ससार का यह विचित्र चित्र उनके मन को विरक्ति की और खीचकर ले गया। भौतिक सुखो के भोग मे उनकी अरुचि हो गई। विवाह संबन्ध को उन्होने अस्वीकार कर दिया। जब वे २८ वर्ष के थे भाग्य से उन्हे शान्तिसागरजी के दर्शनो का योग मिला। शान्तिसागरजी की सन्निधि से शिवसागरजी की जीवन-धारा त्याग की ओर प्रवाहित हुई। गुरु चरणो मे पहुचकर वे अपने को धन्य मानने लगे। उन्होने प्रथम सम्पर्क मे ही गुरु से द्वितीय प्रतिमा व्रत स्वीकार कर अपने मे कृतार्थता का अनुभव किया। सप्तम प्रतिमा व्रत को ग्रहण उन्होने वीरसागरजी के पास किया।

उनकी अध्यात्म के प्रति अभिरुचि दिन प्रतिदिन बढती रही। अध्यात्म ग्रंथो के अध्ययन, मनन और स्वाध्याय से उनकी त्यागमयी भावना मे उत्कर्ष आया। सयम ग्रहण करने की भी इच्छा जागृत हुई अत वैराग्य भावना से प्रेरित होकर वीरसागरजी के द्वारा उन्होने वी० नि० २४७० (वि० स० २०००) मे क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उस समय उनका नाम शिवसागर रखा गया। क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था लगभग ४२ या ४३ वर्ष की थी।

गृहस्थजीवन मे वीरसागरजी का नाम हीरालाल था और शिवसागरजी का नाम भी हीरालाल था। जैन विद्यालय मे शिवसागरजी को प्रारम्भिक धार्मिक शिक्षा भी वीरसागरजी के द्वारा ही प्राप्त हुई थी।

क्षुल्लक दीक्षा के छह वर्ष बाद वी० नि० २४७६ (वि० स० २००६) मे शिवसागरजी ने वीरसागरजी द्वारा नागौर मे आषाढ शुक्ला एकादशी के दिन मुनि दीक्षा ग्रहण की। गुरु की सन्निधि मे शिवसागरजी ने अपने जीवन मे विविध योग्यताओ का विकास किया। नाना प्रकार के अनुभवो को बटोरा। वीरसागरजी के स्वर्गवास के बाद शिवसागरजी को वी० नि० २४८४ (वि० स० २०१४) मे आचार्य पद पर नियुक्त किया गया।

शिवसागरजी विद्वान् थे। गुरु की सन्निधि मे उन्हे आठ वर्ष रहने का अवसर प्राप्त हुआ। यह आठ वर्ष का काल उनके जीवन मे ज्ञानाराधना की दृष्टि से भी विशेष लाभ कर सिद्ध हुआ। उन्होने चारो प्रकार के अनुयोगो से सम्बन्धित विविध ग्रंथो का अध्ययन किया। समयसारकलश, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, स्वयम्भूस्तोत्र आदि सस्कृत, प्राकृत कई स्तोत्र, ग्रथ उन्हे कण्ठस्थ थे।

आचार्य पद प्राप्ति के बाद उन्होने दूरगामी यात्राए भी की। अजमेर,

उदयपुर, प्रतापगढ़, कोटा आदि क्षेत्रो मे चातुर्मास किए। क्षुल्लक, एलक, आर्यिका आदि कई दीक्षाए आचार्य शिवसागरजी द्वारा संपन्न हुई। कई मुनि दीक्षाए भी उनके द्वारा प्रदान की गई।

दिगम्बर धर्मसघ की आचार्य शिवसागरजी के शासनकाल मे अनेक रूपो मे श्री वृद्धि हुई। शिष्य-सम्पदा का भी विशेष विकास हुआ।

मुनिचर्या के नियमो की प्रतिपालना मे शिवसागरजी सजग थे एवं अनुशासन की भूमिका पर वे अधिक दृढ़ थे।

समय-संकेत

शिवसागरजी ने वीरसागरजी के उत्तराधिकारी के रूप मे ११ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व सम्यक् प्रकार से वहन किया। वे वी० नि० २४६५ (वि० स० २०२५) मे फाल्गुन कृष्णा अमावस्या के दिन समाधि अवस्था में स्वर्गवास को प्राप्त हुए।

१४६. घोर-परिश्रमी आचार्य घासीलालजी

घासीलालजी स्थानकवासी परम्परा के विक्रम की २०वी सदी के यशस्वी विद्वान् आचार्य थे। आगम ग्रथो के विशिष्ट ज्ञाता थे। श्रुतयोग की उन्होने विशेष रूप से आराधना की एवं जैन जैनेतर सम्प्रदायों मे भी वे प्रसिद्धि को प्राप्त थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य घासीलालजी का जन्म मेवाड में हुआ। आचार्य जवाहरलालजी के पास वी० नि० २४२८ (वि० सं० १९५८) माघ शुक्ला त्रयोदशी बृहस्पतिवार को उन्होंने भागवती-दीक्षा स्वीकार की।

प्रारम्भ मे उनकी बुद्धि बहुत मन्द थी। एक नवकार मत्र को कंठाग्र करते उन्हे दिन लगे। कवि ने कहा है—

करत-करत अभ्यास ते, जडमति होत सुजान।
रसरी आवत-जावत है, शिल पर परत निशान॥

इस पद्य को उन्होने अपने जीवन मे चरितार्थ कर दिखाया। एक निष्ठा से वे सरस्वती की उपासना मे लगे रहे। व्याकरण, न्याय, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र मे उन्होंने प्रवेश पाया और एक दिन वे हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती, फारसी, अग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओ के विज्ञ बन गए। धर्म प्रचारार्थ उन्होंने अनेक गावो और नगरो मे विहरण किया।

साहित्य

आगम व्याख्या ग्रंथों में आचार्य घासीलालजी के ग्रंथो का महनीय स्थान है। उन्होंने तीस वर्षों मे बत्तीस सूत्रो की टीका-रचना कर आगमों की व्याख्या को संस्कृत, गुजराती और हिन्दी मे प्रस्तुत किया। टीकाओं के अतिरिक्त अन्य साहित्य भी उन्होंने रचा है। उनकी सरल सौम्य वृत्ति का जनता पर अच्छा प्रभाव रहा।

इन टीका ग्रथों में आचार्य घासीलालजी के श्रमप्रधान जीवन के दर्शन होते है।

समय-संकेत

आगम टीकाओं के कार्य को सफलतापूर्वक निर्वहण के लिए सरसपुर (अहमदाबाद) मे सोलह वर्ष तक रहे। इस कार्य के सम्पन्न होते ही उन्होंने अनशनपूर्वक ४-१-७३ को तदनुसार वी० नि० २५०० (वि० स २०३०) को इस जगत् से विदा ले ली।

वर्तमान मे आचार्य घासीलालजी का सम्प्रदाय दीक्षा गुरु जवाहर-लालजी के सम्प्रदाय से भिन्न है।

१४७. आनन्दघन आचार्य आनन्दऋषि

आनन्दऋषिजी स्थानकवासी परम्परा श्रमण सघ के प्रमुख आचार्य हैं। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, फारसी, राजस्थानी, उर्दू, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओ के विद्वान् हैं। महाराष्ट्री उनकी सहज मातृभाषा हैं। उनके कण्ठ मधुर है और ध्वनि प्रचण्ड है।

गुरु-परम्परा

ऋषि सम्प्रदाय की परम्परा मे ऋषिलवजी, सोमजी, मोतीरामजी, सोहनलालजी, काशीरामजी आदि अनेक प्रभावी आचार्य हुए हैं। वर्तमान में आनन्दऋषिजी इस परम्परा को उजागर कर रहे है तथा श्रमण-सघ के दायित्व को भी सभाल रहे है।

जन्म एवं परिवार

आनन्दऋषिजी का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के अहमदाबाद नगर जिले के अन्तर्गत सिराल चिचोडी ग्राम के गुगलिया परिवार मे वी० नि० २४२७ (वि० स० १९५७) मे हुआ था। उनके पिता का नाम देवीचन्द्रजी था एव माता का नाम हुलासी बाई था। उनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम उत्तमचन्दजी था। आनन्दऋषि का नाम गृहस्थ जीवन मे नेमिचन्द्रजी था।

जीवन-वृत्त

आनन्दऋषिजी के पिता का देहान्त उनकी बाल्यावस्था मे हो गया था। अत: माता हुलासीदेवी ही बालक का पालन-पोषण करने मे माता-पिता दोनो की भूमिका कुशलता पूर्वक वहन करती थी।

हुलासीदेवी का धर्म प्रधान जीवन था। वह पाचो पर्वतिथियो पर उपवास करती एव प्रतिदिन सामायिक करती, पाक्षिक प्रतिक्रमण करती एवं अन्य बहिनो की धर्म-साधना मे सहयोग प्रदान करती थी।

मा के धार्मिक सस्कारो का जागरण बालक मे भी हुआ। हुलासीदेवी से प्रेरणा प्राप्त कर बालक ने आचार्य रत्नऋषिजी से सामायिक पाठ, प्रतिक्रमण, तात्त्विक ग्रथ एव अध्यात्म प्रधान स्तवन कठस्थ किए थे।

बालक मे वैराग्य-भाव का अभ्युदय हुआ। माता से आदेश प्राप्त कर वी० नि० २४४० (वि० सं० १९७०) मे मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी के दिन उन्होंने आचार्य रत्नऋषिजी से दीक्षा ग्रहण की थी। इस समय उनकी अवस्था लगभग तेरह वर्ष की थी। दीक्षा नाम उनका आनन्दऋषिजी रखा गया।

दीक्षा लेने के बाद उन्होंने व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, स्मृतिग्रंथ, काव्यानुशासन और नैषधीय चरित आदि उच्चकोटि के काव्य ग्रथो को पढा। संगीत विद्या मे उनकी अधिक अभिरुचि थी। उत्तरोत्तर उनके जीवन का विकास होता रहा। वे उपाध्याय, युवाचार्य, प्रधानाचार्य मत्री, प्रधानमत्री आदि विविध उपाधियो से अलकृत होकर स्थानकवासी सम्प्रदाय मे सम्मानित स्थान प्राप्त करते रहे।

चतुर्विध सघ के सम्मुख वी० नि० २४६९ (वि० स० १९९९) मे उनकी ऋषि परम्परा मे आचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पजाब, मारवाड, मेवाड आदि अनेक क्षेत्रो मे विहरण कर उन्होने जैन धर्म का प्रचार किया है।

स्थानकवासी परम्परा वृहद् श्रमण सम्मेलन सादडी मे वी० नि० २४७९ (वि० स० २००९) मे हुआ था। आनन्दऋषिजी को इस अवसर पर श्रमण संघ मे युवाचार्य पद पर विभूषित किया गया था।

वर्तमान मे वे श्रमणसघ के प्रथमाचार्य आत्मारामजी के उत्तराधिकारी के रूप मे नियुक्त है। स्थानकवासी परम्परा मे वे वयोवृद्ध, अनुभव वृद्ध, सौम्य-स्वभावी आचार्य है एव जैन धर्म की प्रभावना मे रत हैं।

१४८. दृढ़प्रतिज्ञ आचार्य देशभूषणजी

देशभूषणजी वर्तमान दिगम्बर परम्परा के विशिष्ट आचार्य हैं। सस्कृत, प्राकृत, कन्नड, मराठी, हिन्दी, गुजराती आदि कई भाषाओ के वे विद्वान् हैं। मरल भाषा मे प्रस्तुत उनके प्रवचन प्रभावक होते हैं। जैन समाज मे उनका नाम अधिक विश्रुत है।

गुरु-परम्परा

दिगम्बर परम्परा मे कुन्दकुन्द के बाद आचार्य जिनसेन, वीरसेन, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्दी, नेमिचन्द्र आदि कई आचार्य हुए। वि० की २०वी शताब्दी मे आचार्य शान्तिसागरजी हुए। वर्तमान मे सभी दिगम्बर जैन मुनियो की गुरु परम्परा कुन्दकुन्दान्वय मे हुए शान्तिमागरजी मे मबधित बतायी गई है अत आचार्य देशभूषणजी की यही गुरु परम्परा है। देशभूषणजी का दीक्षा मस्कार मुनि जयकीर्तिजी द्वारा हुआ था।

जीवन-वृत्त

देशभूषणजी का जन्म वी० नि० २४३० (वि० म० १६६०) मे हुआ। मुनि जयकीर्तिजी के पाम उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने कई भाषाओ का एव विविध विषयात्मक ग्रथो का अध्ययन किया। योग्यता के आधार पर उन्हे आचार्य पद मे अलकृत किया गया। दिगम्बर श्रमण-संघ प्रकाण्ड विद्वान् देशभूषणजी को आचार्य रूप मे प्राप्त कर स्वय मण्डित हुआ।

साहित्य

देशभूषणजी का साहित्य के क्षेत्र मे विशिष्ट योगदान है। हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, कन्नड, मराठी और अंग्रेजी मे उनकी कई रचनाए प्रकाशित होकर जनता मे पहुंच गई हैं।

साहित्य सृजन की दिशा मे उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन कन्नड भाषा के गौरवमय साहित्य को हिन्दी मे अनुदित करना है।

कन्नड़ भाषा दक्षिण की समृद्ध भाषा है। उसमे जैन का विशाल

साहित्य उपलब्ध है पर दक्षिणात्य भाषाओ से अनभिज्ञ पाठक अपनी इस बहुमूल्य निधि का उपयोग करने से सर्वथा वचित रह जाते हैं। आचार्य देशभूषणजी ने कई कन्नड ग्रंथो का हिन्दी मे अनुवाद कर कन्नड साहित्य से हिन्दी पाठको को लाभान्वित किया है। वे हिन्दी को समृद्ध बनाने के साथ-साथ जैन वाङ्मय की उल्लेखनीय सेवा कर रहे हैं।

जैन साहित्य के प्राचीन ग्रथो का संग्रह और उनका सूक्ष्म अध्ययन तथा तत्प्रकार की अन्य अनेक प्रवृत्तियो का सचालन उनकी हार्दिक लगन का ही परिणाम है।

धर्म प्रचार

धर्म प्रचारार्थ देशभूषणजी ने भारतभूमि पर प्रलम्बमान यात्राए की हैं। जैन धर्म के अहिसा प्रधान सदेश को जन-जन तक पहुंचाने के लिए विशेष प्रयत्नशील बने। उनके प्रवचनो से प्रबोध प्राप्त कर कई क्षुल्लक, एलक और मुनि दीक्षाए हुई। मुनिगण मे—चन्द्रसागरजी, आदिसागरजी, आर्यिकाओ मे—नेमिवनीजी, अजितमतीजी, वीरमतिजी आदि। क्षुल्लक दीक्षाओ मे—इद्रभूषणजी आदि क्षुल्लिका दीक्षाओ मे अनन्तमति, शान्तिमतिजी, चन्द्रमतिजी आदि देशभूषण के शिष्य परिवार मे हुए हैं।

वरिष्ठ विद्वान् विद्यानन्दजी का दीक्षा सस्कार भी आचार्य देशभूषणजी द्वारा हुआ है।

देशभूषणजी कुशल प्रवचनकार भी हैं। उनके कई प्रवचन युगप्रधान आचार्य श्री तुलसीजी के साथ भी हुए है। एक मच पर जैन के उभय सम्प्रदायो के आचार्यों का मिलन धार्मिक एकता का सुन्दर चरण है। ऐसे सामूहिक आयोजनो पर देशभूषणजी को सुनने का भी अवसर मिला है। उनके उपदेश सरल और सुबोध होते हैं।

वर्तमान मे दिगम्बर परम्परा के ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध, वयोवृद्ध आचार्य देशभूषणजी है। दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्यों की शृंखला मे उनका स्थान है।

१४६. धर्मवृद्धिकारक आचार्य धर्मसागर

वर्तमान मे दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्यों की शृखला मे एक नाम आचार्य धर्मसागरजी का भी है। वीरसागरजी की भान्ति धर्म-सागरजी भी बाल ब्रह्मचारी है। इनका विशिष्ट त्याग और तप दिगम्बर परम्परा मे आदर्श रूप है। वीतराग शासन के प्रति उनकी प्रगाढ निष्ठा है। अपने सिद्धान्तो एवं मान्यताओ के प्रति वे अटल एव सुदृढ हैं।

गुरु-परम्परा

धर्मसागरजी आचार्य शान्तिसागरजी की उत्तराधिकारी परम्परा में तृतीय पट्टाचार्य हैं। शान्तिसागरजी के शिष्य वीरसागरजी, वीरसागरजी के शिष्य शिवसागरजी और शिवसागरजी के उत्तराधिकारी धर्मसागरजी हैं। आचार्य धर्मसागरजी की क्षुल्लक दीक्षा आचार्य कल्पमुनि चद्रसागरजी द्वारा एव एलक तथा मुनि दीक्षा वीरसागरजी द्वारा सम्पन्न हुई थी अत धर्मसागरजी के दीक्षा गुरु मुनिचन्द्रसागरजी एव वीरसागरजी है।

जन्म एव परिवार

धर्मसागरजी का जन्म वी० नि० २४४० (वि० स० १६७०) पोष पूर्णिमा के दिन राजस्थान प्रान्त के बून्दी जिलान्तर्गत 'गम्भीरा' ग्राम मे खण्डेलवाल जाति एवं छावडा गोत्रीय परिवार मे हुआ। पिता का नाम बख्तावरमलजी एव माता का नाम उमराव बाई था। धर्मसागरजी का जन्म नाम चिरजीलाल रखा गया उनका दूसरा नाम कजोडीमल भी था।

जीवन-वृत्त

बालक चिरजीलाल के जन्म से माता-पिता को असीम आनन्द की अनुभूति हुई। चिर प्रतीक्षा के बाद पुत्र के आगमन पर ऐसा होना स्वाभाविक भी था। बालक चिरजीलाल से पूर्व होने वाली सन्तानो मे एक भी सन्तान उमरावबाई की बच न सकी, अतः बालक का नाम चिरंजीलाल रखा गया था, जो पुत्र के दीर्घजीवी होने की मंगल भावना का प्रतीक रूप था।

माता-पिता का सुख चिरजीलाल को अधिक समय तक प्राप्त न हो

सका। बालक के शैशव काल में ही पिता बख्तावरमलजी एवं माता उमराव बाई दोनों का देहावसान हो गया था। किसलय-सी कोमल वय मे माता-पिता के वियोग का यह क्रूर आघात था। वियोग की असह्य घडी मे बालक चिरजीलाल को बड़ी बहन दाखाबाई का संरक्षण प्राप्त हुआ। दाखाबाई चिरंजीलाल के बडे पिता कवरलालजी की पुत्री थी। कवरलालजी एव बख्तावरमलजी दोनों सहोदर थे। बख्तावरमलजी के चिरंजीलाल एक ही पुत्र था और दाखाबाई एक ही पुत्री थी। कवरलालजी एवं उनकी धर्मपत्नी दोनों का भी निघन असमय मे हो गया था।

दाखाबाई का ससुराल बामणवास गाव मे था। दाखाबाई के पति भवरलालजी का भी लघुवय मे देहान्त हो गया अत बहिन और भाई (दाखांबाई और चिरजीलाल) दोनो परस्पर सुख-दुःख मे सहभागी बने, पवित्र स्नेह से अपना जीवन रथ आगे बढ़ाते रहे।

चिरजीलाल की प्रारम्भिक शिक्षा मोतीलालजी छाबडा आदि के सरक्षण मे दुगारी ग्राम मे हुई। इसी दुगारी गाव मे चिरंजीलाल के पिता श्री का जन्म हुआ था। यह इस परिवार के पूर्वजो की जन्मस्थली भी थी।

बालक चिरजीलाल के जीवन मे धृति, सतोष आदि गुणो का सहज विकास था। धर्म और अध्यात्म के प्रति बालक का विशेष झुकाव था। भाग्य से 'नैनवा' ग्राम मे मुनि चन्द्रसागरजी की उपासना का एव इन्दौर मे आचार्य वीरसागरजी की सन्निधि का अवसर प्राप्त हुआ। मुनिचन्द्रसागरजी की पुनः पुन सन्निधि प्राप्त होने से बालक चिरजीलाल की जीवनधारा अध्यात्म की ओर दिन-प्रतिदिन उन्मुख बनती गई।

घर मे वैवाहिक सम्बन्धो की चर्चा चली तो आजीवन ब्रह्मचारी रहने का दृढ सकल्प लेकर चिरजीलाल ने सबको अवाक् कर दिया एव भावी जीवन की दिशा मे सोचने के लिए सबको विवश बना दिया।

आजीविकोपार्जन हेतु चिरजीलालजी ने एक छोटी-सी दुकान भी खोली। इन्दौर के एक कारखाने मे नौकरी भी की, पर हिंसात्मक प्रवृत्तियो को देखकर मन मे घृणा हो गई। नोकरी छोड़ दी।

युवा चिरजीलाल के हृदय मे वैराग्य की लौ जल रही थी अत ऐसा होना अस्वाभाविक नही था। अन्तर्मुखता से प्रेरित हो एक दिन चिरजीलालजी ने आचार्य वीरसागरजी से द्वितीय प्रतिमा व्रत एवं बड़नगर मे मुनि चन्द्रसागरजी से सप्तम प्रतिमा व्रत ग्रहण किया। बहिन दाखांबाई भी सरल स्वभावी

एव धार्मिक वृत्ति की महिला थी। दोनो भाई-बहिनो ने व्रत-प्रधान जीवन जीना प्रारम्भ कर दिया।

सासारिक सुखो से पूर्णत विरक्त होकर चिरजीलालजी ने मुनि चन्द्र-सागरजी द्वारा वी० नि० २४७१ (वि० २००१ चैत्र शुक्ला सप्तमी के दिन) मे क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की, क्षुल्लक जीवन मे उनका नाम भद्रसागर रखा गया। पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा के समय कुलेरा ग्राम मे वैशाख मास में वी० नि० २४७८ (वि० २००८) मे आचार्य वीरसागरजी द्वारा क्षुल्लक भद्र-सागर ने एल्लक दीक्षा ग्रहण की। इसी वर्ष कुलेरा चातुर्मास मे उन्होंने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी के दिन मुनि दीक्षा ग्रहण की और भद्रसागरजी धर्मसागरजी के नाम से सम्बोधित हुए।

मुनि जीवन म उन्होंने छह चतुर्मास वीरसागरजी के पास किए। वीर-सागरजी के स्वर्गवास के बाद स्वतन्त्र रूप से विहरण करने लगे। मुनि जीवन के इस काल मे इन्होंने कई दीक्षाए दी। आचार्य शिवसागरजी के स्वर्गवास के पश्चात् वी० नि० २४८५ (वि० स० २०२५) मे उनकी आचार्य पद पर नियुक्ति हुई। इस अवसर पर धर्मसागरजी द्वारा ग्यारह दीक्षाए सम्पन्न हुई।

राजस्थान, उत्तरभारत, दिल्ली, मालवा, महाराष्ट्र, गुजरात आदि क्षेत्र धर्मसागरजी के विहरण स्थल है।

भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के महोत्सव पर आचार्य धर्मसागरजी वही थे। दिगम्बर आचार्य देशभूषणजी एवं धर्मसागरजी दोनो दिगम्बर आचार्यों का वहा मिलन हुआ था। कई दीक्षाए वहा पर भी प्रदान की गई थी। धर्म प्रभावना का लक्ष्य लिए धर्मसागरजी अपने कार्य मे सतत प्रवृत्त हैं एव दिगम्बर परम्परा के नाम को रोशन कर रहे हैं।

१५०. अमृतपुरुष आचार्यश्री तुलसी

जैनधर्म को जनधर्म का व्यापक रूप देकर उसकी गरिमा को प्रतिष्ठित करने मे अहर्निश प्रयत्नशील, आगम, अनुसधान के महत्त्वपूर्ण कार्य मे प्रवृत्त, साधना, शिक्षा और शोध की सगमस्थली, जैन विश्व भारती के अध्यात्म पक्ष को उन्नयन करने मे दत्तचित्त, अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से नैतिक मदाकिनी को प्रवाहित कर वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय चरित्र को सुदृढ बनाने की दिशा मे जागरूक, मानवता के मसीहा युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी का नाम प्रभावक आचार्यों की श्रेणी मे सहज ही उभर आता है।

गुरु-परम्परा

आचार्य श्री के दीक्षा गुरु तेरापथ धर्मसघ के अष्टमाचार्य "कालूगणी" थे। आचार्यश्री तुलसी के जीवन का बहुमुखी विकास आचार्य कालूगणी के सरक्षण मे हुआ। आचार्य कालूगणी से पूर्व गुरु परम्परा के आदिस्रोत तेरापथ धमसघ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु है।

जन्म एवं परिवार

आचार्यश्री तुलसी का जन्म वी० नि० २४४१ (वि० स० १९७१) कार्तिक शुक्ला द्वितीया को राजस्थानान्तर्गत लाडनू शहर के खटेड वश म हुआ। पितामह का नाम राजरूपजी, पिताश्री का नाम झूमरमलजी एव माता का नाम वदनाजी था। झूमरमलजी के ९ सतानो मे ज्येष्ठ श्री मोहनलालजी थे। अपने नौ भाई-बहनो मे आपका (आ० तुलसी) क्रम आठवा है।

जीवन-वृत्त

आचार्यश्री तुलसी के बाल्यकाल का प्रथम दशक मा की ममता, परिवार का अमित स्नेह एव धार्मिक वातावरण मे बीता। जीवन के दूसरे दशक के प्रारम्भ मे पूर्ण वैराग्य के साथ जैन श्वेताम्बर तेरापथ सघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से ज्येष्ठ भगिनी लाडाजी सह वी० नि० २४५२ (वि० स० १९८२) मे दीक्षित हुए। ज्येष्ठ बन्धु चम्पालालजी उनसे पूर्व दीक्षित थे।

भगिनी और युगल भ्राता खटेड वश के ये तीनों रत्न तेरापंथ धर्मसघ

के अलंकार बने। कालान्तर मे मुनि तुलसी आचार्य श्री तुलसी बने। साध्वी श्री लाडाजी साध्वी प्रमुखा पद पर नियुक्ति हुई एव ज्येष्ठ बन्धु मुनि चम्पक सेवाभावी बने। आचार्यश्री तुलसी की जननी वदनाजी लगभग साठ वर्ष की उम्र मे अपने ही पुत्र द्वारा दीक्षित होकर साध्वी बनी। यह इतिहास की विरल घटना है। साध्वी वदनाजी के जीवन मे सयम तथा तप की ज्योति प्रज्ज्वलित थी। उन्होने १८ वर्ष तक एकान्तर तप की आराधना की। समता, सरलता और सौम्यभाव उनके जीवन के सहज गुण थे। विनय-वात्सल्य की प्रतिमूर्ति मातुश्री वदनाजी की विशिष्ट तप साधना एव संयम साधना से प्रभावित होकर आचार्यश्री तुलसी ने उन्हे साध्वी श्रेष्ठा पद से विभूषित किया। उनका ९८ वर्ष की दीर्घ आयु मे पूर्ण समाधि की अवस्था मे स्वर्ग-वास हुआ।

खटेड परिवार से तेरापथ धर्मसघ को इन चार महान् आत्माओ के रूप मे विशिष्ट देन है। इस परिवार के अन्य कई साधु-साध्वी भी दीक्षित हुए हैं। आचार्यश्री तुलसी, मातुश्री वदनाजी, ज्येष्ठ भगिनी लाडाजी की दीक्षा मे प्रेरणा स्रोत प्रमुख रूप से सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी रहे है।

आचार्यश्री तुलसी का मुनि जीवन अनुशासन की भूमिका पर विशेष प्रेरक है। संयम साधना स्वीकार कर लेने के बाद लघु वय मे दीक्षित मुनि तुलसी की चिन्तनात्मक एव मननात्मक शक्ति का स्रोत पठन-पाठन मे प्रवाहित हुआ। व्याकरण कोष सिद्धान्त, काव्य, दर्शन न्याय आदि विविध विषयो का उन्होने गम्भीर अध्ययन किया। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषा के अधिकारी विद्वान् बने।

दुरूह ग्रन्थो की पारायणता के साथ लगभग बीस हजार श्लोको को कंठस्थ कर लेना उनकी सद्य ग्राही स्मृति का परिचायक है।

सोलह वर्ष की लघुवय मे वे विद्यार्थी मुनियो के शिक्षाकेन्द्र का सफलता पूर्वक सचालन करने लगे। उनकी आत्मीयता से विद्यार्थी बाल मुनियो को अन्त.तोष प्राप्त होता था। यह उनकी अनुशासन कुशलता का सजीव निदर्शन था।

सयमी जीवन की निर्मल साधना, विवेक का जागरण, सूक्ष्म ज्ञान का विकास, सहनशीलता, धीरता आदि विविध विशेषताओ के कारण बाईस वर्ष की अल्प अवस्था मे सन्त तुलसी को महामनीषी आचार्य कालूगणी ने वी० नि० २४६३ (वि० स० १९९३) को गगापुर मे आचार्य पद का गुरुत्तर

दायित्व प्रदान किया।

तेरापथ जैसे विशाल एव मर्यादित धर्मसघ को युवक साधक का नेतृत्व मिला। यह जैनसंघ के इतिहास की विरल घटना थी, अवस्था एवं योग्यता का कोई अनुबन्ध नही होता।

तरुण का उत्साह, नभ की विशालता, हस मनीषा का विवेक लिए युवक सन्त नेता ने अपना कार्य सम्भाला। प्रतिक्षण जागरूकता के साथ चरण आगे बढ़े। उद्बुद्ध विवेक हस्तस्थित दीपक की भाति मार्गदर्शक बना। सर्वप्रथम तेरापंथ के अन्तरग विकास के लिए उनका ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। प्रगतिशील संघ का प्रमुख अग शिक्षा है, श्रुतोपासना है। आचार्यश्री तुलसी ने सर्वप्रथम प्रशिक्षण का कार्य अपने हाथ मे लिया। साधु-समाज का विद्या विकास पूज्य कालुगणी से प्रारम्भ हो गया था। आचार्यश्री तुलसी की दीर्घ-दृष्टि साध्वी समाज पर पहुंची। यह विषय पूज्य कालूगणी के चिन्तन मे भी था परन्तु कुछ परिस्थितियो के कारण वह फलवान् नही हो सका। उसकी पूर्ति आचार्यश्री तुलसी ने की। साध्वियो की शिक्षा के लिए वे प्रयत्नशील बने। उनकी चतुर्मुखी प्रगति के लिए शिक्षा केन्द्र, कला केन्द्र, परीक्षा केन्द्र और सेवा केन्द्र खुले। योग्य, योग्यतर एव योग्यतम आदि परीक्षाओ के रूप मे नवीन पाठ्यक्रम बने। उस समय से अब तक पाठ्यक्रम के कई रूप परिवर्तित हो गए हैं।

इन प्रयत्नो के फलस्वरूप साध्वी-समाज के लिए बहुमुखी विकास के द्वार उद्घाटित हुए। मुनिवृन्द की भाति तेरापथ धर्मसघ की साध्वियो ने शिक्षा के क्षेत्र मे कई कीर्तिमान स्थापित किए हैं। आज अनेक विदुषी साध्विया है। आज उनमे प्रभावक प्रवचनकार, संगीतकार, ग्रन्थ-रचनाकार, तत्वज्ञा, विविध दर्शनो की मर्मज्ञा, आगमज्ञा तथा सस्कृत, प्राकृत आदि कई भाषाओं की विशेषज्ञा है।

साध्वी समाज की इस प्रगति के मूल प्रेरणास्रोत आचार्यश्री तुलसी हैं। साध्वी-शिक्षा के विकास मे महिष्णुता की प्रतिमूर्ति साध्वीप्रमुखा स्वर्गीया श्री लाडाजी का भी महान् योगदान रहा है।

साध्वी प्रमुखाश्री लाडाजी साध्वियो को मधुर शब्दो मे अध्ययन के लाभ को समझाती, ज्ञान कणो को बटोरने के लिए अन्तःस्नेह से उन्हे प्रेरित करती। भाषण, सगीत आदि की गोष्ठिया करवाती घंटों साध्वियों के बीच विराजकर ध्यान मे मग्न होकर उनको सुनती, उनका उत्साह बढ़ातीं, उनको

पुरस्कृत करती, अध्ययनशील साध्वियो को आवश्यक कार्यों से मुक्त रखकर अध्ययनानुकूल सुविधाएं और अवकाश प्रदान करती।

आचार्यश्री तुलसी के अनवरत परिश्रम एव साध्वी प्रमुखाश्री लाडांजी की सतत प्रेरणाओ का योग पाकर शिक्षा के क्षेत्र मे साध्वी समाज गतिमान हुआ एव आचार्यश्री कालूगणी का अधूरा स्वप्न साकार हुआ।

वर्तमान मे तेरापथ का साध्वी समाज उच्चस्तरीय शिक्षा के पठन-पाठन मे गम्भीर साहित्य सृजन मे एव आगमशोध के महत्त्वपूर्ण कार्य मे प्रवृत्त है। भारतीय एव भारतीयेतर भाषाओ पर उनका गहरा अध्ययन है। कवि, आशुकवि, लेखक, वैयाकरण साहित्यकार के रूप मे श्रमण-श्रमणी मडली आचार्यश्री कालूगणी की बृहद् कृपा एव आचार्यश्री तुलसी की श्रमशीलता का सुमधुर परिणाम है। अध्ययन-अध्यापन मे तेरापथ धर्मसघ अत्यधिक स्वावलम्बी है।

साध्वी समाज की शिक्षा के क्षेत्र मे अभूतपूर्व प्रगति हुई है। जैनधर्म की प्रभावना मे साध्वी समाज का शिक्षा विकास महान् निमित्त बना है। इन सबके ऊर्जा केन्द्र आचार्यश्री तुलसी रहे है।

तपोयोग की भूमिका भी आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल मे पूर्वाचार्यो की अपेक्षा अधिक विस्तृत हुई है। भद्रोत्तर तप, लघुसिह तप, तेरह महीनो का आयम्बिल तप, एक सौ आठ दिन का निर्जल तप, आछ प्रयोग पर छह-मासी, नवमासी, बारहमासी तप जैन शासन के तपोमय इतिहास की सुन्दर कड़ी है।

जन-कल्याण की दृष्टि से आचार्यश्री तुलसी ने ३३ वर्ष की अवस्था मे अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया। अणुव्रत एक नैतिक आचारसहिता है। जाति, लिग, भाषा, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय आदि से ऊपर उठकर यह आन्दोलन अपना काम कर रहा है।

"सयमः खलु जीवनम्" अर्थात् सयम ही जीवन है, इस आन्दोलन का उद्घोष है। अणुव्रत सर्वोदय है। वह सबके उदय की बात कहता है। वह माग रहा है—

- नारी समाज से शील और सादगी,
- व्यापारियो से प्रमाणिकता और ईमानदारी,
- पूजीपतियो से करुणा और विसर्जन,
- राज-कर्मचारियो से सेवा और त्याग,

० नेताओं से सिद्धान्त-निष्ठा और मर्यादा,

० धार्मिको से सहिष्णुता और समन्वय।

अणुव्रत सबका है इसलिए सबका समर्थन इसे प्राप्त हुआ।

राजस्थान विधान सभा द्वारा पारित अणुव्रत सराहना प्रस्ताव और उत्तरप्रदेश विधान सभा द्वारा प्रशसित सरकारी समर्थन इस आन्दोलन की प्रियता के उदाहरण हैं।

नैतिक अभियान की मशाल को कर मे थामे आचार्यश्री ने अब तक लगभग पचास हजार किलोमीटर की पदयात्रा की। गाव-गाव मे नैतिकता का दीप जलाया। घर-घर मे अध्यात्म की लौ प्रज्वलित की।

आचार्यश्री तुलसी के भव्य प्रयत्नो से अणुव्रत की आवाज गरीब की झोंपडी से राष्ट्रपति भवन तक पहुची है। लक्षाधिक व्यक्तियो ने अणुव्रत दर्शन का अध्ययन किया है और सहस्रो व्यक्तियो ने अणुव्रत के नियमो का स्वीकार। है। यह आज राष्ट्रीय चरित्र आन्दोलन के रूप मे समादृत हुआ है।

स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, डॉ० राधाकृष्णन, पूर्व प्रधानमत्री जवाहरलाल नेहरू, आचार्य विनोबा भावे, सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, डॉ जाकिर हुसैन एव डॉ० सम्पूर्णानन्द आदि शीर्षस्थ नेताओ ने इस अभियान की भूरि-भूरि प्रशसा की है।

स्वर्गीय प्रधानमत्री श्रीलालबहादुर शास्त्री ने कहा—"आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन के रूप मे हमे एक चिराग दिया है, एक ज्योति दी है। उसे लेकर हम अनैतिकता के तिमिराच्छन्न वातावरण मे नैतिक पथ प्राप्त कर सकते हैं।"

भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने कहा—"राष्ट्रीय चरित्र निर्माण और उन्नयन की दिशा मे अणुव्रत एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सकलन कर रहा है।"

अणुव्रत आन्दोलन की सर्व कल्याणकारी भावना ने नेताओ को ही नही जन-जन को प्रभावित किया है। सैकडो कार्यकर्ता भी इस आन्दोलन की प्रचार प्रसारात्मक प्रवृत्तियों के साथ जुडे हैं। देशभर मे एक नैतिक वातावरण बना है। बहुत से व्यसनी व्यक्ति व्यसन मुक्त होकर आनन्दमय स्वस्थ जीवन जीने लगे हैं। मिलावट विरोधी अभियान, मद्यपान निषेध, संस्कार निर्माण आदि आयोजनो द्वारा सभी वर्गों मे वैचारिक क्रान्ति घटित हुई है।

आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल मे साधु-साध्वियो की यात्राओं का

विस्तार हुआ है। राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, बगाल, आसाम, सिक्किम, भूटान, मेघालय, नागालैंड, मिजोरम, तमिलनाडु, कन्याकुमारी, केरल, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, गोवा, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, हरियाणा, पजाब, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर आदि भारत के प्राय सभी प्रान्तो मे तथा भारत से बाहर भूटान, नेपाल मे भी साधु-साध्विया पहुचे है। उन्होने जन-जन को मानवता का सन्देश दिया है एव धर्म प्रचार का महान् कार्य किया है।

सदियो से उपेक्षित नारी जागरण हेतु आचार्यश्री तुलसी ने गम्भीर चिन्तन किया। जीवन अभ्युत्थान के लिए नए मोड की सुव्यवस्थित योजना प्रस्तुत कर उन्हे जीने की कला सिखाई। 'सादा जीवन उच्च विचार' का प्रशिक्षण देकर अर्थहीन मूल्यो, अन्धविश्वासो एव गलत परम्पराओ से नारी-समाज को मुक्त किया है। अशिक्षा, पर्दाप्रथा, बालविवाह, वृद्धविवाह आदि रूढियो की जडो का उन्मूलन हुआ है। आज आचार्यश्री तुलसी का अनुयायी नारी-समाज अध्यात्म की गहराइयो एव सामाजिक दायित्व को समझने लगा है। अखिल भारतीय तेरापथ महिला मडल के नाम से उनका अपना सबल सगठन है। आचार्यश्री के सान्निध्य मे प्रतिवर्ष उनका वार्षिक सम्मेलन होता है। उसमे प्रशिक्षित नारिया समाज की विभिन्न गतिविधियो के सन्दर्भ मे चिन्तन करती हैं। साम्य योगी, परम कारुणिक, नारी उद्धारक आचार्यश्री तुलसी की प्रेरणा और मार्गदर्शन मे नारी समाज मे कई नए उन्मेष उद्घाटित हुए है।

समण श्रेणी की स्थापना आचार्यश्री तुलसी के प्रगतिशील कार्यक्रमो की एक और कडी है। इस श्रेणी मे दीक्षित समणीवर्ग द्वारा धर्म प्रभावना का व्यापक कार्य हो रहा है। जहा साधु-साध्विया नही पहुच पाते वहा समणिया गई है। आचार्यप्रवर द्वारा प्रदत्त नैतिक सन्देश को उन्होने विदेशो तक पहुचाया है।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था की मुमुक्षु बहनो की एव जैन विश्व भारती की अध्यात्मोन्मुखी प्रवृत्तियो का विकास आचार्यश्री के जीवनकाल की दो विशिष्ट उपलब्धिया हैं। आपकी प्रेरणा से आज 'जैन विश्व भारती' विद्वानों शिक्षाविदो दार्शनिको एव योग साधको की जिज्ञासा का केन्द्र बना हुआ है।

जैन समन्वय की दिशा मे आचार्य श्री तुलसी अनवरत प्रयत्नशील है। आपके द्वारा प्रस्तुत पचसूत्री योजना एव त्रिसूत्री योजना समसामयिक कदम है। पचसूत्री योजना के निम्नोक्त बिन्दु है—

- मण्डनात्मक नीति बरती जाए, अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक या लिखित आक्षेप नही किए जाए।
- दूसरों के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
- दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा, तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
- कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाए।
- धर्म के मौलिक तथ्य—अहिसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

वर्तमान मे आचार्यश्री तुलसी ने त्रि-सूत्री योजना के जो बिन्दु दिए है, वे इस प्रकार है -

- जैन समाज मे सम्वत्सरी पर्व एक हो।
- समस्त जैन समाज के सब साधु-साध्वियो के लिए एक सर्व सम्मत न्यूनतम आचार संहिता स्थापित हो।

जैन एकता की दिशा मे पचसूत्री एव त्रिसूत्री योजना आचार्यश्री तुलसी के सम्प्रदायातीत विचारो का परिणाम है।

प्रतिवर्ष आपके सान्निध्य मे समायोजित जैनविद्या परिषद् जैन पुरातत्व विद्या को उजागर करने की दिशा मे महत्वपूर्ण चरण है।

आचार्यश्री तुलसी योग एव ध्यान के प्रेरक आचार्य है। उन्होने ध्यान, योग एव दीर्घकालीन एकात साधना से अपने सयम का उत्कर्ष किया है। अपने धर्मसघ को योग साधना मे विशेष प्रगतिशील बनाने के लिए प्रणिधान कक्ष तथा कई अध्यात्म शिविर लगाए है। उपासक सघ के साधना शिविरो से श्रावक-श्राविका समाज मे चैतन्य का जागरण हुआ है।

आचार्यश्री तुलसी के उत्तराधिकारी प्रज्ञाधर युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ है। अपने गुरु के मार्गदर्शन मे उन्होने प्रेक्षा-ध्यान और जीवन-विज्ञान सबधी अनेक विशेष प्रयोग किए है जो मानव जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुए है। आचार्यश्री तुलसी का विशाल श्रमण-श्रमणी समुदाय अणुव्रत, प्रेक्षा-ध्यान, जीवन-विज्ञान के सन्देश को जन-जन तक पहुचाने मे प्रयत्नशील है।

आचार्यश्री तुलसी की प्रवृत्तियां सर्व जन हिताय है। वर्णभेद, जातीयता और प्रान्तीयता की दीवारे कभी उनके कार्य क्षेत्र मे खडी न हो सकी। उन्होने एक ओर धनाधीशो को बोध दिया तथा दूसरी ओर दलित वर्ग के

हृदय की हीन ग्रन्थियो का विमोचन किया।

दलित वर्ग मे संस्कार-निर्माण उनके मानवतावादी दृष्टिकोण का एक पहलू है। आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य मे विराट् हरिजन सम्मेलन हुए हैं। उन्होने उन सम्मेलनो को हरिजनोद्धार सम्मेलन नही मानवोद्धार सम्मेलन कहा है।

आचार्यश्री तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय का सचालन कर रहे हैं, पर उन्होने संघ विस्तार से अधिक मानवता की सेवा को प्रमुख माना है। बहुत बार वे अपना परिचय देते हुए कहते हैं—"मै पहले मानव हूं फिर जैन हूं और फिर तेरापंथी हूं।" आचार्यश्री तुलसी के विचारो की यह उन्मुक्तता एव व्यवहार मे अनाग्रही प्रवृत्ति उनके गरिमामय व्यक्तित्व के अनुकूल है।

वे धर्म के आधुनिक भाष्यकार हैं। उन्होने धर्म के क्षेत्र मे नए मूल्यो की प्रतिष्ठा की है। जो धर्म परलोक-सुधार की बात करता, उसे इहलोक के साथ जोड़ा है। उनकी परिभाषा मे वह धर्म-धर्म नही है जिसमे वर्तमान को आनन्दमय बनाने की क्षमता नही है। उन्होने जैन धर्म को जन-जन का धर्म कहकर धर्म की मौलिक व्याख्या दी है। उनकी निष्पक्ष धर्म-प्रचार नीति, उच्चस्तरीय साहित्य निर्माण, उदार चिंतन एव विशुद्ध अध्यात्म भाव ने जन-मानस को विशेष आकृष्ट किया है।

पूर्व से पश्चिम एव उत्तर से दक्षिण तक भारत के अधिकाश भू-भाग मे विशाल श्रमण सघ के साथ पाद-विहार कर आचार्यश्री तुलसी ने अहिंसा के सदेश को दूर-दूर तक पहुचाया है। आचार्यश्री की पजाब, बगाल, दक्षिण आदि की सभी यात्राए धर्म प्रचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत का दक्षिणाञ्चल प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है तथा वह अध्यात्म वैभव मे भी समृद्ध है। प्राचीन भारतीय सस्कृति के चिह्न दक्षिण के कण-कण मे हमें देखने को मिलते हैं। अध्यात्म बीज के अकुरण के लिए यह भूमि उर्वरा है। समन्तभद्र, अकलंकभद्र आदि अनेक प्रभावक जैनाचार्यो ने दक्षिण भारत मे अध्यात्म का सिंचन किया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार—सहस्रो वर्ष पूर्व इस पावन धरा पर आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) श्रमण परिवार सहित पधारे थे। आचार्य श्री तुलसी ने दक्षिण भारत को अपने चरणो से पवित्र कर आचार्य भद्रबाहु के इतिहास को पुनरुज्जीवित किया है। आचार्य भद्रबाहु दक्षिण के कुछ ही क्षेत्रो मे पधारे थे। आचार्यश्री तुलसी के चरण अनेक

प्रमुख स्थलो का स्पर्श करते हुए कन्याकुमारी तक पहुचे। भगवान् महावीर कि वाणी को दूर-दूर तक प्रसारित करने का उल्लेखनीय कार्य आपने किया है। अनेक व्यक्तियो न आपके चरणो मे बैठकर जीवन की समस्याओ का समाधान पाया। आपके सम्प्रदायातीत कार्यक्रमो से अध्यात्म की व्यापक प्रभावना हुई।

आपके आचार्यकाल के पच्चीस वर्ष की सम्पन्नता पर धवल समारोह का आयोजन किया गया। भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति महान दार्शनिक स्वर्गीय डॉ० राधाकृष्णन द्वारा उस सुअवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया गया।

सुदूर दक्षिण यात्रा की समाप्ति पर आचार्यश्री तुलसी द्वारा विहित जन कल्याणकारी कार्यों के परिणाम स्वरूप धर्म-सघ ने उन्हे युगप्रधान की उपाधि से अलकृत किया। यह समय वी० नि० २४९७ (वि० स० २०२७) का था। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि द्वारा इस अवसर पर शुभकामना और विशेष सदेश प्रेषित किया गया था।

षष्टीपूर्ति समारोह के अवसर पर आप द्वारा की गई अध्यात्म की व्यापक प्रभावना के कारण पूर्व राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद द्वारा विशेष सम्मान किया गया था।

आचार्य श्री तुलसी का विराट् व्यक्तित्व व्यापक कार्यों की भूमिका पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है।

महान् दार्शनिक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन लिखित "Living with Purpose" पुस्तक मे १४ महान् व्यक्तियो के जीवन का वर्णन है। उनमे एक नाम आचार्य श्री तुलसी का है। विशेष उल्लेखनीय है—उन १४ व्यक्तियो मे १३ व्यक्ति स्वर्गीय है। वर्तमान मे आचार्य श्री तुलसी ही हैं जो नैतिक प्रवृत्तियो को सबल प्रदान कर रहे हैं एव जन कल्याण के कार्यों मे प्रवृत्त है।

प्रख्यात साहित्यकार और गम्भीर विचारक श्री जैनेन्द्र कुमार जी ने लिखा है—आचार्य श्री तुलसी युग प्रवर्तन का काम कर रहे है। शास्त्रागम को ग्रन्थवाद से उभार कर निर्ग्रन्थता प्रदान की है। वेशभूषा से वे जैनाचार्य है किन्तु आन्तरिक निर्मलता और संवेदन की क्षमता से सभी मत और सभी वर्गों के आत्मीय बन गए है।

डॉ० शिवमगल सिंह 'सुमन' ने कहा—आचार्य श्री तुलसी की उदात्त भावनाओ से हम सभी परिचित हैं। आज सम्पूर्ण मानव-जाति आपके सद्

वचनों से लाभान्वित हो रही है।

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टन्डन, गांधीवादी विचारक काका कालेलकर, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा आदि राजनेता, समाजशास्त्री, कवि, साहित्यकार आपके कार्यों एव विचारो से प्रभावित हुए हैं। तथा आगामी कार्यो के प्रति उन्होने समय-समय पर शुभ कामनाएं एव आशाए प्रकट की हैं।

साहित्य

साहित्य जगत मे आचार्यश्री तुलसी की सेवाए अनुपम हैं। वे कई भाषाओ के विद्वान् है। उन्होने सस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी तीनो भाषाओ में उच्च कोटि के ग्रन्थो की रचना की है। वे सिद्धहस्त कवि हैं। राजस्थानी भाषा मे उनकी कई सरस रचनाए है। कई काव्यग्रन्थ है। अध्यात्म, दर्शन न्याय आदि विषयो पर सारगर्भित विपुल सामग्री आपके ग्रन्थो मे मिलती है।

'जैन सिद्धान्त दीपिका', भिक्षुन्यायकर्णिका, मनोनुशासनम, 'पञ्च-सूत्रम्' ये सस्कृत के ग्रन्थ है, इनमे सिद्धात, न्याय तथा योग विषयक सामग्री उपलब्ध है।

'कालू यशोविलास' पूज्य कालूगणी के जीवन पर रचा गया राजस्थानी गेय काव्य है। इसकी रचना मे लेखक का महान् शब्दशिल्पी रूप निखर कर आया है। विषय वर्णन शैली बेजोड़ है। माणक-महिमा, डालम-चरित्र और मगन-चरित्र आदि काव्य ग्रन्थो में आचार्यो एव विशिष्ट मुनियो का जीवन चरित्र है। भरत-मुक्ति, आषाढ-भूति, अग्नि परीक्षा मे आचार्यश्री की काव्य प्रतिभा प्रतिबिम्बित है।

अणुव्रत-गीत, नन्दन-निकुञ्ज, सोमरस, चन्दन की चुटकी भली—ये चारो हिन्दी एवं राजस्थानी की पद्य रचनाए है।

मुक्तिपथ, विचार-दीर्घा, उद्बोधन अतीत का अनावरण, अनागत का स्वागत, प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा, भगवान् महावीर, बीती नाहि विसारि दे, बूद भी लहर भी, खोए सो पाए, क्या धर्म बुद्धि गम्य है? धर्म एक कसौटी एक रेखा, मेरा धर्म केन्द्र और परिधि, बूद-बूद से घट भरे, अणुव्रत के आलोक मे, अणुव्रत के सदर्भ मे, कालू तत्व शतक, प्रज्ञापुरुष जयाचार्य, महा मनस्वी आचार्यश्री कालूगणी अणुव्रत साहित्य, योग विषयक साहित्य आदि हिन्दी भाषा की अनेक मौलिक रचनाए है जो अध्यात्म, धर्म, दर्शन सिद्धात और जीवन-विज्ञान से सम्बन्धित है।

"जैन तत्त्व विद्या" जैन तत्त्व ज्ञान विषयक उत्तम कृति है। इसमें जैन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या है। जैन ज्ञानामृत से परिपूरित यह कृति अमृत पुरुष आचार्य श्री तुलसी की सद्यस्क रचना है जो इसी अमृत-महोत्सव वर्ष मे प्रकाशित हुई है। तत्त्व रसिक पाठको की ज्ञान वृद्धि में यह कृति सहायक है।

साहित्य जगत् को आचार्यश्री तुलसी की सबसे महत्त्वपूर्ण देन आगम-वाचना है। आगम साहित्य का टिप्पण, सस्कृत छाया सहित आधुनिक सदर्भ में सुसम्पादन और उसके अनुवाद का कार्य आगम-वाचना प्रमुख आचार्यश्री तुलसी के निर्देशन मे सुव्यवस्थित चल रहा है। निर्मल प्रज्ञा के धनी, प्रकाण्ड विद्वान् एव गंभीर दार्शनिक मुनिश्री नथमलजी (वर्तमान मे युवाचार्य महाप्रज्ञ) आगम ग्रन्थो के सम्पादक और विवेचक हैं। अब तक आगम संबंधी विपुल साहित्य जनता के हाथो पहुंच गया है। कई पुस्तकें मुद्रणाधीन हैं, और कई पुस्तकों की पाण्डुलिपिया तैयार हो चुकी हैं।

आचार्यश्री तुलसी की सृजन क्षमता ने विपुल साहित्य के सृजन के साथ अनेक साहित्यकारो का निर्माण किया है।

तुलसी-प्रभा, श्री भिक्षु शब्दानुशासन की लघुवृत्ति, तुलसी मजरी, जैन न्याय का विकास, जैन दर्शन मनन और मीमासा, भिक्षु विचार दर्शन, घट-घट दीप जले, श्रमण महावीर, जैन परम्परा का इतिहास, जीव-अजीव, तेरापथ का इतिहास, अपने प्रश्न अपने उत्तर, नीव के पत्थर, शब्दो की वेदी अनुभव के दीप, शान्ति की खोज, दक्षिण के अञ्चल मे, महक उठी मरुधर माटी निर्माण का पथ, जैन कथा कोष, उडिसा में जैन धर्म, विश्व प्रहेलिका एतत् प्रकार का अन्य मौलिक साहित्य, कथा साहित्य, योग साहित्य, प्रेक्षा साहित्य, काव्य साहित्य, मुक्तक साहित्य, शोध निबन्ध, सगीत कला, कोप विज्ञान, एकांगी, गद्य, पद्य, एकाह्निक पचशती, तेरह घटो मे एक सहस्र श्लोक-रचना, आदि लघुकाय एव बृहद् काय ग्रन्थ, तेरापथ धर्मसघ के साहित्यकार मुनियों एव साध्वियो द्वारा तैयार किए गए हैं।

निरुक्तकोप, एकार्थककोष, आदि कोप ग्रंथो का सृजन साध्वियो, समणियो द्वारा हुआ है, जो नारी प्रतिभा की क्षमताओ का प्रकट कर रहा है। इन क्षमताओ को उजागर करने में अनन्य प्रेरणा स्रोत—आचार्यश्री तुलसी हैं। महिला वर्ग के द्वारा कोष ग्रथो की रचना, इतिहास की असाधारण घटना है।

मुनियो एव साध्वियों द्वारा सौ, पाच सौ, सहस्राधिक तक अवधानो

की प्रस्तुति से स्मरण शक्ति के प्रभावक प्रयोग आचार्यश्री तुलसी के शासन-काल के नए कीर्तिमान हैं।

स्मरण शक्ति के चमत्कार और अवधान विद्या के सम्बन्ध में कई लघु रचनाएं भी अवधानकार सन्तो द्वारा निर्मित हैं। स्मृति विकास के लिए उत्सुक व्यक्तियो के मार्गदर्शन मे ये लघु कृतिया सहायक बन सकती हैं। आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल का समग्र साहित्य सरस्वती का विशाल भडार है।

व्यक्तित्व के बिन्दु

बालक तुलसी मे ग्यारह वर्ष की अवस्था मे मुनि तुलसी के रूप मे परिवर्तन, बाईस वर्ष की अवस्था मे आचार्य पदारोहण, सघ सचालन की दिशा मे स्वभगिनी स्वर्गीया साध्वीश्री लाडाजी की एव वर्तमान मे विदुषी साध्वीश्री कनकप्रभाजी की साध्वी-प्रमुखा पद पर नियुक्ति, धर्मशासन की प्रभावना मे बहुमुखी प्रयास, चौंतीस वर्ष की अवस्था मे अणुव्रत आन्दोलन के रूप मे मानव जागरण का अभियान, नैतिक भागीरथी का प्रवाहित करने के लिए ससघ इस महायायावर की सहस्रो मील की पद-यात्राए, आचार्यकाल के पच्चीस वर्ष सम्पन्न होने के उपलक्ष मे डा० सर्व पल्ली राधाकृष्णन द्वारा सम्मान स्वरूप उन्हे तुलसी अभिनन्दन ग्रंथ का समर्पण, दक्षिणाचल की चतुर्वर्षीय सुदीर्घ यात्रा की सम्पन्नता पर वी० नि० २४६७ (वि० स० २०२७) मे विशाल जनसमूह के बीच युगप्रधान के रूप मे उनका सम्मान, भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी गिरि द्वारा इस अवसर पर विशेष संदेश-प्रदान, यूनस्को के डाइरेक्टर लूथर इवेन्स, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ बेकननाम आदि विदेशी व्यक्तियो द्वारा उनकी नीति का समर्थन, मैक्समूलर भवन के डायरेक्टर जर्मन विद्वान् होमियारांड द्वारा विदेश-पदार्पण के लिए आमन्त्रण, अमेरिकन युवक जिम मोरगिन द्वारा सात दिन के लिए मुनिकल्प जैन दीक्षा का स्वीकरण, शिक्षा, शोध साधना की सगमस्थली जैन विश्व भारती, अणुव्रत विश्व भारती के माध्यम से भगवान महावीर के दर्शन का सर्वतोभावेन उन्नयन तथा विस्तार, ई० सन् १९७५ जयपुर, लाडनू मे प्रेक्षाध्यान विधि का प्रारम्भ, ई० सन् १९८० लाडनू मे जीवन-विज्ञान एव समण-दीक्षा के रूप मे नए आयामो का उद्घाटन, उदयपुर मे सन् १९८६ मे राजस्थान यूनीवर्सिटी की ओर से 'भारत-ज्योति' का अलकरण, निस्सदेह श्रमण परम्परा के सबल प्रतिनिधि, आधुनिक युग के महर्षि, भारतीय सस्कृति के प्राण, स्वस्थ परम्परा

के संवाहक, प्रकाश स्तम्भ, आगम-वाचना प्रमुख जैन श्वेताम्बर तेरापथ धर्मसघ के आचार्यश्री तुलसी के असाधारण व्यक्तित्व, नेतृत्व एवं उनके प्रगतिगामी कर्तृत्व के परिचायक है।

प्रसन्नचेता, अध्यात्म साधक, क्रान्तदर्शी, मानवीय मूल्यो के प्रतिष्ठापक युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी का जीवन विभिन्न अनुभूतियो से अनुबद्ध एक महाकाव्य है। इसका प्रत्येक सर्ग साहस और अभय की कहानी है। हर सर्ग का प्रत्येक श्लोक अहिसा तथा मैत्री का छलकता निर्झर है तथा हर श्लोक की प्रत्येक पक्ति शौर्य, औदार्य एव माधुर्य की उभरती रेखा है।

वर्तमान मे आचार्यश्री तुलसी का पचास वर्षीय आचार्यकाल विविध उपलब्धियो को संजाये मानवता एव आध्यात्मिकता का एक प्रेरक अध्याय है।

आचार्यश्री तुलसी ने आचार्यकाल मे विष पिया है और अमृत बाटा है। अपनी अमृतमयी वाग् धारा से मानवता के उपवन को सिंचन देकर उसे सरसब्ज बनाया है। अमृत पुरुष के सर्वव्यापी कल्याणकारी कार्यों के उपलक्ष मे अमृत-महोत्सव समारोह व्यापक स्तर पर मनाया जा रहा है। दहेज उन्मूलन, अस्पृश्यता निवारण, मद्यपान निषेध, मिलावट परित्याग एव भावनात्मक एकता—इन पाच प्रतिज्ञाओ का सकल्प पत्र भरा कर देशभर मे एक स्वस्थ वातावरण बनाने का सशक्त प्रयत्न किया जा रहा है। आचार्यश्री का यह अभिनदन मानवता का अभिनंदन है, अध्यात्म का अभिनदन है, एव त्याग तपोमयी भारतीय सस्कृति का अभिनदन है।

१५१. विद्वद्रत्न आचार्य विमलसागर

प्रभावक आचार्यों की परपरा मे अब विमलसागर जी का नाम प्रस्तुत किया जा रहा है। विमलसागर जी दिगबर परपरा के विद्वान् आचार्य हैं। अपने संघ सचालन के दायित्व वहन के साथ धर्म-प्रचार कार्य मे वे प्रवृत्त है। ध्यान-साधना मे उनकी जागरूकता भक्त जनो के लिए विशेष प्रेरक है।

गुरु-परंपरा

वर्तमान सपूर्ण दिगबर जैन मुनि सघ मूलत अपनी गुरु-परपरा का सबध शातिसागर जी के साथ स्थापित करते है। विमलसागरजी भी उसी गुरु-परपरा से सम्बन्धित हैं। इनकी दीक्षा आचार्य महावीर कीर्ति द्वारा सपन्न हुई थी।

जन्म एवं परिवार

विमलसागर जी का जन्म वी० नि० २४४३ (वि० स० १९७३) आश्विन कृष्णा सप्तमी को कोसमा ग्राम मे हुआ। इनका जन्म नाम नेमिचंद्र रखा गया। इनके पिता का नाम बिहारीलाल जी है।

जीवन-वृत्त

बालक नेमिचद्र को मा का प्यार अल्प समय के लिए ही प्राप्त हुआ था। जन्म के छह मास बाद ही प्रिय मा का देहावसान हो गया। पिता बिहारीलाल जी ने मा की सी ममता और पिता का वात्सल्य देकर पुत्र का पालन-पोषण किया। धार्मिक सस्कार दिए। स्वस्थ वातावरण मे बालक नेमिचद्र के जीवन का विकास विविध रूपो मे हुआ। पढने मे भी बालक की विशेष रूचि थी। अत· शिक्षण के क्षेत्र मे अध्ययन का स्तर बढता गया। मोरेना विद्यालय मे शास्त्री परीक्षा में प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होकर शिक्षार्थी नेमीचंद्र ने अपने जीवन मे सफलता प्राप्त की। उसके बाद लोग शिक्षार्थी नेमिचद्र को पण्डित नेमिचद्र शास्त्री से संबोधित करने लगे। अध्ययन के साथ अध्यात्म के प्रति भी उनकी रुचि दिन-प्रतिदिन बढती गई। वे सासारिक प्रवृत्तियो में उदासीन रहते थे। आचार्य चद्रसागर जी के सपर्क मे आकर उन्होने कई

प्रतिज्ञाए ग्रहण की। आचार्य वीरसागरजी के संपर्क मे उन्होने प्रतिमा व्रत स्वीकार किया। सहज वैराग्य वृत्ति से प्रेरित होकर उन्होने आचार्य महा-कीर्तिजी के पास वी० नि० २४७७ (वि० २००७) में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। क्षुल्लक साधना जीवन मे उनका नाम वृषभ सागर रखा गया। सात महीने बाद उन्होने एलक दीक्षा ग्रहण की। इस समय इनका नाम सुधर्मसागर रखा गया।

एलक साधना के बाद उन्होने वी० २४७९ (वि० स० २००९) फाल्गुन शुक्ला नवमी को आचार्य महावीरकीर्तिजी से निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ग्रहण की। इस समय इनका नाम विमलसागरजी हुआ।

विमलसागर जी मुनिचर्या के नियमो का दृढता से पालन करते रहे हैं। इनके सामने आहार आदि विधि मे तथा अन्य साधना की प्रवृत्तियो मे कई कठिनाइया भी उपस्थित हुई। पर वे समता से सब स्थितियो को पार करते रहे। मुनि जीवन मे पावापुरी, इदौर आदि क्षेत्रो मे विमलसागर जी ने चातुर्मास किए और कई दीक्षाए इनके द्वारा सपन्न हुई।

विमलसागरजी के गुणो से प्रभावित होकर वी० नि० २४८८ (वि० २०१८) मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया के दिन आचार्य महावीरकीर्तिजी के आदेश से धर्म-संघ ने उनको आचार्य पद से अलकृत किया।

विमलसागर जी के जीवन मे कई विशेषताए हैं। वे संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, प्राकृत भाषा के विद्वान् हैं। निमित्त-विद्या एव सामुद्रिक-विद्या के भी ये ज्ञाता हैं। वे अपने सपर्क मे आने वाले व्यक्तियो को सरल भाषा मे उद्‌बोध देते हैं एव अनेकांत शैली से अपने विषय का विश्लेषण करते हैं। ध्यान-साधना के समय एक आसन मे बैठकर वे घटो ध्यान करते हैं। समय-समय पर अनेक प्रकार के तप एव व्रतोपवास भी करते हैं और त्याग-तप के लिए अन्य साधकों को भी प्रेरित करते रहते हैं।

उपाध्याय भरतसागरजी, मुनि अरहसागरजी, संभवसागरजी, श्रमण-सागरजी आदि मुनि गण नदामतीजी, आदिमती, स्याद्वादमतीजी आदि आर्यि-काए तथा क्षुल्लकश्री सन्मतिसागरजी, अनेकातसागरजी आदि विमलसागरजी के शिष्य परिवार मे से हैं।

विमलसागरजी द्वारा दीक्षित सुमतिसागरजी भी एक विशिष्ट आचार्य हैं। इनके द्वारा भी कई मुनि दीक्षाए, आर्यिका दीक्षाए, एलक दीक्षाए, क्षुल्लक एव क्षुल्लिका दीक्षाए सपन्न हुई।

आचार्य विमलसागर जी स्वर्गीय महावीरकीर्तिजी के पट्ट पर विराजमान हैं। वे धर्म-सघ के दायित्व का सफलतापूर्वक वहन करते हुए धर्म-साधना के विविध रूपो को उजागर कर रहे है। उनका शिष्यगण भी धर्म-प्रचार कार्य मे विशेष प्रवृत्त हैं।

१५२. प्रेक्षापुरुष युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन श्वेताम्बर तेरापथ धर्म-सघ मे प्रज्ञापुरुष श्री महाप्रज्ञजी युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी के वे उत्तराधिकारी है। प्रज्ञा और योग का उनके व्यक्तित्व मे अपूर्व समन्वय है। वे दार्शनिक है, कवि है, साहित्यकार हैं एव प्रेक्षा-ध्यान पद्धति के अनुसधाता तथा विशिष्ट प्रयोक्ता है। राष्ट्रकवि रामधारीसिह 'दिनकर" के शब्दो मे वे अपने युग के 'विवेकानद' है।

गुरु-परम्परा

महाप्रज्ञश्री का दीक्षा-सस्कार तेरापथ धर्म-सघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी द्वारा हुआ। ज्ञानार्जन की दिशा मे विकास, आपने कालूगणी के निर्देशन मे एव आचार्यश्री तुलसी के उपपात मे किया अत आपके दीक्षागुरु श्री कालूगणी और शिक्षागुरु आचार्य श्री तुलसी है। पूववर्ती गुरु-परपरा के क्रम मे आचार्यश्री तुलसी की जो गुरु-परपरा है वही युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी की गुरु-परपरा रही है।

जन्म एवं परिवार

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जन्म वी० नि० २४४७ (वि० स० १९७७) आषाढ कृष्णा त्रयोदशी को राजस्थानान्तंगत 'टमकार' ग्राम के चोरडिया परिवार मे हुआ। आपके पिताश्री का नाम तोलाराम जी एव मातुश्री का नाम बालूजी था। आपकी बडी बहिन का नाम मालूजी हैं। इनकी दीक्षा आपकी दीक्षा के बाद हुई। आपका गृहस्थ जीवन का नाम नथमल था।

जीवन-वृत्त

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ लगभग दस वर्ष गृहस्थ जीवन मे रहे। पिता श्री तोलारामजी का साया जल्दी ही उनके सिर पर से उठ गया था। मा की धार्मिक वृत्तियो से बालक मे भी धार्मिक चेतना का जागरण हुआ। प्रबल वैराग्य भावना ने बालक को सयम पथ की ओर बढने के लिए उत्सुक बना दिया। आचार्यश्री कालूगणी जी के कर-कमलो द्वारा (वी० नि० २४५७

वि० स० १९८७) माघ शुक्ला दशमी के दिन सरदारशहर मे मातुश्री बालू जी के साथ आपने मुनि दीक्षा ग्रहण की।

सयमी जीवन मे आप मुनिश्री नथमल जी के नाम से पहचाने जाने लगे। सौम्य आकृति, सरल स्वभाव और मृदुवाणी के कारण आप सबके प्रिय बनते गए। परम पूज्य गुरुदेव कालूगणी का असाधारण वात्सल्य आप पर था। आपका अध्ययन पूज्य कालूगणी के निर्देश मे मुनिवर 'तुलसी' (वर्तमान आचार्य श्री) के सन्निधि में प्रारंभ हुआ। मुनि तुलसी एक कुशल शिक्षक थे। उनके पास कई बाल मुनि अध्ययन करते थे। मुनि नथमलजी, शिक्षक तुलसी मुनि की कक्षा के मेधावी छात्र थे। आपकी सद्यग्राही प्रज्ञा विविध विषयात्मक ज्ञान ग्रहण करने मे सक्षम सिद्ध हुई। आगम अध्ययन की गभीरता के साथ दर्शन, न्याय, व्याकरण आदि विविध विषयो पर आपने आधिपत्य प्राप्त किया। भारत के धुरधर विद्वानो मे आज आपका अग्रिम स्थान है। प्राकृत, सस्कृत और हिन्दी—इन तीनो भाषाओं पर आपका असाधारण प्रभुत्व है।

बम्बई मे एक बार आपका प्राकृत भाषा मे बीस मिनट तक प्रवचन हुआ। प्रवचन के पश्चात् पेनेस्लेविया युनिवर्सिटी के सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० नार्मन ब्राउन ने कहा—"आज भगवान् महावीर की मूल वाणी प्राकृत मे मुनि जी से सुनकर मै अत्यन्त प्रसन्न हूं। मेरी भारत यात्रा सफल हुई है।"

पूना मे सस्कृत वाग्वर्धिनी सभा, तिलक विद्यापीठ आदि केन्द्रो मे एव विद्वद् गोष्ठियो मे युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ जी के सस्कृत तथा हिन्दी मे प्रवचन हुए। आशु कविताए भी हुई। आपके प्रकाण्ड वैदुष्य से सभी प्रभावित थे। विद्वानो की अनुभूति थी—"आचार्यश्री तुलसी ने एक महामनीषी तैयार किया है।"

बनारस के सस्कृत महाविद्यालय मे स्याद्वाद जैसे गम्भीर विषय पर आपका एक घटे तक सस्कृत मे वक्तव्य हुआ। तत्काल प्रदत्त विषय पर आपने आशु कविताए रची। प्रश्नोत्तरों का कार्यक्रम भी सस्कृत मे चला। आपकी अस्खलित, परिष्कृत, अलकार मण्डित संस्कृत भाषा को सुनकर वहा के पडित, प्राध्यापक आदि मंत्र-मुग्ध हो गए थे।

आप जैसे मनीषी का आश्रय पाकर सुरभारती स्वय मडित हुई है एवं प्राकृत के प्राण पुलक उठे हैं।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी के जीवन मे अनेक क्षमताए है। भारतीय वाङ्गमय के आप विशिष्ट अध्येता है। दर्शन के आप गम्भीर विद्वान् है।

विभिन्न दार्शनिक धाराओ से परिचित होकर आपने जैन दर्शन को नवीन शैली मे प्रस्तुत किया। आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान की व्याख्याओं मे भी दर्शन का स्वर मुखरित होता हुआ अनुभूत होता है। विशुद्ध अध्यात्म रूप का विवेचन भी दर्शन की शैली मे प्रस्तुत कर आपने चिंतन के नए आयामो का उद्घाटन किया है।

आपके भीतर प्रज्ञा का जागरण हुआ है। आपकी प्रज्ञा अध्यात्म से मबधित है। आपकी अन्तर्मुखी दिव्य दृष्टि ने जीवन की समस्याओ का ममाधान भीतर मे पाया है। मानव को आपने इस दिशा मे प्रेरित किया है।

भगवान् महावीर की वाणी आगम-ग्रथो मे सुरक्षित है। आगम-ज्ञान के प्रति आपकी गहरी निष्ठा है, पर आपका चिन्तन परम्परा से आबद्ध नही है। आपने आगम सूत्रो की व्याख्याए भी वैज्ञानिक एव आधुनिक सन्दर्भ मे की है।

विद्वत्ता के साथ विनम्रता का योग आपके जीवन मे मणि काचन सयोग है। समर्पण का भाव आपके जीवन की असाधारण विशेषता है। आपका समर्पण अपने प्रति है, अपने सकल्पो के प्रति और अपने गुरु के प्रति है। अपने गुरु आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व मे आपने अपने स्व को पूर्णत समाहित कर दिया। यह समर्पण ही आपके जीवन विकास मे नाना रूपो मे प्रगट हुआ है। गुरु शिष्य के बीच मे इस प्रकार की अभेद भूमिका का निर्माण आधुनिक युग का आश्चर्य है।

तेरापथ धर्मसघ मे आचार्यश्री तुलसी ने अनेक नए उन्मेप दिए है उनमे आपका असाधारण योगदान रहा है। गुरु के प्रत्येक निर्देश को क्रियान्वित करने मे एव गुरु द्वारा प्रारम्भ किए हुए कार्य को उत्कर्ष के बिन्दु तक पहुचाने मे आप सदा प्रस्तुत रहते हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने वि० सं० २००५ मे अणुव्रत आन्दोलन को प्रारम्भ किया। अणुव्रत के सम्बन्ध मे सैद्धान्तिक भूमिका पर समाज मे कई चर्चाए थी, युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी (मुनिश्री नथमलजी) ने आगमिक आधार पर युगीन भाषा मे अणुव्रतो के स्वरूप की प्रस्तुति की तथा एतद् विषयक साहित्यक की रचना कर नैतिक मन्दाकिनी को प्रवाह दिया।

आचार्यश्री तुलसी के आगम-वाचना के कार्य मे युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अनुपम श्रमदान है। आगमो का आधुनिक रूप से सम्पादन जिस रूप मे आपने किया है वह आज मे सहस्रो वर्ष पूर्व होने वाली देवर्द्धिगणी की आगम

साधना का स्मरण कराता है ।

आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रदत्त अध्यात्म सूत्रों पर आपकी वैज्ञानिक व्याख्याएं विशेष प्रभावकारी हैं। आचार्य भिक्षु के विचारों के भाष्यकार जयाचार्य थे । आचार्यश्री तुलसी के भाष्यकार युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी हैं ।

तेरापथ धर्मसंघ के अन्तरंग कार्यक्रमों मे भी समय-समय पर आचार्य देव के समक्ष आप अपने विचार प्रकट करते रहे हैं ।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जो अपने आराध्यदेव आचार्य तुलसी से पाया है उसे सहस्र गुणित कर जग को बांटा है । आगम की भाषा मे आप महाप्रज्ञ हैं । गीता की भाषा मे आप स्थितप्रज्ञ हैं । आपके चिन्तन ने युग की धारा को नया मोड दिया है । शिक्षा, साधना, साहित्य तीनो क्षेत्रो मे आपने नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं ।

आपकी निर्मल प्रज्ञा, चरित्रनिष्ठा एवं समर्पण भाव से प्रभावित होकर आचार्यश्री तुलसी ने आपको वी० नि० २४९२ (वि० २०२२) माघ शुक्ला सप्तमी को हिसार मे निकाय सचिव के गरिमामय पद से विभूषित किया था ।

गंगाशहर चातुर्मास मे वी० नि० २५०५ (वि० सं० २०३५, ईस्वी सन् १९७८ नवम्बर) कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन आपको गुरुदेव ने 'महाप्रज्ञ' के अलकरण से अलंकृत किया था ।

राजलदेसर मर्यादा-महोत्सव के प्रसग पर वी० नि० २५०४ (वि० २०३५ ईस्वी सन् १९७९, फरवरी ३) मे आपकी नियुक्ति युवाचार्य जैसे विशिष्ट पद पर हुई ।

महाप्रज्ञजी की उत्तराधिकारी के रूप मे घोषणा से समग्र समाज मे हर्ष की लहर दौड गई । आप महान् आचार्य के महान् उत्तराधिकारी हुए ।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के वर्चस्वी विद्वान् उपाध्याय अमरमुनिजी ने लिखा है—

'आचार्य श्री तुलसीजी ने युवाचार्य के रूप मे योग्य पद पर योग्य मुनि का चयन किया है, यह चयन केवल तेरापथ के सम्प्रदाय के हित मे ही नही, समग्र जैन समाज के हित मे फलप्रद होगा, ऐसा मुझे उनके निरन्तर उज्ज्वल होते जाते भविष्य पर से प्रतिभाषित होता है। मेरी हार्दिक शुभ-कामनाएं मुनिश्री जी के साथ हैं ।'

इस नियुक्ति पर जैन विद्वान् दलसुखभाई मालवणिया ने कहा है—

'आचार्यश्री तुलसी ने योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर नियुक्त किया है।'

युवाचार्यश्री की प्रलम्बमान बाहु-युगल, लम्बा कद, दीप्तिमान चेहरा और दोनों नयनो के भीतर से झांकती गम्भीर दृष्टि दर्शको को प्रथम दर्शन में ही प्रभावित कर लेती है।

आपने अपने दायित्व को कुशलतापूर्वक संभाला है एव संघ का विश्वास प्राप्त किया है।

कुशल अनुशासक वही हो सकता है जो अनुशासन मे ढलना भी जानते हैं। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस कला मे कुशल हैं। आचार्यश्री तुलसी ने उनको जिस रूप मे ढालना चाहा वे ढले है। जैसा बनाना चाहे वे बने हैं।

युवाचार्यश्री की सृजनशीलता, ग्रहण शक्ति और अपने आराध्य के प्रति तादात्म्यभाव ने आपको महाप्रज्ञ एव युवाचार्य की भूमिका तक पहुंचाया है।

आपके व्यक्तित्व मे कई विशेषताए एक साथ स्फुरित हैं। आप महान् संत, योग साधक, उच्चकोटि के विद्वान्, मनीषी, साहित्यकार, प्रभावशाली वक्ता हैं।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी के साहित्यकार के रूप से सभी परिचित हैं। आपका अन्तरंग रूप विशिष्ट साधक का है। आप वर्षों से योग और ध्यान की साधना मे संलग्न है। आपने अपने जीवन मे साधना के विशेष प्रयोग किए हैं। आपकी सुदीर्घकालीन साधना और स्वानुभूति की निष्पत्ति है—प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान।

प्रेक्षाध्यान अपने जीवन के प्रति जागरूकता है और स्वस्थ जीवन दिशा का सम्बोध है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगो से अपने भीतरी रूप का कायाकल्प हो जाता है तथा असाध्य रोगों एव तनावो से मुक्त होकर अपने आप मे व्यक्ति अमित शान्ति का अनुभव करने लगता है।

आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य मे एवं युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी के मार्ग-दर्शन मे लगभग शतकार्ध साधना शिविर आयोजित हो चुके हैं। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रिंसिपल, प्रोफेसर आदि बौद्धिक वर्ग के लोग तथा सहस्रो की संख्या मे सामान्य जन भी इन साधना शिविरो से लाभान्वित हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अणुवैज्ञानिक भाभा अनुसंधान केन्द्र के अध्यक्ष राजा रमन्ना ने भी दिल्ली स्थित अणुव्रत भवन मे कई बार प्रेक्षाध्यान के प्रयोग किए हैं।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन-विज्ञान के रूप मे एक और नया उन्मेष मानव समाज को दिया है। जीवन-विज्ञान के प्रयोग व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है। आज के शैक्षणिक जगत् की समस्याओ का समाधान जीवन-विज्ञान के प्रयोगो मे सम्भव है।

प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान के रूप मे युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी की मानव समाज को विशिष्ट देन है।

जैन विश्व भारती के शोध, साहित्य, शिक्षा और साधना की विभिन्न अध्यात्म प्रवृत्तियो मे युवाचार्यश्री का व्यक्तित्व और कर्तृत्व मुखरित है।

तेरापथ धर्मसघ के बाह्य और अन्तरग विकास मे जो आपका श्रमदान रहा है वह शब्दातीत है।

तेरापंथ धर्मसघ के सगठन को सुदृढ बनाने मे भी आप सदा प्रयत्नशील रहे हैं। समय-समय पर नए-नए उन्मेष देकर इस सघ को शक्ति-सम्पन्न बनाया है। आपकी दृष्टि मे शक्ति-सम्पन्न होना ही अनेक समस्याओ का स्वत समाधान है।

साध्वी समाज ने आपकी ज्ञानाराधना से और आपके मार्गदर्शन से जो पाया है वह अनिर्वचनीय है।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी ध्यान और योग के माध्यम से अन्तर की गहन गहराइयो मे उतरे है। उन्होने बाह्य जगत् मे भी पदयात्राओ के द्वारा दूर-दूर तक धरा पर अपने पद-चिह्न अकित किए हैं। आचार्यश्री तुलसी के साथ युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कलकत्ता से कन्याकुमारी तक की धरती को अपने पैरो से मापा है। इन यात्राओ मे विद्वान्, नेता, किसान, मजदूर आदि सभी वर्गों के लोग आपके सम्पर्क मे आए। आपने उनकी जीवनगत समस्याओ को सुना है, समझा है उनकी कठिनाइयो एव विवशताओ का अनुभव किया है एव मनोवैज्ञानिक ढग से उनकी समस्याओ को समाहित कर स्वस्थ एव नैतिक जीवन जीने का सबोध दिया है।

साहित्य

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ जी वर्षो से प्रबुद्ध लेखक के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी भाषा मे शताधिक ग्रन्थो की रचना की। आपके कई ग्रन्थो का अग्रेजी, गुजराती भाषा मे अनुवाद हुआ है। आपकी शैली सूत्रात्मक है और विश्लेषणात्मक भी है। विषय का विवेचन मौलिक है, तलस्पर्शी है और आगम सम्मत है। छोटे-छोटे वाक्यो मे आप गहरी

और मार्मिक बात लिख देते है । आपमे बहुमुखी प्रतिभा का विकास है । साहित्य की विविध विधाओ मे आपकी लेखनी निर्बाध चली है ।

अश्रुवीणा, मुकुलम्, सम्बोधि आदि आपकी संस्कृत रचनाए हैं ।

अश्रुवीणा काव्य को पढते समय कवि कालिदास और माघ की स्मृति हो जाती है । 'मुकुलम्' सस्कृत गद्य रचना है । उसकी भाषा अत्यन्त सरस और सरल है । नवीन धातुओ के प्रयोग पाठक को विशेष प्रभावित करते हैं । सम्बोधि मे अध्यात्म विषयक नाना शिक्षाए है । यह जैन दर्शन की आधुनिक गीता है ।

संस्कृत भाषा मे आपकी आशु कविताए तुला-अतुला मे संकलित हैं उनमे कई कविताए चामत्कारिक हे । आशुकविताओ मे आपकी प्रत्युत्पन्न एव कल्पनाशील मेधा के दर्शन होते हैं ।

'तुलसी मञ्जरी' (प्राकृत व्याकरण) आपकी रचना है । इस व्याकरण की सूत्र रचना सरल हे । प्राकृत भाषा मे प्रवेश पाने के लिए यह पुस्तक उपयोगी है ।

जैन परम्परा का इतिहास, जैन दर्शन मनन और मीमासा, अहिंसा तत्त्व दर्शन, घट-घट दीप जले, जैन न्याय का विकास आदि ग्रन्थो मे इतिहास न्याय और दर्शन का दिग्दर्शन हे ।

श्रमण भगवान् महावीर—इसमे तीर्थंकर महावीर के उपदेशो की वर्तमान सन्दर्भ मे प्रस्तुति है । तीर्थंकर महावीर के जीवन चरित्र से सम्बधित कई ग्रन्थ है उनमे प्रामाणिक स्रोतो के आधार पर लिखी गई यह पहली पुस्तक है ।

'भिक्षु विचार दर्शन' ग्रन्थ मे तेरापथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जीवन चरित्र तथा तेरापथ दर्शन, दान, दया, अहिंसा, सघ, संगठन और मर्यादाओ का विस्तार से विवेचन है ।

आपके द्वारा लिखित अणुव्रत साहित्य अणुव्रत के उद्देश्यो को समझने मे सहायक है ।

जैन योग, किसने कहा मन चचल है, मन के जीते जीत, चेतना का ऊर्ध्वारोहण, अप्पाण सरण गच्छामि, एकला चलो रे, कैसे सोचे, मैं कुछ होना चाहता हू, तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, एसो पंच णमुक्कारो, उत्तरदायी कौन? मन का कायाकल्प, आभामण्डल, आदि ग्रन्थो में योग और ध्यान सम्बन्धी विस्तृत सामग्री उपलब्ध है । आधुनिक शैली और वैज्ञानिक तथ्यो के परि-

प्रेक्ष्य में लिखे गए ये ग्रंथ विशेष लोकप्रिय हैं।

आपके ग्रंथ साहित्य-जगत् की अमूल्य निधि है। आपकी कुशल लेखिनी से अनेक नए तथ्य अनावृत हुए हैं।

जैन ग्रंथों मे अर्हत्वाणी का वैज्ञानिक विश्लेषण, आगम ग्रंथो का आधुनिक सम्पादन, विविध विषयो पर तुलनात्मक शोध निबन्ध आपके भीतर की अलौकिक प्रज्ञा का आभास कराते हैं।

आपकी योग साहित्य मन्दाकिनी मे डुबकियां लगाने वाला व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है।

आपके सृजन से तेरापथ धर्म संघ लाभान्वित हुआ है, जैन समाज लाभान्वित हुआ है और सम्पूर्ण मानव जाति लाभान्वित हुई है।

१५३. विद्याभूषण एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी

आचार्य परम्परा मे विद्वान् एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी का अपना विशिष्ट स्थान है। विद्यानन्दजी संस्कृत, प्राकृत भाषा के विद्वान् है। उनकी हिन्दी भाषा भी परिष्कृत है। प्रवचन प्रभावशाली है।

गुरु-परम्परा

विद्यानन्दजी की मुनि दीक्षा आचार्य देशभूषणजी द्वारा हुई है। इनसे पूर्व गुरु-परम्परा मे जो आचार्य देशभूषण जी की है वही विद्यानन्द जी की है वर्तमान मे दिगम्बर मुनियो की मूलभूत परम्परा शान्तिसागर जी से सम्बन्धित है।

जन्म एवं परिवार

विद्यानन्दजी की जन्मभूमि कर्नाटक मे सेरवाल ग्राम है। उनका जन्म वी० नि० २४५२ (वि० स० १९८२, २२ अप्रैल १९२५) मे हुआ। पिता का नाम कालप्पा अन्नप्पा एवं माता का नाम सरस्वती है। गृहस्थ जीवन मे विद्यानन्दजी का नाम सुरेन्द्र था।

जीवन-वृत्त

विद्यानन्दजी बुद्धि सम्पन्न बालको मे से थे। इन्होंने युवावस्था मे वी० नि० २४७३, (वि० स० २००३ सन् १९४६) मे आचार्य महावीर-कीर्तिजी से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। क्षुल्लक दीक्षा मे युवक सुरेन्द्र का नाम पार्श्वकीर्ति रखा गया है। दिल्ली के सुभाष मैदान मे विशाल जन समुदाय के समक्ष क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति ने आचार्य देशभूषणजी द्वारा वी० नि० २४९० (वि० स० २०२०, २५ जुलाई १९६३) का मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन मे पार्श्वकीर्तिजी का नाम विद्यानन्द घोषित हुआ। उस समय विद्यानन्दजी की अवस्था लगभग ३८ वर्ष की थी।

विद्यानन्दजी ने धर्म प्रचारार्थ दूर-दूर तक की यात्राएं की है। हिमाच्छादित घाटियो मे भी वे पहुचे हैं। विद्यानन्दजी का एक चातुर्मास श्रीनगर मे भी हुआ है।

श्रवणबेलगोला की भूमि पर विद्यानन्दजी को सिद्धात चक्रवर्ती की उपाधि से अलंकृत किया गया। वर्तमान मे प्रकाण्ड विद्वान् विद्यानन्दजी एलाचार्य पद पर सुशोभित है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

आचार्य और उनकी जीवनी के आधारभूत ग्रन्थ

१ सुधर्मा—	१ आवश्यक निर्युक्ति विवरण पत्रांक ३३ मे ३४०
	२ आवश्यक चूर्णि पत्राक ३३४ से ३३६ तक
	३ विशेषावश्यक भाष्य
	४ विविध तीर्थकल्प पत्राक ७५ व ७६
	५. हरिवंश पुराण ६. श्रुतावतार
	७ तिलोय पण्णत्ति ८ जय धवला
२ जम्बू—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग २,३,४
	२ उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामीचरियं) पत्राक १२४ से १८५
३ प्रभव—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
	२ उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामीचरियं)
	३ पट्टावली समुच्चय (प्रथम भाग)
	४ दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति पत्र १० व ११
४. शय्यंभव—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
	२. दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति पत्रांक ६ से १८ व २८३, २८४
	३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १२ से १८ तक
५. यशोभद्र—	४. नन्दी स्थविरावली
	२. कल्पसूत्र स्थविरावली
	३. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

६. संभूत विजय—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८ २. उपदेशमाला दो घट्टी वृत्ति पत्रांक २३७, २३८, २४२ ३. लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा टीका पृ० ८५
७. भद्रबाहु—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६,८ २ आवश्यक चूर्णि भाग २पत्रांक १८७ ३. तित्थोगाली पइन्नय ७१४ से ८०२ ४ आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति
८ स्थूलभद्र—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८ २ उपदेशमाला दो घट्टी पत्रांक २३३ से २४३ ३ लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा टीका ७७ से ८६
९ महागिरि—	१ परिशिष्ट पर्व सर्ग ११
१०. सुहस्ती—	२ उपदेशमाला पत्रांक ३६९ व ३७० ३ निशीथ चूर्णि ४ कल्प-चूर्णि ५ बृहत्कल्प निर्युक्ति भाष्यवृत्ति ६ आवश्यक चूर्णि
११ बलिस्सह और	१ नंदी स्थविरावली
१२ गुणसुन्दर—	२. हिमवत ,, ३ कल्पसूत्र ,,
१३. सुस्थित और	१ कल्पसूत्र ,
१४. सुप्रतिबुद्ध—	२ हिमवत ,, ३. पट्टावली समुच्चय प्रथम भाग
१५. स्वाति—	१. नंदी स्थविरावली २. नंदी चूर्णि ३. नंदी टीका
१६ श्याम और	१. नंदी स्थविरावली

१७ षाडिल्य—	२ वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना
	३. विचार श्रेणी
	४ रत्नसचय प्रकरण, पत्र ३२
१८ इन्द्रदिन्न—	१ कल्पसूत्र स्थविरावली
१९ दिन्न—	२. कल्प सुबोधिका
२० सिंहगिरि—	३ प्रभावक चरित
	४ परिशिष्ट पर्व
२१ समुद्र—	१ नदी स्थविरावली
२२. मगु—	२ हिमवत ,,
२३ धर्म—	३ नदी चूर्णि
२४ भद्रगुप्त—	४. निशीथ चूर्णि
	५ आर्य मङ्गु कथा
	६ युगप्रधान पट्टावली
२५ कालक—	१. प्रभावक चरित पृ० २२ से २७
	२. निशीथ चूर्णि उ० १० से १६
	३ आवश्यक चूर्णि
	४. वृहत्कल्प भाष्य चूर्णि
	५. कल्पसूत्र चूर्णि पृ० ८९
	६ व्यवहार चूर्णि उ० १०
२६ खपुट—	१. प्रभावक चरित्र पृ० ३३ से ३६
	२. प्रबधकोश पत्राक ९ से १८
	३ निशीथ भाष्य चूर्णि
२७ पादलिप्त—	१ प्रभावक चरित पत्रांक २८
	२. प्रबध कोश पत्राक ११ से १४
	३. प्रबंध चिन्तामणि, पत्रांक ११९
	४. प्राकृत साहित्य का इतिहास पत्रांक ३७६, ३७७
२८. वज्रस्वामी—	१ आवश्यक चूर्णि पत्राक ३९० से ३९६
	२. प्रभावक चरित पत्रांक ३ से ८ तक

	३. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२
	४. उपदेशमाला विशेष वृत्ति पत्रांक २०६ से २२०
	५ आवश्यक मलयवृत्ति पत्रांक ३८१ से ३६१
२६. आर्य-रक्षित—	१ प्रभावक चरित पत्रांक ८ से १६
	२ परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
	३ आवश्यक चूर्णि पत्रांक ३६७ से ४१३
	४ लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा टीका पत्रांक ६६ से ६८
३०. दुर्बलिका पुष्यमित्र—	१ आवश्यक मलयवृत्ति द्वितीय भाग पृ० ३६८ व ४०२
	२. लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा टीका पृ० १६४ से १६५
	३ प्रभावक चरित पत्रांक १५ से १७
	४ आवश्यक चूर्णि पृ० ४०६ से ४१३
३१ वज्रसेन—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
	२ आवश्यक मलयवृत्ति द्वितीय भाग पृ० ३६५-३६६
	३ उपदेशमाला विशेष वृत्ति २१६ व २२०
३२. अर्हद्-बलि—	१ महाबंध प्रस्तावना
३३. धरसेन—	१ महाबंध प्रस्तावना
	२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पत्रांक २७८
३४. गुणधर—	१. प्राकृत साहित्य का इतिहास पत्रांक २६० से २६३
	२. कसाय पाहुड सुत्त प्रस्तावना
३५. पुष्पदन्त और	१. महाबंध प्रस्तावना
३६. भूतबलि—	२. प्राकृत साहित्य का इतिहास पत्रांक

	२७४ से २७७
	३ महापुराणा प्रस्तावना
३७ नदिल—	१ नदी स्थविरावली
३८ नागहस्ति—	२ नदी चूर्णि
३६. रेवती नक्षत्र—	३. नदी टीका
४० बहन दीपकसिह—	४ वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना
४१ स्कन्दिल—	१ नदी चूर्णि
४२ हिमवत—	२. हिमवत स्थविरावली
४३ नागार्जुन—	३ वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना
४४ उमास्वाति—	१ तत्त्वार्थ भाष्य कारिका
	२ आप्त परीक्षा प्रस्तावना
	३. तत्त्वार्थ सूत्र (विवेचन सहित)
	४ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५२२ से ५४७ तक)
४५ कुन्द-कुन्द—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक २६७ से ३०१
	२ न्यायावतार वार्तिक वृत्ति प्रस्तावना
	३. सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना
	४. पञ्चास्तिकाय सग्रह प्रस्तावना
	५. जैन साहित्य का इतिहास, भाग-२, पृ० ६६
४६ विमल—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक ५२७ से
	२ भिक्षु स्मृति ग्रथ (द्वितीय खण्ड, पृ० ८५ से)
	३. पउमरिय— प्रस्तावना (प्राकृत ग्रथ परिषद् द्वारा प्रकाशित संस्करण डा० कुलकर्णी का निबध
४७ भूतदिन्न—	१. नदी चूर्णि

४८. लोहित्य—	१ नंदी सूत्र स्थविरावली
४६. दुष्यगणी—	१. नंदी टीका
५०. देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण—	१. पट्टावली समुच्चय
	२ वीर निर्वाण संवत और जैन काल-गणना
	३ नंदी सूत्र स्थविरावली
	४ नंदी प्रस्तावना (मुनि पुण्यविजय)
५१. वृद्धवादी और	१ प्रभावक चरित, पत्रांक ५४ से ५७ तक
५२. सिद्धसेन—	२ प्रबंध चिन्तामणि, पत्रांक ६ से ७
	३ प्रबंध कोश, पत्रांक १५ से २१
५३ मल्लवादी—	१ प्रबंधकोश, पत्रांक २१ से २३ तक
	२ प्रभावक चरित, पत्रांक ७७ से ७६ तक
	३ प्रबंध चिन्तामणि, पत्रांक १०७
५४ समन्तभद्र—	१ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश
	२ न्याय कुमुदचंद्र प्रस्तावना
	३ युक्त्यनुशासन प्रस्तावना (ले० जुगल किशोर मुख्तार)
५५ देवनन्दी—(पूज्यपाद)	१. समाधि तंत्र प्रस्तावना
	२ 'सर्वार्थसिद्धि' प्रस्तावना पत्रांक ८१
	३ समाधि तंत्र और इष्टोपदेश प्रस्तावना
	४ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २६ से आगे (लेखक—नाथूराम प्रेमी)
	५ जैन साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग पृ० १५४ से आगे (लेखक—सिद्धांताचार्य प० कैलाशचंद्र शास्त्री)
	६. जैन शिलालेख संग्रह भाग-१

५६. भद्रबाहु—(द्वितीय)	१ प्रबन्धकोश, पत्रांक २ से ४ तक
	२ प्रबध चिन्तामणि, पत्राक ११८ से ११९
	३ पुरातन प्रबध सग्रह, पत्राक ६१
५७. जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण—	१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३ प्रस्तावित, पत्रांक १३ से १५
	२ विशेषावश्यक भाष्य
५८. पात्र स्वामी—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पत्राक २४ व २५
	२ आदि पुराण प्रस्तावना
	३ सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना
	४. प्रभाचद्र रचित कथा कोष
	५. जैन शिलालेख सग्रह भाग-१
५९. आचार्य मानतुग—	१. प्रभावक चरित, पत्राक ११२ से ११८
	२ पुरातन प्रबध सग्रह, पत्राक १५ व १६
	३ प्रबध चिन्तामणि, पत्राक ४४ व ४५
६० अकलक—	१ न्याय कुमुदचद्र प्रस्तावना
	२. अकलक ग्रथ त्रय प्रस्तावना
	३. सिद्धि विनिश्चय प्रस्तावना
	४ प्रभाचंद्र रचित कथा कोष
६१. जिनदास महत्तर—	१ नदी सूत्र प्रस्तावना
	२. निशीथ . एक अध्ययन
	३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३, पत्राक ३१-३२
६२. हरिभद्र—	१ प्रभावक चरित, पत्राक ६२ से ७५
	२ प्रबन्ध कोश, पत्राक २४ से २६
	३. पुरातन प्रबध सग्रह, पत्रांक १०३ से १०५

६३. बप्पभट्टि—	१. प्रबंध कोश बप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध, पत्राक २६ से ४६
	२. विविध तीर्थकल्प, पत्राक १८ व १९
	३. प्रभावक चरित, पत्राक ८० से १११
	४ पुरातन प्रबध सग्रह, पत्रांक ९८ व ९९
	५. प्रबंध चिन्तामणि, पत्राक १२३
६४. उद्द्योतन—	१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक ४१९ से
	२. कुवलयमाला प्रस्तावना
६५. वीरसेन—	१ जैन साहित्य और इतिहास, पत्राक १३० से १३२
६६ जिनसेन—	२ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक २७५
६७ गुणभद्र—	३. हरिवश पुराण
	४. उत्तरपुराण प्रस्तावना
	५ जैन साहित्य का इतिहास, पृ० २४१ से आगे
६८. विद्यानद—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना
	२ न्याय कुमुदचद्र प्रस्तावना
	३ भिक्षु स्मृति ग्रथ पृ०
६९. अमृतचद्र—	१ जैन साहित्य और इतिहास, पत्रांक ३०९ से ३११
	२ जैन साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग पृ० १[illegible] से २०९ तक
७०. सिद्धर्षि—	१ प्रभावक चरित, पत्राक १२१ से १२५
	२. पुरातन प्रबंध सग्रह, पत्राक १०५ से १०९
	३. प्रबध कोश, पत्राक २५ व २६
७१. शीलाक—	१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,

	भाग-३, पृ० ३८२
	२. सूत्रकृताग, टीका
	३. सिद्धि विनिश्चय टीका प्रस्तावना
७२. सूर—	१. प्रभावक चरित, पृ० १५२ से १६०
७३. उद्द्योतन—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष
७४. सोमदेव—	१. उपासकाध्ययन प्रस्तावना, पत्रांक १३ से
७५. अमितगति—	१. अमितगति श्रावकाचार-अमितगति आचार्य परिचय, पत्रांक ५,६,७
	२. पञ्च सग्रह प्रस्तावना
७६. माणिक्यनंदि और	१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० २६ से २७
७७. नयनदी—	२ न्यायकुमुदचद्र प्रस्तावना
७८. अभयदेव—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० ३६
	२ न्यायकुमुदचद्र प्रस्तावना
	३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास
७९. वादिराज—	१. न्यायविनिश्चय विवरण प्रस्तावना
८०. शान्ति—	१. प्रभावक चरित, पृ० १३३ से १३७
	२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३, पृ० ३८६ से ३८९
८१. प्रभाचंद्र—	१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० ३० से ३३
	२ न्यायकुमुदचद्र प्रस्तावना पृ० ११९
	३. जैन शिला लेख संग्रह भाग-२, लेख पृ० १२२-१२३
८२ नेमिचद्र (सिद्धांत-चक्रवर्ती)—	१ बृहद् द्रव्य सग्रह प्रस्तावना
	२ प्राकृत साहित्य का इतिहास
	३. द्रव्य सग्रह प्रस्तावना
	४. गोमट्टसार प्रस्तावना
८३. जिनेश्वर और—	१. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि पृ० ९०

८४. बुद्धिसागर—	२ प्रभावक चरित (श्री अभयदेव चरित) पृ० १६१, १६२
	३. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह
	४. युगप्रधान श्रीजिनचद्रसूरि, पृ० १० से १२
८५. अभयदेव टीकाकार—	१ पुरातन प्रबंध संग्रह, पृ० ९५ से ९६
	२ प्रभावक चरित, पृ० १६१ से १६६
	३. प्रबध चिन्तामणि पृ० १२१
	४. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ६ से ८
	५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास
८६. जिनवल्लभ—	१. ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह
	२. युगप्रधान श्रीजिनचद्रसूरि, पृ० १२
	३. खरतरगच्छ बृहद गुर्वावलि पृ० ६०
८७. वीर—	१. प्रभावक चरित, पृ० १६८ से १७०
८८. अभयदेव—(मलधारी)	१. ओसवाल जाति का इतिहास
८९. जिनदत्त—	१. खरतरगच्छ बृहद गुर्वावलि, पृ० ६१ व ६२
	२. खरतरगच्छ का इतिहास पृ० ३१ से ४४
	३ ऐतिहासिक जैन सग्रह
	४ युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि
९०. नेमिचंद्र—	१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३, पृ० ४४७-४८
९१ हेमचद्र—(मलधारी)	१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ५०५
९२. वादिदेव—	१. प्रभावक चरित, पृ० १७१ से १८२
	२ रत्नाकरावतारिका-सपादकीय
९३. हेमचद्र—	१. प्रभावक चरित, पृ० १८३ से २१२
	२. प्रबध कोश, पृ० ४६ से ५४
	३ प्रमाण मीमांसा प्रस्तावना

९४. मलयगिरि—	१ जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग-३, पृ० ४१५ व ४१७
	२ न्याय कुमुदचद्र प्रस्तावना
९५ शुभचद्र—	१. ज्ञानार्णव प्रस्तावना
९६ जिनचद्र—(मणिधारी)	१ खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० ४४ से ५१
	२ युगप्रधान श्रीजिनचद्रसूरि, पृ० १३
	३ ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह, पृ० ८ से ९
९७ रामचद्र—	१ हेमचद्राचार्य का शिष्य मण्डल
	२ प्रभावक चरित, पृ० १८३
	३ प्रबन्ध कोश, पृ० ९८
९८ आर्य रक्षित—	१ अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (सचित्र)
९९ जयसिह सूरि—	
१०० उदयप्रभ—	१ प्रबन्ध कोश, पृ० १०१
	२. ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० १०९ व ११०
१०१ रत्नप्रभ—	१. रत्नाकरावतारिका-सपादकीय
	२. सपा प्र० दलसुख मालवणिया
१०२. जगचंद्र—	१. तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग) पृ० ४
मेरुतुग—	१ अञ्चल गच्छ दिग्दर्शन (सचित्र)
१०३. देवेन्द्र—	१. सटीकश्चत्वार कर्मग्रथ प्रस्तावना, पृ १६ से १८
	२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३३७ व ३३८
१०४. सोमप्रभ—(बडगच्छ)	१ तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग पृ० ६
१०५. सोमप्रभ—(तपागच्छ)	
१०६. मल्लिषेण—	१ स्याद्वाद मंजरी प्रस्तावना, पृ० १५ से १७

१०७. जिनप्रभ—	१. विविध तीर्थकल्प प्रस्तावना
	२. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, पृ० ६८ व ६९
	३. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ९४ से ९६
१०८. जिनकुशल—	१. ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह
	२. युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि, पृ० १५
	३. खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० १४६ से १७०
१०९. मेरुतुग—	१. प्रबन्ध चिन्तामणि प्रस्तावना
११० गुणरत्न—	१. षड्दर्शन समुच्चय प्रस्तावना, पृ० १८
१११. मुनिसुन्दर—	१. तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग) पृ० ५९
११२ हीरविजय—	१. तपागच्छश्रमण वशवृक्ष (वशवृक्ष विभाग), पृ० १३
	२. तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० १२
	३. पट्टावली समुच्चय (सूरि परपरा) पृ० १४६-१४७
११३ जिनचन्द्र (अकबर-प्रतिबोधक)—	१ युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि
११४. विजयसेन—	१. पट्टावलि समुच्चय (सूरि परम्परा) पृ० १४६-१४७
११५. विजयदेव—	१ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग) पृ० १२
११६. ऋषिलव—	१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास पृ० ११० से
११७. धर्मसिह—	१ मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति ग्रथ
११८. धर्मदास—	१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति ग्रथ
११९ भूधर—	
१२०. रघुनाथ—	१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति ग्रथ
१२१. जयमल्ल—	१. जयवाणी अन्तर्दर्शन पृ० २० से २४

तक
२. तेरापंथ का इतिहास

१२२. भिक्षु—
१. भिक्षु स्मृति ग्रथ
२. भिक्षु विचार दर्शन
३. शासन-समुद्र
४. तेरापथ का इतिहास
५ इतिहास के बोलते पृष्ठ
६. आचार्य भिक्षु

१२३. भारमल—
१. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ

१२४. रायचन्द—
२. शासन-समुद्र
३. आचार्य चरितावली
४. तेरापंथ का इतिहास

१२५ जय—
१. भिक्षु स्मृति ग्रंथ
२. प्रज्ञा पुरुष
३. शासन समुद्र
४. जय सौरभ
५. तेरापथ का इतिहास

१२६. मघवागणी—
१. भिक्षु स्मृति ग्रथ

१२७. माणकगणी—
१. माणक महिमा
२ तेरापथ का इतिहास
३. मघवा सुयश
४. शासन समुद्र

१२८. विजयानन्द—
१. तपागच्छ श्रवण वशवृक्ष (वंशवृक्ष विभाग) पृ० ८
२. विवेचन विभाग, पृ० १४

१२९. डालगणी—
१. डालिम चरित्र
२. भिक्षु स्मृति ग्रथ
३. तेरापंथ का इतिहास
४. शासन समुद्र

१३०. विजयराजेन्द्र—
१. अभिधान राजेन्द्र कोष प्रस्तावना

१३१. कृपाचन्द्र—
१. ओसवाल जाति का इतिहास

१३२. विजयधर्म—	१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष, चित्र परिचय, पृ० १५-१७
	२ तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग) पृ० १६
१३३. बुद्धिसागर—	१ तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (वंशवृक्ष विभाग) पृ० ६
१३४. कालूगणी—	१ कालू यशोविलास
	२. कालूगणी जीवन वृत्त
	३ तेरापथ का इतिहास
	४. डालिम चरित्र
	५ शासन समुद्र
१३५ सागरानन्द—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
१३६ जवाहर—	१ ओसवाल जाति का इतिहास
१३७. विजयवल्लभ—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
१३८. शान्तिसागर—	१. चरित्र चक्रवर्ती (आचार्य शान्ति-सागर
१३९. अमोलक ऋषि—	१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास पृ० १५९ से १६५ तक
१४० विजयसमुद्र—	
१४१ विजयशान्ति—	१ ओसवाल जाति का इतिहास
१४२ आत्माराम—	१ ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास पृ० ७५-७६
१४३. वीरसागर—	
१४४ शिवसागर—	
१४५. घासीलाल—	१. पत्र-पत्रिकाओं से
१४६ आनन्दऋषि—	१. ऋषि संप्रदाय का इतिहास, पृ० २२९
१४७. देशभूषण—	१. पत्र-पत्रिकाओ से
१४८. धर्मसागर—	१. आचार्य धर्मसागर अभिनदन ग्रंथ
१४९. तुलसी—	१. तेरापंथ का इतिहास
	२. आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

	३ षष्टि पूर्ति अभिनन्दन ग्रन्थ
	४. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ
	५. आचार्यश्री तुलसी जीवन दर्शन
	६. महक उठी मरुधर माटी
	७. दक्षिण के आचल मे
	८. Living with purpose
१५०. विमलसागर—	१. विमलसागरजी महाराज ६८ वां जन्म जयन्ती समारोह स्मारिका
१५१. महाप्रज्ञ—	१. महाप्रज्ञ व्यक्तित्व और कर्तृत्व
	२. नाथू से महाप्रज्ञ
	३. तुलसी प्रज्ञा विशेषाक
	४ जैन भारती विशेषाक
१५२. विद्यानन्द—	१. पत्र-पत्रिकाओ से

परिशिष्ट २

प्रयुक्त-ग्रन्थ विवरण

१. अकलंक ग्रंथ त्रय
सपादक—पंडित महेन्द्रकुमार शास्त्री
प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला

२ अनुयोगद्वार
आर्यरक्षित कृत
प्रकाशक—राय धनपत सिंह

३. अनुयोगद्वार चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासगणी महत्तर

४. अनुयोगद्वार वृत्ति
वृत्तिकार—आचार्य हेमचद्र

५. अभिधान चिन्तामणि
लेखक—आचार्य हेमचद्र
प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

६. अभिधान राजेन्द्र कोष
लेखक—विजय राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक—श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम

७. अमितगति श्रावकाचार
लेखक—आचार्य अमितगति
प्रकाशक—मूलचन्द किशनचन्द कापड़िया

८. आगम के अनमोल रत्न
सम्पादक—पंडित मुनि हस्तीमलजी मेवाड़ी
प्रकाशक—धनराज (घासीलालजी) कोठारी, गांधीमार्ग अहमदाबाद

९. आगम युग का जैन-दर्शन
लेखक—पंडित दलसुख मालवणिया
सम्पादक—विजयमुनि, शास्त्री

प्रकाशक—श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

१०. आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रंथ
प्रबन्ध सम्पादक—अक्षय कुमार जैन
प्रकाशक—आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली

११. आचार्य चरितावली
सम्पादक—श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक—श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

१२ आचार्य तुलसी जीवन दर्शन
लेखक—मुनि नथमल (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स

१३ आचार्यश्री तुलसी (जीवन पर एक दृष्टि)
लेखक—मुनि नथमल (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—आदर्श साहित्य सघ, चूरू

१४ आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ
प्रकाशक—श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता

१५. आचार्य सम्राट्
लेखक—ज्ञानमुनिजी
प्रकाशक—सेठ रामजीदास जैन, लोहिया

१६. आचाराग चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक—श्री ऋषिभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था

१७ आचाराग निर्युक्ति
लेखक—आचार्य भद्रबाहु

१८. आचारागवृत्ति
वृत्तिकार—शीलाकाचार्य
प्रकाशक—श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति-मुबई

१९. आदिपुराण
लेखक—आचार्य जिनसेन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्ति देव जैन ग्रन्थमाला

२०. आप्तपरीक्षा
लेखक—श्रीमद् विद्यानन्द
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, सरसावा

२१. आयारो
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमलजी (वर्तमान मे युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू

२२. आर्हत् आगमोनु अवलोकन
प्रणेता—हीरालाल रसिकदास कापडिया-गोपीपुरा-सूरत

२३ आवश्यक चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई

२४. आवश्यक भाष्य

२५ आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

२६ आवश्यक हारिभद्रीय वृत्तिटिप्पणक
मल्लधारी हेमचद्र कृत

२७ इष्टोपदेश
लेखक—देवनन्दी (पूज्यपाद)
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल

२८. उत्तर पुराण
लेखक—आचार्य गुणभद्र
सम्पादक—पडित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ

२९ उत्तरज्झयणाणि
वाचना प्रमुख—आचार्य श्री तुलसी
सपादक, विवेचक—मुनि नथमल (युवाचार्य महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू

३० उत्तराध्ययन वृत्ति
लक्ष्मीवल्लभगणी कृत

३१. उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति
रत्नप्रभ कृत
प्रकाशक—धनजी भाई देवचद्र जौहरी, बम्बई

३२ उपमिति भवप्रपच कथा
लेखक—सिद्धर्षि
संपादक—मुनिचन्द्र शेखरविजय
प्रकाशक—I कमल प्रकाशन (एटलास एजेन्सीज (अहमदाबाद)
II श्री जैन धर्म प्रसारक सभा—भावनगर

३३ उपासकाध्ययन
सम्पादक—कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३४. ऋषिमण्डल स्तोत्र
प्रकाशक—श्री जैनविद्याशाला अहमदाबाद

३५ ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास
लेखक—मुनिश्री मोतीऋषिजी महाराज
प्रकाशक—श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी (अहमदाबाद)

३६. ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह
सपादक—अगरचद भवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता

३७. ओघनिर्युक्ति
निर्युक्तिकार—श्रीमद् भद्रबाहुस्वामी
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई

३८. ओसवाल जाति का इतिहास
प्रकाशक—श्री गोडीजी पार्श्वनाथ जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

३९. औपपातिक वृत्ति
रचनाकार—अभयदेवसूरि
प्रकाशक—पडित भूरालाल कालिदास

४०. अंग सुत्ताणि
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
संपादक, विवेचक—मुनि नथमल (युवाचार्य महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू

४१. अचलगच्छ दिग्दर्शन
प्रयोजक श्री पार्श्व
प्रकाशक—श्री मुलुड अंचलगच्छ जैन समाज, मुलुड बम्बई ८०
४२. कल्पसूत्र
संपादक—मुनि पुण्यविजयजी
प्रकाशक—साराभाई मणिलाल नवाब
४३. कषाय पाहुड
प्रकाशक—भारतीय दिगम्बर जैन संघ
४४. कसाय पाहुड सुत्त
गुणधराचार्य प्रणीत
प्रकाशक—वीर शासन सघ, कलकत्ता
४५. कहावली
भद्रेश्वरसूरि कृत
४६. कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न
लेखक—गोपालदास जीवाभाई पटेल
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
४७. कुमारपाल चरित्र संग्रह
लेखक—अनेक
सपादक—जिनविजयजी
प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रंथमाला
४८. कुवलयमाला का सास्कृतिक अनुदान
लेखक—डा० प्रेमसुमन जैन
प्रकाशक—प्राकृत जैन शास्त्र एव अहिंसा शोध सस्थान (वैशाली)
४९. कुवलयमाला
उद्योतनसूरि कृत
५०. खरतरगच्छ का इतिहास
संपादक—महोपाध्याय विनयसागर
प्रकाशक—दादा जिनदत्तसूरि अष्टम शताब्दी महोत्सव स्वागत
५१. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली
संपादक—जिनविजय
प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रंथमाला

५२. गणधरवाद
लेखक—आचार्य जिनभद्रगणी
प्रकाशक—राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
५३ गोम्मटसार
लेखक—नेमिचद सिद्धान्त—चक्रवर्ती
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
५४. चउपन्न पुरिस चरिय
लेखक—शीलाकाचार्य
संपादक—अमृतलाल मोहनलाल भोजक
प्रकाशिका—प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी-५
५५. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका शासनकाल
लेखक—डा० राधाकुमुदमुखर्जी
अनुवादक—मनीश सक्सेना
प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन
५६. ज्योतिषकरण्डक टीका
५७. जम्बूचरिय
लेखक—मुनि गुणपाल
सम्पादक—जिनविजयजी
प्रकाशक—सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ
५८. जम्बूसामिचरिउ
लेखक—वीरकवि
सम्पादक—डा० विमलप्रकाश जैन
प्रकाशक—भारतीयज्ञानपीठ
५९. जयवाणी
लेखक—आचार्य जयमल्लजी
प्रकाशक—सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा
६०. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
६१. जैनग्रन्थ व ग्रंथकार
सम्पादक—फतेहचन्द बेलानी

प्रकाशक—जैन संस्कृति संशोधन मण्डल
६२. जैनग्रंथ प्रशस्ति संग्रह
सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार
प्रकाशक—वीरसेवा मंदिर
६३. जैन दर्शन
लेखक—डा० मोहनलाल मेहता
६४. जैन दर्शन मनन और मीमांसा
लेखक—मुनि नथमल (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)
सम्पादक—मुनि दुलहराज
प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू
६५. जैन धर्म
लेखक—कैलाशचन्द्र शास्त्री
६६. जैन परम्परा का इतिहास
लेखक—मुनि नथमल (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरू
६७ जैन परम्परा नो इतिहास भाग १,२,
लेखक—मुनि दर्शनविजय, ज्ञानविजय, न्यायविजय (त्रिपुटी महाराज)
प्रकाशक—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला (बम्बई-अहमदाबाद)
६८. जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह
प्रकाशक—भारतीय विद्याभवन
६९. जैन शासन
लेखक—पंडित सुमेरुचंद्र दिवाकर
७०. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-४
प्रकाशक—भारतीयज्ञानपीठ, काशी
७१. जैन साहित्य और इतिहास
लेखक—नाथूराम प्रेमी
प्रकाशक—यशोधर, विद्याधर मोदी, व्यवस्थापक, संशोधित साहित्य-माला—
७२. जैन साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग)
लेखक—सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला

७३. जैन साहित्य व इतिहास पर विशद प्रकाश

लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्रकाशक—छोटेलाल जैन, मंत्री श्री वीरशासनसंघ

७४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १)

लेखक—पं० बेचरदास दोशी

भाग २

लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता

भाग ३

लेखक—डा० मोहनलाल मेहता

भाग ४

लेखक—डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल र० कापड़िया

भाग ५

लेखक—पं० अम्बालाल प्रे० शाह

भाग ६

लेखक—डा० गुलाबचन्द्र चौधरी

भाग ७

लेखक—पं० के० भुजबली शास्त्री, श्री टी० पी० मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्ले, डा० विद्याधर जोहरापुरकर [तमिल विभाग के अनुवादक श्री र० शौरिराजन]

प्रकाशक—पार्श्वनाथविद्याश्रम शोध संस्थान-वाराणसी ५

७५. जैनाचार्य श्री आत्मारामजी जन्म शताब्दी ग्रंथ

सम्पादक—मोहनलाल दुलीचन्द देसाई

प्रकाशक—जन्म शताब्दी स्मारक समिति, बम्बई

७६. ठाणं

वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी

सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)

प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

७७. तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्

लेखक—उमास्वाति

संशोधक—हीरालाल रसिकदास

प्रकाशक—साकरचन्द्रात्मजो जीवनचन्द्र

७८. तत्त्वानुशासन
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार

७९. तत्त्वार्थराजवार्तिक
लेखक—आचार्य विद्यानन्द
प्रकाशक—गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

८०. तत्त्वार्थसूत्र
लेखक—उमास्वाति
प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल, वर्धा

८१. पतागच्छ पट्टावली
लेखक—उपाध्याय श्री मेघविजयगणीजी

८२. तित्थोगालिय पइण्णा
वीर निर्वाण संवत् व जैन-गणना से प्राप्त

८३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग १,२,३,४,
लेखक—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वद् परिषद्

८४. दसवेआलिय
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

८५ दशवैकालिकचूर्णि
लेखक—अगस्त्यसिंह
प्रकाशक—आगमोदयसमिति, बम्बई

८६. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति

८७ दशवैकालिक निर्युक्ति
लेखक—भद्रबाहु (द्वितीय)

८८. द्रव्यसंग्रह
सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया, गणेशप्रसादवर्णी, जैन ग्रन्थमाला

८९. दादा श्री जिनकुशलश्री
लेखक—अगरचन्द्र भंवरलाल नाहटा

९०. The Jain sources of the history of ancient India.
Writer : Jyoti Prasad Jain.

९१. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका—१,२,३,४,५
सम्पादक—विजयसुशीलसूरि
प्रकाशक—विजयलावण्यसूरीश्वर, ज्ञान मन्दिर

९२. दुषमाकाल श्री श्रमण संघ स्तो अवचूरि
लेखक—धर्मघोषसूरि
[पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग मे प्राप्त]

९३ दक्षिण भारत मे जैन धर्म
लेखक—प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ

९४. देवानद महाकाव्य
लेखक—मेघ विजयोपाध्याय
संपादक—प० बेचरदास जीवराज डोसी
प्रकाशक—अहमदाबाद, कलकत्ता

९५ धर्मबिन्दु
लेखक—आचार्यश्री हरिभद्रसूरि
प्रकाशक—नागजी भूरधर की पोल, अहमदाबाद

९६ नन्दीसूत्र चूर्णि सहित
जिनदासगणी महत्तर कृत
सम्पादक—मुनि पुण्यविजयजी
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी

९७ नन्दीसुत्त वृत्तिसहित
सम्पादक—मुनि पुण्यविजयजी
प्रकाशक—प्राकृत ग्रथ परिषद्

९८ न्याय कुमुदचन्द्र
लेखक—श्रीमद प्रभाचन्द्राचार्य

९९ न्यायविनिश्चय विवरण
सम्पादक—महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

१००. न्यायावतारवार्तिक वृत्ति
सम्पादक—पूर्णतल्लगच्छीय श्रीशान्तिसूरि विरचित

प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन, बम्बई
१०१. न्यायतीर्थ
प्रकाशक—भारतीयज्ञानपीठ, काशी
सम्पादक—प० दलसुख मालवणिया
१०२. निशीथ सूत्र
सम्पादक—उपाध्याय कविश्री अमरमुनि, मुनिश्री कन्हैयालाल (कमल)
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
१०३. निशीथ चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासमहत्तर गणी
१०४. निशीथ भाष्य
भाष्यकार—विशाखगणी
१०५. पञ्चसंग्रह
लेखक—आचार्य अमितगणी
प्रकाशक—मणिकचन्द्र दिगम्बर (जैन ग्रन्थमाला समिति, सोमगढ़, सौराष्ट्र)
१०६. पञ्चास्तिकाय संग्रह
कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत
प्रकाशक—दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
१०७. पट्टावली समुच्चय
सम्पादक—मुनि दर्शनविजय
प्रकाशक—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला
१०८. प्रबन्ध-कोश
रचनाकार—राजशेखरसूरि
संपादक—जिनविजयजी
प्रकाशक—सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन
१०९. प्रबन्ध चिन्तामणि
लेखक—मेरुतुगाचार्य
प्रकाशक—सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन
११०. प्रभावक-चरित्र
लेखक—श्री प्रभाचन्द्राचार्य
प्रकाशक—सिंघी जैन ज्ञानपीठ

१११. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाए
लेखक—डा० ज्योतिप्रसाद जैन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ

११२. प्रमाण-मीमासा
लेखक—हेमचन्द्राचार्य
सम्पादक—प० सुखलाल सिघवी
प्रकाशक—सिघी जैन ग्रथमाला

११३. प्रज्ञा पुरुष जयाचार्य
लेखक—आचार्य तुलसी युवाचार्य महाप्रज्ञ
प्रकाशक—जैन विश्व भारती-लाडनू (राजस्थान)

११४ परिशिष्ट-पर्व
लेखक—हेमचन्द्राचार्य

११५. प्रशमरति प्रकरण
लेखक—उमास्वाति
प्रकाशक—जीवनचन्द्र साकरचन्द्र जवेरी

११६. प्राकृत साहित्य का इतिहास
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०, पी० एच० डी०
प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

११७. पिण्डनिर्युक्ति
लेखक—श्रीमद् भद्रबाहुस्वामी

११८. पुरातन प्रबन्ध सग्रह
सम्पादक—जिनविजयमुनि
प्रकाशक—सिघी जैन ग्रन्थमाला

११९. भारतीय इतिहास—एक दृष्टि
लेखक—डा० ज्योतिप्रसाद जैन

१२०. भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान
लेखक—डा० हीरालाल जैन

१२१. मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि
लेखक—अगरचन्द भंवरलाल नाहटा

१२२. महापुराण
लेखक—आचार्य पुष्पदन्त
प्रकाशक—माणिकयचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला समिति
१२३. महाबन्ध
सम्पादक—प० सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री, न्यायतीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१२४. महामनस्वी आचार्य कालूगणी जीवनवृत्त
लेखक—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक—मुनि नथमल (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ)
१२५ मुनिश्री हजारीमलजी स्मृतिग्रथ
प्रकाशक—हजारीमल स्मृति ग्रथ प्रकाशक समिति
१२६. यशस्तिलक चम्पू का सास्कृतिक अध्ययन
लेखक—डा० गोकुलचन्द्र जैन
प्रकाशक—सोहन, जैन धर्म प्रचारक समिति
१२७ युक्त्यनुशासन
लेखक—स्वामी समन्तभद्र
१२८ युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि
लेखक—अगरचन्द भवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता
१२९ योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दुश्च
प्रकाशक—श्री जैन ग्रथ प्रकाशक सभा
१३० रत्नाकरावतारिका
सम्पादक—प० दलसुख मालवणिया
प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई, भारतीय सस्कृति विद्यामदिर अहमदाबाद
१३१. व्यवहार-चूर्णि
१३२. वसुनन्दी श्रावकाचार
सम्पादक—प० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१३३. विजयानंदसूरि
लेखक—सुशील

प्रकाशक—श्री जैन आत्मानंद सभा

१३४. विविध तीर्थकल्प

सम्पादक—जिनविजय, विश्वभारती, शान्ति निकेतन

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

१३५. विशेषावश्यकभाष्य

सम्पादक—पं० दलसुख मालवणिया

प्रकाशक—लालभाई, दलपतभाई, भारतीय विद्या मन्दिर, अहमदाबाद

१३६. वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना

लेखक—मुनि कल्याणविजय

प्रकाशक—क० वि० शास्त्र समिति जालोर (मारवाड)

१३७. वीर शासन के प्रभावक आचार्य

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, क्नाट प्लेस—नयी दिल्ली

१३८. बृहत्कल्प सूत्र

सम्पादक—मुनि चतुरविजय, पुण्यविजय

प्रकाशक—भावनगरस्था श्री जैन आत्मानन्द सभा

१३९. शब्दो की वेदी अनुभव का दीप

लेखक—मुनि दुलहराज

प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ चूरू

१४०. शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य

लेखक—महोपाध्याय विनयसागर

प्रकाशक—प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

१४१. षट्खण्डागम

लेखक—पुष्पदन्त भूतबलि

प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षण संघ शोलापुर

१४२. षट्खण्डागम की अवतरण कथा और आगम ग्रन्थो की ऐतिहासिक वाचना

लेखक—नीरज जैन

प्रकाशक—डा० पन्नालाल साहित्याचार्य

१४३. षड्दर्शन समुच्चय

लेखक—डा० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायचार्य, एम० ए०, पी० एच० डी०

१४४. स्तुति-विद्या
लेखक—स्वामी समन्तभद्र
१४५. स्थानागवृत्ति
लेखक—अभयदेवसूरि
प्रकाशक—श्री आगमोदय समिति, बम्बई
१४६. स्याद्वाद-मञ्जरी
लेखक—आचार्य मल्लिसेन
१४७. स्वयभूस्तोत्र
लेखक—समन्तभद्र
१४८. स्वामी समन्तभद्र
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक—श्री वीरशासन सघ
१४९. सटीकाश्चत्वार.कर्मग्रन्था
प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
१५०· समदर्शी आचार्य हरिभद्र
व्याख्याता—प० सुखलाल सिघवी डी० लिट्
प्रकाशक—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
१५१ समाधि तन्त्र
सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर
प्रकाशक—वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)
१५२. समाधितन्त्र और इष्टापदेश
अनुवादक—परमानन्दशास्त्री, देवनन्दी (पूज्यपाद) विरचित
प्रकाशक—वीरसेवामन्दिर सोसाइटी (दिल्ली)
१५३. सर्वार्थसिद्धि
सम्पादक—फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री
प्रकाशक—भारतीयज्ञानपीठ, काशी
१५४. सर्वज्ञसिद्धि
लेखक—हरिभद्रसूरि
प्रकाशक—श्री जैनसाहित्य वर्धक सभा
१५५. सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्
रचनाकार—हेमचन्द्राचार्य (कलिकालसर्वज्ञ)

संशोधक-सम्पादक—श्री आनन्द बोधिनी वृत्ति कारक:
पंन्यास प्रवर—श्री चन्द्रसागर गणिभद्र
प्रकाशक—श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति-मुबई न० ३

१५६. सिद्धिविनिश्चय टीका
लेखक—अकलकदेव
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

१५७. श्री तपगच्छ श्रमण वंशवृक्ष
संपादक—जयंतीलाल छोटालाल शाह
प्रकाशक—जयंतीलाल छोटालाल शाह जवेरी वाड, सातभाईनी हवेली अहमदाबाद

१५८. श्रीमदावश्यक निर्युक्ति दीपिका (द्वितीयो विभाग.)
रचनाकार—माणिक्यशेखरसूरि
प्रकाशक—आचार्य श्रीमद्विजयदान सूरीश्वरजी जैन ग्रन्थमाला—गोपीपुरा-सूरत

१५९. सुदंशसा चरिउ
लेखक—नयनदी
सम्पादक—डा० हीरालाल जैन
प्रकाशक—प्राकृत जैन शास्त्र एव अहिंसा शोध-सस्थान (वैशाली)

१६०. संस्कृत प्राकृत व्याकरण और कोश की परम्परा
सम्पादक—मुनिश्री दुलहराज, डा० छगनलाल शास्त्री, डा० प्रेम सुमन जैन
प्रकाशक—श्री कालूगणी जन्म शताब्दी समारोह समिति छापर (राजस्थान)

१६१. हरिवंश पुराण
लेखक—आचार्य जिनसेन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

१६२. हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति
लेखक—हेमचन्द्रसूरि
प्रकाशक—शाह नगीनभाई घेलाभाई जवेरी

१६३. हिमवन्त स्थविरावली
वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना ग्रन्थ से प्राप्त

१६४. हेमचन्द्राचार्य की शिष्य मण्डली
लेखक—भोगीलाल सांडसेरा, एम० ए०, पी० एच० डी०
प्रकाशक—जैन सस्कृति संशोधन मण्डल, बाराणसी
१६५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र महाकाव्य
सम्पादक—मुनि चरणविजय
प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर
१६६. ज्ञानार्णव
लेखक—आचार्य शुभचन्द्र
प्रकाशक—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला ।

परिशिष्ट ३

प्रथम संस्करण पर प्राप्त सम्मतियां

समीक्षक : रतिलाल दीपचन्द देसाई

पिछले करीब चालीस साल के अरसे मे तेरापथ का जो प्रगतिलक्षी कायापलट हुआ, वह अपने आप मे एक गौरवप्रद ऐतिहासिक घटना है, जो अन्य धर्म-पंथों के लिए मार्ग-दर्शक कही जा सकती है। इस समय मे तेरापथ के सतो और विशेषकर उस पंथ की महासतियो ने ज्ञानोपासना के क्षेत्र मे एव अन्य अनेक विषयो में जो प्रगति की है और सफलता प्राप्त की है, यह देखकर बडी प्रसन्नता होती है। ऐसे आह्लादकारी व आदर्श परिवर्तन का सारा यश पूज्य आचार्य तुलसी महाराज की दीर्घ दृष्टि, उदार मनोवृत्ति व समय को परखने की विलक्षण बुद्धि को जाता है। तेरापथ की ऐसी प्रगतिशीलता मे ज्ञान-साधना एव ध्यान-साधना मे समान भाव से निरत, विशिष्ट व मौलिक सर्जक प्रतिभा के स्वामी तथा हर विषय के मूल तक पहुंचने की अनोखी सूझ-बूझ रखने वाले युवाचार्य महाप्रज्ञजी का हिस्सा भी कुछ कम नही है।

तेरापंथ के तेजस्वी अध्ययनशील व प्रभावशाली साध्वी समुदाय मे पूज्य महासती सघमित्राजी महाराज का नाम व कार्य प्रथम पक्ति मे आदरणीय स्थान प्राप्त करे, ऐसी उच्च कोटि का है। जैसे वे एक अच्छी प्रवचनकार है वैसे ही उत्तम लेखिका भी हैं और उनके प्रवचन व लेखन दोनो मे उनकी विद्या-साधना के जो दर्शन होते हैं, उससे उनके प्रति आदर बढ जाता है।

पूज्य महासती सघमित्राजी द्वारा लिखित "जैन धर्म के प्रभावक आचार्य" नामक पुस्तक कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुई है। इस ग्रथ-रत्न मे भगवान् महावीर के युग से लेकर आधुनिक युग तक के पच्चीस सौ वर्ष जितने सुदीर्घ समय मे जैन शासन की प्रभावना करने वाले मुख्य १२० आचार्यों का सुगम व रसप्रद परिचय दिया गया है। इस परिचयो का खास ध्यान खीचने वाली विशेषता यह है कि उसमें जैन संघ के दिगम्बर, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानक-मार्गी तथा तेरापंथी चारो पन्थो के आचार्यों के परिचय को स्थान

दिया गया है। इससे यह ग्रंथ जैसे साध्वी संघमित्राजी की अध्ययन-परायणता का परिचायक बना है वैसे ही यह उनकी उदार व गुणग्राहक दृष्टि के भी सुगम दर्शन कराता है।

जैन-परपरा को अखण्डित रखने वाले आचार्य भगवान् के परिचयो के अतिरिक्त इस ग्रथ के प्रारम्भ मे आगम-युग, उत्कर्ष-युग, और नवीन-युग की श्रमण-परंपरा की गतिविधियो का जो सिंहावलोकन किया गया है, इससे इस ग्रंथ की गुणवत्ता, महत्ता व उपयोगिता और बढ गई है, ऐसा कहना चाहिए।

तीनो युगो के अवलोकन के अन्त मे और हर एक आचार्यदेव के परिचय के अन्त मे आधारभूत ग्रंथो या स्थानों की सूची भी दी गई है, जो ग्रथगत विषयो के बारे में विशेष जिज्ञासा रखने वालो को अत्यन्त सहायक हो सकती है। इस प्रकार महासती सघमित्राजी ने इस ग्रथ को सर्वाङ्गपूर्ण व सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिए जिस लगन व एकाग्रता से परिश्रम किया है वह बहुत प्रशंसनीय व अनुकरणीय है।

४५२ पृष्ठो जितना वृहत् यह ग्रंथ छपाई, सफाई, कागज, बाईण्डिग आदि बाह्य रूप-रंग में जितना आकर्षक बना है उससे अधिक वह ग्रन्थ की आत्मारूप आंतरिक विद्या-सामग्री से समृद्ध बना है, इसके लिए जैन-सघ उनका बहुत आभारी है, और महासती सघमित्राजी धन्यवाद व अभिनन्दन के अधिकारी हैं। उनकी यह विद्या-साधना निरन्तर आगे बढती रहे, ऐसी शुभ कामना के साथ—

रतिलाल दीपचद देसाई

दिनाङ्क ९-४-१९८० ६, अमल सोसायटी, अहमदाबाद-७

समीक्षक : दलसुख मालवणिया

आगमयुग, उत्कर्षयुग और नवीनयुग— इन तीनो युगों का विवरण देकर उन युगों मे होने वाले प्रभावक आचार्यों का जीवन साध्वीश्री संघमित्राजी ने देने का प्रयास किया है। आगमयुग के सुधर्मा से लेकर देवर्धिगणी तक का उत्कर्ष युग के आचार्य वृद्धवादी से गुणरत्नसूरि तक का और नवीनयुग के आचार्य हीरविजयजी से लेकर आचार्य तुलसी तक के आचार्यों का जीवन इस ग्रन्थ मे लिखने का प्रयास है। इस ग्रंथ की प्रथम विशेषता यह है कि इसमें जैन-धर्म के सभी संप्रदायों के मान्य आचार्यों की जो भी इतिहास और अर्ध इतिहास की सामग्री मिलती है उसका उपयोग करके तत्-तत् आचार्यों

की जीवनी लिखी गई है। लेखिका ने आचार्यो के प्रति आदरशील होकर लिखा है।

प्राय. ऐसे ग्रथो मे साप्रदायिक दृष्टि देखी जाती है। इस ग्रथ की यह विशेषता है कि इसमे सप्रदाय को नही किन्तु जैन प्रभावक आचार्यो को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आशा है कि जैन-सघ के इतिहास की जिज्ञासा रखने वालो के लिए यह ग्रथ आदरणीय और उपादेय होगा।

- सबोधि, भाग ८, पृष्ठ १६२
(अहमदाबाद)

समीक्षक : अगरचंद नाहटा बीकानेर

भगवान् महावीर का २५०० वा निर्वाण-महोत्सव वास्तव मे जैन-समाज के लिए बहुत बडा योग था जिसके उपलक्ष्य मे इतना अधिक और अच्छा काम हुआ कि वह चिरस्मरणीय रहेगा।

साहित्य-निर्माण का भी काम उस एक व मे जितना अच्छा वर्ष अधिक हुआ, उतना गत २५०० वर्षों के किसी भी एक वप मे शायद ही हुआ हो। आचार्य तुलसी और उनके शिष्यों ने जो विशाल योजना बनाई थी उसमे भी काम उस समय हो नही पाये। इनमे से एक कार्य आचार्य तुलसी की शिष्या साध्वी सघमित्राजी ने हाथ मे लिया। बडे हर्ष की बात है कि गत ५ वर्षों मे करते-करते उन्होने इसे पूरा कर ही लिया। कहना पडेगा कि आशा से भी अधिक अच्छा कार्य किया गया है अत वह देरी अखरने वाली नही। साध्वी सघमित्राजी ने अनेक प्रान्तो व नगरो मे विचरण करते हुए भी अपने कार्य को जारी रखा, यह उनकी निष्ठा का परिचायक है, दृष्टि भी विशाल व व्यापक रखी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर के तीनो मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी सम्प्रदायो के गत २५०० वर्षों के प्रभावक आचार्यों के सम्बन्ध मे उनका ४५० पृष्ठों का बडा ग्रथ कुछ महीने पहिले ही जैन विश्व भारती लाडनू से बड़े सुन्दर रूप से प्रकाशित हुआ है। सभी सम्प्रदायो के आचार्यों के प्रति साध्वी जी ने बड़े ही सद्भाव के साथ सुन्दर भाषा व शैली मे यह ग्रथ तैयार किया है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए श्री सघमित्राजी और प्रकाशक—"जैन विश्व भारती" दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

The Jain Journal, Calcutta
January, 1980.

Sadhvi Sanghmitra deserves congratulation for having accomplished a highly laborious job she assigned to herself on the occasion of the 25th centennial of Bhagwan Mahavira which was observed in 1975. In fact, this is one of the 25 items which the Terapanth Sangh assigned for its learned monks and nuns to work out to mark the occasion. The reviewer has no hesitation to say that Sadhviji has performed her assignment with care and competence.

Gleaning from sundry sources, she has presented the life-sketches of 37 Acaryas of the Agamic period, of 55 Acaryas in the growth period and of 28 Acaryas of the new period, according to her classification. In doing so, she has worked with objectivity, without letting her work being tinged with the views of innumerable denominations called ganas, gachhas, kulas, sakhas into which Jainism after Mahavira got divided. This makes her production pleasant since we meet together so many illustrious persons who have given a glorious name to Jainism in the pages of History

Some of these names, particularly of the Agamic period and for some time the period immediately following, are known to the readers of the Kalpa Sutra which has a chapter entitled 'Theravali' but there they are mere names and do not satisfy one who wants to know more about them or their achievements. Even such a celebrity like Acarya Bhadrabahu who happens to be its illustrious author, finds a scant mention. Now, in the work of Sadhviji, we have a dependable information about the whole lot, and even though not comparable in strict sense, her work reminds one of Acarya Hemachandra's Trisastisalaka-purusa-caritra.

K. C. Lalwani

समीक्षक—कस्तूरभाई लालभाई

पूज्य साध्वी महाराज संघमित्राजी,

आपने कठिन परिश्रम लेकर 'जैनधर्म के प्रभावक आचार्य' नामक पुस्तक लिखी, उसके लिए अनेक धन्यवाद। मैंने पुस्तक के १०० पृष्ठ पढे। बहुत ही अच्छी पुस्तक है। उसके लिए मेरी तरफ से बहुत अभिनन्दन।

समीक्षक—कृष्णावदन जोशी मेयर (अहमदाबाद)

'जैनधर्म के प्रभावक आचार्य' नामक ग्रन्थ मिला। पूरे ग्रथ का तो पठन नही कर सका लेकिन जितना भी पठन-आस्वाद लिया तो दिल-दिमाग को लगा कि सचमुच ही यह मार्गदर्शक ग्रथ है। गत हजारो वर्षो मे जैन धर्म के जो प्रभावक आचार्य हुए, उन सब के जीवन-परिचय का सकलन अविरल श्रम से आपने इस ग्रन्थ मे किया है, वह प्रशसनीय है।

जैनधर्म के आचार्यों के जीवन-वृत्तात के साथ जैन शासन, श्रुत शक्ति, चरित्र शक्ति, मत्र शक्ति आदि की प्रयत्नपूर्वक जो आलोचना की है वह अत्यन्त सराहनीय है। मै आशा रखता हूं कि यह ग्रन्थ जैन और इतर धर्मो के लिए उपयोगी साबित होगा। इस उमदा कार्य के लिए आप अभिनन्दन की अधिकारिणी हैं।

'जैन जगत्' नवम्बर १९७९

भगवान् महावीर की विशाल सघ-सम्पदा को जैनाचार्यों ने अपने ज्ञान, ध्यान और चरित्र से सम्भाला। इसलिए अढाई हजार वर्षो के बाद भी जैन शासन अविछिन्न एव अनवरत गतिशील है। साध्वीश्री सघमित्राजी ने इस ग्रन्थ के प्रथम खंड मे आचार्यों के काल का सक्षिप्त सिंहावलोकन करते हुए आगम युग के आचार्यों का जीवन एव कार्य वर्णित किया है तथा साथ ही उत्कर्ष एवं नवीन-युग मे आचार्यों द्वारा किए गए साहित्य-सृजन, वाचनाओ आदि का विशद विवेचन किया है।

द्वितीय खंड के प्रथम अध्याय मे आगम-युग के आचार्यों तथा दूसरे अध्याय मे उनके बाद के आचार्यों का वर्णन है। तीसरे अध्याय मे नवीन-युग के आचार्यों का वर्णन है।

हिन्दी भाषा मे प्रभावक महान् जैनाचार्यो पर इस प्रकार का सुव्यवस्थित, असाम्प्रदायिक एव प्रामाणिक लेखन सभवत यह प्रथम ही है।

लेखिका साध्वीश्री जी ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक निरपेक्ष भाव से यह रचना तैयार की है। लगभग साढे चार सौ पृष्ठो का यह ग्रन्थ कागज, मुद्रण एव आवरण सभी दृष्टियो से सुन्दर एव उत्तम है।

श्री अमर भारती : दिसम्बर १६७६

समीक्षक—मुनि समदर्शी प्रभाकर

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान् महावीर के पञ्चम गणधर प्रथम आचार्य आर्य सुधर्मा से लेकर वर्तमान-युग तक के आचार्यों का परिचय दिया गया है। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् जैन-परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर दो संप्रदायो मे विभक्त हो गई। उसके बाद श्वेताम्बर परम्परा तीन सम्प्रदायो मे विभक्त हुई—श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापथी। साध्वीश्री सघमित्राजी ने प्रस्तुत पुस्तक मे चारो सम्प्रदायो के प्रमुख आचार्यों के जीवन, व्यक्तित्व एव कर्तृत्व का परिचय दिया है। साध्वीश्री सघमित्राजी तेरापंथ-परम्परा के आचार्यश्री तुलसी की शिष्या हैं, परन्तु सभी परंपराओ के आचार्यों के जीवन को अपने तटस्थ एवं असाम्प्रदायिक दृष्टि से लिखा है। यह उदार दृष्टि एवं महापुरुषों के प्रति आदर भाव, भले ही वे किसी भी परम्परा के क्यो न रहे हों, स्तुत्य है। इस प्रयास के लिए हार्दिक अभिनन्दन एवं साधुवाद।

'श्रमण' : नवम्बर १६७६

समीक्षक—डॉ० सागरमल जैन

प्रस्तुत कृति में जैनधर्म के १२० प्रभावक आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। लेखिका की दृष्टि असाम्प्रदायिक रही है। उन्होने जैन धर्म की विविध परम्पराओ के आचार्यों का ससम्मान उल्लेख किया है। आचार्यों के नामों के आगे जिस रूप मे विशेषणो का प्रयोग किया गया है वह अत्यन्त मार्मिक है जैसे अर्हन्नीति उन्नायक उमास्वाति, प्रबुद्धचेता पुष्पदन्त आदि। किसी एक परम्परा में दीक्षित होकर भी लेखिका ने दूसरी परम्परा के आचार्यों के सम्बन्ध में जिस शालीन, शिष्ट और सम्मानपूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया है वह निश्चित ही अभिनन्दनीय और अनुकरणीय है। पुस्तक को देखकर ऐसा लगता है कि जैन संघ असाम्प्रदायिकता की नई भूमिका मे प्रवेश कर रहा है। आचार्यों के इस विवेचन क्रम में कालक्रम का भी पूरा

ध्यान रखा गया है। प्रस्तुत कृति में विविध आचार्यों के जीवन का इतिहास देकर लेखिका ने जैन इतिहास की एक महती आवश्यकता की पूर्ति की है। उनका यह प्रयास स्तुत्य है।